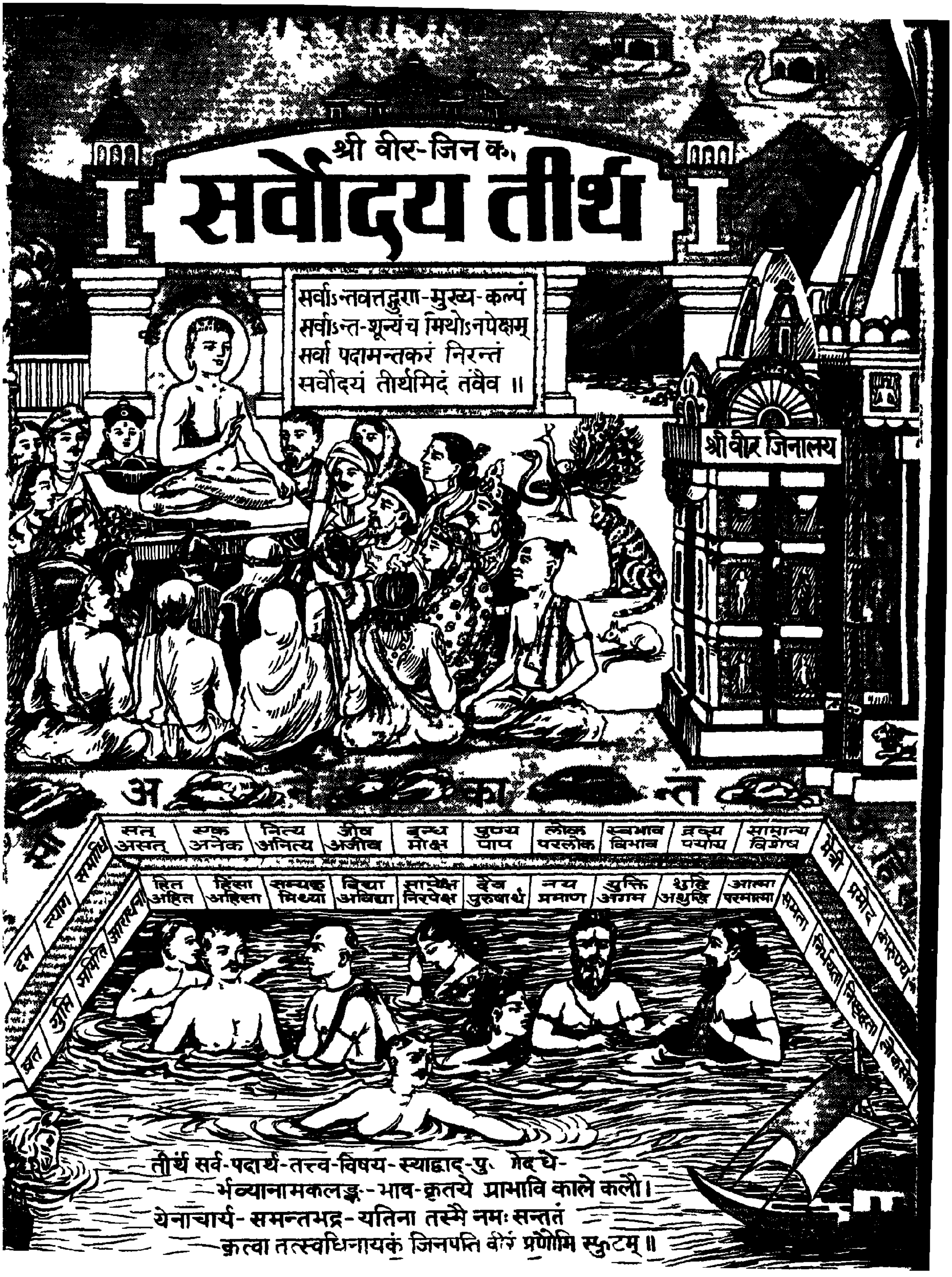

श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
मैत्री
प्रमोद
समता
आराधना
समाधि
त्याग
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पु. गेद धे-
भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक' तथा 'सहायक' बनना और बनाना।

(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।

(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरोंपर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।

(४) अपनी ओरसे दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना, जैसे विद्या-संस्थाओं, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।

(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५),५०) आदिकी सहायता भेजना। २५) की सहायतामें १०को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।)।

(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।

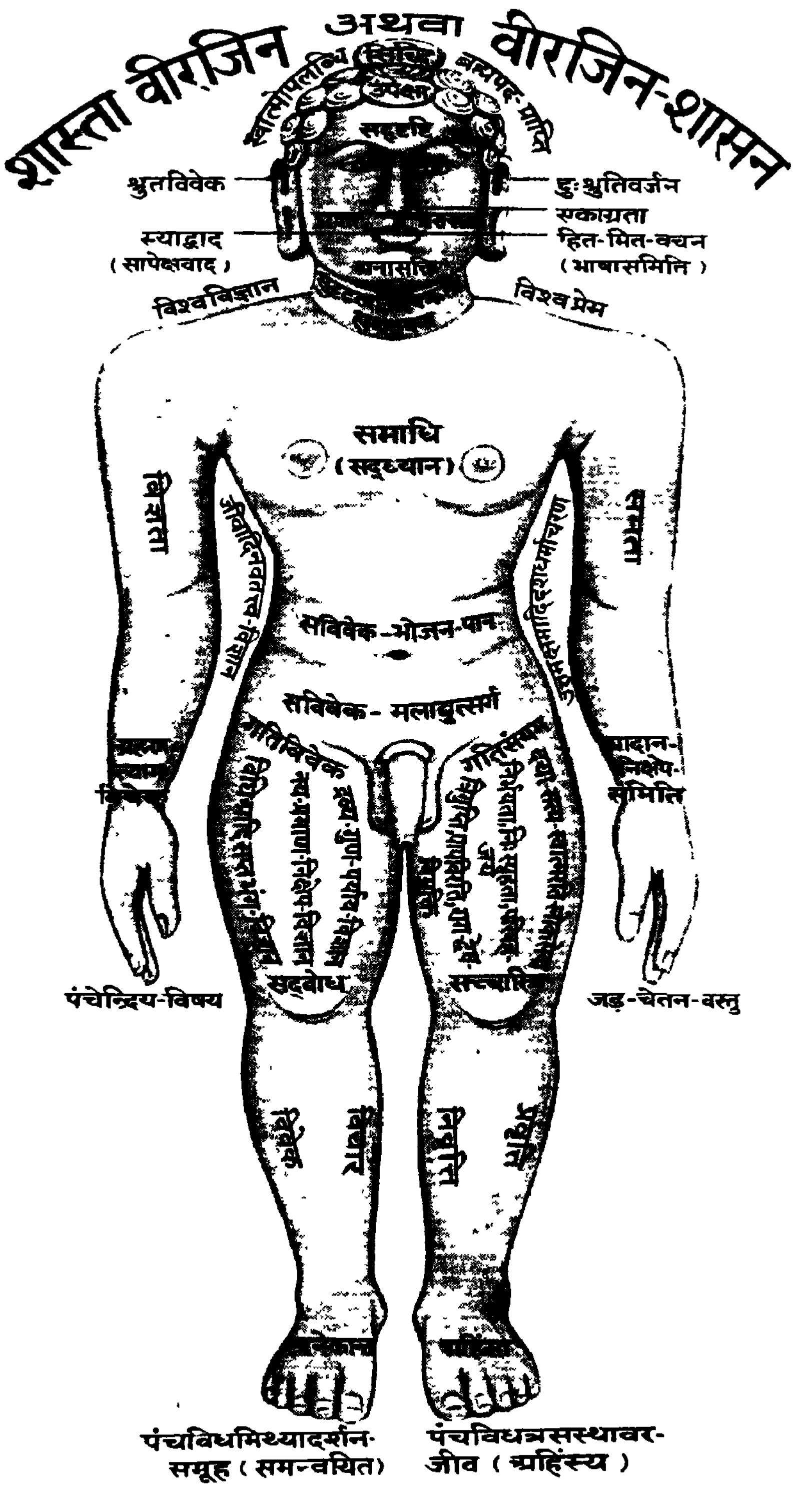
(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि-सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंटस्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता—

मैनेजर 'अनेकान्त'

वीरसेवामंदिर, सरसावा जि० सहारनपुर।



शास्ता वीरजिन अथवा वीरजिन-शासन
श्रुतविवेक
दुःश्रुतिवर्जन
एकाग्रता
स्याद्वाद
(सापेक्षवाद)
हित-मित-वचन
(भाषासमिति)
विश्वविज्ञान
विश्वप्रेम
समाधि
(सद्ध्यान)
सविवेक-भोजन-पान
सविवेक- मलावुत्सर्ग
आदान-
निक्षेप-
समिति
सद्बोध
सच्चारित्र
पंचेन्द्रिय-विषय
जड़-चेतन-वस्तु
विवेक
विचार
निवृत्ति
प्रवृत्ति
पंचविधमिथ्यादर्शन-
समूह (समन्वयित)
पंचविधत्रसस्थावर-
जीव (अहिंस्य)

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

इस विशेषाङ्कका मूल्य २)



सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११	वीरसेवामन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर	मार्च
किरण १	फाल्गुन शुक्ल, वीर-संवत् २४७८, विक्रम-संवत् २००८	१९५२

वीर-वन्दना

शुद्धि-शक्तिकी पराकाष्ठा को अतुलित प्रशान्तिके साथ ।
पा, सत्तीर्थ प्रवृत्त किया जिन नमूँ वीर प्रभु साञ्जलि-माथ ॥१॥

*　　*　　*

जीते भय, उपसर्ग - परीषह जीते, जिनने मनको मार ;
जीतीं पंचेन्द्रियाँ जिन्होंने औ' क्रोधादि-कषायें चार ।
राग-द्वेष-कामादिक जीते, मोह-शत्रुके सब हथियार ;
सुख-दुख जीते, उन वीरोंको नमन करूँ मैं वारंवार ॥

*　　*　　*

जिन वीरोंने कर्म-प्रकृतियोंका सब मूलोच्छेद किया ;
पूर्ण तपश्चर्याके बलपर स्वात्म-भावको साध लिया ।
उन सिद्धोंको सिद्धि-अर्थमें वन्दूँ अतिसन्तुष्ट हुआ ;
उनके अनुपम-गुणाकर्षमे भक्ति-भावको प्राप्त हुआ ॥

—युगवीर

वीर-वाणी

(१)

अखिल-जग-तारन को जल-यान ।
प्रकटी, वीर, तुम्हारी वाणी, जग में सुधा-समान ॥

(२)

अनेकान्तमय, स्यात्पद-लांछित, नीति-न्याय की खान।
सब कुवाद का मूल नाश कर, फैलाती सत् ज्ञान ॥ अखिल०

(३)

नित्य-अनित्य-अनेक-एक-इत्यादिक वादि महान ।
नतमस्तक हो जाते सम्मुख, छोड़ सकल अभिमान ॥ अखिल०

(४)

जीव-अजीव-तत्त्व निर्णय कर, करती संशय-हान ।
साम्यभावरस चखते हैं, जो करते इसका पान ॥ अखिल०

(५)

ऊंच, नीच औ, लघु-सुदीर्घ का, भेद न कर भगवान् ।
सबके हितकी चिन्ता करती, सब पर दृष्टि समान ॥ अखिल०

(६)

अन्धी श्रद्धा का विरोध कर, हरती सब अज्ञान ।
युक्ति-वाद का पाठ पढ़ाकर, कर देती सज्ञान ॥ अखिल०

(७)

ईश न जगकर्ता, फल-दाता, स्वयं सृष्टि-निर्माण ।
निज-उत्थान-पतन निज कर में, करती यों सुविधान ॥ अखिल०

(८)

हृदय बनाती उच्च, सिखा कर, धर्म सुदया-प्रधान ।
जो नित समक्ष आदरें इसको, वे 'युग-वीर' महान ॥ अखिल०

—युगवीर

वीर-शासनाऽभिनन्दन

तव जिन ! शासन-विभवो
जयति कलावपि गुणाऽनुशासन-विभवः ।
दोष-कशाऽसनविभवः
स्तुवन्ति चैनं प्रभा-कृशाऽऽसनविभवः ॥

—समन्तभद्राचार्यः

'हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचन का यथावस्थित पदार्थोंके प्रतिपादन-स्वरूप गौरव—कलिकाल में भी जयको प्राप्त है—सर्वोत्कृष्टरूप से वर्त रहा है—उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनोंका भव विनष्ट हुआ है—संसारपरि-भ्रमण सदाके लिये छूटा है—इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकोंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—चाबुकोंकी तरह पीड़ाकारी काम-क्रोधादि दोषों-को अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञानादि-तेजसे जिन्होंने आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्ध नायकोंको—निस्तेज किया है वे—गणधरदेवादि महात्मा—भी आपके इस शासन-महात्म्यकी स्तुति करते हैं ।'

सिद्ध सिद्धत्थाण ठाणमणोवमसुह उवगयाणं ।
कुसमय-विसासण सासण जिणाणं भव-जिणाणं ।

—सिद्धसेनाचार्यः

'भवको जीतनेवाले—संसार-परिभ्रमणके कारण ज्ञाना-वरणादि कर्मोंसे सदाके लिये अपना पिंड छुड़ानेवाले—जिनों-अर्हन्तोंका शासन—प्रवचनतीर्थ—सिद्धस्वरूप है—अपने ही गुणोंसे आप प्रतिष्ठित हैं—(क्योंकि) वह सिद्धार्थोंका स्थान है—उसके द्वारा प्रतिपादित सब पदार्थ कल्पित न होकर प्रमाणसिद्ध हैं—जो लोग वास्तवमें उसका आश्रय लेते हैं उन्हें वह अनुपम सुखस्वरूप है—मोक्ष सुख तककी प्राप्ति कराने वाला है—और सब कुसमयोंका विशासक है—उन सारे मिथ्या दर्शनों (मतों) के गर्वको चूर-चूर करनेकी शक्तिसे सम्पन्न है जो सर्वथा एकान्तवादके आश्रयको लेकर शासनारूढ़ बने हुए हैं और मिथ्या तत्वोंके प्ररूपण-द्वारा जगतमें दुःखोंका जाल फैलाये हुए हे ।'

श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादाऽमोघलाञ्छनम् ।
जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

—अकलंकदेवः

'जो श्रीसम्पन्न है—यथार्थवादिता निर्बाधिता और परहित-प्रतिपादनादि गुणोंकी शोभासे संयुक्त है—, परम गम्भीर है—विविध-नय-भंगोंकी गहनता एवं सुयुक्तता-को लिये हुए अतीव गहरा है—और 'स्याद्वाद' जिसका अमोघ लक्षण है—सर्वथा नियमका त्यागी जो 'स्यात्' शब्द है उस पूर्वक कथन अथवा सर्वथा एकान्तदृष्टिको त्यागकर मुख्य-गौण की व्यवस्थाको लिये हुए सापेक्ष नयवादरूप कथन ही जिसकी अचूक पहिचान है—वह तीन लोकके नाथ (श्रीवीरप्रभु) का शासन—प्रवचनतीर्थ—जिसे 'जिन-शासन' कहते हैं, जयवन्त हो—लोकहृदयोंको सदा अपने प्रभावसे प्रभावित करता रहे ।'

वीर-तीर्थाऽवतार

तीर्थोत्पत्तिका समय—

जैनियोंके २४ वें तीर्थंकर श्री वीरजिन, जिन्हें महावीर, सन्मति और वर्द्धमान नामों से भी उल्लेखित किया जाता है, जब अपनी मौनपूर्वक बारह वर्ष की घोर तपश्चर्या के अनन्तर वैशाख सुदि दशमीके दिन अशेष घातिकर्ममलका नाश कर केवलज्ञानको प्राप्त हुए—विश्वके सारे चराऽचर पदार्थ उनके विमल-अनन्त ज्ञानमें साक्षात् झलकने लगे—तब उससे ६६ दिनके बाद उनकी सर्वलोक-हितकारिणी संपूर्ण पदार्थ तत्त्वोका यथार्थ प्रतिपादन करनेवाली और समस्त संशयोंका उच्छेदन करने वाली पवित्रवाणी सर्वप्रथम खिरी। इसी वाणीसे वीरके तीर्थका अवतार (जन्म) हुआ है, जिसे प्रवचनतीर्थ, धर्मतीर्थ, स्याद्वादतीर्थ, वीरशासन, अनेकान्तशासन और जिनशासनादिक भी कहा जाता है। उस समय इस भरतक्षेत्रके अवसर्पिणी-कल्प-सम्बन्धी चतुर्थ कालके प्रायः (कुछ ही अंश कम) चौतीस वर्ष अवशिष्ट रहे थे; तब वर्षके प्रथम मास प्रथम पक्ष और प्रथम दिनमें श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको पूर्वाह्नके समय, जब कि रुद्र मुहूर्तमें अभिजित नक्षत्रका योग हो चुका था और सूर्यका उदय हो रहा था, इस तीर्थकी उत्पत्ति हुई है; जैसा कि विक्रमकी ९वी शताब्दीके विद्वान आचार्य वीरसेन-के द्वारा सिद्धान्त-टीका 'धवला' मे उद्धृत निम्न तीन प्राचीन गाथाओंसे प्रकट है:—

इमिस्सेऽवसप्पणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवाससेसे किंचिवि सेसूणए संते ॥१।
वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्मि ॥२॥
सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वा ॥३॥

श्रीवीर भगवानका जन्म चैत्रशुक्ला त्रयोदशीको हुआ था। उन्होने मोटे रूपसे ३० वर्षकी अवस्थामें जिनदीक्षा ली, १२ वर्ष तक तपश्चरण किया और ३० वर्ष तक उपदेश के लिये विहार करके कार्तिकी अमावस्याके दिन निर्वाण-पदको प्राप्त किया। उनके तीर्थको अवतार लिये आज (माघशुक्ला पूर्णिमाको) २५०७ वर्ष ७ महीने का समय हो गया है।

तीर्थोत्पत्तिका स्थान—

उक्त तीर्थकी उत्पत्तिका स्थान पंचशैलपुर (राजगृह नगर) की नैऋत दिशामें स्थित **विपुलाचल पर्वत** है, जिस के मस्तक पर होने वाले तत्कालीन समवसरणमंडलकी गन्धकुटीमें सिंहासनारूढ हुए श्री वर्द्धमान भट्टारक (भ० महावीर) ने अपना तीर्थ प्रवर्तित किया है। इस विषयका विस्तृत वर्णन उक्त 'धवला' टीका और 'जयधवला' में भी 'तित्थुपत्ती कम्हि खेत्ते ?' इस प्रश्नके उत्तरमें प्राचीन गाथाओंके उल्लेखसहित पाया जाता है। यहां उसका बहुत थोडा-सा उपयुक्त अंश नीचे दिया जाता है—

"... **पंचसेलउर-णेरइ-दिसा-विसय-अइविउल-विउल-गिरिमत्थयत्थए × × × समवसरणमंडले × × × गन्ध-उडिप्पासायम्मि ट्ठियसिंघासणारूढेण वड्ढमाणभडारएण तित्थुप्पाइदं।" उत्तं च—पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे। णाणादुमसमाइण्णे देवदाणववंदिदे ॥१॥ महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोअस्स।**

समन्तभद्र-वचनामृत

मदनिषेध—

श्रीवीर-तीर्थके अनन्य भक्त और महाप्रभावक आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्म-शास्त्रमें धर्मके अंगभूत सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रतिपादन करते हुए उसे स्मयसे रहित बतलाया है। वह 'स्मय' क्या वस्तु है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी स्वयं लिखते हैं—

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥

'**ज्ञान**—विद्या-कला, **पूजा**—आदर-सत्कार-प्रतिष्ठा-यशःकीर्ति, **कुल**—पितृकुल-गुरुकुलादिक, **जाति**—ब्राह्मण-क्षत्रियादिक, **बल**—शक्ति-सामर्थ्य अथवा जन-धन-वचन-काय-मंत्र-सेनाबलादिक, **ऋद्धि**—अणिमादिक ऋद्धि अथवा लौकिक विभूति और पुत्रपौत्रादिक सम्पत्ति, **तप**—अनशनादिरूप तपश्चर्या तथा योगसाधना, और **वपु**—शोभनाकृति तथा सौदर्यादि गुण-विशिष्ट शरीर, **इन आठोंको आश्रित करके**—इनमेंसे किसीका भी आश्रय-आधार लेकर—**जो मान (गर्व) करना है उसे गतस्मय आप्त-पुरुष 'स्मय' अर्थात् मद कहते हैं**। (और इस तरह ज्ञानादि रूप आश्रयके भेदसे मदके ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद आदि आठ भेद होते है।)'

इस मदकी मदिराका पानकर मनुष्य कभी-कभी इतना उन्मत्त (पागल) और विवेकशून्य हो जाता है कि उसे आत्मा तथा आत्म-धर्मकी कोई सुधि ही नहीं रहती और वह अपनेसे हीन कुल-जाति अथवा ज्ञानादिकमें न्यून धार्मिक व्यक्तियोंका तिरस्कार तक कर बैठता है! यह एक बड़ा भारी दोष है। इस दोष और उसके भयंकर परिणामको सुझाते हुए स्वामीजीने जो वचनामृतकी वर्षा की है वह इस प्रकार है—

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना।

'**जो गर्वितचित्त हुआ घमंडमें आकर**—कुल-जाति आदि-विषयक किसी भी प्रकारके मदके वशीभूत होकर—**सम्यग्दर्शनादिरूप धर्ममें स्थित अन्य धार्मिकों को तिरस्कृत करता है**—उनकी अवज्ञा-अवहेलना करता है—वह (वस्तुतः) **आत्मीय धर्मको**—सम्यग्दर्शनादिरूप अपने आत्म-धर्मको—**ही तिरस्कृत करता है**, उसीकी अवज्ञा-अवहेलना करता है; **क्योंकि धार्मिकोंके बिना धर्मका अस्तित्व कहीं भी नहीं पाया जाता**—गुणीके अभावमें गुणका पृथक् कोई सद्भाव ही नही; और इसलिये जो गुणी धर्मात्माकी अवज्ञा करता है वह अपने ही गुण-धर्मकी अवज्ञा करता है, यह सुनिश्चित है।'

भावार्थ—जो अहंकारके वशमें अन्धा होकर दूसरे धर्मनिष्ठ व्यक्तियोंको अपनेसे कुल, जाति आदिमें हीन समझता हुआ उनका तिरस्कार करता है—उनकी उस कुल, जाति, गरीबी, कमजोरी या संस्कृति आदिकी बातको लेकर उनकी अवज्ञा-अवमानना करता है अथवा उनके किसी धर्माधिकारमें बाधा डालता है—वह भूलसे अपने ही धर्म-का तिरस्कार कर बैठता है! फलतः उसके धर्मकी स्थिति बिगड जाती है और भविष्यमें उसके लिये उस धर्म-की पुनः प्राप्ति अति दुर्लभ हो जाती है। यही इस मदपरिणति-का सबसे बड़ा दोष है और इसलिये सम्यग्दृष्टिको आत्म-पतनके हेतुभूत इस दोषसे सदा दूर रहना चाहिए।

उक्त मद-दोष किस प्रकारके विचारों द्वारा दूर किया जा सकता है, इस विषयका तीन कारिकाओंमें दिशा-बोध कराते हुए स्वामीजी लिखते हैं—

यदि पाप-निरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।

'**यदि (किसीके पास) पापनिरोध है**—पापके आस्रव-को रोकनेवाली सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयधर्मरूप निधि मौजूद है—**तो फिर अन्यसम्पत्तिसे**—सम्यग्दर्शनादिसे भिन्न दूसरी कुल-जाति-ऐश्वर्यादिकी सम्पत्तिसे—**क्या प्रयोजन है?**—

उससे आत्माका कौनसा प्रयोजन सध सकता है? कोई भी नहीं। **और यदि पासमें पापास्रव है**—मिथ्यादर्शनादिरूप अधर्म-प्रवृत्तिके कारण आत्मामें सदा पापका आस्रव बना हुआ है—**तो फिर अन्य सम्पत्तिसे**—मात्र कुल-जाति-ऐश्वर्यादिकी उक्त सम्पत्तिसे—**क्या प्रयोजन है?** वह आत्माका क्या कार्य सिद्ध कर सकती है? कुछ भी नही।

भावार्थ—धर्मात्मा वही होता है जिसके पाप-का निरोध है—पापास्रव नहीं होता। विपरीत इसके जो पापास्रवसे युक्त है उसे पापी अथवा अधर्मात्मा समझना चाहिए। जिसके पास पापके निरोधरूप धर्मसम्पत्ति अथवा पुण्यविभूति मौजूद है उसके लिये कुल-जाति-ऐश्वर्यादिकी सम्पत्ति कोई चीज नहीं—अप्रयोजनीय है। उसके अन्तरंग-में उससे भी अधिक तथा विशिष्टतर सम्पत्तिका सद्भाव है, जो कालान्तरमें प्रकट होगी, और इसलिये वह तिरस्कारका पात्र नहीं। इसी तरह जिसकी आत्मामें पापास्रव बना हुआ है उसके कुल-जाति-ऐश्वर्यादिकी सम्पत्ति किसी कामकी नही। वह उस पापास्रवके कारण शीघ्र नष्ट हो जायगी और उसके दुर्गति-गमनादिको रोक नही सकेगी। ऐसी सम्पत्तिको पाकर मद करना मूर्खता है। जो लोग इस सम्पूर्ण तत्त्व (रहस्य) को समझते हैं वे कुल, जाति तथा ऐश्वर्यादिसे हीन धर्मात्माओंका—सम्यग्दर्शनादिके धारकोंका—कदापि तिरस्कार नहीं करते।

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातंगदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगाराऽऽन्तरौजसम् ॥

'**जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है**—सत् श्रद्धानरूप धर्मसम्पत्तिसे युक्त है—**वह चाण्डालका पुत्र होनेपर भी**—कुलादिसम्पत्तिसे अत्यन्त गिरा हुआ समझा जानेपर भी—**देव है**—आराध्य है, और इसलिये तिरस्कारका पात्र नही, **ऐसा आप्तदेव अथवा गणधरादिक देव कहते हैं। उसकी दशा उस अंगारेके सदृश होती है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अन्तरंगमें तेज तथा प्रकाशको लिए हुए है,** और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता।

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात् ।
काऽपि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥

'(मनुष्यतो मनुष्य) एक कुत्ता भी धर्मके प्रतापसे—सम्यग्दर्शनादिके माहात्म्यसे—स्वर्गादिमें जाकर देव बन जाता है, और पापके प्रभावसे—मिथ्यादर्शनादिके कारण—**एक देव भी कुत्तेका जन्म ग्रहण करता है। धर्मके प्रसादसे तो देहधारियोंको दूसरी अनिर्वचनीय सम्पत्तककी प्राप्ति हो सकती है।** (ऐसी हालतमें कुल, जाति तथा ऐश्वर्यादिसे हीन धर्मात्मा लोग कदापि तिरस्कारके योग्य नही होते।)'

गृहस्थोंको गौरव-प्रदान

स्वामी सामन्तभद्रने, अपने समीचीनधर्मशास्त्रमें, '**चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्**' इस वाक्यके द्वारा सामायिकमें स्थित गृहस्थको उस मुनिके समान यतिभाव-को प्राप्त हुआ निर्ग्रन्थ मुनि लिखा है जिसको किसी भोले भाई-ने दयाका दुरुपयोग करके वस्त्र ओढ़ा दिया हो और वह मुनि उस वस्त्रको अपने लिये एक प्रकारका उपसर्ग समझ रहा हो, और इस तरह गृहस्थ एक ही दिनमें प्रतिदिन श्रावक और मुनि अथवा अणुव्रती और महाव्रती[१] दोनोंकी अवस्था-को प्राप्त होता है—वह एकान्ततः श्रावक या अणुव्रती ही नही है, ऐसा सूचित किया है। परन्तु इससे भी अधिक गृहस्थोंको गौरव प्रदान करनेवाली उनकी निम्न अमृतवाणी खास तौरसे ध्यान देने योग्य है, जिसमें एक गृहस्थको मुनिसे भी श्रेष्ठ बतलाया गया है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

'**निर्मोही**—दर्शनमोहसे रहित सम्यग्दृष्टि—**गृहस्थ मोक्षमार्गी है**—धर्मपथपर आरूढ है, भले ही वह कुल जाति अथवा वेष तथा चारित्रादिसे कितना ही हीन क्यों न हो—**किन्तु मोहवान्**—दर्शनमोहसे युक्त मिथ्यादृष्टि—**गृहत्यागी मुनि मोक्षमार्गी नहीं है**—धर्मपथपर आरूढ़ नही है, भले ही वह कुल-जाति-वेषसे कितना ही उच्च तथा बाह्य चारित्रमें कितना ही बढ़ा-चढा क्यों न हो। **अतः जो भी गृहस्थ मिथ्यादर्शनसे रहित सम्यग्दृष्टि है वह दर्शनमोहसे युक्त** (प्रत्येक जाति के) **मिथ्यादृष्टिमुनिसे श्रेष्ठ है।**'

---

[१] व्रती गृहस्थको दिग्व्रत और देशव्रतकी अवस्थाओंमे सीमासे बाहरके क्षेत्रोंकी दृष्टिसे पंचमहाव्रतोंकी परिणतिसे युक्त तथा उनका प्रसाधक तक लिखा है। (सा० ध० ७०,७१,९५)।

भावार्थ—गृहत्यागी मुनिका दर्जा आम तौरपर गृहस्थसे ऊँचा होता है; परन्तु जो गृहस्थ सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है उसका दर्जा जैनागमकी दृष्टिके अनुसार उस मुनिसे ऊँचा है जो सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न नहीं अथवा अनेकान्तदृष्टिसे विहीन है। गृहस्थपदमें सभी जातियों और सभी श्रेणियोंके मनुष्योंका समावेश होता है और चांडालके पुत्र तकको सम्यग्दर्शनका पात्र बतलाया गया है। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि हीन-से-हीन जाति-कुलवाला गृहस्थ भी जो सम्यग्दृष्टि है—अनेकान्तदृष्टिसे सम्पन्न है—वह उस उच्च-से-उच्च जाति-कुलवाले मुनिसे भी ऊंचे दर्जे पर है जो शास्त्रोंका बहुत कुछ पाठी तथा बाह्याचारमें निपुण होते हुए भी मिथ्यादृष्टि है—सर्वथा एकान्तदृष्टिको लिये हुए द्रव्यलिंगी है।

—युगवीर

मानव-धर्म

मानव-धर्म मानवोंसे नहिं करना घृणा सिखाता है;
मनुज-मनुजको एक बताता भाई-भाईका नाता है।
असली जाति-भेद नही इनमें गो-अश्वादि-जाति-जैसा;
शूद्र-ब्राह्मणीके संगमसे उपजे मनुज, भेद कैसा? ॥१॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये भेद कहे व्यवहारिक हैं;
निज-निज कर्माश्रित, अस्थिर, नहिं ऊंच-नीचता-मूलक है।
सब है अंग समाज-देहके, क्या अन्त्यज, क्या आर्य महा;
क्या चाडाल-म्लेच्छ,सबहीका अन्योऽन्याश्रित कार्य कहा ॥२॥

सब है धर्मपात्र, सब ही है पौरिकताके अधिकारी;
धर्मादिक अधिकार न दे जो शूद्रोंको वह अविचारी।
शूद्र तिरस्कृत-पीडित हो निज कार्य छोड़ दें यदि सारा;
तो फिर जगमें कैसी बीते? पंगु समाज बने सारा ॥३॥

गर्भवास औ' जन्म-समयमें कौन नहीं अस्पृश्य हुआ?
कौन मलोंसे भरा नहीं? किसने मल-मूत्र न साफ किया?
किसे अछूत जन्मसे तब फिर कहना उचित बताते हो?
तिरस्कार भंगी-चमारका करते क्यों न लजाते हो? ॥४॥

जाति-कुमदसे गर्वित हो जो धार्मिकको ठुकराता है;
वह सचमुच आत्मीय धर्मको ठुकराता न लजाता है।
क्योंकि धर्म धार्मिक पुरुषोंके बिना कही नही पाता है;
धार्मिकका अपमान इसीसे वृष-अपमान कहाता है ॥५॥

मानव-धर्मापेक्षिक सब है धर्मबन्धु अपने प्यारे;
अपनोंसे नहिं घृणा श्रेष्ठ है, हैं उद्धार-योग्य सारे।
अत: सुअवसर-सुविधाएँ सब उन्हें मुनासिब देना है;
इस से ही कल्याण उन्होंका औ' अपना भी होना है ॥६॥

बन करके 'युग-वीर' उठा दो रूढि-जनित संस्कारोंका—
पर्दा हृदय पटलसे अपने, ढा दो गढ़ हुंकारोंका।
तब होगा दर्शन सुसत्यका, मानवधर्म-पुण्यमयका;
जीवन सफल बनेगा तब ही, अनुगामी हो सत्पथका ॥७॥

—युगवीर

महावीर-सन्देश

यही है महावीर-सन्देश ।

विपुलाचल पर दिया गया जो प्रमुख धर्म-उपदेश ॥यही०॥

सब जीवोको तुम अपनाओ, हर उनके दुख-क्लेश ।
असद्भाव रक्खो न किसीसे, हो अरि क्यों न विशेष ॥१॥

वैरीका उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि-विशेष ।
वैर छुटे, उपजे मति जिससे, वही यत्न यत्नेश ॥२॥

घृणा पापसे हो, पापीसे नहीं कभी लव-लेश ।
भूल सुझा कर प्रेम-मार्गसे, करो उसे पुण्येश ॥३॥

तज एकान्त-कदाग्रह-दुर्गुण, बनो उदार विशेष ।
रह प्रसन्नचित सदा, करो तुम मनन तत्त्व-उपदेश ॥४॥

जीतो राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय-मोह-कषाय अशेष ।
धरो धैर्य, समचित्त रहो, औ' सुख-दुखमें सविशेष ॥५॥

अहंकार-ममकार तजो, जो अवनतिकार विशेष ।
तप-संयममें रत हो, त्यागो तृष्णा-भाव अशेष ॥६॥

'वीर' उपासक बनो सत्यके, तज मिथ्याऽभिनिवेश ।
विपदाओंसे मत घबराओ, धरो न कोपावेश ॥७॥

संज्ञानी संदृष्टि बनो, औ' तजो भाव संक्लेश ।
सदाचार पालो दृढ़ होकर, रहे प्रमाद न लेश ॥८॥

सादा रहन-सहन-भोजन हो, सादा भूषा-वेष ।
विश्व-प्रेम जाग्रत कर उरमें, करो कर्म निःशेष ॥९॥

हो सबका कल्याण, भावना ऐसी रहे हमेश ।
दया-लोकसेवा-रत चित हो, और न कुछ आदेश ॥१०॥

इसपर चलनेसे ही होगा, विकसित स्वात्म-प्रदेश ।
आत्म-ज्योति जगेगी ऐसे जैसे उदित दिनेश ॥११॥

यही है महावीर-सन्देश ।

—युगवीर

श्रीवीरका सर्वोदयतीर्थ

[सम्पादकीय]

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके महान विद्वान आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें, जोकि आप्त कहे जानेवाले समस्त तीर्थप्रवर्तकोंकी परीक्षा करके और उस परीक्षा-द्वारा श्री वीरजिनको सत्यार्थ आप्त-के रूपमें निश्चित करके तदनन्तर वीरस्तुतिके रूपमें लिखा गया है, वीर भगवानको (मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंका अभाव हो जानेसे) अतुलित शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिके उदय-की पराकाष्ठाको *प्राप्त हुआ एवं ब्रह्मपथका नेता लिखा* है और इसीलिये उन्हें "महान्" बतलाया है। साथ ही उनके अनेकान्त शासन (मत) के विषयमें लिखा है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्त ध्यान) की निष्ठा—तत्परताको लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिलकुल स्पष्ट—सुनिश्चित करनेवाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषय-को खण्डित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नहीं है। यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये वह अद्वितीय है।' जैसा कि ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाओसे प्रकट है—

> **त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां**
> **तुला-व्यतीतां जिन! शान्तिरूपाम् ।**
> **अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता**
> **महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ।।४।।**
> **दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं**
> **नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।**
> **अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-**
> **र्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ।।६।।**

इनसे अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे वर्णित इस वीर-शासनके महत्वको और उसके द्वारा वीर-जिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीर-जिन-द्वारा इस शासनमें वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोंमें निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको ही सिद्ध करनेमे असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ पाठकों-के लिये बडा ही रोचक और वीरजिनेन्द्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्तव्यापिनी बनानेवाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनों और उनके अवान्तर कितने ही वादोंका सूत्र अथवा संकेतादिके रूपमे *बहुत कुछ निर्देश और विवेक आ गया* है। यह विषय ३९वी कारिका तक चलता रहा है। इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें ९वी शताब्दीके विद्वान् श्री विद्यानन्दाचार्यने वहां तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है:—

> **स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः**
> **सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।**
> **निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं**
> **तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥**

अर्थात्—यहां तकके इस युक्त्यनुशासनस्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीरजिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्त-के आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका संक्षेपसे निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियों-को भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।

इसके आगे, ग्रन्थके उत्तरार्धमें, वीरशासन-वर्णित तत्त्व-ज्ञानके मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्त-भद्रसे पूर्वके ग्रन्थोंमें प्रायः नही पाई जातीं, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्दके प्रयोग-अप्रयोगके रहस्यकी बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे वीरके तत्त्वज्ञानको समझने

तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। वीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रन्थमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—संसारसमुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी भव्यजीव पार उतर जाते है और जो सबोंके उदय–उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें परम सहायक है। इस विषयकी कारिका निम्न प्रकार है—

> सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
> सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
> सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
> सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

इसमें स्वामी समन्तभद्र वीर भगवानकी स्तुति करते हुए कहते हैं—'(हे वीर भगवन्!) आपका यह तीर्थ—प्रवचनरूप शासन, अर्थात् परमागमवाक्य, जिसके द्वारा संसार-महासमुद्रको तिरा जाता है—सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध (भाव-अभाव), एक-अनेक, आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है; एकान्ततः किसी एक ही धर्मको अपना इष्ट किये हुए नहीं है—और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिये हुए है—एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है; जो गौण है वह निरात्मक नहीं होता और जो मुख्य है उससे व्यवहार चलता है; इसीसे सब धर्म सुव्यवस्थित हैं; उनमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नही है। जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नही बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सब दुःखोंका अन्त करने वाला है, यही निरन्त है—किसी भी मिथ्यादर्शनके द्वारा खण्डनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदय का कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा सर्वोदयतीर्थ है—जो शासन सर्वथा एकान्तपक्षको लिये हुए हैं उनमेंसे कोई भी 'सर्वोदयतीर्थ' पदके योग्य नही हो सकता।'

यहां 'सर्वोदयतीर्थ' यह पद सर्व, उदय और तीर्थ इन तीन शब्दोंसे मिलकर बना है। 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्ण (Complete) का वाचक है; 'उदय' ऊंचे–ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकासको कहते हैं; और 'तीर्थ' उसका नाम है जिसके निमित्तसे संसारमहासागरको तिरा जाय।[1] वह तीर्थ वास्तवमें धर्मतीर्थ है जिसका सम्बन्ध जीवात्मासे है, उसकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत जो आगम अथवा आप्तवाक्य है वही यहां 'तीर्थ' शब्दके द्वारा परिग्रहीत है। और इसलिये इन तीनों शब्दोंके सामासिक योगसे बने हुए 'सर्वोदयतीर्थ' पदका फलितार्थ यह है कि —जो आगमवाक्य जीवात्माके पूर्ण उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें तथा सब जीवोंके उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें सहायक है वह सर्वोदयतीर्थ है। आत्माका उदय-उत्कर्ष अथवा विकास उसके ज्ञान-दर्शन-सुखादिक स्वाभाविक गुणोंका ही उदय-उत्कर्ष अथवा विकास है। और गुणोंका वह उदय-उत्कर्ष अथवा विकास दोषोंके अस्त-अपकर्ष अथवा विनाशके बिना नही होता। अत. सर्वोदयतीर्थ जहां ज्ञानादि गुणोंके विकासमें सहायक है वहां अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारण ज्ञानावर्णादिक कर्मोंके विनाशमें भी सहायक है—वह उन सब रुकावटोंको दूर करनेकी व्यवस्था करता है जो किसीके विकासमें बाधा डालती हैं। यहां तीर्थको सर्वोदयका निमित्त कारण बतलाया गया है तब उसका उपादान कारण कौन? उपादान कारण वे सम्यग्दर्शनादि आत्मगुण ही है जो तीर्थका निमित्त पाकर मिथ्यादर्शनादिके दूर होनेपर स्वयं विकासको प्राप्त होते है। इस दृष्टिसे 'सर्वोदयतीर्थ' पदका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है और वह यह कि 'समस्त अभ्युदय कारणोंका—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप त्रिरत्न-धर्मोंका जो हेतु है–उनकी उत्पत्ति अभिवृद्धि आदिमें (सहायक) निमित्त कारण है—वह सर्वोदयतीर्थ है'।[2] इस दृष्टिसे ही, कारणमें कार्यका उपचार करके इस तीर्थको धर्मतीर्थ कहा जाता है और इसी दृष्टिसे वीरजिनेन्द्रको धर्मतीर्थका कर्ता (प्रवर्तक) लिखा है; जैसा कि ९ वीं शताब्दीकी बनी हुई 'जयधवला' नामकी सिद्धान्तटीकामें उद्धृत निम्न प्राचीन

---

१ "तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिमिति"

२ "सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदानां हेतुत्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः।" —विद्यानन्दः

गाथासे प्रकट है—

> णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो ।
> राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ ॥

इस गाथामें वीर-जिनको जो निःसंशयकर—संसारी प्राणियोंके सन्देहोंको दूरकर उन्हें सन्देहरहित करनेवाला—महावीर—ज्ञान-वचनादिकी सातिशय-शक्तिसे सम्पन्न—जिनोत्तम—जितेन्द्रियों तथा कर्मजेताओंमें श्रेष्ठ–और राग-द्वेष-भयसे रहित बतलाया है वह उनके धर्मतीर्थ-प्रवर्तक होनेके उपयुक्त ही है। बिना ऐसे गुणोंकी सम्पत्तिसे युक्त हुए कोई सच्चे धर्मतीर्थका प्रवर्तक हो ही नहीं सकता। यही वजह है कि जो ज्ञानादि-शक्तियोंसे हीन होकर राग-द्वेषादिसे अभिभूत एवं आकुलित रहे हैं उनके द्वारा सर्वथा एकान्त शासनों—मिथ्यादर्शनोंका ही प्रणयन हुआ है, जो जगतमे *अनेक भूल-भ्रान्तियों एवं दृष्टिविकारोंको जन्म* देकर दुःखों-के जालको विस्तृत करनेमें ही प्रधान कारण बने हैं। सर्वथा एकान्तशासन किस प्रकार दोषोंसे परिपूर्ण है और वे कैसे दुःखोंके विस्तारमें कारण बने हैं इस विषयकी चर्चाका यहां अवसर नहीं है। इसके लिये स्वामी समन्तभद्रके देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र जैसे ग्रन्थों तथा अष्ट-सहस्री जैसी टीकाओंको और श्रीसिद्धसेन, अकलंकदेव, विद्यानन्द आदि महान् आचार्योंके तर्कप्रधान ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

यहा पर मै सिर्फ इतना ही कहना चाहता हू कि जो तीर्थ—शासन—सर्वान्तवान् नहीं—सर्वधर्मोंको लिये हुए और उनका समन्वय अपनेमें किये हुए नहीं है—वह सबका उदयकारक अथवा पूर्ण-उदयविधायक हो ही नहीं सकता और न सबके सब दुःखोंका अन्त करनेवाला ही बन सकता है; क्योंकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है—अनेकानेकगुण-धर्मोंको लिये हुए है। जो लोग उसके किसी एक ही गुण-धर्मपर दृष्टि डालकर उसे उसी एक रूपमें देखते और प्रतिपादन करते है उनकी दृष्टियां उन जन्मान्ध पुरुषोकी दृष्टियोंके समान एकांगी हैं जो हाथीके एक-एक अंगको ही पकड़कर-देखकर उसी एक-एक अंगके रूपमें ही हाथीका प्रतिपादन करते थे, और इस तरह परस्परमें लड़ते, झगड़ते, कलहका बीज बोते और एक दूसरेके दुःखका कारण बने हुए थे। उन्हे हाथीके सब अंगोंपर दृष्टि रखनेवाले सुनेत्र पुरुषने उनकी भूल सुझाई थी और यह कहते हुए उनका विरोध मिटाया था कि 'तुमने हाथीके एक-एक अंगको ले रक्खा है, तुम सब मिल जाओ तो हाथी बन जाय—तुम्हारे अलग-अलग कथनके अनुरूप हाथी कोई चीज नहीं है।' और इसलिये जो वस्तुके सब अंगोंपर दृष्टि डालता है—उसे सब ओरसे देखता और उसके सब गुण-धर्मोंको पहचानता है—वह वस्तुको पूर्ण तथा यथार्थ रूपमें देखता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है और यह अनेकान्तदृष्टि ही सती अथवा सम्यग्दृष्टि कहलाती है और यही संसारमें वैर-विरोधको मिटाकर सुख-शान्तिकी स्थापना करनेमें समर्थ है। इसीसे श्री अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अनेकान्तको विरोधका मथन करनेवाला कहकर उसे नमस्कार किया है।[1] और श्रीसिद्धसेनाचार्यने यह बतलाते हुए कि अनेकान्त-के बिना लोकका कोई भी व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता उसे लोकका अद्वितीय गुरु कह कर नमस्कार किया है।[2]

सिद्धसेनका यह कहना कि 'अनेकान्त' के बिना लोकका व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता सोलहों आने सत्य है। सर्वथा एकान्तवादियों के सामने भी लोक-व्यहवहारके न बन सकनेकी यह समस्या रही है और उसे हल करने तथा लोक-व्यहवहारको बनाये रखनेके लिये उन्हें माया, अविद्या, संवृति जैसी कुछ दूसरी कल्पनाये करनी पड़ी हैं अथवा यों कहिये कि अपने सर्वथा एकान्तसिद्धान्तके छप्परको सँभालनेके लिये उसके नीचे तरह-तरहकी टेबकियां (थूनियां) लगानी पड़ी हैं; परन्तु फिर भी वे उसे सँभाल नहीं सके और न अपने सर्वथा-एकान्त सिद्धान्तको किसी दूसरी तरह प्रतिष्ठित करनेमें ही समर्थ हो सके हैं। उदाहरणके लिये अद्वैत एकान्तवादको लीजिये, ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्मके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थका अस्तित्व नही मानते—सर्वथा अभेदवादका ही प्रतिपादन करते हैं—उनके सामने जब साक्षात् दिखाई

---

१ परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकल-नय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

२. जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥६९॥
—सन्मतिसुत्त

देनेवाले पदार्थ-भेदों, कारक-क्रिया-भेदों तथा विभिन्न लोक-व्यवहारोंकी बात आई तो उन्होंने कह दिया कि 'ये सब मायाजन्य हैं' अर्थात् मायाकी कल्पना करके प्रत्यक्षमें दिखाई पड़नेवाले सब भेदों तथा लोक-व्यवहारोंका भार उसके ऊपर रख दिया। परन्तु यह माया क्या बला है और वह सत् रूप है या असत्रूप इसको स्पष्ट करके नही बतलाया गया। माया यदि असत् है तो वह कोई वस्तु न होनेसे किसी भी कार्यके करनेमें समर्थ नही हो सकती। और यदि सत् है तो वह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है? यह प्रश्न खड़ा होता है। अभिन्न होनेकी हालतमें ब्रह्म भी मायारूप मिथ्या ठहरता है और भिन्न होनेपर माया और ब्रह्म दो जुदी वस्तुए होनेसे द्वैतापत्ति होकर सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त बाधित हो जाता है। यदि हेतुसे अद्वैतको सिद्ध किया जाता है तो हेतु और साध्यके दो होनेसे भी द्वैतापत्ति होती है और हेतु-के बिना वचनमात्रसे सिद्धि माननेपर उस वचनसे भी द्वैतापत्ति हो जाती है। इसके सिवाय द्वैतके बिना अद्वैत कहना बनता ही नही जैसेकि हेतुके बिना अहेतुका और हिंसाके बिना अहिंसाका प्रयोग नही बनता। अद्वैत-में द्वैतका निषेध है, यदि द्वैत नामकी कोई वस्तु नही तो उसका निषेध भी नहीं बनता, द्वैतका निषेध होने-से उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस तरह सर्वथा अद्वैतवादकी मान्यताका विधान सिद्धान्त-बाधित ठहरता है, वह अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमें स्वयं असमर्थ है और उसके आधार पर कोई लोकव्यवहार सुघटित नही हो सकता। दूसरे सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादि सर्वथा एकान्त-वादोंकी भी ऐसी ही स्थिति है, वे भी अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमें असमर्थ है, और उनके द्वारा भी अपने स्वरूपको बाधा पहुंचाये बिना लोक-व्यवहारकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।

श्रीसिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रमें कपिलके सांख्यदर्शनको द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य, शुद्धोधनपुत्र बुद्ध-के बौद्धदर्शनको परिशुद्ध पर्यायार्थिक नयका विकल्प और उलूक (कणाद) के वैशेषिकदर्शनको उक्त दोनों नयोंका वक्तव्य होनेपर भी पारस्परिक निरपेक्षताके कारण मिथ्या-त्व बतलाया है और उसके अनन्तर लिखा है:—

जे संतवाय-दोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥ ५० ॥
ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति।
जं भव-दुक्ख-विमोक्खं दो वि ण पूरेंति पाडिक्कं ॥ ५१ ॥

'सांख्योंके सद्वादपक्षमें बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशेषिकोंके असद्वादपक्षमें सांख्यजन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं—सर्वथा एकान्त-वादमें वैसे दोष आते ही हैं। ये दोनों सद्वाद और असद्वाद दृष्टियां यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित हो जायँ—समन्वयपूर्वक अनेकान्त-दृष्टिमें परिणत हो जायँ—तो सर्वोत्तम सम्यगदर्शन बनता है; क्योंकि ये सत्-असत् रूप दोनों दृष्टियां अलग-अलग संसारके दुःखोंसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ नहीं हैं—दोनोंके सापेक्ष संयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर संसारके दुःखोंसे मुक्ति एवं शान्ति मिल सकती है।'

इस सब कथनपरसे मिथ्यादर्शनों और सम्यग्दर्शनोंका तत्त्व सहज ही समझमें आ जाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमें परिणत हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन अथवा जैनेतरदर्शन जबतक अपने-अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें एकान्तताको अपनाकर पर-विरोधका लक्ष्य रखते हैं तबतक सम्यग्दर्शन-में परिणत नही होते, और जब पर-विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वयकी दृष्टिको अपनाते हैं तभी सम्यग्दर्शनमे परिणत हो जाते है, और जैनदर्शन कहलानेके योग्य होते है। जैनदर्शन अपने अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-न्यायके द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है न कि विरोध, और इसलिये सभी मिथ्यादर्शन अपने-अपने विरोधको भुला कर उसमें समा जाते है। इसीसे सन्मतिसूत्रकी अन्तिम गाथा में जिनवचनरूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मंगल-कामना करते हुए उसे 'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय' बतलाया है वह गाथा इस प्रकार है—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग-सुहाहिगम्मस्स ॥ ७० ॥

इसमें जिनवचनरूप जैनदर्शन (जिनशासन) के तीन खास विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण

मिथ्यादर्शनसमूहमय, दूसरा अमृतसार और तीसरा संविग्न-सुखाधिगम्य है। मिथ्यादर्शनोंका समूह होते हुए भी वह मिथ्यात्वरूप नहीं है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्ष-नयवादमें सन्निहित है—सापेक्ष-नय मिथ्या नहीं होते, निर्पेक्षनय ही मिथ्या होते हे; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

मिथ्या-समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततताऽस्ति नः ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

—देवागम

श्रीवीरजिनके सर्वधर्मसमन्वयकारक उदार शासनमें सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादि रूप वे सब नय-धर्म जो निरपेक्षरूपमें अलग-अलग रहकर अतत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-घातक होते है। वे ही सब सापेक्ष (अविरोध) रूपमें मिलकर तत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-उपकारी बने हुए है[1] तथा आश्रय पाकर बन जाते हैं और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासनकी उक्त (६१वी) कारिकामें वीरशासनको जो सर्वधर्मवान् सर्वदुःखप्रणाशक और सर्वोदयतीर्थ बतलाया है वह बिल्कुल ठीक तथा उसकी प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। वीरका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों (परस्पर निरपेक्ष नयों) अथवा मिथ्यादर्शनोका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवादरूप मिथ्यादर्शन ही संसार-में अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते है। अतः जो लोग भगवान महावीरके शासनका—उनके धर्मतीर्थका—सचमुच आश्रय लेते हैं—उसे ठीक तौर पर अथवा पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख यथासाध्य मिट जाते है। और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय —उत्कर्ष एवं विकास—तक सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते है।

महावीरकी ओरसे इस धर्मतीर्थका द्वार सबके लिये खुला हुआ है, जिसकी सूचक अगणित कथाएं जैनशास्त्रोंमें पाई जाती है और जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पतित-से-पतित प्राणियोंने भी इस धर्मका आश्रय लेकर अपना उद्धार और कल्याण किया है; उन सब कथाओंको छोड़ कर यहां पर जैनग्रन्थोंके सिर्फ कुछ विधि-वाक्योंको ही प्रकट किया जाता है जिससे उन लोगोंका समाधान हो जो इस तीर्थको केवल अपना ही साम्प्रदायिक तीर्थ और एकमात्र अपने ही लिये अवतरित हुआ समझ बैठे हैं तथा दूसरोंके लिये इस तीर्थसे लाभ उठानेमें अनेक प्रकारसे बाधक बने हुए है। वे वाक्य इस प्रकार है:—

(१) दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥

(२) उच्चावच-जनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥

—यशस्तिलके, सोमदेवसूरिः

(३) आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देव-द्विजाति-तपस्वि-परिकर्मसु योग्यान् ।

नीतिवाक्यामृते, सोमदेवसूरिः

(४) शूद्रोऽप्युपस्कराऽऽचार-वपुःशुद्धयाऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

सागारधर्मामृते, आशाधरः

(५) एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ । ७६ ।

—सावयधम्मदोहा (देवसेनाचार्य)

इन सब वाक्योंका आशय क्रमसे इस प्रकार है:—

(१) 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण (आम तौर-पर) मुनिदीक्षाके योग्य हैं और चौथा शूद्र वर्ण विधिके द्वारा दीक्षाके योग्य है। (वास्तवमें) मन, वचन, तथा कायसे किये जानेवाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी है।' —यशस्तिलक

(२) 'जिनेन्द्रका यह धर्म प्रायः ऊंच और नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित हैं। एक स्तम्भके आधार-पर जैसे मन्दिर-मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊंच-नीच-मेंसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्यसमूहके आधारपर धर्म ठहरा हुआ नही है—वास्तवमें धर्म धार्मिकोंके आश्रित होता है, भले ही उनमें ज्ञान, धन, मान-प्रतिष्ठा, कुल-जाति,

१. य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः ॥ —स्वयम्भूस्तोत्र

आज्ञा-ऐश्वर्य, शरीर, बल, उत्पत्तिस्थान और आचार-क्रियारादिकी दृष्टिसे कोई ऊंचा और कोई नीचा हो।'

—यशस्तिलक

(३) 'मद्य-मांसादिके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृह-पात्रादिकी पवित्रता और नित्यस्नानादिके द्वारा शरीरकी शुद्धि, ये तीनों प्रवृत्तियां (विधियां) शूद्रों को भी देव, द्विजाति और तपस्वियों (मुनियों) के परिकर्मोंके योग्य बनाती हैं।'

—नीतिवाक्यामृत

(४) 'आसन और बर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्यमांसादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके समान धर्मका पालन करनेके योग्य है; क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर धर्मका अधिकारी होता है।'

—सागारधर्मामृत

(५) 'इस (श्रावक) धर्मका जो कोई भी आचरण-पालन करता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वह श्रावक है। श्रावकके सिरपर और क्या कोई मणि होता है? जिससे उसकी पहिचान की जा सके।'

—सावयधम्मदोहा

नीच-से-नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी जो इस धर्म-प्रवर्तककी शरणमें आकर नतमस्तक हो जाता है—प्रसन्नतापूर्वक उसके द्वारा प्रवर्तित धर्मको धारणा करता है—वह इसी लोकमें अति उच्च बन जाता है। इस धर्मकी दृष्टि में कोई जाति गर्हित नहीं—तिरस्कार किये जानेके योग्य नहीं—सर्वत्र गुणोंकी पूज्यता है, वे ही कल्याणकारी है, और इसीसे इस धर्ममें एक चाण्डालको भी व्रतसे युक्त होनेपर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शनसे युक्त होनेपर 'देव' (आराध्य) माना गया है और चाण्डालको किसी साधारण धर्म-क्रियाका ही नहीं किन्तु 'उत्तमधर्म' का अधिकारी सूचित किया है, जैसा कि निम्न आर्य-वाक्योसे प्रकट है:—

यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः।
बालोऽपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरः कुतः॥८२॥

—स्तुतिविद्यायां, समन्तभद्र.

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥११-२०३॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्यः

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातङ्ग-देहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम्॥२८॥

—रत्नकरण्डके: समन्तभद्रः

चाण्डालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि।

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

वीरका यह धर्म इन ब्राह्मणादि जाति-भेदोंको तथा दूसरे चाण्डालादि विशेषोंको वास्तविक ही नहीं मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचार-भेदके आधारपर कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है। साथ ही यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणोंकी उत्पत्तिपर जाति उत्पन्न होती है, उनके नाशपर नष्ट हो जाती है और वर्णव्यवस्था गुणकर्मोंके आधारपर है न कि जन्मके। यथा:—

"चातुर्वर्ण्यं यथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम्।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतम्॥११-२०५॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्य.

"आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनम्।
न जातिर्ब्राह्मणीयाऽस्ति नियता काऽपि तात्विकी॥१७-२४॥
"गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते" ॥—३२॥

—धर्मपरीक्षायां, अमितगति:

"तस्माद्गुणैर्वर्ण-व्यवस्थितिः।" ११-१९८

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्यः

"क्रियाविशेषादिनिबन्धन एव ब्राह्मणादिव्यवहारः।"

—प्रमेयकमलमार्तण्डे, प्रभाचन्द्राचार्य.

इस धर्ममें यह भी बतलाया गया है कि इन ब्राह्मणादि जातियोंका आकृतिआदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्यशरीरमें नही पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी-आदिमें गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जाति-भेदके विरुद्ध है। इसी तरह जारजका भी कोई चिह्न शरीरमें नहीं होता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय; और न महज् व्यभिचारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस धर्ममें 'अनार्य आचरण' अथवा 'म्लेच्छाचार' माना गया है। इन दोनों बातोंके निर्देशक दो वाक्य इस प्रकार हैं:—

वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात्॥

नास्ति जाति-कृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् ।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥

—महापुराणे, गुणभद्राचार्यः

चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाऽङ्गेषु कानिचित् ।
अनार्यमाचरन् किञ्चिज्जायते नीचगोचरः ॥

—पद्मचरिते, रविषेणाचार्य

वस्तुतः सब मनुष्योंकी एक ही मनुष्यजाति इस धर्मको अभीष्ट है, जो 'मनुष्यजाति' नामक नामकर्मके उदयसे होती है, और इस दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—आपसमें भाई-भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा अधिकार प्राप्त है। जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥३८-४५॥

—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्य

विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥

—धर्मरसिके, सोमसेनोद्धृत

इसके सिवाय, किसीके कुलमें कभी कोई दोष लग गया हो तो उसकी शुद्धि की, और म्लेच्छों तक की कुलशुद्धि करके उन्हे अपनेमें मिलाने तथा मुनिदीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी स्पष्ट आज्ञाएं भी इस धर्मशासनमे पाई जाती हैं*। और इसलिये यह शासन सचमुच ही 'सर्वोदयतीर्थ' के पदको प्राप्त है—इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएं मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसारसमुद्रसे पार उतर सकता है।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने—जिनके हाथों दैवयोगसे यह तीर्थ पड़ा है—इस महान् तीर्थकी महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है; इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदयतीर्थका-सा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊंची-ऊंची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमें ताला डाल दिया है। हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरोंको लाभ उठाने देते हैं—महज अपने थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीड़ाके स्थल-रूपमें ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदयतीर्थ' पर रात-दिन उपासकोंकी भीड़ और यात्रियोंका मेला-सा लगा रहना चाहिये था वहां आज सन्नाटासा छाया हुआ है, जैनियोंकी संख्या भी अगुलियोंपर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं उनमें भी जैनत्वका प्रायः कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नही पड़ता—कहीं भी दया, दम, त्याग और समाधिकी तत्परता नज़र नहीं आती—लोगोंको महावीरके संदेशकी ही खबर नही, और इसीसे संसारमें सर्वत्र दुःख ही दुःख फैला हुआ है।

ऐसी हालतमें अब खास जरूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया जाय, इसकी सब रुकावटोंको दूर कर दिया जाय, इसपर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोंके लिये हर वक्त खुला रहे, सबोके लिये इस तीर्थ तक पहुचनेका मार्ग सुगम किया जाय,

---

*जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

१. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्त-दूषणम्
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥४०-१६८॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्र-पौत्रादि-सन्ततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥४०-१६९॥

२. स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजा-बाधा-विधायिनः ।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥४२-१७९॥

—आदिपुराणे, जिनसेनाचार्यः

३. "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाऽऽशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ-व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ॥"

—लब्धिसारटीका (गाथा १९३वीं)

नोट—यहां म्लेच्छोंकी दीक्षा-योग्यता, सकलसंयमग्रहणकी पात्रता और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध आदिका जो विधान किया है वह सब कसायपहुडकी 'जयधवला' टीकामें भी, जो लब्धिसारटीकासे कईसौ वर्ष पहलेकी रचना है, इसी क्रमसे प्राकृत और संस्कृत भाषामें दिया है।

इसके तटों तथा घाटोंकी मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहार में न आनेके कारण तीर्थजल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमें कहीं-कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकालकर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके महात्म्यका पूरा-पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होनेपर अथवा इस रूपमें इस तीर्थका उद्धार किया जानेपर आप देखेंगे कि देश-देशान्तरके कितने बेशुमार यात्रियोंकी इसपर भीड़ रहती है, कितने विद्वान् इसपर मुग्ध होते हैं, कितने असख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दुःख-संतापोंसे छुटकारा पाते हैं और ससारमें कैसी सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमें, जिसे आज डेढ़ हजार वर्षसे भी ऊपर हो गये हैं, ऐसा ही किया है; और इसीसे कनड़ी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख* में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भ० महावीर-के तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होंने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरोंमें व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान् महावीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

* यह शिलालेख बेलूर तालुकेका शिलालेख नम्बर १७ है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्य-नायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक सवत् १०५९ का लिखा हुआ है। देखो, एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पाँचवीं अथवा स्वामी समन्तभद्र (इतिहास) पृष्ठ ४६ वाँ।

महावीरके इस अनेकान्त-शासन-रूप तीर्थमें यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे भरपेट अथवा यथेष्ठ द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति-चक्षुसे (मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृंग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या-मतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यूं कहिये कि भ० महावीरके शासन-तीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बातको स्वामी समन्तभद्रने अपने निम्न वाक्य द्वारा व्यक्त किया है—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥

—युक्त्यनुशासन

अतः इस तीर्थके प्रचार-विषयमे जरा भी संकोचकी जरूरत नही है, पूर्ण उदारताके साथ इसका उपर्युक्त रीति-से योग्यप्रचारकोंके द्वारा खुला प्रचार होना चाहिये और सबोंको इस तीर्थकी परीक्षाका तथा इसके गुणोंको मालूम करके इससे यथेष्ट लाभ उठानेका पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। योग्य प्रचारकोंका यह काम है कि वे जैसे-तैसे जनतामें मध्यस्थभावको जाग्रत करें, ईर्षा-द्वेषादिरूप मत्सर भावको हटाएं, हृदयोंको युक्तियोंसे संस्कारित कर उदार बनाएं, उनमे सत्यकी जिज्ञासा उत्पन्न करें और उस सत्यकी दर्शनप्राप्तिके लिये लोगोंकी समाधान दृष्टिको खोलें।

सरसावा, जनवरी १९५२, जुगलकिशोर मुख्तार

सर्वोदय तीर्थ

(पं० कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री)

जैनधर्मके सिवाय अन्य किसी धर्ममें धर्मको 'तीर्थ' और धर्मके प्रवर्तकको 'तीर्थंकर' संज्ञा दिये जानेकी बात मेरी दृष्टि में तो नही है। मैं तो इतना ही जानता हूं कि जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसके प्रवर्तक 'तीर्थंकर' कहे जाते है। शब्दकोश तकमें तीर्थंकरका अर्थ जैनोंके उपास्य देव किया गया है। इसी तरह 'तीर्थ' शब्दका प्रयोग भी पवित्र स्थानोंके लिये किया जाता है। किंतु जैनधर्ममें धर्मको तीर्थ कहा है, तभी तो उसके प्रवर्तक तीर्थंकर कहे गये है। जो धर्म तीर्थका कर्ता है वही तीर्थंकर है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्यों जैनधर्ममें धर्मको तीर्थ और उसके प्रवर्तकको तीर्थंकर संज्ञा दी गई है? क्या प्रत्येक धर्म तीर्थ और उसका प्रवर्तक तीर्थंकर कहा जा सकता है?

उक्त प्रश्नपर विचार करनेके लिये हमें तीर्थ शब्दका अर्थ जान लेना चाहिए। 'तीर्थ' शब्दका अर्थ होता है— तारनेवाला अथवा जिसके द्वारा तिरा जाता है। नदियोंके किनारे जो घाट बने होते है उन्हें भी इसीलिये ही तीर्थ कहते है, उन स्थानोंमें स्नान अवगाहन आदि करनेमें कोई खतरा नही रहता। क्योकि वे स्थान अवगाहित होते हैं। तैरनेमें कुशल अनुभवी पुरुषोंके द्वारा ही स्थापित किये जाते हैं।

जैनधर्ममें इस संसारकी उपमा समुद्रसे दी गई है। जैसे समुद्रको पार करना बहुत कठिन है वैसे ही इस संसारको भी पार करना बहुत कठिन है। किंतु कभी-कभी कोई ऐसे भी वीर पुरुष जन्म लेते है जो अपनी भुजाओंसे समुद्रको भी पार कर जाते है और फिर अपने अनुभवके बलपर पार उतरनेकी प्रक्रिया ही स्थापित कर जाते हैं जिसके आश्रयसे पार उतरनेके इच्छुक पार उतरते रहते हैं।

तीर्थंकर ऐसे ही वीर पुरुष होते हैं, वे संसाररूपी समुद्रको अपने बाहुबलसे पार करके धर्म-तीर्थकी स्थापना करते हैं। अतः उनका स्थापित किया हुआ धर्म वास्तवमें एक तीर्थ है; क्योंकि उसका काम तारना है, लोग उसे अपनाकर संसार समुद्रसे तिर जाते हैं और फिर सदाके लिये उस जंजालसे छूट जाते है। अन्य धर्मों और उनके प्रवर्तकोंमें यह भावना उस रूपमें लक्षित नहीं होती। वे शास्ता हैं, अवतार हैं, स्रष्टा है, रक्षक है, सहारक है किंतु तारक नही हैं। और जो तारक नही है वह तीर्थंकर भी नही है। और जो तीर्थंकर नहीं है, उसका धर्म धर्म भले ही हो किंतु वह तीर्थ तो नहीं ही है। अतः जैनधर्म केवल धर्म नहीं है किंतु तीर्थ है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने वृहत्स्वयंभू स्तोत्रमें धर्मनाथ तीर्थंकरका स्तवन करते हुए उन्हें 'निष्पाप-धर्मतीर्थका प्रवर्तक' कहा है।

इसपर पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या धर्म-तीर्थ सपाप भी होता है जो उसके पहले 'निष्पाप' विशेषण लगाया है।

यद्यपि इस प्रश्नका समाधान यह हो सकता है कि यहां निष्पाप विशेषण इतरव्यवच्छेदक नहीं है, किंतु वस्तु-स्वभाव सूचक है अर्थात् वह इस बातको बतलाता है कि धर्मतीर्थ निष्पाप होता है, किंतु मुझे तो वह इतरव्यवच्छेदक भी प्रतीत होता है और वस्तु-स्वरूप-निरूपक भी। जब धर्मतीर्थसे हम ऐसे धर्मको लेते हैं जो धर्म ही नहीं है किंतु तीर्थ भी है तब निष्पाप विशेषण उसके स्वरूपका सूचक हो जाता है, क्योंकि ऐसा धर्मतीर्थ सपाप हो ही नहीं सकता। किंतु जब हम धर्मतीर्थसे ऐसे धर्मको लेते हैं जो वास्तवमें तीर्थ नही है किंतु श्रद्धावश उसे धर्मतीर्थ संज्ञा दे दी गई है, तब निष्पाप विशेषण ऐसे धर्म तीर्थोंसे वास्तविक धर्मतीर्थका व्यवच्छेदक उसकी विभिन्नताका बोध करानेवाला होता है। अब प्रश्न यह होता है कि असली और नकली धर्मतीर्थकी पहिचान क्या है? इसके समाधानके लिये हमें वस्तु-स्वरूपका विश्लेषण करना होगा। क्योंकि वस्तु-स्वरूपका नाम ही तो धर्म है।

प्रत्येक वस्तु दो बातोंपर कायम है—स्वरूपका ग्रहण और पररूपोंका अ-ग्रहण। इन दोनोंके बिना वस्तु कायम ही नहीं रह सकती। उदाहरणके लिये किसी एक घटको ले लीजिये। वह घट अपने स्वरूपको लिये हुए हैं, इसमें तो किसी-को कोई विवाद हो नहीं सकता। किंतु उस घटका अस्तित्व केवल स्वरूपके ग्रहणपर ही कायम नहीं है, बल्कि उस घटके सिवाय संसार भरके अन्य जितने भी पदार्थ हैं, उन सब पदार्थोंके स्वरूपोंको वह जो ग्रहण नही किये हुए हैं उस पर भी उसका अस्तित्व कायम है, यदि ऐसा न हो तो इसका मतलब यह होता है कि वह घट केवल अपने स्वरूपको ही ग्रहण किये हुए नही है, किंतु अन्य वस्तुओंके स्वरूपोंको भी ग्रहण किये हुए हैं। और ऐसा होनेसे वह घट सबरूप कहा जायेगा। फिर वह केवल एक विवक्षित घट न रहकर पट, मठ आदि अन्य पदार्थरूप भी हो जायगा। जो बात एक घटके विषयमें है, वही सब वस्तुओंके विषयमें लागू होती है। अतः प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा है और पररूपकी अपेक्षा नही है। यदि ऐसा नही माना जायगा तो सब वस्तुएं सबरूप हो जायेंगी और ऐसी स्थितिमें किसी वस्तुका कोई निश्चित आकार नही रहेगा। फिर तो किसीसे दही खानेको कहनेपर वह ऊँट खानेके लिये भी दौड़ पड़ेगा; क्योंकि दही और ऊंटमें तब कोई स्वरूप भेद नहीं बनेगा।

अतः कोई वस्तु न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है। जो सत् है वह किसी अपेक्षासे ही सत् है और जो असत् है वह किसी अपेक्षासे ही असत् हैं। दूसरे शब्दोंमें जो सत् है वह किसी अपेक्षासे असत् भी है और जो असत् है वह किसी अपेक्षासे सत् भी है। इसी तरह न कोई वस्तु सर्वथा नित्य ही है और न कोई वस्तु सर्वथा अनित्य ही है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य होती तो संसारमें जो परिवर्तन दिखाई देता है वह न हो सकता। क्योंकि परिवर्तनका नाम ही तो अनित्यता है। परिवर्तनशील भी हो और सर्वथा नित्य भी हो दोनों बातें एक साथ संभव नहीं हे। इसी तरह यदि वस्तु सर्वथा अनित्य अर्थात् क्षणिक होती तो क्षण-क्षणमें वस्तुका सर्वथा विनाश होनेसे देन-लेनका जितना भी लौकिक व्यवहार है वह नहीं होता; क्योंकि जिसने दिया और जिसने लिया वे दोनों दूसरे ही क्षणमें सर्वथा नष्ट हो जाते। किंतु सत्का सर्वथा विनाश नही होता और सर्वथा असत्की उत्पत्ति नहीं होती। किंतु वस्तुको सर्वथा क्षणिक माननेसे सत्का सर्वथा नाश और सर्वथा असत्का उत्पाद मानना पड़ता है जो ठीक नहीं है। अतः वस्तु किसी दृष्टिसे नित्य है और किसी दृष्टिसे अनित्य है। अर्थात् द्रव्य दृष्टिसे नित्य है और पर्याय दृष्टि-से अनित्य है। इसी तरह द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु एक है और पर्याय अथवा गुणोंकी अपेक्षा अनेक है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्यमें अनेक पर्याएं और अनेक गुण रहते है।

इस तरह विभिन्न दृष्टिकोणोसे विचार करने पर ही वस्तुके यथार्थ स्वरूप तक पहुंचा जा सकता है। यदि इन विभिन्न कोणोंको भुला दिया जाये और वस्तुके किसी एक धर्मको ही पूर्ण वस्तु मान लिया जाय तो इसे सत्यका घात करना ही कहा जायगा। खेद है कि संसारके एकान्त-वादी दर्शनोंने इस वस्तुसत्यकी ओर ध्यान नही दिया और वस्तु स्वरूपका विचार एकागी दृष्टिसे किया। किंतु अनेकान्त-वादी जैन-दर्शनने वस्तुस्वरूपको जानने और उसका निरूपण करनेमें सापेक्षवादका अवलम्बन लिया और निरपेक्षवादको मिथ्या बतलाया। अतः जहां विश्वके इतर दर्शन एक-एक दृष्टिकोणको अपनाकर उसे पूर्ण सत्य समझ बैठे हैं वहां जैन-दर्शन प्रत्येक दर्शनके अपने अपने दृष्टिकोण-को पूर्ण सत्यका अंश मानता है, किंतु वे सब अंश चूंकि परस्पर निरपेक्ष हैं इसलिये वे मिथ्या है। यदि सभी परस्पर सापेक्ष हो जायें तो उनके समीकरणसे पूर्ण सत्य तक पहुंचा जा सकता है।

विश्वमें जितने भी झगड़े फिसाद हुए हैं तथा आगे होंगे, उन सबके मूलमें एक ही तत्व रहा है और रहेगा और वह तत्त्व है अपने दृष्टिकोणको ही सत्य मानना और शेषको असत्य। यह हो सकता है कि विभिन्न परिस्थितियोंमें विभिन्न दृष्टिकोणोकी प्रधानता और अप्रधानता रहे, किंतु निरपेक्ष एक ही दृष्टिकोण कभी भी सत्य नही हो सकता। और इसलिये वह आपत्तियोंका घर है।

इसके विपरीत सब दृष्टियोंका समन्वय करके चलनेसे सब आपत्तियोंका अन्त हो जाता है।

अतः जो धर्म निरपेक्षवादका आलम्बन लेकर एकान्त-

वादके प्रचारक हैं वे धर्मतीर्थ कहे जानेके सर्वथा अयोग्य हैं। किंतु जो धर्म सब दृष्टिकोणोंकी अपेक्षासे यथार्थ वस्तु-स्वरूपको पहचान कर उसीका प्रतिपादन करता है वही धर्मतीर्थ कहे जानेके योग्य हैं क्योंकि उसे सबका उदय-उत्कर्ष इष्ट है। अतः सर्वोदय-तीर्थ ही धर्मतीर्थ है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्रने कहा है:—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

बनारस, २९-११-५१

सर्वोदय या निजोदय

(प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन, एम० ए०)

गत महायुद्धकी प्रतिक्रिया सबसे अधिक विचार-क्रांतिके रूपमें प्रकट हुई, और इस क्रांतिके मुख्य कारण दो है—एक तो यूरोपके सत्ता लोलुप राष्ट्रोंका विघटन और और दूसरे एशियाके देशोका अभ्युदय। यह सभी जानते हैं कि पिछले विश्वयुद्धके प्रधान सूत्रधार यूरोपके ही प्रमुख राष्ट्र थे, जिन्होने उपनिवेशीकरण आर्थिकशोषण और सत्ता पानेके हेतु यह अग्निकुड चेताया था; पर उसमें उन्हें बहुत कुछ अपनी गांठका होमना पड़ा। इस प्रत्याशित असफलतासे यूरोपके प्रमुख विचारक और राजनीतिज्ञ अब विश्वमानवता या विश्व-संस्कृतिकी बात करने लगे हे, एशियाई देशोंके प्रति उनकी सक्रिय सहानुभूति भी इसी विचारक्रांतिकी सूचक है। दूसरी ओर द्वितीय विश्व-युद्धके फल स्वरूप जो देश स्वतन्त्र हुए हे वे भी नवीन राष्ट्र रचना और विश्व-संस्कृतिकी आशासे ओत-प्रोत हे। उनकी ग्रह नीति चाहे जो हो, पर वैदेशिक नीतिमें उनके राष्ट्रनेता इसी महान् आदर्शसे प्रेरित हैं। उनकी यह नीति क्षणिक लाभकी दृष्टिसे नहीं है अपितु उसमें स्थायी विश्व समाज-रचनाकी भावना निहित है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि निश्स्त्रीकरण, सैन्य विघटन और संतुलित समाज-व्यवस्थासे ही यह लक्ष्य सिद्ध नहीं होगा उसके लिये मानव-मनका संयम भी आवश्यक है। संभवतः इसीलिये कुछ राष्ट्रनेता या भारतीय धर्म-प्रचारक समाज-परिवर्तन-की अपेक्षा हृदय-परिवर्तनपर अधिक जोर देते हैं, उनका विश्वास है कि मनकी गांठ खुलनेपर व्यक्ति स्वयं सुसंस्कृत और सर्वअभ्युदय-सम्पन्न हो जायगा और इसीसे सर्वोदयकी समस्या भी सुलझ जायगी। ठीक इसके विपरीत यूरोपके प्रमुख विचारक समाज-परिवर्तनको ही सर्वोदयका आधार मानते है। उन सबका लक्ष्य एक है, पर साधनोंके विषयमें मतभेद है, इस दृष्टिसे यूरोपमें अमेरिका और रूसका जो महत्व है वही एशियामें चीन और भारतका है। इसमें संदेह नही कि चीन और भारतमें रूस और अमेरिकाकी तरह उग्र मतभेद नही है, और बहुत समयसे चीन संस्कृतिके विषयमें भारतका ऋणी रहा है, तथा उसे स्वतन्त्रता भी अपेक्षाकृत देरसे मिली है, तो भी, वह बहुत सी बातोंमें, भारतकी तरह आवश्यकतासे अधिक सिद्धांत-वादी न होनेसे भौतिक और आर्थिक दृष्टिसे कही अधिक उन्नत हो गया है—सर्वोदयके लक्ष्यकी उसे काल्पनिक अनुभूति चाहे अभी तक न हुई हो पर उसकी भूमिका उसने प्रस्तुत कर ली है, जबकि हमारा यह महादेश अभी पुरानी रूढ़ियोंका उन्मूलन भी नही कर सका।

कुछ समय पहले गांधीजीने 'सर्वोदय'का नया आन्दोलन चलाया था, इसके मूलमें प्राचीन और नवीन तथा पूर्व और पश्चिमके आदर्शोंके समन्वयकी भावना निहित थी। प्राचीन धर्मवादियोंसे गांधीजीका मतभेद इस बातमें था कि सर्वोदयकी उनकी कल्पना लौकिक थी, अलौकिक नही। सर्वोदयके लिये लोक-व्यवस्थामें परिवर्तन उन्हें अभीष्ट तो था—पर अहिंसात्मक ढंगसे। और यहीं पर वर्णसंघर्षवादियोंसे उनका मतभेद था। पश्चिमी राष्ट्र-

वादियोंकी तरह गांधी लौकिक सर्वोदयके समर्थक थे—पर उनके साधनोंसे वे सहमत नहीं थे, उनके सर्वोदयके सिद्धांतकी प्रतिक्रिया भारतके राजनीतिक क्षेत्रमें उतनी नहीं हुई जितनी कि सांस्कृतिक क्षेत्रमें, वह राजनीतिज्ञों-की नहीं—अपितु धार्मिकोंकी चर्चाका विषय बन गया, प्रत्येक नवीन विचारधाराको अपने सीमित धार्मिक सिद्धांतों-की परिधिमें ले आना भारतीयोंका स्वाभाविक गुण है, और इसीसे साम्यवादकी तरह सर्वोदयके सिद्धातका भी प्राचीन दार्शनिक दृष्टिसे आकलन हुआ। मै भी इसे अशुभ नहीं समझता; क्योंकि इससे हमारी दृष्टिकी लौकिकता लक्षित होती है, पहले भी इस देशमें अनेक तीर्थोंकी कल्पना होती रही है, पर उसका लक्ष्य अपरलोक था किंतु आज जो हम सर्वोदयतीर्थको बांधना चाहते हैं वह शुद्ध प्रत्यक्ष लौकिक जीवनके ही उन्नयनके लिये है। और मैं समझता हूँ कि इस विचारसे गांधीके सर्वोदय और साम्यवादमें अधिक स्थूल अन्तर नही है, साम्यवादकी प्रस्तुत व्यवस्थामें 'समाज' मुख्य है व्यक्ति गौण। पर सर्वोदयमें सबके उदयकी भावनाके साथ व्यक्तिके विकासका लक्ष्य भी निहित है। यह बात सच है कि रूसी यांत्रिक साम्यवादमें व्यक्तिका बहुविध विकास संभव नहीं। और 'निजोदय' के बिना 'सर्वोदय' तक पहुंचना कठिन ही नही असंभव है। किंतु ठीक इसके विरुद्ध यह भी सच है कि प्रस्तुत विषमता-मूलक समाजमें व्यक्तिका स्वविकास या निजोदय असंभव है। और समाजको आमूल बदलनेके लिये पहले निजोदय चाहिए न कि समाजोदय। उसपर भी भारतीय समाज दुहरी विषमता-के कोढसे ग्रस्त हैं। आर्थिक विषमता तो व्यक्तिको केवल श्रम और उत्पादनके फलोपभोगसे वंचित करती है, पर वर्णगत विषमता तो व्यक्तिको जन्मसे ही सभी मानवीय अधिकारोंसे मुक्त कर देती है। जहां भिखमंगापन आध्या-त्मिकताका प्रतीक हो और लोकशोषण लोकप्रभुताका, जहां बहुत बड़ा जनसमुदाय ईश्वरीय विधान या पुण्य-पाप-रूप अदृष्टदेवके नामपर गरीबी और अपमानका जीवन-यापन करनेके लिये विवश हो उस समाजमें निजोदय-की कल्पना करना आध्यात्मिकताका हनन करना है। यह बात निर्विवाद है कि समय-समयपर भारतीय लोक पुरुषों-ने हमारी सदोष समाज-रचनाको बदलनेकी चेष्टाकी और उन्हें उसमें आंशिक सफलता भी मिली, 'सर्वोदय'-की कल्पना भी उसी प्रकारकी चेष्टा है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, कबीर और गांधी युगके सभी सामाजिक और दार्शनिक आदर्श उस समाजकी उपज हैं जिसमें उत्पादन और उसके साधनोंका स्वामित्व व्यक्तिगत था। प्राचीन आदर्शोंमें सामूहिक उत्पादनको हेय दृष्टिसे तो देखा गया, पर उसके विरुद्ध कोई नैतिक कड़ा विधान नहीं लगाया गया। गांधीजीकी अर्थनीतिके अनुसार वर्तमान व्यवस्थामें व्यक्तिके लिये उत्पादनके स्वामित्वकी नैतिक छूट है, हां उससे यह आशा अवश्य है कि वह पूंजीको जनताकी थाती समझ कर उसका व्यक्तिगत उपयोग न करे। जिन परिस्थितियोमें गांधीजीने इन विचारोंका प्रचार किया था उसमें एक सीमा तक अपने युगका प्रतिनिधित्व था, पर गांधीजी सर्वोदयके लिये विकेन्द्रीकरण अनिवार्य मानते थे। कांग्रेस राजमें गांधीजीकी पूजा चाहे जितनी भी हुई हो पर सरकारी योजनाएं उनके आदर्शोंसे एक दम अछूती है। नेहरू सरकार उस भारतीय समाजका सक्रिय स्वप्न देख रही है जो नदीके बांधोंके विद्युत्प्रवाहसे आलोकित होगा और जो वाष्पचालित यंत्रोंकी सहायतासे अशन-वसनकी समस्या सुलझाएगा। उस यांत्रिक समाजकी खट-पट और धूल-धकड़में बैलगाड़ीकी टिकटिक कोलूकी चीं-ची और तन्तुवायकी भिन्नभिन्न सुननेके लिये भारतीय कान प्रस्तुत न होंगे। श्रद्धेय आचार्य विनोबाने जो भूमिदान यज्ञ रचा है उससे पुराने यज्ञ शब्दका पुनरुद्धार चाहे हो जाय पर भूमिहीनोंकी अवस्थामें कोई विशेष सुधार नही होगा। जहां तक भारतीय संस्कृतिका सम्बन्ध है वह एक विशेष ऐतिहासिक परम्परा और परिणतिमें व्यक्तित्व-का विकास और हृदयशुद्धिपर जोर देती आई है। और विश्व-संस्कृति तथा सर्वोदय मूलक समाज-रचनाके लिये उसकी यह बहुत बड़ी देन है, क्योंकि सर्वोदयके लिये मानवमनकी तरह लोकमनकी शुद्धि और संयम भी आवश्यक है, पर लोकमनकी शुद्धि संतुलित लोकव्यवस्था-में ही संभव है। आर्थिक स्वतन्त्रताके बिना जिस तरह राज-नैतिक स्वतन्त्रताका कोई अर्थ नहीं उसी तरह निजोदयके बिना सर्वोदयका कोई मूल्य नहीं। जैसे आर्थिक स्वतन्त्रता-के लिये राजनीतिक स्वतन्त्रता अपेक्षित है वैसे ही निजोदय-के लिये सर्वोदय भी; क्योंकि दोनों एक दूसरेके पूरक हैं। चुनावके बाद अगले पांच वर्षोंमें यदि हम अपनी नवीन स्वतन्त्र समाज व्यवस्था नहीं बनाते तो भारतीय संस्कृति-की पराजय निश्चित है।

जैनधर्म और समाजवाद

(प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य)

धर्मपुरुषार्थ ?

वैदिक परम्परामें सामाजिक विधि-विधान, विवाह-प्रथा, उत्तराधिकार-विधि, आदि लौकिक कार्योंके नियम-उपनियम वर्णव्यवस्थाकी भित्तिपर संगठित किये गये हैं और इन सबको वर्णधर्म कहकर धर्मपुरुषार्थमें शामिल किया है। धर्मशास्त्र और धर्मसूत्रोंमें इन्ही लोक-व्यवहारोंके विधि-निषेध दंड-प्रायश्चित आदिका निरूपण है। इसीलिये वैदिक-परम्परामें मोक्षसे भिन्न धर्म नामका पुरुषार्थ गिनाया गया है। मोक्ष-पुरुषार्थमें कर्म-सन्यास और त्यागकी मुख्यता है जबकि धर्म-पुरुषार्थ प्रवृत्तिमय है। श्रमण-परम्परामें चारपुरुषार्थवाली पद्धति वैदिकोके प्रभाववश बादको आई। वस्तुतः वर्णधर्मपर जिसका भवन रचा हुआ है ऐसा धर्मपुरुषार्थ तो वर्ण-व्यवस्थाको जन्मसे न माननेके कारण श्रमण-परम्परामें हो ही नही सकता। श्रमणपरम्परा तो समताके आधारसे मोक्षपुरुषार्थका ही समर्थन करनेवाली है। शूद्रके लिये सन्यास और व्रतोका प्रतिषेध करनेवाली वैदिक परम्पराका मोक्षपुरुषार्थ भी वर्णव्यवस्थाकी विषमतासे सीमाबद्ध है, जबकि श्रमणपरम्पराका मोक्षमार्ग मनुष्य-मात्रके लिये उन्मुक्त है। श्रमण-परम्पराके दो प्रधान ज्योतिर्धरोंने आजसे २६०० वर्ष पूर्व विहारकी पुण्य भूमिमें इसी समताधर्मकी ज्योति जगाई थी। इन्होंने अपने श्रमण-संघोंमें नाई माली चांडालों तकको समभूमिकासे दीक्षित किया था। जिन शूद्रोंको व्रत धारण करनेका अधिकार नहीं था उन्हें श्रमणसंघका उच्चतम पद भी अपनी साधनासे उसी पर्यायमें मिल जाता था। मनुष्यमात्रको व्रत-चारित्र देनेवाली परम्पराका वेदोंमें 'व्रात्य' शब्दसे उल्लेख किया गया है। सामाजिक विधि-विधानोंके विषयमें श्रमणपरम्पराका अपना कोई खास मत और विधि-शास्त्र नहीं रहा। पर उसने जो समत्वपूर्ण और वर्णविहीन सर्वोदय संघकी स्थापना की उसका असर समाजव्यवस्थापर पड़े बिना नहीं रहा। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि जिन विवाह, सम्पत्तिका उत्तराधिकार आदि लौकिक व्यवहारोंको वर्ण-व्यवस्थाकी विषमताकी ओटमें धर्मका नाम दिया जाता था और धर्म-पुरुषार्थ कहा जाता था उसका अस्तित्व ही श्रमणपरम्पराने नहीं माना। इस परम्पराने मनुष्यमात्रको दुखोसे छुड़ाकर सुखके मार्गको समानभावसे खोला। इन सन्तोंने एक बात-का स्पष्ट दर्शन किया कि परिग्रहकी तृष्णा ही समस्त अशान्ति और दुःखोंकी जड़ है। इस परिग्रहकी तृष्णा और संग्रहवृत्तिसे ही सत्ता और प्रभुत्वका अहंकार फूटता है। उसीमेंसे जाति, वर्ण, रंग, वंश आदिकी विषवेलोंके अंकुर निकलते हैं; हिंसा, संघर्ष, युद्ध और विनाशके तांडव होते हैं। अतः व्यक्तिकी मुक्ति और जगत्की शान्तिका प्रथम और मूल मार्ग है तृष्णाका नाश करना। तृष्णाकी उत्पत्ति अज्ञानसे होती है। यह मोही प्राणी अज्ञानवश पर-पदार्थों पर अधिकार करनेकी अनधिकार चेष्टा करके हिंसाका अवसर लाता है। अतः अज्ञान और तृष्णाके नाशसे ही सुख-शांतिके अमृतदर्शन हो सकते हैं। उनने इन हिंसा परिग्रह और संघर्षरत सांसारिक प्राणियोंको कहा कि— संसारके एक 'परमाणु' पर भी तुम्हारा अधिकार नहीं है, सब स्वतन्त्र है, सबकी परिणति अपनी-अपनी योग्यतासे होती है, जिसे हम सम्पत्ति कहते है वे अचेतन पदार्थ भी अपने-में परिपूर्ण हैं, अतः उनपर अधिकार जमानेकी चेष्टा ही हिंसा है। तात्पर्य यह कि वर्णधर्मके नामपर सत्ता और अहंकार तथा विषम विशेषाधिकारोंके समर्थक विधि-विधान कभी 'धर्म' नहीं हो सकते। उन उस समयकी समाज-व्यवस्था-के कानूनोंको धर्मका जामा पहिनाकर मानवताके सहस्रखंड करना धर्मपुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता।

चरम व्यक्तिस्वातन्त्र्य—

जैनधर्मने मूलतः समस्त जगत्को स्वभावसिद्ध माना है, इसका रचनेवाला कोई ईश्वर नहीं है। ऐसी कोई सत्ता

नहीं है जिसके इशारेपर जगत्का अणु-परमाणु स्थावर-जंगम नाचते हों। ऐसी कोई व्यवस्था नहीं जिसमें किसी वर्गविशेषको ईश्वर जन्मना विशेषाधिकार देकर उत्पन्न करता हो। ऐसा कोई विधान स्वीकृत नहीं जिससे वर्णविशेष-को सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक संरक्षण-प्राप्त हों। संसारमें अनन्त चेतन अनादिसिद्ध स्वतन्त्र और परिपूर्ण अखंड द्रव्य हैं। अनन्त, जड़ परमाणु आदि अचेतन पदार्थ भी अनादिसिद्ध अखंड द्रव्य हैं। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर कोई निसर्गसिद्ध अधिकार नहीं। सब अपने परिणमन अपनी उपादान-योग्यताके अनुसार करते रहते हैं, योग्यताके विकासमें अवश्य ही एक दूसरेको प्रभावित करते हैं, पर इससे व्यक्ति (द्रव्य) के परिणमन और अस्तित्वका स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं होता। जहां तक अचेतन पदार्थोंका प्रश्न है—वे अपनी सामग्रीके अनुसार प्रतिक्षण परिणत होते रहते हैं, उनमें परस्पर कोई झगड़ा या छीना-झपटी नहीं होती। वैज्ञानिक कार्यकारणभावके नियमानुसार जिस और जैसे परिणमनकी सामग्री उपस्थित होती है वह और वैसा परिणमन हो जाता है। एक हाइड्रोजनका परमाणु है। उसका यह निसर्गसिद्ध स्वभाव है कि प्रतिक्षण पूर्वपर्यायको छोड़कर नई पर्यायको धारण करना। अब यदि संयोगवश उसका आक्सिजनके परमाणुसे संयोग हो जाता है तो दोनों-का जलरूप परिणमन हो जायगा। और यदि नही, तो वह हाइड्रोजन का हाइड्रोजन बना रह सकता है या जो सामग्री जुटेगी उसके अनुसार कोई-न-कोई सदृश या विसदृश परिणमन करेगा ही। परिणमन-चक्रसे बाहर नही जा सकेगा। अतः अचेतन जगत्में संघर्ष हिंसा या युद्धका प्रश्न नही। जैसी सामग्री मिली तदनुसार परस्पर प्रभावित होकर उनका कार्यक्रम चलता रहता है। परन्तु चेतन जगत्में वृक्ष कीड़े-मकोड़े पशु-पक्षी आदिसे मनुष्यमें चेतना और बुद्धिका विकास अत्यधिक होनेसे उसमें संग्रह और प्रभुता-स्थापनकी वृत्ति भी जाग्रत होती है। उसमें रागद्वेष और तृष्णाका प्रकट विकास होता है। वह अपना गिरोह बांधता है और दूसरे गिरोहोंसे संघर्ष और युद्धका प्रसंग लाता है और जगत्-में अशान्ति और हिंसाको जन्म देता है। चाहता है कि संसार-के अधिक-से-अधिक अचेतन पदार्थ उसकी मालिकीमें आ जांय और अधिक-से-अधिक चेतन उसके गुलाम बनें। इसीलिये वह गुट बनाता है, समाज बनाता है, रक्तसम्बन्ध-के नामपर जाति और वर्णोंकी रचना करके सामन्तशाही और राजतन्त्रको जन्म देता है। जैनतीर्थंकरोंने कहा—यह मार्ग गलत है। जब मूलतः सब मनुष्य स्वतन्त्र द्रव्य हैं, मनुष्य ही नही पशु-पक्षी और प्रत्येक चेतन स्वतन्त्र द्रव्य है और एकका दूसरेको गुलाम बनानेका, उसपर अपनी प्रभुता स्थापन करनेका कोई अधिकार नहीं तब यह गिरोहबाजी विषम समाजव्यवस्था वर्गसर्जक वर्णव्यवस्था आदि, जिनसे एक दूसरेकी गुलामीमें पड़ता है, हिंसा है, अनधिकार-चेष्टा है, मिथ्यात्व है और पाप है। सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक प्राणी का मूलतः समान अस्तित्व और समान अधिकार स्वीकार किये जांयें। जब तक यह समानाधिकार स्वीकार नही किया जाता तब तक जगत्में अहिंसाका बीज पनप नही सकता। और हिंसा तथा युद्धकी तेजी कम नहीं की जा सकती। इसी तरह सम्पत्ति जिसमें मुख्यतः भौतिकपदार्थ हैं, किसीकी नही है, उसका अणु परमाणु भी स्वतन्त्र है। पर यदि प्राणियों का उसके बिना काम नहीं चलता, उनका जीवन-धारण सम्भव नहीं है तो काम चलानेके लिये व्यवहार निर्वाहके लिये सब मिलकर सब समानभावसे बैठकर उसे व्यवहारमें लानेका रास्ता निकालो। छीन-झपट कर व्यक्तिविशेष परिवारविशेष, जातिविशेष, समाजविशेष और प्रान्तविशेष आदिकी गिरोहबाजी कर उसे हड़पनेकी चेष्टा न करो और जगत्में संघर्ष और युद्धका अवसर न आने दो। तात्पर्य यह कि—

मूलतः सम्पत्तिपर किसीका अधिकार नहीं है पर जब व्यवहारनिर्वाहार्थ उसका उपयोग करना अत्यावश्यक है तब जगत्के प्रत्येक प्राणीको उसके उपयोगकी समान सुविधा होना ही अहिंसा है। आजका समाजवाद मनुष्य-समाजकी सुविधा और शान्तिका विचार करता है पर जैनधर्मने पशु-पक्षी, कीड़े-मकौड़े तकके पृथक् और समान अस्तित्व-को स्वीकार कर उन्हें भी जीनेका अहिंसक वातावरण बनाया है और कहा है कि—अय मनुष्यो, तुममें यदि अधिक चेतना-का विकास है तो वह इसलिये है कि तुम अपने सजातीय मनुष्योंमें जिस प्रकार समानताका व्यवहार करना चाहते हो—उन्हें जीने देना चाहते हो—उसी तरह इन किंचित् विजातीय पशु-पक्षी आदिको भी जीने दो, ये भी

तुम्हारी ही तरह स्वतन्त्र चेतन हैं। इनके अधिकारको मत हड़पो।

आदर्शकी सर्वोदयी उच्चता—

आजके समाजवादका उदय सामन्तशाही और राजतन्त्रकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप हुआ है। अतः उसकी यह घोषणा स्वाभाविक है कि भौतिक सम्पत्ति पर प्रत्येक नागरिकका समान अधिकार है, सम्पत्ति राष्ट्र या समाज की है व्यक्ति की नहीं। पर सिद्धान्ततः आदर्श तो जैनधर्मका ही उच्च है जो संपत्तिपर क्या, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य पर मूलतः कोई अधिकार ही स्वीकार नहीं करता। अतः जबतक कोई भी प्राणी परपदार्थको ग्रहण करनेकी तृष्णा भी करता है तबतक वह अनधिकार-चेष्टा करनेवाला हिंसक है। और यही कारण है कि इस परम्पराके सन्तोंने सर्वस्व-त्यागका उपदेश दिया और कम-से-कम परका सहारा लेकर परमस्वतन्त्र निर्ग्रन्थजीवन बितानेका आदर्श उपस्थित किया। आदर्श उच्च और महान् होनेपर ही उसका व्यवहार शुद्ध हो सकता है। समाजवाद जहां सम्पत्तिपर समाज और राष्ट्रका अधिकार मानकर समाजघटक और राष्ट्रघटक होनेके नाते व्यक्तिका अधिकार मान लेता है वहां जैनधर्म कहता है कि यह अधिकार-स्वीकृति ही मूलतः भ्रान्त है। यद्यपि भौतिक साधनोंके बिना हमारा जीवन-व्यवहार नहीं चलता और उनके आहार-व्यवहारके लिये स्वीकार करना लाजिमी है फिर भी हमें यह तो मानना ही चाहिये कि इन पदार्थोंपर हमारा निसर्गतः कोई अधिकार नहीं, यह परवशता है जो हम इनको स्वीकार किये हैं। अतः जितना कम हो सके उतना कम इनका सहारा लिया जाय क्योंकि ये परपदार्थ हैं। जब प्रत्येक प्राणीको यह सम्यक्दर्शन होगा तो परिग्रहके संग्रहकी तृष्णाकी जड़ ही कट जाती है, उसके संग्रहकी होड़ समाप्त होकर अन्तर्दृष्टिका विशुद्ध वातावरण तैयार होता है और जीवनमें संग्रहकी नहीं त्यागकी प्रतिष्ठा होती है। जैनधर्मने आदर्शके स्थानपर परमव्यक्तिस्वातन्त्र्य और त्यागनिष्ठाको रखा है, समता और अहिंसाको उसका प्राण माना है और माना है निर्ग्रन्थताको स्वावलम्बनकी पराकाष्ठा।

इस तरह जैनधर्म उस परमस्वातन्त्र्यका सर्वोदयी उच्चतम आदर्श उपस्थित कर समाजवादकी आध्यात्मिक भूमिका तथा दार्शनिक आधारकी सुन्दरतम-अकलंक-व्याख्या करता है। उसकी अन्तर्दृष्टि समाजवादकी अहिंसक प्रसाधना है।

सर्वोदय और सामाजिकता

(श्री रिषभदास रांका)

व्यक्तिसे समाज बनता है और समाजकी भूमिकापर व्यक्तिका विकास होता है। हजारों वर्षोंसे सन्त, ज्ञानी और विचारक विचार करते आये हैं कि समाजकी व्यवस्था ठीक रहने, लोगोंमें योग्य गुणोंका विकास होने और सुखपूर्वक जीवन बितानेके लिये किन-किन गुणों या नियमोंकी आवश्यकता है। सन्त और ज्ञानी प्रायः सार्वकालिक और सार्वजनिक होते हैं। वे जो कुछ सोचते हैं सबके लिये सोचते हैं। हम उनके उपदेशको 'सर्वोदय' कह सकते है या 'सर्वोदयतीर्थ' कह सकते हैं।

मानवका स्वभाव है कि वह सुख चाहता है, दुःख कोई नही चाहता। लेकिन दिखाई तो यह देता है कि सुख चाहनेवाले स्वयं दुःखमें डूबे हैं। मानव मनका अध्ययन करनेसे यही ज्ञात होता है कि इस दुःखके मूलमें हर व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिके सुखकी उपेक्षा करना है। अपने सुखके लिये आदमी दूसरेको दुःख देनेमें संकोच नहीं करता। इसी लिये संसारमें दुःखकी वृद्धि होती है, पारस्परिक अशान्ति बढ़ती है, स्पर्धा लग जाती है, तरह-तरहकी नैतिक, सामाजिक और कानूनी व्यवस्थायें बनती हैं, परन्तु सुख हाथ नहीं

लगता इसलिये सन्तोंने जो कहा है कि सबकी भलाईमें अपनी भलाई माननेसे ही सुख हाथ लग सकता है, इसमें बहुत बड़ा तथ्य है। जो आदमी संकीर्ण सीमाको लांघकर व्यापक क्षेत्रमें आ जाता है या कि 'मैं' को छोड़कर सबका हो जाता है उसके दुःखको झेलनेके लिये दुनिया आंखें बिछा देती है। किसीने सच ही कहा है कि सुख बांटनेसे बढ़ता है और दुःख बांटनेसे घटता है।

शान्तिके लिये राज्य व्यवस्थायें, लोकतन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद जैसी कई विचारधारायें, अपने-अपने ढंगपर प्रयत्न कर रही है और सब यही चाहते है कि किसी तरह शान्ति स्थापित हो, परन्तु संसारमें अशान्ति ही फैली हुई है। घरसे लेकर विश्व तक अपनी-अपनी सीमाओंके भीतर कौटुम्बिक, सामाजिक, जातीय, धार्मिक, प्रांतीय, राष्ट्रीय, और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े, युद्ध, कलह, पक्ष और अशान्ति छाई हुई मिलेगी। और स्पष्ट है कि यहां मूलमें स्वार्थ है। स्वार्थ, मोह और लोभके कारण ही वातावरणमें विषमता आती है और पारस्परिक टकराहट होती है। दूसरेकी भलाईमें अपनी भलाई मानकर वैसा आचरण करें तो उससे हमारा भी हित ही होगा। हम जिस तरहका बर्ताव दूसरोंके साथ करेंगे उसकी प्रतिक्रिया भी वैसी ही होगी। जब हम दूसरोंका हित देखेंगे तब दूसरे भी हमारे हित का ध्यान रखेंगे। लेकिन खींचा-तानीमें तो सबका ही अहित है। एक रस्सेको अगर दो व्यक्ति बराबर खींचते रहे तो घंटो व्यतीत होनेपर भी सिवा परेशानीके किसीके हाथ कुछ न आयेगा।

सुख-प्राप्तिकी पहली शर्त यह है कि आदमी अपने लिये कम-से-कम लेकर दूसरोंको अधिक-से-अधिक सेवा दें। ऐसा आदमी जहां जायगा आदर पायेगा और वहां सुखकी बढ़वारी ही होगी। उससे किसीको कष्ट नहीं होगा। कुटुम्बमें रहकर वह बड़ोंकी सेवा करेगा, छोटोंपर प्रेम और वात्सल्य रखेगा। समाजमें भी वह अप्रमत्त भावसे अपने कर्तव्यको पूरा करेगा। कुटुम्ब और समाजके लिये की हुई उसकी सेवा देशके लिये पूरक ही होगी; क्योंकि ऐसा आदमी अपनी मर्यादाको जानता है और किस क्षेत्रमें कितनी सेवा करनी चाहिये यह विवेक उसे होता है। उसका ध्येय सबकी भलाई होनेसे किसी एककी भलाईके लिये वह दूसरोंको कष्ट नहीं देगा। एककी सेवाके लिये दूसरोंकी कुसेवा नहीं करेगा।

पर एक बात है, ऊंची दृष्टि और भावना होनेपर भी यदि ऐसे आदमीमें सद्गुण नहीं हुए, अनुकूल वातावरण न हुआ तो उससे कोई भलाईका प्रत्यक्ष काम नहीं हो सकेगा। सबकी भलाईका काम है सर्वोदय और ऐसे मार्गको हम तीर्थ कह सकते है। सर्वोदयतीर्थपर चलनेवालेमें इन गुणोंका होना आवश्यक है।

(१) **अहिंसा**—सभी लोग अपनी तरह सुखके अभिलाषी है इसलिये हम अपने प्रति जैसी अपेक्षा दूसरोंसे रखते है वैसा ही सबके साथ व्यहार करना अहिंसा है।

(२) **संयम**—ऐसी अहिंसाका पालन करनेके लिये संयम अत्यन्त आवश्यक है। संयमके अभावमें मोह या लोभसे मुक्ति नही मिल सकती। अहिंसाकी साधनामें कभी-कभी सहन भी करना पड़ता है, श्रम भी उठाना पड़ता है, लेकिन यह सहन करना और श्रम संतोष देता है। अन्तमें उससे हित ही होता है।

(३) **समन्वयदृष्टि**—संयमका पालन समन्वयदृष्टिके बिना नही हो सकता। दूसरोंके दृष्टिकोणको समझनेका धीरज और उदारता होनी चाहिये। समन्वयमें हठ या आग्रह नही होता। अपने विचारों या सिद्धान्तोंके प्रति दृढ़ निष्ठा होनेपर भी दूसरोंपर लादनेकी वृत्तिसे दूर रहना पड़ता है। जीवनमें समझौतेका भी एक स्थान होता है। अगर यह न हो तो द्वंद्व खड़े हो जाते है। एकाकी जीवनके लिये शायद यह उतना आवश्यक न हो, पर सामाजिकतामें रहनेवालेके लिये तो यह अत्यन्त आवश्यक है।

(४) **विवेक**—परन्तु किस समय, कहां क्या करना आवश्यक है, यह विवेक यदि न हो तो सद्गुणोंका समन्वय न होकर एकांगी विकास होता है जिससे व्यक्तिके सामाजिक विकासमें बाधा उपस्थित होती है और समाजके लिये ऐसा विकास प्रायः हितकर नही हो जाता।

(५) **पुरुषार्थ**—उपर्युक्त सभी गुणोंके होते हुए भी अगर पुरुषार्थ नही हुआ, शक्ति न हुई तो भी सद्गुणोंका सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता और फिर समाजका भी पालण-पोषण भली-भांति नही हो सकता है। चाहे व्यक्तिगत भलाईका काम हो या समाज-हितका जबतक पूरी ताकतके साथ नहीं जुटाया जायगा तबतक उसके परिणामसे हम वंचित ही रहेंगे।

(६) **अनासक्तभाव**—और इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण चीज है अनासक्तभाव। हम जो भी करें उसमें तनिक भी आसक्ति नीचे गिरा देगी। हमारे सामने जो भी कर्तव्य हो उसे शक्ति और मर्यादाको न छुपाते हुए सहजभावसे, बिना किसी फलाशाके करते चले जायें। इस तरह किये जानेवाले कार्य भाररूप नही बनते और अगर हमें सफलता नही मिलती है तो भी निराश या वेदना नही होती।

सर्वोदय-तीर्थकी ओर बढ़नेवालेके लिये ये प्रायः मूलगुण है। इनकी ओर पूर्णरूपसे ध्यान देनेसे ही सर्वोदय पथ पर आगे बढना हो सकता है। इससे निजी भलाई तो होती ही है, समाजका भी कल्याण होता है। ऐसा व्यक्ति चाहे जिस स्थिति, अवस्थामे रहे वह सुखी ही होगा। राष्ट्रके लिये ऐसे लोग स्वर्ग उतारनेवाले कहे जा सकते है। ऐसे लोगों द्वारा स्थापित सर्वोदय-तीर्थ किसी पहाड़, नदी, वनकी सीमाओंसे घिरा नही रहेगा, वह तो राष्ट्रके कण-कण में व्याप्त होगा। उससे कुटुम्ब, समाज, जाति और राष्ट्र ही नहीं, सारी मानवजातिका हित होगा। चारों ओर शान्ति और सुख फैलकर मानवताका विकास होगा।

जो मार्ग हजारों वर्षसे महान् संत पुरुष बताते आये, भगवान महावीरने उस तीर्थ-मार्गको अपने अनुभव द्वारा प्रसारित किया। इसी कारण वे तीर्थंकर यानी मार्गद्रष्टा बने। यह तीर्थ प्राणी मात्रके लिये हितकर है ऐसी व्याख्या आचार्य समन्तभद्रने दो हजार वर्ष पहले की। उसी सबके भलाईके रास्ते की याद महत्मागान्धीजीने इस युगमें दिलाई, और उसको देशव्यापी बनानेके लिये व्यक्तिगत जीवनमें ही नही सामाजिक जीवनमें उतारनेके लिये संत विनोबा आज विचरण कर रहे हैं।

वर्धा, ३१-१२-५१

सर्वोदय कैसे हो ?

(बा० अनन्तप्रसाद जैन B. Sc. (Eng.) 'लोकपाल')

संसारके सभी व्यक्तियों और सभी संस्थाओंका समुचित उत्कर्ष ही सर्वोदयका अर्थ है। इस शब्दका व्यवहार तो बहुतों ने किया है और करते है पर इसका यथार्थ रूप, प्रयोगके तरीके एवं इसे उपलब्ध करनेका ठीक सही मार्ग कितने जानते है ? बहुत कम। वर्तमान युगमें महात्मा गांधीने देश-काल-व्यवहारका ध्यान रखते हुए आधुनिक आवश्यकताओंके अनुरूप एक व्यावहारिक मार्ग (Practical way) संसारके सामने उपस्थित अवश्य किया, पर उस पर भी चलने वालोंकी या उसमें सच्चा विश्वास रखने वालोकी संख्या भारतमें ही जब काफी नही तो बाहरी भौतिक जगतमें क्या हो सकती है यह आसानीसे अनुमान किया जा सकता है। ऐसा क्यो ? पहले भी भगवान् बुद्धने अपने 'बोध' के अनुसार एक मार्ग लोगोंको दिया और बहुतसे दूसरे महानुभावोंने भी अपनी-अपनी सूझबूझ और समझके मुताबिक कुछ न कुछ कहा ही ह। संसारके सारे धर्मग्रंथ इसी सर्वोदयकी भावनासे लिखे गये है। धर्म सिद्धांत और फिलौसौफी भी इसी एक ध्येयको लेकर ही प्रतिपादित किये जाते रहे हैं। अभी भी इस प्रकारके विचारों, सुझावों, उपदेशों और आदेशोंकी कमी नहीं। इनकी बहुलताके बावजूद "सर्वोन्नति" "सर्व हिताय" और "सर्व सुखाय" के स्थान पर दुःखों और कष्टोकी ही वृद्धि होती गई है। आज तो सारा संसार मानों दुःखोंसे और असत्य तथा हिसात्मक भावोंसे ही परिपूर्ण दीखता है। हिसा और असत्य ये ही सर्वोदयका समूल नाश करनेवाले हैं। फिर भी लोग जानबूझकर इनसे चिपके हुए है और अधिकाधिक चिपकते जाते दीखते है। राष्ट्रोंका आपसी मनोमालिन्य, अविश्वास एक दूसरेको हर तरह छलनेकी सच्ची झूठी प्रवृत्ति और एक दूसरेको हर प्रकारसे प्रभावित एवं अपने वशमें कर लेने या कर रखनेकी ऊंच-नीच, प्रच्छन्न

और प्रत्यक्ष चेष्टाएं हमारे सामने प्रदीप्त रूपसे प्रदर्शित हो रही हैं। आजकी राजनीति या व्यवहारनीतिकी कुशलता ही छलकपट, मायाचार और असत्यको सत्यके रूपमें परिवर्तित करके दिखलानेकी विशेषतामें ही समझी जाती है। किसीको किसी तरह ठग लेना ही चतुरता मानी जाती है। सभी महापुरुष और धर्म-प्रवर्तक बड़े जोरोके साथ कह गये है और उनके अनुयाई आज भी जोर-जोरसे चिल्ला-चिल्लाकर सप्रमाण घोषित करते जाते है कि 'ये सब प्रवृत्तियां विनाश-कारी और हानिकर है,' पर लोगोंके ऊपर कुछ ऐसी 'मोहनी' छा गई है कि जैसे वे किसी तीव्र शराबके नशेमें हों और उनपर किसी अच्छी सच्ची और साफ बात या तर्कका प्रभाव ही न पड़ता हो। मानों वे आंख मूंदे हुए से बेहोशीमें या विवशतामें विनाश पथकी ओर जबरदस्ती खिंचते चले जा रहे हों और उन्हें अपने-आपमें अपने-आपको रोकने या रक्षा करनेकी क्षमता ही एक दम न हो। क्यो ?

आज सारा संसार शान्ति-शान्ति (Peace) की रटन लगा रहा है; पर शान्तिके स्थानमें अशान्तिकी संभावना बढ़ती हुई दीखती है। एक दूसरेको निगल जाना चाहता है, इसके लिये तरह-तरहके राजनीतिक चकमें, हिकमत, हथकंडे और बहाने व शक्ति सम्पन्न राष्ट्र (व्यक्ति भी) विचित्र उपायों-द्वारा निकालते रहते है और काम में लाते रहते है, यहा तक कि उनके षड़यंत्रों, कुचक्रों या कूटनीतिक चालबाजियोंको देख-देख कर कोई भी समझदार दंग, आश्चर्य-चकित, भौंचक्का और किंकर्त्तव्य विमूढ होकर रह जाता है। ये राजनीतिक दाव-पेंच इतने गहरे, भीषण और "बड़ी दूर से चल कर" लाये गये होते है कि बड़े-बड़ोंकी अक्ल बेकार हो जाती है। यह दल-दल इतना भयानक और सर्व ग्रासी हो गया है कि जो इधरकी ओर पैर बढ़ाता है उसकी मुक्ति या निस्तारकी फिर कोई आशा नही रह जाती है। राजनीतिज्ञ लोगोंने अपने-अपने देशोंकी लूटमई सत्ता दूसरों पर अधिकाधिक कड़ा कर या कर रखनेके लिये ऐसे-ऐसे उपायोंका अवलम्बन कर रखा है या करते जाते हैं कि जिन्हें यदि किसी छोटे रूपमें कोई व्यक्ति करनेकी धृष्टता करे तो उसे "महापाप" और भयानक सजाका भागी होना पड़े। पर जो लोग राज्यके नाममें "एटम बम" गिरा-गिरा कर लाखों करोड़ों बे-गुनाह बालक-बूढ़े मर्द-औरतोंको एक-एक बारमें कत्ल कर देते है वे विजयी और बहादुर (Hero) कह कर सम्मानित किये जाते हैं। क्यों ?

आज भी कुछ देश बड़े जोरोंमें तीव्रतम रूपसे ये महा-ध्वंसकारी एटमबम हजारों-हजारोंकी संख्या में तैयार कर रहे है और संसारके सिरके ऊपर बैठकर चिल्ला-चिल्लाकर हर आधुनिक प्रचार यंत्रों द्वारा घोषित करते है कि जो लोग उनका विरोध करनेवाले है वे यदि विरोध नही छोड देंगे तो उनपर और उनके बालबच्चोंपर वे एटमबमका प्रयोग करके उन्हें संसारसे मिटा कर इस विरोधका बदला लेंगे और फिर विजयी बनकर उन भूमियो पर राज्य करेंगे जो इस तरह खाली हो जायेंगी। इतना ही नहीं, यह सारी खूनी हिंसात्मक घोषणा शान्ति या शन्तिकी रक्षाके नाममें की जाती है। क्या यह बेह्यापन की हद नही है ? फिर भी ये सुर्खरू और पाकसाफ बने हुए अपनेको संसार-का रक्षक और भलाई करनेवालोमें सर्वश्रेष्ठ होनेका दावा करते हैं। यह है हमारे संसारकी दशा, जो हमें किसी तरह विनाश अथवा महाप्रलयकी ओर हर घड़ी खीचती जा रही है।

इन शक्तिशाली राष्ट्रो या देशोंकी विशाल, सुव्यवस्थित और सभी आधुनिकतम युद्ध सामग्रियों एवं यंत्रोसे सुसज्जित फौज और फौजी साजसज्जाके आगे या उसके डरके आगे कमजोर राष्ट्र या देश ससारमें बहुत बड़ी जनसंख्या वाले होकर भी निरीह हो गये है। उनकी कोई सुनवाई कही नही। जिन छोटे-छोटे देशोने इन बड़ी शक्ति वाले देशोके साथ अपनी दुम बांध दी है उन्होने राष्ट्रसंघके नाममें बाकी कमजोर राष्ट्रोंपर एक डिक्टेटरशिप कायम कर रखी हैं। ये लोग जो चाहते है मनमानी करते हैं। जिसे चाहा "ऐग्रेसर" करार दे दिया और उसे फिर सम्मिलित सघ-शक्ति-द्वारा मटियामेट करते इन्हें जरा भी हिचकिचाहट नही होती। और जहां अपना क्षुद्र स्वार्थ देखा वहां किसी सच्चे ऐग्रेसरको सजा देने-के बजाय और उसे अधिक संरक्षण दे देते है। कोरिया और काश्मीरके दो ज्वलन्त उदाहरण अभी भी हमारे सामने है। ऐसी स्थितिमें आज हम धर्म, समाज और व्यक्तिको अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिसे पृथक् नहीं कर सकते। हमारा सारा सुख और हमारी सारी शान्ति एवं समृद्धि इन राज-

नैतिक व्यवस्थाओ और परिस्थितियों द्वारा ही संचालित और प्रवर्तित हो रही है । आजके संसारमें यदि कोई व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय या देश अपनेको अकेला समझकर अपने मन मुताबिक एक आदर्श-पथमें ही चलनेकी चेष्टा करे तो यह उसकी महामूर्खता होगी । वह कोरा आदर्शवादी ही रहेगा । आजका मानव स्वयं अपनी परिस्थितिका ही नही बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियोका सबसे बड़ा गुलाम है । यदि हमारे धार्मिक नेता, पंडित और उपदेश या गुरु लोग अब भी वही पुराना राग अलापते रहे तो यह कोरी वकवास होकर ही रहेगी । उसका कोई असर नही हो सकेगा । सर्वोदय भी अकेला न होना है न होगा । सारा संसार एक सूत्रमें कुछ इस तरह गुथ गया है कि यदि समष्टिके रूपमें सर्व मानव समाजको एक कुटुम्बके प्राणी समझकर कोई व्यवस्था वर्तमान समयकी मागके अनुसार बनाई जाय या कायम की जाय तो दशा कुछ सुधरनेकी उम्मीद या आशा हो सकती है, अन्यथा नही ।

प्रश्न उठ सकता है कि सारा संसार विविध विद्वानोंसे भरा पड़ा है जो हर तरहके सुझाव देते ही रहते है, विज्ञानने इतनी उन्नति कर ली है और करता ही जा रहा है जैसी पहले कभी नही, ज्ञानका प्रसार पहलेकी अपेक्षा हजारो हजार गुना हो गया है और बढता ही जाता है, फिर भी एक कमी सभी महसूस करते है और अपनेको परिस्थितियोको बदलनेमें एकदम असमर्थ पाते है, वह क्यो ? क्या आजका ज्ञान पूर्ण नही ? अधूरा है ? एक-तर्फा है ? या उस ज्ञानमें कोई खास त्रुटि है ? हां, बात ऐसी ही है । ज्ञानके विकासका कोई अन्त न है न होगा । ज्ञान जितना ही विकसित होता जायगा उतना ही और अधिकाधिक ज्ञान-के क्षेत्रोंका वितस्तारचक्र वृद्धिकी तरह होता जायगा । ज्ञान असीम है । यह समझ लेना कि जो कुछ पहलेके लोग कह गये या लिख गये उसके अन्दर ही ज्ञानकी पूर्णता हो गयी और आगे कुछ भी जाननेको नही है तो यह ज्ञानकी बात नही—अज्ञानकी बात है । पर हमारे अधिकतर पडित इसीमें गर्व अनुभव करते है कि उनके पूर्वजोंने जो कुछ कह दिया या लिख दिया वही सब कुछ है । बाकी जो हो रहा है वह झूठ है—"मिथ्या" है । यह भावना विशेष रूपसे हमारे देशमें बड़ी हानिकारक रही है और अब भी है । यह मै नहीं कहता कि आजका वस्तु विज्ञान (Meterial Science) ही पूर्ण है । वह भी अधूरा है । वस्तुविज्ञान और मानवविज्ञान जब तक एक दूसरे से मिलकर आगे नही चलेंगे तो तब तक दोनों अधूरे कहे जायंगे और आजके संसारमें कोई मसला हल नही हो सकेगा और न कोई समस्या ही सुलझ पायेगी । उलझन बराबर बढ़ती ही जायगी— ज्यो-ज्यों उसे सुलझाने की चेष्टा होगी । यही हो रहा है । आज जो निराशा और असमर्थताका वातावरण फैला हुआ है वह इसी कारण है कि हमारा ज्ञान, जिसके सहारे हम सब कुछ कर या करवा रहे है, पूरा नही है । और इसीलिये आधुनिक विज्ञान सर्व मानवोकी सुख-समृद्धिका ही जरिया न रहकर साथ ही साथ नये-नये भयोकी सृष्टि और विस्तार करता जा रहा है । सारा संसार भयभीत है हर दम डरता-कांपता रहता है कि न जाने विज्ञान और राजनीति मिलकर कल क्या कर डालें, जिससे मानवताका अन्त ही हो जाय । ऐसा क्यों ?

प्रधान कारण यही है कि आजका पश्चिमी ज्ञान पूर्ण नही है । विज्ञान जिसे हम विज्ञानके रूपमें समझ रहे हैं वह एकतर्फा और अधूरा है—फिर भी हमारे वैज्ञानिक अपने ज्ञानको एक खास सीमामें बन्द किये उसीमें इतने व्यस्त रहते है कि उन्हे दूसरी ओर ध्यान देनेकी या तो फुर्सत नही या उसे वे अपना मार्ग, लाइन या कार्य भी नही समझते ।

मानव मानव है । ससारमें मानव भी है और दूसरा कुछ भी है । जानदार लोग या जीवधारी वस्तुएं भी है और बेजान भी । अभी तक हमारा विज्ञान यह न जान पाया है न इसने सचमुच तर्कयुक्त उपायोंसे यह जाननेको ही चेष्टा की है कि मानव क्या है ? मानवका निर्माण कैसे हुआ है ? कोई मानव क्यों किसी विशेष प्रकारसे ही आचरण करता है । दूसरे जीवधारी भी क्यों क्या करते हैं ? कहां इनका समन्वय, समानता तथा कहां विरोध है, और क्यों-कैसे ? इत्यादि ।

जैन तीर्थंकरोंने इन बातोंका विमल ज्ञान प्राप्त किया था, जो परम तर्कयुक्त, वैज्ञानिक और बुद्धिपूर्ण था । उन्होंने उसे संसारके सामने अपने समयमें रखा और संसारने—मानवताने—उसकी कद्र की और उसे मानकर एवं उस मुताबिक आचरणकर सुख शान्ति भी प्राप्त की । पर समय-

के साथ पुनः स्वार्थ और पाखंडके कारण उस सुज्ञानकी अवनति होती गई, लोग अज्ञान या कुज्ञानकी ओर अग्रसर होते गये और दिन ब दिन अवस्था बुरी ही होती गई।

जैनियोंके भगवान ऋषभदेवसे लेकर भगवान महावीर वर्धमान तक चौवीस परमज्ञानी तीर्थंकर हुए, जिन्होने उस विमल ज्ञानकी संस्थापना, पुनरुत्थान और संवृद्धि की। यह ज्ञान विशद विवरणके साथ बतलाता है कि मानव क्या है; वह कैसे बना है, आत्मा क्या है; शरीर क्या है; आत्मा और शरीरका संयुक्त रूप मानव कैसे क्या करता है; किसी व्यक्तिका स्वभाव या आचरणादि एक खास तरह के ही क्यों होते हैं और उन्हें कैसे बदला जा सकता है या बदलनेकी संभावना है, कि नहीं इत्यादि। संसारकी सारी मानवकृत व्यवस्थाएं मानवसे सम्बन्धित हैं और उसीको केन्द्रित करके उसीके लिये बनी या बनायी गयी हैं। सच्चा वैज्ञानिक ज्ञान वही है जो हर सम्बन्धित पहलुओं और बातोंको देखकर सुन कर तथा जांच कर कुछ कहे। यदि मूल मानव और उससे सम्बन्धित सभी बातोंकी ठीक-ठीक जानकारी न हो तो जो भी व्यवस्था बनेगी वह गलत, अधूरी या त्रुटियोंसे भरी होनेसे पूर्ण लाभदायक न होगी और जितनी कमी या त्रुटि उसमें होगी उतनी ही हानिकारक भी वह होगी। यही बात हमारी वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओंके साथ लागू है। राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक या धार्मिक व्यवस्थाएं सभी ही मानवसे ही मुख्यतः सम्बन्धित होनेसे सब एक दूसरेसे गुथी हुई है और अलग नही की जा सकतीं। फिर यदि मानवके बारेमें पूरी जानकारी न होगी तो हानि या गलती या भ्रम वगैरह तो होना ही है। संसारमें फैले हज़ारों मतमतान्तरों और धर्मोंने बड़ा गोलमाल कर रखा है। फिलौसौफरोंने बिना बातके मूल तक पहुंचे हुए ही तर्कके जोरपर जो चाहा उसे ही सत्य बनाकर लोगोंके सामने रखकर मनवा लिया। राज्य शासनों और राजाओंने अपने मतलब मुताबिक बातें प्रचारित करवा दीं। लोगोंने भी भौगोलिक और सामयिक जरूरतों-के मुताबिक अपने-अपने धर्म गढ़ लिये। समयके साथ ये ही रूढ़ियोंमें बदलकर स्थायी रूपमें स्थित हो गये। अब लोगोंके उन विश्वासों और धारणाओंको हटाना आसान नहीं रह गया है। उसपर भी वर्तमान राज्य व्यवस्थाओंके संचालक लोग तर्क और बुद्धिको धर्मके मामलेमें घुसने ही नहीं देना चाहते। वैज्ञानिकोंने भी इधरसे उदासीनता दिखला-कर बड़ी भारी हानि की है। आज संसारमें जो युद्ध और आसुरिक शक्तिका ही बोलबाला हर तरफ दिखाई दे रहा है वह इसी कारणसे है।

आजके संसारमें ईश्वरके नामकी आड़में धनकी ही सच्चे ईश्वरके रूपमें पूजा होती है। ईश्वर भी धनियोंका ही ईश्वर है या यों कहिये कि पूजीवादी व्यवस्थाने ही ईश्वर-को कायम कर रखा है ताकि कुछ लोग धन बटोरकर बाकियोको गरीब रख उन पर अपना प्रभुत्व बनाये रख सके। जब तक एक काल्पनिक ईश्वरका अस्तित्व रहेगा संसारसे ऊंच-नीचकी भावनाएं और दूसरोंपर निर्भर रहकर केवल प्रार्थनाके बलसे सब कुछ पा जानेकी चेष्टाओंमें अदल-बदल होकर स्वावलम्बनका विस्तार होना संभव नही दीखता। भाग्य और भगवान्‌का मनुष्यके सुख-दुःखमें ठीक-ठीक क्या स्थान, अर्थ और मतलब है यह जानना जरूरी है; नहीं तो संसारसे भ्रमपूर्ण मिथ्या धारणाएं नहीं हट सकेंगी और न कुछ सुधार ही होगा। भगवान् महावीर-के बताये सिद्धांतोंमे इनका ठीक-ठीक सीधा सच्चा प्रतिपादन मिलेगा।

यों भी सारा संसार और संसारका हर एक पदार्थ, हर एक प्राणी, हर एक परमाणु तक एक दूसरेपर अपना प्रभाव सर्वदा डालते रहते है। सभी वस्तुएं शाश्वत कम्पन-प्रकम्पनसे युक्त है और उनमें परमाणुओं (पुद्गलो) का आदान-प्रदान, अदला-बदली होती ही रहती है। हर शरीर या वस्तुसे परमाणुओं (पुद्गलों) की धारा हर समय निकलती रहती है। आन्तरिक बनावटोंमें भी ये परमाणु फेर-बदल करते ही रहते है। इनका प्रभाव इतना शक्तिशाली है कि वह कभी व्यर्थ नही होता। भले ही हम इसे समझें, जानें या न जानें, हमारे वैज्ञानिक इसे बतलायें या न बतलाएं, पर यह तो सर्वदा-निरन्तर-अबाधरूपसे होता ही रहता है। यही लोगोंके भाग्योंके परिवर्तनका भी प्रमुख कारण है। एक मानव या कोई जीव या कोई वस्तु जब हिलती-डुलती है तब उसमेंसे तरह-तरहके परमाणुओंकी वर्गणाएं धाराओं और किरणोंकेरूपमें निकलती हैं। जब कभी मानव कुछ सोचता है उसके मन प्रदेशमें हलन-चलन होनेसे

भी ये युग्दल (परमाणुओं) की धाराएं हर तरहकी बनावटों के रूपमें धाराप्रवाहकी तरह निकलकर सारे संसारमें फैलती हैं। इस तरह संसारका हर मानव—हर प्राणी—हर पदार्थ—एक दूसरेपर प्रभाव डालता रहता है। पर हमारा आधुनिक विज्ञान इन बातोंको अभी तक न जान सका है न इनको सामाजिक व्यवस्थाओंसे कुछ सम्बन्धित ही समझता है। यही सबसे बड़ी गलती आजकलके विज्ञानकी है। यदि शक्तिशाली देश यह अच्छी तरह समझ जांय कि वे अकेले न तो सच्ची स्थायी शान्ति प्राप्त कर सकते है, न उन्हे सच्ची समृद्धि ही प्राप्त हो सकती है, न सच्चे सुखानन्दका ही दर्शन उपलब्ध हो सकता है, यदि बाकी संसार या संसारके दूसरे देश पिछड़े रहें और लोग दुःख तथा अभावों (कमियों) के कारण कराहते ही रहे। आज अमेरिका इंग्लैंड इत्यादि देश जिसे समृद्धि समझे बैठे है वह एक झूठी और धोखेकी चीज है, सच्ची नही। सच्चा आनन्द सुख तो तभी प्राप्त होगा जब संसारके मानवमात्र उन्नत हो—सच्चे अर्थोंमें सर्वोदय हो। तब अमेरिका इग्लैंड जैसे देश भी सच्चे आनन्द का अनुभव प्राप्त कर सकेगे। अभी तो उनका ईश्वर या आनन्द सब कुछ धन है—वे चाहते हैं कि जैसे भी हो अधिक-से-अधिक धन बटोर लें। यही बात व्यक्तियोके साथ भी लागू है। हर व्यक्ति इस पूजीवादी व्यवस्थामे अधिक-से-अधिक धन सम्पत्ति संचय कर लेना चाहता है। एकको किसी-न-किसी तरह लूट कर ही या वंचित करके ही दूसरा धनी हो सकता है, अन्यथा नही। तब इसके लिये ऊंच-नीचकी व्यवस्था भी बनाये रखनी जरूरी है। धनी गरीब भी रहना ही है तब सच्ची सुख शान्ति भला कैसे मिल सकती है। असभव है। जबतक लोग "समता" या "समानता" की भावना हर जगह हर प्रकारके लोगोमे उत्पन्न और सुदृढ़ नही करेंगे 'सर्वोदय' असभव है। सर्वोदय तो दूर रहा "एकोदय" भी सच्चा नही हो सकता। यदि आजका वैज्ञानिक संसार अपने ज्ञानके साथ-साथ तीर्थंकरोके कहे उस ज्ञानको भी-शामिल कर ले जो मानवके बारेमें उन सभी जानकारियों-को पूर्ण-विशद एवं व्यवस्थित रूपमें प्रतिपादित करता है तो आजका विज्ञान अधूरा न रहकर पूर्ण हो जाय और तब जो मसले या प्रश्न या गुत्थियां अबतक हल न हो सकी हैं वे भी हल हो जायेंगी। दूसरे विज्ञानोंके साथ मनोविज्ञान-ने भी वर्तमानकालमें काफी उन्नति की है पर वह भी यह नहीं जाननेके कारण मनुष्यकी बनावट कैसी है अधूरा होनेसे पूरा कारगर नहीं होता। इन सबके लिये जरूरी है भगवान महावीरका कर्मसिद्धांत(Karma Philosophy) पहले वे वैज्ञानिक उसे जान लें, फिर अपनी बुद्धि और तर्क लगाकर यदि कुछ नये आधुनिक वातावरणका ध्यानकर कहें तो वह सचमुच कारगर और सही होगा। भगवान महावीरने "अनेकान्त" रूपसे सब प्रश्नोका उत्तर निकाला था। इसी तरहका ज्ञान विज्ञान हो सकता है। और इसीकी संसारमें सुख शान्तिकीवृद्धि के लिये परम आवश्यकता है।*

भगवान महावीरने जो "सर्वोदय" का समतामई मार्ग बतलाया है वह समयकी प्रगतिके साथ अनुयायियोंकी अज्ञानताके फलस्वरूप धीरे-धीरे लुप्त होता चला गया। आजका जैन समाज केवल कहनेके लिये ही जैन या महावीर-का अनुयायी है पर सचमुचमें वह भी धन नामक ईश्वरका ही पुजारी हो गया है। हां, एक सर्वशक्तिमान वरदान देने-वाले ईश्वरकी जगह वह तीर्थंकरकी मूर्ति बनाकर पूरे ठाठ-बाट और सोनेचांदीकी चकाचौधके साथ पूजा करके अपनेको धर्मात्मा समझता है और अपने कर्त्तव्यकी 'इतिश्री' मान लेता है। जैनियोंने अपने धार्मिक सिद्धांतोंको पोथियों में सात-सात वेष्टनोंके भीतर इस तरह बन्द रखा कि बाहरके लोग कुछ जान ही न सके—उनका विकास ही रुक गया। नतीजा यह हुआ कि जैनी स्वयं ही धर्मकी असिलियत से वंचित होकर पाषडके शिकार हो गये। धनी जैनियोंने अपने कर्त्तव्यकी बड़ी भारी उपेक्षा और अवहेलना कर-के महान पाप किया है। धर्म तीर्थ बनाया ही गया है सबका उद्धार करनेके लिये उन्हें ऊपर उठानेके लिये। यदि यहां भी अर्थ हीन ऊंच-नीचकी भावना ला दी गई तो वह भगवान महावीरका धर्म ही न रह जायगा। जब मै सुनता हूं कि 'समदर्शी' कहे जाने वाले मुनि लोग भी जन्मसे मानव-मानव-

*देखो मेरे लेख (१) "जीवन और विश्व के परिवर्तनोंका रहस्य" —अनेकान्तवर्ष १०-किरण-४-५; (२) "रूप और कर्म"—जैन सिद्धांतभास्कर भाग १७, किरण-१; "Soul, Life, consciousness"—Voice of Ahinsa- Vol. 1, No.3.)

में छूत-अछूत और ऊंच-नीचका भेद-भाव बर्तते और प्रचारित करते हैं तो मुझे धर्मके नाममें इस तरहके अज्ञान और प्रवंचना पर बड़ा ही दुःख होता है एक समय था जब जैन-समाजके अगुआ लोगोंने जैन-ग्रंथोंके छापनेका प्रबल विरोध किया था, पर आज ग्रंथोंके लाखोंकी संख्यामें छप जानेके कारण हर वर्ष उन्हें पढ़-पढ़कर हजारों लोग पंडित होते जा रहे हे। किंतु दुःख है कि ये ही पंडित लोग अधिकतर उस 'असमतावाद' को सुदृढ़ बनाये रखना चाहते हैं जो "समतावाद" के विरुद्ध, भगवान महावीरकी शिक्षाओंके खिलाफ और सर्वोदयका हनन करने वाला है।

हम जैनी जोर-जोरसे चिल्ला-चिल्लाकर अपने धर्मको 'सर्वोदयात्मक विश्व धर्म' होनेका दावा करते है पर क्या सचमुच हमारा व्यवहार इस दावेके अनुकूल है ? धर्म और सिद्धांत तो ठीक है पर हमारा अर्थका अनर्थ करना ही सारे खुराफातोंकी जड़ है। उसमें भी हमारे अधिकांश धनिक वर्गने प्रचारकी सबसे बड़ी उपेक्षाकी है और पाप एवं मिथ्यात्वके बढ़ने-बढानेमें वे प्रमुख कारण रहे है। एक पूंजीवादी सांसारिक व्यवस्था और समाजमें धन ही शक्ति है, बगैरधनके कुछ भी नही हो पाता—फिर उन्होंने सर्व जीवोका सच्चा कल्याण करनेवाले धर्मका यदि सच्चा प्रचार न किया तो उनका भी सच्चा कल्याण कैसे हो सकता है ? वे लोग थोड़े बहुत दानवान करके और कुछ मन्दिर बगैरह बनवा कर समझ लेते है कि उनसे बढ़कर धर्मात्मा कोई है ही नहीं, पर यह बात ठीक वैसी ही है जैसे धानमें से चावल निकार कर फेंक दिया जाय और ऊपरके छिलके भूसी-को ही सुदृढ़तासे यत्न पूर्वक सुरक्षित रखा जाय।

आज संसार युद्धकी विभिषिकासे विक्षुब्ध और भयभीत है, आज तो खास तौरसे जैन सिद्धातोंके व्यापक प्रचारकी सख्त जरूरत है। समय भी पूर्ण रूपसे उसके उपयुक्त है। सारा पश्चिमी संसार सच्चे ज्ञानके लिये भीषण रूप से भूखा प्यासा है। यदि हम भगवान महावीरके सर्वोदयात्मक सिद्धांतोंको आधुनिक प्रचारके तरीकों द्वारा विस्तारित करें तो अपना भला भी करेंगे और संसारका भी संसारकी भलाई से ही अपना भला भी सचमुच हो सकता है। हम भी संसार मे ही है—उससे बाहर नही है। सर्वोदय होने से ही हमारा या किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा देशका उदय-अभ्युत्थान हो सकता है। अबतक हम भ्रम और लोभमे वह अपना परम प्रमुख कर्त्तव्य भूले रहे जो हमें सबसे पहले करना था। अभी भी समय है यदि जैनी चेत जायं और ऊंच-नीचके भेद-भाव छोड़कर जैनसिद्धांतको सारे संसारमें फैलावें। एक "विश्व-जैन-मिशन" नाम की संस्था भी स्थापित हुई है, जिसने कुछ काम भी किया है,पर दुःख है कि समाजके धनिक वर्गका सहयोग और सहायता अभी उसे नहीं मिल सकी है। इस समय आवश्यकता है कि नये मन्दिर और मूर्तियोकी सस्थापना और रथयात्रा इत्यादि कुछ अर्सेके लिये बन्द करके और उनमें लगने वाला सारा रुपया इकट्ठा करके लाखों-करोड़ोंके रूपमें इस सर्वोदय धर्मकी प्रभावना की जाय। यही सच्चा तीर्थ है और इसीलिये भगवान महावीरकी वाणीको "सर्वोदय तीर्थ" कहा गया है। एवं इसीसे सबका कल्याण होगा। ॐ शान्तिः ॐ।

पटना, ता : ४-१-५२

अहिंसक-परम्परा

(श्री विश्वम्भरनाथ पांडे, सम्पादक विश्ववाणी इलाहाबाद)

छान्दोग्य उपनिषद्में इस बातका उल्लेख मिलता है कि देवकीनन्दन कृष्णको घोर आंगिरसऋषिने आत्म-यज्ञकी शिक्षा दी। इस यज्ञकी दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्यवचन थी।

जनग्रथकारोका कहना है कि कृष्णके गुरु तीर्थंकर नेमिनाथ थे। प्रश्न उठता है कि क्या यह नेमिनाथ तथा घोर आंगिरस दोनों एक ही व्यक्ति के नाम थे ? कुछ भी हो, इससे एक बात निर्विवाद है कि भारतके मध्यभागपर वेदोंका प्रभाव पड़नेसे पूर्व एक प्रकारका अहिंसा-धर्म प्रचलित था।

स्थानांग सूत्रमें यह बात आती है कि भरत तथा ऐरावत प्रदेशों में प्रथम और अन्तिमको छोड़कर शेष २२ तीर्थंकर चातुर्मास धर्मका उपदेश इस प्रकार करते थे—"समस्त प्राणघातोंका त्याग', सब असत्यका त्याग, सब अदत्तादानका त्याग, सब बहिर्धा आदानोका त्याग।" इस धर्म रीतिमें हमें उस कालमे अहिंसाकी स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

'मज्झिम निकाय' में चार प्रकारके तपोका आचरण करनेका वर्णन मिलता है—तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। नंगे रहना, अञ्जलिमें ही भिक्षान्न मांगकर खाना, बालतोड़ कर निकालना, कांटोंकी शय्या पर लेटना, इत्यादि देहदंडके प्रकारोको तपस्विता कहते थे। कई वर्ष-की धूल वैसी ही शरीर पर पड़ी रहे, इमे रूक्षता कहते थे। पानीकी बूदतकपर भी दया करना इसको जुगुप्सा कहते थे। जुगुप्सा अर्थात् हिंसाका तिरस्कार। जगलमें अकेले रहने-को प्रविविक्तता कहते थे।

तपश्चरणकी उपरोक्त विधिसे स्पष्ट है कि लोग अहिंसा तथा दयाको तपस्याका केन्द्र विन्दु मानते थे।

अधिकतर पाश्चात्य पंडितोका यह मत है कि जैनों-के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व ऐतिहासिक व्यक्ति थे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमानके १७८ वर्ष पूर्व पार्श्व तीर्थंकरका परिनिर्वाण हुआ।

यह बात भी इतिहास सिद्ध है कि वर्धमान तीर्थंकर और गौतम बुद्ध समकालीन थे। बुद्धका जन्म वर्धमानके जन्मसे कमसेकम १५ वर्ष बाद हुआ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धके जन्म तथा पार्श्वके परिनिर्वाणमें १९३ वर्षका अन्तर था। निर्वाणके पूर्व लगभग ५० वर्ष तो पार्श्व तीर्थंकर उपदेश देते रहे होगे। इस प्रकार बुद्धके जन्मके लगभग २४३ वर्ष पूर्व पार्श्व मुनिने उपदेश देनेका कार्य प्रारम्भ किया होगा। निर्ग्रन्थ श्रमणोका सघ भी उन्होने स्थापित किया होगा।

परीक्षित राजाके राज्यकालसे कुरुक्षेत्रमें वैदिक संस्कृतिका आगमन हुआ। उसके बाद जन्मेजय गद्दी पर आया। उसने कुरु देशमें महायज्ञ करके वैदिक धर्मका झडा फहराया। इसी समय काशी देशमे पार्श्व तीर्थंकर एक नयी संस्कृतिकी नीव डाल रहे थे। पार्श्वका जन्म वाराणसी नगरमे अश्वसेन नामक राजाकी वामा नामक रानीसे हुआ। पार्श्वका धर्म अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह इन चार यमका था। इतने प्राचीन कालमें अहिंसाको इतना सुसम्बन्द्धरूप देनेका यह पहला ही उदाहरण है।

पार्श्व मुनिने एक बात और भी की। उन्होने अहिंसाको सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह, इन तीन नियमोके साथ जकड दिया। इस कारण पहले जो अहिसा ऋषिमुनियोंके व्यक्तिगत आचरण तक ही सीमित थी और जनताके व्यवहारमे जिसका कोई स्थान न था वह अब इन नियमोंके कारण सामाजिक एवं व्यवहारिक हो गयी।

पार्श्व तीर्थकरने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्मके प्रचारके लिये संघ बनाया। बौद्ध साहित्यसे हमें इस बातका पता लगता है कि बुद्धके समय जो संघ विद्यमान थे, उन सबोंमें जैन साधु साध्वियोंका संघ सबसे बड़ा था।

उपर्युक्त वर्णनसे मालूम होगा कि ऋषि-मुनियोंकी तपश्चर्या-रूपी अहिंसासे पार्श्व मुनिकी लोकोपकारी अहिंसाका उद्गम हुआ।

लोकोपकारी अहिंसाका सबसे प्रमुख प्रभाव हमें सर्वभूत दयाके रूपमें दिखाई देता है। यों तो सिद्धांततः सर्वभूत दयाको सभी मानते हैं किन्तु प्राणिरक्षाके ऊपर जितना बल जैन परम्पराने दिया, जितनी लगनसे इसने उस विषयमें काम किया, उसका परिणाम समस्त ऐतिहासिक युगमें यह रहा है कि जहां-जहां और जब-जब जैनोंका प्रभाव रहा वहां सर्वत्र आम जनता पर प्राणि-रक्षाका प्रबल संस्कार पड़ा है। यहां तक कि भारतके अनेक भागोंमें अपनेको अजैन कहनेवाले तथा जैन-विरोधी समझनेवाले साधारण लोग भी जीवमात्र की हिंसासे नफरत करने लगे हैं। अहिसाके इस सामान्य संस्कारके ही कारण अनेक वैष्णव आदि जैनेतर परम्पराओके आचार-विचार पुरातन वैदिक परम्परासे सर्वथा भिन्न हो गये हैं। तपस्याके बारेमे भी ऐसा ही हुआ है। त्यागीहो या गृहस्थी सभी जैन तपस्याके ऊपर अधिकाधिक झुकते रहे हैं। सामान्य रूपसे साधारण जनता जैनोंकी तपस्याकी ओर आदरशील रही है। लोकमान्य तिलकने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तोंमें जो प्राणिरक्षा और निरामिष भोजनका आग्रह है वह जैन-परम्पराका ही प्रभाव है।

जैनधर्मका आदि और पवित्र स्थान मगध और पश्चिम बंगाल है। संभव है कि बंगालमें एक समय बौद्ध धर्मकी अपेक्षा जैन धर्मका विशेष प्रचार था। परन्तु क्रमशः जैन धर्मके लुप्त हो जानेपर बौद्ध धर्मने उसका स्थान ग्रहण किया। बंगालके पश्चिमी हिस्सेमें स्थित 'सराक' जाति 'श्रावकों' की पूर्व स्मृति कराती है। अब भी बहुतसे जैन-मन्दिरोंके ध्वंसावशेष, जैनमूर्तियां, शिलालेख, आदि जैन स्मृतिचिन्ह बंगालके भिन्न-भिन्न भागोंमें पाये जाते है।

प्रोफेसर सिलवन लेवी लिखते हैं कि—"बौद्धधर्म जिस तरह आकुण्ठित भावसे भारतके बाहर और अन्दर प्रसारित हो सका, उस तरह जैनधर्म नहीं। दोनों धर्मोंका उत्पत्ति-स्थान एक होते हुए भी यह परिणाम निकला कि बौद्धधर्म प्रतिष्ठित हुआ पूर्व भारतमें, और जैनधर्म पश्चिम तथा दक्षिण भारतमें। बौद्धधर्म भारतके अतिरिक्त पूर्व दिशामें बर्मा, श्याम, चीन आदि देशोंमें फैला और उसने इन सब दिशाओंसे भारतको सम्भावित राजनैतिक विपत्तियोंसे उन्मुक्त किया। यदि जैनधर्म भी इसी तरह भारतसे बाहर पश्चिमी देशोंकी ओर फैला होता तो शायद भारत अनेक राजनैतिक दुर्गतियोंसे बच गया होता।"

इस समय जो ऐतिहासिक उल्लेख उपलब्ध है उनसे यह स्पष्ट है कि ईसवी सन्की पहली शताब्दीमें और उसके बादके १००० वर्षों तक जैनधर्म मध्यपूर्वके देशोंमें किसी-न-किसी रूपमें यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, और इसलामको प्रभावित करता रहा है। प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक वान क्रेमरके अनुसार मध्यपूर्वमें प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्दका अपभ्रंश है। इतिहासलेखक जी. एफ. मूर लिखता है कि—"हजरत ईसाके जन्मकी शताब्दीसे पूर्व ईराक, श्याम और फिलस्तीनमें जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ोंकी सख्यामें चारों ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथियोपियाके पहाड़ों और जंगलोंमें उन दिनो अगणित भारतीय साधु रहते थे जो अपने त्याग और अपनी विद्याके लिये मशहूर थे। ये साधु वस्त्रो तकका परित्याग किये हुए थे।"

इन साधुओके त्यागका प्रभाव यहूदी धर्मावलम्बियों पर विशेषरूपसे पड़ा। इन आदर्शोंका पालन करनेवालोंकी, यहूदियोंमें, एक खास जमात बन गई जो 'एस्सिनी' कहलाती थी। इन लोगोने यहूदीधर्मके कर्मकाण्डोका पालन त्याग दिया। ये बस्तीसे दूर जगलों या पहाड़ोंपर कुटी बनाकर रहते थे। जैन मुनियोकी तरह अहिंसाको अपना खास धर्म मानते थे। मांस खानेसे उन्हे बेहद परहेज था। वे कठोर और संयमी जीवन व्यतीत करते थे। पैसा या धनको छूने तकसे इनकार करते थे। रोगियों और दुर्बलोंकी सहायताको दिनचर्याका आवश्यक अंग मानते थे। प्रेम और सेवाको पूजा-पाठसे बढ़कर मानते थे। पशुबलिका तीव्र विरोध करते थे। शारीरिक परिश्रमसे ही जीवन-यापन करते थे। अपरिग्रहके सिद्धान्तपर विश्वास करते थे। समस्त सम्पत्तिको समाजकी सम्पत्ति समझते थे। मिस्रमें इन्ही तपस्वियोंको 'थेरापूते' कहा जाता था। थेरापूते का अर्थ है 'मौनी अपरिग्रही'।

'सियाहत नाम ए नासिर' का लेखक लिखता है कि इसलाम धर्मके कलन्दरी तबकेपर जैनधर्मका काफी प्रभाव पड़ा था। कलन्दरोंकी जमात परिव्राजकोंकी जमात थी। कोई कलन्दर दो रातसे अधिक एक घर में न रहता था। कलन्दर चार नियमोंका पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता, और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।

एक बारका किस्सा है कि दो कलन्दर मुनि बगदादमें आकर ठहरे। उनके सामने एक शुतुरमुर्ग गृह-स्वामिनीका हीरोंका एक बहुमूल्य हार निगल गया। सिवाय कलन्दरोंके किसीने यह घटना देखी नहीं। हारकी खोज शुरू हुई। शहर कोतवालको सूचना दी गई। उन्हें कलन्दरमुनियोपर सन्देह हुआ। कलन्दरमुनियोंसे प्रश्न किये गये। मुनियोंने उस मूक पक्षीके साथ विवासघात करना उचित नही समझा। क्योंकि हारके लिये उस मूक पक्षीको मारकर उसका पेट फाड़ा जाता। सन्देहमें मुनियों को बेरहमीके साथ पीटा गया। वे लोहू-लोहान हो गये किन्तु उन्होंने शुतुरमुर्गके प्राणोंकी रक्षा की।

सालेहबिन अब्दुल कुद्दूस भी एक अहिंसावादी अपरिग्रही परिव्राजक मुनि था, जिसे उसके क्रान्तिकारी विचारोंके कारण सन् ७८३ ईसवीमें सूली पर चढ़ा दिया गया। अकुल अतारिया, जरीर इब्न हज्म, हम्माद अजरद, यूनान बिन हारून, अली बिन खलील और बरशार अपने समयके प्रसिद्ध अहिंसावादी निर्ग्रन्थी फकीर थे।

नवमी और दशमी शताब्दियोंमें अब्बासी खलीफाओंके दरबारमें भारतीय पंडितों और साधुओंको आदरके साथ निमन्त्रित किया जाता था। इनमें बौद्ध और जैन साधु भी रहते थे। इब्न अन नजीम लिखता है कि—"अरबोंके शासनकालमें यहिया इब्न खालिद बरमकीने खलीफाके दरबार और भारतके साथ अत्यन्त गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। उसने बड़े अध्यवसाय और आदरके साथ भारतसे हिन्दू, बौद्ध और जैन विद्वानोंको निमन्त्रित किया।"

सन् ९९८ ईसवीके लगभग भारतके बीस साधु सन्यासियोंने मिलकर पश्चिमी एशियाके देशोंकी यात्रा की। इस दलके साथ चिकित्सकके रूपमें एक जैन सन्यासी भी गये थे। एक बार स्वदेश लौटकर यह दल फिर पर्यटनके लिये निकल गया। २६ वर्षके बाद जब सन् १०२४ ईसवीमें ये लोग अन्तिमबार स्वदेश लौटे तब उस समुदायके साथ सीरियाके सुविख्यात अन्ध-कवि अबुलअला अलमआरीका परिचय हुआ। अबुलअलाका जन्म सन् ९७३ ईसवीमें हुआ था और मृत्यु सन् १०५८ ईसवीमें। जर्मन विद्वान वान क्रेमरने लिखा है कि अबुलअला सभी देशों और सभी युगोंके सर्वश्रेष्ठ सदाचार शास्त्रियोंमेंसे एक था।

अबुलअला जब केवल चार वर्षके थे तभी चेचकके भयंकर प्रकोपसे अन्धे हो गये थे। किन्तु उनकी ज्ञान-तृष्णा इतनी अदम्य थी कि वे स्पेनसे मिस्र और मिस्रसे ईरान तक अनेकों स्थानमें गुरुकी तलाशमें ज्ञानार्थी बनकर घूमते रहे। अन्तमें बगदादमें जैन-दार्शनिकोंके साथ उनका परिपूर्ण ज्ञान-समागम हुआ। साधना द्वारा उन्होने परमयोगी पदको प्राप्त किया। उनकी ईश्वरकी कल्पना इसलामकी कल्पनासे नितान्त भिन्न थी। बहिश्तके लिये उनकी जरा भी ख्वाहिश नही थी। वे दुःखमय सत्ताको ही समस्त दुःखोंका मूल मानते थे। बगदादसे सीरिया लौटकर एक पर्वतकी कन्दरामें रहकर उन्होने अति कृच्छ्रतपश्चरण किया। उसके बाद उनका जीवन ही बदल गया। मद, मत्स्य, मांस, अण्डे एवं दूध तकका उन्होंने परित्याग कर दिया। उनका जीवन अहिंसामय एवं मैत्रीपूर्ण बन गया।

अबुलअलाका इस बातमें विश्वास नहीं था कि मुर्दे किसी दिन कब्रमेंसे निकलकर खड़े हो जायेंगे। बच्चा पैदा करनेके कार्यको वह पाप मानता था। अपने पृथक् अस्तित्वको मिटा देनेको वह मनुष्य जीवनका वास्तविक लक्ष्य मानता था। वह आजीवन मनसा, वाचा, कर्मणा ब्रह्मचारी रहा। उसने अपने एक भजनमें लिखा है:—

"हनीफ ठोकरे खा रहे है, ईसाई सब भटकेहुए है, यहूदी चक्कर में हैं, भागी कुराहपर बढ़े जा रहे है। हम नाशमान मनुष्योंमें दो ही खास तरहके व्यक्ति है—एक बुद्धिमान शठ और दूसरे धार्मिक मूढ़।"

अबुलअलाका एक दूसरा भजन है:—

"कोई वस्तु नित्य नही है। प्रत्येक वस्तु नाशमान है। इसलाम भी नष्ट होनेवाला है। हजरत मूसा आये, उन्होंने अपने धर्मका उपदेश दिया और चलबसे। उनके बाद हजरत ईसा आये। फिर हजरत मोहम्मद आये और उन्होंने अपनी पांच वक्तकी नमाज चलाई। कुछ दिनो बाद कोई दूसरा

मजहब आकर इसकी जगह ले लेगा। इस तरह मानवजाति वर्तमान और भविष्यके बीचमें मौतकी तरह हंकाई जा रही है। यह धरती नाशमान है। जिस तरह इसका आरम्भ हुआ था उसी तरह इसका अन्त होगा। जन्म और मृत्यु हर चीजके साथ लगी हुई है। कालका प्रवाह नदीकी धारके सदृश बहता चला जा रहा है। यह प्रवाह हर समय किसी-न-किसी नई वस्तुको सामने लाता रहता है।"

सभी जीव-जन्तुओं यहांतक कि कीड़ेमकौड़ोंके प्रति भी वे अपरिसीम करुणापरायण थे। इस सम्बन्धका उनका एक भजन है:—

"वृथा पशुहिंसामें क्यों जीवन कलंकित करते हो? बेचारे वनवासी पशुओंका क्यों निष्ठुर भावसे संहार करते हो? हिंसा सबसे बड़ा कुकर्म है। बलिके पशुओंको आहार न बनाओ। अंडे और मछलियां भी न खाओ। इन सब कुकर्मों से मैंने अपने हाथ धो डाले हैं। वास्तवमें आगे जाकर न बधिक रहेगा और न बध्य। काश कि बाल पकनेसे पहले मैंने इन बातोंको समझ लिया होता।"

इसी प्रकार जैन दर्शनने जलालुद्दीन रूमी एवं अन्य अनेक ईरानी सूफियोंके विचारोंको प्रभावित किया। अहिंसाका सिद्धान्त मानवजीवनका सर्वोच्च सिद्धान्त है। प्रत्येक प्रगतिशील आत्मा उससे आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकती। अनेक कारणोंसे, जिनके विस्तारमें जानेकी यहां आवश्यकता नहीं है, जैन जीवन-धारा व्यापक रूपसे मानवसमाजको अधिक समय तक परिप्लावित नहीं कर सकी। उसके अनुगामी स्वयं अनाचार और मिथ्याचारमें फंस गये। आज हमें फिर अहिंसाकी उस परम्परामें नई प्राण-शक्तिका संचार करना होगा 'गांधीजीने अपने जीवन का अर्घ्य देकर एकबार उसे देदीप्यमान कर दिया। किन्तु हमें निरन्तर साधनामय जीवनसे उस अग्निको प्रज्वलितकर अपनी प्राण-शक्तिका प्रमाण देना होगा। सत्य और अहिंसाके आदर्शको व्यवहारमें प्रतिष्ठित करनेके सहजमार्गको न स्वीकार कर यदि केवल वाक्य, तर्क, और प्रमाण चातुर्यका मार्ग ग्रहण किया जायगा, तो विश्व धर्मके महाकालके विधान-में जैनधर्मके लिये कोई आशा नहीं।

"यदि जिन-मानितधर्म अनेक मिथ्या आडम्बरों, आर्यहीन आचारों आदिको त्यागकर दया, मैत्री, उदारता, शुद्ध जीवन, आन्तरिक और बाह्य प्रकाश और प्रेमकी उदार तपस्या द्वारा अपनेमें अन्तर्निहित मृत्युहीन जीवनका परिचय दे सके तो सब अभियोग और आरोप स्वयं शान्त हो जायेंगे और इससे जैन स्वयं धन्य होंगे तथा समस्त मानवसभ्यताको भी वे धन्य करेंगे।"

(हुकुमचन्द अभिनन्दनग्रन्थसे साभार)

महावीरस्वामीसे भक्तकी प्रार्थना

(पं० नाथूराम 'प्रेमी')

मुझे हे स्वामी! उस बलकी दरकार।

(१)
अड़ी खड़ी हों अमित अड़चनें, आड़ी अटल अपार।
तो भी कभी निराश निगोड़ी, फटक न पावे द्वार॥ मुझे०॥

(२)
सारा ही संसार करे यदि, दुर्व्यवहार-प्रहार।
छूटे न तो भी सत्यमार्ग-गत, श्रद्धा किसी प्रकार॥ मुझे०॥

(३)
धन-वैभवकी जिस आंधीसे, अस्थिर सब संसार।
उससे भी न कभी डिग पावे, मन बन जाय पहार॥ मुझे०॥

(४)
असफलताकी चोटोंसे नहिं, दिलमें पड़े दरार।
अधिकाधिक उत्साहित होऊं, मानूं कभी न हार॥ मुझे०॥

(५)
दुख-दरिद्रता-कृत अति श्रमसे, तन होवे बेकार।
तो भी कभी निरुद्यम हो नहीं, बैठूं जगदाधार॥ मुझे०॥

(६)
जिसके आगे तन-बल धन-बल, तृणवत् तुच्छ असार।
महावीर जिन! वही मनोबल, महामहिम सुखकार॥ मुझे०॥

सबका उदय

(महात्मा भगवानदीन)

एक कहावत है 'दूसरेकी थालीका भात मीठा लगता है'। बोलीके मामलेमें यह कहावत पढ़े-लिखोंपर पूरी-पूरी लागू होती है। हिन्दुस्तानमें कालेज और स्कूलके विद्यार्थी भी इससे नहीं बच पाये। सबको अपनी बोली पसन्द न आकर दूसरोंकी बोली भली मालूम होती है। विद्यार्थी अंग्रेजीमें जो रस लेता है वह अपनी बोलीमें नही। पंडित और मौलवी संस्कृत और अरबीमें जितना रस लेते है उतना अपनी बोलीमें नही। सबका उदय करना चाहते हैं और उसका नाम रखा है **सर्वोदय**। हिन्दुस्तानमें एक पेड़ है जिसका नाम है **सर्व**। ·गांववाले, हो सकता है, सर्वोदय शब्दसे उसी पेड़का उदय समझलें।

मैं जब छोटा था, मेरी नानी सुबह उठते ही कहा करती थी, "सबका भला हो"। कितना प्यारा और मीठा बोल है। जिस बच्चेके कानमें पड़े, वह समझले कि नानी क्या कह रही है। सर्वोदय सुनकर छोटा बच्चा कुछ न समझ पायगा। हां, अपनी आदतके अनुसार अपनी जीभको घुमा-फिराकर किसी तरह ठीक-ठीक उसे रट लेगा। सर्वोदयका ठीक-ठीक मतलब उसकी समझमें कब आयेगा, कौन जाने।

सर्वोदय नामसे हम 'सबकी भलाई' करना चाहते हैं। पर सर्वोदय शब्दसे सबकी भलाई नही टपकती। सर्वोदय-के दो टुकड़े सर्व और उदय अलग-अलग बहुत लोग समझ लेते है, पर उदयका मतलब जो वह समझते है उसके लिए हिन्दी शब्द है निकलना। पंडितोंकी बहुत मेहनतसे सूर्योदय शब्द हमारे कुछ बालकोकी जीभपर चढ़ गया है पर गांवके लड़के तो सूरज निकलना ही कहते है। अब उदयका अर्थ रहा निकलना।

सूर्योदय यानी सूरजका निकलना पृथ्वीपर रहनेवालों-के लिए बारी-बारीसे अच्छा मालूम होता है। रोज-रोज उदय होनेपर उसकी भलाई कम नही हो पाती। सूरजका उदय होना हम लोगोंके लिए भला है, यह इस बातका सबूत नहीं कि वह सूरजके लिए भी भला होगा। आज यह बात कौन नहीं जानता कि जिस वक्त हिन्दुस्तानमें सूरज निकलता है उस वक्त वह अमरीकामें डूब रहा होता है, जापानमें सिर पर होता है। तब सूरजके उदय होनेका क्या अर्थ रह जाता है ? उसका हरदम उदय हरदम अस्त और हरदम उत्थान है। सूरजके उदयकी बात अगर हम सोचें और उसके उदयके लिए हम कुछ करने लगें तो हो सकता है जापानी हमसे बिगड़ बैठें क्योंकि जितना-जितना हम अपने यहां सूरज-के उदयके लिए जोर लगायेंगे उतना-उतना जापानमें सूरज-अस्त होगा। सूरजका निकलना डूबना, हर वक्त होता रहता है। सूरजकी तरह हम सबका भी यही हाल है।

लोग बूढ़े होकर बचपनकी बहुत याद करने लगते हैं। इसकी वजह यह भी हो सकती है कि उनको जल्दी हिन्दू धर्मके अनुसार, मरकर बच्चा बनना है, पर जवान तक कभी-कभी, अपने बचपनकी याद कर बैठते हैं और चाहते है, बच्चा होते तो अच्छा होता। अब सर्वोदयके विश्वासियोंसे हम यह पूछना चाहते है कि जब वह किसी बालकका उदय करने बैठेंगे तो बहरहाल उसे जवान बनायेंगे यानी उसके बालकपनका अस्तकर देंगे, फिर उनका उदय क्या रह गया ? और उदयके माने अगर वह निकलनेके होते हैं तो जवानीके उदयमें बालकपनका अस्त हुआ, फिर सबका उदय और सबका अस्त एक बात हो गई।

हमारे पाठक यह बिलकुल न समझें कि हम बेमतलब शब्दोंकी बहस ले बैठे है। सचमुच हमारी समझमें सर्वोदयकी बात नहीं आती। हमें ऐसा मालूम होता है, जिस सर्वोदयकी बात लेकर हम खड़े हुए है वह प्रकृतिमें हर छिन होता रहता है। अगर प्रकृतिके इस काममें, हम सब, कहीं हाथ बंटाने बैठ गये तो कुछ नुकसान न कर बैठें ?

महावीर और बुद्धने जवानीमें जब अपना घर छोड़ा, राज छोड़ा तब उन दोनोंका उदय हुआ या अस्त? उन

दिनोंके राजनीतिके पंडितोंके लिए बिलकुल ऐसा मालूम हुआ होगा कि महावीर और बुद्धके साधु हो जानेसे राजनीतिका सूर्य अस्त हो गया। दोनों ही राजनीतिके सूरजकी तरह राजनीतिकी दुनियापर उदय होनेवाले थे कि घर छोड़कर चल दिये।

राजनीतिके पंडितोंकी तरह दोनोंके घरवालोंकी नजरमें भी ऐसा मालूम हुआ होगा मानो उनके भाग्यका सूरज अस्त हो गया।

इधर नांगोमें ऐसे ही शोर मच उठा होगा जिस तरह सूरज निकलनेपर पक्षी चहचहाने लगते है और गाय रम्भाने लगती है। नांगोंको सचमुच कितनी खुशी हुई होगी कि उन्हें अपना साथ देनेके लिए राजाओके लड़के मिल रहे है। उसको वह अपना उदय और राजपुत्रोंका उदय समझते होंगे।

बहुत दूर जानेकी जरूरत नही। गांधीजीने जब अपने सोनेका बिल्ला सरकारको वापस भेजा होगा तब कांग्रेसकी राजनीतिका सूरज उदय हुआ होगा और सरकारकी वफादारीका सूरज अस्त हुआ होगा। अब यह समझमें नहीं आता कि इसमे गाधीजीका क्या उदय-अस्त हुआ। गाधीजीका तो उदय ही बना रहा। जब वह अंग्रेजोमे चमकते थे, अब हिन्दुस्तानियोमें चमकने लगे। जिस तरह महावीर और बुद्ध पहले राजाओंमें चमकते थे, त्यागी बनकर साधुओंमें चमकने लगे। उनका तो हमेशा उदय ही रहा।

क्या अब यह साफ नही हो गया कि प्रकृति हरदम हर आदमीका उदय कर रही है और इस उदयमें अगर कोई बाधा डाल रहा है तो आदमीकी अधूरी समझ।

बिजलीका बल्ब जल रहा है। सब उससे फायदा उठा रहे हैं, सब उसकी तारीफ करते है, सब उसके गीत गाते है। और शायद यही समझते है कि बल्बका खूब उदय हो रहा और उस वक्त अगर उस बल्बसे लाभ उठानेवाले एक-दूसरेको असीस दे बैठें तो यही कहेंगे कि तुम दुनियामें बल्बकी तरह चमको, ऐसा तो कोई भी नही कहेगा कि बल्बकी तरह बुझो। अब भी ऐसी असीस देनेका रिवाज है कि तुम दुनियापर सूरजकी तरह चमको, कोई यह नहीं कहता कि तुम दुनियामें सूरजकी तरह डूबो। पर सोचना यह है कि अमरीकामें सूरजके डूबे बिना हिन्दुस्तानमें सूरजका उदय नहीं हो सकता और अमरीकामें सूरज डूबनेसे अमरीका वालोंको बाहर घंटेका चैन मिल जाता है, जिस चैनके लिये बारह घंटेके बाद हिन्दुस्तान तड़फ उठेगा। क्या इसका मतलब यह नहीं है कि हमारे ऊपर जब सूरजरूपी बल्ब चमकता है तो इसके पीछे वह चैनसे पड़ी हुई अमरीकाकी जनताकी ताकत होती है जो सूरजको चमकानेका काम करती रहती है? यह किसको नही मालूम कि बल्ब जब बुझ जाता है तब उस बैटरीकी ताकत आराम पाती है जिससे वह बल्ब चमक रहा था, बल्के चमकनेमें बैटरीका नाश है और बल्बके बुझनेमें बैटरीकी उमर बढ़ती ह।

चीनमें आज जनताका राज है और इस तरहका राज हैं जिसमें जनता, जनताके लिए, जनतापर राज कर रही हैं। इस राजमें एक बड़ी अनोखी बात हुई है। जितने साधु-ब्रह्मचारी थे, सबकी शादी करदी गई है और सबने खुशीसे शादी करली है। आज भी हर जगहके साधु शादीके लिए खुशीसे तैयार हो सकते हैं अगर समाज उनको वही आदर देनेके लिए तैयार हो जो उन्हें साधु-हैसियतसे मिल रहा है। गाधीजी मरते दमतक हर तरह गृहस्थी रहे क्योकि उनके आदरमें कोई अन्तर नही आने पाया। चीनमें साधुओंके राजनीतिमें शामिल हो जानेसे राजकाजी मैदानमें अनेक सूर्य उदय हो गये और धर्मके कर्मकाण्डके मैदानमें अनेक सूरज अस्त हो गये। पर उन साधुओंका उदय-अस्त कुछ नहीं हुआ। उनका तो हरदम उदय रहा। आदमीका उदय अगर वह ढंगसे रहे और दूसरे लोग उसके उदयके लिए बेमतलबकी कोशिश न करे, हरदम होता रहता है।

हिन्दुस्तानपर जब अंग्रेजोका राज था तब खूब कालेज और स्कूल खुले हुए थे, और हिन्दुस्तानी मां-बाप अपने लड़कोंको इन स्कूल और कालेजोंमें भेजकर यही समझते थे कि वह अपने लड़कोंका उदय कर रहे है। सन् '२१ में गांधीजीने उन्ही मां-बापको समझाया कि वह तो अपने लड़कोंका अस्त कर रहे हैं। उदय इसमें है कि वह कालेज और स्कूलोंको छोड़ें, बर्तन माजें, कपड़े धोयें, गांव गांवमें घूमें, चरखा कातें, कपड़ा बुनें इत्यादि। बहुत लोगोंको यह बात पसन्द आई। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने चरखा कातनेमें अपने लड़कोंका अस्त समझा और पढ़ते रहनेमें उदय। आज दोनों तरहके मां-बाप मिल सकते है जो पक्का सबूत देकर यह साबित कर सकते

हैं कि उन्होंने जिस तरह उदय और अस्त समझा था वही ठीक था। अब बताइये उदय और अस्त क्या रह गया?

लारी और बस चलानेवाले जब मोटर हांकना सिखानेके लिए मोटर हांकनेके स्कूलका उदय करते है तब आप बता सकते है किसका अस्त करते है? वह उन बड़ी-बड़ी तनखाहों-का अस्त करते है जो मोटर हांकनेवाले मांगा करते है। हांकनेवाले बहुत हो जायेंगे, भाव सुस्त हो जायगा। कुछ बेकार रह कर जूते चटखाते फिरेगे। कैसा अच्छा उदय हुआ।

कामर्स कालेजों यानी *अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालयोंने* उदय होकर और हजारों बी. काम यानी बेकाम पैदा करके उन जवान लडकोका **अर्थ-सूर्य** अस्त कर दिया है। पर उधर व्यापारियोंका मुनीम-सूर्य खूब तेजीसे चमक उठा है और व्यापारी जो अबसे पहले बिजली और लकडीपर खर्च करके घाटा उठा रहे थे अब इस मुनीम-सूरजकी धूपसे खूब फायदा उठाने लगेंगे।

हम अपनी तरह सोचकर सर्वोदयपर एक किताब लिख सकते है, पर उसकी जरूरत नही। हमारे पढ़नेवाले इस तरहके उदाहरण अपने पास सोचकर अपनी-अपनी किताब तैयार कर सकते है। हम तो सिर्फ यह कहना चाहते है कि सर्वोदयका काम उन आदमियोको अपने हाथमें नही लेना चाहिए जिन्होने प्रकृतिको अच्छी तरह न पढ लिया हो, और जो सिरसे पैर तक **सबकी-भलाईकी इच्छामें न डूब चुके हो**। और जब ऐसे आदमी इस काममे लगेंगे तो उदय-अस्तका सवाल न रह जायगा। फिर सबका उदय इस बातमें रह जायगा कि हम यह समझे कि **हम क्या हैं? हमारा रिश्ता और आदमियोंके साथ क्या है**? देशोके साथ क्या है? और दूसरे प्राणियोके साथ क्या है?

सर्वोदयके लिए सबको अस्त होनेकी जरूरत है। अब जो-जो अस्त होनेके लिए तैयार हैं वही उदयका काम कर सकता हैं। गिरेहुएको उठानके लिए झुकना पड़ता है, अपनेआपको मिट्टीमें लथेड़ना पड़ता है, उसके बिना उठानेका काम नही हो सकता। बल्बको चमकानेके लिए बैटरी अगर अंधेरे बक्समें बन्द होनेसे घबराये तो काम कैसे चले? बैटरीका उदय इसीमें हैं कि वह अन्धेरेमें बैठे। अगर बैटरी किसी उपदेशककी बातोंमें आकर अपने उदयमें अपना अस्त समझने लगे और वह हवामें आना चाहे और बल्बसे अपना सम्बन्ध तोड़ले तो नतीजा यह होगा कि बल्ब तुरन्त बुझ ही जायगा। बैटरी भी अपनी मौत अपनेआप मर जायगी।

हमारा उदय और अस्त इस बातमें नही है कि दूसरे उसका फैसला करें। क्या हमारे पढ़नेवालोंको यह नहीं मालूम कि जिन तारोंको वह सबसे छोटा समझे हुए है उनमेंसे कई इतने बड़े है कि उनमें हमारे कई सूरज समा सकते हैं। हमारे तुच्छ समझनेसे वह तारे तुच्छ नहीं हो सकते। इसलिए सर्वोदयके मैदानमें कूदनेसे पहले हमें अपनी नजर ठीक करनी होगी, तभी हम दुनियाका भला कर सकेंगे।

एक बार हमने कुछ पद्य लिख डाले थे। वह मौकेके हैं और नीचे लिखे देते है—

तरक्की है इसमे कि मशहूर हों हम,
या इसमे कि शोहरतसे ही दूर हों हम?
तरक्की है इसमें कि ज़रदार हो हम,
या ज़रसे हुए दस्त-बरदार हों हम?
तरक्की है ये हो निरी हुक्मरानी,
या असली तरक्की है खिदमतजहानी?
तरक्की है ये मुझसे डरती हो दुनिया,
मोहब्बतसे या मुझपै मरती हो दुनिया?
तरक्की है ये सबको काबूमें लाऊँ,
या ये पूरा काबू मैं अपने पै पाऊँ?
बना बल्ब क्या मै अंधेरेको मेटूँ,
या बन बैटरी एक कोनेमें लेटूँ?
तसल्ली मिलेगी मुझे बीज बनकर,
जमीसे उगू मैं या खुदको दफन कर?
तरक्की है इसमें कि जो हो लुटाऊँ,
या जो चाहता हूँ उसे मैं जुटाऊँ?
मुझे बाद मरनेके है याद करके,
ये क्या सच नही वक्त बरबाद करते?
मैं क्या कर गया, लड़ रहे जिसको लेकर,
मेरा शब्द है अड़ रहे जिसको लेकर।
तरक्की है छोड़ू हजारो हवेली
या ईश्वरके भजनोंकी पोथी अकेली?
तरक्की है इसमें कि अपनेको जानूँ,
या अपनेको ज्ञानी, जगत खान मानूँ?

आप भले बनिये, औरोंकी भलाई आप हो जायगी। उदय-अस्तके चक्करमें पड़नेसे क्या लाभ!

सर्वोदयतीर्थके नामपर

[श्री जमनालाल साहित्यरत्न]

आचार्य समन्तभद्रने वीरके शासनको सर्वोदयतीर्थ कहा है, जिस तीर्थमें सबके उदयकी संभावना हो वह सर्वोदयका तीर्थ, वीरका शासन वह जो वीरने कहा, इस तरह हम कह सकते हैं कि वीरने जो कुछ कहा है वह सबके उदयके लिये कहा और उनका कहना इतना साफ स्पष्ट और यथार्थ था कि उसे तीर्थ कहा गया है।

वीरने किसी धर्मविशेषकी स्थापना की हो ऐसा नही लगता। उन्होंने किसी ग्रंथको या परम्पराको प्रमाण मानकर कुछ कहा है ऐसा भी नही लगता। उन्होंने जो कुछ कहा है अपने अनुभवसे कहा है, जनतासे कहा है और जनताकी भाषामें कहा है। जिस तरह आजके विद्वान आगम-प्रमाण और वेद-प्रमाणकी दुहाई देकर अपने वचनोंकी सत्यता पर प्रामाणिकताकी मोहर लगाना चाहते है वैसा उन्होंने कुछ नहीं किया। ऐसा करके आजके विद्वान तो अपनी सत्यता और विद्वताको प्रायः संदिग्धताकी कोटिमें रख रहें हैं। उन्हें शायद अपने वचनों पर, अनुभवों पर स्वयं ही इतना विश्वास नहीं कि वे जो कुछ कह रहे है वह पूर्णतः ठीक है। महावीरके आगे वेद मौजूद था, वे उसके पाठी थे, उसका उन्हें अच्छा ज्ञान था। पर उन्होंने उसका कहीं जिक्र नहीं किया, किसी शास्त्रका भी उल्लेख नहीं किया। उन्होंने प्राचीन शब्दोंके अर्थोको अपने अनुभवसे नया रूप दिया और उनकी वाणीमें इतना बल था कि जनताने उसे स्वीकार भी किया। इतना ही क्यों, स्वामी रामतीर्थने स्वयं कहा कि वे स्वयं जिन्दा वेद है मुर्दा वेद की तरफ क्यों देखा जाय !

धर्ममें देखा-देखी खूब चलती है, पहले भी चली है, आज भी चल रही है। हिंदुओंने अपने यहां अवतार माने तो बौद्धोंने अपने यहां तथागत माने और जैनोंने तीर्थंकर मान लिये। मैं यहां नये और पुरानेके झमेलेमें नहीं पड़ना चाहता, इस सर्वोदयको ही ले लीजिये, यह ठीक कि समन्तभद्रने दो हजार बरस पहले यह शब्द प्रयुक्त किया, पर आज इसकी पूछ क्यों हो रही है? कारण स्पष्ट है कि रस्किनके इस शब्दको गांधीजीने राष्ट्रव्यापी महत्व दिया और अब सर्वोदयसमाज स्थापित हो गया, जैनोंने अपने दबे शब्दको उठानेका यह अच्छा मौका देखा और उसके विविध उपाय होने लगे। अचरज तो यह है कि इस सीधे-सादे शब्दको इतिहासकी नजरोंसे देखा जाने लगा और इसके लिये शक्ति लगाई जाने लगी कि इस शब्दका प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया। हम इस तरह उस शब्दकी बाहरी चीर-फाड़में लग गये और भावनासे दूर पड़ गये। हमें यह जाननेकी शायद चिन्ता नही कि उस शब्दका मूल अर्थ क्या है और किसने किस अर्थमें उसका प्रयोग किया है। ऐसी ही शोध-खोज हम सदा करते रहे है। जैन बड़े खुश हैं, यह सिद्ध करनेमें कि सारे तीर्थंकर उन्हीके यहां हुए है, वे उनकी अपनी थाथी है। और वे हुए इसलिये हैं कि जबजब समाजमें बुराइयां फैल गई हैं, पापाचार बढ़ गया है, तबतब उसे दूर कर दिया जाय। चौबीस बार तीर्थंकर हुए और हर बार उन्होंने समाजमेंसे बुराईको दूर करनेका प्रयत्न किया। पर हर बार गन्दगी बढ़ती गयी और तीर्थंकर भी पैदा होते गए। अगर ऐसा ही हमारा समाज है कि कितना ही उपदेश देनेपर भी बुराई और पापाचार समाप्त नही हो सकता तो इससे अधिक शर्मकी बात और क्या हो सकती है? स्कूलमें एक लड़का वह होता है जो अध्यापककी बातको एकबारके कहनेपर समझ जाता है और फिर कोई भूल नहीं करता, अपना काम बराबर करता जाता है, और एक वह होता है जो बारबार कहनेपर, मारने पर भी नहीं समझता और समझता भी है तो उतनी ही देरके लिये जितनी देर अध्यापक उपस्थित रहता है। स्पष्ट है कि दोनोंमें दूसरा लड़का मूर्ख है, नालायक है। यही हाल उन धर्मात्माओंका समझिए जो अपनी शानमें

आकर कहते हैं कि सारे अवतार, सारे तीर्थंकर या सारे बुद्ध हमारे यहीं हुए हैं। इस देखा-देखीने ही धर्मके असली रूपको नष्ट कर दिया है और उसका वह रूप रह गया है जिसको लेकर बुद्धिके दिवालिये प्रेत पर गिद्धकी तरह झपटते है।

महावीर जंगलमें गये और आदमीके बच्चेसे कहा कि प्रगति कर, उस सडांधमेंसे निकल जहां अहंताकी बिना खिड़कीकी इमारतमें खड़े-खड़े तेरा दम घुट रहा है। वीरने तो घर ही क्या तन भी छोड़ा और अपना नाम भी मिटाकर चले गये। शरीरका एक कण भी पृथ्वीवालोंके लिये नही छोड़ा क्योंकि उसको लेकर भी न जाने कितनी कल्पनाएं जोड़ी जा सकती थीं, लेकिन भक्त ही तो होते हैं अपने नेता की दुर्दशा करनेवाले। महावीरका भी यही हाल हुआ। महावीरके नाम पर ऐसी ऐसी इमारतें खड़ी की गयी जिनमें जाति-संप्रदाय आदिके कितने ही विभाग हो गये, पर हवाके खुलकर बहनेके लिये खिड़की एक भी नहीं रखी गयी। सर्वोदयके हिमायती ही आज स्वार्थोदयी बन गये है। अगर आज कही फिरसे महावीरका अवतरण हो जाय और वे देखें कि उनका नाम लेनेवाले क्या-क्या करते है तो असंभव नही, वे उस सबको मिटा दें जो कुछ उन्होंने कहा था।

धर्म अपने आपमें बुरा नहीं होता, उसमें बुराई तो तब आती है जब उसे लोकोत्तर या आदमीकी पहुंचके बाहर का बना दिया जाता है, और यह चीज बिना अनुकरणके नहीं होती। महावीरके साथ भी प्रायः ऐसा ही हुआ है, वे आदमी ही नही रह गये। जब कि उन्होंने स्वयं बताया कि आदमी ही सारी शक्तियोंका भंडार है। इतना ही नहीं कुछ लोग उनपर अपना अधिकार भी जमा बैठे कि अमुक वर्ग और श्रेणीके अतिरिक्त कोई दूसरा उनकी मूर्तिको स्पर्श भी नहीं कर सकता। यह इस महापुरुषका आदर है या अपमान? समन्तभद्रने उनके धर्मको या उपदेशको सर्वोदयतीर्थ यों ही नहीं कहा था। आजकी स्थितिमें तो उसे जैनोदयतीर्थ भी नहीं कह सकते। जो सत्य दूसरेके छूनेसे असत्य बन जाता है या अपवित्र बन जाता है वह सत्य ही नहीं है, यह बात हमारे ध्यानमें तब तक नही आ सकती जब तक हम यह न समझ लें कि आदमी-आदमीमें व्यर्थका भेदभाव खड़ा करना धर्मका उपहास करना है और अधर्म है।

धर्मकी उन्नतिको हमने संख्या से तोलना चाहा। धर्म को संख्यासे कभी तोला नहीं जा सकता और जहां तोला जाता है वहां निश्चित समझिये कि धर्मका असली तत्त्व खतरेमें होता है; पर इसमें भी सर्वोदयतीर्थके अनुयायी असफल ही रहे—वे सब जाति-मर्यादा और कुलाचारमें ही अटके रहे और जिसने जरा उनकी तथाकथित मर्यादाका भंग किया कि उन्होने उसे जातिसे बाहर कर दिया। जैनधर्मको माननेवाली अधिकांश जातियोंका इतिहास यह स्पष्ट बोल रहा है कि जोड़ने और मिलानेका काम कभी हुआ ही नहीं, जो भी कुछ हुआ है वह तोड़ने और फेंकनेका ही हुआ। अगर हमने सर्वोदयको समझा होता तो यह कैसे हो सकता था? जिन्होंने समझा वे अलग पड़ गये और अलग ही खत्म हो गये। यह कैसी विडम्बना है कि जीवन्त महावीरके पास तो पशु-पक्षी तक पहुंच सकते थे, पर उनकी मूर्तिके पास बिना टिकट लिये आदमी भी नही पहुंच सकता!

कालेजका कोई विद्यार्थी प्रोफेसरसे सीखते समय क्या यह समझ कर सीखता है कि प्रोफेसरका ज्ञान ही परिपूर्ण है और उसके आगे वह नहीं बढ़ सकेगा? मेरे खयालसे कोई विद्यार्थी ऐसा नही हो सकता और जो ऐसा होगा वह कालेजमें प्रविष्ट ही नही हो सकता। इसी तरह महावीर एक प्रोफेसर थे जिन्होने एक रास्ता बताया और चले गये। अब इसका अर्थ यह तो नहीं कि जो कुछ उन्होंने बताया या वे परिस्थितियोंके अनुरूप बता सके उतना ही परिपूर्ण है, उसमें कुछ फेरबदल नहीं हो सकता। जो तरीका उन्होंने बताया वह साफ था, बढ़िया था उसमें किसी प्रकारका आवरण और भेद नहीं था, वह प्रगतिशील था। हमारा काम था कि हम खुले मनसे उस रास्तेपर बढ़ते, अपनी बुद्धिका उपयोग करते, प्रगति करते और उस चीजको प्राप्त करते जो आजके लिये सर्वोत्कृष्ट है। पर ऐसा हुआ कहां? हम तो उस विद्यार्थीकी तरह ही रहे जो यह मानता रहा कि उसके अध्यापकने जो कुछ बताया उसके आगे उस के लिये कोई रास्ता नहीं है, वहीं उसकी सीमा है, महावीरको अपनी कमजोरीकी सीमामें बांधकर हमने अपने

भीतर बैठे भगवानका जो अपमान किया है वह हमें युगों तक अज्ञानके अंधकारमें रखनेके लिए पर्याप्त है। इससे महावीरका क्या बिगड़ा, बिगड़ा तो हमारा ही कि हम सुस्त पड़ गये, कोई प्रगति नहीं कर सके और ज्ञानकी, सत्यकी खोजमें दुनियाकी प्रगतिमें पिछड़ गये। महावीर तो एक विज्ञानी थे, अपने जीवनमें जितना प्रयोग वे कर सके कर गये और बता गये। उसे आगे बढ़ाना हमारा काम था पर हम निकले शब्दोंसे चिपकने वाले। और यही कारण है कि हम दूसरा महावीर दुनियाको अबतक नहीं दे सके, दे नही सकते। बहुत ही कुछ हुआ तो आजकी वैज्ञानिक शोध-खोज और प्रगतिकी चर्चा चलने पर मोहवश इतना कहकर शान्त हो जाते है कि यह सारी प्रगति हमारे शास्त्रोकी देन है, हमारे सिद्धांतमें यह सब है। ये भोले भाई यह नहीं जानते कि किस विज्ञानीने कौन-सी चीज दी है और वह इनका सिद्धांत पढ़ने कहा गया होगा और कौन इतना प्रगतिशील था जिसने अपना शास्त्र उसके हाथमें थमाया होगा। जैनोंने तो शास्त्रोंको भी मूर्तिकी तरह पूजाकी वस्तु बनाया और उन्हें जनतातक लानेसे इन्कार किया है।

मै अधिक कुछ नही कहना चाहता, केवल इतना ही कहना चाहता हूं कि जिन लोगोंने महावीरको किसी कुंद और बेहवाकी इमारतमें बन्द कर दिया है और जो जाति, रूढ़ि तथा खानेपीनेके कोरे आडम्बरमें फंसे हुए है उनके हाथों न उनकी खैर है, न सर्वोदयतीर्थकी और न वे सर्वोदयतीर्थके अनुयायी कहलानेके योग्य है। कौन ऐसा है जो मन्दिरों परसे ताले उठवा दे, कौन है ऐसा जो मुंहपरसे कपड़ा हटा दे, कौन है ऐसा जो अपराधीपर भी प्यारकी निगाह रखे, कौन है ऐसा जो दूसरेको अधार्मिक कहना छोड़ दे और कौन है ऐसा जो अपने ही आचार-विचारोंकी बड़ाई करना छोड़ दे? हमारी स्थिति उस रोगी जैसी है जो वैद्यके नुस्खेको तकियेके नीचे सँवारकर रखता है, उसकी प्रशंसा करता है, उसे नमस्कार करता है, पर उसमें लिखी दवाइयोंको मिला कर पी नही सकता। हम मन्दिरमें जाते हैं, मूर्तिके आगे माथा रगड़ते हैं, उसके गुणोंका गान करते हैं, नाचते गाते हैं, पर बाहर आकर दुनियादारीके फरेब-भरे चक्करमें फँस जाते हैं और किसीके ताना मारनेपर झट कह देते हैं कि 'क्या करें साहब, संसारमें रहकर सच बोलना बड़ा कठिन है।' और ताज्जुब तो यह होता है कि यह छल-फरेब धर्मके नामपर भी चलता है और उसका बखान भी शानके साथ किया जाता है।

असलमें धर्म या तो ज्ञानकी चीज है या बहादुरोंकी। दुर्भाग्यसे वह पड़ गया है कायरोंके हाथमें। कायर तो इसे अपनी दृष्टिसे ही देखेगा और ग्रहण करेगा। कायरमें होती है भयकी भावना। भय एक ऐसा अस्त्र है जो उसे काबू में ला सकता है। जब धर्म कायरके पल्ले पड़ गया तब ज्ञानीको तो अपनी गुज़र-बसर करनी ही थी और उसने अपना रास्ता कायरको और डराकर निकाल लिया। उसने स्वर्गका सब्ज बाग दिखाया और नरककी यातनाका चित्र खड़ा किया। लोभ और भयके आधारपर धर्मका झंडा कायरके हाथ सौंप दिया। यह तो समन्तभद्र जैसे महान ज्ञानी ही कह सकते थे कि वे भगवानके अतिशयसे प्रभावित नही हैं, कायर कही कह सकता है? वह नहीं कह सका, इसीलिये तो सैकड़ों तरहके चमत्कार और अतिशय उसकी आंखोंमें नाचने लगे और आज भी वह जो कुछ मन्दिर और धर्मालयमें करता है वह केवल चमत्कारकी ही तो पूजा करता है। एक ज्ञानीकी दृष्टिसे यह सब बच्चोंका खेल ही समझिये। 'चमत्कारको नमस्कार' कहावत ही बन गयी है।

भयमें सर्वोदयभावना नही रह सकती, सर्वोदयकी भावनाके लिये जिस निष्पृहता, स्पष्टता, प्रगतिशीलता और समन्वयशीलताकी जरूरत होती है वह कायरमें कभी हो नही सकती। वह दया करता है तो उसे याद रखनेके लिये, एहसानका पत्थर सिरपर पटककर उसकी दया क्षणमात्रमें अदया बन सकती है। डरपोक तो वह इतना होता है कि कोई गाली देकर उससे भिक्षा ले जाय, सरलतासे वह कौड़ी नहीं देगा। सच यह है कि आजके समाजपर धर्मका भूत सवार है और यह भूत धर्मकी आत्माका भान नही होने देता और आगे भी नही बढ़ने देता।

मुझे शंका है कि आजकी समाजके लिये सर्वोदयतीर्थ इस पृथ्वीमें जीवित रह सकता है, वह तो स्वर्गकी तरह अचरजकी चीज बन चुका। सर्वोदयका तीर्थ अगर इस पृथ्वी पर कहीं होता तो वह हर गांवके हर मन्दिरमें, हर जातिमें, हर विचारमें और हर प्रवृत्तिमें होता।

मैं यह बात यों ही नही कह रहा हूं। इसके पीछे एक कारण और है। सर्वोदयतीर्थका पुजारी प्रगतिशील होता है, कर्मठ होता है, वह काल और शापसे डरता नहीं। पर कौन ऐसा माईका लाल है जो ऐसा है? मेरा सर्वथा सत्य और दूसरेका सर्वथा झूठ कहनेवाला तो सर्वोदय नहीं है। और हां, एक बात कायर प्रतिवर्ष कहता है आगे का जमाना बड़ा खराब है, इससे तो पिछला साल ही अच्छा था, एक फर्मकी ४५ वर्षकी बहियोंमें प्रति वर्ष यह लिखा पाया गया। यह रोने की वृत्ति है, आलस और भाग्यकी सहायक है। जो अपने-आपपर विश्वास नहीं रख सकता वह दुनियापर क्या रखेगा और जो दुनियापर नही रखता वह अपने ऊपर भी नहीं रख सकता।

दुनिया सचाईकी ओर भाग रही है। धर्मके ठेकेदार भले ही कहें कि अनीति बढ़ गई है, भ्रष्टाचार बढ़ गया है, और सबकी जबानपर झूठ-खेल रहा है। हो सकता है वे सच कहते हों, पर यह भी तो सच है कि दुनिया धर्मसे भाग रही है, धर्ममें अगर सचाई हो तो धर्मसे दुनिया भागे क्यों? विज्ञान सचाई है इसीसे दुनिया उसे अपना रही है। विज्ञानकी दौड़में आज धर्म प्रायः पिछड़ गया है और अब वह संभवतः किसी भी हालतमें उसे पकड़ नहीं सकेगा। बड़ा-से-बड़ा पूज्य और पवित्र समझा जानेवाला ग्रंथ उपदेशसे भरा है। उस आदमीको उपदेशकी क्या जरूरत जो शुरूसे ही साफ, सच्चा और पवित्र हो। दवाकी जरूरत रोगीको ही होती है। विज्ञान उपदेश नहीं देता, प्रयोग करता है और परिणाम प्रत्यक्ष दिखा देता है, सुनहले सपने नहीं दिखाता। धर्मकी दुनिया प्रायः सपनोंकी दुनिया है और विज्ञानने सपनोंको बांधना शुरू कर दिया है और अभी नहीं किया है तो कर ही देने वाला है। सपनोंकी तरह ही अधिकांश धर्मोंने हमें मृगजलमें भटकाया है। हमें उस धर्मसे मुक्त होना चाहिए जो आदमी-आदमीमें भेद करता है, पैसे-पैसेमें भेद करता है, और मनुष्यतासे गिराता है।

सर्वोदयीकी विचारधारा किसी सीमामें, श्रद्धामें बन्धकर नहीं चलनी चाहिए, उसमें विचारकी स्वतन्त्रता, जीनेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

'सर्वोदयतीर्थ' शब्दको प्रकाशमें लाकर अगर उसके अनुरूप कुछ नही हो पाया तो, डर है कि कही रही-सही इज्जत भी जैनी न खो दें। 'सर्वोदय' चाहनेवाले जब तक सबके लिये अपने द्वार उन्मुक्त नही करेंगे और सबको गले नहीं लगायेंगे तब तक उसकी सार्थकता कहां रहेगी? सबसे पहला काम तो यह होना चाहिए कि जितने भी मन्दिर हैं वे सबके लिये योग्य व्यवस्थाके साथ खुलजाने चाहिएं और त्यागकी दृष्टि होनी चाहिए।

ऊपरकी पंक्तियां विचारके लिये ही लिख गया हूं, किसीपर उबलने और रोष प्रकट करनेकी नीयतसे नहीं।

आचार्य श्रीसमन्तभद्रका पाटलिपुत्र

(श्रीदशरथ शर्मा एम०ए०, डी० लिट् ०)

आचार्य श्री समन्तभद्रने भारतके अनेक प्रान्तों और नगरोंमें विहार कर जैनधर्मकी जयपताका फहराई और अनेक व्यक्तियोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया। उनकी कुछ विजयोंका उल्लेख इस श्लोक में है:—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिंधुटक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

जिस पाटलिपुत्रसे आचार्य समन्तभद्रने अपनी विजयोंका प्रारम्भ किया उसे पंडित जुगलकिशोर मुख्तार आदि संमान्य विद्वान् प्रायः बिहार प्रान्तका 'पटना' समझते आये हैं। किंतु लखनऊकी गत ओरियन्टल कान्फ्रेंसमें एक लेख द्वारा श्री डी०जी० महाजनने इस मान्यताको असिद्ध करनेका प्रयत्न किया है[1]। आपके अनुसार आचार्य श्रीसमन्तभद्रका पाटलिपुत्र वास्तवमें द्रविड़ देशका 'थिरुपडरीपुलियुर' नामका नगर था। इसीका वर्तमान नाम कड्डैलोर (Cuddailore) है। श्रीमहाजनकी युक्तियां संक्षिप्त रूपमें निम्न लिखित हैं:—

(१) थिरुका 'श्री', पडरीका 'पाटलि' और 'पुलियुरका अर्थ 'व्याघ्रपुर' होता है। इस लिये थिरुपडरीपुलियुर शब्द पाटलिपुत्रका बोधक है।

(२) आचार्य समन्तभद्रका समय ईसाकी दूसरी शताब्दी है। उस समय उत्तरी पाटलिपुत्र नगण्य हो चुका था। पुष्यमित्र, अग्निमित्र और खारवेल उसके गौरवको नष्ट कर चुके थे। केवल दक्षिणी पाटलिपुत्र दूसरी शताब्दीमें पूर्णतया समृद्ध और जैनधर्मका केन्द्र था।

(३) आचार्य दक्षिणी थे। वे भस्मक व्याधिसे पीड़ित भी थे। अतः यह मानना ठीक नहीं जँचता कि वे बिहारके पाटलिपुत्र तक गये।

श्रीमहाजनकी ये तीनों ही युक्तिया निर्बल है। थिरुपडरिपुलियुरका हम उनके कथनानुसार अर्थ करें तो भी उसका समानार्थक शब्द पाटलिपुत्र नही, बल्कि श्रीपाटलिव्याघ्रपुर बनता है। व्याघ्रपुर और पुत्र दो सर्वथा भिन्नार्थ शब्द हैं, श्रीमहाजनने शायद इस तथ्यको ध्यानमें नही रखा।

श्रीमहाजन यह माननेमें भी भूल करते है कि बिहारकी राजधानी पाटलिपुत्रकी समृद्धि मौर्योंके साथ ही जाती रही। दिव्यावदान ग्रथसे सिद्ध है कि पुष्यमित्र पाटलिपुत्रसे ही राज्य-सचालन करता था। जिस जिनमूर्तिकी खारवेलने अपनी राजधानीमें स्थापनाकी वह उससे पूर्व पाटलिपुत्रके समृद्ध नगरमे ही वर्तमान थी। प्रभावकचरितमें पाटलिपुत्रके मुरुण्ड वंशका वर्णन है, जिससे प्रतीत होता है कि विदेशियोंके हाथमे जानेपर पाटलिपुत्रके गौरवमें कमी न हुई थी। चीनी इतिहाससे भी हमें ज्ञात है कि मुरुण्ड वंशी भारतके पूर्वी भागमे राज्य करता था। उसकी तत्कालीन समृद्धिका सुन्दर वर्णन भी हमें चीनियोंसे प्राप्त है।

समुद्रगुप्तकी राजधानी सभवत पाटलिपुत्र थी[2]। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके राज्य कालमें जब फाह्यान भारतमें आया तो वह पाटलिपुत्रके ऐश्वर्य और धर्मानुरागसे दग रह गया। उसने यहां तीन साल तक संस्कृत भाषाका अध्ययन किया और बौद्ध धर्मशास्त्रोंकी नकल की। नगरमें अनेक चिकित्सालय थे जिनमे सब प्राणियोकी मुफ्त चिकित्सा की जाती, भोजनवस्त्र आदि सब मुफ्त मिलते और रोगी ठीक होनेपर अपनी सुविधानुसार वहांसे चले जाते थे।

चौदहवो शताब्दीमें विविधतीर्थकल्पके रचियिता

१. Summaries of Papers—All India Oriental Conference, 1951, 110-4.

२. देखें समुद्रगुप्तकी प्रयाग-प्रशस्ति।

जिनप्रभ सूरि इसके महत्त्वसे अच्छी तरह परिचित थे। यही उमास्वातिवाचकने तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी रचना की। यही कल्कि और धर्मदत्त, जितशत्रु, मेघघोष आदिने राज्य किया। यही भद्रबाहु, महागिरि, सुहस्ती, वज्रस्वामी, प्रातिपदाचार्य आदिने विहार किया। यही स्थूलभद्र मुनिने वर्षारात्र चतुर्मास किया था। यहीं आर्यरक्षित भी चौदह विद्याओंका अध्ययन कर दशपुर गये थे।[३]

ऐसे विख्यात नगरसे अपने दिग्विजयका आरम्भ करना आचार्य समन्तभद्रके लिये स्वाभाविक था। भस्मक व्याधि ही वास्तवमे यदि बाधक होती तो आचार्य टक्क, मालव, सिंध आदि देशोमें कैसे विहार करते? वास्तवमें इस लेखके आरम्भमे उद्धृत श्लोकसे तो यही ध्वनित है कि समन्तभद्रकी दिग्विजयका आरम्भ मगधकी राजधानी पाटलिपुत्रसे हुआ, न कि कड्डलूर आदि किसी अन्य स्थानसे। पाटलिपुत्रमे विजयके बाद आचार्य मालव, सिंधु, और टक्क विषयोमें गये। विजय दक्षिणसे आरम्भ होती तो विहारक्रम कुछ अन्य ही होता। कांचीपुर दक्षिणी काचीका नाम हो सकता है, किंतु उसके साथ लगा 'वैदिश' शब्द शायद यह द्योतित करता है कि यह कांचीपुर विदिशा-विषयका कोई शहर था। इस प्रकार तमाम उत्तर देशका विजयकर आचार्य दक्षिणकी तरफ मुडे और महाराष्ट्र-के करहाटक विषयमें वहांके वादार्थियोंको परास्त किया। द्रविड देशके विषयमें श्लोकमें एक भी शब्द नहीं है; और शायद उसकी आवश्यकता भी न थी। आचार्य द्रविड देशके सम्मान्य आचार्य थे। वहां उनका मत पहले ही मान्य था। आवश्यकता थी तो केवल इस बातकी कि वे दूरस्थ प्रान्तोंमें अपना विमल संदेश पहुँचाएँ और जैनधर्मविषयक अनेक भ्रान्तियोंको दूर करे।[४]

३. देखें विविधतीर्थकल्पमें पाटलिपुत्रकल्प।

४. दसवी शताब्दीके प्रसिद्ध कवि और साहित्य-मीमांसक राजशेखरने भी इसी (बिहारस्थ) पाटलिपुत्र-को शास्त्रकारोंका परीक्षास्थल माना है। उज्जयिनी-में कवियोकी और पाटलिपुत्रमे शास्त्रोंके रचियिताओकी परीक्षा होती थी। उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतञ्जलि यही परीक्षोत्तीर्ण होकर प्रसिद्ध हुए थे। (देखे 'काव्यमीमांसा', गायकवाडग्रंथमाला, पृष्ठ ५८)

जैनी कौन?

कर्म-इन्द्रियोको जीतै जो, 'जिन' का परम उपासक जो।
हेयाऽऽदेय-विवेक-युक्त जो, लोक-हितैषी जैनी सो ॥१॥

अनेकान्त-अनुयायी हो स्याद्वाद-नीतिसे वर्ते जो।
बाध-विरोध-निवारण-समरथ, समता-युत हो जैनी सो ॥२॥
परम अहिंसक दया-दानमें तत्पर सत्य-परायण जो।
धरै शील-सन्तोष अवंचक, नही कृतघ्नी जैनी सो ॥३॥
नहिं आसक्त परिग्रहमें जो, ईर्षा-द्रोह न रखता हो।
न्याय-मार्गको कभी न तजता, सुख-दुखमे सम जैनी सो ॥४॥
लोभ-जयी निर्भय निशल्य जो, अहंकारसे रीता जो।
सेवा-भावी गुण-ग्राही जो, विषय-विवर्जित जैनी सो ॥५॥
राग-द्वेषके वशीभूत नहिं, दूर मोहसे रहता जो।
स्वात्म-ध्यानमे सावधान जो, रोष-रहित नित जैनी सो ॥६॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण-मय, शान्ति-विधायि मुमुक्षुक जो।
मन-वच-काय-प्रवृत्ति एक हो जिसकी निश्चय जैनी सो ॥७॥
आत्म-ज्ञानी सद्ध्यानी जो, सुप्रसन्न गुण-पूजक जो।
नहिं हठग्राही शुची सदा संक्लेश-रहित-चित जैनी सो ॥८॥
परिषह-उपसर्गोको जीतै, धीर-शिरोमणि बनकर जो।
नही प्रमादी सत्सकल्पों में महान् दृढ जैनी सो ॥९॥
जो अपने प्रतिकूल दूसरोके प्रति उसे न करता जो।
सर्वलोकका अग्रिम सेवक, प्रिय कहलाता जनी सो ॥१०॥
पर-उपकृतिमें लीन हुआ भी स्वात्मा नहीं भुलाता जो।
युग-धर्मी 'युग-वीर' प्रवर है, सच्चा धार्मिक जैनी सो ॥११॥

—युगवीर

सर्वोदयतीर्थ और उसके प्रति कर्त्तव्य

(बाबू उग्रसेन जैन M. A., LL. B. वकील)

संसारमें छोटेसे लेकर बड़े तक जितने भी प्राणी हैं सब ही सुखके इच्छुक है, दुःखको कोई नहीं चाहता। सब सुख और शान्तिके लिये इधर उधर भटकते फिरते है कि कहीं ऐसा कोई आश्रय हाथ लग जावे कि जिसकी शरणमें रहकर वे सुखको पा सकें, उनकी सब आपदाएं दूर हो जावें और पूर्णरूपसे उनकी शक्तियोंका उदय अर्थात् विकास होवे। कुछ तो स्वयं परमात्मपदको प्राप्तकर संसार-परिभ्रमणसे सदैवके लिये छुटकारा पाने तकके इच्छुक हैं। जो शासन बिना भेदभावके जगतके समस्त प्राणियोके दुःखोंको दूर करके उनको वास्तविक सुख और शान्तिके स्थानमें पहुँचा देवे या यूँ कहिये कि जिसके आश्रयसे एक संसारी प्राणी संसार-समुद्रसे पार हो मुक्ति प्राप्त कर लेवे वही तीर्थ हैं। भगवान महावीरका शासन एक ऐसा ही तीर्थ है कि जिसका द्वार प्राणीमात्रके लिये खुला है, जो वीरप्रभुके परम कल्याणकारी सर्वोदयरूप शासनका आश्रय ग्रहण करते है उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर सब दुःख और क्लेश मिट जाते हैं और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय सिद्ध कर सकते है; जैसा कि श्री समन्तभद्रस्वामीने अपने ग्रंथ युक्त्यनुशासनमें प्रकट किया है:—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

जिस तीर्थकी शरणमें जाकर आत्मस्वातन्त्र्यकी प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा ऐहिक परिपूर्णता-अपरिपूर्णताका यथार्थ दर्शन होता है, जिस शासनमें रूढ़िवादको कोई स्थान नहीं, जो प्रगतिशील है, जिस शासनका आश्रय पाकर पीड़ित पतित और मार्गच्युत सर्वसाधारण जनताको अपना आत्मकल्याण करनेका यथायोग्य पूरा अवसर मिलता हैं, जिस शासनके द्वारा अधर्म और अज्ञानरूप घोर अन्धकारका नाश हो ज्ञानसूर्यका प्रकाश होता है, जहां वैर-विरोधका काम नही, प्राणीमात्र अभय रहता है, जहां व्यक्तिगत विचार-स्वातन्त्र्यकी महत्ता तथा परीक्षा-प्रधानताकी मुख्यता हो, विशुद्ध आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो, वही सच्चा शासन है और सर्वोदयतीर्थ है। यह कल्याणकारी तीर्थ परमात्माके नाम रूप हैं, सम्यक् ज्ञान रूप निर्मल जलसे भरा है, जिसमें दैदीप्यमान सम्यक्दर्शनरूप तरंगें है तथा अविनाशी अनन्तसुखके कारण जो शीतल है और सब प्रकारके पापोंका क्षय करनेवाला है। ऐसे परमात्मस्वरूपतीर्थमें लीन होना ही प्राणीमात्रके लिये श्रेयस्कर है। यह तीर्थ सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यकचारित्र (रत्नत्रय) रूप हैं। यह तीर्थ उत्तम क्षमादि दशलक्षणधर्मरूप है। जिसका आश्रय ग्रहण करनेसे अन्तरंग तथा बहिरंगकी शुद्धि होती है, जैसा कि कहा भी हैः—

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदया तीर्थं सर्वमार्जवमेव च ॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते ।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता ॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं पुण्यं तीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसापरा ॥

वीर भगवान्का यह तीर्थ पतितपावन है, समस्त आधि-व्याधियोंको क्षय करनेवाला है, परमशान्तिके लिये अमोघ उपाय है। विविधदुर्गुणोंको हटाकर अनेक सद्गुणोंको विकासमें लानेवाला है, सर्व प्रकारके दरिद्र, दुःख, क्लेश तथा भयको हर कर मनुष्यको निर्भय तथा सुखी बनाता है और क्रमशः अभ्युदयके शिखरपर पहुँचा देता है।

आधुनिक सभ्यतामें अति व्यवसाय, अति व्यय नवीन २ पदार्थोंका संग्रह, अधिकाधिक नवीन २ वस्तुओंके प्राप्त करनेकी कामना, लक्ष्मीकी दासता और विषय-भोगोंकी लालसा साक्षात् दिखाई दे रही है। ऐसी दशामें स्वार्थ-

त्याग, दया, परोपकार, प्रेम, सतोष तथा स्थिरताको ठिकाना कहां ? आज संसार दुखसे पीड़ित है, दुनियांके बड़े-बड़े राष्ट्र स्थायी शान्ति स्थापित करनेके लिये उत्सुक हैं, अनेक राजनैतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवनको ऊँचा और सुखी बनानेकी जटिल समस्याएँ उनके सामने हैं, उनको वे हल करना चाहते है, पर उन्हें हल करनेका उपाय सूझता नही । भगवान महावीर-द्वारा प्रतिपादित अहिंसावाद, अनेकान्तवाद, साम्यवाद तथा कर्मवाद-द्वारा यह विश्वकी उलझनें सुलझाई जा सकती हैं। ये सिद्धांत सिखाते हैं कि ससारमें निर्भय निर्वैर रहकर शान्तिके साथ आप जियो और दूसरोको जीने दो, रागद्वेष अहंकार तथा अन्यायपर विजय प्राप्त करो और अनुचित भेदभावको त्यागकर सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि प्राप्त करके नय-प्रमाण-द्वारा एक दूसरेके दृष्टिकोणको समझकर सत्य-असत्यका निर्णय करो, विरोधका परिहार करो तथा स्वावलम्बी बनकर अपना हित और उत्कर्ष-साधना तथा दूसरोंके हितसाधनमें सहायता करना कराना सीखो। अपना उत्थान और अपना पतन अपने ही हाथमें है।

यह वीरशासनरूपी सर्वोदयतीर्थ बड़ा विशाल है, सबके लिये खुला है, इस तीर्थकी शरणमे आकर तथा इसकी उपासना करके अनेक पातकियोने अपनेको शुद्ध और पवित्र बनाया है, कितने ही दीनोंको उन्नत बनाया है, कितने ही दुराचारी कुमार्गको छोड़कर सन्मार्गपर आरूढ़ हो स्वतन्त्रतापूर्वक अपना आत्मकल्याण कर परमधामको प्राप्त हो चुके हैं। मनुष्यों और देवोंकी बात तो दरकिनार तिर्यंच तथा नारकी भी इस धर्मको धारण करके अपना कल्याण करते रहे है, और करेंगे। ऐसे अनेक उदाहरण हमारे जैनशास्त्रोंमें मिलते है। जैन शासन सिखाता है कि घृणा करो तो पापसे करो, पापीसे नहीं, पापीका तो उद्धार ही श्रेष्ठ है। महान पाप करनेवाला भी जैनधर्मको धारण कर त्रिलोकपूज्य हो सकता है; जैसा कि निम्न आदेशसे प्रकट है:—

> महापापप्रकर्ताऽपि प्राणी श्रीजैनधर्मतः ।
> भवेत् त्रैलोक्य-संपूज्यो धर्मात्किं भोः परं शुभम् ॥

अब देखना यह है कि हमारा कर्त्तव्य इस सर्वोदयतीर्थ-के प्रति क्या है? हमारा कर्त्तव्य इस समय यही है कि हम इस तीर्थसे स्वयं लाभ उठावें, दूसरोंको लाभ उठाने दें, उदारताके साथ इसका प्रचार करें, इसके प्रभाव-को देश-देशान्तरोंमें व्याप्त करें-करावें, इसके क्षेत्रको संकुचित न रहने देकर उतना ही विशाल, विस्तृत और सर्वोपयोगी बनावें जैसा कि वीर प्रभुके समयमें तथा बादको स्वामी समन्तभद्रके समयमें था। यह तीर्थ सबके लिये है— बालक, बूढा, युवा, धनवान-निर्धन, बलवान,निर्बल, सहाय-सहित-असहाय, रोगी-निरोगी, देशी-विदेशी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी २ शक्ति तथा योग्यतानुसार इस तीर्थका आश्रय लेकर अपना कल्याण कर सकता है।

बीत रही हैं अनुपम घड़ियां !

(श्री इन्दु जैन)

(१)

फँसा रहा दुनियादारीमें, हाय हाय में समय गमाया!
सुख की मृग-तृष्णामें दौड़ा, पकडी नश्वर-जगकी छाया!
खलके टूक विषय-सुख बदले, मैंने फेंकी मुक्ता लड़ियां!
खाने सोने और कमानेसे, क्षणभर अवकाश न पाया!
कनक-कामिनीके चक्करमें,कलह कपटकर अहित कमाया!
सुबह हुई और शाम आ गयी, बीत रही हैं अनुपम घड़ियां!

(२)

जगकी देखा देखी, भयसे, मन्दिरमें कुछ समय लगाया,
सत्य बात है लेकिन कुछ भी,नही हृदयमें तत्त्व समाया!
कोरम पूरा किया सदा ही, निजको ठगा जगत भरमाया,
कभी न सोचा गहराईसे, मैं हूं कौन कहांसे आया?
होकर सजग शीघ्र जोड़ो अब, विश्रंखल जीवनकी कड़ियाँ,
हाथ नही आयेंगी ये फिर, बीत रही है अनुपम घड़ियां!

(३)

महाश्रेष्ठ कर्मोंका फल है, सुर-दुर्लभ यह नरतन पाया,
सोचो ज़रा,किया क्या पाकर? जाति-राष्ट्रके काम न आया!
ना तो दिव्य-साधना द्वारा, अपनेहीका पता लगाया,
और न प्रभुके पाद-पद्ममें पड़ कर अतिशय-पुण्य कमाया!
कांच-खड-सम सुलभ न समझो,ये अमूल्य उपयोगी मणियाँ,
करना हो सो करले प्राणी, बीत रही है अनुपम घड़ियां!

उद्बोधन

(श्री चन्द्रभान जैन 'कमलेश')

कह रहे आचार्य तू है सिद्ध-सम ध्रुव और पावन ।

चौंक मत ! कुछ सोच तो जल उष्ण है जो जल रहे कर ।
किन्तु है शीतल स्वयंमें देख अंतर्दृष्टि देकर ॥
यदि न हो तो अग्नि हटते ही स्वयं क्यों शीत होता,
शान्ति पाता देख लो वह निज स्वभावी शान्ति पाकर ।
उष्ण है तो भी बुझा दे अग्निको यह शक्ति उसमें,
जल सदृश ही तू सदा है, था, रहेगा तरन तारन ॥१॥

अष्ट कर्मोंसे घिरा तू मानते ज्यो उष्ण है जल ।
किन्तु उसके शीत गुण-सम सिद्ध-सम तू भी विनिर्मल ॥
कर्ममलके दूर होते ही प्रकट होते सुगुण जो,
देख तेरा ही स्वधन वह मत उसे कहना करम-फल ।
ध्वंस करदे एक क्षणमें कर्मको वह शक्ति तुझमें,
भूल उसको तू भटकता व्यर्थ है क्यों भिक्षु वन-वन ॥२॥

पुण्य शुभ है औ' अशुभ है पाप, यह तो जानते तुम ।
और दोनों भेद आस्रवके इसे भी मानते तुम ॥
किन्तु आस्रव ही जगत है भूल क्या इसको गये जो,
पुण्य ही को धर्म कहकर पूर्णतः उसमें गये रम ।
धर्म तो निज आत्मपरिणति औ' शुभाशुभ है विभावज,
बस शुभाशुभ-मल-रहित तू है अचल चैतन्य पावन ॥३॥

और देखो यह जिनालय हो रहा है शास्त्र-प्रवचन ।
औ' इधर है नृत्य करती एक वेश्या नित्य बनठन ॥
देख सकते तुम युगल ही, किन्तु कब, जब छोडते घर,
आत्म-परिणति भूल त्यो होते शुभाशुभमे मगन मन ।
'घर सदृश सुख है कही नही' यह कहावत भूल बैठे,
लाख चौरासी भटकते बस इसीसे हो विकल-मन ॥४॥

यदि तुझे विश्वास हो तो तू स्वरूप सँभाल सकता ।
यदि न हो तो तू रहेगा सर्वदा संसार रुलता ॥
लक्ष्य जब जाना नही तो बोल छोड़ेगा कहां शर,
लक्ष्य से ही भ्रष्ट होकर तो रहा अब तक भटकता ।
है समय अब भी सँभालो भूल बैठे हो स्वधन जो,
बस स्वयं होगा प्रकट निजरूप जो जग-दुख-नसावन ॥५॥

है अतः आदेश छोड़ो पापकी सारी क्रियायें ।
शुभ करो पर देखना वह भी नही तुमको लुभायें ॥
जिन-भवन औ' नृत्यमें ज्यों भूलते न कभी स्वघरको,
भूलना मत आतमा त्यों जब करो वे शुभ क्रियायें ।
जानता है जो स्वघर वह पहुँच ही लेगा स्वघरको,
वह स्वघर तेरा तुझीमें तू स्वयं चैतन्य पावन ॥६॥

कह रहे आचार्य तू है सिद्ध-सम ध्रुव और पावन ॥

मोहनजोदड़ो-कालीन और आधुनिक जैन-संस्कृति

(श्री बाबू जयभगवान बी. ए., एडवोकेट)

यद्यपि मथुराकी कला और मोहनजोदडोकी कलाकी उपयुक्त विधिसे तुलना करनेपर दोनोंमें बहुत बड़ी समानता दिखाई पडती है तो भी दोनो कलाओमें ३००० वर्षका अन्तर होनेके कारण प्रश्न हो सकता है कि जब तक हम दोनों युगोंकी संस्कृतियोंमें एक शृङ्खलाबद्ध सम्बन्ध स्थापित न कर सकें, तब तक हम कैसे इन दोनोंको एक ही श्रमण-संस्कृतिसे सम्बोधित कर सकते है ?

पुरातात्त्विक प्रमाण—

इसमें संदेह नहीं कि जहां तक अब तककी प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्रीका सवाल है, उसके आधारपर हम इन दोनों युगोंके बीच एक अक्षुण्ण धाराकी स्थापना अभी तक नही कर पाये है।

इस अभावके कई कारण है—प्रथम तो प्राचीनकालसे समय-समयपर जो अनेक आक्रमणकारी विद्रोही लोग भारतमें आते रहे है, उन्होंने अपने सांस्कृतिक विद्वेषके कारण मन्दिर और मूर्त्तियोंको तोड़-फोड़कर भारतकी प्राचीनकलाका बहुत विध्वंस किया है। दूसरे, प्राकृतिक उपद्रव और राज्यविप्लवोंके कारण भी बहुत-सी रचनाएं छिन्न-भिन्न होकर भूगर्भमे दब गई है। तीसरे, मध्यकालीन और आधुनिक युगोंमें प्रलोभी लोगोंने इन पुराने सास्कृतिक केन्द्रोंकी सामग्री जड़-मूलसे निकाल कर अपनी-अपनी नयी बस्तिया बसाने और मकान अथवा देवालय बनानेमें खर्च कर ली है। चौथे, प्राचीनकाल-में लकडी और मिट्टीकी मूर्तियां बनानेकी जो प्रथा प्रचलित थी वह भी इस अभावकी बहुत उत्तरदायी है। पांचवें, बहुत-सी जैन मूर्तियां और जैन-कलाके अवशेष अन्य मतावलम्बियोके हाथोमे पड़कर आज उन्हीकी सम्पत्ति बन गये है और वे आज उन्हींके दिये हुए नामोंसे प्रसिद्ध है।

इस सम्बन्धमें यह बात भी ध्यान रखने योग्य है, कि पुराने सांस्कृतिक केन्द्रोंको खोद-खोद कर पुरातात्त्विक वस्तुओं-को निकालने अथवा इधर-उधर बिखरे हुए मूर्ति-खंडोको सग्रह करनेकी आयोजना एक नयी आयोजना है, जो लार्ड कर्जनके जमानेसे आरम्भ हुई है। इस आयोजनामें सरकारी महकमेके सिवाय अन्य गवेषकोंने अभी तक बहुत कम भाग लिया है। इस परसे हम कह सकते है कि इस थोड़ेसे कालमें थोड़ेसे परिश्रम-द्वारा जो कुछ खोज आजतक हो सकी है, भारत देशकी विशालता और इसकी सभ्यताकी प्राचीनताको देखते हुए बहुत ही नगण्य है। अभी भारतके बहुतसे पुराने सभ्यता-केन्द्र, जो नदियों और झीलोके आसपास बसे हुए थे, खोजने बाकी है। अभी खोजे हुए क्षेत्रोंके भी निचले स्तर देखने बाकी हैं। इसलिये मौजूदा अभावपरसे यह नही कहा जा सकता कि मथुरा और मोहनजोदड़ोकी उपर्युक्त कलाओंके अन्तर्कालीन युगके कोई पुरातात्त्विक अवशेष भूगर्भमे मौजूद नही है।

अभी १९३७ में ही पटना जंक्शनके एक मील दूरीपर लोहिनपुरसे जो चमकदार पालिशवाले दो जैन मूर्त्ति-खंड[1]

---

[1] Patna Museum
Neg No 963—Arch No 8038
Neg No 962—Arch No 8038

मिले हैं, वे डा. जायसवालके मत-अनुसार आरम्भिक मौर्य्यकालके लगभग ३०० ई० पू० के है, कलाकी दृष्टिसे ये बहुत ही सुन्दर और वास्तविक है; ये उपलब्ध जैन मूर्तियोंमें अथवा भारतकी समस्त ज्ञात पाषाण-मूर्तियोंमें, जो ऐतिहासिक युगमें पूजार्थ निर्मित सिद्ध हुई हैं, सबसे प्राचीन हैं। उनका यह भी मत है कि ये हड़प्पासे प्राप्त कायोत्सर्ग मूर्ति-खण्डके बहुत कुछ सदृश हैं[1]।

शिलालेखोंके प्रमाण—

पुरातात्त्विक प्रमाणके अतिरिक्त पुराने शिलालेख और दानपत्रकी साक्षी भी उक्त विषय-निर्धारणमें कुछ कम महत्त्वकी वस्तु नहीं है। कलिंगाधिपति सम्राट् खारवेलके १६० ई० पू० वाले हाथी गुफा शिलालेखसे[2] विदित है कि शिशुनागवंशी नन्दवर्धनके जमानेमें अर्थात् ४६० ई. पूर्वमें कलिंग और मगधदेशके लोग भगवान ऋषभ देवकी मूर्त्तियोंको पूजते थे।

इस विषयमें प्रभास-पाटन-वाला प्राचीन ताम्रपत्र भी, जो प० हरिशंकर शास्त्रीको एक ब्राह्मणके पाससे मिला था, और जिसको कई सालके लगातार परिश्रमके बाद हिंदू विश्वविद्यालयके प्रोफेसर डा. प्राणनाथने पढ़कर अनुवादित किया है, बहुत महत्त्वकी वस्तु है। यह अनुवाद "The Illustrated Weekly of India" के १४ अप्रैल १९३५ वाले अंकमें प्रकाशित हुआ है। उससे विदित है कि सुराष्ट्र 'काठियावाड' के जूनागढनगरके निकटवर्ती रैवनक गिरनार पर्वतपर स्थित जैनियोके २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमिकी मूर्तिकी पूजार्थ वेबीलोन देशके अधिपति नेवुचन्दनेजर प्रथमने ११४० ई. पूर्वके निकट अथवा नेवुचन्दनेजर द्वितीयने ६०४-५६१ ई० पूर्वके लगभग अर्थात् भगवान महावीर के कालमें अपने देशकी उस आमदनीको जो नाविकोंसे कर-द्वारा प्राप्त होती थी प्रदान की थी।

पौराणिक आख्यान और अनुश्रुतियाँ—

इस स्थलपर यह बतला देना आवश्यक है, कि वह 'सुराष्ट्र' देश जिसके रैवतक पर्वतपर स्थित नेमिनाथकी मूर्तिके लिये वेबीलोनियाके अधिपति ने वुचन्दनेजरने दानपत्र लिखा था और वह 'सिंधु' देश जिसके पुराने नगर 'मोहनजोदडो'-से योगियोंकी मूर्तियां प्राप्त हुई है, दोनों पश्चिम सागरके तटवर्ती देश है। पश्चिमी सागरके उपर्युक्त देश और पूर्वी-सागरके मगध (बगाल व बिहार) और कलिंग (उडीसा) देश भारतीय अनुश्रुतिके अनुसार सदासे 'व्रात्य' अथवा 'श्रमण' संस्कृतिके केन्द्र रहे हैं।

किसी देशके प्राचीन ऐतिहासिक तथ्योंका पता लगानेके लिये उस देशके पौराणिक आख्यान अनुश्रुतियां ही महत्वशाली प्रमाण होते है; इनके द्वारा ही मनुष्यने अपने अतीत युगोंके ऐतिहासिक तथ्योंको जीवित रखा है। इस विषयपर प्रकाश डालनेवाली जैन और वैदिक अनुश्रुतियां पर्याप्त मात्रामें आज भी मौजूद है।

जैन अनुश्रुतियां—

जैनियोंकी अनुश्रुति तो इस सम्बन्धमें प्रसिद्ध ही है। उनकी मान्यताके अनुसार पूर्वके मगध, अग, बंग, लाट, कलिग, विदेह (तिरहुत) आदि देश; पच्छिमके सुराष्ट्र (काठियावाड़), शत्रुंजय, आनर्त्त (गुजरात), सिंधु, सौवीर (सिंधका उत्तरीय भाग), आदि देश; उत्तरके कैलाश, हिमांचल प्रदेश, आरट (पंजाब), मद्र (रावी और चनाब नदियोंका मध्यवर्ती भाग), आदि देश; मध्यके पंचाल (रुहेलखंड), काशी, कोशल, वत्स (प्रयाग निकटवर्ती देश), चेदी (बुन्देलखंड), अहिच्छेत्र (बरेली), मथुरा, शौरीपुर, मत्स्य (राजपूताना), कुरूजांगल, हस्तिनागपुर, आदि देश; दक्षिणके आंध्र, करनाटक, आदि

१ The Jain Antiquary 1937—pp. 17, 18

२ Archeological Survey of India—New Imperial Series, Vol. L I—Bihar and Orissa, 1931—P P. 264-269.

देश; सब ही तीर्थंकरो और उनके तीर्थकालीन अगणित श्रमण सन्तोंके जन्म तप, ज्ञान, पर्यटन और निर्वाणसे सम्बन्धित होनेके कारण तीर्थक्षेत्रों और अतिशय क्षेत्रोंसे भरपूर है[१]।

परन्तु इन सबमें पूर्वका मगध देश और पश्चिमका सुराष्ट्र देश तो बहुत ही माननीय हैं। चूंकि मगध देश अधिकांश तीर्थंकरोंकी जन्मभूमि होनेके अलावा अधिकांश तीर्थंकरोंकी निर्वाणभूमि भी रहा है। इसी देशमें सम्मेद शिखर, चम्पा और पावा आदि प्रसिद्ध तीर्थस्थान विद्यमान है, जहांसे पार्श्वनाथ, वासुपूज्य और महावीर आदि २२ तीर्थंकरोंने निर्वाण प्राप्त किया है। इसी देशमें सूर्यवंशी दशरथके ५०० पुत्र और पौत्र आदि वंशजोंने कलिंग देशस्थ कोटशिलासे मोक्ष प्राप्त किया है। श्रीरामके दोनों पुत्र लव और कुश तथा अन्य अनेक सूर्यवंशीजनोंने पावागिरि (बिहार) से निर्वाण हासिल किया है। वरदत्त, वरांग और सागरदत्त आदि सोरठके अनेक प्रसिद्ध मुनियोंने तारपुर जिला वीरभूमि (बिहार) से मोक्ष हासिल किया है।

इनके अतिरिक्त राजगृहीके निकट पंचशैल पर्वत[२]की कुंडल गिरि अथवा पांडुकगिरि, वैभारगिरि, ऋष्याद्रि, विपुलाचल और बलाहकगिरि नामवाली पांचों पहाड़ियोंपरसे तथा द्रोणगिरि (मध्यप्रान्त सागरसे ६० मील), विन्ध्याचल, पोदनपुर (दक्षिणमें गोदावरी नदीपर स्थित एक नगर जो प्राचीनकालमें अस्मक देशकी राजधानी थी)[३] वृषदीपक (संभवतः ऋषभ पर्वत जो दक्षिणके मदुरा जिलेमें मलयपर्वतके उत्तरीय भागमें स्थित है)[४] सह्याचल (कावेरी नदीके उत्तर-में पच्छिमी घाटका उत्तरीय भाग)[५] हिमवान, आदि स्थानोंपरसे भी असख्य योगियोंने तपस्या द्वारा शिवपदकी प्राप्ति की है।[६]

पश्चिमके सुराष्ट्र देशमें जैनियोंके प्रसिद्ध तीर्थ रैवतक पर्वत (गिरनार पर्वत) तथा शत्रुंजय स्थित है, यहांसे २२ वें तीर्थंकर अरिष्ट नेमि और अनेक यादव और कुरुवंशीय महापुरुषोने निर्वाण प्राप्त किया है। भगवान कृष्णके पुत्र प्रद्युम्न, शम्भुकुमार अनिरुद्ध आदि अनेक यादव वंशियोने गिरिनार पर्वतसे मोक्ष हासिल किया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तीन पांडव राजाओं और अगणित द्राविड़ जातिके महापुरुषोंने सुराष्ट्र देशस्थ शत्रुंजय गिरिसे निर्वाण प्राप्त किया। बलभद्र

---

१. (अ) निर्वाण-भक्ति, पूज्यपाद-देवनन्दी (विक्रमकी छठी सदी)।
(आ) प्राकृत निर्वाण काड।
(इ) उदयकीर्ति-कृत अपभ्रंश भाषाकी निर्वाणभक्ति।
(ई) स्वयम्भू-स्तोत्र, समन्तभद्र (विक्रमकी दूसरी-तीसरी सदी)।
(उ) शासन चतुस्त्रिंशिका, मदनकीर्तिकृत (ईसाकी १३ वी सदी)।
(ऊ) विविध तीर्थकल्प-जिनप्रभसूरि कृत (ईसाकी १४ वी सदी)।
(ए) प्रो. जगदीशचन्द्र M. A., Ph. D. कृत 'जैन ग्रंथोंमें भौगोलिक सामग्री और जैन धर्मका प्रसार' —प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ १९४४ पृ. २५१-२६८।

२. जैन और बौद्ध लोगोंमें इस पंचशैल पर्वतकी पांचों गिरि भगवान बुद्ध और भगवान महावीर एवं उनके साधु-साध्वी संघोंके सम्पर्कमे रहनेके कारण बहुत ही पूज्य मानी जाती है। बौद्ध साहित्यमें उक्त पांचों गिरि पांडव वैभार, वेपुल्ल इसिगिलि और गृद्धकूटके नामोंसे प्रसिद्ध है। हिंदू ग्रंथोंमें ऋष्याद्रि ऋषिशृंगादिके नामसे प्रसिद्ध हैं।

३. NandLal Dey—Geographical Dictionary 1927 P. 12.

४. Nand Lal Dey वही पृ० 169

५. „ „ वही पृ० 171

६. पूज्यपाद देवनन्दी-निर्वाणभक्ति "श्लोक २९,३०"।

आदि अनेक यादवोंने गजपन्था (जिला नासिक) से निर्वाण पाया है। श्री राम अथवा हनुमान, सुग्रीव, सुडील, गवय, गवाक्ष, नील, महानील आदि अनेक बानर वंशी तुंगिगिरि (जिला नासिक) से मोक्ष गये है। अंग-अनंग कुमार आदि अनेक मुनियोंने सोनागिरि अथवा श्रमणगिरि (दतिया रियासत-मध्यभारत) से निर्वाण पाया है। रावणके आदिकुमार आदि पुत्र और अन्य अनेक राक्षस वंशी महापुरुषोंने रेवानदी (नर्वदा) के तटसे निर्वाण पाया है। नर्वदा नदीके पश्चिममें स्थित सिद्धवरकूटसे दो चक्रवर्ती, दश कामकुमार आदि मोक्षको गये हैं। मध्य भारत स्थित बड़वानी और चूलगिरि (मऊ छावनीसे ८० मील) से इंद्रजीत कुंभकरण आदि राक्षसवंशी अनेक महापुरुष मोक्षको गये है।[१]

इस अनुश्रुतिकी पुष्टिमें कितने ही स्वतन्त्र प्रमाण भी मौजूद हैं। इस सम्बन्धमें अजमेर जिलेके बडली ग्रामसे प्राप्त होनेवाला शिला-लेख[२] जो राजपूताना संग्रहालय अजमेरमें सुरक्षित है, बड़े महत्त्वकी वस्तु है, यह भारतवर्षके प्राचीनतम उपलब्ध होनेवाले शिलालेखोंमेंसे एक है। इसमें वीर सम्वत् ८४ अर्थात् ईस्वी पूर्व ४४३ का एक अभिलेख है, इस लेखसे सिद्ध है कि दक्खन पूर्व राजपूताने तथा पच्छिम भारतमें जैनधर्म प्राचीनकालसे प्रचलित रहा है।[३] परन्तु मोहनजोदड़ोकी श्रमनकलाका पूर्ण मूल्य आंकनेके लिये और श्रमण संस्कृतिसे उसकी तुलना सार्थिक बनानेके लिये जरूरी है कि पहले भारतीय सहित्य आख्यान और अनुश्रुतियोंपरसे भारतीय प्राचीन सभ्यता और संस्कृतिका एक विहंगावलोकन कर लिया जावे।

जैन-संस्कृतिका विस्तार और प्रभाव—

जैन संस्कृति श्रमण-संस्कृतिकी अन्य शाखाओंके समान ही भारतकी मौलिक प्राचीन संस्कृति है। यह भारतभूमि और इसके वातावरणकी स्वाभाविक उपज है, यह इसकी सामाजिक प्रगति और मानसिक विकासकी पराकाष्ठा है, इसी लिये यह सदासे भारतके कोने-कोनेमें फैलती-फूलती रही है, इसका अन्दाजा इसी बातसे लगाया जा सकता है कि भारत-का कोई प्रान्त ऐसा नहीं है जहां जैनियोंके माननीय तीर्थस्थान और अतिशय क्षेत्र मौजूद न हों। ये तीर्थस्थान उत्तरमें कैलाश पर्वतसे लेकर दक्षिणमें कर्णाटक तक और पच्छिममें गिरिनार पर्वतसे लेकर पूर्वमें सम्मेद शिखर तक सब ही दिशाओंमें फैले हुए हैं। ये बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बुन्देलखंड, अवध, रोहेलखंड, देहली, हस्तिनागपुर, मथुरा, बनारस संयुक्त प्रान्त, मध्य-प्रान्त, राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़, बरार, बड़ौदा, मैसूर और हैदराबाद आदिके सब ही इलाकोंमें मौजूद है। हर साल लाखों यात्री इनकी पूजा-वन्दना करनेके लिये लगातार आते रहते है। इसके अतिरिक्त जैनी लोग आज तक इन तीर्थस्थानोंकी जहांसे तीर्थंकरों अथवा भारतके नागवंशी, राक्षसवंशी, बानरवंशी, सूर्यवंशी, चन्द्रवशी, यादववंशी प्रभृति भारतकी अनेक प्राचीन क्षत्रिय जातियोंके महापुरुषोंने अपनी कठोर त्याग-तपस्या और ध्यान-साधना-द्वारा निर्वाण-प्राप्त किया है, नित्य प्रति अपने मन्दिरोंमें पूजा-पाठके समय स्तुति-वन्दना करते रहते हैं।

इन तीर्थस्थानों तथा इनसे मुक्ति प्राप्त महापुरुषों-सम्बन्धी गाथा, स्तोत्र, काव्य, चम्पू चरितपुराण आदिके रूपमें एक विपुल साहित्य जैन-वाङ्मय में मौजूद है। इन परसे पता चलता है कि श्रमण-संस्कृति कितनी विशाल और प्राचीन है।

---

१. (क) निर्वाणभक्ति पूज्यपाद देवनन्दी (विक्रमकी छटी सदी).
   (ख) (प्राकृत) निर्वाणकांड—; उदयकीर्ति कृत अपभ्रन्श निर्वाणभक्ति।
   (ग) स्वम्भूस्तोत्र—समन्तभद्र (विक्रमकी तीसरी सदी)।
   (घ) शासनचतुस्त्रिंशिका—मदनकीर्ति (ईसाकी १३ वीं सदी)।
   (च) विविध तीर्थ कल्प, जिनप्रभसूरिकृत (ईसाकी १४ वीं सदी)।

२. गौरीशंकर ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ. २,३।

३. जयचन्द विद्यालंकार—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा—जिल्द १ पृ. ४९३—४९४।

वास्तवमें श्रमण-संस्कृतिके जन्मदाता भारतके क्षत्रिय जन हैं, यही कारण है कि भारतके सभी अवतार क्षत्रिय कुलीन महापुरुष ही है।

प्रागेतिहासिककालसे लेकर भारतके सभी देशोंके क्षत्रिय लोग जहां युवावस्थामें शारीरिक पराक्रमसे ऐहिक शत्रुओंको जीत, भूमंडलके अधिपति बनते थे, वहा वे अन्तिम जीवनमें इन्द्रिय भोग, बन्धुजन और राज्य-वैभवको छोड़ तपः पराक्रमसे अन्तः शत्रुओंको जीतकर जिन शिव अरिहन्त और विश्वपति बन जाते थे। वे अपने आदर्श और उपदेश-द्वारा अगणित भव्य-जनोंको संसार-सागरसे पार उतारनेके कारण तीर्थंकर, अवतार बन जाते थे।

भारतीय साहित्यमें क्षत्रियोंकी महिमाका बखान—

इन क्षत्रियोंकी उक्त जीवन-वृत्तिको ही लक्ष्य करके श्री समन्तभद्राचार्यने तीर्थंकर शान्तिनाथ (चक्रवर्ती) के सम्बन्ध में कहा है :—

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं, मुनौ दया-दीधिति-धर्मचक्रम्।
पूज्ये मुहः प्रांजलि देवचक्रं, ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ॥७९॥ (स्वयम्भूस्तोत्र)

अर्थात्—राज्यावस्थामें राजा लोग उसके आश्रित हुए, मुनि अवस्था धारण करनेपर दयारूप किरणोंवाला धर्मचक्र उसके आश्रित हुआ, केवलज्ञानकी उत्पत्ति होकर अर्हत्पूज्य बननेपर देवगण उसके आगे हाथ जोड़े खड़े रहे और ध्यानकी अवस्थामें कर्मचक्र ध्वस्त होकर उसके आश्रित हो गया।

इसी भावको ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदोंमें इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

(अ) **तस्मात् क्षत्रात्पर नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्त राजसूये, क्षत्र एव तद्यशो दधाति, सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म,**—वृह. उप. १.४.११—शत. ब्राह्मण १४.४.२ २३

अर्थ—क्षत्रियसे कोई बड़ा नही है, इसीलिये राजसूय यज्ञमें ब्राह्मण भी नीचे बैठकर क्षत्रियकी उपासना करता है, राजसूय यज्ञका यश क्षत्रिय ही धारण करता है, जिसको ब्रह्मविद्या कहा जाता है, वास्तवमें उसीसे क्षात्रधर्मकी उत्पत्ति हुई है—अर्थात् क्षत्रियोकी जीवनचर्य्याका आधार ब्रह्मविद्या है।

(आ) शत. ब्रा. १४.१४.११ में कहा है कि युगकी आदिमें एक ही प्रकारकी जनता थी, इसलिये लोककी उन्नति न हो सकी, ब्रह्माने लोक-कल्याणार्थ प्रथम क्षत्रिय वर्गको ही पैदा किया था, (दुनियाके जितने भी पूजनीय देवता) इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान आदि हुए है, वे सब क्षत्रिय ही थे।

(इ) **"स नैव व्यभवत्, तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत् धर्मम्, तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं सद्धर्मस्तस्माद्धर्मात् परं नास्ति, अथो अबलीयान् बलीयांस समा शंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्"** वृह. उप. १.४.१४.।

अर्थ—तीनों (क्षात्र, वैश्य, शूद्र) वर्णकी व्यवस्था करनेपर भी जब लोकका कल्याण न हुआ तब कल्याणात्मक धर्म-मार्गको पैदा किया गया, वह कल्याणात्मक धर्म-मार्ग क्षत्रियों का ही विशेष मार्ग था, उस धर्म-मार्गसे बड़ा और कोई मार्ग जीवनकल्याणके लिये नही है, चूंकि जैसे राजा द्वारा शत्रु जीते जाते हैं, वैसे ही इस धर्म-द्वारा निर्बल जन भी बलिष्ठ अन्तः शत्रुओंको विजय कर लेते है।

(ई) अथर्ववेदमें इन क्षत्रिय व्रात्योंका उल्लेख करते हुए कहा है:—

सोऽरज्यत् ततो राजन्योऽजायत ॥१॥

स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठित् ॥२॥

विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति यः एवं वेद—अथर्व काण्ड १५, सूक्त ८.।

अर्थ—वह समस्त बन्धुवर्ग और सम्बन्धियों सहित समस्त योगों और इंद्रिय विषयोंसे ऊपर उठ गया—विरक्त हो गया ॥२॥ वह रज (मोह माया, इच्छा, कामना रूप आत्म-मल) को दूर करके विशुद्ध हो गया, इस कारण उसने अपने में राजन्य (स्वराज्य) को उपजा लिया अर्थात् वह सर्वज्ञ हो गया ॥१॥ जो इस तरह व्रात्यके स्वरूपका साक्षात् करता है वह समस्त बन्धु सहित जगका, भोगोंका प्रिय धाम हो जाता है ॥३॥

इस जैन अनुश्रुतिकी सत्यता रामायण और महाभारत आदि सर्वमान्य ग्रंथोंसे भी भली भांति सिद्ध है। रामायण उत्तर कांड सर्ग २७-२९ में कहा है कि श्रीरामने लव और कुशको राज्य भार सोंप शत्रुघ्न, भरत और पुरवासियोंके साथ घरसे निकल सरयू नदीपर पहुंच, वहां समाधिस्थ हो परमधामको प्राप्त किया। पुनः रघुवंश ग्रंथमें महाकवि कालिदासने कहा है कि 'जब अपने-अपने समस्त प्रतिद्वंद्वी राजाओको युद्धमें जीत लिया तथा इदुमतीको स्वयंवरमें प्राप्त कर लिया तब रघुने अपने परिवार तथा राज्यका भार उसके कन्धोंपर डाल शान्तिमार्गका आश्रय लिया; क्योंकि उत्तराधिकारीके योग्य हो जानेपर सूर्यवंशीलोग कभी घरमें पड़े नही रहते। इसी प्रकार महाकवि दिग्नाग अपनी कुंदमाला नाटिकामें कहते हैं:—

आनाकमेकधनुषा भुवनं विजित्य *पुर्ण्यैविबः क्रतुशतैविरचय्य मार्गम्।
इक्ष्वाकवः सुतनिवेशितराज्यभारा निश्रेयसाय वनमेतदुपाश्रयन्ते ॥—कुन्दमाला ४.५.

अर्थात् 'केवल एक धनुषके बलपर भूमंडल अपनाकर, सौ यज्ञोसे मार्ग स्वर्गका सुन्दर सरस बनाकर।
रघुवंशी दे भुवनभार पुत्रोंको चौथेपनमें, मोक्ष-सिद्धिके लिये सदासे आते हैं इस वनमें॥'

इसी प्रकार महाभारत, आदिपर्व अध्याय १०१ में बतलाया गया है कि राजा शान्तनु, जिनसे कौरव वंशका इतिहास तथा उसकी गुण-गाथा शुरू होती है; बड़े धर्मशील राजा थे। पूर्ण अहिंसक थे, उनके राज्यमें शिकार तक मना था, उन्होंने ३६ वर्षकी आयुमें गृहस्थ-सुखोंको छोड़ सन्यासमार्ग ग्रहण कर लिया था। उनके बड़े भाई देवार्य तो उनसे भी पहले सन्यासी हो गये थे।

पुनः महाभारत-आश्रम वासिका पर्व १५ वें और १६ वें अध्यायमें बतलाया गया है कि महाभारत युद्धके १५ वर्ष बाद धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती, संजय, विदुर सहित राजमहलको छोड़ वनमें जा तप करने लगे।

पुनः महाभारत—१७ वां पर्व (महाप्रस्थान पर्व) के पहले अध्यायमे कहा गया है कि महाराज युधिष्ठर परीक्षितको राज्यभार सोंप कर द्रोपदी और अपने भाइयों सहित तपस्यार्थ हिमालयमे चले गये।

पुनः महाकवि कालिदास अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकमें पुरुवंशी दुष्यन्तसे यों कहलाते हैं.—

भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहा भवन्ति तेषाम् ॥ ७-२०

अर्थात्—पुरुवंशी क्षत्रियोंका यही कुल-कर्त्तव्य है कि हम जो पहले पृथ्वी पालनार्थ इंद्रिय सुखोंसे भरपूर राजमहलों में निवास करते हैं, वे ही पीछेसे यतिव्रत धारण करके वनोंमें जा तरुमूलको ही अपना घर बनाते हैं।

वैदिक अनुश्रुतयां—

पूर्वमें मगध देश और पच्छिममें गान्धार (पेशावर), आरट्ट (पंजाब) मद्र, खस (दक्षिणी कश्मीर), सुराष्ट्र (काठियावाड़) आनर्द (गुजरात) सिन्धु, सौवीर (सिन्धु प्रदेशका उत्तरीय भाग)[1] ये देश श्रमण-संस्कृतिके बड़े केन्द्र थे; इस बातसे भी सिद्ध है कि पीछेसे सांस्कृतिक विषमता बढ़ जानेके कारण श्रौत्रसूत्र और स्मृति-लेखकोने ब्राह्मणोंके लिए इन देशोंमें आना-जाना वर्जनीय ठहराया है।

---

१ Nand Lal Dey Geographical Dictionary 1927 P. 183.

कात्यायन श्रौत्र सूत्र ८, ६, २८, तथा लाह्यायन श्रौत्र सूत्र २५, ४, २२ में लिखा है कि व्रात्यस्तोमके बाद (अर्थात् उस अनुष्ठानके बाद जिसके द्वारा एक व्रात्यको शुद्ध करके ब्राह्मणिक संघमें सम्मिलित किया जाता था) व्रात्यका तमाम घरेलू सामान मगध देशके किसी ब्रह्मबन्धुको (अर्थात् नाममात्रके उस ब्राह्मणको जो ब्राह्मण धर्मको छोड़कर श्रमण संस्कृति-को अपनाने लग गया है) दे दिया जावे। इससे विदित है कि मगधके ब्राह्मण लोग व्रात्योंके पुरोहित हो जानेके कारण वैदिक ब्राह्मणोंमें घृणाकी दृष्टिसे देखे जाते थे।

इसके अतिरिक्त बौधायण-धर्मसूत्र १. १ ३२–३३ मे कहा गया है कि मगध, अंग, वंग, कलिंग, सुराष्ट्र, आरट (पंजाब) सिन्धु सौवीर (सिन्धु देशका उत्तरीय भाग) अथवा कारस्कर (कर्णाटक देशका कारकल जिला)[1] में संकर जातियोंके लोग अर्थात् व्रात्य लोग रहते हैं इसलिये इन देशोमे किसीको यात्रा नही करनी चाहिये, जो इन देशोकी यात्रा करेगा उसे दोबारा शुद्ध होनेके लिए नरस्तोम नामका अनुष्ठान करना होगा।

इसी प्रकार देवल स्मृतिकारका मत है (इसके लिये देखें—याज्ञवल्क स्मृति ३. २९२ पर ईशाकी १२ शताब्दीकी विज्ञानेश्वरकृत टीका) कि जो कोई सिन्धु, सौवीर, सुराष्ट्र, अंग, वंग, कलिंग, आन्ध्र देशों की यात्रा करेगा उसे पुनः शुद्धिके लिए पुनरस्तोमका विधान करना जरूरी है।

इसी प्रकार हिजरी सन् ३७५ (ईस्वी ९८३) के अरब लेखक मुतहाहिरने, जो भारतमें यात्रार्थ आया था, अपनी 'किताबुलविदसवत्तारीख' नामकी पुस्तकमें ब्राह्मणोके सम्बन्धमें लिखा है कि ये लोग गौकी पूजा करते हैं और गंगाके उस पार जाना पाप समझते हैं[2]।

उक्त देशोंमें यात्रा करनेकी मनाई ब्राह्मण स्मृतिकारोंने जिन कारणोंके वश की है उनका कुछ परिचय हमें महाभारत कर्ण पर्व अध्याय ४५ में मिलता है। इसमे लिखा है कि 'आरट्ट (पंजाब)[3] देशके निवासी वाह्लीक लोग जो प्रजापतिकी सन्तान नही है तथा इस देशके नीच ब्राह्मण जो यहा प्रजापतिके समयसे रहते है, न तो वेदोंका पाठ करते हैं और न यज्ञ ही करते है। इन नीच व्रात्योंकी दी हुई कोई हवि देवताओंको नही पहुंचती, मद्र (रावी और चनाव नादियोंका मध्यवर्ती-देश)[4] गान्धार आरट्ट (पंजाब) खस (कश्मीरका दक्षिणी भाग)[5] सिन्धु, सौवीर (सिन्धुदेशका उत्तरीय भाग) के निवासी अधिकतर नीच हैं।

इसी तरह पूर्वी देशोंकी सांस्कृतिक विषमताका परिचय एतरेय आरण्यकसे भी मिलता है जो इस प्रकार है:—

तदुक्तमृषिणा—

> प्रजाहं तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे।
> बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेशेति ॥
>
> ऋ० ८, १०१, १४

ऋग्वेदकी इस ऋचाका अर्थ एतरेय आरण्यकमें (आरण्यक २ अध्याय १) इस प्रकार किया गया है "प्रजाहं तिस्रोअत्यायमीयु रिति या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रो अत्यायमायं स्तानीमानि वयासि वंगावगधाश्चेरपादाः" उक्त वाक्योका अर्थ सम्बन्धी टीका टिप्पण करते हुए जैसा कि स्व० धर्मानन्द कोशाम्बीने अपने "भारतीय संस्कृति और अहिंसा" नामक हिन्दी ग्रन्थके पृष्ठ ३६ पर लिखा है वाक्योंका "वंगावगधा श्चेरपादा" यह पाठ दोषपूर्ण है, इसका मूल पाठ "वंगा मगधाश्चेर-

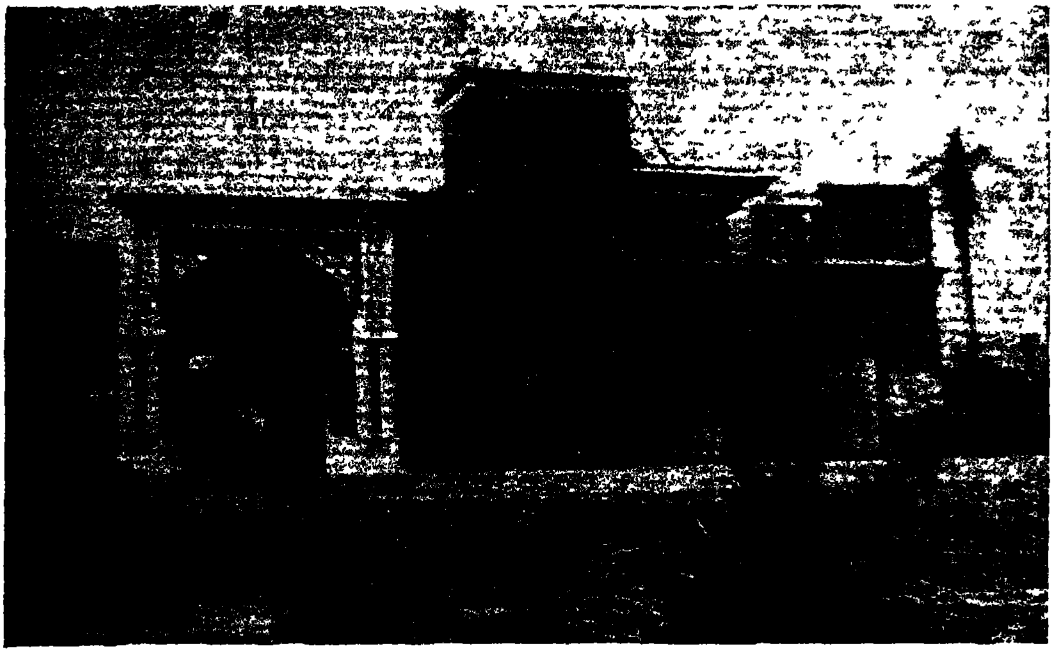
---

१ Nand Lal Dey वही भौगोलिक कोश पृष्ठ ९३।
२ Nand Lal Dey Geographical Dictionary (92)
३ ,, ,, ,, ,, ,,
४ ,, ,, ,, ,, ,,
५ मौलाना सुलेमान नदवी—अरब और भारत के सम्बन्ध १९३०, १७३।

पादा" होना चाहिये। उपर्युक्त अशुद्धिके रहते हुए सायणाचार्यने जो अर्थ किया है वह बहुत ही विचित्र है—तीन प्रजा श्रद्धा रहित हो गईं अर्थात् वैदिक कर्मोसे उनका विश्वास उठ गया—वे तीन प्रजा यह है वयांसि अर्थात् कौवे इत्यादि पक्षी वंगा अर्थात् अरण्यगत वृक्ष, अवगधा अर्थात् चावल जौ आदि अन्न चेरपादा अर्थात् बिलमें रहने वाले सर्प इत्यादि जन्तु ये सब वैदिक कर्मोका त्याग करनेसे नरकका अनुभव करते हैं।" पाठ शुद्धि होनेपर उक्त वाक्योंका स्पष्ट अर्थ यह है कि तीन प्रजा श्रद्धा रहित हो गईं अर्थात् वैदिक कर्मोसे इनकी निष्ठा उठ गई वे तीन प्रजा यह हैं—वंगा अर्थात् मगधके पूर्वीय देशोंके रहने वाले, मगधा अर्थात् मंगध देशके रहनेवाले और चेरपादा अर्थात् वज्जी देशके रहनेवाले वज्जीगण–लिच्छिवि क्षत्रिय वज्जी शब्द वृजिनः (घुमक्कड़) से बना है और चेर या चेल धातु भी गतिका निर्देशक है, इसलिये चेरपादा शब्द वज्जिन लोगोंका द्योतक है।

इन प्रमाणोंके अतिरिक्त अथर्ववेद, काण्ड ५, सूक्त २२, मन्त्र ५–१४ से भी सिद्ध है कि पंजाब, गान्धार, अंग, वंग, मगधमें अवैदिक लोग बसे हुए थे, जिनसे वैदिक आर्यजन सास्कृतिक विभिन्नताके कारण विद्वेष करते थे।[1] चूंकि इस सूत्र में ज्वर निवृत्तिके अर्थ यह भावना की गई है कि हम अपने ज्वरको एक नौकरके समान, एक कोशके समान, गन्धार (पेशावर) मूजवन्त (दक्षिणी कश्मीर), अंग (पश्चिमी बिहार) और मगधके निवासियोको दे देवें।

★



वीरसेवामन्दिर सरसावा का उत्तरद्वार

१ "गान्धारिभ्यो मूजवद्भ्यो मगधेभ्यः ।
"प्रैष्यत् जनमिव शेवधिं तक्मानं परिदद्मसि ॥" अथर्ववेद ५. २२. १४.

भगवान महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ

[पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

भारतीय धर्मप्रवर्तक महात्माओं में भगवान महावीर-का महत्वपूर्ण स्थान है। उनका जीवन आध्यात्मिक विशेष-ताओंसे परिपूर्ण था। उन्होंने राजकीय भोग-विलासोंका परित्याग कर बारह वर्ष तक कठोर एवं दुर्धर तपश्चर्याके द्वारा जो आत्म-साधना की वह असाधारण थी। उन्होंने पूर्णज्ञान (केवलज्ञान) के साथ आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की, जो परमब्रह्मपदके अनुरूप है। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बने। उस समय देशकी स्थिति अत्यन्त विषम थी, धर्म और अधर्मकी कोई मर्यादा न थी, प्रायः अधर्मने धर्मका स्थान ले लिया था, बड़े-बड़े विद्वान धर्मकी दुहाई देकर याज्ञिक क्रियाकाण्डोंमें धर्म बतला रहे थे। स्त्रियों, एवं शूद्रोंको धर्म-सेवनका कोई अधिकार नही था, वे वेद-मत्रका उच्चारण भी नही कर सकते थे। 'यज्ञ की बलि वेदी पर होमे हुए जीव स्वर्गसुख प्राप्त करते हैं', यह दुहाई दी जा रही थी। ऐसे समयमें भगवान महावीरने अपने विहार और उपदेशों द्वारा उस विषम स्थितिको सुधारनेका *प्रयत्न किया, उन धर्म विहीन शुष्क क्रियाकाण्डोंका घोर* विरोध किया। जगतमें अहिंसाकी दुंदुभि बजाई, जीवों-को सुख-शान्तिका दिव्य उपदेश दिया और बतलाया कि संसारके सभी जीव समान है, जिस तरह हमें अपने प्राण प्यारे है उसी तरह दूसरोंको भी अपने प्राण प्यारे हैं, स्वयं सुखपूर्वक जियो और दूसरोंको भी जीने दो, धर्म किसीकी बपौती जायदाद नहीं है, वह तो प्रत्येक प्राणीके अभ्युदय एवं विकास का कारण है। संसारके सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुखसे डरते हैं। सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता। ऐसी स्थितिमें यदि कोई किसी-को मारता है या उसे कष्ट पहुंचाता है अथवा उसके धन एवं स्त्री आदिका अपहरण करता है तो वह अवश्य हिंसक है, पापी है। संसारका ऐसा कोई भी जीव नहीं है जिसने धर्मका आश्रय लिये बिना ही अपना उत्थान एवं विकास किया हो। धर्म किसी मन्दिर, मस्जिद, शिवालय और गिरजाघरमें नहीं है किन्तु वह तो प्रत्येक प्राणीकी अन्तरात्मा-में निहित है। यह अज्ञप्राणी अपने स्वार्थमें जब अन्धा हो जाता है अथवा अहंकार-ममकारकी ऊंची चट्टान पर सवार हो जाता है तब धर्मके असली स्वरूपको भूल जाता है और अपने स्वार्थकी सिद्धिमें या उसे पुष्ट करनेके लिये अपनी सारी शक्तियोको केन्द्रित कर देता है। उस समय वह विवेकशून्य होता है, और 'अर्थी दोषं न पश्यति' की नीति-के अनुसार उसके हृदयमें विवेकके स्थान पर अज्ञान और अहंकार अपना प्रभाव जमाये रहते हैं। इस कारण उसे अपनी उस सदोष परिणतिका स्वयं पता नही लगता और न उसे आत्मनिरीक्षणादिका कोई ऐसा अवसर ही प्राप्त होता है जिससे उसका विवेक जागृत हो सके। इसी कारण वह अपने हितसे सर्वथा दूर रहता है। उस समय यदि उसे कोई हितका मार्ग सुझाता भी है, तो भी वह उसे नहीं मानता, किन्तु उसे अपना शत्रु समझने लगता है। उस समय *उसकी दशा पित्तज्वर वाले रोगीके समान होती है जिसे* दूध भी नही सुहाता। वह धर्मको बुरा एवं भयावह समझता है किन्तु अधर्मको अच्छा और ग्राह्य मानता है। इस तरह भगवान महावीरने अपने उपदेशों द्वारा संसारी जीवोंके कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया, धर्म अधर्मका विवेक कराते हुए उनकी अन्धश्रद्धाको दूर किया और उससे सबको धर्म सेवनका अवसर तथा अधिकार मिला। भगवान महावीरके उपदेशोंका तत्कालीन जनता पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वे अपनी हिंसक प्रवृत्तिको छोड़कर अहिंसक बनें, दयाके उपासक हुए, भगवानकी शरणमें आए और अपना आत्म-विकास करनेके लिए समुद्यत हो गए।

इसीसे आचार्य समन्तभद्रने भगवान महावीरके शासन को—उनके द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित धर्म को—निम्न पद्यमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है।—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयंतीर्थमिदं तवैव॥

इस पद्यमें जिस शासनको 'सर्वोदयतीर्थ' कहा गया है वह संसारके समस्त प्राणियोंको संसार समुद्रसे तरनेके लिए घाट अथवा मार्गस्वरूप है, उसका आश्रय लेकर सभी जीव अपना आत्म विकास कर सकते हैं। वह सबके उदय, अभ्युदय, उत्कर्ष एवं उन्नतिमें अथवा अपनी आत्माके पूर्ण विकासमें सहायक है। सर्वोदयतीर्थमें तीन शब्द है सर्व, उदय और तीर्थ। सर्व शब्द सर्वनाम है वह सभी प्राणियोंका वाचक है, उदयका अर्थ कल्याण, अभ्युदय, उत्कर्ष एवं उन्नति है, और तीर्थ शब्द संसारसमुद्रसे तरनेके उपाय स्वरूप जहाज, घाट अथवा मार्ग आदि अर्थोमें व्यवहृत होता है। इससे इसका सामान्य अर्थ यह है कि जो शासन ससारके सभी प्राणियोंके उत्कर्षमें सहायक है, उनके विकास अथवा उन्नतिका कारण है वह शासन 'सर्वोदय–तीर्थ कहलाता हैं। यह तीर्थ सामान्य-विशेष, विधि निषेध और एक अनेक आदि विविध धर्मोको लिये हुए है, मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे व्यवस्थित हैं, सर्व दुःखोंका विनाशक है और स्वयं अविनाशी है।

इसके सिवाय जो शासन वस्तुके विविध धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाको नही मानता उसमे दूसरे धर्मोका अस्तित्व नहीं बनता, अतः वह सब धर्मोसे शून्य होता है। उसके द्वारा पदार्थ व्यवस्था कभी ठीक नहीं हो सकती। वस्तु तत्त्वकी एकान्त कल्पना स्व-परके वैरका कारण है, उससे न अपना ही हित होता है और न दूसरेका हो सकता है, वह तो सर्वथा एकान्तके आग्रहमें अनुरक्त हुआ वस्तु तत्त्वसे से दूर रहता है। इसीसे सर्वथा एकान्त शासन 'सर्वोदयतीर्थ' नहीं कहला सकते। अथवा जिस शासनमें सर्वथा एकान्तोके विषम प्रवादोंको पचानेकी शक्ति–क्षमता नही है और न जो उनका परस्परमें समन्वय ही कर सकता है वह शासन कदाचित् भी 'सर्वोदय' शब्दका वाच्य नहीं हो सकता। जो धर्म या शासन स्याद्वादके समुन्नत सिद्धान्तसे अलंकृत है, जिसमें समता और उदारताका सुधारस भरा हुआ है, जो स्वप्नमें भी किसी प्राणीका अकल्याण नहीं चाहता—चाहे वह किसी नीची-से-नीची पर्याय में ही क्यों न हो, जो अहिंसा अथवा दयासे ओत-प्रोत है, जिसके आचार-व्यवहारमें दूसरोंको दुःखोत्पादनकी अभिलाषा रूप अमैत्री-भावनाका प्रवेश भी न हो, पंच इंद्रियोंके दमन अथवा जीतनेके लिये जिसमें संयमका विधान किया गया हो, जिसमें प्रेम और वात्सल्यकी शिक्षा दी जाती हो, जो मानवताका सच्चाहामी हो, अपने विपक्षियों-के प्रति भी जिसमें राग और द्वेषकी चंचल तरंगें न उठती हों, जो सहिष्णु एवं क्षमाशील है, वही शासन सर्वोदयतीर्थ कहला सकता है और उसीमें विश्व-बधुत्वकी कल्याणकारी भावना भी अन्तर्निहित होती है। वही शासन विश्वके समस्त प्राणियोंका हितकारी धर्म हो सकता है।

सर्वोदयतीर्थकी जो सक्षिप्त रूप-रेखा ऊपर खीची गई है वह उसके सिद्धान्तोमें पद पद पर समाई हुई है। खेद है कि आज उसके अनुयायी सर्वोदय तीर्थकी सार्वभौमिकता मौलिकता और महत्तासे अपिरिचित है, वणिक्वृत्ति होने-के कारण वे कृपण और सकीर्ण मनोवृत्तिको लिये हुए हैं। प्राचीन समयसे भारतमे दो संस्कृतियां रही है श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति। इन दोनोका परस्परमें सामीप्य रहनेसे उनके अनुयाइयोमें एक दूसरेके विचारोंका आदान-प्रदान हुआ है, एकका दूसरे पर प्रभाव भी अंकित हुआ है। यही कारण है कि आज भी कितने ही रीति-रिवाज एक दूसरे धर्मके इन अनुयाइयोमें देखे जाते है। जहा श्रमण संस्कृतिके अहिंसा सिद्धान्तकी गहरी छाप वैदिक धर्म पर पड़ी, वहां वैदिक परम्परा-सम्मत वर्णाश्रम व्यवस्थाका प्रभाव वीरशासनके पुजारी वैश्यों पर भी पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान महावीरका सर्वोदय शासन जो इन वैश्योंको विरासतके रूपमें प्राप्त हुआ था, जिसका इन्हें अपने जीवनमें अनुष्ठान करते हुए दूसरोको भी उससे परिचित एवं उपकृत करते रहना चाहिये था, वहां वे स्वयं ही उसकी महत्तासे प्राय. अपरिचित रहे—उसके स्वरूपसे अनभिज्ञ रहे, अतएव उसे वे अपना ही सम्प्रदाय धर्म समझने लगे। यही वह कारण हैं जिसकी वजहसे इसका प्रचार व प्रसार जिस रूपमें होना चाहिये था नही हुआ और उसके अनुयाइयोंकी संख्या दिन पर दिन घटती गई और वह करोडोंसे घटकर बीस लाखके अनुमान रह गई।

जिस तीर्थमें विश्व व्यापी होनेकी शक्ति स्वयं विद्यमान हो, जिसका मूर्तिमान रूप विश्वके प्रत्येक प्राणीके हित एवं कल्याणकी भावनासे ओत-प्रोत हो, जिसकी उपासना एवं भक्तिसे अभद्रता भी भद्रतामें परिणत हो जाती हो,

वह शासन ही विश्वमें हितकारी और उपादेय हो सकता है; परन्तु खेद है कि ऐसे महान शासनके अनुयायी आज उसे भूल चुके हैं, उनमें विचार-विभिन्नताके कारण संघर्षस्वरूप दिगम्बर, श्वेताम्बर, काष्ठासंघ, माथुरसंघ, सेनसंघ, देव-संघ, और अनेक गणगच्छ तथा तेरापंथ, वीसपंथ, तारणपंथ दस्सा, बीसा आदि अनेक भेद-प्रभेद होते गए, जिनमें से कुछ आज भी मौजूद है। वह शासन अनेक जाति-उपजातियोंमें बंट गया और इस तरह जातिभेद संघभेद आदिकी गहरी दलदलमें फंस गया जिसका दर्शन विशाल साहित्य तथा इतिहासके अवलोकनसे होता है। ये सब भेद ही इसकी अवनतिके प्रधान कारण है; क्योकि वे सब अनेकान्तदृष्टि-से सर्वथा दूर हैं। जहां अनेकान्त उन सबमें समन्वय कर सकता था और उनके परस्पर भेदको मिटा कर उनमें प्रेम-का अभिसंचार कर सकता था वहा वे सब उसकी ओर पीठ दिये हुए थे—उसे सर्वथा भूल गये थे। और विचार-संकीर्णता, अनुदारता उनमे इतना घर कर गई थी कि वे एक दूसरेकी बातको सहने-समझनेकी भी आवश्यकता नही समझते थे, इसीसे वे अवनत दशाको प्राप्त हुए। यहां आचार्य समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनका एक खास वाक्य उल्लेख-नीय है :—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतु प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥

इस पद्यमें आचार्य समन्तभद्रने वीरशासनके विश्व व्यापी न होनेके अपवादके तीन कारण बतलाये है—कलिकाल, श्रोताओंका कलुषाशय और प्रवक्ताका वचनानय। इनमें कलिकालका प्रभाव जैसे साधारण कारणके साथ कलुषाशय और वक्ताके कथनमें नय सापेक्ष-दृष्टिका न होना ये दो खास कारण है। क्योकि जब श्रोताओंका चित्त कलुषित होता है, दर्शनमोहोदयसे आक्रान्त होता है तब पदार्थका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नही होता। अतः विपरीताभि-निवेशवश पदार्थोंकी अन्यथा कल्पना और हठधर्मी ही उक्त शासनके ग्रहणमें बाधक हुई है। इसी तरह वक्ताका नय-विवक्षा अथवा सापेक्ष दृष्टिकोणके बिना पदार्थका निरूपण करना, उपदेश देना भगवान महावीरके शासन-प्रचारमें सबसे बड़ा बाधक कारण है; क्योंकि नयदृष्टिके बिना पदार्थका यथार्थ कथन नहीं हो सकता। इन दोनों कारणोंसे उक्त शासनका यथेष्ठ प्रचार नही हो सका और न वह जगतका पूर्णतया उपकार करने में समर्थ ही हो सका। इनके सिवाय देशकी विषम परिस्थिति, राज्याश्रयका अभाव, युद्ध, लड़ाई-झगड़े आदि अनेक कारण और भी हैं जो इसकी प्रगतिमें बाधक हुए है।

जैनसमाजका यह कितना नैतिक पतन हुआ, और वह अपने धर्मके वास्तविक स्वरूपसे कितना अनभिज्ञ रहा, कि उस 'सर्वोदय तीर्थ'को अपना सम्प्रदाय समझने लगा जो उसे आत्म-गौरवके लिये मिला था। इतना ही नही, किन्तु उसे अपनी बपौती जायदाद समझने लगा; पर वह यह भूल गया कि धर्म वस्तुका स्वभाव है, वह किसी सम्प्रदाय विशेष-की सम्पत्ति नही बन सकता और न कोई उसे एक मात्र अपने अधिकारमें रख ही सकता है। धर्मका उदय तो सबके लिये हुआ है। सभी लोग उसका आचरण कर अपना विकास कर सकते है। मनुष्योंकी तो बात क्या, हाथी आदि तिर्यंच जीवोने भी उसका अनुष्ठान कर अपना आत्मकल्याण किया है। इस प्रकारके पौराणिक उदाहरण जैनधर्मकी उदारता और उसके सर्वोदयतीर्थ होनेके उज्ज्वल प्रमाण हैं। इसके सिवाय, आगममें चारों गतिके संज्ञी पर्याप्तक जीवोंके सम्यग्दर्शन होनेका उल्लेख किया गया है। उसमें जाति भेदको कोई स्थान नही है, और न यही बतलाया गया है कि अमुक जाति वाला सम्यग्दृष्टि हो सकता है तथा सद्धर्म-का पालन कर सकता है। हीनसे हीन जाति वालेके भी उच्च विचार हो सकते है और वह सम्यग्दर्शन जैसे रत्नको पाकर आत्मलाभ भी कर सकता है। यही तो वीर-शासनकी विशेषता है।

वास्तवमें धर्म किसीके अधिकारकी वस्तु है भी नहीं, वह तो प्रत्येक जीवके अन्तरात्मामें निहित है। और न कोई उस धर्मके आचरणसे किसीको अलग ही कर सकता है। उदाहरणके लिये मान लीजिये मै अहिंसा और सत्यका आचरण अपने जीवनमें कर रहा हूं तो कोई भी मानव मेरे उस अहिंसा और सत्य धर्मका अपहरण नही कर सकता, भले ही मुझे आर्थिक और शारीरिक हानि उठानी पड़े; परन्तु वह मेरा धर्म मेरेसे अलग नहीं हो सकता।

वर्णाश्रम और जातिभेद का समाजमें इतना गहरा प्रभाव हुआ कि लोग धर्मके आयतनस्वरूप मन्दिरोंको भी धर्म समझने लगे और स्वयं ही धर्मके ठेकेदार बन गये। उनमें दूसरोंको प्रवेश नहीं करने देना जैसा एकान्त आग्रह करने

लगें। यदि किसी जैनीसे कदाचित् कोई अपराध बन गया तो जातीय रीति-रिवाजोंके साथ धर्मसेवनका उसका द्वार भी बन्द कर दिया जाता था और फिर बार २ पंचोंकी अभ्यर्थना करने पर भारी दण्ड लेकर उसे मन्दिर प्रवेश करनेका अधिकार दिया जाता था। अज्ञानी जन मन्दिरोंमें प्रतिष्ठित मूर्तियोंको देव मानते है और उन्हें उसी भावसे पूजते भी है। पर वे उस मूर्तिसे मूर्तिमान देवका विचार नही करते, और न हृदय-मन्दिर-में विराजमान उस आत्मदेवको समझने एवं उसका साक्षात्कार करनेका ही प्रयत्न करते है। प्रत्युत, उसका तिरस्कार करते है इच्छानुसार विविध सावद्य प्रवृत्तियोंको करते हुए भी अहंकार वश अपनेको उच्च एव बड़ा समझे हुए है। इसी अज्ञान भावसे अपना तो अकल्याण करते ही हैं किन्तु साथ ही दूसरोके अकल्याणमें भी निमित्त बन जाते हैं। जैनधर्म जहां उदार है वहा उसके अनुयायी अनुदार और संकीर्ण है यह बड़े खेदकी बात है। आज भी मन्दिर प्रवेशाधिकार बिल को लेकर समाज में जो दो पार्टियां हो गई है। कुछ लोग मन्दिर प्रवेशाधिकारसे जैनधर्मका विनाश और उसकी पवित्रताका नष्ट होना बतलाते है, तो दूसरी ओर अनेक युक्तियों और पौराणिक उद्धरणों द्वारा उसे पुष्ट किया जाता है। पर इसमें सन्देह नहीं कि जैनधर्म सबके लिये है। वह इतना कमजोर एवं असमर्थ भी नही है कि साधारण कारणोसे उसकी लोकव्यापी प्रतिष्ठाका विनाश संभव हो अथवा किसी तरहकी उसे ठेस पहुंच सके तथा उसकी पवित्रतामें सन्देह किया जा सके, ऐसा कोई कारण संभावित प्रतीत नहीं होता। जैनधर्मकी आत्मा तो अडोल है उसमें किसी प्रकारका विकार सम्भव नही है; क्योंकि उसके स्वरूपका निर्देश वीतरागी अर्हन्तोने किया है। भले ही उसके अनुयाइयोंमें शिथिलता आ जाय, अथवा वे उसके मर्मको भूल जांय और अन्यथा प्रवृत्ति करने लगें, पर उससे धर्मकी पवित्रतामें कोई हानि या विनाशकी संभावना नही है। दूसरे जिस धर्मकी छाया अथवा आश्रयसे पतित भी अपनी पतितावस्थाको छोड़कर वैभव-सम्पन्न एवं निरंजन बने हों, मिथ्यादृष्टिसे सम्यग्दृष्टि हुए हों अथवा संसारके दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखके भोक्ता बने हों, उसके विषयमें उक्त प्रकारकी कल्पना संगत नहीं जान पड़ती, वह तो संकुचित एवं संकीर्ण मनोवृत्तिका ही परिणाम है।

जैन समाज एक अहिंसक समाज है, उसमें आत्मनिर्भयता और वीरताकी कमी नहीं। अहिंसा धर्मने भारतको ही नहीं किन्तु सारे विश्वको शान्तिका आदर्श मार्ग दिया है। अतः वह कितना प्रिय है इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं। उसमें दया, दान, त्याग और समाधिकी उत्कट भावनायें अन्तर्निहित हैं। ऐसे पवित्र धर्मकी उपासना एक जैन नहा-धोकर शुद्ध वस्त्र पहनकर अहिंसकवृत्तिसे—मद्य मांसादि विकृत अभक्ष्य, अनुपसेव्य एवं अनिष्ट पदार्थोंके सेवनका परित्याग करके—करता है और वह भी आत्मदेवके निरीक्षणार्थ, ऐसी स्थितिमें जब तक हरिजन जैनधर्म सम्मत अहिंसक वृत्तिका पालन नहीं करते, जैनोंके आचार एवं व्यवहार मार्गका अनुसरण कर अपनेको उस योग्य नही बनाते और जैन धर्ममें अपनी आस्था एवं श्रद्धा व्यक्त नहीं करते, तब तक वे जैन मन्दिरोंमें प्रवेश पानेके अधिकारी नही है।

अब रही दर्शकके रूपमें जाने की बात, सो जैनमन्दिर केवल दर्शनकी वस्तु नही है वह तो आत्मदेव को पहचानने, आत्मनिरीक्षणादि करने तथा आत्माको निर्मल बनानेके विमल स्थल हैं। उनमें प्रतिष्ठित मूर्ति वीतराग और शान्तिका अपूर्व मार्ग प्रदर्शित करती हैं, परस्पर में प्रेम की भावनाको प्रोत्तेजन देती है, वैर-भावको विनष्ट करती है,और राग-द्वेषादि विभाव भावोंको जीतने अथवा उनसे ऊपर उठनेकी मूक प्रेरणा करती है। भूले हुओं को आत्मस्वरूपकी याद दिलाती है। ऐसी स्थितिमें केवल दर्शककी दृष्टिसे जाने वाला व्यक्ति आत्मकल्याणसे प्रायः वंचित रहता है। हां, आत्म-कल्याणका इच्छुक व्यक्ति जिसकी जैन धर्ममें आस्था है, जो उसके नियम उपनियमोंका पालन कर अपना समुद्धार करनेका अभिलाषी है वह जैन-धर्मकी शरणमें आकर अपना उत्थान कर सकता है। ऐसे व्यक्तिके लिये कोई बन्धन नहीं है। प्रत्युत जिन्होंने जैन शासनका श्रद्धापूर्वक पालन किया, उसकी चर्याको जीवनमें अंकित किया उनकी समाजने सदा प्रतिष्ठा ही की है। अतः मन्दिर प्रवेश—अप्रवेश—सम्बन्धी दोनों एकान्तोंमें से कोई भी ठीक नही है।

सरसावा, ता० ११—२—५२

वीर-शासनके कुछ मूल सूत्र

(संयोजक—'युगवीर')

१—सब जीव द्रव्य-दृष्टिसे परस्पर समान हैं।

२—सब जीवोंका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है।

३—प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार अथवा पिंड है।

४—अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल-प्रकृतियां आठ, उत्तर प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्य हैं।

५—इस कर्ममलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियां अविकसित हैं और वे परतन्त्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं।

६—अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणि-वर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है।

७—कर्ममलके भेदसे ही यह सब जीव-जगत भेद-रूप है।

८—जीवकी इस कर्ममलसे मलिनावस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं।

९—जब तक किसी जीवकी यह विभावपरिणति बनी रहती है तब तक वह 'संसारी' कहलाता है। और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है।

१०—जब योग्य-साधनोंके बलपर विभावपरिणति मिट जाती है, आत्मामें कर्ममलका सम्बन्ध नहीं रहता और उसका निजस्वभाव पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीवात्मा संसारपरिभ्रमणसे छूट कर मुक्तिको प्राप्त होता है और मुक्त सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है।

११—आत्माकी पूर्णविकसित एवं परम-विशुद्ध अवस्थाके अतिरिक्त परमात्मा या ईश्वर नामकी कोई जुदी वस्तु नहीं है।

१२—परमात्माकी दो अवस्थायें हैं, एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त।

१३—जीवन्मुक्तावस्थामें शरीरका सम्बन्ध शेष रहता है, जबकि विदेहमुक्तावस्थामें कोई भी प्रकारके शरीरका सम्बन्ध अवशिष्ट नहीं रहता।

१४—संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये मुख्य दो भेद हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद अनेकानेक हैं।

१५—एकमात्र स्पर्शन इन्द्रियके धारक जीव 'स्थावर' और रसनादि इन्द्रियों तथा मनके धारक जीव 'त्रस' कहलाते हैं।

१६—जीवोंके संसारी मुक्तादि ये सब भेद पर्याय-दृष्टिसे हैं। इसी दृष्टिसे उन्हें अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्णविकसित ऐसे चार भागोंमें भी बांटा जा सकता है।

१७—जो जीव अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्प विकसित हैं, क्योंकि आत्मगुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

१८—संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने रूप सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें।

१९—सिद्धि स्वात्मोपलब्धिको कहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये आत्मगुणोंका परिचय, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग और विकास-मार्गकी दृढ़ श्रद्धा चाहिये।

२०—इसके लिये अपना हित एवं विकास चाहने वालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरण-में जाना चाहिये जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें या पूर्णरूपसे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम-मार्ग है।

२१—शरणमें जानेका आशय उपासना-द्वारा उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना, उन्हें अपना मार्गप्रदर्शक मानकर उनके पद-चिह्नोंपर चलना और उनकी शिक्षाओंपर अमल करना है।

२२—सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्तियोग' है।

२३—शुद्धात्माओंके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्तनको अथवा उनके गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको 'भक्ति' कहते हैं।

२४—पुण्यगुणोंके स्मरणसे आत्मामें पवित्रताका संचार होता है।

२५—सद्भक्तिसे प्रशस्त अध्यवसाय एवं कुशलपरिणामोंकी उपलब्धि और गुणावरोधक संचित कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्माका विकास सधता है।

२६—सच्ची उपासनासे उपासक उसी प्रकार उपास्यके समान हो जाता है जिस प्रकार कि तैलादिसे सुसज्जित बत्ती पूर्ण-तन्मयताके साथ दीपकका आलिंगनकरनेपर तद्रूप हो जाती है।

२७—जो भक्ति लौकिक लाभ, यश, पूजा-प्रतिष्ठा, भय तथा रूढि आदिके वश की जाती है वह सद्भक्ति नहीं होती और न उससे आत्मीय-गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है।

२८—सर्वत्र लक्ष्य-शुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी जरूरत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है।

२९—बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथार्थ फलको नहीं फलती और न बिना विवेककी भक्ति ही सद्भक्ति कहलाती है।

३०—जबतक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकासकी भूमिका ही तैयार नहीं होती।

३१—भक्तियोगसे अहंकार मरता है, इसीसे विकास-मार्गमें उसे पहला स्थान प्राप्त है।

३२—बिना भावके पूजा-दान-जपादिक उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार कि बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तन।

३३—जीवात्माओंके विकासमें सबसे बड़ा बाधक कारण मोहकर्म है जो अनन्तदोषोंका घर है।

३४—मोहके मुख्य दो भेद हैं एक दर्शनमोह जिसे मिथ्यात्व भी कहते हैं और दूसरा चारित्रमोह जो सदाचारमें प्रवृत्ति नहीं होने देता।

३५—दर्शनमोह जीवकी दृष्टिमें विकार उत्पन्न करता है, जिससे वस्तुत्वका यथार्थ अवलोकन न होकर अन्यथा रूपमें होता है और इसीसे वह मिथ्यात्व कहलाता है।

३६—दृष्टिविकार तथा उसके कारणको मिटानेके लिये आत्मामें तत्व-रुचिको जागृत करनेकी जरूरत है।

३७—तत्वरुचिको उस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा जाग्रत किया जाता है जो संसारी जीवात्माको तत्त्व-अतत्त्वकी पहचानके साथ अपने शुद्धस्वरूपका, पर-रूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकार-दोषका अथवा विभाव परिणतिका, विकारके विशिष्ट-कारणोंका और उन्हें दूर करके निर्विकार-निर्दोष बनने, बन्धनरहित मुक्त होने तथा अपने निजस्वरूपमें सुस्थित होनेका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूर कर—भूल-भ्रान्तियोंको मिटाकर—*आत्मविकासके सम्मुख किया जाता है।*

३८—ऐसे ज्ञानाभ्यासको ही 'ज्ञानयोग' कहते हैं।

३९—वस्तुका जो निज स्वभाव है वही उसका धर्म है।

४०—प्रत्येक वस्तुमें अनेकानेक धर्म होते हैं, जो पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुये अविरोध-रूपसे रहते हैं और इसीसे वस्तुका वस्तुत्व बना रहता है।

४१—वस्तुके किसी एक धर्मको निरपेक्षरूपसे लेकर उसी एक धर्मरूप जो वस्तुको समझना तथा प्रतिपादन करना है वह एकान्त अथवा एकान्तवाद है। इसीको निरपेक्ष-नयवाद भी कहते हैं।

४२—अनेकान्तवाद इसके विपरीत है। वह वस्तुके किसी एक धर्म का प्रतिपादन करता हुआ भी दूसरे धर्मोंको छोड़ता नहीं, सदा सापेक्ष रहता है और इसीसे उसे 'स्याद्वाद' अथवा 'सापेक्षनयवाद' भी कहते हैं।

४३—जो निरपेक्षनयवाद है वे सब मिथ्यादर्शन हैं और जो सापेक्षनयवाद हैं वे सब सम्यग्दर्शन हैं।

४४—निरपेक्षनय पर-विरोधकी दृष्टिको अपनाये हुए स्वपरवैरी होते है, इसीसे जगतमें अशान्तिके कारण हैं।

४५—सापेक्षनय परके विरोधको न अपनाकर समन्वय-की दृष्टिको लिये हुए स्वपरोपकारी होते हैं, इसीसे जगतमें शांति-सुखके कारण हैं।

४६—दृष्ट और इष्टका विरोधी न होनेके कारण स्याद्वाद निर्दोषवाद है जबकि एकान्तवाद दोनोंके विरोधको लिये हुए होनेसे निर्दोषवाद नहीं है।

४७—'स्यात्' शब्द सर्वथाके नियमका त्यागी, यथा-दृष्टको अपेक्षामें रखनेवाला, विरोधी धर्मका गौणरूपसे द्योतनकर्त्ता और परस्पर-प्रतियोगी वस्तुके अंगरूप धर्मोंकी संधिका विधाता है।

४८—जो प्रतियोगीसे सर्वथा रहित है वह आत्महीन होता है और अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता।

४९—इस तरह सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक, अनेक, शुभ-अशुभ, लोक-परलोक, बन्ध-मोक्ष, द्रव्य-पर्याय, सामान्य-विशेष, विद्या-अविद्या, गुण-दोष अथवा विधि-निषेधादिके रूपमें जो असंख्य अनन्त जोडे हे उनमेंसे किसी भी जोडेके एक साथीके बिना दूसरेका अस्तित्व नहीं बन सकता।

५०—एक धर्मीमें प्रतियोगी धर्म परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए रहते हैं, सर्वथा रूपसे किसी एककी कभी व्यवस्था नहीं बन सकती।

५१—विधि-निषेधादिरूप सप्त भंग संपूर्णतत्त्वार्थपर्यायों-में घटित होते हैं और 'स्यात्' शब्द उनका नेतृत्व करता है।

५२—सारे ही नय-पक्ष सर्वथा रूपमें अति दूषित हैं और स्यातरूपमें पुष्टिको प्राप्त हैं।

५३—जो स्याद्वादी हैं वे ही 'सुवादी' हैं, अन्य सब कुवादी हैं।

५४—जो किसी अपेक्षा अथवा नयविवक्षाको लेकर वस्तुतत्त्वका कथन करते हैं वे स्याद्वादी हैं, भले ही 'स्यात्' शब्दका प्रयोग साथमें न करते हों।

५५—कुशलाऽकुशल-कर्मादिक तथा बन्ध-मोक्षादिककी सारी व्यवस्था स्याद्वादियों अथवा अनेकान्तियोंके यहां ही बनती है, दूसरोंके यहां वह नहीं बन सकती।

५६—सारा वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है।

५७—जो अनेकान्तात्मक है वह अभेद-भेदात्मककी तरह तदतत्स्वभावको लिये होता है।

५८—तदतत्स्वभावमें एक धर्म दूसरे धर्मसे स्वतन्त्र न होकर उसकी अपेक्षाको लिये रहता है और मुख्य-गौणकी विवक्षासे उसकी व्यवस्था उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि मथानीकी रस्सीके दोनों सिरोंकी।

५९—विवक्षित मुख्य और अविवक्षित गौण होता है।

६०—मुख्यके बिना गौण तथा गौणके बिना मुख्य नहीं बनता। जो गौण होता है वह निरात्मक या सर्वथा अभावरूप नहीं होता।

६१—वही तत्व प्रमाण-सिद्ध है जो तदतत्स्वभावको लिए हुए एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है।

६२—वस्तुके जो अंश (धर्म) परस्पर निरपेक्ष हों वे पुरुषार्थके हेतु अथवा अर्थ-क्रिया करनेमें समर्थ नहीं होते, सापेक्ष अंश ही उस रूप होते हैं।

६३—जो द्रव्य है वह सत्स्वरूप है।

६४—जो सत् है वह प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है।

६५—उत्पाद तथा व्यय पर्यायमें होते हैं और ध्रौव्य गुण-में रहता है, इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् भी कहा गया है।

६६—जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता।

६७—जो सर्वथा असत् है उसका कभी उत्पाद नहीं होता।

६८—द्रव्य तथा सामान्यरूपसे कोई उत्पन्न या विनष्ट नहीं होता; क्योंकि द्रव्य सब पर्यायोंमें और सामान्य सब विशेषोंमें रहता है।

६९—विविध पर्यायें द्रव्यनिष्ठ एवं विविध विशेष सामान्यनिष्ठ होते हैं।

७०—सर्वथा द्रव्यकी तथा सर्वथापर्यायकी कोई व्यवस्था नहीं बनती और न सर्वथा पृथग्भूत द्रव्य-पर्याय-की युगपत् ही कोई व्यवस्था बनती है।

७१—सर्वथा नित्यमें उत्पाद और विनाश नहीं बनते, विकार तथा क्रिया-कारककी योजना भी नहीं बन सकती।

७२—विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं, सर्वथा नहीं।

७३—विधि-निषेधमें विवक्षासे मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है।

७४—वस्तुके किसी एक धर्मको प्रधानता प्राप्त होने-पर शेष धर्म गौण हो जाते हैं।

७५—वस्तु वास्तवमें विधि-निषेधादि-रूप दो-दो अवधियोंसे ही कार्यकारी होती है।

७६—बाह्य और आभ्यन्तर अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके मिलनेसे ही कार्यकी निष्पत्ति होती है।

७७—जो सत्य है वह सब अनेकान्तात्मक है, अनेकान्तके बिना सत्यकी कोई स्थिति ही नहीं।

७८—जो अनेकान्तको नहीं जानता वह सत्यको नहीं पहचानता, भले ही सत्यके कितने ही गीत गाया करे।

७९—अनेकान्त परमागमका बीज अथवा जैनागम-का प्राण है।

८०—जो सर्वथा एकान्त है वह परमार्थ-शून्य है।

८१—जो दृष्टि अनेकान्तात्मक है वह सम्यग्दृष्टि है।

८२—जो दृष्टि अनेकान्तसे रहित है वह मिथ्या दृष्टि है।

८३—जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह सब मिथ्या है।

८४—सिद्धि अनेकान्तसे होती है।

८५—सर्वथा एकान्त अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करनेमें भी समर्थ नहीं होता।

८६—जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे अपने बैरी आप हैं।

८७—जो अनेकान्त-अनुयायी हैं वे वस्तुतः अर्हज्जिन-मतानुयायी हैं, भले ही वे 'अर्हन्त' या जिनको न जानते हों।

८८—दया, दम, त्याग और समाधिमें तत्पर रहना आत्मविकासका मूल है।

८९—समीचीन धर्म सद्दृष्टि, सद्बोध और सच्चारित्र-रूप है, यही रत्नत्रय-पोत और मोक्षका मार्ग है।

९०—अनेकान्तदृष्टिको 'सद्दृष्टि' या सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

९१—सद्दृष्टिको लिये हुए जो ज्ञान है वह 'सद्बोध' कहलाता है।

९२—सद्बोध-पूर्वक जो आचरण है वही सच्चारित्र है अथवा ज्ञानयोगीके कर्मादानकी निमित्तभूत जो क्रियायें उनका त्याग सम्यक्चारित्र है।

९३—अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-दोषोंको शान्त करनेसे ही आत्मामें शान्तिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठा होती है।

९४—ये राग-द्वेषादि-दोष, जो मनकी समताका निरा-करण करनेवाले हैं, एकान्त धर्माभिनिवेश-मूलक होते हैं और मोही जीवोंके अहंकार-ममकारसे उत्पन्न होते हैं।

९५—संसारमें अशान्तिके मुख्य कारण विचार-दोष और आचार-दोष हैं।

९६—विचारदोषको मिटानेवाला 'अनेकान्त' और आचारदोषको दूर करनेवाली 'अहिंसा' है।

९७—अनेकान्त और अहिंसा ही शास्ता वीरजिन अथवा वीरजिन-शासनके दो पद हैं।

९८—अनेकान्त और अहिंसाका आश्रय लेनेसे ही विश्वमें शान्ति हो सकती है।

९९—जगतके प्राणियोंकी अहिंसा ही परमब्रह्म है, किसी व्यक्तिविशेषका नाम परमब्रह्म नहीं।

१००—जहां बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग है वहीं उस अहिंसाका वास है।

१०१—जहां दोनों प्रकारके परिग्रहोंका भारवहन अथवा वास है वहीं हिंसाका निवास है।

१०२—जो परिग्रहमें आसक्त है वह वास्तवमें हिंसक है।

१०३—आत्मपरिणामके घातक होनेसे झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब हिंसाके ही रूप हैं।

१०४—धन-धान्यादि सम्पत्तिके रूपमें जो भी सांसा-रिक विभूति है वह सब बाह्य परिग्रह है।

१०५—आभ्यन्तर परिग्रह दर्शनमोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय और जुगुप्साके रूपमें है।

१०६—तृष्णा-नदीको अपरिग्रह-सूर्यके द्वारा सुखाया जाता और विद्या-नौकासे पार किया जाता है।

१०७—तृष्णाकी शान्ति अभीष्ट इन्द्रिय-विषयोंकी सम्पत्तिसे नहीं होती, प्रत्युत इसके वृद्धि होती है।

१०८—आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये ही बाह्य तप विधेय है।

१०९—यदि आध्यात्मिक तपकी वृद्धि ध्येय अथवा लक्ष्यमें न हो तो बाह्य तपश्चरण एकान्ततः शरीर-पीडन-के सिवा और कुछ नहीं।

११०—सद्ध्यानके प्रकाशसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर होता है।

१११—अपने दोषके मूल कारणको अपने ही समाधि-तेजसे भस्म किया जाता है।

११२—समाधिकी सिद्धिके लिये बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग आवश्यक है।

११३—मोह-शत्रुको सद्दृष्टि, संवित्ति और उपेक्षा-रूप अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित किया जाता है।

११४—वस्तु ही अवस्तु हो जाती है, प्रक्रियाके बदल जाने अथवा विपरीत हो जानेसे।

११५—कर्म कर्तारको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता।

११६—जो कर्मका कर्ता है वही उसके फलका भोक्ता है।

११७—अनेकान्त-शासन ही अशेष-धर्मोंका आश्रय-भूत और सर्व-आपदाओंका प्रणाशक होनेसे 'सर्वोदयतीर्थ' है।

११८—जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षा-का प्रतिपादन नहीं करता वह सब धर्मोंसे शून्य एवं विरोध-का कारण होता है और कदापि 'सर्वोदयतीर्थ' नहीं हो सकता।

११९—*आत्यन्तिक-स्वास्थ्य* ही जीवोंका सच्चा स्वार्थ है, क्षणभंगुर भोग नहीं।

१२०—विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादि-स्वरूपमें शाश्वती स्थिति ही 'आत्यन्तिकस्वास्थ्य' कहलती है, जिसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

परम उपास्य कौन ?

वे हैं परम उपास्य, मोह जिन जीत लिया ॥ध्रुव॥

काम-क्रोध-मद-लोभ पछाड़े सुभट महा बलवान।
माया-कुटिलनीति-नागनि हन, किया आत्म-सत्राण ॥१॥ मोह०
ज्ञान-ज्योतिसे मिथ्यातमका जिनके हुआ विलोप।
राग-द्वेषका मिटा उपद्रव, रहा न भय औ' शोक ॥२॥ मोह०
इन्द्रिय-विषय-लालसा जिनकी रही न कुछ अवशेष।
तृष्णा-नदी सुखादी सारी, धर असंग-व्रत-वेष ॥३॥ मोह०
दुख उद्विग्न करें नहिं जिनको, सुख न लुभावें चित्त।
आत्मरूपसन्तुष्ट, गिनें सम निर्धन और सवित्त ॥४॥ मोह०
निन्दा-स्तुति सम लखें बने जो निष्प्रमाद निष्पाप।
साम्यभावरस-आस्वादनसे मिटा हृदय-सन्ताप ॥५॥ मोह०
अहंकार-ममकार-चक्रसे निकले जो धर धीर।
निर्विकार-निर्वैर हुए, पी विश्व-प्रेमका नीर ॥६॥ मोह०
साध आत्महित जिन वीरोंने किया विश्व-कल्याण।
'युग-मुमुक्षु' उनको नित ध्यावे, छोड़सकल अभिमान ॥७॥ मोह०

—युगवीर



अज-सम्बोधन

(वध्य-भूमि कोजाता हुआ बकरा)

(१)

हे अज ! क्यों विषण्ण-मुख हो तुम, किस चिन्ताने घेरा है ?
पैर न उठता देख तुम्हारा, खिन्न चित्त यह मेरा है !
देखो, पिछली टांग पकड़ कर, तुमको वधक उठाता है !
और जोरसे चलनेको फिर, धक्का देता जाता है !!

(२)

कर देता है उलटा तुमको दो पैरोंसे खड़ा कभी !
दाँत पीस कर ऐंठ रहा है कान तुम्हारे कभी कभी !!
कभी तुम्हारी क्षीण-कुक्षिमें मुक्के खूब जमाता है !
अण्ड-कोषको खींच नीच यह फिर फिर तुम्हें चलाता है !!

(३)

सह कर भी यह घोर यातना, तुमनहिं कदम बढ़ाते हो,
कभी दुबकते, पीछे हटते, और ठहरते जाते हो !!
मानों सम्मुख खड़ा हुआ है सिंह तुम्हारे बलधारी,
आर्तनादसे पूर्ण तुम्हारी 'मे मे' है इस दम सारी !!

(४)

शायद तुमने समझ लिया है अब हम मारे जावेंगे,
इस दुर्बल औ' दीन-दशामें भी नहिं रहने पावेंगे !!
छाया जिससे शोक हृदयमें इस जगसे उठ जानेका,
इसी लिए है यत्न तुम्हारा, यह सब प्राण बचाने का !!

(५)

पर ऐसे क्या बच सकते हो, सोचो तो, है ध्यान कहां ?
तुम हो निबल, सबल यह घातक, निष्ठुर, करुणा-हीन महा।
स्वार्थ-साधुता फैल रही है, न्याय तुम्हारे लिए नहीं !
रक्षक भक्षक हुए, कहो फिर, कौन सुने फरियाद कहीं !!

(६)

इससे बेहतर खुशी खुशी तुम वध्य-भूमिको जा करके,
वधक-छुरीके नीचे रख दो निज सिर, स्वयं झुका करके।
'आह' भरो उस दम यह कहकर, "हो कोई अवतार नया,
महावीरके सदृश जगतमें, फैलावे सर्वत्र दया" ॥

—युगवीर

मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीका 'ट्रस्टनामा'[1]

और पब्लिक ट्रस्टके रूपमें

'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट' की स्थापना

[मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीने सन् १९४२ में अपना 'वसीयतनामा' लिखकर उसकी रजिस्टरी करादी थी, जिसमें अपने द्वारा संस्थापित 'वीर-सेवा-मन्दिर'के लिये ट्रस्टकी भी एक योजना की गई थी। यह योजना उनके देहावसानके बाद ही कार्यमें परिणत होती। अब उन्होंने अपने जीवनमें ही उक्त ट्रस्टकी स्थापना करके उसे पब्लिक-ट्रस्टका रूप दे दिया है, ट्रस्टकी रजिस्ट्री करा दी है और अपनी सम्पत्ति ट्रस्टियोंके सुपुर्द कर दी है। उनके ट्रस्टनामा (Deed of Trust) की पूरी नकल सर्वसाधारणकी जानकारीके लिये यहां प्रकाशित की जाती है।

—नेमिचन्द वकील, मंत्री 'वीरसेवामन्दिरट्रस्ट']

श्रीसमन्तभद्राय नमः

मैंकि जुगलकिशोर 'मुख्तार' पुत्र चौधरी लाला नत्थूमल व पौत्र चौधरी लाला धर्मदासका, जातिसे जैन अग्रवाल सिंहल-गोत्री, निवासी कस्बा सरसावा तहसील नकुड़ जिला सहारनपुरका हूं।

जो कि मैं सम्पत्तिवान हूं और मेरे कोई सन्तान पुत्र या पुत्रीके रूपमें नहीं है, धर्मपत्नी श्रीमती राजकली देवी भी जीवित नहीं है—उसकी मृत्यु १६ मार्च सन् १९१८ ईस्वीको हो चुकी है, अपनी पचास वर्षकी उम्र हो जाने पर ५१वें वर्षके शुरु दिन ता० ४ दिसम्बर सन् १९२७ को मेरे ब्रह्मचर्यव्रत ले लेनेकी बजहसे इन दोनोंकी यानी पत्नी और सन्तानकी आगे को कोई सम्भावना व आवश्यकता भी अवशिष्ट नहीं है और दत्तक पुत्र लेनेके विचारको मैं बहुत अर्सेसे छोड़ चुका हूं। इसके सिवाय, मंगसिर सुदि एकादशी सम्वत् १९३४ विक्रमका जन्म होनेके कारण उम्र (आयु) भी मेरी इस वक्त ७३ वर्षसे ऊपर हो गई है और १२ फर्वरी सन् १९१४ को मुख्तारकारी छोड़ देनेके वक्तसे मेरी चित्तवृत्ति एवं आत्म-परिणतिका झुकाव अधिकसे अधिक लोकसेवा यानी पब्लिक सर्विस और धर्म एवं जातिकी खिदमतकी तरफ होता चला गया है, जिसका आखिरी नतीजा यह हुआ कि मैंने जीवनके उस ध्येय (मकसद) को कुछ आला पैमाने पर पूरा करनेके लिये अपनी ज़ात खाससे खुदकी पैदा की हुई भारी रकम लगाकर अपनी जन्मभूमि कस्बा सरसावामें 'वीर-सेवा-मन्दिर' नामक एक आश्रमकी स्थापनाके लिए बिल्डिग (building) का निर्माण किया, जो अम्बाला-सहारनपुर-रोड पर स्थित है और जिसमे उक्त आश्रमके उद्घाटन की रस्म (opening ceremony) वैशाख सुदि ३ (अक्षय तृतीया) सम्वत् १९९३ मुताबिक ता० २४ अप्रेल सन् १९३६ को एक बड़े उत्सवके रूपमें अमलमें आई थी। उद्घाटनकी रस्मके बादसे उक्त आश्रममें पब्लिक लाइब्रेरी, कन्या-विद्यालय, धर्मार्थ औषधालय, अनुसन्धान (Research), अनुवाद, सम्पादन, प्राचीन-ग्रन्थ-संग्रह, ग्रन्थनिर्माण, ग्रन्थप्रकाशन और 'अनेकान्त' पत्रका प्रकाशनादि जैसे लोकसेवाके काम होते आये हैं— कन्या-विद्यालय और औषधालयको छोड़कर शेषकार्य इस वक्त भी उसम बराबर हो रहे हैं—धार्मिक और लोक-सेवा (Religious and charitable) जैसे कामोंके लिये ही वह संकल्पित है, कई विद्वान् पंडित उसमें काम करते हैं, मैं भी वहीं रहकर दिन रात सेवा-कार्य किया करता हूं और वही मेरी सारी तवज्जह (attention) और ध्यानका केन्द्र बना हुआ है।

---

१. यह ट्रस्टनामा ४६८।।।)के ८ स्टाम्पों पर है जिनकी खरीद २० अप्रेल सन् १९५१को खज़ाना कलक्टरी सहारनपुरसे हुई

उक्त 'वीर-सेवा-मन्दिर' को अपनी सम्पत्तिका सबसे बड़ा हकदार और वारिस समझकर मैंने उसके हकमें एक वसीयतनामा ता० २० अप्रेलको स्वयं अपनी कलमसे लिखकर उसे २४ अप्रेल सन् १९४२ ई० को सहारनपुरमें सब-रजिस्ट्रार, के यहां रजिस्ट्री करा दिया था, जिसमें वीरसेवामन्दिर संस्थाकी भावी उन्नतिके लिए 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट' की भी एक योजना की गई थी और उसके उद्देश्य व ध्येय निर्धरित किये गये थे। अब मैं अपने जीवनमें ही 'वीरसेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' को कायम करके और उसको अपनी सम्पत्ति देकर भावी चिन्ताओंसे मुक्त होना चाहता हूं और चाहता हूं कि ट्रस्टकी कार्रवाई मेरे सामने ही अबाधितरूपसे प्रारम्भ हो जाय। उसीके लिए यह दस्तावेज़ ट्रस्टनामा (Deed of Trust) अपनी स्वस्थ दशामें बिना किसीके दबाव या जबरदस्तीके अपनी स्वतन्त्र इच्छा और खुशीसे लिख रहा हूं और इसके द्वारा वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टको कायम करता हूं और यही वह ट्रस्ट होगा जिसका उल्लेख मेरे उक्त वसीयतनामा (Will) में है और अब इसीके अनुसार ट्रस्टकी सब कार्रवाई संचालित हुआ करेगी।

ट्रस्टका और ट्रस्टको प्राप्त संस्थाका नाम, ट्रस्टके उद्देश्य व ध्येय, ट्रस्टकी सम्पत्ति, ट्रस्टियोंके नाम और ट्रस्टियोंके अधिकार व कर्तव्य निम्न प्रकार होंगे :—

१. **ट्रस्टका और ट्रस्टको प्राप्त संस्थाका नाम** —इस ट्रस्टका नाम 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट' होगा और जिसके हितार्थ यह ट्रस्ट कायम किया गया है उस संस्था (Beneficiery) का नाम 'वीरसेवामन्दिर' है, जिसे मुझ ट्रस्ट-संस्थापक (Founder or author of the Trust) ने २४ अप्रेल सन् १९३६ ई० को अपनी जन्मभूमि सरसावा नगरमें संस्थापित किया था और जिसको जनता (Public) ने अपने दानों (Donations) आदिके द्वारा अपनाया है तथा जिससे वह बराबर उपकृत एवं लाभान्वित होती रही है।

२. **ट्रस्टके उद्देश्य और ध्येय**—इस ट्रस्ट और वीरसेवामन्दिरके उद्देश्य और ध्येय (Aims and Objects) निम्न प्रकार होंगे, जो सब जैन धर्म और तदाम्नायकी उन्नति एवं पुष्टिके द्वारा लोककी सच्ची ठोस सेवाके निमित्त निर्धारित किये गये है—

(क) जैनसंस्कृति और उसके साहित्य तथा इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न ग्रंथों, शिला-लेखों, प्रशस्तियों, उल्लेख-वाक्यों, सिक्कों, मूर्त्तियों, स्थापत्य व चित्र-कलाके नमूनों आदि सामग्रीका लायब्रेरी व म्यूजियम (Library and Museum) आदिके रूपमें अच्छा संग्रह करना और दूसरे ग्रंथोंकी भी ऐसी लायब्रेरी प्रस्तुत करना जो धर्मादि-विषयक खोजके कामोंमें अच्छी मदद दे सके।

(ख) उक्त सामग्री परसे अनुसंधान-कार्य चलाना और उसके द्वारा लुप्तप्राय प्राचीन जैन साहित्य, इतिहास व तत्वज्ञानका पता लगाना और जैनसंस्कृतिको उसके असली तथा मूल रूपमें खोज निकालना।

(ग) अनुसंधान व खोजके आधार पर नये मौलिक साहित्यका निर्माण कराना और लोक-हितकी दृष्टिसे उसे प्रकाशित कराना; जैसे जैनसंस्कृतिका इतिहास, जैनधर्मका इतिहास, जैनसाहित्यका इतिहास, भगवान महावीरका इतिहास, प्रधान प्रधान जैनाचार्योंका इतिहास, जाति-गोत्रोंका इतिहास, ऐतिहासिक जैनव्यक्तिकोष, जैनलक्षणावली, जैनपारिभाषिक शब्दकोष, जैनग्रंथोंकी सूची, जैन-मन्दिर-मूर्तियोंकी सूची और किसी तत्त्वका नयी शैलीसे विवेचन या रहस्यादि तैयार कराकर प्रकाशित करना।

(घ) उपयोगी प्राचीन जैनग्रंथों तथा महत्त्वके नवीन ग्रंथों एवं लेखोंका भी विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओंमें नयी शैलीसे अनुवाद तथा सम्पादन कराकर अथवा मूलरूपमें ही प्रकाशन करना। प्रशस्तियों और शिलालेखों आदिके संग्रह भी प्रथक् रूपसे सानुवाद तथा बिना अनुवादके ही प्रकाशित करना।

(ङ) जैनसंस्कृतिके प्रचार और पब्लिकके आचार-विचारको ऊंचा उठानेके लिये योग्य व्यवस्था करना, वर्तमानमें प्रकाशित 'अनेकान्त' पत्रको चालू रखकर उसे और उन्नत तथा लोकप्रिय बनाना। साथ ही, सार्वजनिक उपयोगके पैम्पलेट व ट्रैक्ट (लघु-पत्र-पुस्तिकाएं) प्रकाशित करना और प्रचारक घुमाना।

(च) जैन साहित्य, इतिहास और संस्कृतिकी सेवा तथा तत्सम्बन्धी अनुसंधान व नई पद्धति से ग्रंथ निर्माणके कामोंमें दिलचस्पी पैदा करने और यथावश्यकता शिक्षण (ट्रेनिंग) दिलानेके लिये योग्य विद्वानोंको स्कालर्शिप्स (वृत्तियां—वजीफ़े) देना।

(छ) योग्य विद्वानोंको उनकी साहित्यिक सेवाओं तथा इतिहासादि-विषयक विशिष्ट खोजोंके लिये पुरस्कार या उपहार देना। और जो सज्जन निःस्वार्थ-भावसे अपनेको जैनधर्म तथा समाजकी सेवाके लिये अर्पण कर देवें उनके भोजनादि-खर्चमें सहायता पहुँचाना।

(ज) 'कर्मयोगी जैनमंडल' अथवा 'वीर-समन्तभद्र-गुरुकुल' की स्थापना करके उसे चलाना।

३. **ट्रस्टकी सम्पत्ति**—मेरी निम्नलिखित सम्पत्ति (जायदाद) जिसका मैं हर तरहसे बिना किसीकी शराकत या साझेदारीके मालिक व काबिज़ हूं, जिस पर किफालत (बन्धकत्व) वगैरहका कोई भार नहीं है और जिस पर मुझे स्वतन्त्र-रूपसे पूरा अधिकार किसीको देने या बेचने आदिका प्राप्त है, उसको मैं वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टकी सम्पत्ति घोषित करता हुआ ट्रस्टियोंको (जिनमें वे सब ट्रस्टी शामिल हैं जिनके नाम नीचे दिये गये हैं, जो उनमें से अवशिष्ट रहें या रहे और जिसकी या जिनकी समय समय पर नये ट्रस्टीके रूपमें नियुक्ति की जाय, मुन्तकिल और समर्पित (Transfer and Assign) करता हूं और ट्रस्टीजन इस सम्पत्ति को वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टके हितार्थ अग्रोल्लेखित अधिकारों व कर्त्तव्यों और प्रतिबन्धनोंके साथ अपने अधिकारमें रखेंगे। (*I hereby transfer and assign to the Trustees, which expression includes the Trustees named below, Survivor or Survivors of them and the Trustee or Trustees for the time being appointed for the Trust hereby created, all my property detailed below to hold the same to the Trustees upon the Trust and with and subject to the powers, provisions and conditions here-in-after declared and expressed concerning the same.*)

यह सम्पत्ति अब वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टकी मौजूदा (वर्तमान) सम्पत्ति होगी और ट्रस्टके उक्त उद्देश्यों तथा ध्येयोंको अथवा उनमेंसे किसीके भी पूरा करनके काममें आवेगी। मैंने इस सम्पत्तिसे अपना कब्जा व दखल मालकाना उठाकर ट्रस्टियोंका कब्जा व दखल करा दिया है। अब मेरा या मेरे स्थानापन्नों और उत्तराधिकारियोंका निजी कोई स्वत्व (Right), अधिकार अथवा सम्बन्ध किसी प्रकारका नहीं रहा और न आगामीको होगा—

(अ) वीरसेवामन्दिर-बिल्डिंग, जिसकी चौहद्दी नीचे दी जाती है, मय उन सब इमारातके जो उस अहातेमें तामीर की गयी हैं जो बैनामा (विक्रय-पत्र) मवर्खा २५ फर्वरी व मुसद्दका रजिस्ट्री २८ फर्वरी सन् १९३४के द्वारा ला. नाहरसिंह जैन सरसावा निवासीके पाससे खरीद किया गया था और जिसमें भीतरकी तरफ नीचेकी मंजिलमें एक गुसलखाना तथा दो जीनोंके अलावा एक हाल (Hall) व बारह कमरे हैं, ऊपरकी मंजिलमें, तीन कमरे हैं और बाहरकी तरफ तेरह दुकानें हैं, मय उक्त अहातेकी समस्त अराजी (भूमि) के जिसमें से कुछ अराजी दक्षिणद्वारकी तरफ अभी खाली पड़ी हुई है और जिसमें मकानों आदिके लिये कुछ बुनियादें भरवा दी गयी हैं, उस घेर-सहित जिसका विवरण अगले नं. (आ) में दिया गया है। इस बिल्डिंगसे किरायेकी सालाना आमदनी ६७२) है और मालियत २०४२५) रुपये है तखमीनन। बिल्डिंगकी चौहद्दी निम्न प्रकार है—

पूर्वी हद—दरवाजा सदर वीरसेवामन्दिर-बिल्डिंग तत्सम्बन्धी दुकानोंके दर्वाजों-सहित, मय चबूतरों-सायबानों व सहन (आंगन) वगैरह दुकानात और उनके बाद पड़ाव सरकारी।

पश्चिमी हद—आबचक मुश्तर्का, जिसमें वीरसेवामन्दिर-बिल्डिंगका पानी पड़ता व बहता है और उसकी निजी नाली भी मय पुश्तेके बनी हुई है तथा अपना एक बन्द दरवाजा भी उधर जानेके लिये है और जिसके बाद वारिसान ला० कबूलसिंह वगैरहके मकानात थोड़ेसे टूटे-फूटे मलबेकी शक्लमें पड़े हैं और कुछ मकानात वारिसान ला० जीयालालके भी हैं।

उत्तरी हद—दरबाजा सदर (द्वितीय) बिल्डिंग-सम्बन्धी दुकानोंके दरवाजों-सहित, मय सहन दुकानोंके और उसके बाद सड़क सरकारी 'अम्बाला-सहारनपुर-रोड' मय कूँचा खास वीरसेवामन्दिर जो द्वितीय द्वार उत्तरमुखीसे होकर सड़क सरकारीसे जा मिलता है।

दक्षिणी हद—मदरसा सरकारी, कूँचा खास मुश्तर्का, दरवाजा दक्षिणी वीरसेवामन्दिर-बिल्डिंग अभिमुख कूँचा खास मय अराजी सहन, मकानात वारिसान बाबू रामप्रसाद और पंचदरा मुत्तालिक जैनमन्दिर मुसम्मात बुल्ली कँवर।

(आ) एक घेर (अहाता) पूर्वमुखी, मय दो मकानात पूर्वमुखीके, जो बजरिये बैनामा मवर्खा १५ दिसम्बर सन् १९३६ व मुसद्दका रजिष्टरी १२ अप्रैल सन् १९३७ पाससे मुसम्मात पुष्पमाला व लाला समन्दरलाल जैनके ३००) तीनसौ रु० में खरीद किया था और जिसका जरूरी तामीर व मरम्मतके बाद एक दरवाजा उत्तरकी तरफ खोलकर उसे वीरसेवामन्दिर-बिल्डिंगमें शामिल कर लिया गया है, मय लघु बागीचेके जो उक्त अहाते में स्थित है और इसलिये इसकी हदें वीरसेवा-मन्दिर-बिल्डिंगकी चौहद्दीमें आ गई है अर्थात् पूर्वमें वीरसेवामन्दिर-बिल्डिंगके दक्षिण-द्वारकी तरफ खाली पड़ी हुई अराजी है, पश्चिममें आबचकादिक है, दक्षिणमें वारिसान बाबू रामप्रसादके मकानात तथा उक्त पंचदरा है और उत्तरमें वीरसेवामन्दिर बिल्डिंग के मकान तथा भीतरी सहन (आगन) है। इस की मालियत जायदाद नं० (अ) में शामिल कर दी गई है।

(इ) एक हवेली पूर्वमुखी जद्दी, जो बैठक तथा मकतबके नामसे प्रसिद्ध है, सरसावा मुहल्ला कानूगोयानके चौकमें स्थित है और तकसीमनामा मवर्खा ११ फर्वरी सन् १९२८ व मुसद्दका रजिस्ट्री १३ फर्वरी सन् १९२८के द्वारा मुझे भाई-बांटमें प्राप्त हुई है और जिसकी हदें नीचे दी जाती हैं। इससे किरायेकी सालाना आमदनी प्रायः ७२) रुपये हैं और इस लिये मालियत १४४०) के करीब है। हदें निम्न प्रकार हैं:—

पूर्वी हद—चबूतरा व सहन उक्त हवेली और उसके बाद रास्ता शारअ् आम। सहन मुश्तर्का है।

पश्चिमी हद—अहाता दक्षिणमुखी लाला रूपचन्द अलीपुरा निवासीका।

उत्तरी हद—मकानात हवेली ला. रूपचन्द जैन अलीपुरा निवासीके।

दक्षिणी हद—आम रास्ता अर्थात् सड़क सरकारी।

(ई) एक चौवारा सूर्यमुखी व दक्षिणमुखी जो उक्त मुहल्ला कानू गोयानमें अपनी पुरानी हवेली जद्दी पश्चिममुखीकी, जिसकी हदें नीचे दी जा रही है, ऊपरकी मंजिलमे स्थित है और अपना अपने भाइयोंका तथा पिता-पितामहादिका जन्मस्थान है और उक्त तकसीमनामाके द्वारा मुझे भाई-बाँटमें प्राप्त हुआ है। इससे किरायेकी सालाना आमदनी प्रायः ४८) रुपये है और इस लिये मालियत ९६०) रु. है। हदें हवेली पश्चिममुखी इस प्रकार हैं:—

पूर्वी हद—मकानात वारिसना ला० गोविन्दराय साहब जैन। पश्चिमी हद—रास्ता शारअ् आम। उत्तरी हद—मकानात ला० महावीर प्रसाद जैन घोरीवालोंके मय आबचक मुश्तर्का। दक्षिणी हद—रास्ता शारअ् आम।

(उ) उक्त पुरानी हवेली जद्दी पश्चिममुखीके अन्य मकानात, जिनमें तीन कोठे एक तिदरी और तीन चौबारे तो बजरिये तबादलेनामा मवर्खा ६ मई सन् १९४८ व ततिम्मा (परिशिष्ट) तबादलेनामा मवर्खा ७ मई, दोनों मुसद्दका रजिस्ट्री ७ मई सन् १९४८ के चि० बाबू प्रदमन कुमार के पास से मेरी मिलकियत और कब्जे व दखलमें आये हैं और जिनके कुछ हिस्सोंके गिर जाने आदिके कारण उन्हें बादको बनवाया गया है, और एक कोठा बजरिये बैनामा मवर्खा १४ नवम्बर व मुसद्दका रजिस्ट्री १५ नवम्बर सन् १९४९ पास से डा. श्री चन्द पुत्र बाबू रामप्रसाद के खरीदा गया और जिस के ऊपर चौवारा नं (ई) स्थित है। इन मकानोंसे किरायेकी सालाना आमदनी प्रायः १२०) और इस लिये मालियत प्रायः २४००) रु. है।

(ऊ) देहली क्लाथ एंड जनरल मिल्स कं० लिमिटेड देहलीके सात सौ छह आर्डिनेरी शेयर्स (Ordinary Shares) जिनके नम्बर इस प्रकार है—१४६२३५ से १४६४५४ तक, २६०५६९ से २६०६७८ तक, ४७५४९१ से ४७५५१३ तक, ६४०८९८ से ६४१११७ तक, ७५५२३२ से ७५५३४१ तक, ९७०१५४ से ९७०१७६ तक। इन में से प्रत्येक शेयर (हिस्से)

की फेस वेल्यू (Face value) २५) हैं और ये सब शेयर्स क्रमशः सार्टिफिकेट नं. ५०५,११४४ प्रत्येक मवर्खा ३० अप्रैल सन् १९३९ व नं. २९१८ मवर्खा १० मार्च सन् १९४१ (ट्रांसफर नं. ६०६७ मवर्खा १९ मार्च सन् १९४१) व नं. ८९/४३६, ९४/९६१, १०८/२३९८ प्रत्येक मवर्खा १५ जनवरी सन् १९४७ में दर्ज हैं। मालियत प्रायः १७६५०) रु. है।

(ऋ) देहली क्लाथ ऐंड जनरल मिल्स कम्पनी लिमिटेड देहलीके ६० क्यूम्यूलेटिव प्रिफिरेंस शेयर्स (Cumulative Preference Shares), जिनमेंसे फर्स्ट क्यू. प्रि. शेयर्सके नं. १८७१७ से १८७४६ तक हैं, जो सार्टिफिकेट नं. ३५९ मवर्खा ३० अप्रेल सन् १९३९ में दर्ज है, और ३० सैकेंड क्यू. प्रि. येशेयर्सके नं. ५३३७१ से ५३३९० तक तथा ६३१८४ से नं. ६३१९३ तक हैं जो क्रमशः सार्टिफिकेट नं. ५३० व ५९८, प्रत्येक मवर्खा ३० अप्रैल सन् १९३९ में दर्ज हैं। इनमेंसे प्रत्येक शेयरकी फेस वेल्यु भी २५) रु. है। मालियत प्रायः १५००) है।

(ॠ) साउथ बिहार सुगर मिल्स लिमिटेड कम्पनीके पचास आर्डिनेरी (Ordinary) और पचास डिफर्ड (Deferred) शेयर्स, जिनमेंसे आर्डिनेरी शेयर्सके नं. ५९५९९ से ५९६४८ तक हैं, जो सार्टिफिकेट (Script) नं. ७९० मवर्खा २७ मार्च सन् १९३३ ट्रांसफर नं. ८ मवर्खा १० अगस्त सन् १९३३ में दर्ज है और डिफर्ड शेयर्सके नं. ४९५९६ से ४९६४५ तक हैं जो सार्टिफिकेट (Script) नं. ४२० मवर्खा १९ जुलाई सन् १९३९ में दर्ज है। इनमेंसे आर्डिनेरी शेयर्सकी फेस वेल्यू १०) प्रति शेयर और डिफर्ड शेयर्सकी फेस वेल्यू २॥) प्रति शेयर है। कुल मालियत ६२५) रु. है।

(ऌ) मेरी निजी लायब्रेरी मय तत्सम्बन्धी सामानके, जिस सबकी तफसील वीरसेवामन्दिरके रजिस्ट्ररोंमें दर्ज है। मालियत प्रायः ५००००) रु. है।

नोट—उक्त सम्पत्तिके अलावा जो सम्पत्ति नकदी, ग्रंथ, फर्नीचर या अन्य सामान आदिके रूपमें मुझे वीरसेवामन्दिरके लिये किसीसे भी प्राप्त हुई है या वीरसेवामन्दिरको प्राप्त आर्थिक सहायताके आधार पर खरीदी गयी है अथवा प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथों आदिके रूपमें तैयार कराई गई है और जिसकी तफसील वीरसेवामन्दिरके रजिस्ट्ररोंमें दर्ज है वह मेरी निजी चीज या सम्पत्ति न होकर पहलेसे ही वीरसेवामन्दिरकी सम्पत्ति है और रहेगी।

(ट्रस्ट की सम्पत्ति (अ) से (ऌ) तककी कुल मालियत पचास हजार रु. के अन्दर है।)

४. **ट्रस्टियों के नाम**—वीरसेवामन्दिर ट्रस्टके जो ट्रस्टी फिलहाल नियुक्त किये गये हैं उनके नाम मय पतेके इस इस प्रकार हैं—

(१) बाबू छोटेलालजी जैन सुपुत्र सेठ रामजीवन सरावगी, २९ इन्द्र-विश्वास रोड, पोष्ट बेलगछिया, कलकत्ता ३७।

(२) लाला कपूरचन्दजी सुपुत्र ला. मूलचन्द्रजी जैन, मालिक फर्म 'विशेसुरनाथ मूलचन्द' टिम्बर मर्चेण्ट्स किराची खाना, कानपुर।

(३) लाला जुगलकिशोरजी कागजी सुपुत्र लाला सरदारीमलजी जैन, पार्टनर फर्म 'धूमीमल धर्मदास', चावड़ी बाजार, देहली।

(४) बाबू जय भगवानजी एडवोकेट, सुपुत्र ला. सुलतानसिंहजी, पानीपत (ई. पंजाब)।

(५) बाबू नेमचन्दजी एडवोकेट, सुपुत्र ला. धवलकिरतजी जैन, यादगारका बड़तल्ला, सहारनपुर।

(६) बाबू नानकचन्दजी सुपुत्र ला. चिरंजीलालजी जैन रिटायर्ड एस. डी. ओ, जमींदार सरसावा जि. सहारनपुर।

(७) जुगलकिशोर मुख्तार पुत्र ला. नत्थूमलजी जैन, अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर', सरसावा जि. सहारनपुर।

५. **ट्रस्टियोंके अधिकार व कर्तव्य**—प्रस्तुत -वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टके ट्रस्टियोंके अधिकार व कर्त्तव्य निम्न प्रकार होंगे :—

(१) ट्रस्टके उद्देश्यों व ध्येयोंको पूरा करने-कराने के लिये हर संभव प्रयत्न करना ट्रस्टियोंका प्रधान कर्त्तव्य होगा और इसके लिये वे सम्पत्तिकी रक्षा, वृद्धि तथा सदुपयोगकी तरफ अपना पूरा ध्यान रक्खेंगे।

(२) ट्रस्टियोंको अधिकार होगा कि वे ट्रस्टके उक्त उद्दश्यों तथा ध्येयोंको पूरा करने-करानेके लिये अनेक विभाग या डिपार्टमेंट कायम करें, संस्थाकी शाखाएं अथवा उपशाखाएं खोलें और उनकी ऐसी प्रबन्धकारिणी समितियां (कमेटियां) नियत करें जो ट्रस्टियोंकी देख-रेखमें ट्रस्टियों द्वारा निर्धारित नियमोंके अनुसार अपना अपना कार्य सम्पन्न करेंगी और जिनमें ऐसे व्यक्ति भी शामिल किये जायेंगे जो ट्रस्टीज (Trustees) नही होंगे।

(३) ट्रस्टी जनोंको अधिकार होगा कि वे आवश्यकतानुसार नये ट्रस्टियोंका चुनाव करके अपनी संख्यावृद्धि करलें, परन्तु किसी भी समय ट्रस्टियोकी संख्या पन्द्रहसे अधिक नही होगी और न सातसे कम ही रहेगी।

(४) ट्रस्टियोंको अधिकार होगा कि वे अपनेमेंसे किसीको प्रधान, मन्त्री, कोषाध्यक्ष आदि पदाधिकारी नियत करल और ऐसे नियम-उपनियम भी निर्धारित करलें जो ट्रस्टके उक्त उद्देश्यों तथा ध्येयोंको ठीक तौरसे पूरा करने और ट्रस्टियों-की कर्त्तव्य-पूर्तिके लिये जरूरी तथा मुनासिब हों। पदाधिकारियोंका चुनाव त्रिवार्षिक हुआ करेगा। ट्रस्टियोकी मीटिंग कम से कम छह महीनेमें एक बार जरूर हुआ करेगी। मीटिंगका कोरम किसी भी समय एक बटा तीन $\frac{1}{3}$ ट्रस्टियोंसे कमका नहीं होगा और ट्रस्टकी सब कार्रवाई बहुमतसे सम्पन्न हुआ करेगी। कोरमके लिये तिहाईका बटवारा बराबर न होनेपर बटाईके अंश अथवा उसकी कसरको एक व्यक्ति माना जायगा। यदि कोई मीटिंग पूरा कोरम न होनेके कारण स्थगित होगी तो अगली मीटिंग कोरमके पूरा न होनेपर भी की जा सकेगी।

(५) यदि कोई ट्रस्टी त्यागपत्र (इस्तीफा) दे, ट्रस्टके कामको ठीक तरह करनेके योग्य न रहे या कानूनी दृष्टि-से ट्रस्टका मेम्बर न रह सके अथवा किसी दैवी घटनासे उसका स्थान रिक्त (खाली) हो जाय तो ऐसी सब हालतोंमें शेष ट्रस्टियोंको अधिकार होगा कि वे ट्रस्टियोंकी न्यूनतम संख्या आदिको ध्यानमें रखते हुए यदि आवश्यक समझें तो ट्रस्टियोकी एक मीटिंग बुलाकर उसके स्थानपर कोई ऐसा नया ट्रस्टी चुन लेवें जो ट्रस्टीके कामको ठीक तौरसे सम्पन्न कर सके और जिससे ट्रस्टके कामोंमें अच्छी सहायता मिल सके और इस तरह बाद को नियुक्त हुआ हर ट्रस्टी आदिम अथवा अपने पूर्ववर्ती ट्रस्टियोंके समकक्ष होगा और उसको भी ट्रस्टीके सब अधिकार प्राप्त होंगे।

(६) यदि कोई ट्रस्टी ट्रस्टकी लगातार तीन मीटिंगोंमें बिना किसी खास कारणके अनुपस्थित रहेंगे तो उनसे पूछने के बाद ट्रस्टके प्रति उनकी उपेक्षा मालूम होनेपर शेष ट्रस्टियोंको उन्हें ट्रस्टसे पृथक् कर देने और उनके स्थानपर दूसरा योग्य ट्रस्टी चुन लेनेका अधिकार होगा। इस नयेचुने ट्रस्टीको भी ट्रस्टीके सब अधिकार प्राप्त होंगे।

(७) यदि कोई सज्जन 'वीरसेवामन्दिर' या 'वीरसेवामन्दिरट्रस्ट'को अपनी कोई चल या अचल सम्पत्ति प्रदान करना चाहें अथवा कर जायं तो ट्रस्टियोंको उसे ग्रहण करने तथा ट्रस्टके कामोंमें खर्च करनेका पूरा अधिकार होगा। ऐसी बाद-को प्राप्त सम्पत्ति भी ट्रस्टकी सम्पत्ति समझी जावेगी और उसके साथ भी इस ट्रस्टकी सम्पत्ति-जैसा व्यवहार होगा।

(८) ट्रस्टियोंको ट्रस्टकी जायदाद मौजूदा व आयन्दाका किराया, मुनाफा, लगान, सूद और इनकमटैक्सकी वापिसी आदि वसूल करने और सब प्रकारके प्रबन्ध करनेका पूरा अधिकार होगा। ऐसे रुपयेको भी वसूल करनेका उन्हें *अधिकर होगा जिसे कोई कहीं वीरसेवामन्दिरको दान कर गया हो।*

(९) ट्रस्टीजन ट्रस्टकी आमदनी और खर्चका हिसाब बाकायदे रक्खेंगे और उसे किसी योग्य ऑडीटर (Audi-tor) से ऑडिट (जाँच) कराकर वार्षिक रूपमें सर्वसाधारणकी जानकारीके लिये अवश्य प्रकाशित करते रहा करेंगे।

(१०) वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टके लिये किसी शीडयूल्ड (Scheduled) बैंक या बैंकोंमें या पोस्ट-

आफिसमें एकाउन्ट (हिसाब) खोला जायगा और ट्रस्टका प्रायः सब रुपया उक्त बैंक या बैंकों आदिमें जमा रहेगा और जरूरत पड़नेपर ट्रस्टकी व्यवस्थाके अनुसार प्रधान अथवा मन्त्री आदिके हस्ताक्षरोंसे निकाला जायगा। यदि ट्रस्टके हित एवं लाभकी दृष्टिसे तीन चौथाई ट्रस्टियोंकी सम्मति हो तो ट्रस्टका कुछ रुपया किसी विश्वस्त फर्म या व्यक्ति विशेषके पास भी जमा हो सकेगा।

(११) ट्रस्टीजन ट्रस्टको प्राप्त होनेवाली वार्षिक आमदनीके प्रायः भीतर ही वार्षिक खर्च किया करेंगे और जहां तक भी हो सकेगा आमदनीका दसवां हिस्सा हर साल जरूरतके लिये रिजर्व (Reserve) रक्खा करेंगे।

(१२) यदि किसी समय ट्रस्टीजन यह अनुभव करें कि ट्रस्टके उद्देश्यों व ध्येयोंकी यथेष्ट पूर्तिके लिये वीरसेवा-मन्दिर आश्रमका देहली आदि किसी अन्य स्थानमें स्थान-परिवर्तन होना अत्यन्त आवश्यक है तो उन्हें अधिकार होगा कि वे इस संस्थाका स्थान-परिवर्तन उस दूसरे स्थानपर कर देवें; लेकिन शर्त यह है कि उस दूसरे स्थानपर ट्रस्टके कामोंके लिये पहलेसे बिल्डिगका अच्छा योग्य प्रबन्ध हो और कुछ सज्जनोंका ट्रस्टके कामोंमें हार्दिक सहयोग भी प्राप्त हो। परन्तु दूसरे स्थानपर ले जाकर इस सस्थाको सस्थापककी स्पष्ट इच्छा और अनुमतिके विना किसी दूसरी संस्थामें शामिल या अन्तर्लीन नही किया जायगा। इसका अस्तित्व 'वीरसेवामन्दिर' के नाम और कामके साथ अलग ही रहेगा।

(१३) यदि 'वीरसेवामन्दिर' संस्थाको स्थायी रूपसे किसी दूसरी जगह लेजाया जाय तो सरसावामें वीरसेवामन्दिर-की जो विशाल बिल्डिग है वह बदस्तूर 'वीरसेवामन्दिर-बिल्डिग' के नामसे ही कायम रक्खी जायगी और ट्रस्टियोके ही प्रबन्ध, निरीक्षण एवं व्यवस्थाके आधीन रहेगी। ट्रस्टीजन उसे या उसके किसी भागविशेषको जैनियोंके किसी गुरुकुल, हाईस्कूल, त्यागी-ब्रह्मचारी आश्रम, कर्मयोगी या उदासीनाश्रम, औषधालय तथा विद्यालयको अथवा अहिंसा और अनेकान्तात्मक सत्यधर्मकी प्रचारक किसी दूसरी संस्थाको मुनासिब शर्तोंके साथ उपयोगके लिये दे सकते है और ऐसा वे बिल्डिगके किसी भागविशेषके सम्बन्धमें उस वक्त भी कर सकते है जब कि संस्थाका स्थायीरूपसे कोई स्थान-परिवर्तन न हुआ हो। स्थायी स्थान-परिवर्तनकी हालतमें यदि वे चाहें तो धर्मशाला या उद्योगशालाके रूपमें भी सारी बिल्डिगको परिणत कर सकते है। परन्तु यदि दश वर्ष तक भी वैसी कोई जैनसंस्था उस बिल्डिगमें संस्थापित न हो सके तो अधिकारप्राप्त ट्रस्टीजन उस बिल्डिगको बेच भी सकेंगे और बेचनेसे प्राप्त हुआ रुपया ट्रस्टके विशेष कार्योंमें अथवा दूसरी किसी अच्छी उपयोगी एवं लाभप्रद जायदादके खरीदनेमें लगाया जायगा; मगर शर्त यह है कि वीरसेवामन्दिरके लिये पर्याप्त कोई स्थायी बिल्डिग उस दूसरे स्थानपर पहलेसे बन चुकी हो और स्वतन्त्र उपयोगके लिये वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टके अधिकारमें हो तथा सरसावा-की उक्त बिल्डिगको बेचनेके लिये तीन-चौथाई ट्रस्टियोंका बहुमत प्राप्त हो।

(१४) दो जद्दी (पैतृक) हवेलियां जो ट्रस्टकी सम्पत्ति घोषित की गयी है और जिनका ऊपर ट्रस्टकी सम्पत्तिके नं. (इ), (ई) और (उ) में उल्लेख है उनके किसी मकानको भी बेचनेका ट्रस्टियोको अधिकार नही होगा—उन्हें मरम्मत आदिके द्वारा प्रायः स्थिर रक्खा जायगा। परन्तु किसी घटना-वश यदि मकानोको अधिक हानि पहुंच जावे और मरम्मतके द्वारा उनका स्थिर रखना ट्रस्टियोंकी दृष्टिमें ट्रस्टके लिये लाभप्रद न हो तो ट्रस्टीजन उन्हें कुछ शर्तोंके साथ प्रसूतिगृहादि-जैसी किसी स्थानीय सार्वजनिक संस्थाको मरम्मतादि करके अपने उपयोगमें लानेके लिये दे सकते है अथवा सहायता आदि मिलनेपर स्वयं ही किसी समय उनमें या उनके स्थानपर आवश्यक परिवर्तनादिके साथ निर्मित हुए भवनोमें सार्व-जनिक 'प्रसूतिगृह' संस्थाकी योजना कर सकते है। शेष बेचनेयोग्य जिस सम्पत्तिको भी ट्रस्टीजन ट्रस्टके हितके लिये बेचना उचित समझेंगे उसे बेच सकेंगे और बेचनेसे प्राप्त हुई रकमको ट्रस्टके कार्योंमें खर्च करेंगे।

(१५) यदि ट्रस्टियोंका प्रबन्ध किसी बजह से ठीक न हो और ट्रस्ट के उद्देश्यों तथा ध्येयोंकी जानबूझकर अवहेलना अथवा उनके विरुद्ध प्रवृत्ति की जाती हो तो ट्रस्टसे सम्बन्ध रखने वाले (interested in the Trust) पब्लिक के प्रत्येक व्यक्तिको अधिकार होगा कि वह उस के विरोधमें कानून जाब्ता दीवानी (Civil Pocedure Code) की धारा ९२ के अनुसार समुचित कार्रवाई करके उसको सुधारने और सुव्यवस्थित बनाने का यत्न करे।

अतः यह ट्रस्ट नामा (Deed of Trust) लिख दिया कि सनद (प्रमाणित) हो और वक्त जरूरत के काम आवे।

मिती वैशाख वदि पंचमी ५, बृहस्पतिवार, वीर-निर्वाण-सम्वत् २४७७, विक्रम्‌सम्वत् २००८, ता. २६ अप्रेल सन् १९५१ ईस्वी।

नोट—यह दस्तावेज ट्रस्टनामा, जिसे मुझ ट्रस्ट-संस्थापक ने स्वयं अपनी कलम से लिख दिया है, दस पत्रों (पृष्ठों) पर है। इस के दूसरे पृष्ठ की १७ वीं पंक्ति के शुरू में 'उसी के लिये' ये शब्द पंक्ति के ऊपर लिखे गये हैं। तीसरे पृष्ठ की १४ वी पंक्ति में शब्द 'Library' कुछ संदिग्ध सा बना है किंतु ठीक है। ५वें पृष्ठ की ३२वीं पंक्तिमें 'उत्तरमें', शब्द के पिछले दो अक्षर कुछ संदिग्धसे हो रहे हैं किंतु ठीक हैं। छठे पृष्ठ की १९ वी पक्ति में 'हिस्सो' शब्द कुछ संदिग्ध सा बना हैं किंतु ठीक हैं और २५ वी पंक्ति में शेयर न. ४७५४९१ में ९ का अंक '६' के रूप में कुछ संदिग्ध सा जान पड़ता है किंतु ठीक है। ७वें पृष्ठ की पहली पंक्ति में 'साउथ' से पहले 'बि' अक्षर अधिक लिखा गया था जिसे कलमजद किया गया है और छठी पंक्तिमें (लृ) नं. की सम्पत्ति देते हुए 'लायब्रेरी' शब्द के बाद 'में' से लेकर रु. है' तक की इबारत छूट गयी थी जिसे इस * चिह्न के साथ हाशिये पर बना कर हस्ताक्षर कर दिये हैं। नववें पृष्ठ की पहली पंक्ति में 'कोई' शब्द के बाद 'सज्जन' शब्द पंक्ति के ऊपर दिया गया हैं। दसवें पृष्ठ की १४ वी पंक्ति में प्रयुक्त हुए 'प्रवृत्ति' शब्द में एक 'प्र' अक्षर अधिक बन गया था उसे कलमजद किया गया है। पृष्ठ ९ की पंक्ति ३३ वी मे 'किसी' शब्द पर स्याही पड़ गयी है।

जुगलकिशोर मुख्तार
Jgl. Kishore Mukhtar

[हाशिये के दस्तखत]

हस्ताक्षर—जुगलकिशोर मुख्तार
Jgl. Kishore Mukhtar
(प्रत्येक पृष्ठ पर)

गवाह—Nanak chand
S/o Charanji Lall
Red. S.D.O. Sarsawa

गवाह—महाराज प्रसाद पिसर लाला मगतराय कौम जैनी अग्रवाल साकिन सरसावा बकलमखुद (उर्दूमें)

~~गवाह—बाबूराम शर्मा पुत्र संसारचन्द शर्मा~~
~~प्रधान मन्त्री तहसील कांग्रेस कमेटी नकुड़—सरसावा~~

गवाह—Naim Chand Jain
Vakil, Saharanpur

गवाह—जम्बूप्रसाद पिसर चौधरी गिरधरलाल जैन कस्बा सरसावा (उर्दूमें)

गवाह—रोडामल खलफ लाला भिक्खनलाल जैन साकिन कस्बा सरसावा बकलमखुद 'उर्दूमें'

गवाह—अर्हदास पिसर मु० ला.जम्बूप्रसाद सहारनपुर

गवाह—दस्तखत कोशल प्रसाद बेटा चमनलाल जैन सरसावा (मुंडी हिंदीमें)

गवाह—परमानन्द जैन शास्त्री पुत्र ला. दरयावसिह जैन निवासी शाहगढ़ जि. सागर हाल सरसावा जिला सहारनपुर

गवाह—जुगलकिशोर पुत्र ला. उग्रसेन बडतला यादगार सहारनपुर

गवाह—सुमतप्रसाद जैन रिटायर्ड अमीन मुहल्ला शोरमियान सहारनपुर बकलमखुद पिसर ला.ला मिट्ठन लाल जैन (उर्दूमें)

गवाह—कुन्दनलाल पिसर लाला नरायणदास जैन हाल सहारनपुर जमीदार व दरबारी ऐक्स ऑनरेरी मजिस्ट्रेट सहारनपुर

गवाह—द. जिनेश्वर प्रसाद जैन वल्द लाला उदयराम जैन महोला शोरमियान सहारनपुर

गवाह—S. P. Chandra S/o
B. Nanak Chand Sarsawa

गवाह—Digamber Das (Mukhtar)

गवाह—रिखीराम पु. बानूमल सैक्रेटरी कांग्रेस कमेटी सरसावा

गवाह—प. प्रसाद र. क. सहारनपुर
P. Prasad Regis. Clerk
Saharanpur

गवाह—Trilokchand Jain S/o L. Nanakchand Jain Sarsawa at present Clerk Hawali Munsafi Saharanpur

गवाह—Jugmandar Das Jain
A. S/o B. Sundar Lal Jain
Sarsawa

गवाह—दीपचन्द जैन कबाले नवीस सहारनपुर (उर्दूमें)

गवाह—चन्द्रसेन पिसर लाला इंद्रसेन साकिन तहसील नकुड बकलमखुद (उर्दूमें)

(रजिस्ट्रीकी इबारत प्रथम पृष्ठकी पुश्तपर)

फीस	नकल	शब्द	कुल फीस
२५५।।)	९।।।)	३९००)	२६५।)

जुगलकिशोर मुख्तार पुत्र ला० नन्त्थूमल रईस सा० सरसावा पर० खास तह० नकुड जि० सहारनपुरने आज ता० दूसरी २ मई सन् १९५१ ई० बीच ३, ४, बजे दिन के दफ्तर स० र० नकुड़ में पेश की मय तीन मुसन्नों के।

(ह०) जुगलकिशोर मुख्तार (हिंदी अंग्रेजीमें) (द० सबरजिस्ट्रार) २–५–५१

सुनकर मजमून बखूबी तकमील दस्तावेज हाजासे जुगलकिशोर मुकिर मजकूर ने इकबाल किया मुकिरसे में उहदेदार रजिस्ट्री खुद परिचित हूं दस्तावेज स्टाम्प १००)+१००)+७५)+७५)+५०)+५०)+१५)+३।।।) कुल ४६८।।।) और २ वाटर मार्क पर हैं।

(ह०) जुगलकिशोर मुख्तार (हिंदी अंग्रेजीमें) (द० सबरजिस्ट्रार) २–५–५१

बवजह एज़ाज़ निशान से बरी किया (द० सबरजिस्ट्रार) २–५–५१

[अन्तिम पृष्ठ की पुश्त पर]

बही नं. १ जिल्द ५०३ के सफे ३५९/३७४ मे दस असिल ३९९ व मुसन्ना नं. ४००, ४०१,४०२ पर आज ५ मई सन् १९५१ ई. रजिस्ट्री की गयी।

मुहर दफ्तर सबरजिस्ट्रार
नकुड जिला सहारनपुर

(यह मुहर, जो हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजीमें है, दस्तावेजके प्रत्येक पृष्ठकी पुश्त पर अंकित है)

साहित्य-परिचय और समालोचन

१. षट्खण्डागम (धवला टीका और उसके अनुवाद सहित) मूलकर्ता, आचार्य भूतबलि । टीकाकार, आचार्य वीरसेन । सम्पादक, डा० हीरालाल जैन एम. ए., सहसम्पादक, पं० फूलचन्द जैन सिद्धान्तशास्त्री और पं० बालचन्द्र जैन सिद्धान्तशास्त्री । प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द जी जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती पृष्ठसंख्या, सब मिलाकर ४८६ । मूल्य सजिल्द प्रतिका १०) और शास्त्राकारका १२) ।

प्रस्तुत ग्रन्थ षट्खण्डागमके चतुर्थ खण्ड 'वेदना' के कृति आदि २४ अनुयोग द्वारोंमें से यह कृति नामका पहला अनुयोग द्वार है, जिसमें प्रथम ही 'णमो जिणाणं' आदि ४४ मंगल सूत्रोंके बाद ४६वें सूत्रमें कृति के ७ भेद बतलाए गए हैं—नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति गणनकृति,, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति । ग्रंथमें इन सबके भेद-प्रभेदोंका विवेचन किया गया है । ग्रंथको देखने और अध्ययन करनेसे ग्रंथगत उनके सब रहस्य समझमें आ जाते हैं । आचार्य वीरसेनने ४४ मंगल सूत्रोंका विवेचन करते हुए ६४ ऋद्धियोंका जो विवेचन किया है वह सब मनन की वस्तु है । उनकी अगाध-प्रज्ञाके दर्शन इस ग्रंथके अध्ययन-से पद पद पर होते हैं । यद्यपि सम्पादक महोदयने इसके सम्पादन-प्रकाशनमे काफी सावधानी वर्ता है और पर्याप्त श्रम भी किया है फिर भी ग्रंथ में दिये हुए शुद्धिपत्रके अतिरिक्त कुछ और भी खटकने योग्य अशुद्धियां रह गई है जिनका प्रदर्शन बा. नेमिचन्द जी वकील और बा. रतनचन्द जी मुख्तार सहारनपुर ने 'जैन सन्देश' में किया है और जिनका सुधार वांछनीय है । ग्रन्थके अन्तमें ५ परिशिष्ट दिये हुए हैं जिनसे उसकी उपयोगिता बढ़ गई है । छपाई, सफाई उत्तम है, ग्रन्थ पठनीय और संग्रहनीय है ।

२. तिलोयपण्णत्ती (भाग २) —मूलकर्ता, आचार्य यतिवृषभ । सम्पादक डा० हीरालाल जैन एम. ए. डी. लिट्. नागपुर, डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर और पं० बालचन्द्र जैन सिद्धान्तशास्त्री, अमरावती । प्रकाशक, जैन संस्कृतिसंरक्षक संघ, शोलापुर । पृष्ठसंख्या, सब मिलाकर ६१२, बड़ा साइज । मूल्य, सजिल्द प्रति का १६) ।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम उसके विषयसे स्पष्ट है । इस ग्रन्थमें ९ अधिकार हैं जिनमें लोकका सामान्य रूप, नरक लोक, भवनवासी लोक, मनुष्यलोक, तिर्यग्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक, और सिद्धलोकका वर्णन है । ग्रन्थ-में आचार्य यतिवृषभने सर्वत्र प्राचीन आगम परम्पराका अनुसरण किया है और उसे लोकविभाग, लोक विनिश्चय, लोकाइनि, परिकर्म और दृष्टिवाद आदि ग्रन्थोंके समुद्धरणों-एवं पाठान्तरोसे पुष्ट किया गया है । ये सभी ग्रन्थ आज दुर्भाग्यसे अप्राप्त हैं । इनके अन्वेषण होनेकी आवश्यकता है ।

ग्रन्थके अन्तमें डा० ए एन उपाध्ये एम. ए. की अंग्रेजीमें भूमिका (Introduction) है जिसमें तिलोय-पण्णत्ती और उसके कर्ता यतिवृषभके समय-सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया गया है । इसके बाद डा० हीरालालजी एम. ए. डी. लिट् की महत्वकी हिन्दी प्रस्तावना है जिसमें ग्रन्थ-परिचयके साथ ग्रन्थकी कुछ विशेषताएं निर्दिष्ट करते हुए कुछ तुलनात्मक विचार दिये हैं और ग्रन्थकार यति-वृषभके सम्बन्धमें विचार करते हुए उसके रचनाकाल पर भी प्रकाश डालनेका यत्न किया गया है । ग्रन्थके विषय-का परिचय कराते हुए तिलोयपण्णत्तीकी अन्य ग्रन्थोंसे तुलना भी दी गई है । डाक्टर साहबने हमारा 'आधुनिक विश्व' में जिस विषयकी चर्चाका उपक्रम किया है उस सम्बन्धमें और भी पर्याप्त प्रकाश डाले जाने की आवश्यकता है । अच्छा होता यदि डा० साहब कुछ विशेष विवेचनके साथ उस पर अपना भी मत व्यक्त करते । सम्पादक महा-नुभावोंने ग्रन्थको सुगम और पठनीय बनानेके लिये पर्याप्त श्रम किया है । अनुवाद भी मूलानुगामी है, परिशिष्टादिसे उसे अलंकृत किया गया है । इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं ।

ग्रन्थका प्रकाशन दि जैन संस्कृतिसंरक्षक संघ शोलापुर-की ओरसे हुआ है। यह संघ ब्र० जीवराजजीके त्यागकी भावनाका प्रतीक है। आशा है भविष्यमें इससे और भी प्राचीन अर्वाचीन साहित्यका प्रकाशन होता रहेगा। इस प्रकारके ग्रन्थरत्नके प्रकाशनके उपलक्षमें संघ धन्यवादार्ह है। ग्रन्थ संग्रहनीय तथा पठनीय है। प्रत्येक मन्दिरोंमें इसे मंगा लेना चाहिये।

३. वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ—सम्पादक प्रो. खुशालचन्द जैन एम. ए. साहित्याचार्य, बनारस। प्रकाशक, वर्णी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति, सागर। पृष्ठ संख्या ६४०, मूल्य सजिल्द प्रतिका १५) रुपया।

पूज्य वर्णी जी बुंदेलखण्ड प्रान्तके ही नहीं किन्तु समस्त भारतके अहिंसक योगी हैं। उन्होंने अपनी साधना द्वारा लोकका बड़ा कल्याण किया है। वे आज भी ७९ वर्षकी वृद्ध अवस्थामें पैदल यात्रा द्वारा लोककी सजीव सेवा कर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ इन्ही पूज्य वर्णीजी की पुनीत सेवाओं-का प्रतिफल है। इसमें जैन धर्म, जैन साहित्य, इतिहास, विज्ञान, जैन तीर्थ,जैन समाज और पूज्य वर्णीजी के संस्मरणों-के साथ उक्त विषयोंका संकलन किया गया है। प्रायः सभी लेख जैन संस्कृतिके प्रभाव एवं महत्वको स्थापित करने वाले हैं, जिसके अध्ययनसे जैन संस्कृतिका वह विशद रूप प्रायः सामने आ जाता है जो जैनधर्मकी आत्मा है। ग्रन्थ-का सम्पादन और विषयोंका चयन अच्छा हुआ है। साथमें बुंदेलखंडादिके चित्रोंसे उसकी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। ग्रन्थकी छपाई सफाई सुन्दर है। इसके लिये प्रोफेसर साहब धन्यवादके पात्र हैं।

४. प्रशमरति प्रकरण—मूलकर्ता, उमास्वाति, सम्पादक, प्रो० राजकुमार जी साहित्याचार्य, बड़ौत। प्रकाशक, परमश्रुतप्रभावकमंडल जौहरी बाजार, बम्बई। पृष्ठ संख्या, २३२। मूल्य, सजिल्द प्रति का ६) रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वाति या गृद्धपिच्छाचार्यसे भिन्न हैं या अभिन्न यह एक विवादापन्न विषय है, संभव है जिन्होंने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर भाष्य रचा वे ही इसके कर्ता हों। क्योंकि मूल तत्त्वार्थसूत्रके अभिप्रायोंसे भिन्न इसम मुनिके लिए वस्त्र-पात्रादिका विधान भी पाया जाता है जो तत्त्वार्था-धिगमके ९वें अध्यायके ५वें सूत्रके भाष्यकी निम्न पंक्तियोंका ऋणी जान पड़ता है। और उस परसे दोनोंकी एक कर्तृकता भी संभव हो सकती है।

'पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत्'
—प्रशमरति

"अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामा-श्रयस्य चोद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणासमितिः।"
—भाष्यम्।

उक्त कथन तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता द्वारा निर्दिष्ट, नाग्न्य-परीषहका विरोधी हैं। दूसरे मूलसूत्रोंमें इस प्रकारकी सम्प्रदाय-सम्बन्धिमान्यताओंका कोई उल्लेख भी नहीं है।

ग्रन्थमें कोई तुलनात्मक एवं विषय विवेचनात्मक खोजपूर्ण प्रस्तावना नहीं है जिसमें उसके कर्ता और ग्रन्थ-के सम्बन्धमें विचार किया जा सकता। प्रकाशक संस्थाका कर्तव्य है कि वह ग्रन्थको प्रस्तावनासे अलंकृत करे। प्रस्ता-वनासे ग्रन्थकी उपयोगिता अधिक बढ़ जाती है। अनुवाद मूलानुगामी है। हां, तुलनात्मक स्थलों की टिप्पणियोंको भी साथमें दे दिया जाता तो अच्छा होता। ग्रन्थ संग्रहनीय है।

५. न्यायावतार—मूल लेखक, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर। अनुवादक, पं० विजयमूर्ति जैन एम. ए.। प्रकाशक, परमश्रुतप्रभावकमंडल जौहरी बाजार, बम्बई। पृष्ठ संख्या, १४४। मूल्य, सजिल्द प्रति का ५) रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ दर्शनशास्त्र का है, जिसके कर्ता श्वेताम्बरा-चार्य सिद्धसेन दिवाकर नामसे ख्यात है जो बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति और धर्मोत्तरके उत्तरकालीन जान पड़ते हैं; क्योंकि न्यायावतारमें उनके पद वाक्योंका स्पष्ट प्रभाव, जान पड़ता है। पात्रकेशरीका भी प्रभाव स्पष्ट है और विक्रमकी दूसरी तीसरी शताब्दीके विद्वान् आचार्य समन्त-भद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारका छठा पद्य तो उद्धृत किया ही गया है। इससे सिद्धसेन दिवाकर धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर-के बादके विद्वान् मालूम होते हैं। अर्थात् विक्रमकी ८वीं शताब्दीके अन्तिम भागके विद्वान ज्ञात होते है। न्यायावतार को सन्मतिकार सिद्धसेनकी कृति बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि समाजके प्रसिद्ध ऐतिहासिक वयोवृद्ध विद्वान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अनेक समर्थ प्रमाणों के आधार-

से अनेकान्तके 'सन्मति-सिद्धसेनांक' में सप्रमाण विवेचन द्वारा न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन दिवाकरसे सन्मतिके कर्ता सिद्धसेनको पूर्ववर्ती एवं दिगम्बराचार्य बतलाया है, जिस पर विद्वानोंने पर्याप्त विचार किया है; परन्तु उसके विषयमें अब तक कोई ऐसा प्रबल प्रमाण सामने नहीं लाया जा सका जो ऐतिहासिक तथ्यको बदलनेमें समर्थ हो। इतना ही नहीं किन्तु कुछ द्वात्रिंशकाओंको भी सन्मतिकार सिद्धसेनकी बतलाई गई हैं जो आचार्य समन्तभद्रके स्तोत्र-ग्रन्थोंकी प्रेरणास्वरूप रची गई हैं। न्यायावतार पर आचार्य सिद्धर्षिकी एक टीका है उसीका अनुवाद ग्रन्थमें दिया हुआ है, अनुवाद अच्छा है पर भाषामें प्रौढ़ता कम नजर आती है।

६. **जीवन-जौहरी**—लेखक श्री ऋषभदास रांका सम्पादक, जमनालाल जी साहित्यरत्न, वर्धा। प्रकाशक मूलचन्द बड़जात्या, सहायक मंत्री भारत जैन महा मंडल, वर्धा। पृष्ठ संख्या, १६८। मूल्य सवा रुपया।

प्रस्तुत पुस्तकमें वर्धाके यशस्वी व्यापारकुशल सेठ जमनालाल जी बजाजका संक्षिप्त जीवन-परिचय दिया हुआ है। वे राष्ट्रके कितने भक्त, दयालु, दानी, कर्तव्य-परायण, आत्मनिर्भर और स्पष्टवादी थे, इस बातको वे सभी भली भांति जानते हैं जो सेठ जमनालाल जी बजाजके साक्षात्सम्पर्कमें कभी आये हे। बापूके भी वे दाहिना हाथ थे। इन सब बातों पर यह प्रकाश डालती है। सुरुचिपूर्वक लिखी गई है और पठनीय तथा संग्रहणीय है।

७. **जैन-जगती**—लेखक, कुंवर दौलतसिह लोढा 'अरविन्द' धामनिया (मेवाड़)। प्रकाशक, श्री यतीन्द्र साहित्य-सदन, धामनिया। पृष्ठ संख्या, ४५६। मूल्य, ५) रुपये।

पुस्तकका यह द्वितीय संस्करण है। पुस्तकमें तीन प्रकरण हे अतीतखण्ड, वर्तमानखण्ड, और भविष्यत्खण्ड। इन्हीं तीन खण्डोंमें लेखकने जैन समाजके भविष्य, अतीत और वर्तमान जीवनकी झांकी खींचनेका प्रयत्न पद्यों द्वारा किया है जो साम्प्रदायिक दायरेमें सीमित होनेके कारण सफल नही हो सका है। क्योंकि लेखक स्वय कितने ही रहस्योंसे अपरिचित जान पड़ता है इसीसे उनका समावेश ग्रन्थमें नहीं हो सका है, उसमें जो कुछ विषय दर्शाया गया है वह सब प्राय: श्वेताम्बर है। कुछ ऐतिहासिक आचार्योंके नाम भी दिये गये है, जिनमें वाग्भट्टालंकारके कर्ता वाग्भट्टको ही नेमिनिर्वाणकाव्य, और काव्यानुशासन सटीकका कर्ता भी बतला दिया है। जबकि तीनों कृतियां तीन विभिन्न वाग्भटों द्वारा विभिन्न समयोंमें लिखी गई है। वाग्भट्टालंकारके कर्ता वाग्भट सोमश्रेष्ठीके पुत्र थे, उनका सम्प्रदाय श्वेताम्बर था। इन्होंने वाग्भट्टालंकार की टीकामें नेमिर्वाण-काव्यके कितने ही पद्य उद्धृत किये है। इनका समय विक्रम की १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध है।

नेमिनिर्वाणकाव्यके कर्ता कवि वाग्भट प्राग्वाट या पोरबाड़वंशके भूषण थे और छाहड़के पुत्र थे। यह दिगम्बर विद्वान् थे। और वाग्भट्टालंकारके कर्ता वाग्भटसे पूर्ववर्ती है; क्योंकि उक्त वाग्भटने इनके इस ग्रन्थके पद्योंको अपने अलंकार ग्रन्थकी टीकामें उद्धृत किया है। अत:-यह वाग्भट विक्रम की ११वी और १२वीं शताब्दीके पूवार्धके विद्वान् जान पड़ते है।

काव्यानुशासनके कर्ता महाकवि वाग्भट नेमिकुमारके पुत्र थे जो व्याकरण, छन्द, अलंकार, काव्य, नाटक और चम्पूसाहित्यके मर्मज्ञ थे और कालिदास, दण्डी और वामन आदि जैनेतर कवियोके काव्य-ग्रन्थोंसे खूब परिचित थे, और उस समयके विद्वानोंमें चूड़ामणि थे। इन्होंने अपने ग्रन्थकी स्वोपज्ञटीकामें अपनी अनेक कृतियोका समुल्लेख किया है। इनका समय विक्रमकी १४वी शताब्दी है। इस तरहसे ये वाग्भट जुदे जुदे तीन विद्वान् हैं, जिन्हें एक ही बतला दिया गया है। इस तरहकी ग्रन्थमें अनेक त्रुटियां पाई जाती हे फिर भी लेखकका प्रयत्न सराहनीय है। आशा है कि लेखक महानुभाव और भी साहित्यका आलोडनकर अपनी कृतिको सुधारने तथा संवर्द्धन परिवर्तन करनेका प्रयत्न करेंगे, जिससे उक्त कृति विशेष आदरणीय हो सके।

—**परमानन्द जैन शास्त्री**

लोकका अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद

(पं० दरबारीलाल जैन कोठिया, न्यायाचार्य)

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥

—आचार्य सिद्धसेन

'जिसके बिना लोकका व्यवहार भी किसी तरह नही चल सकता उस लोकके अद्वितीय गुरु 'अनेकान्तवाद' को नमस्कार है ।'

यह उन सन्तोंकी उदघोषणा एवं अमृत वाणी है जिन्होंने अपना साधनामय समूचा जीवन परमार्थ-चिन्तन और लोककल्याणमे लगाया है। उनकी यह उद्घोषणा काल्पनिक नही है, उनकी अपनी सम्यक् अनुभूति और केवलज्ञानसे पूत एवं प्रकाशित होनेसे यथार्थ है । वास्तवमें परमार्थ-विचार और लोक-व्यवहार दोनोकी आधार-शिला अनेकान्तवाद है। बिना अनेकान्तवादके न कोई विचार प्रकट किया जा सकता है और न कोई व्यवहार ही प्रवृत्त हो सकता है। समस्त विचार और समस्त व्यवहार इस अनेकान्तवादके द्वारा ही प्राण-प्रतिष्ठाको पाये हुए है। यदि उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो वक्तव्य वस्तुके स्वरूपको न तो ठीक तरह कह सकते हैं, न ठीक तरह समझ सकते है और न उसका ठीक तरह व्यवहार ही कर सकते है । प्रत्युत, विरोध, उलझनें, झगड़े-फिसाद, रस्साकशी, वाद-विवाद आदि दृष्टिगोचर होते हैं, जिनकी वजहसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप निर्णीत नही हो सकता । अतएव प्रस्तुत लेखमें इस अनेकान्तवाद और उसकी उपयोगितापर कुछ प्रकाश डाला जाता है ।

वस्तुका अनेकान्तस्वरूप—विश्वकी तमाम चीजें अनेकान्तमय है । अनेकान्तका अर्थ है नानाधर्म । अनेक यानी नाना और अन्त यानी धर्म और इसलिये नानाधर्म-को अनेकान्त कहते है । अतः प्रत्येक वस्तुमें नानाधर्म पाये जानेके कारण उसे अनेकान्तमय अथवा अनेकान्तस्वरूप कहा गया है । यह अनेकान्तस्वरूपता वस्तुमें स्वयं है—आरोपित या काल्पनिक नही है । एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सर्वथा एकान्तस्वरूप (एकधर्मात्मक) हो। उदाहरणार्थ यह लोक, जो हमारे व आपके प्रत्यक्षगोचर है, चर और अचर अथवा जीव और अजीव इन दो द्रव्योंसे युक्त है। वह लोकसामान्यकी अपेक्षा एक होता हुआ भी इन दो द्रव्योंकी अपेक्षा अनेक भी है और इस तरह वह अनेकान्तमय सिद्ध है । अब उसके एक जीव द्रव्यको ले । जीवद्रव्य जीवद्रव्य-सामान्यकी दृष्टिसे एक होकर भी चेतना, सुख, वीर्य आदि गुणों तथा मनुष्य, तिर्यंच, नारकी, देव आदि पर्यायोंकी समष्टि रूप होनेकी अपेक्षा अनेक है और इस प्रकार जीवद्रव्य भी अनेकान्तस्वरूप प्रसिद्ध है। इसी तरह लोकके दूसरे अवयव अजीवद्रव्यकी ओर ध्यान दे। जो शरीर सामान्यकी अपेक्षासे एक है वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणो तथा बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, वृद्धा-वस्था आदि क्रमवर्ती पर्यायोंका आधार होनेसे अनेक भी है और इस तरह शरीरादि अजीवद्रव्य भी अनेकान्तात्मक सुविदित है। इस प्रकार जगत्का प्रत्येक सत् अनकधर्मा-त्मक (गुणपर्यायात्मक, एकानेकात्मक, नित्यानित्यात्मक आदि) स्पष्टतया ज्ञात होता है ।

और भी देखिए । जो जल प्यासको शान्त करने, खेतीको पैदा करने आदिमें सहायक होनेसे प्राणियोंका प्राण है—जीवन है वही बाढ़ लाने, डूब कर मरने आदिमें कारण होनेसे उनका घातक भी है । कौन नही जानता कि अग्नि कितनी संहारक है पर वही अग्नि हमारे भोजन बनाने आदिमें परम सहायक भी है । भूखेको भोजन प्राणदायक है पर वही भोजन अजीर्ण

वाले अथवा टाइफाइडवाले बीमार आदमीके लिये विष है। मकान, किताब, कपड़ा, सभा, संघ देश आदि ये सब अनेकान्त ही तो हैं। अकेली ईटो या चूने-गारेका नाम मकान नहीं है। उनके मिलापका नाम ही मकान है। एक-एक पन्ना किताब नहीं है नाना पन्नोंके समूहका नाम किताब है। एक-एक सूत कपड़ा नही कहलाता। ताने-बाने रूप अनेक सूतोंके संयोग को कपड़ा कहते है। एक व्यक्तिक: कोई सभा या संघ नहीं कहता। उनके समुदायको ही समिति, सभा, संघ या दल आदि कहा जाता है। एक-एक व्यक्ति मिलकर जाति, और अनेक जातियां मिलकर देश बनते है। जो एक व्यक्ति है वह भी अनेक बना हुआ है। वह किसीका मित्र है, किसी-का पुत्र है, किसीका पिता है, किसीका पति या स्त्री है, किसीका मामा या भांजा है, किसीका ताऊ या भतीजा है आदि अनेक सम्बन्धोसे बंधा हुआ ह। उसमें ये सम्बन्ध काल्पनिक नही है, यथार्थ है। हाथ, पैर, आंखें, कान य सब शरीरके अवयव ही तो है और उनका आधारभूत अवयवी शरीर है। इन अवयव-अवयवी स्वरूप वस्तुको ही हम सभी शरीरादि कहते व देखते है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह सारा ही जगत् अनेकान्तस्वरूप है। इस अनेकान्त स्वरूपको कहना या मानना अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तस्वरूपको दर्शिका अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद—

भगवान् महावीर और उनके पूर्ववर्ती ऋषभादि तीर्थंकरोंने वस्तुको अनेकान्तस्वरूप साक्षात्कार करके उसका उपदेश दिया और परस्पर विरोधी-अविरोधी अनन्त-धर्मात्मक वस्तुको ठीक तरह समझने-समझानेके लिये वह दृष्टि भी प्रदान की जो विरोधादिके दूर करनेमें एकदम सक्षम है। वह दृष्टि है स्याद्वाद, जिसे कथंचित्वाद अथवा अपेक्षावाद भी कहते है। इस स्याद्वाद-दृष्टिसे ही हम उस अनन्तधर्मा वस्तुको ठीक तरह जान सकते है। कौन धर्म किस अपेक्षासे वस्तुमें निहित है इसे हम, जब तक वस्तुको स्याद्वाद दृष्टिसे नही देखेंगे, नही जान सकते है। इसके सिवा और कोई दृष्टि वस्तुके अनेकान्तस्वरूपका निर्दोष दर्शन नही करा सकती है। वस्तु जैसी है उसका वैसा ही दर्शन करानेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि अथवा स्याद्वाद-दृष्टि ही हो सकती है; क्योंकि वस्तु स्वयं अनेकान्तस्वरूप है। इसीसे वस्तुके स्वरूप-विषयमें **"अर्थोऽनेकान्त.। अनेके अन्ता धर्मा. सामन्य-विशेष-गुण-पर्याया यस्य सोऽनेकान्त:"** यों कहा गया है। दूसरी दृष्टियां वस्तुके एक-एक अंशका दर्शन अवश्य करा सकती है पर उस दर्शनसे दर्शकको यह भ्रम एवं एकान्त आग्रह हो जाता है कि वस्तु इतनी मात्र ही है और नहीं है। इसका फल यह होता है कि शेष धर्मों या अंशोंका तिरस्कार हो जानेके कारण वस्तुका पूर्ण एवं सत्य दर्शन नही हो पाता। स्याद्वाद-तीर्थके प्रभावक आचार्य समन्तभद्र स्वामी अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें इसी बातको निम्न प्रकार प्रकट करते हैं:—

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षा स्वपर-प्रणाशिन:।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुने. परस्परेक्षा: स्वपरोपकारिण।१।

'यदि नित्यत्व, अनित्यत्व आदि परस्पर निरपेक्ष एक-एक ही धर्म वस्तुमें हों तो वे न स्वयं अपने अस्तित्वको रख सकते है और न अन्यके। यदि वे ही परस्पर सापेक्ष हों—अन्यका तिरस्कार न करें—तो हे विमल जिन! वे अपना भी अस्तित्व रखते है और अन्य धर्मोंका भी। तात्पर्य यह कि एकान्तदृष्टि तो स्वपरघातक है और अनेकान्त-दृष्टि स्वपरोपकारक है।'

इसी आशयसे उन्होंने स्पष्टतया यह भी बतलाया है कि वस्तुमें एकान्तत: नित्यत्व और अनित्यत्व अपने अस्तित्वको क्यों नही रख सकते है? वे कहते है कि 'सर्वथा नित्य पदार्थ न तो उत्पन्न हो सकता है और न नाश हो सकता है, क्योंकि उसमें क्रिया और कारकको योजना सम्भव नही है। इसी तरह सर्वथा अनित्य पदार्थ भी, जो अन्वयरहित होने-से प्राय: असत्रूप ही है, न उत्पन्न हो सकता है और न नष्ट हो सकता है, क्योकि उसमें भी क्रिया और कारककी योजना असम्भव है। इसी प्रकार सर्वथा असत्का उत्पाद और सत्का नाश भी सम्भव नहीं है, क्योंकि असत्तो अन्वय-शून्य है और सत् व्यतिरेकशून्य है और इन दोनोके बिना कार्यकारणभाव बनता नही। **'अन्वयव्यतिरेक-समधिगम्यो हि कार्यकारण-भाव.'** यों सर्व सम्मत सिद्धान्त है। अत: वस्तुतत्त्व 'यह वही है' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा—प्रतीति होनेसे नित्य है और 'यह वह नहीं है—अन्य है' इस प्रकारका ज्ञान होनेसे अनित्य है और ये दोनों नित्यत्व तथा अनित्यत्व वस्तुमें विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि वह द्रव्यरूप अन्तरंग कारणकी अपेक्षासे नित्य है और कालादि बहिरंग कारण तथा पर्यायरूप

नैमित्तिक कार्यकी अपेक्षासे अनित्य है । यथा—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तम पुद्गलभावतोऽस्ति ॥२४॥

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत् प्रतिपत्ति सिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते ॥४३॥

आगे इसी ग्रन्थमें उन्होंने अरजिनके स्तवनमें और भी स्पष्टताके साथ अनेकान्त दृष्टिको सम्यक् और एकान्त-दृष्टिको स्व-घातक कहा हैः—

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥९८॥

'हे अर जिन ! आपकी अनेकान्तदृष्टि समीचीन है—निर्दोष है, किन्तु जो एकान्तदृष्टि है वह सदोष है । अतः एकान्तदृष्टिसे किया गया समस्त कथन मिथ्या है, क्योंकि एकान्तदृष्टि बिना अनेकान्तदृष्टिके प्रतिष्ठित नहीं होती और इसलिये वह अपनी ही घातक है ।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार समुद्रके सद्भावमें ही उसकी अनन्त बिन्दुओंकी सत्ता बनती है और उसके अभावमें उन बिन्दुओंकी सत्ता नही बनती उसी प्रकार अनेकान्तरूप वस्तुके सद्भावमें ही सर्व एकान्त दृष्टियां सिद्ध होती हैं और उसके अभावमें एक भी दृष्टि अपने अस्तित्वको नहीं रख पाती । आचार्य सिद्धसेन अपनी चौथी द्वात्रिंशिकामें इसी बातको बहुत ही सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन करते हैं:—

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥
—(४–१५)

'जिस प्रकार समस्त नदियां समुद्रमें सम्मिलित हैं उसी तरह समस्त दृष्टियां अनेकान्त-समुद्रमें मिली हैं । परन्तु उन एक-एकमें अनेकान्तका दर्शन नही होता । जैसे पृथक्-पृथक् नदियोंमें समुद्र नही दिखता ।'

अतः हम अपने स्वल्प ज्ञानसे अनन्तधर्मा वस्तुके एक-एक अंशको छूकर ही उसमें पूर्णताका अहंकार—'ऐसी ही है' न करें, उसमें अन्य धर्मोंके सद्भावको भी स्वीकार करें । यदि हम इस तरह पक्षाग्रह छोड़कर वस्तुका दर्शन करें तो निश्चय ही हमें उसके अनेकान्तात्मक विराट् रूपका दर्शन हो सकता है । समन्तभद्र स्वामी अपने युक्त्यनुशासनमें यही कहते हैं:—

एकान्त-धर्माऽभिनिवेश-मूला रागादयोऽहंकृतिजाजनानाम् ।
एकान्त-हानाच्च स यत्तदेव स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥५१॥

'एकान्तके आग्रहसे एकान्तीको अहंकार हो जाता है और उस अहंकारसे उसे राग, द्वेष, पक्ष आदि हो जाते हैं, जिनसे वह वस्तुका ठीक दर्शन नही कर पाता । पर अनेकान्तीको एकान्तका आग्रह न होनेसे उसे न अहंकार पैदा होता है और न उस अहकारसे रागादिकको उत्पन्न होनेका अवसर मिलता है और उस हालतमें उसे उस अनन्त धर्मावस्तुका सम्यग्दर्शन होता है, क्योकि एकान्तका आग्रह न करना—दूसरे धर्मोंको भी उसमें स्वीकार करना—सम्यग्दृष्टि आत्माका स्वभाव है और इस स्वभावके कारण ही अनेकान्तीके मनमें पक्ष या क्षोभ पैदा नही होता—वह समताको धारण किये रहता है ।'

अनेकान्तदृष्टिकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है सब एकान्तदृष्टियोंको अपनाना—उनका तिरस्कार नहीं करना—और इस तरह उनके अस्तित्वको स्थिर रखना । आचार्य सिद्धसेनके शब्दोंमें हम इसे इस प्रकार कह सकते है:—

भद्दं मिच्छादंसण-समूह-मइयस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥

'ये अनेकान्तमय जिनवचन मिथ्यादर्शनों (एकान्तों) के समूह रूप है—इसमें समस्त मिथ्यादृष्टियां (एकान्त-दृष्टिया) अपनी-अपनी अपेक्षासे विराजमान हैं, और अमृत-सार या अमृतस्वादु है । वे संविग्न—रागद्वेषरहित तटस्थ वृत्तिवाले जीवोंको सुखदायक एवं ज्ञानोत्पादक हैं । वे जगत्के लिये भद्र हों—उनका कल्याण करें ।'

बन्ध, मोक्ष, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, पुण्य-पाप आदिकी सम्यक् व्यवस्था अनेकान्त मान्यतामें ही बनती है—एकान्त मान्यतामें नहीं । इसीसे समन्तभद्र स्वामीको देवागममें कहना पड़ा है कि:—

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥

'नित्यत्वादि किसी भी एकान्तमें पुण्य-पाप, परलोक आदि नहीं बनते है, क्योंकि एकान्तका अस्तित्व अनेकान्तके

सद्भावमें ही बनता है और अनेकान्तके न माननेपर उनका वह एकान्त भी स्थिर नहीं रहता और इस तरह वे अपने तथा दूसरेके अकल्याणकर्त्ता हैं।'

इन्हीं सब बातोंसे आचार्य समन्तभद्रने भगवान् वीरके शासनको, जो अनेकान्तसिद्धान्तकी भव्य एवं विशाल आधार-शिलापर निर्मित हुआ है और जिसकी बुनियादें अत्यन्त मजबूत हैं, 'सर्वोदयतीर्थ'—सबका कल्याण करने वाला तीर्थ' कहा है:—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

—युक्त्यनुशासन

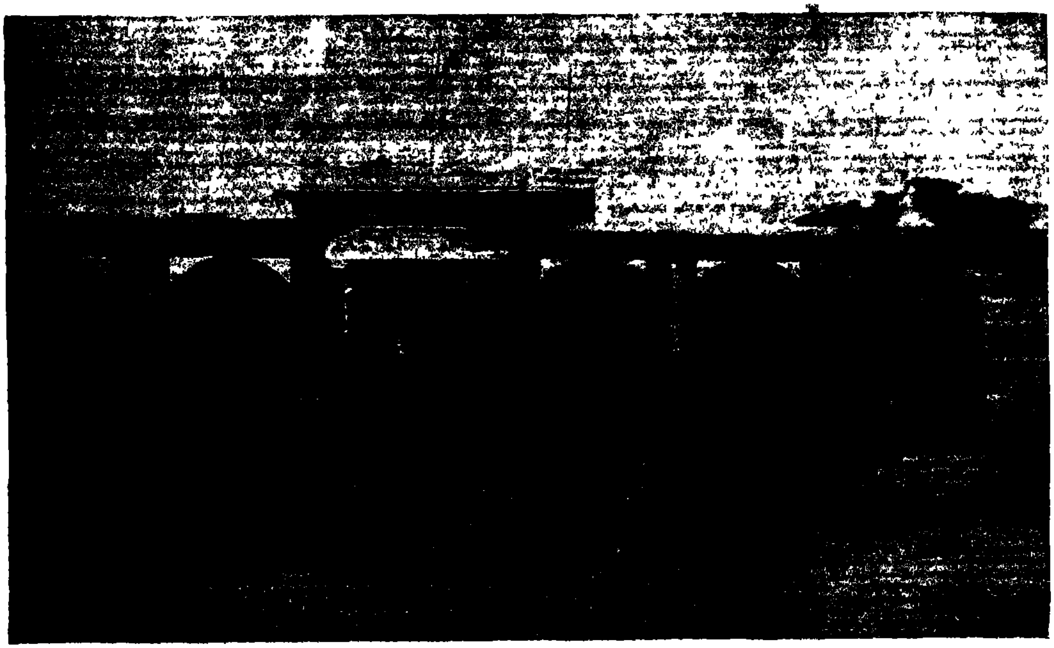
हे वीर जिन! आपका तीर्थ—शासन समस्त धर्मों—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक, नित्यत्व-अनित्यत्व आदिसे युक्त है और गौण तथा मुख्यकी विवक्षाको लिये हुए है—एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है। किन्तु अन्य तीर्थ-शासन निरपेक्ष एक-एक नित्यत्व या अनित्यत्व आदिका ही प्रतिपादन करनेसे समस्त धर्मों—उस एक-एक धर्मके अविनाभावी शेष धर्मोंसे शून्य हैं और उनके अभावमें उनके अविनाभावी उस एक-एक धर्मसे भी रहित हैं। अतः आपका ही यह अनेकान्तशासन-रूप तीर्थ सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला है, किसी अन्यके द्वारा अन्त (नाश) न होने वाला है और सबका कल्याणकर्ता है।'

अन्तमें हम अपने इस लेखको समाप्त करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रके शब्दोंमें इस 'अनेकान्त' को, जिसे 'सर्वोदय-तीर्थ' कहकर उसका अचिन्त्य महात्म्य प्रकट किया गया है, नमस्कार करते हैं और मंगलकामना करते हैं कि विश्व इसकी प्रकाशपूर्ण एवं आल्हादजनक शीतल छायामें आकर सुख-शान्ति एवं सद्दृष्टि प्राप्त करे।

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम्।
सकल-नय-विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

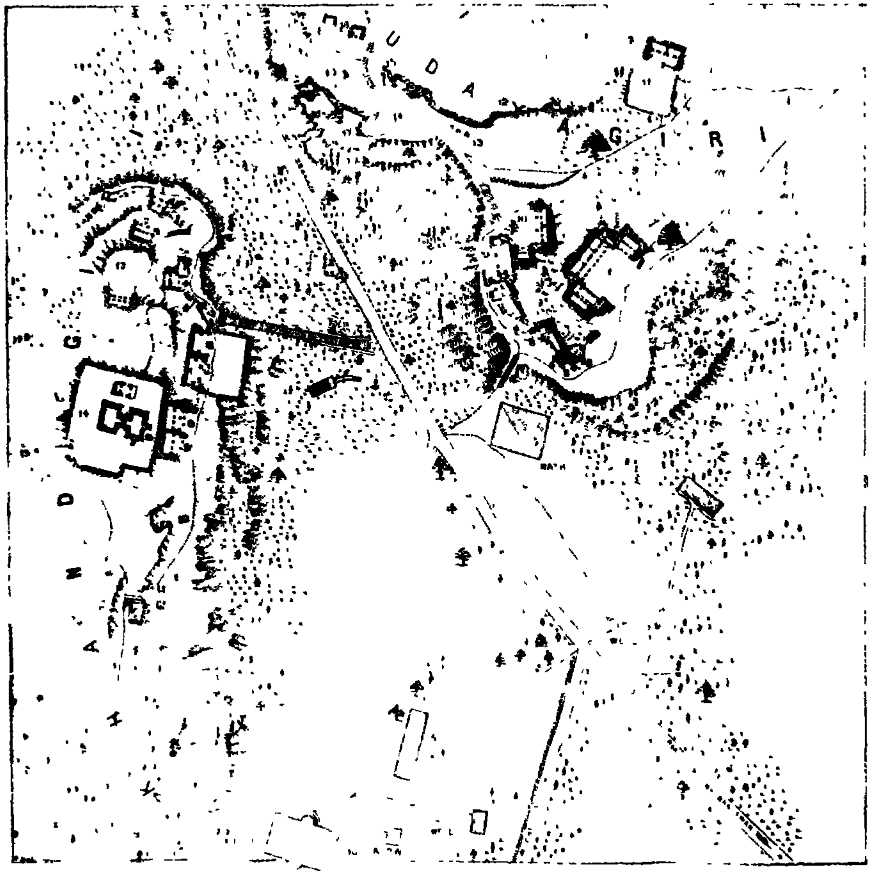
श्रीसमन्तभद्रविद्यालय, दिल्ली,　　ता० ३-३-५२

★



वीरसेवामन्दिर सरसावा का पूर्वद्वार

खडगिरि मार्ग उदयगिरि



चित्र नं० १ खंडगिरि उदयगिरि की गुफाओं का नक्शा

खंडगिरि और उदयगिरि गुफायें

उड़िसा

समविभक्त परिमाण

खंडगिरि	उदयगिरि
1 तत्वगुफा नं० २	1 रानी गुफा
2 तत्वगुफा नं० १	2-3 बाजाघर
3 एक खुली गुफा	4 छोटा हाथी गुफा
4 तेतुलि गुफा	5 अलकापुरी ,,
5 खडगिरि गुफा	6 जयविजय ,,
6 ध्यानघर या शख गुफा	7 ठकुरानी ,,
7 नवमुनि गुफा	8 पनम ,,
8 बारहभुजी गुफा	9 पातालपुरी ,,
9 त्रिशूल गुफा	10 मचपुरी-स्वर्गपुरी गुफा
10 खाडत गुफा	11 गणेश गुफा
11 ललाटेन्दुकेशरी गुफा	12 धान घर
12 आकाश गंगा	13 हाथी गुफा
13 अनन्त गुफा	14 सर्प ,,
14 जैन मन्दिर	15 बाघ ,,
15 निषिद्यायें	16 जम्बेश्वर ,,
	17 हरिदास ,,
	18 जगन्नाथ ,,
	19 रसोई ,,

खण्डगिरि-उदयगिरि-परिचय

(श्री बाबू छोटेलाल जैन)

वर्तमानमें प्रचलित 'उड़ीसा' शब्द 'ओड्रदेश' से उत्पन्न हुआ है। कलिंग, उत्कल, ओड़ या ओड्ड नाम का विस्तृत राज्य इसमें समाविष्ट है। एक समय दक्षिण कोशल नामका समस्त राज्य इसके अन्तर्गत था। कलिंग देश भारतवर्षके प्राचीनतम राज्य-विभागोंमेंसे एक है जो अपने ही नृपतियोके शासनाधिकारमें रहा है। वास्तवमें इस राज्यका वृत्त उत्तर-भारतके इतिहासका ही अंश है। अशोकके १३वें शिलालेखसे ज्ञात होता है कि ई. पू. तृतीय शताब्दीमें यह देश स्वतन्त्र और शक्तिमान था और उसने अशोक जैसे प्रबल सम्राट्का साहस-पूर्वक प्रतिरोध किया था।

प्रारम्भसे ही उड़ीसा जैनधर्मका केन्द्र रहा है। बौद्ध-धर्मके प्रचारार्थ जिन देशोंमें अशोकने धर्म-प्रचारकोंको भेजा था उन देशोंकी तालिकामें कलिंगका नाम नहीं है। इससे प्रमाणित होता है कि कलिंगकी प्रजाका विश्वास जैनधर्ममें दृढ़ था। ह्युयेनत्सांग नामक बौद्ध-चीनी परिव्राजक ने, जिसने सन् ६३९–६४५ में भारत-भ्रमण किया था, लिखा है कि 'कलिंगमें जैनधर्मकी प्रधानता है'। खडगिरि पर उद्योतकेशरी-वाले ११वी शताब्दीके शिलालेखसे यह ज्ञात होता है कि वहां जैनों का अस्तित्व एवं प्रभाव उस वक्त भी काफी था।

उड़ीसासे जैनधर्म कब विलीन हुआ और उसका क्या कारण था यह एक गहरे अनुसन्धानका विषय है, जिस पर फिर कुछ लिखा जायेगा।

उड़ीसाके पुरी जिलेमें भुवनेश्वरसे उत्तर-पश्चिम ५ मील पर खंडगिरि और उदयगिरि दो छोटे-छोटे पर्वत हैं। सन् १९५० के दिसम्बरमें पूज्य पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारके साथ मैं खंडगिरि गया था, अन्य साथियोंमें थे—प्रोफेसर डा० ए० एन० उपाध्याय कोल्हापुर निवासी, श्रीमोतीराम जैन फोटोग्राफर (सुपुत्र बाबू पन्नालालजी जैन अग्रवाल) दिल्लीवाले और श्री भट्टाचार्यजी चित्र कलाकार। पूर्व-व्यवस्थाके अनुसार वहा श्री टी. एन. रामचन्द्रन् (अध्यक्ष बंगाल, आसाम, और उड़ीसा पुरातत्त्व-विभाग) भी मिल गये। यों तो इस क्षेत्र पर मैं बीसो बार हो आया हू और काफी अनुसन्धान भी कर चुका हूं, पर इस यात्रामें विद्वानोके साथ होनेसे कई बातें विशेषतासे ज्ञात हुईं और श्री रामचन्द्रन् और मैंने जो कुछ देखकर और मनन कर नोट लिखे थे उनके साथ अपने पुराने नोटोंको मिलाकर यह "खंडगिरि-उदयगिरि-परिचय" अभी १५ नवम्बर १९५१ को अंग्रेजीमें एक छोटी पुस्तिकाके रूपमें राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसादजीके लिये, जब वे खंडगिरि पधारे थे, तैयार किया था।

खंडगिरि-उदयगिरिका प्राचीन नाम 'कुमारीगिरि' और 'कुमारगिरि' है। यहांकी गुफाओंमें बनवासी जैन मुनि तपस्या करते थे। यहा अकृत्रिम और कृत्रिम दोनों प्रकारकी गुफाएं है। मन्दिरोंकी गुफाओंको छोड़कर सब गुफाओका फर्श ढालू बनाया गया है ताकि उन पर शयन करनेवालोंको तकियेकी आवश्यकता न रहे। यहां अनेक तपस्वियोका परम्परागत वास यह सिद्ध करता है कि यह स्थान प्राचीन तीर्थभूमि है। श्रीहरिषेणाचार्यके वृहत् कथाकोश (दशवीं शताब्दी) में यममुनिकी कथासे इसकी पुष्टि भले प्रकार हो जाती है। इस कथाकोशमें पर्वतका नाम 'कुमारगिरि' लिखा है और इसके निकट धर्मपुर नामका एक प्रसिद्ध नगर बतलाया है :—

अथोड्र-विषये चापि पुरं धर्मपुरं····।
धर्माविनगरासन्ने कुमारगिरि-मस्तके ॥

इस यममुनिकी कथाका उल्लेख प्रायः दो हजार वर्षसे भी अधिक प्राचीन 'भगवती आराधना' ग्रन्थमें भी हुआ है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरस्वामीके फूफा कलिंगाधिपति महाराज जितशत्रु या जितारिका निर्वाण मेरे अनुमान से खंडगिरिमें ही हुआ था। और उन्हींके सम्बन्धसे यह सिद्धक्षेत्र हो जानेके कारण सहस्रों निर्ग्रन्थ मुनियोंने इस

स्थानको तपोभूमि बनाया था। ई. पू. द्वितीय शताब्दी में होने वाले कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेलने भी अपना अन्तिम-साधु-जीवन यहां ही व्यतीत किया था। आर्यसंघ, ग्रहकुल, देशीगणके आचार्य कुलचन्द्रके शिष्य भट्टारक शुभचन्द्रने भी यहां ११वीं शताब्दी में तपस्या की थी (देखो, खंडगिरिकी नवमुनिगुफाके दो लेख और ललाटेन्दु गुफाका एक लेख)

पुरातत्वकी दृष्टिसे यह स्थान केवल जैनोके लिये ही नही किन्तु समस्त भारतवासियोंके लिये बहुत ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि ऐतिहासिक घटनाओं और जीवनचरितको अंकित करनेवाला यहां सबसे पहला शिलालेख है, जो हाथीगुफा-शिलालेखके नामसे प्रसिद्ध है। कलिंग-चक्रवर्ती महाराज खारवेलने ई पू. द्वितीय शताब्दीमें अपने शासनकाल की १३ वर्षकी घटनाओंको इसमें लिपिबद्ध किया था। हाथीगुफा जैसी अकृत्रिम और भद्दी गुफामें ऐसे महत्वपूर्ण इतने बड़े और अर्थ-प्रतिपादक शिलालेखको स्थान देना विशेष अभिप्रायकी सूचना करता है। मेरे अनुमानसे उपर्युक्त श्री जितारिमुनिने इसी हाथी गुफामें तपश्चरण करते हुए निर्वाण-प्राप्त किया था और उसे तीर्थ बनाया था, जिससे वहां हजारों यात्री वन्दनाके लिये और हजारों मुनि तपश्चरणके लिये सैंकड़ों वर्षोंसे आते रहे हैं। अतः विशेष प्रचारकी दृष्टिसे और शिलालेखकी अपनी वैशिष्टताके कारण उसे इस महत्वपूर्ण स्थानमें अंकित किया गया है। अन्यथा महाराज खारवेलने अपनी अग्रमहिषीके लिये उसी गुफाके निकट जो अति सुन्दर समाश्रयरूप गुफा बनवाई थी उसीमें इस शिलालेखको भी स्थान दे देते। हाथीगुफा लेखकी १४वीं पंक्तिमें 'अर्हत्निषिद्या' शब्दोंका उल्लेख मेरी उपरोक्त बातोंको पुष्ट करता है। हाथी गुफा तीर्थ-स्थानके कारण ही अधिक मान्य और प्रतिष्ठित हो गई थी और महाराज खारवेलने उसका अकृत्रिम भद्दा रूप अक्षुण्ण रखते हुए भी उसे इतना महत्व दिया था।

महाराज खारवेल चेदिवंशके थे। चेदिवंशका उल्लेख वेद में भी है। ये लोग बरार (विदर्भ) में रहते थे। वहींसे छत्तीसगढ़ महाकोशल होते हुए कलिंग पहुंच गये थे। पुराणोंमें जहां कोशलके 'मेघ' उपाधिधारी राजाओंका वर्णन है वह शायद इन्ही महामेघवाहन उपाधि वाले खारवेलवंशियोंका कथन है। शिलालेखमें चेदिवंशको 'राजर्षिकुलविनिःसृत' कहा है। रामपुर जिलेके आरंग स्थानमें एक प्राचीन वंशके राज्य का पता चलता है जिसे 'राजर्षिकुल' कहते थे। यदि इसका सम्बन्ध खारवेलसे रहा हो तो समझना चाहिये कि खारबेलका वंश सैकड़ों वर्ष चला। अतः मध्य-प्रदेशमें विशेष अनुसन्धानकी आश्यकता है।

सारे भारतवर्षमे उत्तरापथसे लेकर पांडय देश तक महाराज खारवेलकी विजय-वैजयन्ती उड़ चुकी है। खारवेल सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यसे कम नहीं थे तो भी हमारे साहित्यमें उनका नाम निशान नही मिलता है। यह कुछ कम आश्चर्य अथवा रहस्यकी बात नही है। अनुसन्धान-प्रिय विद्वानोको इस ओर सविशेष रूपसे ध्यान देनेकी जरूरत है।

अब उदयगिरिके क्रमसे दोनों पहाड़ियों, और उनके अन्तर्गत गुफाओं आदिका परिचय नीचे दिया जाता है।

उदयगिरि

चेदि-वंशकी राजधानी शिशुपालगढ़से लगभग ६ मील और भुवनेश्वर से ५ मील उत्तर-पश्चिममें स्थित खंडगिरि-उदयगिरि नामकी पहाड़ियां है, जो जैनोंके लिये अति पवित्र है। इन पहाड़ियोमें जैनश्रमणोंके तपश्चरणके लिये ६५ या इससे भी अधिक गुफाएं है। उदयगिरि पर, जिसका प्राचीन नाम कुमारीगिरि था, कुछ गुफाएं गिरिगह्वर तथा शैल-शरणालय ई. पू. (B. C.) द्वितीय और प्रथम शताब्दीके है, और अन्य पीछेके है।

दो एक बड़ी गुफायें तो भगवान महावीर स्वामीके समयसे ही अरहंतोके संसर्गसे अतिपावन हो चुकी थी। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण हाथी गुफा है, जिसमें ई. पू. द्वितीय शताब्दीके चेदि-वंशज महाराज खारवेलका शिलालेख है, तथा राणी गुफा (ई. पू. दूसरी शताब्दी), गणेश गुफा (ई. पू. पहली शताब्दी), स्वर्गपुरी और मचपुरी नामकी गुफायें (ई. पू. दूसरी-पहली शताब्दी) भी महत्वपूर्ण हैं। राणी और गणेश गुफाओंमें जैन आख्यानों पौराणिक कथाओं, मूर्त्तिलेखनको स्पष्ट एवं व्यक्त करनेवाले अनेक उत्कीर्ण चित्र पाये जाते हैं, यहां तक कि कलिंगनृपतियोंके असली शिलाचित्र भी मिलते हैं।

हाथीगुफा

हाथीगुफा एक अकृत्रिम वृहद् गुफा है, जिसमें चेदिवंशीय महाराज खारवेलका प्रसिद्ध शिलालेख है। इस लेखमें महाराजके राज-जीवन-सम्बन्धी वर्ष प्रतिवर्षकी मुख्य-मुख्य घटनायें उल्लिखित हैं। इसका आरम्भ अरहंतों और सिद्धोंको जैनपद्धतिके अनुरूप नमस्कार करते हुए होता है। इस शिलालेखका प्रसंगोचित अंश नीचे नोट किया जाता है:—

१. शासनकालके प्रथम वर्षमें खारवेलने तूफानसे क्षतिग्रस्त राजधानीके द्वारो, प्राकारों, जलाशयों और राजकीय अट्टालिकाओंकी मरम्मत करवाई।

२. शासनके पांचवे वर्षमें उन्होंने तनसुलिय-बाट (सड़क) से प्राचीन नहरको राजधानी तक बढ़ाया।

३. नवमें वर्षमें ३८ लाख चांदीकी मुद्रा व्यय करके 'महाबिजय' नामक प्रासाद बनवाया। उसी वर्ष उन्होंने याचकोंको 'किमिच्छक' दान देकर 'कल्पद्रुम' पूजा की। यह पूजा जैनशास्त्रोंके अनुसार केवल चक्रवर्ती सम्राट् ही कर सकता है।

४. बारहवें वर्षमें मगधको विजय करके वे "कलिंग-जिन" प्रतिमाको प्राप्त कर लाये, जिसे मगधके नन्द-वंशका कोई राजा पाटलीपुत्र ले गया था।

५. राज्यके तेरहवें वर्षमें राज्य-विस्तारसे संतुष्ट होकर उन्होंने अपना खास ध्यान धर्मकी ओर लगाया, श्रावकोचित व्रत धारण किये और जीव तथा अजीवके भेद-विज्ञानका अनुभव करने लगे।

६. ७५ लाख रुपये व्यय करके अपनी राणीके लिये कुमारी पर्वतपर आश्रयस्थान निर्माण करवाया, जिसके लिये पत्थर बहुत दूरसे लाये गये थे।

७. महाराजके विरुदों (titles) में क्षेमराज, वृद्धिराज, भिक्षुराज, धर्मराज, राजर्षि-वंश-कुल-विनिःसृत, महाराज आदि पद व्यवहृत हुए हैं। महाराज खारवेल केवल एक विस्तृत साम्राज्यके ही निर्माता नहीं थे, बल्कि राजप्रासादों, तथा दुर्गों आदिके भी निर्माता थे, और ये वास्तवमें राजा शब्दको सार्थक करनेवाले अर्थात् अपनी प्रजाको अनुरंजित रखनेवाले।

यद्यपि उक्त अभिलेख उनके शासनके तेहरवें वर्ष तककी घटनाओंका उल्लेख करके ही समाप्त हो जाता है तो भी स्वर्गपुरी वाले लेखसे मालूम होता है कि महाराज खारवेल १०, २० वर्ष पीछे तक जीवित रहे हैं, क्योंकि इस लेखमें उनकी रानीने अपनेको शासनारूढ महाराज खारवेलकी अग्रमहिषी लिखा है। हाथी-गुफा-वाले शिलालेखमें खारवेलको 'अधिपति' कहा गया है, जबकि स्वर्गपुरी वाले लेखमें उनको 'चक्रवर्ती' लिखा गया है।

इससे यह प्रगट होता है कि ईसासे दो या तीन शताब्दी पूर्व खंडगिरि-उदयगिरिकी गुफाओं तथा उनके निकटवर्ती प्रदेशोंमें जीवन स्पंदित हो रहा था। खारवेलका यह लेख, जो कि धौलीसे कुछ ही मील दूरी पर है, सम्राट अशोकके धौलीवाले लेखके प्रभावको मिटानेके अभिप्रायसे वहां उत्कीर्ण किया गया था। धौली शिलालेख जिसको कलिंग विजेता अशोकने लिखवाया था, कलिंगवासियोंको पुनः-पुनः उनकी उस पराजयका स्मरण कराता था जिसमें, अशोकके अनुसार, १००,००० कलिंग-वीर निहत हुए, १०५००० वीर बन्दी बनाय गये, और इससे भी अधिक मनुष्य विध्वंसक युद्ध-जनित रोग, निराहार तथा लूटपाटसे विनष्ट हुए थे। अशोकके पश्चाद्वर्ती १०० वर्षके भीतरका ही खारवेलका यह शिलालेख कलिंग पर मागधी प्रभुत्वकी समाप्तिका स्पष्ट द्योतक है। यदि अशोकके शासनोंकी संख्या शासनके बाद शासन (राजाज्ञा) के रूपसे हुई है, तो खारवेलके लेखमें संख्या अपने राज्यकालके वर्षके बाद वर्षके रूपमें हुई है। इस लेखमें खारवेलकी उस दिग्विजयकी घोषणा है जिसमें उन्होंने उस "कलिंग-जिन"की प्रतिमाको जिसे पहले एक नन्द राजा मगध ले गया था, पुनः प्राप्त किया था। हाथी-गुफाका लेख और अशोकका धौलीवाला लेख दोनों ई. पू. ३०० और ई. पू. १०० वर्षके मध्यवर्ती भारत-इतिहासके एक विलुप्त पदकी पुनः प्राप्तिमें हमारे सहायक होते हैं। संक्षेपमें वह पुनर्निर्मित इतिहास यह होगा कि :—

१. मगध और कलिंग दो प्रतिद्वन्द्वी राज्य थे।

२. अशोककी विजयसे पूर्व कलिंगमें जैनमत राजधर्म था।

३ कलिंगने मगधके बढ़ते हुए साम्राज्यके प्रति विद्रोह किया, और नन्दोंने कलिंगपर विजय प्राप्त की, और उनमेंसे कोई "कलिंग-जिन" प्रतिमाको पाटलीपुत्र ले गया

४. कलिंग पीछे इतना स्वतंत्र हो गया कि महाराज अशोकको अत्यधिक धन-व्यय तथा नर-संहार करके कलिंग को पुनः जय करनेके लिये बाध्य होना पड़ा।

५. खारवेल ने मगधके साथ प्रतिशोध-स्वरूप सफल युद्ध किया और "कलिंग-जिन" प्रतिमाको पुनः प्राप्त किया और जैनधर्मकी राजधर्मके रूपमें पुनः प्रतिष्ठा की।

शिशुपाल गढ़में हालमें ही (१९४८ से १९५१ तक) खुदाईका काम हुआ है। श्री टी. एन. रामचन्द्रन[1] के अनुसार यह शिशुपालगढ़ संभवतः खारवेलके शिलालेखमें उल्लिखित कलिंगनगर ही है।

मंचपुरी

मंचपुरी गुफा (ई. पू. दूसरी-पहली शताब्दी) एक शैल-शरणालय अथवा समश्राय है जिसमें तीन कमरे हैं, जिनकी भूमि (फर्श) को इस प्रकार ढालू अथवा क्रमश उभारको लिए हुए बनाया गया है जिससे शयन करते समय बिना तकियाके सिर ऊचा रह सके; क्योंकि जैन साधु तकिया, बिस्तर वस्त्रादि किसी भी प्रकारका परिग्रह नही रखते है। इस गुफाके द्वारपालकों और स्तंभ-टोडियोंसे, जिनमें सुसज्जित घोड़ोंपर वस्त्र-शस्त्र-भूषित सवार हैं, पारसीक और सीदियन प्रभाव प्रदर्शित होता है। इस गुफाकी अन्य विशेषताओंमें बुद्ध गयाकी तरहकी वेदिका (Railing) और शाला-आदर्शके प्रस्तर है, जिनके बीच-बीचमे तोरण हैं, जैसे कि लोमस-ऋषि गुफामें (बराबर पहाड़ी, गया) हैं। गुफाओंके प्रवेश-द्वारोंपर त्रिरत्नका आलेखन (design) है। पारसीक शैलीके स्तंभोंपर शाला प्रस्तर है। टोडियोंकी मूर्त्तियोंमें भारी केश-बन्ध और मालाओं-सहित स्त्रियां पूर्णघट लिये हुए हैं।

इनमेंसे दो कमरे कुदेपश्री और बडुखने बनवाये तथा तीसरा सम्भवतः महाराज खारवेलने बनवाया था। यहां ध्यान देने योग्य यह है कि गुहामुखके मध्य भागमें उत्कीर्ण एक चित्र जो यद्यपि नष्ट-प्राय हो गया है तो भी उसके अवशिष्टांशमें "जिन" भगवान्‌की पूजा-अर्चना करता हुआ एक राजपरिवार, एक हाथी और ज्योतिष्कादि देव दृष्टिगत होते हैं। इस दृश्यका सम्बन्ध सब सम्भावनाओंके साथ उस घटनासे है जब महाराज खारवेलने मगध-विजय करके "कलिंग-जिन" नामक सुप्रसिद्ध जिन-प्रतिमाको लाकर कलिंगनगरमें प्रतिष्ठापित किया था। चित्रके मध्यभागमें सिंहासनपर कलिंगजिनकी मूर्त्ति थी, और हाथ जोड़े हुए राजोचित वेष-भूषा-युक्त जो राजपरिवार खड़ा है उनमें दो पुरुषोंमें या तो महाराज खारवेल और उनके उत्तराधिकारी युवराज कुदेपश्री हैं या महाराज कुदेपश्री और कुमार बड़ुख हैं। दो स्त्रियोंमें खारवेलकी अग्रमहिषी और पुत्र-वधू हैं। आकाश मार्गसे उड़ता हुआ एक विद्याधर या देव है। उत्सुक हाथी तिर्यंचोंका प्रतिनिधित्व करता है। कमल-पुष्प ज्योतिष्क-देवोंका सूचक है, और आकाशमें ढोल बजाते हुए गंधर्व-जातिके देव हैं। वामभागका चित्र विनष्ट हो गया है। उसमें सम्भवतः अन्य देव जैसे लौकान्तिक, व्यन्तर आदि प्रदर्शित थे। साराश यह कि इस चित्रमें जिन-भगवान्‌की पूजा करते हुए देव, मनुष्य, और तिर्यंच प्रदर्शित किये गये है और दूसरी विशेषता इस चित्र में यह है कि राज-परिवारकी प्रतिमूर्त्ति तदाकार अर्थात असली (Postraid) है। (चित्र नं० २,३)

मंचुपुरी गुफामें दो शिला लेख निम्न प्रकार हैः—

(१) ऐरस महाराजस कलिंगाधिपतिनो महा...
वाह....कुदेपसिरिनो लेणम् (चित्र मं० ४)

(२) कुमार वडुखस लेणम् (चित्र नं ५)

स्वर्गपुरी

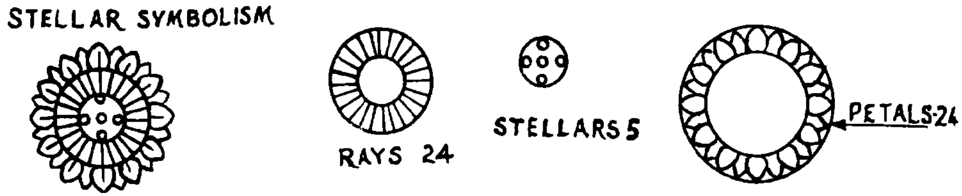
स्वर्गपुरी (ई. पू. दूसरी-पहलीशताब्दी)—इस गुफामें एक छोटा तथा एक बड़ा दो कमरे है। इन कमरोंके फर्श भी भी पीछेसे कुछ ऊचे हैं। कमरोंके बीचमें निम्न लिखित लेख है, (चित्र नं० ६), जो कि इस गुहाका निर्माण कराने वाली खारवेलकी राणीका हैः—

(प्रथम पंक्ति) अरहत पसादान (म्) कालिंगा (न) म् समणानम् लेणं कारितं राजिनो ल(ा)लाक(स)

१ शिशुपालगढ़ J.A.H.R.S.Vol.xixpp.140-153.

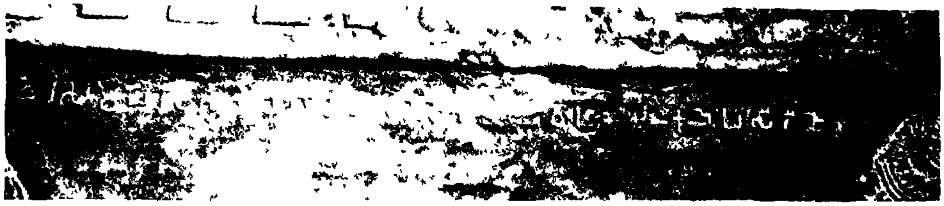


चित्र नं० २—मंचपुरी गुफा में देव, मनुष्य (राजपरिवार) और तिर्यञ्च, 'जिन' भगवान की वन्दना कर रहे हैं



चित्र नं० ३—ज्योतिष्क देवों का सूचक कमल (मंचपुरी गुफा) उसका सविशेष रेखा चित्र

ब्राह्मी लिपि में शिला लेख



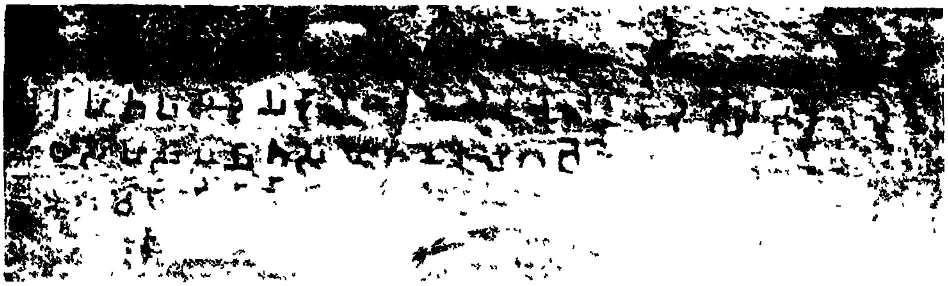
चित्र नं० ४—मंचपुरी गुफा में कुदेपश्री का शिला लेख खृ० पू० द्वितीय प्रथम शताब्दी

ऐरस महाराजस कलिंगाधिपतिनो महा-वाह-कुदेपसिरिनो लेणं



चित्र नं० ५—मंचपुरी गुफा में कुमार बडुख का शिला लेख-खृ० पृ० द्वितीय-प्रथम शताब्दी

कुमारो वडुखस लेणं



चित्र नं० ६—स्वर्गपुरी गुफा में महारानी का लेख - खृ० पू० द्वितीय-प्रथम शताब्दी

१ अरहंत पसादान (म्) कालिंगा (न) म् समणानम् लेणं कारितं
राजिनो ल (ा) लाक (स)

२ हथिस हंस-पपोतस धु ना कलिंग—च······र वेलस

३ अगमहीपी या का लेणं

(द्वितीय पंक्ति) हथिस हंस-पपोतस धु–[ ]ना कलिंगा -च..................रवेलस ।

(तृतीय पंक्ति) अगमहीसी या का लेणम्

गुफाके सम्मुख भागमें पारसीक ढंगके स्तम्भ हैं और चार तोरण हैं, जिनमें एक मकर आलेखन और शाला ढंगके एक दीर्घप्रस्तर-स्तम्भको ऊर्ध्व भागमें लिये हुए है। यह गुफा हाथीगुफाके लेखके समयसे किंचित पीछे की तथा मंचपुरी गुफाके समकालीन है।

राणी गुफा

राणी गुफा (ई. पू. दूसरी शताब्दी)—यह गुफा महाराज खारवेलने अपनी राणीके लिये बनवाई थी। यह गुफा दो मंजिली है। दोनोंमें ही विशाल तक्षण-कार्य है, जिसका शिल्प भारहुतसे भी बढ़ा-चढ़ा है, जब कि उसका रचना-विस्तार और मूर्तियोकी सजीवता एवं तेजस्विता एक ऐसी विकसित अवस्थाको सूचित करती है जैसी कि सांचीके द्वारोंमें दृष्टिगत होती है।

ऊपरकी मंजिलके दृश्य

(१) कुछ स्त्रियो सहित एक राजा हाथियोंके दलमें एक हाथी से लड़ रहा है। (२) वन्य दृश्य, जैसे गुहामें सिंह, बन्दर, सर्प, पक्षी, और व्याघ्र। (३) गुफाके सम्मुख एक पुरुष तथा एक स्त्री। पुरुष संसारसे विरक्त हो कर मुनि-व्रत ग्रहण करना चाहता है तथा स्त्री उसको रोकनेकी चेष्टा कर रही है (४) वही दम्पति। पुरुष गुफाकी ओर बढ़ रहा है और स्त्री उसे रोक रही है। (५) शस्त्र-सुसज्जित स्त्री और पुरुषका द्वंद्व-युद्ध। उन दोनोंके मध्यमें एक लोमडी दिखाई पड़ती है। (यह उस कथाके सदृश है जिसमें रुधिर-लोलुप एक शृगाल मेष-युद्ध देख रहा था।) युद्धनिरत-स्त्री-की पीठ पर अस्खलित बेणी लटकती है। (६) पुरुष जिसने उस स्त्रीपर विजय प्राप्त किया है, उसे हाथोमें उठा कर ले जा रहा है, जब कि उस स्त्रीका भाव आत्म-गरिमा और स्त्रियोचित विजयोल्लास प्रकट करता है, जिसे उसका दक्षिण कर सूचित रहा है, उसके बाम-हाथमें अभी भी ढाल है, मानो उसका बाम हाथ अब भी पुरुषको यह चुनौती दे रहा है कि "तुमने द्वंद्व-युद्ध में मुझे जीता है, पर क्या मेरे मन पर विजय पाई है?" (७) राजकीय मृगया। राजा अपने घोड़ेसे उतर चुके हैं, साईस घोड़ेको पकड़े हुए है, राजा आगे बढ़कर लम्बे सीगवाले एक पक्षयुक्त (परोंवाले) मृगपर तीर चलारहा है। मृग तेजीसे भाग रहा है। उसके पीछेसे दो मृग और हैं। इस चित्रमें मृग आहत होता नही दिखाया गया है। परवर्ती चित्रमें वह मृग अपनी स्वामिनीकी ओर रक्षाके लिये भाग रहा है जो एक वृक्षकी शाखापर बैठी देख रही है। शिकारका पीछा करता हुआ राजा वृक्षोपविष्टा युवतीके पास पहुंचता है, पर अब उसका धनुष उतरा हुआ है। विशेषज्ञोंका अभिमत है कि यह चित्र दुश्यन्त और शकुंतला-का कण्वाश्रममें भेंटका द्योतक है। (८) एक प्रौढ़ स्त्री अपनी अनुचारिकाओके बीचमे बैठी हुई नृत्य देख रही है। यह स्त्री खारवेलकी महिषी जान पड़ती है। तीन स्त्रियां नाच रही हैं, और अन्य ३ बैठी हुई हैं। एक उपबीणा दूसरी झल्लरी बजा रही है और तीसरी हाथोंमे ताल दे रही है। बांई ओर अन्तमें एक पुरुष है (संभवत. राजा), वह भी नृत्य देख रहा है। उसके सम्मुख करण्ड जैसी मंजूषा है। उस प्रौढ़ाके पास थालमें मालाएं लिये एक अनुचारिका खड़ी है (चित्र नं० ७)। अगले तीनो चित्रोंमेंसे प्रत्येकमें एक राजा और एक राणी हैं। पहले दो चित्रोंमें प्रेमभावसे स्त्री राजाके अंकमें बैठी है, जो संसारी जीवनका द्योतक है। तीसरे चित्रमें स्त्री गोदमे उतरी हुई है। पुरुषके हृदयमें विरक्ति का भाव है, और स्त्री उसको संसारमें फँसाये रखनेके लिये रोकनेकी कोशिश कर रही है। बरामदेके सब अवलम्बन चित्र (Caryatid figures) साँचीके पश्चिमी द्वारके चित्रोसे मिलते-जुलते हैं। द्वारके निकटका [सिं]हारोही पटनेके मौर्य-कालीन यक्षकी मूर्तिके सदृश है। कचुकसहित द्वारपालोंकी मूर्तियाँ प्राचीन साहित्यमें उल्लिखित कंचुकियोंका स्मरण कराती हैं और एक बूट-सहित चित्र सीदियन प्रभावको प्रकट करता है।

नीचेकी मंजिलके दृश्य

द्वारपालोंसे सीदियन प्रभाव प्रकटित होता है। गुफाओंके बाहर आंगनमें दोनों ओर दो छोटे छोटे प्रहरी आश्रय-भूत-आच्छादन हैं, जिनके बाहरकी दीवारोंपर वनका एक दृश्य अंकित किया गया है, जिसमें जलाशयमें केलिरत हाथी, वृक्षोंपर उपविष्ट फलभक्षण करते हुए

मर्कट-युगल, आम्रफलोंसे युक्त वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। मृग, पक्षी, सेही आदि जन्तुओंसे वनश्री सोल्लास हो रही है।

नीचेकी मंजिलमें ४ गुफाएं हैं। बरामदेके सब चित्र नष्ट होगये हैं, किन्तु बाईं ओरके किंचित् अवशिष्टांशोंसे ज्ञात होता है विजयी राजाका प्रत्यागमन और स्वागत-समारोह। एक अनुचर राजापर छत्र लिये हुए है, राजाका घोड़ा उनके सामने है, फिर राजाके पीछे योद्धा खड़े हुए हैं। स्त्रियां पूर्ण-कुंभोंसे और आरती द्वारा उनका स्वागत कर रही है। इस दृश्यका सम्बन्ध संभवतः महाराज खारवेलसे है जब वे दिग्विजयसे राजधानीमें लौटे हैं, और उनका स्वागत पूर्णकुंभों और एक अलंकृत अश्वको भेंट-स्वरूप अर्पण करते हुए किया गया था।

उत्तरकी ओर दूसरी गुफामें एक लम्बे कदका सीदियन योद्धा है, जिसके हाथमें बर्छा है। इस गुफामें स्तम्भोंके ऊपरी भागमें पीठसे पीठ सटाकर बैठे हुए पशु है; जैसे बैल सिंह हाथी और घोड़े। पार्श्व प्रदेशमें टांड बने हुए हैं, जिन पर संभवतः मुनिगण शास्त्र और कमण्डलु रखते थे। इस गुफाके तक्षण-कार्य युक्त सम्मुख भाग पर जो दृश्य अंकित है वे है पूजार्थ मन्दिरकी ओर गमन करती हुई एक स्त्री, अपनी दो रानियों के मध्यमें उपविष्ट राजा, पट-मंडपके नीचे एक गायक और वाद्यकर-मंडली है जिसमें एक नृत्य करती हुई महिला और उसके साथ दूसरी स्त्री मृदंग बजाती हुई, तीसरी स्त्री ढप बजाती हुई और हाथोंसे ताल देती हुई, चौथी उपवीणा-वादिनी और पांचवी वेणुगान प्रदान करती हुई है। यह पटमंडप भारहुत जैसा है। स्त्रियोंके कुंडल जैसे अमरावतीमे हैं उस सदृश हैं। बेणु (वंसी) का कोना सिंहकी आंशिक प्रतिमूर्तिकी आकृतिका है। पूजार्थ मन्दिरकी ओर जाता हुआ राजा और पुष्प थाल लिये अनुगामिनी एक महिला चित्रित हैं। राजाके ऊपर छत्र है। बरामदेके तीनों तोरणों पर त्रिरत्न हैं। ये सब मूर्तियां एक विकसित वेदिका (रेलिंग) पर स्थित हैं।

गणेश गुफा

यह ई. पू. दूसरी शताब्दी की है। इसमें दो कमरे हैं। जो कथा-दृश्य राणी गुफामें देखनेमें आता है उसीका सूक्ष्मरूप यहां प्रदर्शित किया गया है। प्रथम एक नारीका अपहरण, फिर एक पुरुष और स्त्री का युद्ध। तत्पश्चात् वह स्त्री उस पुरुषको संभवतः एक गुफा-आश्रयमें ले जा रही है, और अन्तिम दृश्यमें गुफाके सामने वह पुरुष लेटा हुआ है, और वह स्त्री उसके पासमें बैठी हुई है। गुफाके बरामदेमें बाईं ओरसे दाहिनी ओर तक निम्न दृश्य अंकित किये गये हैं:—कई किरात सैनिक हाथी पर बैठे हुए एक पुरुष (राजा) एक स्त्री तथा उसके अनुचरका बड़ी सरगर्मीसे (उग्रतासे) पीछा कर रहे है। स्त्रीके हाथमें अंकुश है; राजा, जिसका वेष भी किरातों जैसा है, उन पीछा करने वाले किरातों पर तीर चला रहा है; और अनुचर, जिसके हाथमें रुपयोंकी थैली है, सिक्के गिरा रहा है ताकि किरात सैनिक प्रलोभित होकर पीछा करना छोड़ दें। दूसरे दृश्यमें वह पुरुष (राजा) वह स्त्री और अनुचर हाथीसे उतर रहे हैं। धनुष लिये हुए वह राजा, उसके बाद फलोंका एक गुच्छा लिये वह स्त्री और उसके पीछे रुपयों की थेली लिये अनुचर चल रहा है। अंतिम दृश्यमें वह स्त्री भूमि पर बैठी विलाप करती है, वह पुरुष उस स्त्रीकी ओर झुक कर उसे सांत्वना दे रहा है, और वह अनुचर एक हाथमें राजाका धनुष और दूसरेमें थैली लिये खड़ा है।

इस बरामदेके दृश्य एक अनतिपूर्व-कालीन वेदिकाके नमूने पर और स्तम्भके ऊर्ध्व भागके पास कूटागार-सदृश आलेखन पर अंकित किये गये हैं। स्तम्भका उर्ध्व भाग, भार-वाहक मूर्तियों पर अवस्थित है। तोरण द्वारों पर मकर हैं, जिनके मुखसे लता बहिर्गत हो रही है। प्रत्येक तोरण पारसीक विधिके स्तम्भों पर है। टोडियों पर (जिनके मध्य भागमें गर्त है) नर नारी और एक राजाकी मूर्तियां बनी हुई हैं। गुफाके भीतर अपरिपक्व और आधुनिक कालीन मूर्ति एक मुनिकी और एक गणेश की हैं, और शान्तिकर देवनृप-कालीन एक शिलालेख भीमटका है। शान्तिकरका शासनकाल आठवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है। वही भीमटका लेख धौली में भी है। द्वारपाल पर पार्श्वशायी बैलका चित्र है।

छोटा हाथी गुफा

(ई० पू० द्वितीय शताब्दी)

इस गुफाके बाहर सम्मुख भाग पर जंगलका एक दृश्य है, जिसमें वृक्ष, और पुष्प डाल लिये हुए हाथी दोनों तरफ प्रदर्शित किये गये है। हाथी केवल सजीव और तेजस्वी ही नही बनाये गये है बल्कि दृश्य-कलात्मक भी है। द्वारके तोरणकी कछौटेदार डाट पर एक विनष्ट शिला लेख एक पंक्ति का है:-अगिख (?)........स लेणम् अर्थात्.........की गुफा...............।

अलकापुरी गुफा

(ई० पू० दूसरी शताब्दी)

इसमे द्वितीय गुफाके प्रवेश-द्वारके पास ही एक नारी शुक पक्षीको लिये खड़ी है (अमरावती में भी इसी प्रकार है)। उसके ऊपर एक शाल-भंजिका है जो लतासे लिपटी हुई है। सांचीमें भी ऐसी ही मूर्ति है।

उदयगिरिकी अन्य दर्शनीय गुफायें

१. सर्प-गुफा (प्रथम शताब्दी)—इस गुफाका सामनेका भाग सर्पके मुख-जैसा है, इससे इस गुफाका नाम सर्प-गुफा पड़ गया है। इसका फर्श बड़ा चिकना है। इसमें दो शिलालेख निम्न प्रकार है:—

"चूलकमस कोठा जेया च"

अर्थात्—चूलकमूका अनुपम कोठा।

"कम्मस हलखिण्य च पसादो"

अर्थात्—कम्म तथा हलक्षिणका प्रासाद।

२. **पवनारी गुफा**—यह प्रायः आधे दर्जन गुफाओ का समूह है, जिनका निर्माण काल अनिश्चित है।

३. **बाघ गुफा** (प्रथम शताब्दी) इसका मुख व्याघ्र-जैसा है। यह एक छोटी गुफा ७ फुट लम्बी तथा ६ फुट ४ इंच चौड़ी है। इस के सम्मुख भाग पर एक शिला लेख है:—

"नगर अखबंस सभूतिणो लेणम्"

अर्थात्—नगर-विचार-पति सभूति (सुभूति) की गुफा

४. **जम्बेश्वर गुफा** (ई. पू. प्रथम शताब्दी)—जम्वेश्वर अर्थात् भालुओं के प्रभुकी गुफा। इस गुफामें दो द्वार तथा स्तम्भ है। स्तम्भ-मध्यमें अष्टकोण युक्त और शेषांशमें चौरस है। इसके सम्मुख भाग प्र यह शिला लेख है:—

"महामदास बारियाय नाकियस लेणम्।"

अर्थात्—महामदकी भार्या नाकियाकी गुफा।

५. **हरिदास-गुफा** (ई. पू. प्रथम शताब्दी)

यह गुफा गणेश गुफाके सदृश है, इसके चौरस खंभे हैं, जिनमें वृहद् छिद्रयुक्त टोडियां बनी हुई है। इसके बरामदे पर निम्न शिला लेख है—

चूलकम्मस पसादो कोथा जेय (।) च

अर्थात्—चूल-कर्मका प्रासाद तथा अनुपम गुफा।

६. **जगन्नाथ गुफा**—(अनुमानतः ई. प्रथम शताब्दी)।

उदयगिरीकी यह सबसे लम्बी गुफा है, २७॥ फुट लम्बी और सात फुट चौडी। इसमे किन्नरो, गणों, विद्याधरों, मिश्रजातिजीवों, मृग, हस, पक्षी और मछलीके चित्र अंकित है। यहां एक स्तम्भकी टोडीपर एक चित्र अंकित है, जिसमें एक सारस पक्षीने अपनी कंठ-नालीसे कांटा निकलवानेके लिये 'गण' की तरफ अपना मुख खोल रखा है। इसकी कथा प्रसिद्ध है।

खण्डगिरि

खंडगिरि पर जितनी गुफाएँ है उनमे तत्व (तोता) गुफा और अनन्तगुफा सबसे अधिक महत्त्व की है।

१ **तेतुली गुफा** (द्वितीय-तृतीय शताब्दी) इस गुफा-के सामने तेतुल (इमली) का एक पेड़ है इससे इसका नाम तेतुली गुफा पड़ गया है। यह गुफा अपूर्ण मालूम पड़ती है और इसपर परवर्ती कालके कई कारुकार्य उपलब्ध है। इसके स्तम्भोंका मध्य भाग अष्टकोणीय और बाकी चौकोर है। इसके स्तम्भ भी विकसित है। स्तम्भोंके टोड़ोंपर पीठ-से-पीठ सटाकर बैठे हुए हाथी और व्याघ्र और एक खड़ी नारीके प्रत्येक हाथमे कमल ध्यान देने योग्य है।

२. **तत्व गुफा न. २** (ई. पू. प्रथमसे पहली शताब्दी)—इस गुफामें तीन द्वार, दीर्घ प्रस्तरासन, पार्श्वस्थछिद्र (खिड़की) और चौकोर स्तम्भ है। मध्यमें कटी हुई टोडियों-पर पल्लव, नर्त्तकी और वीणापाणिनर, पुष्पमाल-सहित अलंकृतनारी, स्तम्भके ऊर्ध्व भागके भृंगोंके दाहिनी ओर सिंह और बाईं ओर हाथी है, पल्लव-युक्त तोरणोपर त्रिरत्न चिह्न है। एक तोरणपर मृग-युगल, दूसरेपर कपोत-युगल और तीसरे तोरणपर शुक-युगल अवधान-योग्य है। मध्य-

का तोरण नाग-फणोंको प्रदर्शित करता है। सभी तोरण पारसीक ढंगके स्तम्भोंपर हैं। इन स्तम्भोंके ऊपरका भाग गोल है। स्तम्भ बटी हुई रस्सीकी आकृतिके हैं, जिनपर पीठ-से-पीठ सटाकर बैठे हुए पशु अंकित किये गये है। इस गुफाकी अलंकारिक कला अपनी विशेषता लिये हुए है।

३. **तत्व गुफा नं. १** (ई. पू. प्रथमसे पहली शताब्दी)— इसके दो द्वार है। प्रचलित तोरण, रानी गुफाके जैसे स्तम्भ, टोड़ियोंके आधारसहित स्तम्भोंके ऊर्ध्व भागपर तोरणोंपर शुकपक्षी और मकर जिनके मुखसे कुटिलगामिनी लता निर्गत हो रही है—जैसी मथुराके पुरातत्त्वमें प्राप्त है। यहां विशेष उल्लेखनीय बरामदेमें एक शिलालेख है, जिसमें लिखा है—पादमूलिक निवासी कुसुमाकी गुफा (पादमूलिकस कुसुमास लेणम्)।

४. **अनन्त गुफा**—(ई. पू. प्रथमसे पहली शताब्दी) इसके तोरणोंके ऊपर दोनों तरफ नाग (अनन्तनाग) है। इससे इसको अनन्त गुफा कहते हैं। इस गुफाके बरामदेमे निम्नलिखित वस्तुएँ दृष्टव्य हैं:—

(१) साधारण वेदिका द्विसूची-युक्त।

(२) स्तम्भोपर शाला प्रस्तर और स्तम्भोंके बीचमें उड़ते हुए विद्याधर।

(३) मणिकंठधारी त्रिफणायुक्त नाग।

(४) तोरणोंमें माला, तिमिजातीयमत्स्य, सिंह, मकर, व्याघ्र, चंचुओंमें मुक्ताफल लिये हुए हंस है। और तोरणोंके ऊपर त्रिरत्न चिह्न है।

(५) चतुष्कोणविशिष्ट पार्सिक ढंगके स्तम्भ।

(६) तोरणोंका तलभाग जिनके बरोगे (raftars) दिखाई नही पड़ते।

(७) तोरणोंके नीचे निम्नलिखित दृश्य उल्लेखनीय हैं:—

(क) अपनी दो हथनियों सहित हाथी जिसका अग्रभाग चपटा है।

(ख) सूर्य, दो हाथोंसहित, दो पहियोंके रथपर, जिसमें चार घोड़े जुते हुए हैं (मथुराके जैसा), उषा और प्रत्युषा नामक अपनी दोनों पत्नियों सहित और पिंगल तथा दंड दोनों पार्श्वचर-सहित। एक तरफ चन्द्रमाका सूचक अर्द्धचक्र और दूसरी ओर समस्त ज्योतिष्कलोकका सूचक कमल है। जैसाकि मंचपुरी गुफामें है।

(ग) गजलक्ष्मी—हाथोंमें कमल-सहित, घड़ोंसे अभिषेक करते हुए दो हाथियोंके मध्य खड़ी हुई, कमलफलों पर उपविष्ट शुकयुगल।

(घ) चतुर्थ तोरणके नीचे वेदिकाके मध्यमें चैत्यवृक्ष और पुष्पमालाओंसे पूजा करते हुए राजा और रानी उत्कीर्ण किये गये है। बरामदेके अन्तिम भागमें पुष्प लिये हुए उड़ते हुए विद्याधर है। और बरामदेके अन्तिम दाहिने भागमें एक उड़ता हुआ विद्याधर एक थालमें-से माला ले रहा है, थाल एक भूतके हाथमें है, जिसके कान पत्राकार है और मुख-दन्त विकसित है। स्तम्भ. जो मध्यमें अष्टभुजाकार हैं, उनके दोनों तरफ (भीतर और बाहर) चित्ताकर्षक टोड़े हैं। भीतरवाले टोड़ोंमेंसे प्रथममें एक पुरुष तथा एक स्त्रीको ले जाने वाले हाथीके अवलम्बनस्वरूप एक भूत है। दूसरे और चौथे टोड़ोंमें पल्लवबन्ध पार्श्वस्थ पूजा करती हुई दो नारिया है, जिनका अंग कमनीयतासे मुड़ा हुआ है। तीसरेमे, हाथोमें कमल लिये स्त्रियां है, जिनमें एक स्त्री अनेक कंकण पहिने हुए धातुमय रत्नकोष-सी जान पड़ती है। पांचवीं टोड़ीमें कमलपर स्थापित हाथी है। बाहरकी टोड़ियोंमें पहली और पांचवीमें अश्वारोही सैनिक और दूसरी, तीसरी, तथा चौथीमें भूत हैं।

गुफाके पृष्ठ-देशकी भीतपर एक पंक्तिमें निम्नलिखित चिह्न उभरे हुए हैं:—स्वस्तिक, नन्दीपद, त्रिरत्न, पंचपरमेष्ठि चिह्न। नन्दीपद, और स्वस्तिक, इन चिह्नोंके नीचे अधूरी एक मूर्ति आदिनाथकी चमरेन्द्रों पुष्पवृष्टि और दुंदभिवाले देवों-सहित उत्कीर्ण है। मालूम होता है शिलावटने मूर्ति बनाना प्रारम्भ करके कठिनताके कारण अधूरी छोड़ दी है।

गुफाके बरामदेके बाईं ओरकी कड़ीपर निम्नलिखित शिलालेख अंकित है:—

दोहद समणानम् लेणम्।

अर्थात्—दोहदके श्रमणोंकी गुफा।



चित्र नं० ७—रानी गुफा—उदयगिरि, मंडप में नृत्य, गीत, वादित्र समारोह। ई० पू० द्वि० शताब्दी



चित्र नं० ८— आदिनाथ मन्दिर—खड़गिरि। राजा मंजु चौधरी (परवार) द्वारा निर्मित



चित्र नं० ६ —आदिनाथ और अम्बिका की उत्कीर्ण मूर्त्तियां—खड़गिरि ८ वीं ९ वीं शताब्दी

खण्डगिरिकी अन्य गुफाएँ

खंडगिरि पर्वतपर, परकालीन गुफाओंमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:—

(क) **खंडगिरि** (खंडित पर्वत) गुफा—जिसका समय अनिश्चित है, दो खंडकी है और पर्वतपर चढ़ते हुए सबसे पहिले यही मिलती है।

(ख) **ध्यानघर**—इस गुफाका दूसरा नाम शंखगुफा है। संभवतः यह गुफा मध्यकालीन है। मूलतः यह गुफा एक गह्वर-जैसी थी पर इसके अग्र भागकी दीवाल और बरामदेके स्तम्भोके गिर जानेसे यह एक बड़े खुले कमरे-के रूपमें परिणत हो गयी है। इसकी बाई दीवालपर सात अक्षर शंख-लिपिके उत्कीर्ण हैं।

(ग) **नवमुनि गुफा**—यह गुफा भी संभवतः मध्य-काल की है। इसकी दीवालपर नौ तीर्थंकरोंकी पद्मासन मूर्तियां उत्कीर्ण है। और उनके नीचे यक्षणी देवियां हैं। मूर्तियोंके साथ तीन छत्र और दो चमरेन्द्र है। मूर्तियोंके नाम आदिनाथ, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन नाथ, वासूपूज्य, पार्श्वनाथ, और नेमिनाथ है। इनके अतिरिक्त पार्श्वनाथ और आदिनाथकी दो और मूर्तियां हैं। यहां चार शिलालेख भी हैं, जिनमें एक दसवी शताब्दीका उद्योतकेशरीके शासनकालके अठारवें वर्षका है। दूसरा श्रीधर नामक एक विद्यार्थीका है। तीसरा विजो(विद्या)विद्यार्थीका, जो आचार्य खल्ल शुभचन्द्रका शिष्य था। शुभचन्द्रको आचार्य कुलचन्द्रका शिष्य लिखा है और चौथा अस्पष्ट है।

(घ) **बारहभुजी गुफा**—यह भी मध्यकालकी है। इस गुफामें तेईस पद्मासन और एक खड्गासन तीर्थंकरोकी मूर्त्तियां यक्षिणी देवियोंकी मूर्तियों सहित है। गुफाके बाहर बरामदेमें बाईं और दाहिनी तरफ बड़ी २ दो बारहभुजी मूर्त्तियां देवियोंकी है। जिनके मस्तकपर आदिनाथ और महावीरकी मूर्ति है। इनमें एक चक्रेश्वरी-की मूर्ति है और दूसरी सिद्धायिनीकी। यहां एक छोटी-सी मूर्त्ति खड़े हुए दिगम्बर मुनिकी है, जिनके हाथमें पिच्छि है, और कमंडल सामने रखा है। इस गुफाके सामने एक आधुनिक छोटा चैत्यालय है।

(ङ) **त्रिशूल गुफा**—इस गुफाके बरामदेमें एक त्रिशूल उत्कीर्ण है, इससे इसका वही नाम प्रसिद्ध हो गया है। यह भी मध्यकालकी है। इसकी दीवालोंपर २४ तीर्थंकरोंकी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। इसके सामने एक मन्दिर है।

(च) **ललाटेन्दुकेशरी गुफा** (मध्यकालीन)—मूलतः यह गुफा दो मंजिलकी थी किंतु उनका अग्र भाग और दीवालोंका कुछ भाग गिर गया है। दीवालोंपर तीर्थंकरोंकी मूर्तिया उत्कीर्ण हैं, जिनमें आदिनाथ और पार्श्वनाथकी सविशेष रूपसे प्रदर्शित की गयी हैं। गुफाके पीछे की दीवालपर तलभाग से ३०-४० फीटकी ऊंचाईपर कई दिगम्बर मूर्तियोंके ऊपरके भागमें एक ग्यारहवीं शताब्दीका खंडित शिलालेख अशुद्ध संस्कृत भाषामें पांच पक्तियोंमें उत्कीर्ण है, जिसमें लिखा है कि, उद्योत-केशरीके शासनके पांचवें वर्षमें श्री कुमारपर्वतपर जीर्ण जलाशय और मन्दिरोंका जीर्णोद्धार करा कर २४ तीर्थंकरों-की मूर्तिया स्थापित कराईं। श्रीपार्श्वनाथके मन्दिरमें 'जसनन्दी......'इस शिला-लेखमें पर्वतका नाम कुमार-गिरि लिखा है किन्तु खारवेल के शिलालेखमें कुमारीगिरि लिखा गया है।

(छ) ललाटेंदुकेशरी गुफाके निकट पहाड़की दीवाल-पर, जिसका बहुत-सा भाग गिर गया है, १०-१२ फुट ऊपरमें दो मूर्तियां आदिनाथकी और एक अम्बिकाकी तीनों मूर्तियां खड्गासनमें उत्कीर्ण है (चित्र ९)। इनका समय आठवीं-नवमी शताब्दी है। जैनमूर्त्ति-कलामें अम्बिका (नेमीनाथ-की यक्षिणी)को बहुत महत्व प्राप्त है और इसकी मूर्त्ति प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। खंडगिरिके ऊपर राजा मंजू चौधरी (परवार) के मन्दिरमें (चित्र नं० ८) अम्बिकाकी प्राचीन दो मूर्तिया बड़ी सुन्दर और कालापूर्ण हैं। इसी प्रकार खंडगिरिके निकटवर्ती कई ग्रामोंमें भी मने अम्बिकाकी मूर्तियो के दर्शन किये हैं। इस देवीके साथ दो बालक और आम्रफलयुक्त शाखा या वृक्ष रहते हैं। यह देवी सिंह-वाहिनी है।

कलकता, ता० २५-२-१९५२

नोट—इस लेखसे सम्बन्ध रखनेवाले जो ९ फोटो चित्र साथमें लगे है उनमें चित्र-विषयकी सूचनाके साथ जहाँ 'ख्रु० पू०' एसा उल्लेख है वहां वह लेखमें उल्लिखित 'ई० पू०' का वाचक है।

सम्पादकीय

१. अनेकान्तका नया वर्ष—

इस सर्वोदयतीर्थाङ्कके साथ अनेकान्तका नया वर्ष (११वां) प्रारम्भ हो रहा है। इस विशेषाङ्कको लेकर अनेकान्त अपने पाठकोंकी सेवामें करीब १॥ वर्षके बाद उपस्थित हो रहा है। दसवें वर्षमें अनेकान्तको लगभग ढाई हजारका घाटा रहा था, जिससे पत्रको आगे चालू रखनेके लिये एक विकट समस्या खड़ी हो गई थी। चुनाँचे १२वीं किरणमें घाटेका हिसाब प्रकट करते हुए यह सूचना की गई थी कि "जब तक इस वर्षके घाटे की पूर्ति नहीं हो जाती तबतक आगेके लिये (पत्रको निकालनेका) कोई विचार ही नहीं किया जा सकता। अत: अनेकान्तके प्रेमी पाठक अभी कुछ समयके लिये धैर्य रक्खें, जब कोई व्यवस्था ठीक हो जावेगी तब उन्हें सूचित किया जायगा।" साथ ही प्रेमी पाठकोंको यह प्रेरणा भी की गई थी कि "अनेकान्तकी इस घाटापूर्तिमें यदि वे स्वयं कुछ सहयोग देना तथा दूसरोंसे दिलाना उचित समझें तो उसके लिये जरूर प्रयत्न करें।" परन्तु प्राय: किसीका भी ध्यान उस ओर गया मालूम नहीं होता और इसलिये सालभरके करीबका समय तो यों ही निकल गया। इस बीचमें कितने ही प्रेमी पाठकोंके पत्र ऐसे जरूर आते रहे हैं कि 'अनेकान्त क्यों नही आ रहा है? उसे शीघ्र भेजिये, वी. पी. से भेजिये, ग्राहकश्रेणीमें हमारा नाम लिख लीजिये, उसका बन्द रहना उचित नही, वही तो समाजमें एक पत्र है जिसे पढ़कर ज्ञानमें वृद्धि तथा कुछ नई प्राप्ति होती है और जिसे गौरवके साथ दूसरे विद्वानोंके हाथोंमें दिया जा सकता है, इत्यादि।' एक मित्रने तो यहां तक भी प्रेरणा करनेकी कृपा की कि अनेकान्त-जैसे उच्च आदर्शका पत्र घाटेके कारण बन्द न होना चाहिये, घाटेकी पूर्तिका उपाय किया जाय, यदि समाजका ध्यान उसकी पूर्तिकी ओर न जाय तो अपनी उस सम्पत्तिको बराबर अनेकान्तके घाटोंकी पूर्तिमें ही लगा दिया जाये जिसे वीरसेवामन्दिरको दिया जा रहा है। निजी सम्पत्तिकी समाप्तिपर पत्र बन्द हो जायगा तो कोई बात नहीं। परन्तु इच्छा रहने पर भी मैं कुछ परिस्थितियोंके वश मजबूर था और इन सब प्रेरणाओं पर विशेष ध्यान नहीं दे सका।

दैवयोगसे गत अक्तूबर मासमें मेरा बा. छोटेलालजीसे मिलनेके लिये कलकत्ता जाना हुआ, जहां उस समय बेलगछियामें इन्द्रध्वज-विधान हो रहा था। अनेकान्तकी चर्चा चली और एक सज्जन श्री बी. आर. सी. जैनने यह प्रस्ताव रक्खा कि अनेकान्तको स्थायित्व प्रदान करने एवं सुचारुरूपसे चलानेके लिये संरक्षकों और सहायकोंका एक आयोजन किया जाय। जो सज्जन २५१) या इससे अधिककी सहायता प्रदान करें वे 'संरक्षक' और जो १०१) या ऊपर की सहायता प्रदान करें वे 'सहायक' करार दिये जायं, दोनोंको पत्र सदा भेंटस्वरूप भेजा जाय और संरक्षकों तथा सहायकोंकी शुभनामावली बराबर अनेकान्तमें प्रकाशित की जाय। यह आयोजन सबको पसन्द आया। बाबू नन्दलालजी सरावगीकी १५००) रु. की सहायताने इस आयोजनको विशेष प्रोत्साहन दिया। और उनकी तथा दूसरे भी कुछ सज्जनोंकी साधरणसी प्रेरणाको पाकर उसी समयके लगभग कलकत्तामें १३ संरक्षक और ९ सहायक और बन गये जिन सबके नाम तथा बादको बने हुए संरक्षकादिके नाम भी अन्यत्र प्रकाशित हैं और जो सब धन्यवादके पात्र हैं।

इस आयोजनके अनुसार अनेकान्तके प्रस्तुत विशेषांकको गत जनवरी मासके शुरूमें ही निकालनेका विचार किया गया था; परन्तु कलकत्तासे आते ही मेरे बीमार पड़ जाने, निमोनियाके चक्करमें फँस जाने और भारी कमजोरी हो जानेके कारण वह विचार कार्यमें परिणत न हो सका। कुछ शक्तिके संचित होते ही अनेक मित्रोंके मना करनेपर भी मुझे अपनी जिम्मेदरीको समझते हुए कार्यमें जुट जाना पड़ा और उसीके फलस्वरूप अनेकान्तका यह विशेषाङ्क

पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। यद्यपि अपनी अस्वस्थताके कारण मै इसके कितने ही अंगों की पूर्ति नहीं कर सका हूं, फिर भी जो कुछ कर सका हूं उसका प्रधान श्रेय उन विद्वान् लेखकोंको है, जिन्होंने रोग-शय्यापरसे भेजे तथा भिजवाये हुए मेरे पत्रोंका आदर कर अपने लेखोंको भेजनेकी कृपा की है। इस कृपाके लिये मै उन सबका बहुत आभारी हूं। आशा है वे तथा दूसरे विद्वान् भी ,जो किसी कारणवश इस विशेषाङ्कमें अपने लेख नही भेज सके है, भविष्यमें बराबर अनेकान्तको अपने महत्वपूर्ण लेखोसे भूषित करते रहेगे और ऐसा करना अपना एक पवित्र कर्तव्य ही बनानेकी कृपा करेंगे, जिससे अनेकान्त विश्वमें जैनसमाजका एक आदर्श-पत्र बननेकी क्षमताको प्राप्त कर सके। इसके लिये धनिकों-को भी संरक्षाकादिके रूपमें अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करना होगा और दानके सभी शुभ अवसरोंपर इसे याद रखना होगा।

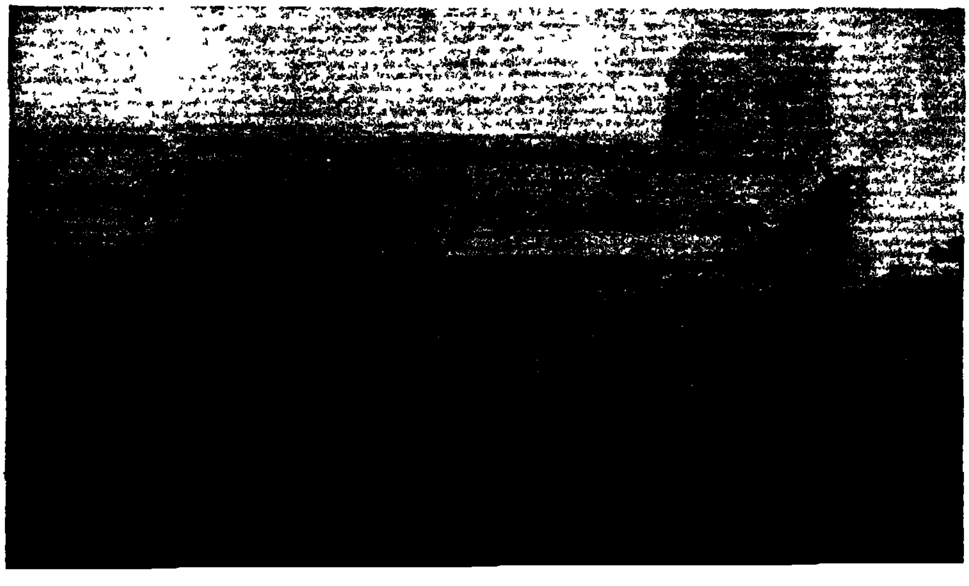
यहांपर मै खास तौरपर बा० छोटेलाल जी जैन कलकत्ताका आभार व्यक्त किये बिना नही रह सकता, जिन्होंने स्वयं रोग-शय्यापर आसीन होते हुए भी मेरी प्रार्थना-को मान देकर खण्डगिरि-उदयगिरिके सम्बन्धमेंअपना महत्त्व-का खोजपूर्ण लेख चित्रोसहित भेजनेकी कृपाकी है और हर एक किरणके लिये चित्रोंके आयोजनका आश्वासन देकर मुझे प्रोत्साहित किया है। साथही, आपके लघुभ्राता बाबू नन्दलालजीको विशेष धन्यवाद अर्पण किये बिना भी नहीं रह सकता जिनकी १५००) रु. की पहली सहायताने और प्रेरणाओने अनेकान्तके इस नये आयोजनमें अमृत-सिंचन का काम किया है और जो अनेकान्तसे गाढ़ प्रेम रखते है। आशा है कुछ ऐसे उदार महानुभाव भी शीघ्र ही आगे आएँगे जो अनेकान्तके ग्राहकोंको उपहारमे किसी-न-किसी उत्तम ग्रन्थका आयोजन करके उनके ज्ञानमें वृद्धिका कारण बनेंगे और उन्हे अनेकान्तकी ओर आकर्षित करनेमें सविशेष रूपसे सहायक होगे। मै ऐसे सभी संरक्षकों, सहायकों और उपहारदाताओंका अभिनन्दन करनेके लिये प्रस्तुत हूं।

२. चित्र-परिचय—

इस विशेषाङ्कके मुख-पृष्ठपर जो दुरंगा चित्र है वह अधिकांशमें अपना परिचय आप दे रहा है। उसपर दृष्टि पड़ते ही बृहद्द्वारके भीतर एक तरफ वीरजिनालय नजर आरहा है, उसके सामने एक योगिराज प्रवचन कर रहे हैं, जिसे सभी वर्ग-जातियोंके लोग बड़ी तन्मयताके साथ सुन रहे है और ऐसा मालूम होता है कि योगिराज तीर्थका सम्यक् परिज्ञान कराते हुए लोकहृदयमें उसके प्रभावको अंकित कर रहे है। जिनालय और प्रवचन-सभाके मध्यमें चूहा-बिल्ली, मोर-सर्प जैसे जाति-विरोधी जीव अपना वैर-विरोध भुलाकर प्रसन्नमुद्रामें एक साथ बैठे हुए हैं, जिससे योगिराजके योगमाहात्म्य अथवा जिनशासनके महात्म्यका कितना ही पता चलता है। सबके ऊपर शिला-लेखादिके रूपमें एक श्लोक अकित है जिसमें वीरके इस तीर्थ को ही 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया गया है। यह श्लोक स्वामी समन्तभद्रका वाक्य है, जिन्होंने अपने समयमें इस तीर्थकी हजार गुणी वृद्धि की है, जिसका उल्लेख एक पुरातन शिलालेखमें पाया जाता है और जिन्हे ७वीं शताब्दीके अकलंकदेवजैसे मर्द्धिक आचार्यने 'कलिकालमें इस तीर्थ को प्रभावित करने वाले' कहकर नमस्कार किया है। उनका वह नमस्कार तीर्थजलके तलमें स्थित श्लोकके प्रथम तीन चरणोंमें अंकित है, जिनमें इस तीर्थको सर्व-पदार्थ-तत्त्वोंको अपना विषय करनेवाला स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवादरूप पुण्योदधि प्रकट किया है। और इस तीर्थकी प्रभावनाका उद्देश्य 'भव्य-जीवोंके आन्तरिक मलको दूर करना' लिखा है। चौथे चरणमें इस तीर्थके अधिनायक और समन्तभद्रके भी अधिनायक श्रीवीरजिनेन्द्रको नमस्कार समर्पित किया गया है। और इससे प्रवचनकर्ता योगिराज वे ही तीर्थके महाप्रभावक आचार्य स्वामी समन्तभद्र जान पड़ते हैं। वीर-जिनालयसे कुछ दूरीपर एक स्तम्भ खड़ा है जो मानस्तम्भ-का प्रतिनिधित्व करता हुआ मालूम होता है। नीचे तीर्थजलमें यात्रीजन स्नान-अवगाहन कर रहे हैं और उनमें अनेक जातियोंके स्त्री-पुरुष शामिल हैं। एक तरफ शेर और बकरी एक ही घाटर पर इकट्ठे पानी पी रहे हैं और तीर्थके महात्म्यको व्यक्त कर रहे हैं। दूसरी तरफ 'रत्नत्रय" नाम का पोत (जहाज) खड़ा है जो आश्रितोंको संसार-समुद्रसे पार करनेके लिये उद्यमी है। इस तीर्थकी पैडियोंमें जो पत्थर लगे है वे अपनी खास विशेषता रखते हैं। अनेकान्त-तटके नीचेवाली दोनों पैडियों की दीवार में सत्-असत् आदि और हित-अहित आदि तात्त्विक युगलों (जोड़ों) को लिये हुए

जो पत्थर लगे हैं वे सब इस बात को सूचित करते हैं कि इस तीर्थमें स्नान-अवगाहन करनेसे ये सब तात्त्विक समस्यायें सहजमें ही हल हो जाती है। और इधर-उधरके अहिंसा तटोंके नीचे की पैडियोंमें जो दया-व्रतादि तथा मैत्री-समतादि रूप पत्थर लगे हैं वे सब इस बात को सूचित करते हैं कि इस तीर्थमें स्नान-अवगाहन करना ही अपने को इन दया-व्रतादिरूपमें परिणत करना है, जो सब शान्ति-सुख-का मूल हैं। तीर्थके ऊपर आकाशमें जो दो देवविमान दिखाई पड़ रहे हैं वे तीर्थ की गरिमाको अलगसे ही प्रकट कर रहे हैं।

दूसरा एकरंगा भीतरी चित्र 'शास्ता वीरजिन अथवा वीर-जिन-शासन'का एक बड़ा ही सुन्दर, सजीव एवं मनोमोहक रूप है। शास्ता अपने शासनको अपने ही अगोंमें अंकित किये हुए कितना दिव्य जान पड़ता है। उसके मुखपर सद्-दृष्टिके साथ प्रज्ञा, प्रसन्नता, अनासक्ति और एकाग्रता खिलखिला रही है। यह चित्र अपना खुद का परिचय और भी अधिकताके साथ स्वय दे रहा है और इसलिये इसके विषयमें अधिक लिखनेकी कोई जरूरत मालूम नही होती। यहां पर सिर्फ इतना ही व्यक्त किया जाता है कि वीरजिन अथवा उनके शासनके दो पद हैं—दाहिना पद 'अनेकान्त' और बायां पद 'अहिंसा'। अनेकान्त पद अपनेमें एकान्त, विपरीत, संशय, विनय और अज्ञान नामके पंचविध मिथ्या दर्शनों (मिथ्यात्वो) के समूहका समन्वय किये हुए है—सापेक्ष दृष्टिसे उन्हें अपनाये हुए है और इसलिये कभी विरोध तथा मिथ्यादर्शनके रूपमें परिणत नहीं होता। और अहिंसापद द्वीन्द्रियादि समनस्क पर्यन्त पांच प्रकारके त्रसजीवों और पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-वनस्पति-काय के रूपमें पंच प्रकारके स्थावर (एकेन्द्रिय) जीवोंको अहिंस्य मानकर उन्हे अभय प्रदान किये हुए है। मूलमें इन्हीं दो चरणोपर शासनका सारा शरीर खड़ा है। जिनेन्द्रके जिन दो चरणोंको पापोंका नाश करनेवाला मानकर उन्हें प्रणाम किया जाता है वे वस्तुतः अनेकान्त और अहिंसाके रूपमें ही हैं। अनेकान्तके द्वारा विचारदोष और अहिंसाके द्वारा आचार-दोष मिटकर मनुष्यके विकासकी सारी भूमिका तय्यार हो जाती है और अन्तमे दोनों उपेक्षाके रूपमें परिणत होकर उस सिद्धि को प्राप्त करनेमे समर्थ होते हैं जिसे 'स्वात्मोपलब्धि' तथा 'ब्रह्मपदप्राप्ति'के रूपमें उलेखित किया गया है। इसी आत्म-विकास और उसके साधनो आदिका सूत्ररूपमें निदर्शक यह चित्र है, जिसे सामने रखकर आत्मविकास और उसके साधनों की कितनी ही शिक्षा प्राप्त की जा सकती है और महीनों तक वीरशासनका विवेचन करते हुए उसके अभ्यासको बढाया एवं ध्यानादिके द्वारा उसे अपने जीवनमें उतारा जा सकता है। यह चित्र प्रत्येक घरमें किसी योग्य स्थानपर कांचादिमें जड़ाकर लगानेके योग्य है, इसीसे इसकी कुछ कापिया अलग भी छपाई गई है। दूसरे दुरंगे-चित्रकी कापिया भी प्रेमियोंको अलगसे मिल सकेंगी। प्रत्येक चित्रका मूल्य दो आने है।



वीरसेवामन्दिरकी बिल्डिंग का एक भीतरी दृश्य

वीरसेवामन्दिरके चौदह रत्न

पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि-ग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे प्राकृत पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी गवेषणापूर्ण महत्त्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम ए, डी लिट के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए एन उपाध्याय एम ए, डी लिट् की भूमिका (Introduction) से विभूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज सजिल्द ... ... १५)

(प्रस्तावनादिका अलगसे मूल्य ५ रु)

) **आप्तपरीक्षा**—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञसटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा-द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य प० दरबारीलालके हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त सजिल्द .. .. ८)

) **न्यायदीपिका**—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य प० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द ... ... ५)

) **स्वयम्भूस्तोत्र**—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्द-परिचय समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्त्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित। ... .. २)

) **स्तुतिविद्या**—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्त्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत, सुन्दर जिल्द-सहित। ... .. १॥)

) **अध्यात्मकमलमार्तण्ड**—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। .. .. १॥)

) **युक्त्यनुशासन**—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। . १।)

) **श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र**—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्त्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। .. ॥।)

) **शासनचतुस्त्रिंशिका**—(तीर्थ-परिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। . .. ॥।)

०) **सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ**—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणों का महत्त्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। .. .. ॥)

१) **विवाह-समुद्देश्य**—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन .. ॥)

१२) **अनेकान्त-रस-लहरी**—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको अतीव सरलता से समझने-समझाने की कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। .. .. ।)

१३) **अनित्यभावना**—श्रीपद्मनन्दी आचार्यकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। .. .. ।)

१४) **तत्त्वार्थसूत्र** (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त .. ।)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालों को ३७॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

सरसावा, जि० सहारनपुर।

Regd. No. D-211

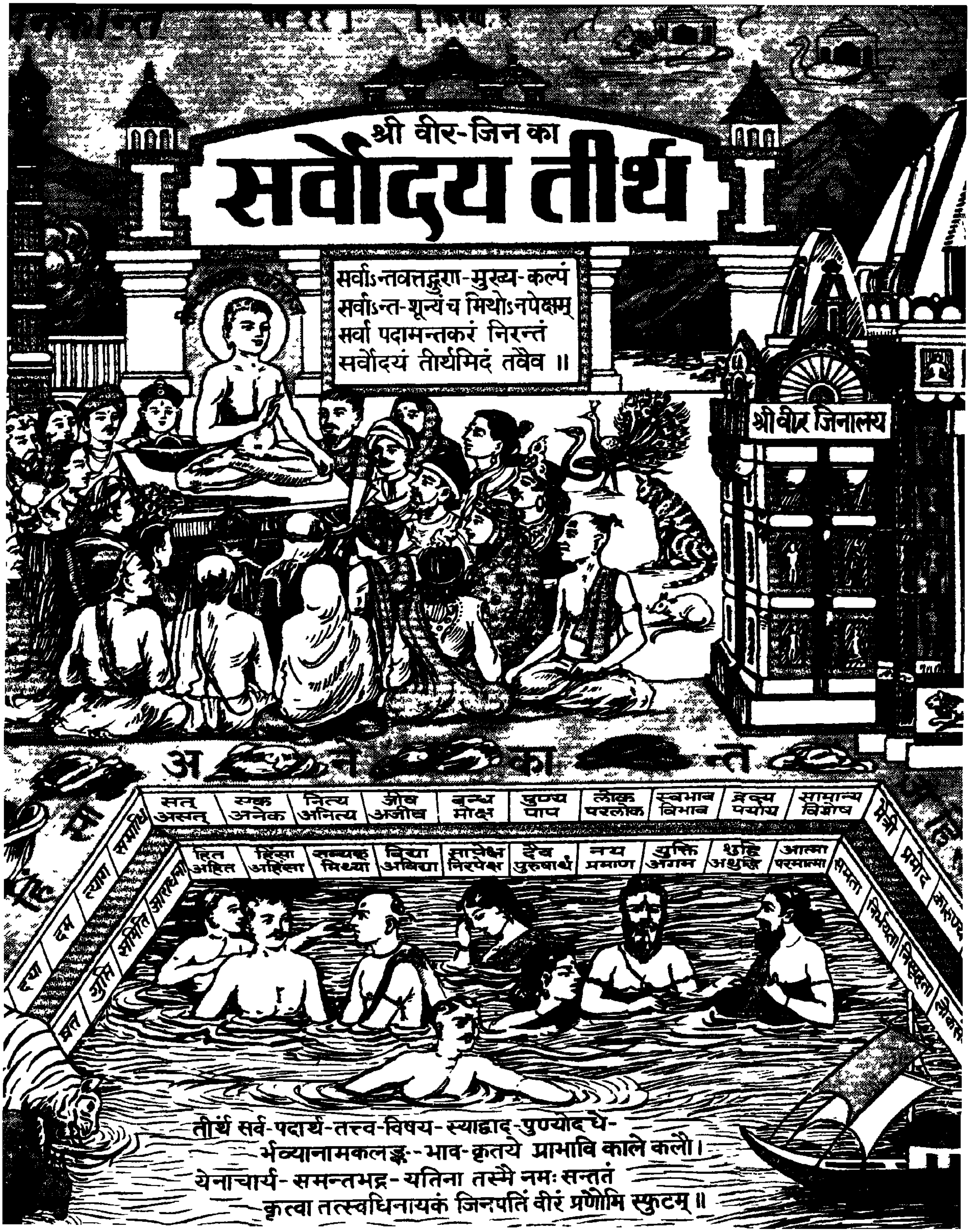
अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

अनेकान्त पत्रको स्थायित्व प्रदान करने और सुचारू रूपसे चलाने के लिये कलकत्ता में गत इन्द्रध्वज-विधान के अवसर पर (अक्तूबरमें) संरक्षकों और सहायकोंका एक नया आयोजन हुआ है। उसके अनुसार २५१) या अधिकको सहायता प्रदान करने वाले सज्जन 'संरक्षक' और १०१) या इससे ऊपरकी सहायता प्रदान करने वाले 'सहायक' होते हैं। अब तक 'अनेकान्त' के जो 'संरक्षक' और 'सहायक' बने हैं—उनके शुभ नाम निम्न प्रकार हैं। आशा है अनेकान्तसे प्रेम रखने वाले दूसरे सज्जन भी शीघ्र ही, स्वयं 'संरक्षक' अथवा 'सहायक' बनकर तथा दूसरोंको बनाकर, एकमात्र सेवाभावसे संचालित एवं समाजकी ठोस सेवा करने वाले इस पत्रके संचालन और संवर्धनमें अपना पूर्ण प्रोत्साहन प्रदान करेंगे :—

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन "
२६१) बा० सोहनलाल जी जैन "
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदास जी "
२५१) बा० ऋषभचन्द्रजी (V.R.C.) जैन "
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी "
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी "
२५१) सेठ बल्देवदासजी जैन "
२५१) सेठ गजराजजी गगवाल "
२५१) सेठ सुआलालजी जैन "
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी "
२५१) सेठ मांगीलालजी "
२५१) सेठ शान्तिप्रसाद जी, जैन "
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया जिला मानभूम
२५१) ला० कपूरचन्द्र धूपचन्द्रजी, जैन कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन दरियागज, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमल जी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्द्र जी (कलकत्तावाले) सहारनपुर
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्द्रजी जैन सरावगी "
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी "
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी "
१०१) बा० काशीनाथ जी, कलकत्ता "
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी "
१०१) बा० धनंजयकुमारजी "
१०१) बा० जीतमलजी जैन "
१०१) बा० चिरंजीलाल जी सरावगी "
१०१) बा० रतनलाल चांदमल जी जैन, राची

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्द जैन शास्त्री c/o धूमीमल धरमदास, चावड़ी बाजार, देहली। मुद्रक—नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, देहली।



श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
अ ने का न्त
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
समाधि
त्याग
दम
दया
आराधना
समिति
गुप्ति
व्रत
मैत्री
प्रमोद
समता
निर्भयता
निस्पृहता
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

गत १० वें वर्षकी १२ वी किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद 'अनेकान्त' पत्रको संरक्षकों एवं सहायकोंसे प्राप्त सहायता-के अलावा जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्नप्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र है:—

५) बाबू बसन्तीलालजी जैन जयपुर।
१००) बाबू शान्तिनाथजी सुपुत्र बाबू नन्दलालजी, कलकत्ता।
१००) बाबू निर्मलकुमारजी सुपुत्र बाबू नन्दलालजी, कलकत्ता।
११) शिवराज जगराज जी लुकड़ जलगांव और इंद्रभान हरकचन्द जी मंडले चायेवला (पुत्र-पुत्रीके विवाहोपलक्ष मे)।
५) रा० ब० बा० बसन्तलालजी मुरादाबाद और सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या मथुरा (पुत्र-पुत्रीके विवाहोपलक्ष में)।
७) बाबू सुरेन्द्रनाथजी नरेन्द्रनाथजी जैन कलकत्ता (चि० सन्तोषकुमारके विवाहोपलक्षमें) मार्फत बाबू नन्दलालजी, कलकत्ता।
५) लाला हजारीलालजी बज जयपुर और श्री गाढजी मूळजी अजमेर जयपुरसे (पुत्री तथा पुत्रके विवाहोपलक्षमें)। मार्फत कोशाध्यक्ष मस्ती जैनग्रन्थमाला देहलीके।

२३३)

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक' तथा 'सहायक' बनना और बनाना।
(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।
(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरोंपर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।
(४) अपनी ओरसे दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।
(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५) की सहायतामें १०को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।
(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।
(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि-सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंटस्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता:—
मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामंदिर, सरसावा जि० सहारनपुर।

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)



इस किरणका मूल्य ।।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११	वीरसेवामन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर	अप्रैल
किरण २	चैत्र शुक्ल, वीर-संवत् २४७८, विक्रम-संवत् २००६	१९५२

रामगिरि-पार्श्वनाथ-स्तोत्र

[यह स्तोत्र रामगिरि पर्वतपर स्थित पार्श्वजिनालयके अधिनायक श्रीपार्श्वनाथकी स्तुतिमें लिखा गया है, और इसलिए 'रामगिरि-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' यह इसका सार्थक नाम है। परन्तु आमतौरपर यह 'लक्ष्मीस्तोत्र' कहलाता और लिखा जाता है, जिसका कारण 'लक्ष्मी' शब्दसे इसका प्रारम्भ होना है, अन्यथा किसी लक्ष्मी देवीकी स्तुतिमें यह लिखा गया नहीं है। इसके रचयिता पद्मप्रभदेव है, जो तर्क व्याकरण काव्य और नाटकोंकी कुशलताके विषयमें पृथ्वीपर पद्मनन्दि-मुनीशके रूपमें प्रसिद्ध थे और तत्त्वविषयका खज़ाना समझे जाते थे; जैसा कि स्तोत्रके अन्तिम (९ वें) पद्यसे जाना जाता है, जोकि एक प्रशस्त्यात्मक पद्य है। मूलस्तोत्र यमकाऽलंकारको लिये हुए आठ पद्योंमें ही निर्मित हुआ है, इसीसे प्रशस्तिपद्य-में उसे 'यमकाष्टक' रूपसे उल्लेखित किया है और 'गम्भीर' विशेषणके द्वारा अर्थकी गम्भीरताको लिए हुए प्रकट किया है। साथ ही इस स्तोत्रको तत्त्वकोष प्रकट करते हुए 'जगतके लिए मंगलरूप' बतलाया है। यह स्तोत्र यमकाऽलंकारकी अच्छी छटाको लिए हुए है और पढ़नेमें बड़ा ही रसीला एवं आनन्दप्रद जान पड़ता है। आठों पद्योंका चौथा चरण है **"पार्श्वं पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ"** जिसका अर्थ है—रामगिरि पर्वतपर स्थित पार्श्वनाथकी मैं वाणीसे स्तुति करता हूं। अन्य चरणोंमें प्रायः पार्श्वनाथके विशेषणोंका उल्लेख है।

आजसे कोई २९ वर्ष पहले यह स्तोत्र माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालाके 'सिद्धान्तसारादिसंग्रह' में एक संस्कृतटीका-के साथ प्रकाशित हुआ था, परन्तु मूल तथा टीका दोनों ही परम्परासे अशुद्ध हो जानेके कारण उक्त संग्रहमें अशुद्ध ही मुद्रित हुए थे। हालमें सागरके श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने मूलपाठको शुद्ध करके और उसके साथ पदच्छेद संस्कृत-व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद लगाकर उसे 'अनेकान्त' में प्रकाशनार्थ मेरे पास भेजा है। इस समय में उनके द्वारा संशोधित मूलस्तोत्रको ही अनेकान्त-पाठकोंकी जानकारीके लिए यहां दे रहा हूं। —सम्पादक]

(उपजातिः)

लक्ष्मीर्महस्तुल्यसती सती सती प्रवृद्धकालो विरतो रतोऽरतो ।
जरा-रुजापन्महता हताऽहता पार्श्व पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥१॥

अर्चेयमाद्यं सुमना मनामनान्य. सर्वदेशो भुवि नाऽविना विना ।
समस्तविज्ञानमयो मयोमयो पार्श्व पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥२॥

व्यनेष्ट जन्तोः शरणं रणं रणं क्षमादितो य. कमठं मठं मठम् ।
नराऽमरारामक्रमं क्रमं क्रमं पार्श्व पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥३॥

अज्ञान-सत्कामलतालतालता यदीय-सद्भावनता नतानता. ।
निर्वाणि-सौख्यं सुगता गतागताः पार्श्व पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥४॥

विवादिमाशेषविधिर्विधिर्विधिर्बभूव सर्व्यावहरी हरीहरी : ।
त्रिज्ञानसज्ञानहरोऽहरोहरः पार्श्व पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥५॥

यद्विश्वलोकैकगुरुं गुरुं गुरुं विराजता येन वरं वरं वरम् ।
तमालनीलाङ्गभरं भरं भरं पार्श्व पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥६॥

संरक्षिता दिग्भुवनं वनं वनं विराजिता येषु दिवैदिवैदिवैः ।
पादद्वये नूतसुराऽसुराः सुराः पार्श्व पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥७॥

रराज नित्यं सकला कला कला ममारतृष्णोऽवृजिनो जिनो जिनो ।
संहारपूज्यं वृषभा सभासभा पाश्व पणे रामगिरौ गिरौ गिरौ ॥८॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

तर्के व्याकरणे च नाटकचये काव्याकुले कौशले,
विख्यातो भुवि पद्मनन्दिमुनिपस्तत्त्वस्य कोषं निधिः ।
गम्भीरं यमकाष्टकं पठति यः संस्तूय सा (?) लभ्यते
श्रीपद्मप्रभदेव-निर्मितमिदं स्तोत्रं जगन्मंगलम् ॥९॥

भगवान महावीर

[सम्पादकीय]

संक्षिप्त परिचय——

जैनियोके अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर विदेह—(बिहार-देशस्थ) कुण्डपुर[1] के राजा 'सिद्धार्थ' के पुत्र थे और माता 'प्रियकारिणी' के गर्भसे उत्पन्न हुए थे, जिसका दूसरा नाम 'त्रिशला' भी था और जो वैशालीके राजा 'चेटक' की सुपुत्री[2] थी। आपके शुभ जन्मसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी तिथि पवित्र हुई और उसे महान् उत्सवोके लिए पर्वका-सा गौरव प्राप्त हुआ। इस तिथिको जन्मसमय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, जिसे कही-कही 'हस्तोत्तरा' (हस्त नक्षत्र है उत्तरमे —अनन्तर—जिसके) इस नामसे भी उल्लेखित किया गया है, और सौम्य ग्रह अपने उच्चस्थान पर स्थित थे, जैसाकि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :——

चैत्र-सितपक्ष-फाल्गुनि शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम् ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ।।५।।

——निर्वाणभक्ति

तेज.पुज भगवान्के गर्भमे आते ही सिद्धार्थ राजा तथा अन्य कुटुम्बीजनोकी श्रीवृद्धि हुई——उनका यश, तेज, पराक्रम और वैभव बढा——माताकी प्रतिभा चमक उठी, वह सहज हीमे अनेक गूढ प्रश्नोका उत्तर देने लगी, और प्रजाजन भी उत्तरोत्तर सुख-शान्तिका अधिक अनुभव करने लगे। इसमे जन्मकालमे आपका सार्थक नाम 'श्रीवर्द्धमान' या 'वर्द्धमान' रक्खा गया। साथ ही, वीर, महावीर और सन्मति जैसे नामोकी भी क्रमश. सृष्टि हुई, जो सब आपके उस समय प्रस्फुटित तथा उच्छलित होनेवाले गुणो पर ही एक आधार रखते है।[3]

महावीरके पिता 'णात' वशके क्षत्रिय थे। 'णात' यह प्राकृत भाषा का शब्द है और 'नात' ऐसा दन्त्य नकारसे भी लिखा जाता है। संस्कृतमे इसका पर्यायरूप होता है 'ज्ञात'। इसीसे 'चारित्रभक्ति' मे श्रीपूज्यपादाचार्यने "श्रीमज्ज्ञातकुलेन्दुना" पदके द्वारा महावीर भगवान्को 'ज्ञात' वशका चन्द्रमा लिखा है, और इसीमे महावीर 'णातपुत्त' अथवा 'ज्ञातपुत्र' भी कहलाते थे, जिसका बौद्धादि ग्रन्थोमे भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार वशके ऊपर नामोका उस समय चलन था——बुद्धदेव भी अपने वश परसे 'शाक्यपुत्र' कहे जाते थे। अस्तु; इस 'नात' का ही बिगड़ कर अथवा लेखको या पाठकोकी नासमझीकी वजहसे बादको 'नाथ' रूप हुआ जान पड़ता है। और इसीमे कुछ ग्रन्थोमे महावीरको नाथवंशी लिखा हुआ मिलता है, जो ठीक नही है।

महावीरके बाल्यकालकी घटनाओमेसे दो घटनाये खास तौरमे उल्लेखयोग्य है——एक यह कि, सजय और विजय नामके दो चारण मुनियोको तत्त्वार्थ-विषयक कोई भारी सन्देह उत्पन्न हो गया था, जन्मके कुछ दिन बाद ही जब उन्होने आपको देखा तो आपके दर्शनमात्रसे उनका वह सब सदेह तत्काल दूर हो गया और इसलिए उन्होने बडी भक्तिमे आपका नाम 'सन्मति' रक्खा।[4] दूसरी यह कि, एक दिन आप बहुतसे राजकुमारोके साथ वनमे वृक्षक्रीडा कर रहे थे, इतनेमे वहा पर एक महाभयकर और विशालकाय सर्प आ निकला और उस वृक्षको ही

---

१ श्वेताम्बर सम्प्रदायके कुछ ग्रन्थोमे 'क्षत्रियकुण्ड' ऐसा नामोल्लेख भी मिलता है जो सम्भवत. कुण्डपुर का एक महल्ला जान पडता है। अन्यथा, उसी सम्प्रदायके दूसरे ग्रन्थोमे कुण्डग्रामादि-रूपमे कुण्डपुरका साफ उल्लेख पाया जाता है। यथा——

"हत्थुत्तराहि जाओ कुडग्गामे महावीरो।" आव० नि०

यह कुण्डपुर ही आजकल कुण्डलपुर कहा जाता है; परन्तु उसका वर्तमान स्थान विवादापन्न है और ठीक स्थान वैशाली के ही अन्तर्गत माना जाता है।

२ कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थो मे 'बहन' लिखा है।

३ देखो, गुणभद्राचार्यकृत महापुराण का ७४ वां पर्व।

४. **संजयस्यार्थसंदेहे संजाते विजयस्य च ।**
जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रत ।।
तत्सदेहगते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तित: ।
अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृत: ।।

——महापुराण, पर्व ७४ वां

मूलसे लेकर स्कंध पर्यन्त बेढकर स्थित हो गया जिसपर आप चढे हुए थे। उसके विकराल रूपको देखकर दूसरे राजकुमार भयविह्वल हो गये और उसी दशामें वृक्षों परसे गिरकर अथवा कूदकर अपने-अपने घरको भाग गये। परन्तु आपके हृदयमें जरा भी भयका संचार नही हुआ—आप बिल्कुल निर्भयचित्त होकर उस काले नागसे ही क्रीडा करने लगे और आपने उसपर सवार होकर अपने बल तथा पराक्रमसे उसे खूब ही घुमाया, फिराया तथा निर्मद कर दिया। उसी वक्तसे आप लोकमें 'महावीर' नामसे प्रसिद्ध हुए। इन दोनो[५]घटनाओसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि महावीरमें बाल्यकालसे ही बुद्धि और शक्तिका असाधारण विकास हो रहा था और इस प्रकार-की घटनाएँ उनके भावी असाधारण व्यक्तित्वको सूचित करती थी। सो ठीक ही है—

"होनहार बिरवानके होत चीकने पात।"

प्राय: तीस वर्षकी अवस्था हो जाने पर महावीर संसार-देहभोगोंसे पूर्णतया विरक्त हो गये, उन्हे अपने आत्मोत्कर्षको साधने और अपना अन्तिम ध्येय प्राप्त करनेकी ही नही किन्तु संसारके जीवोंको सन्मार्गमे लगाने अथवा उनकी सच्ची सेवा बजानेकी एक विशेष लगन लगी—दीन-दुखियोकी पुकार उनके हृदयमें घर कर गई—और इसलिए उन्होने, अब और अधिक समय तक गृहवासको उचित न समझकर, जगलका रास्ता लिया, संपूर्ण राज्यवैभवको ठुकरा दिया और इन्द्रिय-सुखोसे मुख मोड़कर मंगसिरवदि १० मीको 'ज्ञातखंड' नामक वनमे जिनदीक्षा धारण करली। दीक्षाके समय आपने संपूर्ण परिग्रहका त्याग करके आकिंचन्य (अपरिग्रह) व्रत ग्रहण किया, अपने शरीरपरसे वस्त्राभूषणोको उतार कर फेंक दिया[६] और केशोको क्लेशसमान समझते हुए उनका भी लौच कर डाला। अब आप देहसे भी निर्ममत्व होकर नग्न रहते थे, सिंहकी तरह निर्भय होकर जंगल-पहाड़ोमें विचरते थे और दिन-रात तपश्चरण ही तपश्चरण किया करते थे।

विशेष सिद्धि और विशेष लोकसेवाके लिये विशेष ही तपश्चरणकी जरूरत होती है—तपश्चरण ही रोम-रोममे रमे हुए आन्तरिक मलको छाँटकर आत्माको शुद्ध,साफ,समर्थ और कार्यक्षम बनाता है। इसीलिये महावीरको बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करना पड़ा—खूब कडा योग साधना पडा—तब कही जाकर आपकी शक्तियोका पूर्ण विकास हुआ। इस दुर्द्धर तपश्चरणकी कुछ घटनाओको मालूम करके रोंगटे खड़े हो जाते है। पर साथ ही आपके असाधारण धैर्य, अटल निश्चय, सुदृढ़ आत्मविश्वास,अनुपम साहस और लोकोत्तर क्षमाशील-ताको देखकर हृदय भक्तिसे भर आता है और खुद-बखुद (स्वयमेव) स्तुति करनेमे प्रवृत्त हो जाता है। अस्तु; मन:-पर्ययज्ञानकी प्राप्ति तो आपको दीक्षा लेनेके बाद ही होगई थी परन्तु केवल ज्ञान-ज्योतिका उदय बारह वर्षके उग्र तपश्चरण-के बाद वैशाख सुदि १० मीको तीसरे पहरके समय उस वक्त हुआ जबकि आप जृम्भका ग्रामके निकट ऋजुकूला नदीके किनारे, शालवृक्षके नीचे एक शिलापर, षष्ठोपवाससे युक्त हुए, क्षपकश्रेणिपर आरूढ थे—आपने शुक्लध्यान लगा रक्खा था—और चन्द्रमा हस्तोत्तरनक्षत्रके मध्यमे स्थित था।[७]जैसा कि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्योमे प्रकट है —

ग्राम-पुर-खेट-कर्वट-मटम्ब-घोषाकरान्प्रविजहार।
उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्य: ॥१०॥
ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥११॥
वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चंद्रे
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥१२॥

—निर्वाणभक्ति

---

५. इनमेंसे पहली घटनाका उल्लेख प्राय: दिगम्बर ग्रन्थोमें और दूसरीका दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोके ग्रन्थोमें बहुलतासे पाया जाता है।

६. कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थोमें इतना विशेष कथन पाया जाता है और वह सम्भवत: साम्प्रदायिक जान पड़ता है कि, वस्त्राभूषणोको उतार डालनेके बाद इन्द्रने 'देवदूष्य' नामका एक बहुमूल्य वस्त्र भगवान्के कन्धे पर डाल दिया था, जो १३ महीने तक पड़ा रहा। बादको महावीरने उसे भी त्याग दिया और वे पूर्णरूपसे नग्नदिगम्बर अथवा जिनकल्पी ही रहे।

७. केवलज्ञानोत्पत्तिके समय और क्षेत्रादिका प्राय: यह सब वर्णन 'धवल' और 'जयधवल' नामके दोनों सिद्धान्तग्रन्थोमें उद्धृत तीन प्राचीन गाथाओमें भी पाया जाता ह, जो इस प्रकार है :—

गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पचमासे य।
पण्णारसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो ॥१॥
उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे बहिं सिलावट्टे।
छट्ठेणादावेंतों अवरण्हे पायछायाए ॥ २ ॥
वइसाहजोण्हपक्खे दसमीए खवगसेढिमारुढो।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥ ३ ॥

इस तरह घोर तपश्चरण तथा ध्यानाग्नि-द्वारा, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय नामके घातिकर्म-मलको दग्ध करके, महावीर भगवानने जब अपने आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य नामके स्वाभाविक गुणोंका पूरा विकास अथवा उनका पूर्ण रूपसे आविर्भाव कर लिया और आप अनुपम शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिकी पराकाष्ठाको पहुँच गये, अथवा यो कहिये कि, आपको स्वात्मोपलब्धिरूपी 'सिद्धि' की प्राप्ति हो गई, तब आपने सब प्रकारसे समर्थ होकर ब्रह्मपथका नेतृत्व ग्रहण किया और ससारी जीवोको सन्मार्गका उपदेश देनेके लिए—उन्हे उनकी भूलें सुझाने, बन्धनमुक्त करने, ऊपर उठाने और उनके दुख मिटानेके लिए—अपना विहार प्रारम्भ किया। अथवा यों कहिये कि लोकहित-साधनका जो असाधारण विचार आपका वर्षोसे चल रहा था और जिसका गहरा सस्कार जन्मजन्मातरोमे आपके आत्मामें पडा हुआ था वह अब सम्पूर्ण रुकावटोके दूर हो जाने पर स्वत कार्यमे परिणत हो गया।

विहार करते हुए आप जिस स्थान पर पहुँचते और वहाँ आपके उपदेशके लिए जो महतीसभा जुडती थी और जिसे जनसाहित्यमें 'समवसरण' नामसे उल्लेखित किया गया है उसकी खास विशेषता यह होती थी कि उसका द्वार सबके लिए मुक्त रहता था, कोई किसीके प्रवेशमे बाधक नही होता था—पशु-पक्षी तक भी आकृष्ट होकर वहां पहुच जाते थे, जाति-पाति छूताछूत और ऊंचनीचका उसमे कोई भेद नही था, सब मनुष्य एक ही मनुष्यजातिमें परिगणित होते थे, और उक्त प्रकारके भेदभावको भुलाकर आपसमे प्रेमके साथ रल-मिलकर बैठते और धर्मश्रवण करते थे—मानो सब एक ही पिताकी सतान हो। इस आदर्शसे समवसरणमे भगवान् महावीरकी समता और उदारता मूर्तिमती नजर आती थी और वे लोग तो उसमें प्रवेश पाकर बेहद संतुष्ट होते थे जो समाजके अत्याचारोसे पीड़ित थे, जिन्हे कभी धर्मश्रवणका, शास्त्रोके अध्ययनका, अपने विकासका और उच्चसस्कृतिको प्राप्त करनेका अवसर ही नही मिलता था अथवा जो उसके अधिकारी ही नही समझे जाते थे। इसके सिवाय, समवसरणकी भूमिमें प्रवेश करते ही भगवान महावीरके सामीप्यसे जीवोका वैरभाव दूर हो जाता था, क्रूर जन्तु भी सौम्य बन जाते थे और उनका जाति-विरोध तक मिट जाता था। *इसीसे सर्पको नकुल या मयूरके पास बैठनेमें कोई भय* नही होता था, चूहा बिना किसी संकोचके बिल्लीका आलिंगन करता था, गौ और सिंही मिलकर एक ही नांदमें जल पीती थी और मृग-शावक खुशीसे सिंह-शावकके साथ खेलता था। यह सब महावीरके योग-बलका माहात्म्य था। उनके आत्मामे अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसलिए उनके सनिकट अथवा उनकी उपस्थितिमें किसीका वैर स्थिर नही रह सकता था। पतजलि ऋषिने भी, अपने योगदर्शनमें, योगके इस महात्म्यको स्वीकार किया है; जैसा कि उसके निम्न सूत्रसे प्रकट है :—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

जैनशास्त्रोमें महावीरके विहार-समयादिककी कितनी ही विभूतियोंका—अतिशयोका—वर्णन किया गया है परन्तु उन्हे यहाँ पर छोड़ा जाता है। क्योकि स्वामी समन्तभद्रने लिखा है :—

देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतय ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

—आप्तमीमांसा

अर्थात्—देवोका आगमन, आकाशमे गमन और चामरादिक (दिव्य चमर, छत्र, सिंहासन, भामडलादिक) विभूतियोका अस्तित्व तो मायावियोमे—इन्द्रजालियोमे—भी पाया जाता है, इनके कारण हम आपको महान् नही मानते और न इनकी वजहसे आपकी कोई खास महत्ता या बडाई ही है।

भगवान् महावीरकी महत्ता और बडाई तो उनके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक कर्मोका नाश करके परम शान्तिको लिये हुए शुद्धि तथा शक्तिकी पराकाष्ठाको पहुचने और ब्रह्मपथका—अहिंसात्मक मोक्षमार्गका—नेतृत्व ग्रहण करनेमे है[८]—अथवा यो कहिये कि आत्मोद्धारके साथ-साथ लोकको सच्ची सेवा बजानेमे है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है —

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुलाव्यतीतां जिन शांतिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशा ॥४॥

—युक्त्यनुशासन

८ ज्ञानावरण-दर्शनावरणके अभावसे निर्मल ज्ञान-दर्शनकी आविर्भूतिका नाम 'शुद्धि' अन्तराय कर्मके नाशसे *वीर्यलब्धिका होना 'शक्ति' और मोहनीय कर्मके निर्मूल* होनेसे अनन्त सुखकी प्राप्तिका नाम परम शान्ति है।

महावीर भगवानने प्रायः तीस वर्ष तक लगातार अनेक देशदेशान्तरोंमें विहार करके सन्मार्गका उपदेश दिया, असंख्य प्राणियोके अज्ञानान्धकारको दूर करके उन्हें यथार्थ वस्तु-स्थितिका बोध कराया, तत्त्वार्थको समझाया, भूले दूर की, भ्रम मिटाए, कमजोरियाँ हटाई, भय भगाया, आत्मविश्वास जगाया, कदाग्रह दूर किया, पाखण्डबल घटाया, मिथ्यात्व छुडाया, पतितोको उठाया, अन्याय-अत्याचारको रोका, हिंसाका विरोध किया, साम्यवादको फैलाया और लोगोंको स्वावलम्बन तथा सयमकी शिक्षा दे कर उन्हे आत्मोत्कर्षके मार्ग पर लगाया। इस तरह आपने लोकका अनन्त उपकार किया है और आपका यह विहार बडा ही उदार, प्रतापी एव यशस्वी हुआ है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने स्वयम्भूस्तोत्रमे 'गिरिभित्त्यवदानवत' इत्यादि पद्यके द्वारा इस विहारका यत्किंचित् उल्लेख करते हुए, उसे "ऊर्जित गत" लिखा है।

भगवान्का यह विहार-काल ही उनका तीर्थ-प्रवर्तनकाल है, और इस तीर्थ-प्रवर्तनकी वजहसे ही वे 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। आपके विहारका पहला स्टेशन राजगृहीके विपुलाचल तथा वैभार-पर्वतादि पच पहाडियोंका प्रदेश जान पडता है[९] जिसे धवल और जयधवल नामके सिद्धान्त ग्रन्थोंमें क्षेत्ररूपसे महावीरका अर्थकर्तृत्व प्ररूपण करते हुए, 'पचशैलपुर' नामसे उल्लेखित किया है।[१०] यही पर आपका प्रथम उपदेश हुआ है—केवल ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् आपकी दिव्य वाणी खिरी है—और उस उपदेशके समयसे ही आपके तीर्थकी उत्पत्ति हुई है।[११] राजगृहीमें उस वक्त राजा श्रेणिक राज्य करता था, जिसे बिम्बसार भी कहते हैं। उसने भगवान्की परिषदोंमें—समवसरण-सभाओमे—प्रधान भाग लिया है और उसके प्रश्नो पर बहुतसे रहस्योका उद्घाटन हुआ है। श्रेणिककी रानी चेलना भी राजा चेटककी पुत्री थी और इसलिए वह रिश्तेमे महावीरकी मातृस्वसा (मावसी)[१२] होती थी। इस तरह महावीरका अनेक राज्योके साथमे शारीरिक सम्बन्ध भी था। उनमे आपके धर्मका बहुत प्रचार हुआ और उसे अच्छा राजाश्रय मिला है।

विहारके समय महावीरके साथ कितने ही मुनि-आर्यिकाओ तथा श्रावक-श्राविकाओका सघ रहता था। आपने चतुर्विध सघकी अच्छी योजना और बडी ही सुन्दर व्यवस्था की थी। इस सघके गणधरोंकी सख्या ग्यारह तक पहुच गई थी और उनमे सबसे प्रधान गौतम स्वामी थे, जो 'इन्द्रभूति' नामसे भी प्रसिद्ध हैं और समवसरणमे मुख्य गणधरका कार्य करते थे। ये गोतम-गोत्री और सकल वेद-वेदागके पारगामी एक बहुत बडे ब्राह्मण विद्वान् थे, जो महावीरको केवलज्ञानकी सप्राप्ति होनेके पश्चात् उनके पास अपने जीवाऽजीव-विषयक संदेहके निवारणार्थ गये थे, सदेहकी निवृत्ति पर उनके शिष्य बन गये थे और जिन्होने अपने बहुतसे शिष्योंके साथ भगवानसे जिन-दीक्षा ले ली थी। अस्तु।

तीस[१३] वर्षके लम्बे विहारको समाप्त करते और कृतकृत्य होते हुए, भगवान महावीर जब पावा पुरके एक सुन्दर उद्यानमे पहुँचे, जो अनेक पद्मसरोवरो तथा नाना प्रकारके वृक्षसमूहोंसे

---

९. आप जृम्भका ग्रामके ऋजुकूला-तटसे चलकर पहले इसी प्रदेशमें आए हैं। इसीसे श्रीपूज्यपादाचार्यने आपकी केवलज्ञानोत्पत्तिके उस कथनके अनन्तर जो ऊपर दिया गया है आपके वैभार पर्वत पर आनेकी बात कही है और तभीसे आपके तीस वर्षके विहारकी गणना की है—

"अथ भगवान्सम्प्रापद्दिव्यं वैभारपर्वतं रम्यं।
चातुर्वर्ण्य-सुसघस्तत्राभूद्गौतमप्रभृति ॥ १३ ॥
"दशविधमनगाराणामेकादशधोत्तरं तथा धर्मं।
देशयमानो व्यहरत् त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्र ॥ १५ ॥
—निर्वाणभक्ति

१०. पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णे देवदाणववंदिदे ॥
महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोअस्स।

११ यह तीर्थोत्पत्ति श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको पूर्वाह्न-(सूर्योदय) के समय अभिजित नक्षत्रमें हुई है, जैसा कि धवल सिद्धान्तके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥ २ ॥

१२. कुछ श्वे० ग्रन्थानुसार 'मातुलजा' (मामूजाद बहन)

१३. धवल सिद्धान्तमे—और जयधवलमे भी—कुछ आचार्योंके मतानुसार एक प्राचीन गाथाके आधार पर विहारकालकी सख्या २९ वर्ष ५ महीने २० दिन भी दी है, जो केवलोत्पत्ति और निर्वाणकी तिथियोको देखते हुए ठीक जान पड़ती है। और इसलिए ३० वर्षकी यह संख्या स्थूल रूपसे समझनी चाहिये। वह गाथा यह है—

वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीसदिवसे य।
चउविहअणगारेहिं बारहहिं गणेहिं विहरंतो ॥ १ ॥

मंडित था, तब आप वहा कायोत्सर्गसे स्थित हो गये और आपने परम शुक्लध्यानके द्वारा योग-निरोध करके दग्धरज्जु-समान अवशिष्ट रहे कर्मरजको—अघातिचतुष्टयको—भी अपने आत्मामे पृथक् कर डाला, और इस तरह कार्तिक वदि अमावस्याके दिन[14] स्वाति नक्षत्रके समय, निर्वाण-पदको प्राप्त करके आप सदाके लिए अजर अमर तथा अक्षय-सौख्यको प्राप्त हो गये[15]। इसीका नाम विदेहमुक्ति, आत्यन्तिक-स्वात्मस्थिति, परिपूर्ण-सिद्धावस्था अथवा निष्कल-परमात्मपदकी प्राप्ति है। भगवान् महावीर प्राय: ७२ वर्षकी अवस्था[16] मे अपने इस अन्तिम ध्येयको प्राप्त करके लोकाग्रवासी हुए। और आज उन्हीका तीर्थ प्रवर्त रहा है।

इस प्रकार भगवान् महावीरका यह सक्षेपमे सामान्य परिचय है, जिसमे प्राय किसीको भी कोई खास विवाद नही है।

देश-कालकी परिस्थिति—

देश-कालकी जिस परिस्थितिने महावीर भगवान्को उत्पन्न किया उसके सम्बन्धमे भी दो शब्द कह देना यहा पर उचित जान पडता है। महावीर भगवानके अवतारसे पहले देशका वातावरण बहुत ही क्षुब्ध, पीडित तथा मत्रस्त हो रहा था, दीन-दुर्बल खूब सताए जाते थे, ऊँच-नीचकी भावनाये जोरो पर थी, शूद्रोंसे पशुओंजैसा व्यवहार होता था, उन्हे कोई सम्मान या अधिकार प्राप्त नही था, वे शिक्षा-दीक्षा

१४ धवल सिद्धान्तमे, "पच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्हचोद्दसिए। सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ॥" इस प्राचीन गाथाको प्रमाणमे उद्धृत करते हुए, कार्तिक वदि चतुर्दशीकी रात्रिको (पश्चिमभाग-पिछले पहरमे) निर्वाणका होना लिखा है। साथ ही, केवलोत्पत्तिसे निर्वाण तकके समय २९ वर्ष ५ महीने २० दिनकी सगति ठीक बिठलाते हुए, यह भी प्रतिपादन किया है कि अमावस्याके दिन देवेंद्रोंके द्वारा परिनिर्वाणपूजा की गई है वह दिन भी इस कालमे शामिल करने पर कार्तिकके १५ दिन होते है। यथा :—

"अमावसीए परिणिव्वाणपूजा सयलदेविंदेहि कया ति तंपि दिवसमेत्थेव पक्खित्ते पण्णारस दिवसा होंति।"

इससे यह मालूम होता है कि निर्वाण अमावस्याको दिनके समय तथा दिनके बाद रात्रिको नही हुआ, बल्कि चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम भागमे हुआ है जबकि अमावस्या आ गई थी और उसका सारा कृत्य—निर्वाणपूजा और देहसस्कारादि—अमावस्याको ही प्रातःकाल आदिके समय भुगता है। इसीसे कार्तिककी अमावस्या आमतौर पर निर्वाणकी तिथि कहलाती है। और चूँकि वह रात्रि चतुर्दशीकी थी इससे चतुर्दशीको निर्वाण कहना भी कुछ असंगत मालूम नही होता। महापुराणमे गुणभद्राचार्यने भी "कार्तिककृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये" इस वाक्यके द्वारा कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिको उस समय निर्वाणका होना बतलाया है जब कि रात्रि समाप्तिके करीब थी। उसी रात्रिके अन्तेरेमे, जिसे जिनसेननें अपने हरिवंशपुराणमे "कृष्णभूतसुप्रभातसध्यासमये" पदके द्वारा उल्लेखित किया है, देवेन्द्रों द्वारा दीपावली प्रज्वलित करके निर्वाणपूजा किये जानेका उल्लेख है और वह पूजा धवलके उक्त वाक्यानुसार अमावस्याको की गई है। इससे चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम भागमे अमावस्या आ गई थी यह स्पष्ट जाना जाता है। और इसलिये अमावस्याको निर्वाण बतलाना बहुत युक्ति-युक्त है, उसीका श्रीपूज्यपादाचार्यने "कार्तिककृष्णस्यान्ते" पदके द्वारा उल्लेख किया है।

१५ जैसाकि श्रीपूज्यपादके निर्वाणभक्तिगत निम्न वाक्यसे भी प्रकट है —

"पद्मवन-दीर्घिकाकुल-विविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनि.॥१६॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरज।
अवशेष सप्रापद् व्यजरामरमक्षय सौख्यम्॥१७॥"

१६ धवल और जयधवल नामके सिद्धान्तग्रंथोमे महावीरकी आयु, कुछ आचार्योके मतानुसार, ७१ वर्ष ३ महीने २५ दिनकी भी बतलाई है और उसका लेखा इस प्रकार दिया है —

गर्भकाल=९ मास ८ दिन, कुमारकाल=२८ वर्ष ७ मास १२ दिन, छद्मस्थ-(तपश्चरण-)काल=१२ वर्ष ५ मास १५ दिन; केवल-(विहार-)काल=२९ वर्ष ५ मास २० दिन।

इस लेखेके कुमारकालमे एक वर्षकी कमी जान पडती है, क्योंकि वह आमतौर पर प्राय: ३० वर्षका माना जाता है। दूसरे, इस आयुमेंसे यदि गर्भकालको निकाल दिया जाय, जिसका लोक-व्यवहारमे ग्रहण नही होता, तो वह ७० वर्ष कुछ महीने की ही रह जाती है और इतनी आयुके लिये ७२ वर्षका व्यवहार नही बनता।

और उच्च संस्कृतिके अधिकारी ही नही माने जाते थे और उनके विषयमें बहुत ही निर्दय तथा घातक नियम प्रचलित थे। स्त्रियां भी काफी तौर पर सताई जाती थी, उच्च शिक्षासे वंचित रक्खी जाती थी, उनके विषयमें **"न स्त्री स्वातंत्र्य-मर्हति"** (स्त्री स्वतंत्रताकी अधिकारिणी नही) जैसी कठोर आज्ञाएँ जारी थी और उन्हे यथेष्ट मानवी अधिकार प्राप्त नही थे—बहुतोंकी दृष्टिमें तो वे केवल भोगकी वस्तु, विलासकी चीज, पुरुषकी सम्पत्ति अथवा बच्चा जननेकी मशीनमात्र रह गई थी। ब्राह्मणोने धर्मानुष्टान आदि के सब ऊंचे-ऊचे अधिकार अपने लिए रिजर्व (सुरक्षित) रख छोड़े थे—दूसरे लोगो को वे उनका पात्र ही नही समझते थे —सर्वत्र उन्हीकी तूती बोलती थी, शासन-विभागमे भी उन्होंने अपने लिए खास रिआयते प्राप्त कर रक्खी थी। घोर-से-घोर पाप और बड़े-से-बड़ा अपराध कर लेने पर भी उन्हे प्राणदण्ड नही दिया जाता था, जबकि दूसरोको एक साधारणमे अपराध पर भी फासी पर चढा दिया जाता था। ब्राह्मणोके बिगड़े हुए जाति-भेद की दुर्गंधसे देशका प्राण घुट रहा था और उसका विकास रुक रहा था, खुद उनके अभिमान तथा जाति-मदने उन्हे पतित कर दिया था और उनमें लोभ-लालच, दभ, अज्ञानता, अकर्मण्यता, क्रूरता तथा धूर्ततादि दुर्गुणोंका निवास हो गया था, वे रिश्वतें अथवा दक्षिणाएँ लेकर परलोकके लिए सर्टिफिकेट और पर्वाने तक देने लगे थे, धर्मकी असली भावनाएँ प्रायः लुप्त हो गई थी और उनका स्थान अर्थ-हीन क्रियाकाण्डो तथा थोथे विधिविधानोंने ले लिया था; बहुतसे देवी-देवताओकी कल्पना प्रबल हो उठी थी, उनके संतुष्ट करनेमे ही सारा समय चला जाता था और उन्हे पशुओकी बलियाँ तक चढाई जाती थी; धर्मके नाम पर सर्वत्र यज्ञ-यागादिक कर्म होते थे और उनमे असख्य पशुओंको होमा जाता था—जीवित प्राणी धधकती हुई आगमे डाल दिये जाते थे—और उनका स्वर्ग जाना बतलाकर अथवा **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** कहकर लोगोको भुलावेमे डाला जाता था और उन्हे ऐसे क्रूर कर्मोंके लिये उत्तेजित किया जाता था। साथ ही, बलि तथा यज्ञके बहाने लोग मांस खाते थे। इस तरह देशमे चहुँ ओर अन्याय-अत्याचारका साम्राज्य था—बडा ही बीभत्स तथा करुण दृश्य उपस्थित था—सत्य कुचला जाता था, धर्म अपमानित हो रहा था, पीड़ितोंकी आहोंके धुएँसे आकाश व्याप्त था और सर्वत्र असन्तोष ही असन्तोष फैला हुआ था।

यह सब देखकर सज्जनोंका हृदय तलमला उठा था, धार्मिकोंको रातदिन चैन नही पड़ता था और पीडित व्यक्ति अत्याचारोसे ऊब कर त्राहि-त्राहि कर रहे थे। सबोंकी हृदय-तंत्रियोंसे 'हो कोई अवतार नया' की एक ही ध्वनि निकल रही थी और सबोंकी दृष्टि एक ऐसे असाधारण महात्माकी ओर लगी हुई थी जो उन्हे हस्तावलम्बन देकर इस घोर विपत्तिसे निकाले। ठीक उसी समय—आजसे कोई ढाई हजार वर्षसे भी अधिक (२५४९ वर्ष) पहले—प्राची दिशामे भगवान् महावीर भास्करका उदय हुआ, दिशाएँ प्रसन्न हो उठी, स्वास्थ्यकर मद सुगध पवन बहने लगा, सज्जन धर्मात्माओं तथा पीड़ितोके मुखमडल पर आशाकी रेखा दीख पडी, उनके हृदयकमल खिल गये ओर उनकी नस-नाड़ियोमे ऋतुराज (वसत)के आगमनकाल-जैसा नवरसका सचार होने लगा।

महावीरका उद्धारकार्य—

महावीरने लोक-स्थितिका अनुभव किया, लोगोकी अज्ञानता, स्वार्थपरता, उनके वहम, उनका अन्धविश्वास, और उनके कुत्सित विचार एवं दुर्व्यवहारको देखकर उन्हे भारी दुःख तथा खेद हुआ। साथ ही, पीड़ितोंकी करुण पुकारको सुनकर उनके हृदयसे दयाका अखंड स्रोत बह निकला। उन्होंने लोकोद्धारका संकल्प किया, लोकोद्धारका सम्पूर्ण भार उठानेके लिये अपनी शक्ति-सामर्थ्यको तोला और उसमे जो त्रुटि थी उसे बारह वर्षके उस घोर तपश्चरणके द्वारा पूरा किया जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

इसके बाद सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होकर महावीरने लोकोद्धारका सिंहनाद किया—लोकमे प्रचलित सभी अन्याय-अत्याचारों, कुविचारों तथा दुराचारोंके विरुद्ध आवाज़ उठाई—और अपना प्रभाव सबसे पहले ब्राह्मण विद्वानों पर डाला, जो उस वक्त देशके 'सर्वे सर्वा' बने हुए थे और जिनके सुधरनेपर देशका सुधरना बहुत कुछ सुखसाध्य हो सकता था। आपके इस पटु सिंहनादको सुनकर, जो एकान्तका निरसन करनेवाले स्याद्वादकी विचार-पद्धतिको लिये हुए था, लोगोंका तत्त्वज्ञानविषयक भ्रम दूर हुआ, उन्हे अपनी भूलें मालूम पड़ी, धर्म-अधर्मके यथार्थ स्वरूपका परिचय मिला, आत्मा-अनात्माका भेद

स्पष्ट हुआ और बंध-मोक्षका सारा रहस्य जान पड़ा। साथ ही, झूठे देवी-देवताओं तथा हिंसक यज्ञादिकों परसे उनकी श्रद्धा हटी और उन्हे यह बात साफ़ जँच गई कि हमारा उत्थान और पतन हमारे ही हाथमें है, उसके लिये किसी गुप्त शक्तिकी कल्पना करके उसीके भरोसे बैठ रहना अथवा उसको दोष देना अनुचित और मिथ्या है। इसके सिवाय, जातिभेदकी कट्टरता मिटी, उदारता प्रकटी, लोगोंके हृदयमे साम्यवादकी भावनाएँ दृढ़ हुईं और उन्हे अपने आत्मोत्कर्षका मार्ग सूझ पड़ा। इतना ही नहीं, ब्राह्मण गुरुओंका आसन डोल गया, उनमेंसे इन्द्रभूति-गौतम जैसे कितने ही दिग्गज विद्वानोंने भगवान-के प्रभावसे प्रभावित होकर उनकी समीचीन धर्मदेशनाको स्वीकार किया और वे सब प्रकारसे उनके पूरे अनुयायी बन गये। भगवानने उन्हे 'गणधर' के पदपर नियुक्त किया और अपने संघका भार सौंपा। उसके साथ उनका बहुत बड़ा शिष्यसमुदाय तथा दूसरे ब्राह्मण और अन्य धर्मानुयायी भी जैनधर्ममे दीक्षित हो गये। इस भारी विजयसे क्षत्रिय गुरुओं और जैनधर्मकी प्रभाव-वृद्धिके साथ-साथ तत्कालीन (क्रियाकाण्डी) ब्राह्मणधर्मकी प्रभा क्षीण हुई, ब्राह्मणोंकी शक्ति घटी, उनके अत्याचारोंमें रोक हुई, यज्ञ-यागादिक कर्म मंद पड़ गये—उनमें पशुओंके प्रति-निधियोंकी भी कल्पना होने लगी—और ब्राह्मणोंके लौकिक स्वार्थ तथा जाति-पांतिके भेदको बहुत बडा धक्का पहुँचा। परन्तु निरंकुशताके कारण उनका पतन जिस तेजीसे हो रहा था वह रुक गया और उन्हे सोचने-विचारनेका अथवा अपने धर्म तथा परिणतिमें फेरफार करनेका अवसर मिला।

महावीरकी इस धर्मदेशना और विजयके सम्बन्धमें कविसम्राट् डा० रवीन्द्रनाथ टागौरने जो दो शब्द कहे हैं वे इस प्रकार हैं :—

Mahavira proclaimed in India the message of Salvation that religion is a reality and not a mere social convention, that salvation comes from taking refuge in that true religion and not from observing the external ceremonies of the community, that religion cannot regard any barrier between man and man as an eternal verity. Wondrous to relate, this teaching rapidly overtopped the barriers of the races' abiding instinct and conquered the whole country. For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power.

अर्थात्—महावीरने डंकेकी चोट भारतमें मुक्तिका ऐसा संदेश घोषित किया कि —धर्म यह कोई महज़ सामाजिक रूढि नही बल्कि वास्तविक सत्य है—वस्तुस्वभाव है—और मुक्ति उस धर्ममें आश्रय लेनेसे ही मिल सकती है, न कि समाज-के बाह्य आचारोका—विधिविधानो अथवा क्रियाकाडोंका—पालन करनेसे,और यह कि धर्मकी दृष्टिमें मनुष्य मनुष्यके बीच कोई भेद स्थायी नही रह सकता। कहते आश्चर्य होता है कि इस शिक्षणने बद्धमूल हुई जातिकी हद बन्दियोको शीघ्र ही तोड़ डाला और संपूर्ण देश पर विजय प्राप्त किया। इस वक्त क्षत्रिय गुरुओके प्रभावने बहुत समयके लिए ब्राह्मणोंकी सत्ताको पूरी तौरसे दबा दिया था।

इसी तरह लोकमान्य तिलक आदि देशके दूसरे भी कितने ही प्रसिद्ध हिन्दू विद्वानोने, अहिंसादिकके विषयमें, महावीर भगवान अथवा उनके धर्मकी ब्राह्मण धर्म पर गहरी छापका होना स्वीकार किया है, जिनके वाक्योंको यहां पर उद्धृत करनेकी जरूरत नही है।

भगवान महावीरने जिस धर्मतीर्थका प्रणायन अथवा प्रवर्तन किया है वह सबके उदय-उत्कर्षका एवं आत्माके पूर्णविकासका साधक 'सर्वोदयतीर्थ' है, जिसका गतकिरण ('सर्वोदयतीर्थाङ्क') मे भले प्रकार स्पष्टिकरण किया जा चुका है। यहां पर मैं सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि यह तीर्थ-शासन अनेकान्त और अहिंसा इन दो मुख्य आधारों पर स्थित है—ये ही दोनो इसके जान-प्राण हैं। इनमें अनेकान्त विचार-दोषको मिटानेवाला और अहिंसा आचार-दोषको दूर करनेवाली है। इन दोनो दोषोंके कारण ही सारा विश्व संघर्षमय अशान्त चल रहा है और उसे जरा भी चैन नही। महावीरके इन दोनों सिद्धान्तोको अपनानेसे ही विश्वमें सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त हो सकती है। इस शासनमें 'अहिंसा-को' 'परमब्रह्म' बतलाया गया है; जैसाकि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।"

और इसलिए जो परम ब्रह्मकी आराधना करना चाहता

है उसे अहिंसाकी उपासना करनी चाहिये—राग-द्वेषकी निवृत्ति, परिगृह-त्याग, दया, परोपकार अथवा लोकसेवाके कामोंमें लगना चाहिए। मनुष्यमे जब तक हिंसकवृत्ति बनी रहती है तब तक आत्मगुणोंका घात होनेके साथ-साथ **"पापाः सर्वत्र शंकिताः"** की नीतिके अनुसार उसमें भयका या प्रतिहिंसाकी आशंकाका सद्भाव बना रहता है। जहां भयका सद्भाव वहां वीरत्व नही—सम्यक्त्व नही[17] और जहा वीरत्व नही—सम्यक्त्व नही वहां आत्मोद्धारका नाम नहीं। अथवा यो कहिए कि भयमें संकोच होता है और संकोच विकासको रोकनेवाला है। इसलिए आत्मोद्धार अथवा आत्मविकासके लिए अहिंसाकी बहुत बडी जरूरत है और वह वीरता का चिन्ह है—कायरताका नही। कायरताका आधार प्रायः भय होता है, इसलिए कायर मनुष्य अहिंसाधर्मका पात्र नही—उसमें अहिसा ठहर नही सकती। वह वीरोके ही योग्य है और इसीलिए महावीरके धर्ममे उसको प्रधान स्थान प्राप्त है। जो लोग अहिंसापर कायरताका कलक लगाते हे उन्होने वास्तवमे अहिंसाके रहस्यको समझा ही नही। वे अपनी निर्बलता और आत्म-विस्मृतिके कारण कषायोंसे अभिभूत हुए कायरताको वीरता और आत्माके क्रोधादिक-रूप पतनको ही उसका उत्थान समझ बैठे हैं! ऐसे लोगोंकी स्थिति, निःसन्देह बड़ी ही करुणाजनक है।

१७. इसीसे सम्यग्दृष्टिको सप्त प्रकारके भयोसे रहित बतलाया है और भयको मिथ्यात्वका चिह्न तथा स्वानुभवकी क्षतिका परिणाम सूचित किया है। यथा:—

"नापि स्पृष्टो सुदृष्टिर्य. स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥"
"ततो भीत्याऽनुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥"
—पंचाध्यायी

महावीर-स्तवन

[श्री पं० नाथूराम 'प्रेमी']

(१)
धन्य तुम महावीर भगवान !
लिया पुण्य अवतार जगतका करनेको कल्याण धन्य० ॥

(२)
बिलबिलाट करते पशु-कुलको देख, दया-मय-प्राण !
परम अहिंसामय सुधर्मकी डाली नीव महान ॥ धन्य० ॥

(३)
ऊँच-नीचके भेद-भावका बड़ा देख परिमाण ।
सिखलाया सबको स्वाभाविक समता-सौख्य प्रधान ॥ धन्य० ॥

(४)
मिला समवसृतमें सुर-नर-पशु सबको सम सम्मान ।
समता औ' उदारताका यह कैसा सुभग विधान ॥धन्य०॥

(५)
अन्धी श्रद्धाका ही जगमें देख राज्य बलवान ।
कहा—"न मानो बिना युक्तिके कोई वचन प्रमाण" ॥ धन्य० ॥

(६)
जीव समर्थ, स्वयं करता है, स्वतः भाग्य-निर्माण ।
यों कह, स्वावलम्ब-स्वाश्रयका दिया सुफलप्रद ज्ञान ॥धन्य० ॥

(७)
इन ही आदर्शोंके सम्मुख रहनेसे सुखखान ।
भारतवासी एक समय थे भाग्यवान गुणवान ॥ धन्य० ॥

समन्तभद्र-वचनामृत

(२)

धर्ममें सम्यग्दर्शनको प्रधानपद क्यों ?

धर्मके अंगो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चरित्रमें सम्यग्दर्शनको प्रथम स्थान एव प्रधानपद क्यों ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी समन्तभद्र अपने समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) मे लिखते हैं:—

विद्या-वृत्तस्य संभूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदया ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाऽभावे तरोरिव ॥३२॥

'**जिस प्रकार बीजके अभावमें**—बीजके बिना—**वृक्षकी उत्पत्ति, वृद्धि और फलसम्पत्ति नहीं बन सकती उसी प्रकार सम्यक्त्वके अभावमें**—सम्यग्दर्शनके बिना—**सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति**—स्वरूपमें अवस्थान—**वृद्धि**—उत्तरोत्तर उत्कर्षलाभ—**और यथार्थ-फलसम्पत्ति**—मोक्षफलकी प्राप्ति—**नहीं हो सकती**।'

व्याख्या—यहां 'सम्यक्त्व' शब्दके द्वारा गृहीत जो सम्यग्दर्शन वह मूलकारण अथवा उपादानकारणके रूप-में प्रतिपादित है। उसके होनेपर ही ज्ञान-चारित्र सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रके रूपमे परिणत होते हैं, यही उनकी सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चरित्ररूपसे संभूति है। सम्यग्दर्शनकी सत्ता जबतक बनी रहती है तबतक ही वे अपने स्वरूपमें स्थिर रहते है, अपने विषयमें उन्नति करते हैं और यथार्थ फलके दाता होते है। सम्यग्दर्शनकी सत्ता न रहनेपर उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र भी अपनी धुरी पर स्थिर नही रहते—डोल जाते है—उनमे विकार आ जाता है, जिससे उनकी वृद्धि तथा यथार्थ-फलदायिनी शक्ति रुक जाती है और वे मिथ्या-ज्ञान–मिथ्याचारित्रमें परिणत होकर तद्रूप ही कहे जाते है तथा यथार्थ फल जो आत्मोत्कर्ष–साधन है उसको प्रदान करनेमे समर्थ नही रहते। अत: ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्टता स्पष्ट सिद्ध है—वह उन दोनोकी उत्पत्ति आदिके लिये बीजरूपमें स्थित है।

सम्यग्दर्शनके माहात्म्यका वर्णन करते हुए स्वामी समन्त-भद्रने जो रहस्यकी बाते अपने समीचीन धर्मशास्त्रमे कही है उनमेसे कुछ इस प्रकार है:—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि ।
दुष्कुल-विकृताऽल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाऽप्यव्रतिका ॥

'**जो** (अबद्धायुष्क) **सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हैं**—जिनका आत्मा (आयुकर्मका बन्ध होनेके पूर्व) निर्मल सम्यग्दर्शनका धारक है—**वे अव्रती होते हुए भी**—अहिंसादि-व्रतोंमेंसे किसी भी व्रतका पालन न करते हुए भी—**नरक-तिर्यञ्च गतिको तथा** (मनुष्यगतिमें) **नपुंसक और स्त्रीकी पर्यायको प्राप्त नहीं होते और न** (भवान्तरमें) **निम्न कुलको, अगोंकी विकलताको, अल्पायुको तथा दरिद्रताको**—सम्पत्ति-हीनता या निर्धनताको—**ही प्राप्त होते हैं**। अर्थात् निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके अनन्तर और उसकी स्थिति रहते हुए उनसे ऐसे कोई कर्म नही बनते जो नरक-तिर्यंच आदि पर्यायोंके बन्धके कारण हों और जिनके फलस्वरूप उन्हे नियमत: उक्त पर्यायो अथवा उनमेसे किसीको प्राप्त करना पड़े।'

व्याख्या—यह कथन उन सम्यग्दृष्टियोकी अपेक्षा-से है जो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पूर्व अबद्धायुष्क रहे हों—नरक-तिर्यंच-जैसी आयुका बन्ध न कर चुके हों; क्योंकि किसी भी प्रकारका आयु-कर्मका बन्धन एक बार होकर फिर छूटता नही और न उसमें परस्थान-संक्रमण ही होता है। ऐसी हालतमे जो लोग सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके पूर्व अथवा उसकी सत्ता न रहने पर नरकायु या तिर्यंचायुका बन्ध कर चुके हों उनकी दशा दूसरी है—उनमे इस कथनका सम्बन्ध नही है—वे मरकर नरक या तिर्यंचगतिको जरूर प्राप्त करेगे। हा, बद्धायुष्क होनेके बाद उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन-के प्रभावसे उनकी स्थितिमें कुछ सुधार जरूर हो जायगा, जैसे सप्तमादि नरकोकी आयु बाधनेवाले प्रथम नरकमे ही जायेंगे—उससे आगे नही—और स्थावर, विकलत्रयादि रूप तिर्यंचायुका बन्ध करनेवाले स्थावर तथा विकलत्रय-पर्यायको न धारणकर तिर्यंचोमे सज्ञी पंचेन्द्रिय पुंल्लिग-पर्यायको ही धारण करने वाले होगे। इसी तरह पूर्वबद्ध देवाय तथा मनुष्यायुकी बन्धपर्यायोमे भी स्वस्थान-संक्रमण-

की दृष्टिसे विशेषता आ जायेगी और वे संभावित प्रशस्तता-का रूप धारण करेंगी। यहां पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि यह सब कथन सम्यग्दर्शनका कोरा माहात्म्य-वर्णन नही है बल्कि जैनागमकी सैद्धान्तिक दृष्टिके साथ इसका गाढ (गहरा) सम्बन्ध है।

सम्यक्चारित्रका पात्र कौन और उद्देश्य क्या?

सम्यक्चारित्रका पात्र कौन और किस दृष्टि अथवा उद्देश्यको लेकर वह चारित्रका अनुष्ठान एवं पालन करता है अथवा उसके लिये वह विधेय है। इन दोनो विषयोंको स्पष्ट करते हुए स्वामीजीने जिस अमृतवचनका प्रणयन किया है वह उनके समीचीन धर्मशास्त्रमें निम्न प्रकारसे उपलब्ध होता है :—

मोह-तिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त-संज्ञानः ।
राग-द्वेष-निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

'**मोह-तिमिरका अपहरण होनेपर**—दर्शनमोह (मिथ्या-दर्शन) रूपी अन्धकारका यथासभव उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम होने पर अथवा दर्शनमोह और चारित्रमोह-रूप मोहका तथा ज्ञानावरणादिरूप तिमिरका यथासंभव क्षयोप-शमादिरूप अपहरण होने पर—**सम्यग्दर्शनके लाभपूर्वक सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हुआ जो साधु पुरुष**—आत्मसाधनामें तत्पर जो गृहस्थ अथवा मुनि—**है वह रागद्वेष-की निवृत्तिके लिए चरणको**—हिसादि-निवृत्ति-लक्षणरूप सम्यक्चारित्रको—**अंगीकार करता है।**'

व्याख्या—यहा 'दर्शन' और 'चरण' शब्द बिना किसी विशेषणके साथमे प्रयुक्त होनेपर भी पूर्व प्रसंग अथवा ग्रन्था-धिकारके वश 'सम्यक्' पदसे उपलक्षित हैं, और इसलिये उन्हे क्रमशः सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रके वाचक समझना चाहिये। सम्यक्चारित्रको किसलिये अंगीकार किया जाता है—उसकी स्वीकृति अथवा तद्रूप प्रवृत्तिका क्या कुछ ध्येय तथा उद्देश्य है—और उसको अगीकार करनेका कौन पात्र है, यही सब इस कारिकामें बतलाया गया है, जिसे दूसरे शब्दों-द्वारा आत्मामें सम्यक्चारित्रकी प्रादुर्भूतिका क्रम-निर्देश भी कह सकते हैं। इस निर्देशमें उस सत्प्राणीको सम्यक्चारित्रका पात्र ठहराया है जो सम्यग्ज्ञानी हो, और इसलिये अज्ञानी अथवा मिथ्याज्ञानी उसका पात्र ही नही। सम्यग्ज्ञानी वह होता है जो सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेता है—सम्यग्दर्शन-की प्राप्ति उसके सम्यग्ज्ञानी होनेमे कारणीभूत है। और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तब होती है जब मोहतिमिरका अप-हरण हो जाता है। जबतक दर्शनमोहरूप तिमिर (अन्ध-कार) बना रहता है तबतक सम्यग्दर्शन नही हो पाता। अथवा जितने अंशोमें वह बना रहता है उतने अंशोंमें यह नही हो पाता। अतः पहले सम्यग्दर्शनमें बाधक बने हुए मोह-तिमिरको सप्रयत्न दूर करके दृष्टिसम्पत्तिको—सम्य-ग्दृष्टिको—प्राप्त करना चाहिये और सम्यग्दृष्टिकी प्राप्ति-द्वारा सम्यग्ज्ञानी बनकर राग-द्वेषकी निवृत्तिको अपना ध्येय बनाना चाहिये, तभी सम्यक्चारित्रकी आराधना बन सकेगी। जितने-जितने अंशोमे यह मोह-तिमिर दूर होता रहेगा, उतने-उतने अशोमे दर्शन-ज्ञानकी प्रादूर्भूति होकर आत्मामे सम्यक्चरित्रके अनुष्ठानकी पात्रता आती रहेगी। और इसलिये मोह-तिमिरको दूर करनेका प्रयत्न सर्वोपरि मुख्य है—वही भव्यात्मामे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्मकी उत्पत्ति (प्रादूर्भूति) के लिये भूमि तैयार करता है। इसीसे ग्रन्थकी आदिमें मोह-तिमिरके अपहरण-स्वरूप सम्यग्दर्शनका अध्ययन सबसे पहले कुछ विस्तारके साथ रक्खा गया है और उसमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिपर सबसे अधिक जोर देते हुए उसे ३२ वी कारिकामे ज्ञान और चरित्रके लिये बीजभूत बतलाया है।

सम्यक्चारित्रके ध्येयका स्पष्टीकरण—

राग-द्वेष-निवृत्तेर्हिंसादि-निवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥४८॥

'**राग-द्वेषकी निवृत्ति हिंसादिकको निवर्तनासे**—चारित्ररूपमे कथ्यमान अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहादि व्रतोंकी उपासनासे—**की गई होती है।** (इसी से बुधजन हिसादिनिवृत्तिलक्षण चारित्रको अगीकार करते हैं—उसकी उपासना–आराधनामे प्रवृत्त होते हैं। सो ठीक ही है); ***क्योंकि अर्थवृत्तिकी अथवा अर्थ*** (प्रयोजनविशेष) **और वृत्ति** (आजीविका) **की अपेक्षा न रखता हुआ ऐसा कौन पुरुष है जो राजाओंकी सेवा करता है?** कोई भी नही।'

व्याख्या—जिस प्रकार राजाओका सेवन बिना प्रयोजनके नही होता उसी प्रकार अहिसादि व्रतोंका सेवन भी बिना प्रयोजनके नहीं होता, उनके अनुष्ठान-आराधनरूप सेवनका प्रयोजन है राग और द्वेषकी निवृत्ति। जिस व्रतीका लक्ष्य राग-द्वेषकी निवृत्तिकी तरफ नही है उसे 'लक्ष्य-भ्रष्ट' और उसके व्रतानुष्ठानको 'व्यर्थका कोरा आडम्बर' समझना चाहिये।

—युगवीर

श्रुतकीर्ति और उनकी धर्मपरीक्षा*

(डा० हीरालाल जैन, प्रोफेसर, नागपुर महाविद्यालय)

धर्मपरीक्षा नामक ग्रथके सम्बन्धमें अभीतक जो कुछ ज्ञात हो सका है—प्रकाशित व अप्रकाशित—उस सबका उल्लेख डा० आदिनाथ नेमिनाथजी उपाध्यायने अपने 'हरिषेण-कृत अपभ्रंश धर्मपरीक्षा' (Harishena's Dharma-pariksha in Apabhrams'a) शीर्षक लेखमें कर दिया है, और उनका यह लेख भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीटयूटकी त्रैमासिक पत्रिकाके रजत जयन्ती अंक (Silver Jubilee Number of the Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Poona, Vol XXIII 1942) में प्रकाशित हो चुका है। किन्तु इस लेखमे मै जिस धर्मपरीक्षा शीर्षक काव्यका परिचय दे रहा हूं वह उपाध्यायजीके उक्त लेखमे सूचित नहीं है, क्योकि अभीतक की किन्ही ग्रंथ-सूचियोंमें उसका उल्लेख नही पाया जाता। मै स्वयं भी इस ग्रंथका नाम किन्हीं अप्रकाशित ग्रंथोंकी भंडारसूचियोंमें नही देख पाया, और न किसी अन्य लेखकने अभी तक इसका, जहां तक मुझे ज्ञात है, कोई उल्लेख किया। अत. यह ग्रथ एक सर्वथा नई खोज कहा जा सकता है।

धर्मपरीक्षाकी प्रस्तुत हस्तलिखित प्राचीन प्रति अपभ्रंश ग्रंथोके खोजके समय मेरी दृष्टिमे आई और इस समय मेरे पास है। इस प्रतिमे ९८ (अंठान्नवे) पत्र हं। प्रथम पत्र तथा अन्तके कुछ पत्र अप्राप्त है। ९८ वे पत्रके अन्त तक सातवी सधिका सातवा कडवक चला है जो पूरा नही हो पाया। उस पत्रपरके अन्तिम शब्द है .—

'घत्ता ॥ णियकट्ठु . . . . . '

प्रथम पत्रके न मिलनेसे ग्रथके प्रारम्भका प्रथम कडवक अलभ्य हो गया है केवल उसकी अन्तिम तुकबन्दी और उसके ऊपरकी तुकबन्दीका अन्तिम शब्द **'लोयपियारउ'** ही दूसरे पत्रपर आनेके कारण मिल सके है। प्रथम कडवकके इस उपलभ्य अशपरसे केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उस कडवकमे धर्मकी प्रशसा और उसकी अवहेलना करनेवालोंकी निन्दा की गई होगी। कविने आगे चलकर कहा है कि पहले भरतक्षेत्रमें धर्मका उपदेश जिनेन्द्र भगवान ऋषभदेवने दिया था, और उसीका उपदेश इस कालमें वीरनाथ भगवानने किया। तत्पश्चात् धर्मके द्वारा प्राप्य सुखका वर्णन है। फिर लोकके अनन्त जीवों और उनके दुखोका वर्णन किया गया है। इन दुखोसे जिस धर्मके द्वारा उद्धार हो सकता है उसकी आचार्य-परम्परा बतलाई गई है। इसी धर्मको एक खेचर (विद्याधर) ने सुना और उसने अपने मित्रके कल्याणके लिए उसे सुनाया। इस प्रकार काव्यकी मुख्य कथा प्रथम सन्धिके पांचवें कडवकके मध्यमें प्रारम्भ होती है। और मूर्खोंके दश प्रकारोमेसे चारके वर्णनके साथ प्रथम सन्धि समाप्त होती है। द्वितीय सन्धि मूर्खके पाचवे प्रकारसे प्रारम्भ होकर छाया और अग्निकी कथाके साथ समाप्त होती है और उसीके साथ दूसरी सभा भी समाप्त हो जाती है। तीसरी सन्धिके साथ तृतीय सभा प्रारम्भ होती है। कमण्डलकी कथा और उसका पुराणोंके आख्यानो-द्वारा समर्थन इस सन्धिके सोलहवे कडवक तक चलता है। वहासे फिर जैनशास्त्रानुसार लोकका वर्णन प्रारम्भ होकर चौथी सन्धिके अन्त तक चला जाता है। चौथी सन्धिका नाम भी 'लोकसरुववण्णणो' दिया गया है। कथाका क्रम पाचवी सन्धिमे फिर उठाया गया है जबकि मनोवेग तापसके वेषमे उपस्थित हुआ और चौथी सभा प्रारम्भ हुई। यह सभा सधिके चौदहवे कडवक पर समाप्त होती है। शेष सन्धिमें पांचवी सभाका वर्णन किया गया है, और इस सन्धिका नाम, 'पचमसालाजयवण्णणो' दिया गया है। छठी सन्धिमे अन्तिम सभाका वर्णन है। सातवी सन्धिके प्रारम्भमें पवनवेगने यह प्रश्न उठाया कि वेदोंके रचयिता कौन है? प्रस्तुत प्रतिमे इस सातवी सन्धिके केवल प्रथम सात ही कडवक सुरक्षित है, जिनमे ब्राह्मणोंके भ्रष्टचारित्र हो जानेपर उनके द्वारा एक दलदलमे फसे भैंसेके

---

* इस विषयका निबन्ध अंग्रेजी म अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलनके १५हवे अधिवेशनके समय प्राकृत और जैनधर्म विभागके सम्मुक बम्बईमें सन् १९४९ नवम्बरमे पढ़ा गया था।

ऊपर चढ़कर उसके मार डाले जाने का उल्लेख है। मरकर वह भैंसा एक असुर हुआ।

यह कथानक हरिषेण-कृत धर्मपरीक्षामें दशवी सन्धिके छठे कडवक तक पाया जाता है। तत्पश्चात् उसी सन्धिमें ग्यारह कडवक और है, और फिर ग्यारहवीं सन्धिमें सत्ताइस कडवकोंकी रचना है, जिनमें श्रावकधर्मका उपदेश दिया गया है। यह भाग श्रुतकीर्तिकी धर्मपरीक्षाकी प्रस्तुत प्रतिसे विच्छिन्न हो गया है। संभवतः वह सातवी सन्धिमे ही पूरा हो गया होगा।

इस प्रतिमें सन्धि-अनुसार कडवकोंकी संख्या निम्न प्रकार है —

संधि	१	२	३	४	५	६	७
कडवक	२५	३३	३०	३८	२६	२०	७+....?

=१७९+.....

ग्रथकी प्रत्येक संधिके अन्तमे कविने अपना नाम श्रुतकीर्ति और अपने गुरुका नाम त्रिभुवनकीर्ति अकित किया है। किन्तु कविका और कोई परिचय इस ग्रंथमे उपलभ्य नही है। पंडित नाथूरामजी प्रेमी कृत 'दिगम्बर जैनग्रथ-कर्ता और उनके ग्रथ' नामक सूचीमे मुझे श्रुतकीर्तिके आगे उनकी तीन रचनाओके नाम मिले—हरिवंशपुराण, (प्रा०) गोम्मटसार-टीका और गोम्मटसार-टिप्पण। श्रुतकीर्ति-कृत हरिवशपुराणकी एक प्रति जैनसिद्धान्तभवन, आरामें सुरक्षित है। यह ग्रंथ भी अपभ्रंश भाषामे है और उसके अन्तमें कविका परिचय निम्न प्रकार पाया जाता है—

पंचमकाल-चलण-पडमिल्लइं।
तह उवण्ण आयरिय महल्लइं ॥१॥
कुंदकुंदगणिणा अणुकम्मइं।
जायइ मुणिगण विविह सहम्मइं ॥२॥
गणबलक्ता वागेसरिगच्छइं।
णंदिसंघ मणहर मइसच्छइं ॥३॥
पहाचंद गणिणा सुदपु णइं।
पोमणंदि तह पट्ट-उवण्णइं ॥४॥
पुणु सुभचंददेव कमजायइं।
गणि जिणचंद तह य विक्खायइं ॥५॥
विज्जाणदि कमेण उवण्णइं।
सीलवत बहुगुण सुदपुण्णइं ॥६॥
पोमणंदि तिसकमिण ति जायइ।
जे मंडलायरिय विक्खायइं ॥७॥
मालवदेसे धम्म-सुपयासणु।
मुणिदेविंदकित्ति पिउभासणु ॥८॥
तहु सिसु अमियवाणि गुणधारउ।
तिहुवणकित्ति पबोहणसारउ ॥९॥
तहु सिसु सुदकित्ति गुरुभत्तउ।
जेंहि हरिवंसपुराणु पउत्तउ ॥१०॥
मच्छरउज्झिअउ बुद्धिविहीणउ।
पुव्वायरिहिं वयण-पयलीणउ ॥११॥
अप्पबुद्धि बहुदोसु एलिक्खउ।
जं असुद्धु तं सुद्धु करिज्जउ ॥१२॥
एयहु सयलगथसुपमाणहु।
तेरसहसहसइं बुह जाणहु ॥१३॥
संवतु विक्कमसेण-णरेसहं।
सहसु पंचसय बावण सेसहं ॥१४॥
मंडवगढवर मालवदेसइं।
साहि गयासु पयाव असेसइं ॥१५॥
णयर-जेरहद जिणहरु चंगउ।
णेमिणाहजिणबिंबु अभंगउ ॥१६॥
गंथु सउण्णु तत्थ इहु जायउ।
चउविहु संघुणि सुणि अणुरायउ ॥१७॥
माघकिण्ह पंचमि ससिवारइं।
हत्थ णखत्त समत्तु गुणालइं ॥१८॥
गंथु सउण्णु जाउ सुपवित्तउ।
कम्मक्खयणिमित्तजउत्तउ ॥१९॥

(प्रशस्ति-संग्रह : पं० के० भुजबलि शास्त्री पृ० १५२)

इस प्रशस्तिसे हमें निम्न बातें ज्ञात होती है।:—

(१) नन्दिसंघ-कुन्दकुन्दाम्नायमे श्रुतकीर्ति हुए जिनकी गुरुशिष्य-परम्परा इस प्रकार थी—प्रभाचन्द्रगणि, पद्मनन्दि (प्र०), शुभचन्द्र, जिनचन्द्र, विद्यानन्दि, पद्मनन्दि (द्वि०), देवेन्द्रकीर्ति, त्रिभुवनकीर्ति, श्रुतकीर्ति।

(२) श्रुतकीर्तिने अपभ्रशमें हरिवंशपुराणकी रचना माघ-कृष्ण-पंचमी, सोमवार, विक्रसंवत् १५५२ में हस्तनक्षत्रके समय समाप्त की।

(३) श्रुतकीर्तिने हरिवशपुराणकी पूर्ति मालवदेश-के 'जेरहद' नगरके नेमिनाथ जैनमन्दिरमें बैठकर की और उस समय मालवाकी राजधानी मांडवगढ़ थी और वहा शाह ग्यासुद्दीन राज्य करता था।

इतिहाससे हमे भली भांति ज्ञात है कि सन् १४०६ में मालवाके सूबेदार दिलावरखांको उसके पुत्र अलफखांने विष देकर मार डाला और मालवाको स्वतन्त्र घोषित करके वह स्वयं राजसिंहासन पर बैठा। उसने हुशंगशाहकी उपाधि धारण की और मांडवगढ़को खूब मजबूत बनाकर उसे ही अपनी राजधानी बनाई। उसीके वंशमें शाह ग्यासुद्दीन हुए, जिन्होने माडवगढ़से मालवाका राज्य विक्रमसंवत् १५२६ से १५५७ (सन् १४६९ से १५०० ईस्वी) तक किया। (Cambridge Shorter History of India पृ० ३०६) अतएव इसमे कोई सन्देह नही रहता कि श्रुतकीर्तिकी पूर्वोक्त प्रशस्तिमे मालवेके इन्ही शाह ग्यासुद्दीनका उल्लेख है।

हरिवंशपुराणके कर्ता श्रुनकीर्ति ही प्रस्तुत धर्म-परीक्षाके भी कर्ता है इसमे भी कोई सन्देहका कारण दिखाई नही देता। दोनोके कर्ताका नाम एक है, गुरुका नाम भी दोनो ग्रंथोंमें वही त्रिभुवनकीर्ति पाया जाता है, और दोनो रचनाए अपभ्रंश पद्योंमें है। इन रचनाओंके परस्पर मिलान करने पर तथा धर्मपरीक्षाकी अन्य हस्तलिखित प्रतिया मिलने पर, मुझे आशा है, इनके एककर्तृत्वको और भी पूरा समर्थन प्राप्त हो जायगा।

जिस स्थानमे हरिवंशपुराणकी रचना की गई थी उसका नाम उक्त प्रशस्तिमे 'जेरहद' कहा गया है। मालवा प्रान्तमे यह स्थान कहा है इसका ठीक-ठीक निश्चय करनेका फिर कभी प्रयत्न किया जायगा। वर्तमानमे इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि श्रुतकीर्तिने अपने हरिवंशपुराणकी रचना मालवादेशके 'जेरहद' नामक नगरमे सवत् १५५२ में की थी। सभवत. उन्होने अपभ्रंशमे ही धर्मपरीक्षाकी रचना भी इसी प्रदेशमे सवत् १५५२ के कुछ पूर्व या पश्चात् की होगी।

सम्पादकीय नोट—

श्रुतकीर्तिकी एक तीसरी कृति और भी उपलब्ध है, जिसकी प्रशस्ति स० वासा-वीरसेवामन्दिरके अपभ्रंश-विषयक अप्रकाशित प्रशस्तिसंग्रहमे संग्रहीत है। उसका नाम है 'परमिट्ठिपयाससार' (परमेष्ठिप्रकाशसार)। यह ग्रन्थ-प्रति आमेरके शास्त्रभंडारमें मौजूद है, जिसमें प्रारंभके दो पत्र और अन्तिमसे पूर्वका २८७वा पत्र नही है। इसमे सात परिच्छेद हैं और इसकी रचना विक्रम संवत् १५५३ की श्रावण गुरुपंचमीके दिन माडवगढ़ दुर्गके जेरहट नगरके नेमीश्वर-जिनालयमें पूर्ण हुई है, जबकि ग्यासुद्दीनका राज्य था और उसका पुत्र नसीरुद्दीन राजधर्ममें बहुत अनुराग रखता था। इसमे हरिवंशपुराण और धर्मपरीक्षा दोनोंका इससे पूर्व रचे जाने का उल्लेख है और इसलिये ये तीनों कृतिया एक ही श्रुतकीर्तिकी रचनाएँ है, इस विषयमें सन्देहके लिये कोई स्थान नही रहता और एकता-विषयक वह समर्थन पूर्णत. हो जाता है जिसकी डा० साहबने अपने लेखमें आशा व्यक्त की है। यहा पर इस ग्रन्थकी प्रशस्तिके रचनाकालादि-सम्बन्धी दो-तीन वाक्योंको ही उद्धृत किया जाता है :—

> "वहपणसय तेवण गयवासइ
> पुण विक्कमणिवसवच्छरहे।
> तह सावणमासहु गुरुपंचमिसहु
> गयु पुण्णु तयम्हसतहे।"

**मालवदेस-दुग्गमडवचलु। वट्टइ साहि गयासु महाबलु।
साहिगसीरु णाम तह णदगु। रायधम्मअणुरायउ बहुगुणु।
तह जेरहटणय[र] सुपसिद्धउ। जिणवेइहर मुणिसुपबुद्धइं।
णेमिसरजिणहरणिवसतइं। विरयउ एहु गंथु हरिसंतइं।
तेहिं लिहाइहिं णाणागंथइं। इय हरिवस पमुहसुपसत्थइं।
विरइय पढमतमहिं णिरुधारिय। धम्मपरिक्ख पमुहमणहारिय।**

> **इय परमिट्ठिपयाससारे अरहंतादिगुणेहिं वण्णणालकारे अप्पसुदसुदकित्ति जह सत्तिम्ह कव्व-विरयतो णाम सप्तमोपरिच्छेउ संमत्तो।
> इति परमेष्ठिप्रकाशसार ग्रंथ समाप्त:।"**

इस ग्रन्थप्रशस्तिसे यह भी जाना जाता है कि सबसे पहले धर्मपरीक्षाकी रचना हुई है। हो सकता है कि वह १५५१ या उससे भी पूर्वकी हो। उसके बाद हरिवंशपुराण रचा गया है और हरिवंशपुराणके बाद इस परमेष्ठिप्रकाशसारका नम्बर है, जिसकी श्लोक-संख्या तीन हजार है।

मीन-संवाद

(जालमें मीन)



(१)

क्यों मीन ! क्या सोच रहा पड़ा तू ?
देखे नहीं मृत्यु समीप आई !
बोला तभी दुःख प्रकाशता वो
"सोचूं यही, क्या अपराध मेरा !

(२)

न मानवोंको कुछ कष्ट देता,
नहीं चुराता धन्य-धान्य कोई ।
असत्य बोला नहिं मैं कभी भी,
कभी तकी ना वनिता पराई ॥

(३)

संतुष्ट था स्वल्प-विभूतिमें ही,
ईर्षा-घृणा थी नहिं पास मेरे ।
नहीं दिखाता भय था किसीको,
नहीं जमाता अधिकार कोई ॥

(४)

विरोधकारी नहिं था किसीका,
निःशस्त्र था, दीन-अनाथ था मैं ।
स्वच्छन्द था केलि करूं नदीमें,
रोका मुझे जाल लगा वृथा ही !

(५)

खींचा, घसीटा, पटका यहां यों—
'मानो न मैं चेतन प्राणि कोई !
होता नहीं दुःख मुझे ज़रा भी !
हूं काष्ठ-पाषाण-समान ऐसा !!'

(६)

सुना करूं था नर-धर्म ऐसा—
'हीनाऽपराधी नहिं दंड पाते ।
न युद्ध होता अविरोधियोंसे,
न योग्य हैं वे वधके कहाते ।।

(७)

रक्षा करें वीर सुदुर्बलों की,
निःशस्त्रपै शस्त्र नहीं उठाते' ।
बातें सभी झूठ लगें मुझे वो,
विरुद्ध वे दृश्य यहां दिखाई ।।

(८)

या तो बिडाल-व्रत ज्यों कथा है,
या यों कहो धर्म नहीं रहा है ।
पृथ्वी हुई वीर-विहीन सारी,
स्वार्थान्धता फैल रही यहां वा ।।

(९)

बेगारको निंद्य प्रथा कहें जो,
वे भी करें कार्य जघन्य ऐसे !
आश्चर्य होता यह देख भारी,
'अन्याय-शोकी अनिआयकारी' !!

(१०)

कैसे भला वे स्व-अधीन होंगे ?
स्वराज्य लेंगे जगमें कभी भी ?
करें पराधीन, सता रहे जो,
हिंसाव्रती होकर दूसरों को !!

(११)

भला न होगा जगमें उन्होंका
बुरा विचारा जिनने किसीका !
न दुष्कृतोंसे कुछ भीत हैं जो,
सदा करें निर्दय कर्म ऐसे !!

(१२)

मैं क्या कहूं और, कहा न जाता !
है कंठमें प्राण, न बोल आता !!
छुरी चलेगी कुछ देरमें ही !
स्वार्थी जनोंको कब तर्स आता !!"

(१३)

यों दिव्य-भाषा सुन मीनकी मैं,
धिक्कारने खूब लगा स्वसत्ता ।
हुआ सशोकाकुल और चाहा,
देऊं छुड़ा बंध किसी प्रकार ।।

(१४)

पै मीनने अन्तिम श्वास खींचा !
मैं देखता हाय ! रहा खड़ा ही !!
गूंजी ध्वनी अम्बर-लोकमें यों—
'हा ! वीरका धर्म नहीं रहा है !!'

—युगवीर

क्या यही विश्वधर्म है ?

(बा० अनन्तप्रसाद जैन B. Sc. Eng. 'लोकपाल')

जैनधर्मके हिमायती हम जैनी गला फाड-फाड कर चिल्लाते है कि हमारा धर्म 'विश्वधर्म' है और इसे सभी ग्रहण कर सकते है। पर कथनी और करनीमे बडा भारी अन्तर है। एक पूर्वको जाता है तो दूसरा पश्चिमको। साधारण जैन तो जानते ही नही कि धर्म क्या है—असली धर्म क्या है और जैन धर्म क्या है ? वे तो केवल पानी छानकर पीना, रातमे न खाना, और किसी तरह मदिर घूम आना या किसी मुनिका दर्शन, भोजन और केशलोच देख लेना इसे ही धर्मका अन्त मान बैठे है। हमारे अधिकतर पडित कहे जाने वालोकी दशा तो और भी बुरी है। इन पडितोने छूआछूतका भेद इतना बढा रखा है कि जिसने जैन धर्मको विश्वधर्म क्या देशधर्म भी होनेके दावेसे च्युत कर रखा है। उसपर भी धर्मान्धता इतनी प्रबल है कि बजाय लज्जित होनेके ये ज्ञानके अभिमान और पाडित्यके गर्वमे 'अनेकान्त' का गला मरोड उसकी ठठरीपर इस तरह अकड़कर शान बघारते है कि जैसे सारा पुरुषार्थ और धर्म-लाभ इन्हीके हिस्से पडा है—बाकी किसीको धर्मके बारेमे कुछ कहनेका कोई हक नही। यदि कोई टीकाटिप्पणी करनेकी हिम्मत करता है तो ये पडित नामधारी लोग उसके पीछे हाथ धोकर पड जाते है।

एक जमाना था जब धार्मिक पुस्तकोको छपाकर प्रकाशन करनेका इन लोगो अथवा इनके पुरुषाओने तीव्र विरोध किया था, पर आज ये ही उससे लाभ उठाकर सैकडो-हजारोकी सख्यामे जल्दी-जल्दी पडित होरहे है। विदेशयात्रा भी अब पापके बजाय पुण्य कार्य समझा जाने लगा है। पर हमारे कुछ पंडित अब भी अजैनोमे जैन धर्म-प्रचारका इस कट्टरतासे विरोध करते है कि यदि भगवान तीर्थंकर सिद्धिशिला पर नही रहने, दूसरे देवोकी तरह कही स्वर्गमें रहते होते तो वे भी शर्मा जाते। भारतमे तो जैनधर्मका प्रचार अजैनोमें होना जरा कठिन बात है पर विदेशोमें जहा ज्ञानकी पिपासा इतनी बढ़ गई है कि वे कुछ भी पाकर उसपर टूट पडनेको तैयार है वहां जैनधर्म जैसे वैज्ञानिक,अनेकान्तिक एव तर्क-बुद्धियुक्त सिद्धांतों और फिलौसफीसे ओतप्रोत धर्मको तो वे बड़ी प्रसन्नतासे ग्रहण कर सकते है, यदि इसे उचित रूपसे नये तौरतरीकोसे उनके सामने रखा जाये। पर यह करे कौन ? यह मसला जरा टेढा पडता है। करनेके लिये यदि कोई आगे भी आता है तो प्रतिक्रियावादी लोग उसे प्रगतिशीलता कहकहके इतना कडा विरोध उठाते है कि जो लोग सहायता एवं सहयोग देना भी चाहते है वे भी डर जाते है। समाज आज धनी सेठोके हाथमे है, जो अधिकतर केवल खुशामदमे ही खुश होते और नामके लिये ही रुपये देते है। सच्चे धर्मकी लगन और श्रद्धा तो थोडोमे ही मिलेगी।

अब युग बदल गया है। जमाना बडी तेजीसे बदल रहा है। जो व्यक्ति समयके अनुकूल अपना आचरण नही बनावेगा उसकेलिये आनेवाले ससार या निकट भविष्यकालमें कोई स्थान नही मिल सकेगा। वही बात जैन-समाजके साथ भी पूर्ण रूपसे लागू है। यदि समाजमे उपयुक्त चेतना नही आई, समाजके धनियोने अपना पुराना रवैया छोडकर आधुनिक विकासके सामने आखे नही खोली तो फिर "जैन" शब्दके लिये ही खतरा उपस्थित हो जायेगा। धनियोको राय देनेवाले हमारे पडित है और हमारे पडितोका पालनपोषण सरक्षण करनेवाले ये समाजकी बागडोर अपने हाथोमे मजबूतीसे पकडे रहनेवाले धनी लोग है। कसूर किसका है, कहना कठिन है। पर अज्ञान या कुज्ञान और दूसरोकी देखादेखी या होडा-होडीमे धर्म नामकी वस्तु के बारेमे कोई आलोचना या युग-धर्म अथवा समयकी मागोके अनुसार उसे नये ढगसे सगठित करना यह इन्हे एकदम ही अप्रिय है। अनेकान्तका अपनेको एकाधिकारी मानने वाले उससे कोसो दूर रहते है। यही कारण है जहा तर्क असफल होकर हठधर्मीको जगह दे देता है।

हर मानव स्वभावसे ही अपनी रुचि और भावनाके अनुसार गुरु या पंडित पसंद करता है। एक गाजा-भांग पीनेवाला वैसे ही गुरुकी अभ्यर्थना और बडाई करेगा, एक छूआछूतको माननेवाला ऐसे ही मुनि-पडितकी प्रशसाके पुल बाँध देगा जो सबसे अधिक छूतछातका भेदभाव स्वय रखता हो और दूसरोको रखनेके लिये प्रेरित करता हो। एक लालची व्यक्ति उसी गुरुको पसंद करेगा जिसके कारण

उसके साथ रहते हुए किसी प्रकार उसे कुछ अर्थ-लाभ हो जाये इत्यादि। हमारे धर्ममे भी यही बात घुस गई है। घुस गई क्या, बड़ी ज़ोरदार हो गई है। जब मैं सुनता हूं कि एक "समदर्शी" कहलाने वाला मुनि किसीको ऊंच किसीको नीच कहकर समाजको या जन-साधारणको धर्मके नामपर अधर्म-की वृद्धि कराता है तो मुझे अत्यन्त दुख होता है और हमारे अपने धार्मिक पतन पर क्षोभ होता है। साथ ही ऐसा मानने या करनेवालोकी हठधर्मी या हिंसात्मक प्रवृत्ति देखकर निराशा भी होती है।

क्या यही 'समतामय' जैनधर्म है जो 'विश्वधर्म' होनेका दावा करता है? जो पतितोको और जबरदस्ती पतित बनानेका फतवा दे ? वह धर्म तो नही हो सकता—हा, धर्मके विपरीत जो कुछ कहा जाये वह अलबत्ता हो सकता है। भगवान तीर्थंकरने जन्मसे किसीको नीच या ऊच नही माना है, न किसीसे घृणा करनेको ही सिखलाया है। फिर ऐसा करना तो सीधा-सादा तीर्थंकरका और उनकी पवित्र वाणीका अप-मान करना है। अर्थका अनर्थ लगानेवाले तो बहुत मिलेंगे। और इसी कारण आज भारतमे मत-मतान्तरोकी कमी नही। पर जहां दूसरे धर्मावलम्बी आपसके विभेदोंको दूर कर अब एकता लानेकी चेष्टा कररहे है वहा हमारे समाजमें एकताकी जगह 'अनेकता' ही बढती दीखती है।

जब हम समझते हैं और मानते है कि जैनधर्म ही ऐसा सच्चा तर्कसंगत और बुद्धिपूर्ण धर्म है कि जिससे हर प्राणी-का कल्याण हो सकता है तो हमारा सबसे पहला कर्त्तव्य होना चाहिये था कि हम इसका प्रकाश उन लोगो तक भी पहुँचावे जिन्हें इसकी सबसे अधिक जरूरत है। पर हमारी सारी चेष्टायें ठीक इसके विपरीत होती है। क्या ही दयनीय हालत है !

एक 'विश्व-जैन-मिशन' नामकी संस्थाने कुछ कार्य करना आरंभ किया है। और कुछ ठीक रास्तेकी तरफ कदम बढ़ाया है। Voice of Ahinsa नामकी पत्रिका निकाल-कर उसने एक बहुत बड़ी कमीकी पूर्ति भी की है। पर उसकी रिपोर्टोंसे यही पता चलता है कि अभी तक उसे समाजके अग्रणी पंडितों एवं प्रमुख धनियोंसे सहायता या सहयोग प्राप्त नही हुआ है। यह एक ही बात समाजके वर्तमान रुखकी दिशाका अच्छा बोध कराती है। लोग शायद अब भी यही समझते है कि धर्मको अंग्रेजों, यूरोपियनों और अमेरिकनो वगैरहमें प्रचार करनेसे वह अपवित्र हो जायेगा। कुछ भी हो, ऐसे उत्तम एव परमावश्यक कार्यमे उत्साहका न दिखलाई देना बडा ही हानिकारक है।

आज, जब सारा ससार मारकाट, रक्तपात, युद्ध और बमोकी भयकरतासे घबडा गया है और शांति चाहता है, जैनधर्म और उसके सिद्धातोका व्यापक प्रचार अत्यावश्यक था। अपनी रक्षा, धर्म या समाजकी रक्षा भी ससारकी रक्षा द्वारा ही हो सकती है। हम ससारके भीतर ही हैं बाहर नही। ससार दुखपूर्ण रहेगा, आकुलित-अव्यवस्थित या अशांत रहेगा तो हमारा जीवन भी वैसा ही बनेगा—भले ही इसे हम जान सकें या न जान सके। वर्तमान युग प्रचारका युग है। जैन तत्त्वोमे इतनी वैज्ञानिकता कूट-कूट कर भरी है कि यदि उनका आधुनिक रूपमें स्वतत्र प्रतिपादन हो तो विश्व पर बडा भारी प्रभाव पड सकता है। पश्चिमवाले किसी बात-को तर्कपूर्ण होनेपर सुनना, समझना और जानना चाहते है। हमारे जैसी हठधर्मी यद्यपि वहा भी है पर अनुपातमें बहुत कम है। विद्या वहा कई गुनी है। जहा विद्या हो, विद्याका अनु-राग हो, सच्चे ज्ञानकी भूख हो वही तो जैनसिद्धातोका उपदेश, प्रचार या व्याख्यान काम कर सकता है और वही होना चाहिये। पश्चिममे प्रचारके लिये अंग्रेजी भाषा एक सबसे जबरदस्त साधन है, इसका व्यवहार करना ही होगा—और अधिकसे अधिक जितना सभव हो सके। मैं तो इतना कहना चाहता हू कि यदि वर्तमान कालमे तीर्थंकर हो तो वे भी बगैर पश्चिमी भाषा (International Language) खासकर अंग्रेजी जाने बिना और आधुनिक विज्ञानोकी जानकारीके बिना पूर्ण ज्ञान और तीर्थंकरत्व नही प्राप्त कर सकते। स्वर्गीय पूज्य ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी, पूज्य चम्पतराय जी एव पूज्य जे. एल. जैनीने अपने समयमें अपनी शक्ति भर जोर लगाया, पर समाजने उन्हे सफल नही होने दिया। वे तो चले ही गये, उनके ट्रस्ट भी जो है उनके ट्रस्टी लोग भी उनकी हार्दिक आकाक्षाओको पूर्ण करनेमे प्रयत्नशील नही दीखते। वे लोग अंगरेजी के द्वारा जैनधर्मका व्यापक विस्तार करना या कमसे कम इसकी जानकारी और सर्व-प्रियता विदेशोंमे बढ़ाना चाहते थे। अब तो हमारे लिये स्वर्ण सुयोग उपस्थित है। मदिरो और मूर्त्तियोकी संख्या हमारे यहां इस समय जरूरत से ज्यादा हो गई है। अब तो धनका सदुपयोग एवं धर्मवृद्धिका आयोजन इसी व्यवस्था और मार्ग-द्वारा हो सकता है जिसे विश्व जैन मिशनने अप-

नाया है। हां, एक जैन विश्वविद्यालय भी स्थापित करनेकी बहुत सख्त जरूरत थी यदि संभव हो तो। असंभव कुछ भी नही। जैनियोंके पास इतनी दानकी शक्ति है कि यदि उन्हे ठीक मार्ग सुझाया जाये तो काफी रकम इन कार्योंके लिये इकट्ठी हो सकती है। केवल अमेरिका जैसे धनाढ्य देशमे ही यदि ठीक प्रचार किया जाये तो वहीके लोग अपने ही धनसे फिर इन कार्योंको आगे-आगे बढ़ावेगे—पर आरंभमे हमे दस-पांच लाख रुपये प्रचारमे लगाना जरूरी है। विश्वविद्यालयके लिये तो करोडोकी जरूरत होगी। पर हम चाहे तो सबकुछ हो सकता है। केवल भावना और सुदृढ इच्छाशक्ति चाहिये।

केवल धर्म-धर्म चिल्लानेसे कुछ होने-जानेका नही। 'अनेकान्त' का प्रचार अनेकान्तरूपमे करनेमे ही होगा। अज्ञान ही संसारमें सारे अनर्थों की जड है। अज्ञानको दूर करनेके लिये सुज्ञान (Right Knowledge) की जरूरत है। यह सुज्ञान स्याद्वाद-द्वारा प्ररूपित एव प्रस्थापित और तीर्थंकर-प्रणीत तत्त्वोका सच्चा रूप, धर्म और व्यवस्था सब जाननेसे ही हो सकते है। हमारा कर्तव्य है कि हम ससारमे ज्ञानकी वृद्धि करें, सुज्ञानको विकसित करें और कुज्ञानको दूर करें। यह सब बात जैनसिद्धातोके व्यापक प्रचार-द्वारा ही सभव है। जैनधर्म "समता" और "अहिसा" का प्रवर्तक है। इसीसे युद्धोकी तरतमता एव आपसी मनोमालिन्यका सिलसिला हटकर सार्वभौम प्रेम एव सदिच्छाकी उत्तरोत्तर सवृद्धि होगी और सारे संसारमे सच्चे सुख और स्थायी शांतिका सच्चा मार्ग लोगोंको ज्ञात होगा। जबतक यह सच्चा ज्ञान या सम्यग्ज्ञान ससारमें नही बढेगा इस "एटमबम" के भयानक, भीषण, और स्थायी भयसे छुटकारा पानेकी कोई सभावना नही। हम भी इसी ससारके प्राणी है। हमारा दुख-सुख भी इसीके साथ बँधा हुआ है। हमे अपने लिये भी अपने वैज्ञानिक धर्मका प्रकाश फैलाना परमआवश्यक है। ऐसा न करके हम अपने कर्त्तव्यमे तो च्युत होगे ही—अपने विनाशका मार्ग भी वास्तवमे स्वय प्रशस्त करेगे। अन्यथा वैसा करके ही हम धर्मवृद्धि, धर्मपालन और कर्त्तव्यपालन कर सकेंगे; साथ ही साथ जैनधर्मको सचमुच "विश्वधर्म" बनानेमे समर्थ भी हो सकेंगे।

पटना, ता० २०-१२-५१

भगवानसे धर्म-स्थिति-निवेदन

(श्री प० नाथूराम 'प्रेमी')

कहां वह जैनधर्म भगवान !

(१)

जाने जगको सत्य सुझायो, टालि अटल अज्ञान।
वस्तु-तत्त्वपै कियो प्रतिष्ठित, अनुपम निज विज्ञान ॥कहां०॥

(२)

साम्यवादको प्रकृत प्रचारक, परम अहिंसावान।
नीच-ऊंच-निर्धनी-धनीपै, जाकी दृष्टि समान॥ कहां०॥

(३)

देवतुल्य चाण्डाल बतायो, जो ह समकितवान।
शूद्र, म्लेच्छ, पशुहूने पायो, समवसरणमें स्थान॥ कहां०॥

(४)

सती-दाह, गिरिपात, जीवबली, मांसाशन मद-पान।
देवमूढ़ता आदि मेटि सब, कियो जगत कल्याण ॥कहां०॥

(५)

कट्टर बैरीहूपै जाकी क्षमा, दयामय बान।
हठ तजि, कियो अनेक मतनको सामंजस्य-विधान॥कहां०॥

(६)

अब तो रूप भयो कछु औरहि, सकहिं न हम पहिचान।
समता-सत्य-प्रेमने इक संग, यातें कियो पयान ॥कहां०॥

मोहनजोदड़ो-कालीन और आधुनिक जैन-संस्कृति

(श्री बाबू जयभगवान बी. ए., एडवोकेट)

ऋग्वैदिककालमें पंजाब और सिन्ध देश श्रमण संस्कृति

[गत किरणसे आगे]

ऋग्वेदके 'इन्द्र' सम्बन्धी सूक्तोंमे विदित है कि ऋग्वैदिक कालमे जब वैदिक आर्यजन उत्तर पश्चिमकी ओरसे भारतमें आये सप्तसिन्धु देश पणि, फणी अथवा नाग लोगोंसे बसा हुआ था, इनका राज्यशासक 'वृत्र' कहलाता था, उसे अहि (सांप), दास और दस्यु संज्ञाओसे भी पुकारा जाता था, यह लोग बड़े सुदृढ और बलिष्ठ थे, भिन्न सभ्यतावाले थे, यह नही चाहते थे कि वैदिक आर्यगण इनके देशमे आवे और बसे, इसलिये वैदिक आर्यगणोको अपने फैलाव और ठहरावके लिए स्थल-स्थलपर इन लोगोसे मुकाबला करना पडा है ।

"वृत्र जघन्वा असृजद्विसन्धून" ऋ ८-१९-८ अर्थात् वृत्रको मारकर इन्द्रने सप्तसिन्धुओ वाले देशको मुक्त किया था। "यो हत्वाहिमरणात् सप्तसिन्धून" ऋ २ १२ ३—अर्थात् अहिको मारकर इन्द्रने सप्तसिन्धुओको मुक्त किया था। "विश्वा अपो अजयद्दासपली.... ." ऋ ५ ३० ५—अर्थात् इन्द्रने वृत्र-द्वारा पालित सकल उदक (सप्तसिन्धुवाले देशको) वशीभूत किया था। "दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आप ..... वृत्र जघन्वा अप तद्ववार" ऋ १३२. ११ १२—अर्थात् आप (सप्तसिन्धुओवाला देश) दासो द्वारा पालित और दासो द्वारा सुरक्षित सब ओरमे ढका हुआ था, इन्द्रने वृत्रको मारकर उस सप्तसिन्धु देशका मार्ग आर्यजनके लिये खोला था।

दस्यूञ्छिम्यूंश्च पुरुहूत एवै ईत्वा पृथिव्या पूर्वानि वर्हीत ।
सनत् क्षेत्रं सखिभि श्वित्न्येभ सनत् सूर्यं सनदपः सुवज्रः ।—ऋ. १ १०० १८

अर्थात्—इन्द्रने अनेक आर्यगण द्वारा आहूत होकर पृथ्वीनिवासी दस्युओ और सिम्युओको मार डाला और श्वेत वर्ण मित्रो वा मरुतोंके साथ क्षेत्रोका भाग कर लिया, इस तरह सुन्दर वज्रयुक्त इन्द्र सूर्य एव नदी समूह (सप्तसिन्धु देश) को प्राप्त हुए। ऋग्वेद ८ ३०. ३१ मे कहा गया है, कि इन्द्रने तीस हजार दासोंको मृत्युकी नीद सुलाया था।

ऋग्वेद २. १३ ९. मे उल्लेख है कि इन्द्रने दमितिके लिये १००० दस्यु और सयुन पकड़कर बन्दी बनाये थे।

उपर्युक्त सूक्तोमे जो शिम्यु और सयुन शब्द प्रयुक्त हुए है, वे वैदिक भाषाके शब्द न होकर प्राकृत भाषाके मौलिक शब्द है, जिनका संस्कृत रूप 'श्रमण' है ।

ऋग्वेद ३ ३४ ९ मे कथन है कि दस्युओको मारकर इन्द्रने आर्यवर्णकी रक्षा की और दस्युओको लूटकर आर्य-लोगोमे उपभोगके योग्य गोधन, सुवर्णधनका दान किया ।

इसी तरह ऋग्वेद १०. ४८. ४ मे कहा है कि इन्द्रने दस्युओंके गौ, अश्व, हिरण्य और दूधवाले पशुओंको आयुध-बलद्वारा जीत लिया ।

अथर्व-पृथ्वी सूक्त* १२. १ ३७ मे कहा है, कि पहले यह पृथ्वी दस्यु लोगोमे बसी हुई थी—ये दस्यु लोग देव-द्रोही थे—उन्हे त्यागकर पीछेसे इसने वृत्रके स्थानमें इन्द्रको अपना लिया ।

---

* यापं सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्तान्ययो ये आप्स्वन्तः परादस्यून
ददती देव पीयनिन्द्र वृणाना पृथिवी न वृत्रम् शक्राय दध्र वृषभाय वृष्णे ॥३७॥

चूंकि ये दस्यु लोग देव-द्रोही थे इसीलिये ऋग्वेद सूक्तोंमें जगह-जगह इन्द्रसे दस्यु जातिके सर्वनाशके लिये प्रार्थना की गई है।[1] इन प्रार्थनाओमे यहा तक भी कहा है कि इन्हें इच्छानुसार मार दिया जावे[2], या इन्हें गुलाम बना लिया जावे[3]।

इन्द्रके लिये वैदिक ऋषियोने जगह-जगह जो विशेषण प्रयुक्त किये है, उनसे भी उपर्युक्त मतकी पुष्टि होती है। वे विशेषण निम्न प्रकार है :—

१. वृत्रहा—(अर्थात् वृत्रको मारने वाला) ऋ. ८. ३०. १.

२. दस्यवे वृक—(अर्थात् दस्युओंको मारनेके लिये वृकके समान)।
देखें, ऋग्वेदके आठवें मण्डलसे आगे दिये हुए वाल-खिल्य सूक्त ३. २. ७ ; ८ १, ८ २०

३ दस्युहन—(अर्थात् दस्युओंको मारनेवाला) ऋ. १ १०० १२

४. पुरन्दर—अर्थात् (दासोके) नगरोको विध्वस करनेवाला। इन्द्रने एक ऋचानुसार शम्बर दासके ९९ नगर नष्ट किये थे—"नवति च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य" ऋ २ १९ ६. दूसरी ऋचाके अनुसार उसने शम्बरके १०० नगर नष्ट किये थे—"यः शत शम्बरस्य पुरो विभेदाश्मनेव पूर्वी." ऋ २. १४. ६.।

उपर्युक्त वृत्तान्तमे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक कालमे सप्तसिन्धु देश नाग लोगोका देश था और उसपर वृत्र, अहि, दास, दस्यु, आदि उपाधियोंमे अलकृत उनके राजशासकोका आधिपत्य था।

दास, दस्युका वास्तविक अर्थ—

यद्यपि वैदिक संहिताओ और ब्राह्मण ग्रन्थोमे दस्यु लोगोकी बहुत निन्दा की गयी है, उनके प्रति घृणा प्रगट की गयी है, उनके सर्वदमन और सर्वसहारके लिये प्रार्थनाये भी की गयी है और यद्यपि पुरानी वैदिक उक्तियोके प्रभावके कारण आज भी भारतके साधारण जन दास व दस्युका अर्थ एक नीच, कमीन, गुलाम, असभ्य, क्रूर जगली व्यक्ति समझते है परन्तु वास्तवमे दास-दस्यु शब्दका यह असली अर्थ नही है, यदि ऐसा होता तो दिवोदास, सुदास, त्रसदस्यु प्रभृति सप्तसिन्धु देशके आर्य्य राज्य-शासक अपने नामोके साथ उक्त विशेषण क्यो लगाते।

पारसियोके माननीय ग्रन्थ जेन्दावस्था (Zend Avesta) को देखनेसे पता लगता है[4] कि दस्यु शब्द सन्मान सूचक है, दस्युका अर्थ दीप्यमान, प्रकाशमान है। यह शब्द दस-चमकना धातु से बना है' इसलिये जेन्दावस्थामे जरथुश्त्रको दस्यु (दख्युमा) और कही-कही 'दख्युनाम सुरो' अर्थात् दस्युओमे विद्वान् कहा गया है।

वास्तवमे यह सब सास्कृतिक विद्वेषका ही फल है, कि दस्यु शब्दका असली अर्थ बिगडकर आज इतना विकृत होगया है कि इसके असली स्वरूपका पता लगाना भी कठिन होगया है। इसी प्रकारके अन्य उदाहरण भी हमारे इतिहासमें मौजूद है। 'पाखण्डी' शब्दको लीजिये इसका वास्तविक अर्थ है पापोको खण्डन करने वाला अर्थात् यति, मुनि, साधु, तपस्वी। परन्तु मध्यकालीन युगमे हम देखते है कि सास्कृतिक विद्वेषके कारण इसका अर्थ बदलकर बिल्कुल विपरीत होगया। इसी तरह हमारे अपने जमानेमें भक्त और हजरत शब्द इतने विकृत होगये है कि इन्हें हंसी-मजाकके तौर पर मायाचारी, चालाक मनुष्योंके लिये प्रयुक्त किया जाता है।

दास वा दस्यु लोगोंकी सभ्यता—

दास व दस्यु लोग नये आगन्तुक वैदिक आर्योसे भिन्न वर्ण, भिन्न जाति, भिन्न भाषा और भिन्न सभ्यता वाले थे[5]। वे कृष्ण वर्ण व कृष्णत्वच् थे (ऋ १.१३०.८; ९.४१.१,) जब कि आर्यजन हिरण्य-भूरे (ऋ १. ३५. १०) शिवत्र्य-सफेद (ऋ १.१००,

---

१. ऋग्वेद १०, २२, ऋ १०, २३: ऋग् ६, २५, २ ; ऋ ६, ६०, ६।

२. ऋ १०, १००, ३२, ऋ ६, ४५, २४।

३. ऋ ७, ८६, ७; ऋ ८, ५६, ३, ऋग् १०, ६२, १०।

४. गंगा—जनवरी १९३२ के वेदाङ्क पृ. १८९, १९०.

५. Dr. Banerjee—Asura India—pp 15, 16.

१८; ३.-३४. ९) वर्णके थे। उनकी नाकें छोटी और बैठी हुई थी; इसलिये उन्हें ऋ ५. २९. १० में अनास् अर्थात् बिना नाकों वाला कहा है। उनकी भाषा भी आर्यजनकी भाषासे भिन्न थी, इसलिये उन्हे ऋ ५. २९. १० मे मृधवाचः अर्थात् समझमें न आनेवाली भाषावाले कहा है। उनकी संस्कृति भी वैदिक सस्कृतिसे भिन्न थी। वे वेदविहित कार्योको न करते थे, इसलिये ऋ१०.२२.८ में उन्हें 'अकर्मण' कहा गया है वे अग्नि, मरुत, और इन्द्र देवोको न मानते थे, न उनके लिये कोई यज्ञ-हवन करते थे, इसलिये ऋग्० ८. ७०. ११ में उन्हे 'अदेवस्' 'अयज्वन्' कहा गया है, वे लिंगोंके उपासक थे इसलिये उन्हें ऋ ७. २१. ५ ऋग् १० ९९. ३ मे 'शिशिन देवा.' कहा गया है।

चूकि दस्यु जन भिन्न जाति और भिन्न सभ्यता वाले थे, देवद्रोही थे, इसलिये वैदिक आर्यजनके लिये यह स्वाभाविक ही था कि उन्हें सास्कृतिक विद्वेषके कारण अकर्मा (विधि विधान रहित), अमत्र (अशिक्षित), अव्रत (नियमरहित), अन्यव्रत (भिन्न धर्म मानने वाले) अमानुष (नीच मनुष्य) आदि सज्ञाओमे पुकारे।[१]

अथर्व वेदके पृथ्वी सूक्त १२.१.४५ मे भी विदित है कि सुदूर अतीत कालमे भी भारतवासी भिन्न-भिन्न धर्मोंके मानने-वाले और भिन्न-भिन्न भाषायें बोलने वाले थे। इसी विद्वेषके कारण भास्कराचार्यने निरुक्त उ० षटक १.२३ मे दस्यु शब्दकी व्युत्पत्ति[२] दस-विनाश करना धातुसे बतलायी है अर्थात् वह जो वेद-विहित धर्मका नाश करने वाला है।

वास्तवमें दस्यु लोग असभ्य और नीच मनुष्य न थे, वे बड़े शिल्पकार थे, वास्तुकलामें वे बड़े माहिर थे, वे जमीन खोदकर बड़े सुन्दर तालाब, बावडी और भवन बनाना जानते थे। उन्होंने बहुतसे पाषाणके नगर और दुर्ग बनाये हुए थे[३]। लोहे के दुर्ग भी उनके पास मौजूद थे। ऋग्४.३०.२० में कथन है कि इन्द्रने शम्बरके पाषाण वाले १०० नगर[४] आधीन कर हव्यदाता यजमान दिवोदासको दे दिये। इनके पास शरद् ऋतुमें रहनेके लिये शारदी दुर्ग अलग बने हुए थे। वे बडे व्यापारी थे जहाजरानी अच्छी तरह जानते थे—जहाजोमे बैठकर समुद्रके रास्ते एशियाके दूर मध्यवर्ती देशोमे व्यापार करते थे और उनमे आर्थिक व सास्कृतिक सम्बन्ध जोड़े हुए थे। वे बड़े बलिष्ठ, शूरवीर और युद्ध-कुशल थे। इनकी स्त्रियां तक सैनिक बन कर शत्रुसे लडनेके लिये तैय्यार रहती थीं। ऋग्५ ३०. ९ में उल्लेख है कि—"स्त्रियो हि दास-आयुधानि चक्रे किमाकरन्नबला अस्य सेन"—अर्थात्—नमुचिदासने स्त्रियों तकको युद्धमें खड़ा कर दिया परन्तु ऐसी दुर्बल सेना क्या कर सकती थी, फलत. नमुचि उस युद्धमे मारा गया। शम्बर दास के सम्बन्धमे ऋग् २. १२. ११ मे उल्लेख है कि वह अपने १०० नगरोके विध्वंस होनेपर भी इन्द्रके वशमे न आया। वह मैदानमे पराजित होकर भी पर्वतोंका आश्रय ले ४० वर्ष तक इन्द्रके साथ लडता रहा। ऐसे शूरवीर वृत्रको मारनेके कारण ही इन्द्र महाराजा, महेन्द्र, विश्वकर्मा आदि नामोसे विख्यात हुआ था।[५]

शूरवीर होनेके साथ ही दस्युगण बड़े धर्मनिष्ठ थे, अहिसा धर्मके मानने वाले थे, त्यागी, तपस्वी श्रमणोके उपासक थे। उनकी हारका कारण दुराचार और असभ्यता न था बल्कि उनकी हारके कारण तीन थे—घरकी फूट, घुडसवार सेनाकी कमी और युद्ध समय कवच आदि संरक्षक अस्त्रोंका अभाव। ये कितने ही विशो अर्थात् कबीलोंमें बंटे हुए थे,[६] जो आपसमें निरन्तर एक दूसरेसे लड़ते रहते थे।[७]

---

१. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्त्ररन्यव्रतो अमानुषः त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय १०.२२.८

२. ऋग्वेद १. १०३. ३; २. २०८; ३. १२. ६; ४. १२. १०।

३. Vedic Indian—Vol I p. 356

४. दस्युर्दस्यते क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन् रसा उपदासयति कर्माणि।—निरुक्त उत्तर षटक् १. २३

५. "इन्द्रोवा वा एष पुरा वृत्रस्य वधादय वृत्रम् हत्वा
महाराजो विजियान एवं महेन्द्रोऽभवत्"—शतपथ ब्राह्मण १. ६. ४. २१, ४ ३. ३. १७;
इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्मा ऽभवत्
—एतरेय ब्राह्मण ४—२२

६ ऋग्० २ ११. ४, ४. २८ ४, ६. २५. २,
महाभारत मीमांसा पृष्ठ १५१—१५३

७ ऋग् ४. ३०. २०.

ऋग्वेद-मन्त्रोंके प्रारम्भिक कालमें भी हम सुदासको पुरुष्णी नदी (रावी) के किनारे दश राजाओंके साथ युद्ध करते हुए देखते हैं। उनकी धर्मनिष्ठाकी जानकारीके लिये महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २८१ विशेष उल्लेखनीय हैं। जब भीष्म 'वृत्र' की बड़ी प्रशंसा कर चुके तो उसे सुनकर धर्मराजके मुखसे यह शब्द निकल पड़े--

अहो धर्मिष्ठता तात वृत्रस्यामिततेजसः।
यस्य विज्ञानमतुलं विष्णौ भक्तिश्च तादृशी॥ —शान्तिपर्व २८१ १

अर्थ—हे पितामह! अमित तेज वृत्र की धार्मिकताका क्या वर्णन किया जाय! उसका वह अतुल विज्ञान और विष्णु पर उसकी वह भक्ति!

इसके बाद विस्मय-सहित युधिष्ठिर भीष्मसे पूछते है कि, ऐसे धर्मनिष्ठ बुद्धिमान वृत्रको मारनेमे इन्द्र कैसे सफल हुआ? इसपर भीष्म बतलाते है कि, जब महादेवने ज्वर बनकर वृत्रके शरीरमें प्रवेश किया और स्वयं विष्णु इन्द्रके वज्रमें प्रविष्ट हुए, तब वृत्रका वध करनेमें इन्द्र सफल हुआ। इसका ऐतिहासिक तथ्य यही हैं कि वृत्रके परास्त होनेका मूल कारण इन्द्र न था बल्कि घरकी फूट थी। यदि महादेव-उपासक यक्षगण वृत्रके साथ विश्वासघात न करते और विष्णु अर्थात् सूर्यउपासक भक्तगण इन्द्रकी सेनाके साथ जाकर न मिलते तो वृत्र कभी भी परास्त न होता।

इसमे अगले अध्याय २८२ मे महाभारतमे कथन है कि वृत्रका वध होनेपर उसके शरीरमे ब्रह्महत्या निकली और उसने इन्द्रका पीछा किया। इस ब्रह्महत्याके कारण इन्द्रका तेज बिल्कुल विनष्ट होगया। इस ब्रह्महत्याके हटानेके लिये इन्द्रने बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह किसी भी तरह उसे दूर न कर सका, तब वह पितामह ब्रह्माजीके पास जाकर उनके चरणोमे जा पड़ा, तब ब्रह्माजीने इंद्रको ब्रह्महत्याके दोषसे मुक्त करनेके लिये उसे चार नियम दिलाये १—अग्निमें पशुओकी आहुति न देकर जौ और औषधियोकी आहुति देना। २—पर्वके दिनोमें वृक्ष, वनस्पति और घासको न काटना। ३—रजस्वला स्त्रीके साथ मैथुन न करना और ४—जल अर्थात् नदियोका सन्मान करना। जो कोई इन नियमोका उल्लघन करेगा, वह ब्रह्महत्याका दोषी होगा। इस कथाका ऐतिहासिक तथ्य यही मालूम होता हैं कि यद्यपि वृत्रका वध होनेमे इन्द्र अनुयायी आर्यजन कुछ समयके लिये सिन्धु देशके विजेता बन गये परन्तु वे इस देशकी आत्माको विजय न कर सके, बल्कि दासो और व्रात्योंकी हत्याके कारण अथवा देवयज्ञोंके लिये पशु हिंसाके कारण इन्द्र उपासक आर्यजन सप्तसिन्धु देशमे घृणाकी दृष्टिसे देखे जाने लगे और यहाके मूलवासी नाग व दस्यु लोग इनके विरोधमे उठ खडे हुए। इससे उनकी हिंसामयी याज्ञिक आधिदैविक संस्कृतिको बहुत धक्का पहुचा और वह प्रायः निस्तेज हो गयी, क्योंकि यह विरोध उस समय तक शान्त न हुआ जब तक कि वैदिक ऋषियोने अहिसा धर्मको अपनाकर अग्निमें जौ का होम करना, पर्वके दिनोमें वृक्ष और वनस्पतिकी रक्षा करना, पत्नीके रजस्वला होनेपर पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना और भारतकी नदियोका सन्मान करना न सीख लिया।

उपर्युक्त कथनकी पुष्टिमे एतरेय ब्राह्मणके ३५वे अध्यायका दूसरा खण्ड भी उद्धृत किया जाना जरूरी है। इसम उल्लेख है कि देवताओंने इन्द्रपर विश्वरूपका वध करने, वृत्रका वध करने, यतियोको कुत्तो-द्वारा मरवाने, अरुर्मघोंकी हत्या करने और वृहस्पतिपर प्रहार करनेके पांच अभियोग लगाये थे।

उपर्युक्त प्रकारके आधार पर ही श्री रामप्रसाद चन्दा ने यह सिद्ध किया है, कि प्रचीन कालमे गगा और जमुनाके मध्यवर्ती क्षेत्र, आर्यखण्डको छोड़कर इसके चारो ओर फैले हुये भारतके शेष खण्डोमे जिनमेपूर्वके अग, वग, कलिग, मगध विदेह-देश; पश्चिमके सुराष्ट्र, आनर्द, सिन्धु, सौवीर, उत्तरके आरट्ट (पजाब), मद्र (रावी और चनाब नदियोका मध्यवर्ती भाग), खश (कश्मीरका दक्षिणी भाग), गान्धार (पेशावर), हिमालय प्रदेश, और दक्षिणके आन्ध्र कर्णाटक आदि शामिल थे, व्रात्य लोगोकी वस्तियां थी। ये लोग अपनी धार्मिक सस्कृति भाषा-भूषा और सामाजिक व्यवस्थाके कारण वैदिक आर्यजनोसे भिन्न जाति वाले थे, इसीलिये इस युगका ब्राह्मणिक साहित्य व्रात्योंके प्रति वैमनस्यसे भरा है।[1]

---

१. R. B. Ram Prashad CHANDA The Indr Aryan Races A 1916 PP 37—78

साहित्यिक प्रमाण—

ऋग्वेदमें पूर्व और पश्चिम सागरवर्ती देशोंके तपस्वी श्रमणोंका उल्लेख—

यो तो वैदिक ऋषियोंकी दृष्टि मुख्यत. आधिदैविक रही है और वैदिक सूक्त अधिकतर देवता-स्तुति परक हैं, उनमें श्रमण लोगोकी गुणगाथा अथवा उनकी आध्यात्मिक संस्कृतिका उल्लेख पाना आशासे बाहिरकी चीज़ है, तो भी जिस प्रकार भारतके क्षत्रियजन वैदिक ऋषियोंकी शब्दविद्या, काव्यकुशलता, नीतिनिपुणता, व्यवस्थाकार दक्षता और लौकिक अभ्युदयके याज्ञिक अनुष्ठानोसे प्रभावित हुए बिना न रहे और उन्होंने बहुधा ब्राह्मण ऋषियो और उनके वशजोको अपने राज्योमें पुरोहित अध्यापक और मन्त्रियोके सन्मानित स्थानोपर नियुक्त कर दिया, उसी तरह वैदिक आर्यजन भी भारतीय श्रमणोंके महान् आध्यात्मिक आदर्श, उनकी विश्वव्यापिनी दृष्टि, उनके शुद्ध संयमी जीवन, उनकी योगसाधना और उनकी ऋद्धि-सिद्धि वाली अलौकिक शक्तियोंसे प्रभावित हुए बिना न रहे। वे दूरसे खिच-खिचकर अध्यात्मविद्या सीखनेके लिये उनके सम्पर्कमे आने लगे; इसलिये प्रारम्भिक देवासुर-सग्रामों अथवा ब्राह्मण-क्षत्रियसंघर्षोंसे निपट कर ज्यो-ज्यों भारतीय जनता सन्मेल और एकताकी ओर बढ़ी त्यो-त्यों ब्राह्मण ऋषियोने अपनी काव्यरचनाओमे इन व्रात्य लोगोके त्यागी तपस्वी, योगियो और उनकी आध्यात्मिक संस्कृति परक तत्वोकी सराहना करनी शुरू कर दी। यही कारण है कि जहा ऋग्वेदके पहले नौ मण्डल, दस्युजनो व व्रात्यजनोके प्रति वैमनस्यसे भरे हुए दिखते है, वहा ऋग्वेदका दशमा मण्डल, प्राय. सम्पूर्ण अथर्ववेद तथा आरण्यक उपनिषद् आदि ब्राह्मणोका उत्तरवर्त्ती साहित्य भारतीय क्षत्रियोकी महत्ता, व्रात्योंकी पवित्रता और श्रमणोकी दिव्यतासे भरा हुआ है।

इस प्रसगमे ऋग्वेद सहिता मण्डल १० का १३६वा सूक्त जो केशी सूक्तके नामसे प्रसिद्ध है, विशेष तौर पर देखने योग्य है, यह सूक्त ऐतिहासिक दृष्टिसे कमसे कम ईस्वी सन्से २००० वर्ष पूर्वका जरूर है। इसमें जहा भारतके पुराने श्रमण-योगियोके वास्तविक जीवनका एक जीता जागता चित्र खींचा गया है वहा पर ही स्पष्ट रूपसे बतलाया गया है कि ये योगिजन भारतके पूर्व और पश्चिम सागरोंके तटवर्त्ती देशोमे रहते हैं। चूंकि इस सूक्तके उपर्युक्त तथ्यकी ओर विद्वानोकी दृष्टि बहुत कम गयी है, इसलिये इस समूचे सूक्तको यहा उद्धृत किया जाता है —

> **केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी । केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।।१।।**
> **मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला । वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।।२।।**
> **उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम् । शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ ।।३।।**
> **अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् । मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः ।।४।।**
> **वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः । उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ।।५।।**
> **अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् । केशी केतस्य विद्वान् सखा स्वादुर्मदिन्तमः ।।६।।**
>
> —ऋग्वेद म० १० सूक्त १३६.

भावार्थ—केशी-केशोंवाला[1] अर्थात् जटाधारी योगी अग्निलोक, जललोक और द्यौ पृथ्वीको धारण करनेवाले हैं। वही सारे विश्वको अपने ज्ञान द्वारा प्रकाशित करते हैं, वह ज्योतिस्वरूप कहे जाते हैं ।।१।।

ये जटाधारी मुनि वायुका भोजन करनेवाले हैं, अर्थात् लम्बे-लम्बे अनशन व्रत करके वायुपर ही रहनेवाले हैं। इन उपवासोंके कारण इनके अग पीले पड़ गये हैं, (स्नान न करनेके कारण) ये मलीन रहते हैं, ये देवत्वको प्राप्त करके वायुकी गतिके अनुगामी होगये हैं अर्थात् वायु समान निर्लेप विचरते हैं ।।२।।

(यह कहते हैं) कि हम समस्त लौकिक व्यवहारोके विसर्जनसे उन्मत्त (आनन्दरसलीन) हो गये हैं। हम वायुपर चढ़ गये हैं, तुम लोग केवल हमारा शरीर देखते हो, हमारी आत्मा वायु तुल्य निर्लेप है ।।३।।

ये मुनि लोग आकाशमे उड़ सकते है, ये सारे पदार्थोंको देख सकते हैं। इन मुनियोकी सब ही देवोंके प्रति मैत्री है, इनका जीवन सभीके कल्याणके लिये है ।।४।।

---

१ प्राचीन भारतमें योगीजन भगवान ऋषभके समान जटाधारी हुआ करते थे, भगवान ऋषभकी जितनी प्राचीन मूर्तिया मथुराके ककाली टीले से मिली है वे सब जटाधारी हैं।

ये मुनिजन स्वतन्त्र वायुमें विचरने वाले अश्वोंके समान हैं। ये वायुके सहचर हैं, देव लोग भी अर्थात् ब्राह्मण ऋषि भी इनको पानेकी इच्छा करते हैं. ये मुनि लोग पूर्व और पश्चिमके दोनों सागरोके तटवर्ती देशोमे रहते है ॥५॥

ये केशी (जटाधारी योगी) अप्सराओं, गन्धर्वों और जंगली पशुओमे विचरते हैं। अर्थात् ये योगी पर्वतों और जंगलोंमें रहते हैं। ये सारे विश्वको जानते हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं, ये सबके आनन्ददायक मित्र हैं ॥६॥

उक्त वर्णनसे पता चलता हैं कि आर्य ऋषियोंकी जिन प्रभावक योगियोसे भेंट हुई है, वे अधिकतर भारतके पूर्व और पश्चिम सागरोके निकटवर्त्त देशोमें रहते थे। वे दिगम्बर थे, निष्परिग्रही थे और वायु समान निर्लेप थे, अनशन आदि दुर्धर तपस्या करनेवाले थे, इन दीर्घ तपस्याओके कारण उनके शरीर पीले और मैले पड़ गये थे। वे ग्राम नगरोमे न रहकर अप्सराओ, यक्ष गन्धर्वो और पशुओंके बीच पर्वतों और जगलोमें रहनेवाले थे। इसलिये वे पशुपति व यक्षपति कहलाते थे, वे सभी देवोंके प्रति समबुद्धि रखने वाले थे, वे प्राणिमात्रके मित्र थे, विश्वभरके कल्याणकर्त्ता थे। वे सर्वदर्शी, सर्वज्ञ और ज्योतिस्वरूप थे, देवलोग अर्थात् ब्राह्मण लोग भी उन जैसा बननेकी भावना रखते थे।

बौद्ध-पिटक-साहित्य—

भारतके प्राचीन योगियोका यह वर्णन कितना सुन्दर और स्वाभाविक है, कितना विशद और वास्तविक है और निर्ग्रन्थ जैन साधुओकी चर्यासे कितना मिलता-जुलता है, इसका पता लगानेके लिये आओ 'मज्झिमनिकाय' के १४वे सुत्तमें स्वयं भगवान बुद्ध द्वारा दिये हुए उन जैन यतियोके वर्णनको देखे, जो आजसे ढाई हज़ार वर्ष पहले मगध देशकी राजधानी राजगृहीके निकट गृद्धकूट पर्वतपर तपस्या करते हुए भगवान् बुद्धको मिले थे।

"एक समय महानाम! मैं राजगृहीमे गृद्धकूट पर्वतपर विहार कर रहा था। उस समय बहुतसे निगंठ (जैन साधु) ऋषि-गिरिकी कालशिलापर खड़े रहनेका व्रत ले, आसन छोड़ उपक्रम करते, दु:ख, कटुतीव्र वेदना झेल रहे थे, तब मैं महानाम! सायंकाल ध्यानसे उठकर जहापर कि वह निगंठ थे, वहा गया, जाकर उन निगंठोसे बोला—'आवसो! निगंठो! तुम खड़े क्यों हो? आसन छोड़े तीव्र वेदना क्यों झेल रहे हो? ऐसा कहनेपर उन निगंठोने कहा 'आवुस! निगंठ नात पुत्त (जैन तीर्थङ्कर महावीर) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं; उनमे चलते, खडे, सोते, जागते, सदा निरन्तर दर्शन, ज्ञान बना रहता है—वे ऐसा कहते हैं—निगंठों जो तुम्हारा पहलेका किया हुआ कर्म है, उसे इस कडवी दुष्कर क्रिया-तपस्या द्वारा नाश करो और जो इस वक्त यहां काय-वचन-मनसे संवृत (तीनो योगोके निरोध करनेसे गुप्त व दण्डित) हो यह भविष्यके लिये पापका न करना हुआ, इस प्रकार पुराने कर्मोंका तपस्यासे अन्त होनेसे और नये कर्मोंके न करनेसे भविष्यमें चित्त अनास्रव होगा, भविष्यमें आस्रव न होनसे कर्मका क्षय होगा, कर्मक्षयसे दु:खका क्षय, दु:ख क्षयसे वेदनाक्षय, वेदनाक्षयसे सभी दु:ख नष्ट होंगे, हमें यह रुचता है, इससे हम सन्तुष्ट हैं।" —मज्झिमनिकाय—(राहुल साकृत्यायन द्वारा हिन्दी अनुवादित) १९३३ पृ० ५९

इस वर्णनसे सिद्ध है कि बुद्धकालीन भारतमे जैन मुनि निर्ग्रन्थ अथवा निष्परिग्रही दिगम्बर थे, वे प्राय: आसन छोड़ खडे होकर कार्योत्सर्ग मुद्रासे ध्यान लगाते थे, वे बडी क्लिष्ट तपस्याओके करनेवाले थे, मन, वचन, काय-तीनो योगोका निरोधकर त्रिगुप्ति व त्रिदण्डको धारण करनेवाले थे। वे अपने गुरु भगवान महावीरकी तरह तपस्या और त्रिगुप्ति द्वारा समस्त दु:ख और दु:खके कारणोको नष्ट कर सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, आनन्दस्वरूप, बनना चाहते थे।

श्रमणसंस्कृतिका वैदिकऋषियोंपर प्रभाव—

ऋग्वेदके उपर्युक्त केशी सूक्तके अलावा अथर्ववेदमे भी कई सूक्त ऐसे मौजूद है जिनसे विदित है कि वैदिक ऋषि इन व्रात्य योगियोंके ऊँचे जीवन और शुद्धाचारसे इतने प्रभावित हो उठे थे कि उन्होने अपने प्रभावित राजाओं और गृहस्थीजनोंके लिये ये नियम बना दिये कि जब कभी व्रात्य जन मधुकरके समान घूमते-फिरते आहार लेनेके लिये उनके घर आवें तो उनके साथ अत्यन्त विनयका व्यवहार किया जावे। इसके लिये अथर्ववेदका व्रात्य सूक्त विशेष दर्शनीय है।

"जिस राजाके घरपर इस प्रकारका विद्वान् व्रात्य अतिथि होकर आता है वह राजा इसको अपने लिये अत्यन्त कल्याणकारी मानकर उसका स्वागत करे, ऐसा करनेसे वह राजा क्षात्रबल तथा राष्ट्रका अपराध नही करता"—अथर्ववेद काण्ड १५ सूक्त (१०)

जिस गृहस्थीके घरपर विद्वान् व्रात्य अतिथिकी तरह आवे उस गृहस्थीका कर्तव्य है कि वह अपने-आप उठकर उसके सामने आये और कहे–'हे व्रात्य ! आप कहां रहते हैं ? हे व्रात्य आपके लिये जल है, हे व्रात्य आप प्रसन्न हूजिये, हे व्रात्य जैसा आपको प्रिय हो वैसा ही हो, हे व्रात्य ! जिस प्रकार आपकी अभिलाषा हो वैसा ही हो, हे व्रात्य जैसी आपकी इच्छा हो वैसा ही हो, जो गृहस्थी व्रात्य अतिथिकी इस प्रकार विनय करता है वह देवयान मार्गको अपने वशमें कर लेता है व जलको अपने वश में कर लेता है, वह अपने प्राणोंको दीर्घ कर लेता है, वह समस्त पदार्थोंको अपने वश कर लेता है, वह स्वयं वशी हो जाता है, वह समस्त काम्य पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है" –अथर्ववेद काण्ड १५, सूक्त १ (११)

यहा यह बता देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सूक्तमें अतिथि व्रात्योंको पडगाहनका जो भक्तिपूर्ण विधान है–विधि बतलायी गयी है उस समान ही अतिथि रूपमे आने वाले साधुओको पडगाहनेकी विधि आज भी जैन लोगोंमें बराबर प्रचलित है।

जिस गृहस्थीके घर पर विद्वान अतिथि अग्नियोके उद्धृत होनेपर (अर्थात्–गार्हस्थपत्य अग्निसे उठाकर आह्वनीय अग्निमें आधान किये जाने पर) और अग्नि होत्रके प्रारम्भ हो जाने पर आवे तब गृहपति स्वयं उसके लिये आदरपूर्वक उठकर और उसके समीप जाकर कहे कि हे व्रात्य ! यदि आज्ञा हो तो अग्नि होत्र करूं वह यदि आज्ञा दे तो गृहपति अग्निहोत्र करे, यदि वह आज्ञा न दे तो अग्नि होत्र न करे। जो इस प्रकार व्रात्यसे आज्ञा लेकर हवन करता है, वह पितृयान और देवयान मार्गोंको जान लेता है, जो इस प्रकार आज्ञा लेकर होम करता है वह देवताओंके प्रति कोई अपराध नही करता। उसकी प्रतिष्ठा इस लोकमे बनी रहती है। जो इस प्रकारके व्रात्यसे बिना आज्ञा लिये होम करता है न उसको पितृयान मार्ग और न देवयान मार्गका बोध होता है। वह देवताओके प्रति अपराध करता है और उसकी लोकमे प्रतिष्ठा भी नही रहती।

––अथर्ववेद काण्ड १५ सूक्त १ (१२)

नोट–इस सूक्तसे विदित होता है कि इन सूक्तोंके रचनाकालमे इन व्रात्यो (श्रमणों) का प्रभाव भारतके आर्य-अनार्य खण्डोंमें कितना बढा चढा था कि कोई भी उनका आदर सन्मान किये बिना लोकप्रिय न हो सकता था, जिनके घरपर विद्वान व्रात्य एक रात्रिके लिये अतिथि होकर रहता है उससे वह गृहपति पृथ्वी परके पुण्यलोकोको प्राप्त कर लेता है। जिसके घरपर दो रात्रि रह जाता है उसे अन्तरिक्षके पुण्यलोक प्राप्त हो जाते है जिसके घरपर तीन रात्रि रह जाता है उसे दिव्यलोकके पुण्यलोक प्राप्त होते हैं। जिसके घर पर चार रात्रि रह जाता है उसे दिव्यलोकके पुण्य लोकोमे भी उत्तम पुण्य लोक प्राप्त होते हैं। जिसके घरपर अपरिमित रात्रियोके लिये रह जाता है वह अपरिमित पुण्यलोकोको पा लेता है। जिसके घर पर व्रात्य न होते हुए भी कोई अपनेको व्रात्य कह कर अतिथिके तौर पर ठहरे तो उसका भी अनादर नही करना चाहिये, उसको भी पानी स्वीकार करने की प्रार्थना करनी चाहिये, उसको भी अपने घरमे वास देना चाहिये, उसे भी भोजन परोसना चाहिये। —अथर्ववेद १५वां काण्ड सूक्त १ (१३)

वायुपुराणसे भी उक्त मतकी पुष्टि होती है। वायुपुराणमे पाशुपत-योग-विषयक दश अध्यायोमें योगियोंके प्रति गृहस्थोंके कर्तव्य बतलाते हुए कहा गया है कि–'अनेक वेषधारी योगी लोग देशमे सर्वत्र विचरते रहते है, जब कभी वे किसी गृहस्थके यहा आवें, गृहस्थका यह धर्म है कि वह उनका हृदयसे स्वागत करे और अपनी कल्याण वृद्धिके लिये उनकी यथायोग्य सेवा पूजा करे।' दूसरी बात यह कही गयी है, जो पहली बातसे भी महत्वपूर्ण है, कि श्राद्ध पक्षमे भी गृहस्थ जहां तक हो सके इन्हीं योगियोको ढूंढकर लावे और भोजन करावे; ऐसा करनेसे पितृगण बहुत सन्तुष्ट होते है। श्राद्धके दिन एक योगीको भोजन कराना हजार ब्राह्मणो अथवा ब्रह्मचारियोंके भोजन करानेके समान है।

पीछेसे यद्यपि ब्राह्मण स्मृतिकारोने पितृक श्राद्धके समय यतियो तथा ब्रह्मचारियोको आहार करानेका निषेध कर दिया और कौटिल्य अर्थशास्त्रके[1] लेखकने तो उन वैश्यो पर जो देव-विषयक अथवा पितृक-विषयक कार्योंमें वैरागियों, शाक्यों तथा आजीविकोंको बुलाकर भोजन कराये, १०० पण दड लगाये जानेका भी विधान कर दिया, परन्तु इस प्रकारके निषेध और विधान का कारण वह साम्प्रदायिक वैमनस्य है जो ईस्वी पूर्वकी दूसरी सदीसे मगधमें शुग वश नामके ब्राह्मण राज्यकी स्थापना होनेके बाद ब्राह्मणोंमे पुनः जाग उठा था। प्राचीन भारतमे तो पितृक श्राद्धके समय इन यतियोको आहार देना ही महा कल्याणकारी

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र–अधिकरण ३, प्रकरण ७५ वा

माना जाता था; क्योकि भारतीय लोकोके पूर्वज व पितृगण वास्तवमें यतियोके ही उपासक थे। इसी मान्यताकी पुष्टि करते श्री वी. आर. रामचन्द्र दीक्षितकार एम. ए. वायुपुराणके उक्त विवरणके आधार पर वायुपुराणको एक प्राचीन पुराण होना सिद्ध करते हैं और कहते हैं कि "यह पुराण उस प्राचीन कालका लक्ष्य कराता है जब भारतीय लोगोंमे श्राद्धके दिन योगियोंको भोजन कराना महान लाभ समझा जाता था।"*

वैदिक ऋषियोंमें श्रमणमार्गका अनुचरण—

उक्त श्रमणसंस्कृतिका प्रभाव उस दूरवर्ती कालमें समस्त देशके भीतर कितना बढा-चढ़ा था इसका दिग्दर्शन उन उदाहरणोंसे भी किया जा सकता है जो अथर्ववेदके ११वें काण्डके ५वे सूक्त [१] मे अथवा उमके भाष्य रूप गोपथ ब्राह्मण (पूर्व) [२] में संकेत किये गये हे। गोपथ ब्राह्मण (पूर्व) २ ८ का आशय निम्न प्रकार है'—

महर्षि वशिष्ठका पुत्र शाख (पर्वत) की तलहटीमे श्वासोश्वास पर जीवन निर्वाह करता हुआ यह शब्द बोला कि यहा (शख पर्वतपर) शीत और उष्ण दो पानीके झरने हो जायें, सो (वह दो झरने पैदा हो गये), वह झरने सदा चलते रहते है, विषाण (पर्वत) के ऊपर एक वशिष्ठ शिला नामकी एक शिखा है उसके ऊपर दूसरी शिखा कृष्ण शिलाके नामसे प्रसिद्ध है उस शिलापर वशिष्ठ ऋषिने तप किया था, विश्वामित्र और जमदग्निने जामदग्न (पर्वत) पर तप किया था, गौतम और भारद्वाज दोनो ने सिहप्रभव (पर्वत) पर तप किया था, गगु ऋषिने गगु पर्वत पर और ऋषि मुनिने ऋषि द्रोण (पर्वत) पर, अगस्त्य मुनिने अगस्त्य तीर्थ पर तप किया। अत्रि ऋषि दिवि लोकमे तप तपता है, स्वयम्भू कश्यपने कश्यप पहाड़ पर तप किया, कश्यपने यह तप भेडिया, रीछ, लक्कडबघ्घड, कुत्ता, सुअर, नेवला, सर्प, आदि (क्रूर और हिंसक पशुओ) के मध्यमें रहते हुए किया है। इस कश्यप तुगके दर्शन मात्रसे अथवा इसकी प्रदक्षिणा करनेमे सिद्धि मिलती है। १००० ब्रह्म वर्षो तक शिवजी ऋषि वनके अन्दर ब्रह्मचर्यपूर्वक एक पावमे खड़े रहे और दूसरे एक हजार ब्रह्मवर्ष तक वे शिरके ऊपर अमृतकी धारा—गंगा—को धारण करते रहे और ४८ हजार ब्रह्म वर्ष तक सलिलपृष्ठ पर शिवजी तप करते रहे।'

उक्त विवरणमें वैदिक वाङ्मयके प्रसिद्ध, ऋषिवर वशिष्ठ विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम, भारद्वाज, गगु, अगस्त्य, अत्रि अथवा उनके वंशजों द्वारा विविध पर्वतों पर तपस्या करने और ऋद्धि सिद्धि प्राप्त करनेका उल्लेख है।

इन प्राचीन वैदिक ऋषियोंके सम्बन्धमे महाभारतमे[३] भी लिखा है कि, 'महर्षि च्यवन, जमदग्नि, वशिष्ठ, गौतम और भृगु जैसे क्षमाशील महात्माओने उपवासके ही प्रभावसे स्वर्गलोक प्राप्त किया है।'

इन उदाहरणोंकी पुष्टि जैन साहित्यसे भी होती है। इसमें वेषधारी मुनियोके स्वरूपका उल्लेख करते हुए इस प्रकारके ब्राह्मण ऋषियोमेंसे वशिष्ठ मुनि, मधुपिंगल, बाहु और द्वैपायनका वर्णन आया है और बतलाया गया है कि यद्यपि इन्होंने घरबार छोड़कर धन-धान्य त्यागकर घोर तपश्चरण किया था परन्तु ये ऋद्धिसिद्धकी कामनाओमे फस जानके कारण शिव-पदकी प्राप्ति करनेमे असफल रहे[४]।

इससे सिद्ध है कि बुद्ध और महावीरसे भी दूर पूर्ववर्त्ती कालमें वैदिक ऋषि इन श्रमणोके आध्यात्मिक प्रभावसे प्रभावित हो उठे थे और उन्होंने अपने याज्ञिक मार्गको छोड़कर अध्यात्म उत्कर्षके लिये सन्यासमार्ग और तपमार्गका आश्रय लिया था। इतना ही नही बल्कि उन्होंने अपने साहित्यमे भी महाश्रमण तीर्थङ्करोंका मगल गान करना शुरू कर दिया था।

वैदिक साहित्यमें भगवान् वृषभदेवका कथन—

गोपथ ब्राह्मणके उक्त कथनमें जगली जन्तुओके बीचमे रहते हुए जिस स्वयम्भू काश्यपकी दुर्धर तपस्याका वर्णन है उसका संकेत जैनियोंके माननीय उस आदि तीर्थङ्करकी ओर मालूम होता है, जो जैन मान्यता अनुसार इस युगके आदि धर्म-

* 'कल्याण' का योगाङ्क, अगस्त १९३५ पाशुपत योगका आरम्भिक इतिहास पृष्ठ २३७

१. अथर्ववेद—११वां काण्ड—सूक्त ५ मन्त्र २४—२६

२. गोपथ ब्राह्मण—पूर्व २. ८.

३. महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १०६ श्लोक ६०–७० !

४. भावप्राभृत, ४४–६८–कुन्दकुन्दाचार्य्य (ईसाकी प्रथम सदी)

प्रवर्तक थे, जैनसाहित्यमे यह महापुरुष वृषभ नामधारी होनेसे ऋषभ, काश्यप गोत्री होनेसे कश्यप, इक्ष्वाकु कुलका होनेसे इक्ष्वाकु, आदि धर्मप्रवर्तक होनेसे आदि ब्रह्मा, ज्येष्ठ ब्रह्मा, आदीश्वर, आदिजिन, आदिनाथ व स्वयम्भू, विधाता, विश्वकर्म्मा आदि नामोसे प्रसिद्ध है[१]।

इस ऋषभ भगवानके सम्बन्धमें जैनागममें कहा गया है कि "जैसे नक्षत्रोमें चन्द्रमा श्रेष्ठ है वैसे ही धर्मप्रवर्तकोंमें कश्यप श्रेष्ठ है"[२] यजुर्वेद में भी तत्सम्बन्धी ऐसा ही बखान किया गया है "जैसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमा इन्द्र है (श्रेष्ठ है) वैसे ही धर्मप्रवर्तकोंमे वृषभ श्रेष्ठ है, अमृतदेव (सिद्ध पुरुष) शुद्ध और हर्षित मनसे उसका आह्वान करते हुए उसका अभिनन्दन करते है[३]। इसके अतिरिक्त वैदिक वाड्मयके अन्य ग्रन्थोमे भी इस वृषभ भगवानका उपर्युक्त नामोंमे विविध प्रकार गुण-गान किया गया है[४]। मुण्डक उपनिषद मे कहा है—

ब्रह्मा वेवानी प्रथम. सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्य प्रतिष्ठामर्थय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ —मु० उप० १. १.

अर्थ—सब देवोमे ब्रह्मा सबसे पहले पैदा हुआ, इसलिये वही विश्वका कर्त्ता है, वही विश्वका रक्षक है, उसने समस्त विद्याओंमें प्रधान विद्या ब्रह्मविद्याको अपने पुत्र ज्येष्ठ अथर्वको बतलाई थी ।

जैन वाड्मयसे पता लगता है, कि इस आदि ब्रह्माने अपने पुत्र वृषभसेनको ही सबसे पहले ब्रह्मविद्याका उपदेश किया था और उसीको अपने श्रमणसंघका ज्येष्ठ गणधर (chief apostle) बनाया था[५]। मालूम होता है कि उपर्युक्त विवरणमें मण्डल उपनिषद्कारने इसी ज्येष्ठ गणधरको अपनी वैदिक परिभाषा अनुसार ज्येष्ठ अथर्वकि नामसे पुकारा है, क्योंकि वैदिक अनुश्रुति अनुसार अथर्वा ऋषिने सबसे पहले अग्निको मालूम किया था और वही याज्ञिक क्रिया व लोक कल्याणकारी मन्त्र, जन्त्र विद्याका सर्वप्रथम प्रकाशक था। और उसीके नाम पर चौथे वेदका नाम अथर्ववेद रक्खा गया था[६]।

---

१. (अ) समन्तभद्र—बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र ॥ ३,५ ॥ ईसाकी दूसरी तीसरी सदी
(आ) जिनसेनाचार्य्यकृत आदि पुराण ॥ १६.२६४–२६७ ; " " " २५ १००–२१७ } ईसा की आठवी सदी
(इ) जिनसेनाचार्य्य कृत हरिवंश पुराण ॥ ८ २१० } ईसा की आठवी सदी
(ई) नेमिचन्द्र आचार्य्यकृत-त्रिलोकसार ॥८०२ ईसाकी दसवी सदी

२ उत्तराध्ययन सूत्र ॥ २५ १६ ॥

३ स्तोकानामिन्दु प्रति शूर ऽ इन्द्रो वृषभायमाणो वृषभस्तुराषाट् धृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥—यजुर्वेद २०–४६

४. (अ) श्वेताश्वर उप० ॥ ६ १८ ॥
(आ) डा० राधाकृष्णन का मत है कि जैनधर्म निस्सन्देह भारतमें वर्धमान और पार्श्वनाथके पहलेसे प्रचलित है, क्योंकि यजुर्वेदमें ऋषभ अजितनाथ और अरिष्ट नेमि-तीन प्राचीन तीर्थङ्करोंका उल्लेख मिलता है।
देखें—Indian Philosophy Vol I
Indian Ediction, 1940, p. 289
(इ) आचार्य विरूपाक्ष वडिया M A वेदतीर्थका मत है कि ऋग्वेद १०-१६६,१ जैन तीर्थङ्कर ऋषभसे सम्बन्धित है ।

५. तिलोयपण्णत्ती ४-९-६४

६ (अ) सत्यव्रत सामश्रमी निरुक्तालोचन वि० स. १९५३ पृ. १५५
(आ) A. C. Das—Rig Vedic culture pp. 113—115.
(इ) Dr. Winternitz—History of Ind. list. Vol. 1 1927 p. 120.

वैदिक साहित्यमें अरिष्टनेमिका कथन—

जैन अनुश्रुति[1] अनुसार भारतके प्रसिद्ध यदुवंश अथवा हरिवंशकी अन्धकवृष्णि शाखामें उत्पन्न अरिष्टनेमि भगवान कृष्णके चचेरे भाई थे, इनके पिता मथुराके पास शौर्यपुरके राजा थे, ये वर्णमे श्याम, स्वभावमें सौम्य, शरीरसे बलिष्ठ और संकल्पमें दृढ शक्तिवाले थे। उनका विवाह सम्बन्ध सुराष्ट्र देशस्थ जूनागढके भोजक वशकी राजकुमारी राजमतीसे होना निश्चित हुआ था। जब विविध राजाओंके साथ घोड़ों वाले रथमें सवार हो यह जूनागढके निकट पहुचे तो एक स्थान पर बहुतसे भूख-प्याससे पीडित पशुओको देखकर यह पूछने लगे कि 'इन्हे क्यो बन्दी किया गया है ?' जब उन्हे बताया गया कि यह बारात में आये हुए मांसाहारी राजाओंके भोजनार्थ जमा किये गये हैं तो यह दया द्रवित हो गये, वैराग्यसे छा गये, संसारको दुःखका कारण समझ, पशुओंको मुक्त करा, रथ छोड़, रैवतक पर्वत पर जा चढे, वहा निर्ग्रन्थ मुद्राधार तपस्या करने लगे और संसारके कारणीभूत समस्त कर्मशत्रुसेनाको जीतये 'जिन' अथवा 'अरिहन्त' बन गये और फिर शिक्षा-दीक्षा द्वारा अनेक भव्य जीवोंको कल्याणमार्ग पर लगाने, उन्हे संसार सागरसे पार उतारनेके कारण यह 'तीर्थङ्कर' संज्ञासे विभूषित हुए।

जैन अनुश्रुति अनुसार यही भगवान कृष्ण, बलराम, पंच पाण्डव, नारद, प्रभृति महाभारत कालीन प्रमुख पुरुषोंके आध्यात्मिक गुरु थे। इनके द्वारा दीक्षित होकर ही पाच पाण्डवोंने सन्यास धारण किया था। इन्हीकी तपस्या-भूमि होनेके कारण 'रैवतक' अर्थात् गिरनार पर्वत उस समयसे लेकर आज तक तीर्थभूमि बना हुआ है।

अरिष्टनेमि अपने समयके कैसे प्रभावक और युगप्रवर्तक महापुरुष थे —इसी बातसे प्रमाणित है कि वैदिक साहित्यमे जगह-जगह मंगल भावनामे प्रेरित हो वैदिक ऋषियोने अमरकी तरह गुण गान कर इनका आह्वान किया है—

(अ) ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः, व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृहस्पति र्दधातु ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः । —प्रश्न. उप.

(आ) त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्[2]
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यं[3] मिहा हुवेम ॥१। —ऋग्वेद १०, १७८ १॥

अर्थ—बलवान देवोसे पूजनीय, प्राणियोको पार उतारने वाले, (अर्थात् तीर्थङ्कर) सेनाओंके विजेता (कर्म रूपी शत्रु-सेनाओके विजेता जिन), तार्क्ष्य पुत्र (सूर्य पुत्र) अरिष्ट नेमिको हम आत्म-कल्याणके लिये आह्वान करते है।

(इ) त व रथं वयम् द्या हुवेम स्तोमैरश्विना सुविताय नव्यम् ।
अरिष्टनेमिं परिद्यामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ —ऋ. १. १८०. १०

अर्थ जिसमें बडे-बड़े घोड़े जुड़े हैं ऐसे रथमें बैठे हुए सूर्यके समान आकाशमे चलनेवाले विद्या रूपी रथमें बैठे हुए अरिष्टनेमिका हम आह्वान करते हैं।

(ई) हिन्दुओके पौराणिक साहित्य, विशेषतया स्कन्धपुराण, प्रभास खण्डमे नेमिनाथ भगवानका बड़ा गुणगान किया गया है उसके कुछ अंश यहां उद्धृत किए जाते हैं—

भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम् । तेनैव तपसाकृष्टः शिवः प्रत्यक्षतां गतः ।
पद्मासनसमासीनः श्याममूर्ति-दिगम्बरः । नेमिनाथ शिवेत्येवं नाम चक्रेऽस्य वामनः ।
कलिकाले महाघोरे सर्वपाप-प्रणाशकः । दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः ।
—स्कन्धपुराण-प्रभास काण्ड

१. (अ) हरिवंश पुराण—आचार्य जिनसेन कृत—ईसाकी ८वी सदी
(आ) उत्तराध्ययनसूत्र—२२वां अध्याय
(इ) Indian Antiquary vol IX P 551 Mazumdar
(ई) „ „ P 163 Jacobi

२. तरुतारं रथानाम् = तारं पितारम् रथानायं रंहितृगाम् भूतानां —दुर्गाचार्य्यनिरुक्त टीका पृ ७४७

३. अरिष्ट नेमिनाम तार्क्ष्य पुत्रः तार्क्ष्य देवता —वेदार्थ दीपिका दशम मण्डल १७८

अर्थ—आयुके अन्तिम भाग—वृद्धावस्थामें वामनने तप किया, उसी तपके प्रभावसे उसे शिवके दर्शन हुए—वह शिव (कल्याण प्रदाता) पद्मासनसे स्थित, श्याम मूर्त्ति, दिगम्बर (नग्न मूर्त्ति) नेमिनाथ—महान भयकर कलिकालमें सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करने वाले और दर्शन एव स्पर्शनसे ही करोडो यज्ञोसे उत्पन्न फलको देने वाले थे इसलिये वामनने उनका नाम शिव—कल्याणदाता—रख दिया ।

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले । ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

अर्थ—जिन भगवाननेमिनाथने युग के आदिसे (?) पवित्र रैवतक पर्वतपर तपस्या की अनन्य ऋषियोका आश्रय होनेके कारण ही वह (रैवतक पर्वत) मुक्तिका कारण बन गया ।

यहां नेमिको 'जिन' सज्ञा दी गयी है और उनके तपस्या—निर्वाण स्थान को मुक्तिका कारण कहा गया है ।

(उ) बेबीलोन सम्राट नेबुचन्द नेजर (Nabuchand Nezar) का दानपत्र भी इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय है। यह दान-पत्र Illustrated Weekly of India १४ अप्रैल १९३३ के पृष्ठ ३१ पर डा० प्राणनाथ—प्रो० हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस द्वारा अर्थ सहित प्रकाशित हुआ है । उनके अध्ययनके अनुसार इस दानपत्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

"रीवापुरि (जूनागढ़) मे राज्य देवना-सूसाका प्रधान देवना नेबुचन्द नेजर आया, उसने यदुराजके स्थानमे मठ (मन्दिर) बनवाया, हमारे ईश्वर (अधिपति) नागेन्द्रने आनेवाले नावोको आयका दानके तीर पर (भेंटमे) दिया रैवतक (पर्वत) के ओन् (भगवान्) सूर्यदेवता नेमिके लिये ।"

इस दान-पत्रमे भली भांति सिद्ध है कि न केवल भारतीय जनता बल्कि दूर पश्चिमी एशियाई देशोके लोग भी भगवान् नेमिनाथके उपासक थे ।

जैसे नालन्दा निवासी इन्द्रभूति गौतम ब्राह्मण भगवान महावीरके प्रसिद्ध गणधर (Apostle) थे । उसी प्रकार जैन अनुश्रुति अनुसार अरिष्टनेमिके मुख्य गणधरका नाम सुप्रभ (सोमक) था[१] । हो सकता है कि उनके गोत्रका नाम अङ्गिरस हो और उनका पूरा नाम सुप्रभ या सोमक हो क्योकि छान्दोग्य उपनिषद ३.१७ के अनुसार अङ्गिरस ऋषि कृष्णका गुरु था और उसने जो आध्यात्मिक शिक्षा कृष्णको दी थी जिससे वह (कृष्ण) तृप्त ही हो गया था । वही तत्कालीन जैन तीर्थङ्करोकी वास्तविक शिक्षा थी ।

जैन ग्रन्थोंने कहा है कि भरत क्षेत्रमें आदि और अन्तिम तीर्थङ्करोको छोड़कर शेष २२ तीर्थङ्कर सामायिक संयमका ही उपदेश देते है अर्थात् ऐसे धर्मका जिससे आत्मामें समता, शमता, और निराकुलताकी स्थापना हो अर्थात् वे जिस धर्मका उपदेश करते है उसमें निम्न तत्व शामिल होने है—इन्द्रिय सयम, प्राणसयम, परिग्रह सयम अथवा इन्द्रिय विषय वासनाओंका त्याग, सब प्रकारके असत्यभाषणका त्याग, सब प्रकारके अदत्तादान (चोरी) का त्याग, सब प्रकारके परिग्रहोका त्याग । इनके अलावा वे ऐसे धर्मका भी उपदेश करते हं जिससे जोवनमे बल, गौरव, महिमा और स्फूर्तिका संचार हो जैसे—तू अजर अमर है, तू ज्ञान घन है, तू आनन्दमय है ।[२]

श्रमणसंस्कृतिका व्यापकरूप—

अतीत कालके धुन्धले आकाशमे जहातक नजर (निगाह) जाती है भारत सदा श्रमणसंस्कृतिका केन्द्र बना रहा है । यह उन्ही विचरते हुए त्यागी और तपस्वी श्रमणोके पदचिन्होका प्रताप है कि भारतका चप्पा-चप्पा आज तीर्थभूमि और पुण्यभूमि बना हुआ है । यहाके सभी जनगण चाहे वे किसी भी धार्मिक सम्प्रदायके क्यो न हो, इन योगियोके जीवनको एक आदर्श जीवन मानते रहे हैं। इन ही के आचरण अनुसार वे दया, दान और इन्द्रिय दमनको धर्म और हिंसा, झूठ, चौरी, मैथुन और परिग्रहको पाप समझते रहे हैं ।

इन्ही योगियोके समान भारतके सभी जन अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णमासी, अमावस्या आदि पर्वके दिनोमे अथवा फागुन,

---

१. तिलोयपण्णत्ति गाथा ९६६ ।

२. वट्टकेर आचार्य्य—मूलाचार ७.३२—३४; ७,१२५—१२९ पूज्यपाद चरित्रभक्ति ॥७॥ आशाधर—अनगार धर्मामृत ९-८७ ॥ व्याख्याप्रज्ञप्ति ॥२०॥८॥, उत्तराध्ययन २३-२३—२७ स्थानाङ्ग-सूत्र क्रमाङ्क २६६ ॥

आषाढ़ और कार्तिक महीनोंकी अष्टाह्निकाओंमें अन्नका त्याग, अग्निपके भोजनका त्याग, चक्कीसे पिसे भोजनका त्याग, रसोंका त्याग तथा विशेष व्रत उपवास करते रहते हैं। इन्हीकी अहिंसात्मक चर्याके अनुसार ये वर्षा ऋतुके चतुर्मासमें विवाह आदि मांगलिक कार्योंको सम्पादन नहीं करते और इनके ही प्राचीन उपदेश अनुसार सदा अतिथि रूप साधु सन्तोंकी सेवा, दुःखी और भूखोंको दान, कूप, बावड़ी तालाब, धर्मशाला विहार उपाश्रय धर्मशाला, चिकित्सालय आदि लोक-कल्याणकारी कार्योंके लिये धनका व्यय और विश्वके सभी प्राणियोंके प्रति दयाका व्यवहार करते रहते हैं।

इन्हीं योगियोंके समान ये नित्य प्रति संध्या समय सामायिक करना, प्रौढ अवस्थामें घरबार छोड़ आरम्भ व परिग्रहका त्यागकर सन्यासी होना और मरते समय सांथरा लेकर ममता रहित शरीरको छोड़ना—पुण्य बन्ध और उच्च गतिका कारण समझते रहे हैं।

यद्यपि जीवनचर्य्याके संविधाता ब्राह्मण ऋषियोकी संस्कार व्यवस्थामें सन्यासको कोई स्थान प्राप्त नहीं है किन्तु योगियोंके कल्याणकारी विशुद्ध जीवनसे प्रभावित होकर जीवनकी आश्रम व्यवस्थामें सन्यासको एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है।

इन्हीं योगियोंके समान यहांके सभी जन सदा (२) पुनर्जन्म वाद, (२) कर्मवाद अर्थात् अपने किए अनुसार ही उच्च और नीच जीवनकी प्राप्ति—

और पुण्यपाप वाद—कर्मफल स्वरूप स्वर्ग-नरक आदि सुख-दुखस्थानों की प्राप्ति तथा समस्त दुखोका अन्त करने वाले मोक्ष आदि तत्त्वोमें विश्वास रखते रहे हैं, ये सदा संसारको अनित्य और इसके सुखोको दुखमय मानकर नित्य शिवपद-के लिये लालायित और जिज्ञासु बने रहे हैं। ये सदा मनुष्य भवको मोक्षद्वार मानकर देवपर्याय पर तरजीह देते रहे हैं, ये सदा वृषभ, अजित, अरिष्ट नेमि, राम, कृष्ण, बुद्ध, पार्श्व महावीर आदि क्षत्रिय कुलोत्पन्न सिद्ध पुरुषोंको साक्षात दिव्य अवतार मानते रहे हैं और इन्द्र, अग्नि, वरुण, सोम, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, नाग, यक्ष, कुबेर, वैश्रमण ह्री, श्री, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, पार्वती आदि सभी देवताओंको इन अवतारोंके भक्त, सेवक और अनुचर होनेके कारण मान्य ठहराते रहे हैं।

इन्हीं योगियोंके मौलिक सिद्धान्तोंके प्रतीक रूप ॐ स्वस्तिका, त्रिशूल, धर्मचक्र आदि चिन्होंको भारतीय जन आज तक जन मंगल कामनाके अर्थ उपयोगमें लाते रहे हैं।

उपरोक्त वर्णनसे सिद्ध है कि मोहनजोदड़ो कालसे लेकर आज तकका भारतीय जीवन श्रमणसंस्कृतिकी मान्यताओं-प्रथाओंसे उसके आदर्श और व्यवहारसे ओतप्रोत रहा है। इस तरह मोहनजोदड़ो-कालीन और आधुनिक भारतीय सभ्यतामें एक श्रृंखलाबद्ध सम्बन्ध है।

सन्तश्री वर्णी गणेशप्रसादजीका पत्र

अनेकान्तके 'सर्वोदयतीर्थाङ्क' को पढकर सन्तश्री वर्णी गणेश प्रसादजीने अपने हृदयोद्गारोंको व्यक्त करता हुआ जो पत्र सागरसे भेजा है वह इस प्रकार है :—

"श्रीयुत महनीय पं० जुगलकिशोरजी योग्य इच्छाकार सर्वोदय अंक आया। पत्रकी प्रशंसा क्या करूं पत्रको पढ़कर जो आनन्द आया—इस समय यदि मेरे स्थान पर कोई सद्गृहस्थ होता तब पत्रको अजर अमर कर देता। मैं तो भिक्षुक हूं—यही मेरा आशीर्वाद है जो आप अजर अमर हो जावें—आप मनुष्य नहीं आपका आत्मा श्री समन्तभद्र महाराजके हृदयाम्बुजका भ्रमर है, विशेष क्या लिखूं।"

—गणेश वर्णी

चैत्र सुदि २ सं० २००९

संगीतका जीवनमें स्थान

और

उसकी अति प्राचीनता

(श्री बाबू छोटेलाल जैन)

"मनुष्यकी विभिन्न स्वाभाविक प्रवृत्तियोंमें गाना भी एक सहज व्यापार है । उमड़ती भावनाओके आवेगके वशीभूत हो वह उन्हें अभिव्यक्त करनेके लिये आतुर हो उठता है। भावोंके उद्वेगके अनुसार ही उसके स्वरोमें उतार-चढ़ाव आ जाता है। और तब वह उन्ही स्वर-लहरियोके सहारे अपनी भावनाओको अभिव्यक्त कर व्याकुल हृदयको शान्त करनेका प्रयास करता है। यही संगीतका जन्म होता है। वाणीका वरदान उसे प्राप्त है। शब्दों-द्वारा वह भावोंको प्रकट करता है। और स्वरोंके उतार-चढावसे भावोंकी गहराईकी ओर संकेत करता है। मानव-जन्मके साथ ही यह प्रवृत्ति भी उसके साथ जुडी हुई आई है। जंगलोंमें रहने वाला मानव भी संगीतसे अपरिचित न था, न है। चाहे कोई काव्यकार हो अथवा न हो, संसारके प्रायः प्रतिभाशाली व्यक्तियोंका संगीतके प्रति अनुराग रहा ही है। तभी तो संस्कृतने "साहित्य-संगीत-कला-विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाणहीनः" तक कह दिया है। वर्तमान युगके सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक आइन्स्टाइन वायलिन (Violin) बजानेमें बड़े पटु है। महात्मा गांधी जीको भी संगीतसे अति अनुराग था। जार्ज वरनार्डशा लोक-प्रसिद्ध नाटक-लेखककी माता बड़ी निपुण संगीतज्ञ थी, और वरनार्डशा भी पहले संगीतके समालोचक थे और संगीत-समालोचनाओंसे ही उन्होंने पहिले प्रसिद्धि प्राप्त की थी। भजनके लिये संगीत अपरिहार्य है। भजनमें स्वरावलीका आधार पाकर भाव केन्द्रीभूत हो उठते है। अस्थिरमन स्थिरता प्राप्त करता है। संगीत संतुलन (Harmony) उत्पन्न करनेमें अपूर्व है। इससे चित्तमें शान्ति मिलती है। भजनोंको गाकर, मानव इसी प्रकारकी शान्ति पाता है।"*

* गेयपदगीतिमे मीराकी देन—मीरा-स्मृतिग्रन्थ, कलकत्ता, वि. सं. २००६

संगीत-द्वारा मनुष्य प्रणय करता है, संगीत हमें सुलाता है और संगीतसे ही हमें शत्रुओंपर आक्रमणकी प्रेरणा मिलती है। संगीत महान् कार्य करनेके लिये जागरित करता है। अकेलेपनके समय संगीत साथी बनता है। आपकी आनन्द-वेलामें संगीत आल्हादित करता है। दुःखके समय साथ देता है। परखके समय सान्त्वना देता है। और पूजा-प्रार्थनाके समय कुछ क्षणोके लिये इस संसारके बन्धनोंसे ही मुक्त कर देता है।

संगीत, जिसमें नृत्य-गीत-वादित्र शामिल है, भारतकी अति प्राचीन संस्कृति है और प्राग् ऐतिहासिककालसे अब तक इसकी परम्परा-द्वारा ईश-कीर्तन, मांगलिक गीत, विनती, पूजा और विभिन्न ऋतुओं तथा पर्व-महोत्सेवोंमें संगीत-द्वारा हम आनन्द-विभोर होकर अपने हृदयोद्गार प्रकट करते हैं। मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी तक इससे आकर्षित हो जाते हैं। पक्षियोंमें कई जातिके पक्षी है जो स्वयं मधुर संगीत सुनाते हैं; जैसे कोयल। सन् १९४० में इंदिरा नामकी हथिनीके बदलेमें जापानने तीन गायक-पक्षी भारतको भेंटमें दिये थे। मृग और सांप भी बड़े संगीत-प्रिय जीव है। कौशाम्बीके नरेश उदयन तो वीणा बजा कर हाथी पकड़नेमें प्रसिद्ध थे। मोर मेघ-ध्वनि सुनकर कितनी सुन्दरतासे नाचता है, यह तो विदित ही है।

अवसर्पिणी कालचक्रके आदिके तीन कालोंमें बज मनुष्य किसी प्रकारका कर्म या उद्यम नही करता था, उसे अपनी जीवनोपयोगी सब वस्तुएं दस प्रकारके कल्प-वृक्षोंसे प्राप्त हो जाती थी। इन दस प्रकारके कल्प वृक्षोंमें तूर्यांग जातिके कल्पवृक्षोंके प्रभावसे मनोहर वादित्रोंकी प्राप्ति होती थी। उस समय भोगभूमिके जीवोंके कान सदा गीतोंके सुन्दर शब्दोंके सुननेमें आसक्त रहते थे। .....स्वर्गोंके देव भी बड़े संगीत-प्रिय होते हैं। वहां

किल्विषिक जातिके देव गायक होते हैं—उनका काम गाना बजाना होता है। किन्नतर देवोके आठ भेद हैं, जिनमें एक गंधर्व है। गंधर्व देव दस प्रकारके होते हैं—हाहा, हूहू, नारद, तुम्बुरु, कदम्ब, वासव, महास्वर, गीतरति, गीतयश और देवन। इन सब प्रकारोंसे केवल संगीतके विभिन्न अंगोंका ही बोध होता है। देवोंके चार प्रकारके निकाय (समूह) है और प्रत्येक समूह में जितने जितने भेद है उनमें एक एक भेद अनीक भी है अर्थात् सात प्रकार की सेना। इस सेनामें गंधर्व और नर्तकी ऐसे दो प्रकार होते है।

भगवान् तीर्थंकरका जन्म होते ही अपने आप भवनवासी देवों के मन्दिरोंमें शंख-ध्वनि, व्यन्तरोके मन्दिरों में नगाड़ोका बजना, ज्योतिषियोंके मन्दिरोमें सिंहनाद और स्वर्गवासी देवोके मन्दिरोमें घंटाओंका गम्भीर नाद होने लगता है। गंधर्व नर्तकी आदि सात प्रकारकी देवसेना तीर्थंकरोंके जन्माभिषेक के समय आती है। समस्त लोक नगाड़ों, शंखों आदिके मनोहर शब्दोसे शब्दायमान् हो जाता और नृत्य तथा गीत-सहित देवोंका आगमन बड़ा आश्चर्यकारी जान पड़ता है। हाहा, हूहू, तुम्बुरु, नारद, विश्ववासु आदि किन्नर जातिके देव अपनी स्त्रियोंके साथ कर्णोंको अतिप्रिय भाति-भांतिका गाना गाने लगते है। देवांगनाएँ हावभावोसे अतिमनोहर शृंगार आदि रसोंसे व्याप्त नाच नाचती है। जन्माभिषेकके बाद इंद्र तांडव नृत्य करता है। भगवान् ऋषभदेवके समक्ष नीलांजसाके नृत्यकी कथा तो अति प्रसिद्ध है।

प्राचीन जैनसाहित्यमें अनेक राजकुमार और राजकुमारियोंकी कथाएं हैं जिनसे ज्ञान होता है कि वे संगीतकलामें बड़े निपुण थे। यदुकुलके कुमार वसुदेव मृदंगके समान शब्द करने वाला जलवादित्र बजानेमें निपुण थे। चंपापुरीके कुबेर सेठ चारुदत्तकी पुत्री गधर्वदत्ता को, जो गांधर्व-विद्यामें बड़ी निपुण थी, वासुदेवने सप्तदश तन्त्रियोंकी धारक सुघोषा वीणा बजाकर और गाना गाकर परास्त किया था। हरिवंशपुराणके १९ वें सर्गमें गांधर्व-विद्याका विस्तृत वर्णन है, उसमें लिखा है कि बाजोंके चार भेद हैं—तत (तार के वीणा आदि), अनबद्ध (मृदंगादि चर्म से मढ़े हुए बाजे) घन (कासेके बाजे) और सुषिर (वंशी आदि वांसके बाजे)। तत् वादित्रको गांधर्व विद्याका शरीर माना है। गांधर्वकी उत्पत्तिमें वीणा, वंश और गान ये तीन कारण है और वह स्वरगत, तानगत, पदगत, इस प्रकार त्रिविधस्वरूप है।

महाकवि पुष्पदन्तके महापुराण (सन् ९६५) में नृत्यके विविध अंगोंका कथन है जैसे—३२ प्रकारके पदप्रचार, ३२ प्रकारके अंगहार, १०८ प्रकारके करण, ७ प्रकारके भ्रूतांडवानि, ९ प्रकारकी ग्रीवा, ३६ प्रकारकी दृष्टि इत्यादि।

मानवीय स्वात्मज्ञानके विकासके साथ साथ मनुष्य अपने लिये और अपनी प्रिय वस्तुओके लिये अमरत्व-प्राप्तिके साधनोका अनुसंधान सदा करता रहा है। मनुष्य अपनी रक्षा करनेमें तो असमर्थ रहा है किंतु अपनी प्रिय वस्तुओंको—जैसे अपने विचारोको और अपनी जीवन-कथाको लेखो तथा छापे-द्वारा, अपने मित्रोके रूप और अपने प्रिय दृश्योंको चित्रकला-द्वारा, अपने प्रियजनोंकी आकृतिको भास्करविद्या (मूर्तिकला) द्वारा—चिरजीव बनानेमे सफल हुआ है। वह अपने स्नेही परिजनोके शव (Mummy) की मसालों द्वारा रक्षा करता है और स्तूप, निषिद्या और छतरियो द्वारा उनकी स्मृतिकी रक्षा करता है। विशाल अट्टालिकाओं और प्रासादों का निर्माण करता है, जिससे भावी सन्तति उसके नाम को भूल न जाय। इसीसे काष्ठ, मिट्टी, पट, कागज, धातु, पत्थर पर मनुष्यकी कहानिया अकित पाई जाती है।

प्राचीनतम भारतीय पुरातत्वके निदर्शनों (ई पू. द्वितीय शताब्दी) मे नृत्य, गीत और वादित्रके तथा समवेत संगीतके दृश्य उपलब्ध है। उस समय किस किस प्रकारके वाद्ययंत्र यहां प्रचलित थे उनका ज्ञान इनसे भले प्रकार हो जाता है। खडगिरि, उदयगिरि, भारहुत, साची और मथुरा में वीणा, वेणु और मृदंग वाद्यकारोकी मंडलीके कई शिलाचित्र मिले है जो सब से प्राचीन हैं। किंतु इनमें घन जाति (कास्य) के वादित्र देखने में नही आते है। उस समय और कास्यतालके आविर्भावके बाद भी हाथोंसे ताल देनेका प्रचलन था और अब भी है। तत जातीय अर्थात् तार के प्राचीनतम वादित्रोमे दो प्रकारकी वीणा देखी जाती है। एक तो धनुषाकारकी विलायती हार्प (Harp) जैसी जो सारे प्राचीन जगतमें प्रचलित थी और भारतमें प्राचीन ९वीं शताब्दी तक जिसका अस्तित्व था। इसमें पहिले ७ तार होते थे और पीछे जिसमें सप्तदश तंत्री तक का उल्लेख मिलता है (जैन हरिवंशपुराण)। इसको अंगुलीसे न बजाकर कोण द्वारा बजाया जाता था। दूसरी बीणा गुइटार (gui-



चित्र नं० १—संगीतरत दम्पति, तत्वगुफा खंडगिरि, ई पू प्रथम शताब्दी



चित्र नं० ३—मांगलिक संगीत, मथुरा, प्रथम शताब्दी



चित्र नं० २—संगीत समारोह, रानीगुफा, उदयगिरि ई पू. द्वितीय शताब्दी

tar) जैसी थी अर्थात् जिसका पेट नाख (लंबी नासपाती) के आकारका और ग्रीवा लम्बी होती थी। सुषिर जातिके यंत्रोमे वेणु (वशी) थी। यह वांसकी होती थी और इसमें ७ छिद्र रहते थे और कभी-कभी एक सिरे पर धातुके मकर-द्वारा अलंकृत होती थी। आनद्ध जातिके वादित्रोंमें ढोल, मृदंग, मुरज है। ढक्का और भेरी ये वृहदाकार नगारे होते थे जिनका उपयोग प्राय युद्धमें होता था। पटह एक प्रकारका ढोल था जो प्राय: घोषणाके लिये अथवा ध्यान आर्कषित करने के लिये व्यवहार किया जाता था।

आज पाठकोको हम इसी सम्बन्धके पुरातत्वके कई जैन निदर्शन दिखाना चाहते हैं।

प्रस्तर-शिल्पके उदाहरणोमें खंडगिरि-उदयगिरि, (उड़ीसा) के निम्न तीन चित्र हैं:—

खंडगिरिकी तत्व गुफा नं. २ की एक टोडी पर एक देव-दम्पति मदार-वृक्षके सान्निध्यमे प्रदर्शित किये गये है। युवक सप्ततन्त्री वीणा बजा रहा है और युवती स्वरलयानुसार नाच रही है। युवककी मौलिमणि-युक्त पगडी और सुन्दरी-के कर्ण, ग्रीवा और पोहचीके आभूषण तथा कटिमेखला ई.० पू० प्रथम शताब्दीके प्राचीन भास्कर-कलादर्शको प्रकट करते है। अंग-भंगसे कठरेचि तक और कटिरेचि तक सूचित होता है जो बड़ी सुन्दरतासे चित्रित हुआ है। (चित्र नं० १)।

उदयगिरिकी रानी गुफाके ऊपरकी मंजिलके दृश्योमे ८ वे शिलाचित्र मे एक स्त्री बैठी हुई महिला-सगीत-मंडली का समारोह देख रही है। उस के चारो ओर प्रसाधिकाएं खड़ी है। तीन नर्तकियां विभिन्न हावभावोको प्रदर्शित करती हुई नाच रही है। वादित्रोंमें वीणा तथा अंक्य और ऊर्ध्वक मृदंग और करताल (हाथोंसे ताल देना) प्रदर्शित किये गये है। (चित्र नं० २)।

उदयगिरिकी रानी गुफाकी नीचेकी मंजिलमें महिलाओंका एक नृत्य-दृश्य अकित किया गया है। नाटच-मंडपमे एक नर्तकी नृत्य कर रही है। संगीतकमें ऊर्ध्वक और अंक्यमृदग, वीणा और मकर-मुख-वेणु (वशी) हैं। यह चित्र अनेकांतकी गत प्रथम किरण (सर्वोदयतीर्थाङ्क) में नं. ७ के रूपमें प्रकाशित हो चुका है।

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त एक प्रस्तर-फलकमें भगवान् महावीरके गर्भकल्याणकके उपलक्षमें स्वर्गकी देवियों-द्वारा मांगलिक नृत्य, गीत, वादित्र-समारोह प्रदर्शित किया गया है। यह शिला-चित्र प्रथम शताब्दी या उससे भी पूर्व कालका है। (चित्र नं. ३)।

अब पाठकोके समक्ष कुछ भित्ति-चित्रोके उदाहरण रखे जाते है। मद्राससे प्राय: २४० मील और त्रिचनापल्ली से लगभग ३३ मील दक्षिणमें पुदुकोट्टा राज्य है। इसकी राजधानी (पुदुकोटा) से ९ मील उत्तर-पश्चिममें एक पहाड़ीके नीचे सित्तन्नवासल नामका गाव है। सित्तन्नवासल का संस्कृत'सिद्धनां वास:'और प्राकृत रूपसिद्धणवासो होगा-अर्थात् सिद्धोका मुनियोका वासस्थान। पहाड़ीमे जैनमुनियोंके निवासके लिये गुफाएँ बनी हुई है जो कृत्रिम और अकृत्रिम दो प्रकारकी है। इनमे एक गफा-मन्दिरमें तीन तीर्थंकरोंकी और उसके बरांडामें दो तीर्थंकरोंकी कुल पांच मूर्तियां पद्मासन हैं और कई सुन्दर भित्ति—चित्र है। ये पल्लव नरेश महाराज महेद्रवर्मन् प्रथमके द्वारा लगभग सातवीं शताब्दीमें निर्मित हुई है। चित्र बड़े ही सुन्दर और अजन्ता गुफाके चित्रोसे मिलते-जुलते हैं।

गुफा मन्दिरके अर्ध मंडपके सामने दो वृहत् चौकोर स्तम्भ हैं जिन पर नर्त्तकियोके दो रंगीन चित्र बने हुए है। दाहिने स्तम्भकी नर्त्तकीका वाम हस्त दंडहस्त-मुद्रामें है। उत्तरी स्तम्भकी नर्त्तकीका वाम हस्त गजहस्त मुद्रामें है। दोनों नर्त्तकियोके स्थूल नितम्ब, पतली कमर, रत्नविजड़ित आभूषण और पुष्प-प्रसाधित केश तथा अपूर्व लावण्य और ताल एव लययुक्त कोमल मुग्धकर और दृढ़ गति—द्वारा चित्रकारने उन्हे अमर रूप प्रदान कर दिया है। (चित्र नं. ४)

भित्तिचित्रोंके अन्य निदर्शन। दक्षिणका कांचीपुरम् (कांजीवरम्) अति प्राचीन कालसे प्रसिद्ध है। यहां जहां जैनोंका वास था उस प्रदेशको जिनकांची कहते थे। कांजीवरम्से दो मील पर वेगवती के दक्षिण तट पर अब जो तिरुपरुट्टिकुन्नम नाम का गांव है वही जिनकांची है। और जो काजीवरमका ही भाग है। जैनों के प्रसिद्ध विद्या-स्थानोंमें जिनकांची भी एक था। सन् ६४० में ह्यूयेन स्यांग नाम का चीनी यात्री यहां आया था। उसने लिखा है कि यहां जैन बहुत बड़ी संख्यामें है।

जिनकांचीमें दो जैन मन्दिर है जो इस जिले के सबसे प्राचीन है। इनमें पल्लवढंगका चन्द्रप्रभ-मन्दिर अधिक प्राचीन है, पर छोटा है। दूसरा पूर्वचोलढंगका त्रैलोक्यनाथ (वर्द्धमान) मन्दिर है जो कांजीवरम् तालुकका सबसे

बड़ा मन्दिर है। इसकी छत पर अनेक रंगीन भित्तिचित्र है, जिनमें आदिनाथ नेमिनाथ और वर्द्धमानके जीवन चित्रित किये गये है। इनमेंसे ८४ चित्र श्री टी. एन. रामचन्द्रन् ने अपनी (Tiruparuttikunram and Its Temples) नाम की २५० पृष्ठोंकी वृहत् पुस्तकमें सन् १९३४ में प्रकाशित किये थे। यह पुस्तक जैन शिल्प-कलाका महाकोश है। इन चित्रोंमें संगीत (नृत्य, गीत, वादित्र) को प्रदर्शित करनेवाले चित्र नं. २,२०,४२,४५,५३,५४,५७,५८,६१ और ७४ है। इनमें से यहां नं. ४२ और ५८ के चित्र दिये जाते है।

नं. ४२—इसमें तीन देवियां नृत्य कर रही है और तीन देव झल्लरी, मृदंग और मसकवीणा बजा रहे हैं। हाथी पर एक देव मुरज बजा रहा है और एक अश्वारोही देव तुरी बजा रहा है। (चित्र नं. ५)

नं. ५८—इसमें स्वर्ग की देवियां नृत्य कर रही हे। (चित्र नं. ६)

उपर्युक्त सब प्रस्तर-चित्र और भित्तिचित्र पवित्र स्थानोंमें उपलब्ध हैं, इससे इनका सम्बन्ध पूजा प्रार्थना आदिसे है।

अर्हन्तोंकी मूर्तियोंमें अष्ट प्रातिहार्योंके अन्तर्गत देवदुंदुभि रहती है जो एक गंभीर नाद करनेवाली बड़ी भेरी होती है।

अन्तमें हम हाथी गुफा (उदयगिरि) के शिलालेख-की पांचवी पक्तिको यहां दिये देते है जिसमें कलिंगके महाराज खारवेलके शासनके तृतीय वर्षके सम्बन्धमें लिखा है—

"गंधव-वेद-बुधो दंप-नत-गीत-वादित संदंसनाहि उसव-समाज कारापनाहि च कीडापयति नगरिं।"

अर्थात्—गाधर्ववेदमे सुनिपुण महाराज खारवेलने नृत्य-गीत-वादित्रके सदर्शनोसे उत्सव, समाज (नाटक, दंगल आदि) कराते हुए नगरीको आमोदित किया।

कलकत्ता, ता० २८-३-१९५२

नागौरके भट्टारकीय भंडारका अवलोकन

(*श्री अगरचन्द नाहटा*)

राजस्थानमें नागौर एक प्राचीन स्थान है। दशवी शताब्दीसे जैन समाजका नागौरसे अच्छा सम्बन्ध निरतर रहा है। मेरे अवलोकन में जैन साहित्यमें नागौरका प्राचीन उल्लेख सं० ९१५मे रचित जयसिंहसूरिकी 'धर्मोपदेशमाला'में मिलता है। ११ वी शतीमें तो यहां पर जैन समाजका विशेष प्रभाव रहा है। श्री जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि आदि यहां पधारे थे और वादिदेवसूरि भी यहां रहते थे। इसीसे इनकी परम्पराका नाम नागपुरीय तपागच्छ पड़ा है, जिसका पीछे पार्श्वचन्द्रसूरिसे 'पार्श्वचंद्र' गच्छ नाम प्रचलित हुआ। १६वी शतीमें *लोंकागच्छका भी यहां अन्वय बढ़ा और यहांके* रूपजी आदि लोंकागच्छमें दीक्षित हुए। उनकी परंपरा 'नागौरी लोंकागच्छ' के नामसे प्रसिद्ध है। धर्मघोषगच्छके आचार्योंका भी यहां अच्छा प्रभाव रहा है। ओसवाल वंशका सुराणागोत्र इसी धर्मघोषगच्छके आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठोदित है। आज भी इस गच्छके गोपजी गुरांसा वहां रहते हैं। १५वीं शताब्दिकी लिखित पांडवचरित्रकी प्रति, जोधपुर केशरिया-नाथजीके ज्ञानभंडारमें अवलोकनमें आई है जो नागौरमें लिखी गई है और इसके प्रथम और अंतके पत्रमें अपभ्रंश शैलीके चित्र है जो राजस्थान एवं गुजरातादि चित्रशैलीकी एकताका परिचय देते है।

नागौरमें कई श्वेतांबर मदिर है जिनमें पीतलकी १० वी शताब्दीकी भी कुछ प्रतिमायें है, संभव है वे बाहरसे आई हों। यहां पर जो प्राचीन जैनमंदिर थे, वे बीचकी कई शताब्दियोंमें राज्यपरिवर्तन होते रहने के कारण मुसलमानशासकोके समय नष्ट हो गये प्रतीत होते है। फलतः नागौरचैत्य परिपाटी जो जैनसत्यप्रकाशमें मैंने प्रकाशित की है उसमें उल्लिखित मदिर भी अब नही रहे। संभव है कुछ मंदिरोंकी मूलानायक प्रतिमाएं खंडित हो जानेसे बदल दी गई हों अथवा यवनोंद्वारा उन मंदिरोंको भी नष्ट कर दिया गया हो। ११०० वर्षों से श्वेतांम्बर संप्रदायका वहां प्रभाव तो स्पष्ट ही है। अकबरके समय राजा भारमल श्रीमाल (जिनका गुणगान दिगंबर कवि-राजमल्लने अपने पिंगलग्रंथमें किया है) मूलतः यहीं के



चित्र नं ४—नर्तकी, सितन्नवासल, सप्तम शताब्दी



चित्र नं० ५—शोभायात्रामें संगीत, तिरुपरुत्तिकुन्रम



चित्र नं० ६—नृत्य, तिरुपरुत्तिकुन्रम

निवासी थे। इसी प्रकार भारतीय इतिहासमें प्रसिद्ध जगतसेठ के पूर्वज यहीसे बंगाल गये थे।

दिगंबर संप्रदायका नागौरसे सम्बन्ध कितना प्राचीन है? यह ठीक ज्ञात नही, पर १६ वी शताब्दीसे, भट्टारकजीकी गद्दी यहां स्थापित होनेसे, तो निश्चित ही है। भट्टारकजीके भंडार-के भलीभांति अवलोकनसे इस सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्रकाशमें आयगी, ऐसा संभव है।

कई वर्षोंसे यहांके भट्टारकजीका सरस्वती भडार बहुत महत्वपूर्ण होनेकी बात सुनता आया हू। बीचमें एक बार नागौर जानेपर उसके अवलोकनका प्रयत्न भी किया था और दिगम्बरसमाजके मुखियोसे भी मिला था पर वहा उस समय भट्टारकजीके न होने और भंडार सील-मोहरबन्द होनेसे सफलता नही मिल सकी थी। उसके पश्चात् पंडित परमानंद-जी भी वहां पधारे थे पर फिरभी भंडारका यथावत् अवलोकन अबतक किसीके द्वारा नहीं हो सका।

युगपरिवर्तनकी लहरने लोगोंकी मनोवृत्तियोमे थोड़े ही वर्षोंमें बड़ी क्रांति उत्पन्न कर दी है। जो व्यक्ति प्राचीन ज्ञान-भडारोको प्रकाशमें लाना आवश्यक नही समझते थे, आज उनकी भावनामें ऐसा परिवर्त्तन आया है कि उन्हे भंडारोंको प्रकाश-में लाना बहुत आवश्यक प्रतीत होने लगा है। श्वेतांबर संप्रदाय इस सम्बन्धमे काफी वर्षोंसे सजग है। इसीलिए ५० वर्ष पहले भी श्वेताबर ग्रंथोंकी सूची अच्छी प्रकाशित हो सकी और पाश्चात्य विद्वानो द्वारा श्वेताबर साहित्यका अच्छा अध्ययन खोज रिपोर्ट व प्रकाशन संभव हो सका। पर दिगम्बर-समाजमे अभीभी दिगम्बर साहित्यकी सूची प्रकाशित करनेका भी प्रयत्न नही नजर आया। कई वर्ष पूर्व प्रो० हीरालालजीके प्रयत्नसे डा० हीरालालजी रायबहादुर द्वारा सपादित होकर कारजा आदि सी. पी के दो तीन सग्रहालयोका कैटलाग प्रकाशित हुआ था एवं जैनसिद्धान्तभवन आराकी सूची और प्रशस्तिसंग्रह एवं ऐलक पन्नालालसरस्वतीभवन बम्बई की सूची और प्रशस्तिएँ प्रकाशित हुई हे। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा दो वर्ष हुए 'कन्नड़ प्रान्तीय दिगंबर भंडारोंकी सूची' प्रकाशित हुई है। 'अनेकान्त'में देहली आदिके कुछ सरस्वती भंडारोंकी सूचियाँ छपी थी, पर जैसाकि आवश्यक था निरंतर प्रयत्न नही हुआ। करीब २५ वर्ष पूर्व पं० नाथूरामजी प्रेमीने दि० जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता नामक सूची प्रकाशित की थी। उसके बाद दि० साहित्यकी समग्र सूची नही छपी।

जयपुरकी महावीरतीर्थक्षेत्र कमेटीका इस ओर प्रयत्न विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। तीनचार वर्षोंसे श्री कस्तूरचन्दजी कासलीवाल निरंतर यही काम कर रहे हैं। उन्होंने आमेरके भट्टारकजीके भंडार और महावीरतीर्थ क्षेत्रके भंडारकी सूची तैयार कर प्रकाशित की और इसके बाद प्रशस्ति संग्रहको भी प्रकाशित कर दिया, जो एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। अभी भी वे जयपुरके अन्य संग्रहालयोंकी सूचियोंके बनानेमें संलग्न हैं। दो महीने हुए नागौर आकर भट्टारकजीके भंडारको भी ऊपर २ से देखकर वे एक लेख द्वारा इसके महत्वके सम्बन्धमें प्रकाश डाल चुके है। इससे इस संग्रहालयको शीघ्र देखनेकी मेरी भी उत्सुकता बढ़ी और मुनि पुण्यविजयजीके नागौर पधारनेके प्रसंगसे वहां मैं भी जा पहुंचा। गत पौष शु० १५ को मुनिश्री गोगोलावसे नागौर पहुंचने वाले थे, अत: शु १४ की रात्रि को ही मै वहां पहुच गया और मुनिश्रीके सामने जानेपर उपाध्याय विनयसागरजीने सर्वप्रथम यही कहा कि हम रास्तेमें सोच ही रहे थे—कि नाहटाजी आजायें तो भट्टारकजी का संग्रह देखा जा सके। आप आ ही गए—अच्छा हुआ। भट्टारकजीके भंडारके अवलोकनका प्रबन्ध होसके तो ठीक हो। भोजनके अनंतर तत्काल स्थानीय पारसमलजी खजानचीको लेकर मैं दिगम्बरसमाजके मुखिया श्री रामदेवजीसे मिला तो उन्होने भट्टारकजीसे मिलकर भडारके अवलोकनका समय निश्चित करलेनेके लिए कहा। वहासे हम सीधे भट्टारकजी के यहां पहुंचे और उनसे मिलने पर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। मेरे वहां भंडारके लिए अवलोकन करने के आनेकी ही सूचना उन्हें सेठ वृद्धिचंदजी द्वारा जयपुरमे मिल चुकी थी अत: उन्होंने बड़े प्रेम-से भडार दिखानेकी तत्काल स्वीकृति दे दी। इतना ही नहीं, उन्होने कई विशिष्ट हस्तलिखित ग्रंथ जो बाहिर रखे हुए थे, मँगवाकर मुझे दिखाये जिनमें पहली सं० १७३४ की लिखी गोमट्टसारकी सचित्र प्रति थी। दूसरी प्रति स्वर्णाक्षरी सचित्र कालिकाचार्य कथाके मध्यपत्र थे। तीसरी प्रति गीता सचित्र थी। और भी कई प्रतियें दिखाने लगे तब मैंने निवेदन किया कि आपके भडारका अवलोकन मुनि पुण्यविजयजी एवं उपा० विनयसागरजी आदि मुनिमंडल भी करना चाहते है इसलिए मै आधे घंटेमें उन्हें लेकर आता हूं, तब सभी मिलकर स्थिरतासे भडार देखेंगे। उस समय आपके पास जयपुरसे पं० सतीश-चन्द्रजी जो कि भंडारकी सूची बनानेके लिए भट्टारकजीके साथ आये थे, बैठे हुए थे। भट्टारकजीने कहा—पंडितजीको सूची बनानेके लिये लाया हूँ। कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ होगा। आप सूची बनानेके बाद आते तो ज्यादा अच्छा होता। मैंने कहा—

अभी आ ही गया हूं तो दर्शनतो कर जाऊं, फिर मौका मिला तो विशेष लाभ उठाऊंगा। मुनिश्रीको लेकर मैं अभी शीघ्र आ रहा हूं।

घंटाभरबाद मैं मुनियोंको लेकर पहुंचा तो भट्टारकजी-ने भंडारकोतुरंत खोलकर दिखानेकी आज्ञा दे दी। हम आपके इस उदार व सौजन्य व्यवहारसे बड़े प्रभावित हुए। भंडारके पुराने ढंगके तालेपर वस्त्र सिलाई कर ऊपर चूनेसे बन्द किया हुआ था। चूनेको फोड़फाड़कर हटाया गया व वस्त्रकोभी फाड़ कर ताला खोला गया। भंडारमें प्रवेश करके देखा तो उसमें दो बड़ी बड़ी व ५ उससे छोटी टीन की सन्दूकें प्रतियोंके गट्ठड़ों से भरी हुई मिली। हमने सामने वाली बड़ी सन्दूकके गट्ठड लाकर देखने प्रारम्भ किये। गट्ठड़ोके ऊपर लेबल स्वरूप एक सफेद कपड़ेका टुकड़ा सिलाई किया था जिसपर पहले भंडार खुला तबका विवरण लिखा हुआ था व गटठड़ व बस्तोंके नम्बर आदि लगे हुए थे। इससे स्पष्ट है कि पहले भी बाकायदा सूचीपत्र बनाया गया था पर वह मिला नही। दूसरे दिन एक गुटकोंके गट्ठड़से उस समयसे भी पुरानी सूची प्राप्त हुई जो पंडितजीको देके आया हूँ। वर्तमान सूची बनजाने पर प्राचीन सूचीसे मिलाकर देखा जाना चाहिए जिससे कौन २ से ग्रन्थ उसमें लिखित अब नही मिल रहे है व कौनसे पीछेसे सम्मिलित हुए है इसका ठीक पता चल सके।

गट्ठड़ बड़े-बड़े है व मजबूतीसे वस्त्रोसे वेष्ठित व बंधे हुए है, ऊपरका वस्त्र हटानेपर भीतर पुराने बनाये हुए मजबूत झोलोंको देखकर हमें बड़ा विस्मय हुआ। इससे ग्रंथोंको सुर-क्षित रखनेके लिए कितनी सतर्कतासे काम लिया गया है,ज्ञात होता है हमने ऐसे मजबूत व बड़े झोले यही सर्वप्रथम देखे। प्रतियोका देखना हमने प्रारंभ किया इसी बीच भट्टारकजी महाराज भी वहां पधारे और कहा देखिए, लोगोंने झूठा ही भ्रम फैला रक्खा है कि भंडारके ग्रंथ उदेई आदि कीड़े खा रहे है। कुछ वर्ष पूर्व आने पर मैंने भी ऐसा ही सुना था पर अभी भंडार खोलनेपर वह बात सर्वथा निर्मूल सिद्ध हुई। भंडार बहुत ही सुरक्षित है। तत्कालीन साधनोंसे सुरक्षित रखनेमें बड़ी सत-र्कतासे काम लिया गया है और व्यवस्थापक सराहनाके पात्र हैं।

कुछ समय बाद भट्टारकजीने मन्दिरजीमें जो शिलालेख लगा हुआ है उसको पढ़नेके लिए मुनिश्रीसे कहा तो वे दोनों विद्वान मुनि उसके पढ़नेमें लग गये। यह शिलालेख चन्द्रप्रभ जिनालयके पाटणी पर्वत आदिके बननेका सूचक है। कुछ समय पूर्व इसे कुछ कामका न समझ यों ही इधरउधर डाल दिया गया था पर भट्टारकजीका इस ओर ध्यान जानेपर उन्होंने योग्य स्थान—मन्दिरमें प्रवेश करते—सामनेकी दीवारमें लगवा दिया है, जिससे आगन्तुक हर व्यक्तिका इस ओर ध्यान आर्कषित हो। शिलालेखके कुछ अक्षर थोड़े घिस गए है इससे प्रथम दिन पूरा स्पष्ट नही हो पाया जिसे मुनिश्रीने दूसरे दिन पूरा पढा। लेखश्लोकबद्ध है। प्रवेश करते सामनेके मंदिरकी मूर्तियोंके कुछ लेख भी देखे तो पाषाण मूर्तियोंमें अधिकांश सं १५४८ में जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठापित मिलीं। पापड़ीवालजीकी जिनभक्ति देखकर उनके प्रति बड़ा ही आदरभाव उत्पन्न होता है। उन्होंने सैकड़ों ही नहीं, सहस्त्रों जिनबिम्बोंकी एक साथ प्रतिष्ठा करवाके उन्हें श्वेतांबर एवं दिगम्बर मन्दिरोंमें बिना भेदभाव पूर्जनार्थ भेजी, प्रतीत होता है। बीकानेर जयसलमेर आदिके श्वेता-म्बर मन्दिरोमें इनकी इसीसमय प्रतिष्ठापित पचासो मूर्तियां हमारे अवलोकनमें आई है। पीतल प्रतिमाओके लेख देख नहीं पाये। दो पाषाण पादुकायें भट्टारक-परम्परासे सम्बन्धित होनेके कारण उल्लेखनीय है। पहली मंडलाचार्य ज्ञान-भूषणकी पादुका है जो मण्डलाचार्य आनन्दकीर्त्तिने संवत् १७८७ श्रावण सुदी ३ में प्रतिष्ठित की थी। दूसरी भट्टारक-सकलभूषणजीकी है जो सम्वत् १८६३ के आश्विन शुक्ला ६ शुक्रवारकी प्रतिष्ठित है। भट्टारकजीसे जो थोड़ीसी बात-चीत हुई उससे पता चला कि उनके पास कई राजाओं व बादशाहोंके पट्टे परवाने भी है, कोई गांव या ज़मीन भी है और किशनगढ़ आदिमे दूकानोके भाड़े की आमदनी है। आपके अधिकारमें अन्य भी कई स्थानोंमें हस्तलिखित ग्रन्थभंडार हैं। आपके कथनानुसार वर्तमानमें भट्टारकोंकी २१ गादिये है, उन सबके भंडारोंका भी प्रकाशमे आना आवश्यक है। इससे सैकड़ो जैन साहित्यके अज्ञात ग्रन्थोंका पता चलेगा। कुछ विद्वानोंको जिनवाणी उद्धारके इस पवित्र कार्यमें शीघ्र ही लग जाना चाहिए एवं श्रीमानोंको भी जी खोलकर प्राचीन साहित्यकी सुव्यवस्था व महत्वपूर्ण ग्रन्थोंकें प्रकाशनमें खर्च करनेको तैयार रहना चाहिए। लोग चाहते तो हैं पर करनेको कम ही तैयार होंगे। नागौरका ही मेरा अनुभव है कि भट्टारकजी कार्यवश बाहर पधारनेवाले थे अत: पीछेसे सुव्यवस्था करनेके लिए श्रावकोंको बुलवा भेजा। समय पर उपस्थित होना तो हम लोग सीखे ही नही हैं पर अन्ततक भी ५-६ व्यक्ति ही उपस्थित हुए

अतः निश्चय नहीं हो सका। रात्रिको फिर इकट्ठे होनेकी बात थी। सेठ रामदेवजी व चौधरी जी आदिकी भावना प्रशस्त है। भट्टारकजीने कहा यहां तीन भंडार हैं। हमारे अवलोकनार्थ तो अभी एक खोला गया है। एक तो अभी सीलबन्द है। भंडारों-के सूचीपत्र बनानेके रजिस्टर छपे हुए जयपुरसे लाये वे दिखाए तो इनमें ३-४ बातोका विवरण और होना चाहिए था वह यथास्थान लिखते समय सम्मिलित कर लेनेके लिए पण्डितजी से कह आया हूं। सूची बनानेका काम शीघ्र ही प्रारम्भ हो जाय तो ठीक है क्योंकि बनते-बनते भी कई महीने लग जावेंगे सूची बनने पर समय मिला तो फिर एक बार आकर मैं सूची संशोधन करा आऊंगा।

अभी तो १॥ दिन में मैंने एव मुनिमण्डलने ३-४ दिनो में जो कुछ देखा उसीके नोट्सके आधारसे नवीन ज्ञातव्य व अपने अनुभव प्रस्तुत लेख द्वारा प्रकाशमें ला रहा हूं। पहली बड़ी पेटीके निरीक्षण तक ही मैं वहां था और मेरा काम मुख्यतःगुटकोंके निरीक्षण करनेका रहा। पत्राकार प्रतिया मुनि महाराज देख रहे थे, मैंने तो थोडीसी देखी है। गुटकोंमें विविध फुटकर सामग्री रहती है अत देखनेमे समय अधिक लगता है फिर भी मैंने २००––२५० गुटकोंको देख लिया है। उससे अनुभव हुआ कि १७ वीसे १९ वी शतीके वे लिखे हुए है। पूजापाठ, व्रतकथा, रास व गीत आदि, फुटकर रचनाओंका इनमें अच्छा संग्रह है। भट्टारक-परम्पराकी ३५ श्लोकों वाली पट्टावलीका बड़ा प्रचार रहा प्रतीत होता है, वह लगभग १५ गुटकोंमे लिखी हुई मेरे अवलोकनमें आई। दो गुटकोमे उससे भिन्न २० एव ३३ श्लोकोंकी पट्टावली भी लिखी थी।

मैं वर्षोंसे दि० साहित्यमे ऐतिहासिक सामग्रीकी कमीका अनुभव कर रहा था। श्वेताम्बर सम्प्रदायके विद्वानोने ऐतिहासिक साहित्य-निर्माणकी ओर बड़ा ही ध्यान रखा है वैसा साहित्य तीर्थमालाएँ, पट्टावलियाँ, ऐतिहासिक प्रबन्ध व काव्यादि ऐसे ग्रन्थ तो दिगम्बर साहित्यमें निर्माण ही नही हुए—वे इस ओर उदासीन रहे। पर इस भंडारके देखनेसे मेरी धारणामे कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ। यहां ग्रंथोंकी लेखन-प्रशस्तियां बहुत महत्वकी है। कई प्रशस्तिया फुटकर पत्रोमें लिखीहुई ग्रन्थोंके साथ जुड़ी हुई हैं वे पूरे पृष्ठ या २—३ पत्र तक ही हैं। बहुतसी ग्रन्थसे संलग्न हैं, उनमें भी कई २-२॥ पत्रोंतक की बड़ी है। भट्टारक-परम्पराके आचार्योंके समय, श्रावकोके इतिवृत्त, धर्मप्रेमकी परिचायक होनेसे ये प्रशस्तियाँ बड़े महत्वकी है। कुछ गुटकोमें भट्टारकों एवं आर्याओंसे सम्बन्धित ऐतिहासिक गीत भी मिले है, जो अभी तक मेरी दृष्टिमें दिगम्बर साहित्यमें अज्ञातसे है। मैंने कुछ गीतोके नोट्स लिये पर समयाभावसे वे पूरे नही लिए जा सके। उनका तो एक छोटासा संग्रहग्रन्थ ही निकल जाना चाहिए। श्वेताम्बर साहित्यमें ऐसे हजारों गीत मिलते है पर दिगम्बर साहित्यके लिए यह नवीन चीज ही होगी। यह गीत सम-कालीन होनेसे ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण होते है। शिलालेखो एवं प्रशस्तियोके समान ही इनकी प्रामाणिकता व उपयोगिता है। अभी ३-४ गुटकोमे ही ये करीब २०-२५ ही मिले है। खोजने पर सम्भव है और भी मिलें।

इस भंडारमें आमेरभंडारकी भाति अपभ्रंश ग्रन्थोंकी प्रचुरता विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। बहुतसे ग्रन्थ जो आमेर भंडार में है उनकी कई प्रतियां यहा मिली है, जो प्राचीनता व पाठ-भेदोंकी दृष्टिसे महत्त्वकी है। भंडारमे प्राकृत एव संस्कृत साहित्य भी अच्छा है। श्वेताम्बर एवं जैनेतरग्रन्थ भी कई अच्छे हैं। यहा कतिपय अपभ्रंश आदिके अद्यावधि अज्ञात ग्रन्थोकी सूची देकर ही लेख समाप्त करूंगा और शीघ्र ही सूची तैयार करनेका पुन. अनुरोध करूंगा। कई प्रसिद्ध अपभ्रंश ग्रन्थोके संस्कृतमें लिखित टिप्पण भी मिले हैं जो विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। मूल ग्रन्थोंके साथ उन्हे प्रकाशित करनेपर ग्रन्थोंको सम-झनेमें बड़ी सुगमता उपस्थित होगी। टिप्पण वाले कुछ ग्रन्थ ये है—(१) सुदसनचरिउ (२) पउमचरिउ आदि।

अज्ञात ग्रन्थ[१]

(१) नेमिरास, पद्य १३९, कवि भाऊ, सम्वत् १६८१ लिखित।

(२) चेतन पुदगल धमात, पद्य १३४ हैं।

(३) जगरूपविलास, जगरूप, राजस्थानी (४) बारह खड़ी शास्त्र, पं. महीराज कृत, भाषा (५) कृपणपचीसी, (कल्ह), (६) सरस्वतीलक्ष्मीसंवाद, मंडलाचार्य श्रीभूषण, भाषा, (७) मंडलाचार्य श्रीभूषणबावनी (धर्मचन्द्र); (८) नेमिश्वरचरित्र,जिनदेवपुत्र दामोदर,अपभ्रंश, (९)चन्द्रप्रभु-

१. इनमें नेमिरास, चन्द्रप्रभचरित (दामोदर), सम्यक्त्वकौमुदी, तत्त्वार्थसुखबोधटीका, सभवनाथचरित और पाण्डवपुराण आदि कितने ही ग्रन्थ ऐसे हैं जो अन्यत्र भी पाये जाते हैं। —सम्पादक

चरित्र (दामोदर) (१०) ज्ञानरत्नोपाख्यान मलयसुन्दरी चरित्र, (कवि हरिराज) प्राकृत; (११) वसुधीरचरिय, (श्रीभूषण) अपभ्रंश; (१२) गोमट्ट-भक्तामर (भक्तामर पादमूर्ति श्लोक ५०) भुवनकीर्तिशिष्य, (१३) सम्यक्त्वकौमुदी, हरिसिंह साधु, अपभ्रंश; (१४) तत्त्वार्थसुखबोधटीका (योगदेव कुंभनगर-निवासी); (१५) माणिक्यमाला प्रश्नोत्तर, श्रीभूषण; (१६) संभवनाथ चरित्र (तेजपाल) अपभ्रंश (अपूर्ण); (१७) वारांगचरित्र (तेजपाल) अपभ्रंश (४ संधि), (१८) पांडवपुराण, श्रीभूषण, (१९) बाहुबल पाथड़ी, अपभ्रंश; (२०) छन्द शतक मू. रत्नशेखरसूरि, टीकाकार हर्षकीर्ति (छन्द कोष); (२१) पुण्यचन्द्रोदय मुनिसुव्रतपुराण, केशवसेन।

जैनेतर ग्रन्थ

(१) रघुवंश टीका हरिदास, (२) श्री निगमप्रवचन नामसारोद्धार अपर नाम (विज्ञान गुणार्णव); (३) विदग्ध-मुखमंडनटीका, (दुगर्क) अपूर्ण; (४) विदग्धमुखमंडन वृत्ति (प्रश्नोत्तर कौमुदी नामा) भट्टैकनाथ; (५) विदग्ध-मुखमंडन वृत्ति (श्रीश्रवणभूषणी नामटीका) नरहरि (अल्लाल नन्दन); (६) सारस्वतटीका-बालबोधिनी, माथुर मिश्र सावन; (७) बालबोधकारक खंडन, भीष्म; (८) रूपसुन्दरपिंगल-विवरण, गंगाधर, (वत्सराजनंदन) अपूर्ण; (९) वृत्तरत्नाकर टीका (भावप्रदीपिका) १ कृष्ण शर्मा, २ मह्वासम्म; (१०) चन्द्रोन्मीलन-टीका, तपा रूपचन्द।

भट्टारक समयादिक—

१ प्रभाचन्द्र १५७१, चित्तौड़, वैद जाति। २ धर्मचन्द्र १५९१, गंगवाल। ३ ललितकीर्ति १६०३, गोधा। ४ देवेन्द्रकीर्ति १६२२, सेठी। ५ नरेंद्रकीर्ति १६९१ सोगाणी। ६ सुरेंद्रकीर्ति १७२२ काला। ७ जगत्कीर्ति १७३३ स. हुंबड़। ८ देवेन्द्र कीर्ति १७७४ ठोल्या। ९ महेन्द्रकीर्ति १७—दिल्ली, पापडीवाल। १० खेमेन्द्रकीर्ति १८१४। ११ सुरेन्द्रकीर्ति १८।१२ सुखेंद्रकीर्ति १८१२।

आंबेरके गच्छ पाटि हुवा संवत् १७७२ गच्छ फाट्यो नागौर आंबेर।

ऐतिहासिक गीत

१ नेमिचन्द्र २ जसकीर्ति, ३ विशाल कीर्ति, ४ धर्मकीर्ति, ५ सहस्रकीर्ति, ६ गुणचन्द्र, ७ श्रीभूषण गीत। ८ श्वे० श्री आर्यरक्षित, ९ भावसागर गीत। १० अचलगुरु नामावलि ११ आर्यिका अनन्तश्री, १२ बाई खेतूगीत, १३ बाई शान्तिगीत, १४ बाई ज्ञानश्री गीत।

एक गुटके में भट्टारक मंडलाचार्य श्रीभूषण की पट्टावली एव अन्य एक पट्टावली की प्रति पं. सतीशचन्द्रजीसे अलग रखाके आया हूं।

इनके अतिरिक्त लगभग २००-२५० ग्रंथोंके नोट्स हमने लिये हैं, लेखके विस्तारभयसे उनकी सूची नही दी जा रही है।

कविता-कुंज

पठन क्योंकर हो ?

प्रथम तो 'पठनं कठिनं' प्रभो !
सुलभ पाठक-पुस्तक जो न हो।
हृदय चिन्तित, देह सरोग हो,
पठन क्योंकर हो तुम ही कहो ?

— युगवीर

वह क्यों न निराश हो ?

प्रबल धैर्य नहीं जिस पास हो,
हृदय में न विवेक-निवास हो।
न श्रम हो नहि शक्ति-विकाश हो,
जगतमें वह क्यों न निराश हो ?

— युगवीर

सुखका उपाय ?

जगके पदार्थ सारे, वर्ते इच्छानुकूल जो तेरी—
तो तुझको सुख होवे, पर ऐसा हो नहीं सकता ॥१॥
क्योंकि परिणमन उनका शाश्वत उनके अधीन ही रहता।
जो निज-अधीन चाहै वह व्याकुल व्यर्थ होता है ॥२॥
इससे उपाय सुखका सच्चा 'स्वाधीन-वृत्ति है अपनी—
राग-द्वेष-विहीना', क्षणमें सब दुःख हरती जो ॥३॥

— युगवीर

विधिका विधान किनके अर्थ ?

जीवनकी औ' धनकी
आशा जिनके सदा लगी रहती।
विधिका विधान सारा
उनहीके अर्थ होता है ॥

— युगवीर

विधि क्या कर सकता है ?

विधि क्या कर सकता है ?
उनका, जिनकी निराशता आशा।
भय - काम - वश न होकर,
जगमे स्वाधीन रहते जो ॥

— युगवीर

मेरी भावना

अपने इतिहास और अनुवादोंके साथ

मुख्तारश्री जुगलकिशोरजी 'युगवीर' की सुप्रसिद्ध रचना 'मेरी भावना' अबतक सैंकडो संस्करणो-द्वारा लाखो की तादादमे छप चुकी है। वह इतनी लोकप्रिय हुई है कि अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती, मराठी, कनडी, बगला और संस्कृत आदि अनेक भाषाओमें उसके अनुवाद होचुके है। अनेक लिपियोमे वह छप चुकी है। मुख्तार साहबकी ओरसे उसके छपानेके लिये कोई खास प्रतिबन्ध न होनेके कारण वह चाहे जिसके द्वारा छोटी पुस्तिका, ट्रैक्ट, चार्ट, कार्ड, कैलेण्डर आदि अनेक रूपोमे छपाई गई है। मन्दिर-मकानो की दीवारो, खिडकियोके काचो तथा पर्दो आदिपर भी अंकित की गई है, और अगणित सग्रह-ग्रन्थो तथा पत्रोमे उसे अपनाया गया है। फोनोग्राफके रिकार्डोमे भी वह भरी गई है। रेडियो-द्वारा भी अनेकबार उच्चरित हुई है। लाखोकी संख्यामे देशी-विदेशी जनता उसका नित्य पाठ करती है। अनेक स्कूलो, विद्यालयो, पाठशालाओ और सभा-सोसाइटियोमे वह प्रारम्भिक प्रार्थनादिके रूपमे बोली जाती है। कुछ मिलो के मजदूर भी उसे काम प्रारम्भ करनेसे पहले मिलकर बोलते है। इससे उक्त भावनाकी लोकप्रियता एव महत्ताको बतलानेकी जरूरत नही रहती।

ऐसी लोकोपकारिणी भावनाका उत्तम कागजपर एक विशिष्ट संस्करण निकालनेके लिये हालमे वीरसेवा-मन्दिर सरसावाने अपना विचार स्थिर किया है। इस संस्करणमे 'मेरी भावना'के निर्माणका और उसके प्रचार तथा प्रसारका पूरा इतिहास रहेगा। साथ ही, वे सब अनुवाद भी रहेगे जो अनेक भाषाओमे अबतक मुद्रित या प्रस्तुत हो चुके है। अत 'मेरी भावना'के प्रेमियो, अनुवादको, प्रकाशको और प्रचारकोसे सादर निवेदन है कि वे कृपया इस भावनाके उन सब संस्करणोंमे वीरसेवा-मन्दिरको शीघ्र ही परिचित कराएँ जिन्हे उन्होंने प्रकाशित किया-कराया हो अथवा जो उनके परिचय मे आए हो। किसी भी संस्करणकी सूचना भेजते समय उसके साथ (१) संस्करणकी प्रति-संख्या, (२) प्रकाशकका नाम-पता, (३) प्रकाशित करानेवालेका नाम-पता, (४) प्रकाशनका सन्-सवत् और (५) मूल्य, (यदि कुछ हो) इन सब बातोकी सूचना रहनी चाहिये और सबसे अच्छी बात तो यह होगी कि उस-उस संस्करणकी एक-एक प्रति ही वीरसेवा मन्दिर सरसावाको भेज दी अथवा भिजवा दी जावे। जिन पुस्तको, पत्रो अथवा ग्रन्थ-सग्रहो मे 'मेरी भावना'को पूर्णरूपसे उद्धृत अथवा सग्रहीत किया गया है उनके तथा प्रकाशकोके नामादिक भी प्रकाशन-वर्ष, प्रति-संख्या और मूल्यके साथ आने चाहिये। इस भावनाके प्रचार और उपयोग-विषयकी अन्य कोई खास सूचना यदि वे दे सके तो उसे भी देना चाहिये, जिससे यह मालूम हो सके कि कहाँपर किस प्रकारसे वह उपयोगमे लाई गई अथवा लाई जाती है।

जो सज्जन 'मेरी भावना'के पृथक् संस्करणो, सग्रह-ग्रन्थो और अनुवादोकी एक-एक प्रति वीरसेवामन्दिरको शीघ्र निम्न पते पर भिजवाएँगे तथा उक्त परिचयादिके भेजनेमे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे उनके शुभ नाम प्रकाशको आदि के नामोके साथ पुस्तकके इस विशिष्ट संस्करणमे दिये जावेंगे और उन्हे इस संस्करण की एक-एक प्रति भी भेट की जायगी।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रंथमाला'

सरसावा, जि० सहारनपुर

संशोधन

गत किरणके ८१वें पृष्ठ कालम द्वितीय की ३०वी पक्तिमे जो 'जितशत्रु या जितारि' छपा है उसमे 'या जितारि' के स्थान पर पाठक (जितारिपुत्र) ऐसा ब्रेकटके भीतर पाठ बनालेने की कृपा करें — **प्रकाशक**

वीरसेवामन्दिरके चौदह रत्न

(१) **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि-ग्रन्थोमें उद्धृत दूसरे प्राकृत पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी गवेषणापूर्ण महत्त्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए, डी. लिट के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन उपाध्याय एम. ए, डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से विभूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द ... ... १५)
(प्रस्तावनादिका अलगसे मूल्य ५ रु)

(२) **आप्तपरीक्षा**—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञसटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा-द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य प० दरबारीलालके हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द .. .. ८)

(३) **न्यायदीपिका**—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य प० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द ... ... ५)

(४) **स्वयम्भूस्तोत्र**—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्द-परिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्त्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित। ... .. २)

(५) **स्तुतिविद्या**—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्त्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत, सुन्दर जिल्द-सहित। ... .. १।।)

(६) **अध्यात्मकमलमार्तण्ड**—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। .. .. १।।)

(७) **युक्त्यनुशासन**—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। .. १।)

(८) **श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र**—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्त्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। .. ।।।)

(९) **शासनचतुस्त्रिंशिका**—(तीर्थ-परिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३वी शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। .. .. ।।।)

(१०) **सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ**—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणों का महत्त्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। .. .. ।।)

(११) **विवाह-समुद्देश्य**—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन .. ।।)

(१२) **अनेकान्त-रस-लहरी**—अनेकान्त जैसे गूढ गंभीर विषयको अतीव सरलता से समझने-समझाने की कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। .. .. ।)

(१३) **अनित्यभावना**—श्रीपद्मनन्दी आचार्यकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। .. .. ।)

(१४) **तत्त्वार्थसूत्र** (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त .. ।)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालो को ३७।।) की जगह ३०) मे मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
सरसावा, जि० सहारनपुर।

Regd. No. D-211

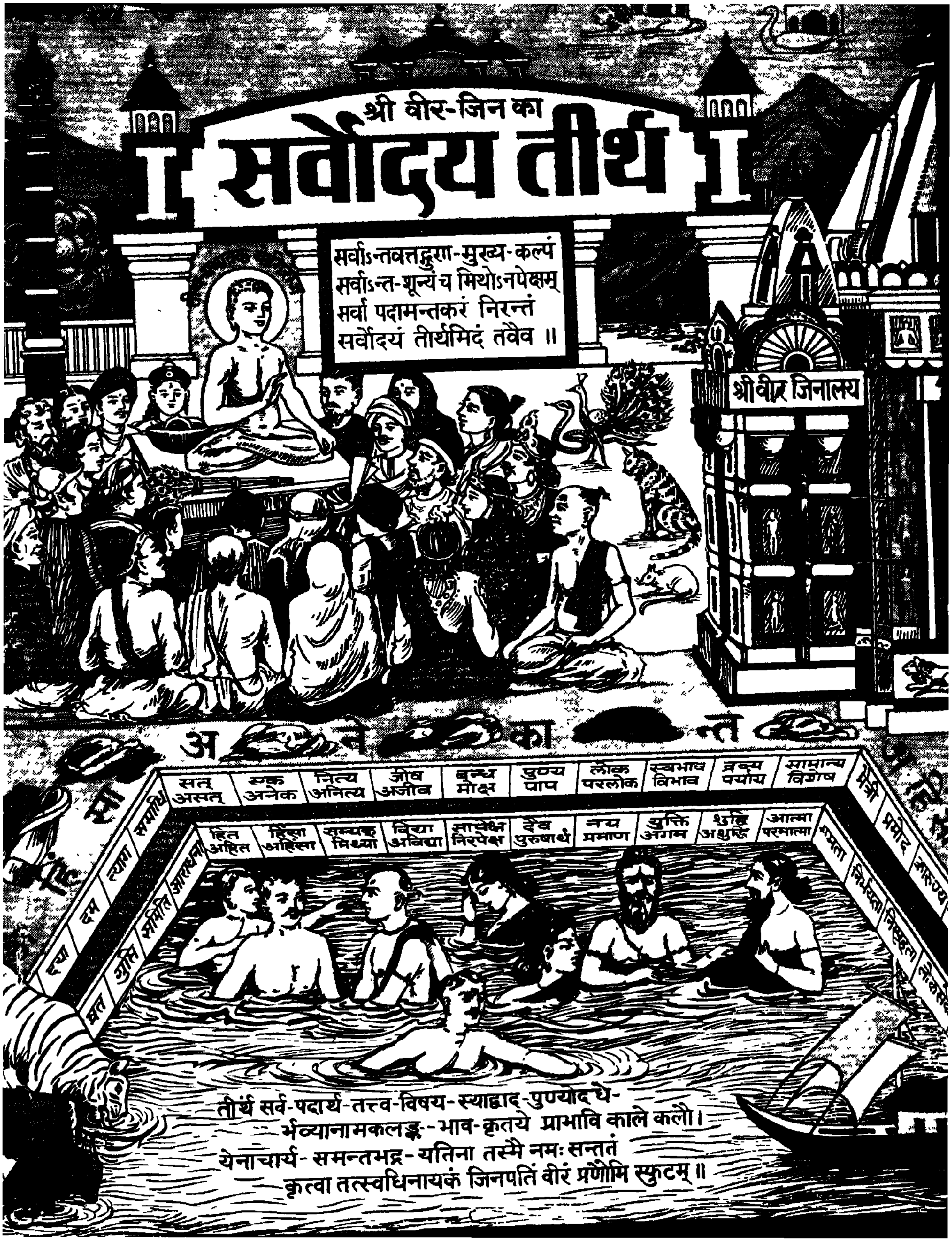
अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

अनेकान्त पत्रको स्थायित्व प्रदान करने और सुचारू रूपसे चलानेके लिये कलकत्ता-में गत इन्द्रध्वज-विधानके अवसर पर (अक्तूबरमें) संरक्षकों और सहायकोंका एक नया आयोजन हुआ है। उसके अनुसार २५१) या अधिकको सहायता प्रदान करने वाले सज्जन 'संरक्षक' और १०१) या इससे ऊपरको सहायता प्रदान करने वाले 'सहायक' होते हैं। अब तक 'अनेकान्त' के जो 'संरक्षक' और 'सहायक' बने हैं—उनके शुभ नाम निम्न प्रकार हैं।

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन "
२५१) बा० सोहनलाल जी जैन "
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदास जी "
२५१) बा० ऋषभचन्द्रजी (V.R.C.) जैन "
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी "
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी "
२५१) सेठ बल्देवदासजी जैन "
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल "
२५१) सेठ सुआलालजी जैन "
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी "
२५१) सेठ मांगीलालजी "
२५१) सेठ शान्तिप्रसाद जी, जैन "
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्द्रजी, जैन कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमल जी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्द्र जी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलाल जी जैन, फीरोजाबाद
२५१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाचकम्पनी, देहली
२५१ ला० परसादीलालजी पाटनी, महामंत्री, दि० जैन महासभा, देहली
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्द्रजी जैन सरावगी "
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी "
१०१) बा० काशीनाथ जी, कलकत्ता "
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी "
१०१) बा० धनंजयकुमारजी "
१०१) बा० जीतमलजी जैन "
१०१) बा० चिरंजीलाल जी सरावगी "
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैनसमाज, कलकत्ता

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्द जैन शास्त्री C/O धूमीमल धरमदास, चावड़ी बाजार, देहली। मुद्रक—नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, देहली।


श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
अनेकान्त
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
मैत्री
प्रमोद
समता
समाधि
आराधना
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
भव्यानामकलङ्क--भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

अनेकान्तको प्राप्त सहायता

गत दूसरी किरण मे प्रकाशित सहायताके बाद जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमश निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र है:—

२५) ला० मुन्शीलालजी कागजी चावडी बाजार, देहली ने अपने महिने ५ ग्राहकों को एक वर्ष तक अनेकान्त फ्री भिजवाने के लिये।

२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी मालिक हिन्दी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, हीराबाग पो० गिरगाव, बम्बई।

५) चि० सुरेशचन्द्रजी व स्नेहलता के विवाहोपलक्षमें प्राप्त मैनपुरीमे

५५)

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक' तथा 'सहायक' बनना और बनाना।

(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।

(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरोंपर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।

(४) अपनी ओरसे दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।

(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५),५०)आदिकी सहायता भेजना। २५) की सहायतामें १०को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।

(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि-सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंटस्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता:—

मैनेजर 'अनेकान्त'

वीरसेवामंदिर, सरसावा जि० सहारनपुर।

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)



इस किरणका मूल्य ।।।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११	वीरसेवामन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर	मई
किरण ३	ज्येष्ठ कृष्णा, वीर-संवत् २४७८, विक्रम-संवत् २००९	१९५२

चतुर्विंशति जिनस्तोत्र

यह स्तोत्र जैनियोंके चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवन-स्वरूप रचा गया है। रचना सुन्दर एवं सरल और यमकालंकारको लिये हुए है। इस स्तोत्रकी एक सटिप्पण प्रति मुझे पंचायती दि० जैन मन्दिर खजूर मस्जिद देहलीसे प्राप्त हुई है। इसके रचयिता भट्टारक जिनचन्द्र है यद्यपि भ० जिनचन्द्रने इस स्तोत्रमें अपने गुरुका कोई नामोल्लेख नही किया, किन्तु अन्यसूत्रोसे उनके गुरु पद्मानन्दी ज्ञात होते है। जो मूलसंघस्थित नन्दीसंघ, बलात्कारगण और सरस्वति गच्छके विद्वान भट्टारक पद्मनन्दिके प्रशिष्य और भट्टारक शुभचन्द्रके शिष्य जान पडते है। यह संभवत: हिसारकी गद्दीके भट्टारक थे; क्योकि हिसारकी पट्टपरम्परामें इनका नाम अंकित है। इनके अनेक विद्वान शिष्य थे, उनमें पं० मेधावी प्रधान थे जिन्होंने 'धर्मसंग्रह श्रावकाचार'की रचनाको हिसारमें प्रारभ करके नागौरमें संवत् १५४१में कुतुबखानके राज्यकालमें बनाकर समाप्त किया है। इनके दो शिष्य और भी थे, ब्रह्मनरसिंह और ब्रह्म तिहुणा। ब्रह्म तिहुणाने जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और पंचसग्रह नामके ग्रंथोंको उक्त पंडित मेधावीके उपदेशोंसे संवत् १५१८में लिखकर उक्त पंडितजीके लिये अपने ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थ प्रदान किया था। जिनचन्द्र नामके कई विद्वान हो गए हैं। परन्तु यह उन सबसे भिन्न प्रतीत होते हैं। इनका समय विक्रमकी १५वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और १६वी शताब्दीका पूर्वार्ध है। इन्होंने अन्य किन-किन ग्रंथोंकी रचना की है, यह कुछ ज्ञात नही हो सका। पर यह अपने समयके सुयोग्य विद्वान भट्टारक थे।

—परमानन्द शास्त्री

श्री नाभिराज तनुजः सदया[१] विहारो, देवोऽजितो जयतु कौ[२] सदवा[३] विहारः ।
श्री शंभवो हृतभवोदित[४] सारसारः, श्री ह्यभिनंदन जिनोऽदित[५] सारसारः ॥ १
दिष्टांत[६] कोपि सुमति. कृत गोविचारः पद्मप्रभोऽस्तु च मुदे कृत-गोविचारः ।
श्रीमान्सुपार्श्व इहरो[७] मुदिता[८] सुराजिश्चंद्रप्रभो गतमदा[९] ऽमुदिता सुराजिः ॥२
सज्ञानभास्करनुताऽमर पुष्पदंत[१०], श्रीशीतलेशधुत-चामर-पुष्पदंत ।
श्रेयन्जयेश वर वृत्त[११] मही कृतांत, श्री वासुपूज्य जिन[१२] वृत्त मही कृतांत[१३] ॥३
देवाधिदेव विमलां परतीर्थं तीर्थं, स्वामिन्ननंत विधुता ऽपरतीर्थं तीर्थं ।
श्रीमन्जयप्रकटितामलधर्म धर्म्मं, शांते जयेश धुत[१४] शामलधर्म्म धर्म्मं ॥४
कुंथो जयेश धुत[१५] -भू-सुख-गाज-वाज, नाथार धूतनिधिभूसुख-गाज-वाज ।
मल्ले कुमारमुनिसूरविराम[१६] राम, श्री सुव्रतेश नुत-मार[१७]-विराम-राम ॥५
स्वामिन्नमीन जय भाजित[१८] मार-मार, नेमेयताद्रि विधुताऽजित मार[१९] मार ।
श्री पार्श्वनंद जगती[२०] भगवर्द्धमान, सिद्धार्थनदन सना[२१] भगवर्द्धमान ॥६
ज्ञानो प्रहेति कृत संभव-पाशनाशा-वैदग्ध वग्धरतलोभव-पाशनाशाः ।
मर्त्याऽमरेन्द्र पटली जिनचंद्रपूज्याः कुर्वन्तु मंगलमिमे जिनचन्द्रपूज्याः ॥७
उद्धूत-मोहरस संगततारकाराः वृषभवत्यऽनंत भगतागततारकाराः ।
सौख्याब्धि-भंग-विदलज्जिनचन्द्रपादा कुर्वन्तु मंगलमिमे जिनचन्द्रपादाः ॥८
यद्धयानतो भवति ना रतिहा सदंभा निर्म्मूलिताऽखिलवधूरतिहासदंभा. ।
प्रह्वी भवन्मनुजराजिनचन्द्रदेवाः कुर्वन्तु मंगलमिमे जिनचन्द्रदेवाः ।।९
विख्यातक विदितबंधरसावतारं, संसारवासविरलं हृतकांडभूतं ।
वंदे नवं ववनकंजऽधुताऽकसाधुं भिन्नं जिनं भिदऽजिरं भवहारभाव ॥१०

इति श्री भट्टारक जिनचन्द्रदेव कृत स्तोत्रम्

---

१. दयया कृपया सह विहारो विहरणं गमनं यस्यासौ—— २. पृथिव्यां—— ३ सत् समीचीनं अहोभाग्यं सदयः वि विशिष्टो हारः आभरण विशेषः विहारः न विद्यते विहारो यस्यासौ अविहारः——४. दित खंडितं सा लक्ष्मीः रसः भोगः तयोः आरं चक्रं समूहं येनासौ । ५. अदित भक्षित सारस्य बलस्य वीर्यस्य सारं रहस्यं येनासौ वीर्यात् तपश्चरणं कृतवान् इत्यर्थः । ६. दिष्टो प्रेरित अतको यमो येन । पक्षे दिष्टं भाग्य पुण्य पाप रूपं तयोः अंतक. नाशकः इति सुमतिः ७. इः कामः तं सरतीति इ हर. कामनाशक । ८. मुदिता हर्षनीता असूनां प्राणिना राजि. पंक्तिः येनासौ । ९. गता गतौ मुदाऽमुदौ हर्ष विषादौ यस्मात् सा अथवा गता हर्षविषादयो. आशु शीघ राजि ते······यस्मात् । १०. पुष्पाकरौ दंता यस्य तस्य संबोधः धुतानि वीजितानि चामराणि पुष्पदताभ्या चन्द्रसूर्याभ्या यस्या सौ तस्य सम्बोधनं । ११. भो उत्तम चारित्र । १२. वृतः प्रवर्तितो मह्यां पृथ्वीतले कृतातः भिद्धातो येनासौ तस्य सम्बोधनं । १३. मह्या कृतः अंतो निश्चयो येना सौ तस्य सम्बोधनं । १४. धुत स्फेटित शामल धर्म मिथ्या धर्मो येना सौ तस्य सम्बोधनं । १५. धुतं स्फेटितं भू सुखासुखयोः भूमिआकाशयोः गच्छतीति भूसुखगाः तेषां अजा अजस्य कामस्य वाजो वेगो येनासौ तस्य सम्बोधनं । १६. भो विरामराम रामायाः अंगनायाः विरामो यस्या सौ तस्य सम्बोधनं । १७. मारः कामः विरामः विगतरामः गणधर देवादिः रामः बलभद्रः मारश्च विरामश्च रामश्च मारविरामरामाः नुताः नम्रीभूताः मारविरामरामः यस्य तस्य सम्बोधनं । १८. भया दीप्तयाजित कार लक्ष्मी 'र' मगलं येन तस्य सम्बोधनं । १९. मारस्य कामस्य मारा वाणाः मारमाराः अजतानि च तानि मार माराणि च अजितमारमाराणि धुतानि स्फेटितानि अजितमारमाराणि येनासौ तस्य सम्बोधनं—२०. जगत्यां भगेन भागेन वर्द्धमानः जगती भगवर्द्धमानः तस्य सम्बोधनं । २१. सना नित्यं भगेन ज्ञानेन वर्द्धमानः तस्य सम्बोधनं ।

समन्तभद्र-वचनामृत

(३)

स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन धर्मशास्त्रमे धर्मके अंगभूत सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रतिपादन करते हुए उसे 'त्रिमूढा पोढ' विशेषणके द्वारा तीन मूढो अथवा मूढताओसे रहित बतलाया है। वे तीन मूढ या मूढताएँ कौन है और उनका स्वरूप क्या है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी स्वय लिखते है :—

आपगा-सागर-स्नानमुच्चय : सिकताऽश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्चलोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

(लौकिक जनोके मूढतापूर्ण दृष्टिकोणका गतानुगतिक रूपसे अनुसरण करते हुए, श्रेय· साधनके अभिप्रायमे अथवा धर्मबुद्धिसे) जो नदी-सागरका स्नान है, बालूरेत तथा पत्थरोंका स्तूपाकार ऊँचा ढेर लगाना है, पर्वतपरसे गिरना है, अग्निमे पड़ना अथवा प्रवेश करना है, और इसी प्रकारका और भी जो कोई काम है वह सर्व 'लोक मूढ' कहा जाता है।'

वरोपलिप्सयाऽऽशावान् राग-द्वेषमलीमसा: ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

'आशा-तृष्णाके वशीभूत होकर वरकी इच्छासे—वाछित फल प्राप्तिकी अभिलाषासे—राग-द्वेषसे मलिन—काम-क्रोध-मद-मोह तथा भयादि दोषोसे दूषित-देवताओकी—परमार्थत देवताभासोकी—जो (देवबुद्धिसे) उपासना करना है उसे 'देवतामूढ' कहते हैं।'

सग्रन्थाऽऽरम्भ-हिंसानां संसाराऽऽवर्त-वर्तिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डि-मोहनम् ॥२४॥

'जो सग्रन्थ है—धन धान्यादि परिग्रहसे युक्त है—आरम्भ सहित है—कृषि वाणिज्यादि सावद्य कर्म करते हैं—हिसामे रत है, ससारके आवर्तोंमें प्रवृत्त हो रहे है—भवभ्रमणमें कारणीभूत विवाहादि कर्मो द्वारा दुनियाके चक्कर अथवा गोरखधन्धेमें फँसे हुए है—ऐसे पाखण्डियोका—वस्तुत: पापके खण्डनमे प्रवृत्ति न होनेवाले लिंगी साधुओं का—जो (पाषण्डि साधुके रूपमें अथवा सुगुरु बुद्धिसे) आदर-सत्कार है उसे 'पाषण्डिमूढ' समझना चाहिये।'

इन सब मूढताओंसे रहित होनेके कारण सम्यग्दृष्टि 'अमूढ दृष्टि' कहलाता है। सम्यग्दर्शनके आठ अगोंमें भी 'अमूढ दृष्टि' एक अग है। उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हुए स्वामीजी कहते है :—

कापथे पथि दु:खानां कापथस्थेऽप्यसम्मति ।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥१४॥

दु:खोके मार्गस्वरूप कुमार्गमे—भव-भ्रमणके हेतुभूत मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान–मिथ्याचरित्रमें—तथा कुमार्गस्थित-में—मिथ्यादर्शनादिधारक तथा प्ररूपककुदेवादिकोंमें—जो असम्मति है—मनसे उन्हे कल्याणका साधन न मानना है—असम्पृक्ति—कामकी किसी चेष्टासे उनकी श्रेय साधना जैसी प्रशसा न करना है—और अनुत्कीर्ति है—वचनसे उनकी तद्विषयक स्तुति न करना है—उसे अमूढा-दृष्टि कहते है।

भावार्थ—दु:खोंकी प्राप्तिके उपाय स्वरूप मिथ्या-दर्शनादिककी और मिथ्यादर्शनादिके धारकों—पोषकोंकी जो मन-वचन-कायसे आत्मकल्याण—साधनरूपसे प्रशसादिक न करना है उसे सम्यग्दर्शनका 'अमूढदृष्टि अग' कहते है।

इन सब बातोको लक्ष्यमें रखते हुए स्वामीजी सम्यग्-दृष्टिके विशेष कर्तव्यका निर्देश करते हुए लिखते है —

भयाऽऽशा-स्नेह-लोभाच्च कुदेवाऽऽगम-लिङ्गिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्यु. शुद्धदृष्टय ॥३०॥

शुद्ध सम्यग्दृष्टियोको चाहिये कि वे (श्रद्धा अथवा मूढदृष्टिसे ही नही किन्तु) भयसे—लौकिक अनिष्टकी सम्भावनाको लेकर उससे बचनेके लिये—आशासे—भविष्य-की किसी इच्छापूर्तिको ध्यानमे रखकर—स्नेहसे—लौकिक प्रेमके वश होकर—तथा लोभसे—धनादिकका कोई लौकिक लाभ स्पष्ट सधता हुआ देखकर—भी कुदेव-कुआगम-कुलिंगियोको —उन्हें कुदेव-कुआगम-कुलिंगी मानते हुए भी—प्रणाम (शिरोनति) तथा विनयआदि—अभ्युत्थान हस्तांजलि आदिके रूपमें आदर-सत्कार न करें।

व्याख्या—कुदेवादिकोंको प्रणामादिक करनेसे अपने निर्मल सम्यग्दर्शनमें मलिनता आती है और दूसरोंके सम्यग्दर्शनमें भी ठेस पहुंचती है तथा जो धर्मसे चलायमान हों उनका स्थितिकरण भी नहीं हो पाता। ऐसा करनेवालोंका अमूढ़दृष्टि तथा निर्मल होना उनकी ऐसी प्रवृत्तिको समुचित सिद्ध करनेके लिये कोई गारण्टी (प्रमाणपत्र) नहीं हो सकता। इन्हीं सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर तथा सम्यग्दर्शनमें लगे हुए चल-मल और अगाढ़ दोषोंको दूर करनेकी दृष्टिसे यहाँ उन देवों, आगमों तथा साधुओंके प्रणाम विनयादिकका निषेध किया गया है जो कुछ धर्मका झंडा उठाए हुए हैं उनके उपासक जनसाधारणका—जैसे माता-पिता, राजादिकका—जोकि न देव हैं और न लिंगी, यहां ग्रहण नहीं है। और इसलिए लौकिक व लोक व्यवहारकी दृष्टिसे उनको प्रणाम-विनयादिक करनेमें दर्शनकी म्लानताका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार भयादिककी दृष्टि न रखकर लोकानुवर्तिविनय अथवा शिष्टाचारपालनके अनुरूप जो विनयादिक क्रिया की जाती है उससे भी उसका कोई सबन्ध नहीं है।

'युगवीर'

गरीबका धर्म

(बा० अनन्त प्रसाद B. Sc. Eng. 'लोकपाल')

हमारे इस संसारमें गरीब भी है अमीर भी हैं। अधिक संख्या गरीबोंकी ही है। देशोंमें भी धनी देश और गरीब देश हैं और व्यक्तियोंमें तो हैं ही। भारतकी गिनती भी और दूसरे एशियाई एवं अफ्रीकी देशोंके समान ही एक गरीब देशमें की जाती है। गरीब वह कहा जाता है जिसे भरपेट पूरा भोजन समयानुकूल न मिल सके, पहननेको साफ-सुथरे जरूरतमुताबिक कपड़े न हों, रहनेके लिए एक स्वस्थ मकानका अभाव हो और ज्ञानोपार्जनकी सुविधा न हो। भारतमे तो गरीब लोग है ही, अमेरिका और इंगलैंडमें भी गरीब है। हां, भारतकी गरीबीका मापदण्ड इनसे भिन्न है। भारतमें तो जिस कुटुम्बके पास दोनों समय भर पेट भोजनकी सुविधा सामान हो, पहननेके लिए या तन ढकनेलायक इतने कपड़े वह खरीदकर बनवा सके जो बराबर साफ रखे जा सकें एवं एक छप्परदार साधारण मकान हो तो ऐसा कुटुम्ब मध्यम वर्गीय कहा जाता है। पर अमेरिकामें जिस फैमिलीमें कम-से-कम एक मोटरकार न हो उसे गरीब कहते हैं। हमारे यहाँ तो अच्छे-अच्छे धनी भी कंजूसीके मारे मोटरकार नहीं रखते तो अमीरोंके लिए तो असंभव है ही।

उन पश्चिमीय देशोंकी तुलनामें जो आज उन्नतिशील कहे जाते है भारत पिछड़ा देश समझा जाता है। ज्ञानमें, विज्ञानमें, सरोसामानमें सभीमें पिछड़ा। हमारे जीवन-स्तरका औसत इतना नीचा है कि आजकी प्रगतिशील दुनियाँमें जहाँ हर जगह हर बातमें होड़ाहोड़ी लगी हुई है हमें पग-पगपरकठिनाइयाँ बाधा उपस्थित कर आगे बढ़ने नहीं देती। सबसे बड़ी कठिनाई हमारी धार्मिक सकुचितता और वर्ण-व्यवस्थामे उत्पन्न जाति-पांतिके भेद-भावों एवं कटुताओंके कारण ही पैदा होती रहती है।

धर्मका शुद्ध स्वरूप क्या है, धर्म किसे कहते हैं और कर्तव्यमे और धर्ममे क्या भेद है हमने भुला दिया है। वस्तुका स्वभाव ही धर्म है। जबतक कोई वस्तु या व्यक्ति अपने स्वभाव एवं निर्माणकी मर्यादाके अंदर आचरण या व्यवहार करता है तो वह धर्ममय कहा जा सकता है बाकी अधार्मिक। अब प्रश्न यह उठता है कि किसका स्वभाव क्या है एवं निर्माणात्मक मर्यादा क्या है? यही नही जानने ही से वे सारी गलतियाँ होती है जिन्हें हम जान-बूझकर करते है—अनजानमें जो होती है वह तो है ही। पर जानकारी सभीको तो होती नहीं। बेजान वस्तुएं भी ससारमें है, जानदार पशु पक्षी भी हे और मनुष्य भी। इनमें हम पाते हैं कि बेजान वस्तुएं और अधिकतर पशु पक्षी एवं कृमि कीट सभी सर्वदा स्वभावानुकूल ही आचरण करते हैं। केवल एक मनुष्य ही ऐसा है जिसके लिए कोई सीमा नहीं दीखती। ऐसा क्यों? केवल इसीलिए कि मानवमें मनयुक्त विकसित बुद्धिका आवास है? पर यह तो ठीक उलटी बात है। यही विडम्बना है इसीलिए न जाने किस प्राचीन कालसे ज्ञानी महापुरुष तरह-तरहकी व्यवस्थाएं

बनाते आये और उपदेश देते आए---पर आज भी हालत कुछ सुधरी नहीं दीखती---बल्कि ज्यों-ज्यों "उन्नति" होती जाती है मानव अधिकाधिक निरंकुश या विनाशवादी होता जाता है। और सीमाओंसे बाहर चलता जाता है। हानि भी उठाता है। पर इसकी उसे पर्वा नहीं। वह तो मोहित-सा हो रहा है।

देशो और व्यक्तियोंकी गरीबीके बावजूद भी ज्ञानका विकास तो होता ही जाता है--फिर भी आजका मानव अबतक यह नही स्थिर कर पाया कि मानवोचित क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य। भिन्न-भिन्न धर्मो और धर्म-गुरुओंने अपनी-अपनी खिचड़ी, अलग पकाकर लोगोंको और अधिक भ्रममें डाल रखा है। कोई मानव-हिंसाको वर्जित करार देकर पशु-हिंसामें कोई बुराई नही मानता तो दूसरा दोनोंको पाप कहते एवं मानते हुए और समझते हुए भी हरतरहकी हिंसामें लगा हुआ है। यही हालत जन-जीवनके सभी विभागो, संस्थाओ, पहलुओं, संगठनों, स्थानों और संस्थानोंमें हो रही है। उपदेशक लोग अबभी अपनी-अपनी ढापली बजाए ही जाते है। ऐसी *अव्यवस्था और अवहेलना क्यों? उपदेशोंका असर लोगो* पर क्यो नही होता? धनी पर भी नही और गरीबपर भी नही।

प्राचीनकालमे एक-एक छोटे-छोटे गाव, नगर या राजतंत्र स्वावलंबी होते थे और अपनी अधिकतर आवश्य-कताए स्वय पूरी कर लेते थे। गरीबी तब भी थी अब भी है। पर उस समय यातायातका साधन विकसित नही होनेसे ऐसे गांवो, नगरो या मडलोकी अपनी-अपनी दुनियां ही अलग-अलग खास सीमाओसे सीमित हुई सी बन गई थी। कोई उपदेशक या धर्मगुरु शिष्योंकी जमात *लिए कही पहुंचकर मशहूर हो जाता था और फिर* उसके उपदेशोंका बडा प्रभाव पडता था। इतना ही नही, राजाओं या प्रमुख विद्वानो और पडितोंको अपने प्रभावमे लाना *उस समय अधिक सहल था। एक दफा कोई राजा या* किसी नगरका प्रमुख व्यक्ति एव पंडित या विद्वान जब किसी ऐसे उपदेशकके प्रभावमे आजाता था तो उसकी शिक्षाओको जन-साधारणमें फैलनेमें देर नहीं लगती थी। अब आधुनिक कालमें वह बात नहीं रही। आज-कल तो प्रचारका प्रमुख साधन रेडियो भी सरकारोंके ही हाथमे है---वे जैसा जो कुछ चाहते है देश या संसार-में फैलाते हैं। भारतीय रेडियो तो अब भी वही मध्य-कालीन कथा-कहानियां बाराबार प्रसारित कर लोगोंकी अंध श्रद्धा एवं धर्मांधताकी वृद्धि ही करता है। यह एक स्वतंत्र देशके लिए बड़ी भारी विडम्बना है जो प्रगति-शीलताका दावा करते हुए इस तरह अपने देशके प्रचार-यन्त्र द्वारा ही बराबर अंधकारकी तरफ ही देशको ढकेलता है।

यों भी धर्म या धार्मिक उपदेश उसीपर अधिकतर असर करते हैं जो हर तरह संतुष्ट और निश्चिन्त हैं। त्याग भी उसीके लिए है जिसके पास कुछ त्याग करनेको हो। गरीब भूखा तो सर्वदा भूखसे पीड़ित, अभावसे संत्रस्त और संसारकी प्रगतियोंसे बेहोश या अनजानसा ही है---उसे पहले भोजन चाहिए, फिर दूसरा कुछ। हम उपदेश देते हैं---अहिंसाका आचरण करो, सत्य बोलो, दूसरोंकी भलाई करो। भला एक गरीब, पतित, अज्ञानपर इनका क्या प्रभाव पड सकता है? इतना ही नहीं अधिकतर उच्च वर्गीय कहलानेवाले व्यक्ति या पंडितगण अपने उच्चताके अभिमानमें ऐसोंको नीच ही नही गिनते बल्कि कड़ी घृणा करते है और हर तरहके ओरदार तर्कों (अतर्क, कुतर्क और भ्रमात्मक तर्क) द्वारा ऐसे लोगोंको शुद्ध, उच्च और पवित्र नही होने देना चाहते न उन्हे अच्छा उत्तम नागरिक बननेके अधिकार ही देना पसन्द करते है। कहते है मंदिर गन्दे हो जायेंगे, मूर्तिया अपवित्र हो जायेंगी। भला यह भी कोई दलील है? कोरा घमड और घृणाका नंगा स्वरूप मात्र! उन्हे पवित्र-अपवित्र और शुद्ध-अशुद्धका सच्चा भान ही नही, भले उन्होने बडी सी विद्या पढ ली हो पर उससे क्या, वह फिर भी दूषित ही कही जायगी। यदि मानव "समानता" और "समता" के भाव उनमें नहीं हुए या नही रहे तो मंदिर, मन्त्र और मूर्तियां बनी ही इसलिए है कि अशुद्ध और अपवित्र शुद्ध और पवित्र हो जाय। यदि उलटे मन्त्र और मूर्ति ही उनके स्पर्श या दर्शन-*मात्रसे अशुद्ध और अपवित्र हो जायं तो ऐसे मंत्रों और* मूर्तियोंको क्या करना चाहिए। कोई समझदार स्वयं सोच कर कह सकता है। क्या यह पाखंड या ढोंग नही है? *यह मंत्रों और मूर्तियोंका अपमान है। पर असलमें मूलतः,* सारा दोष उस पूंजीवादी व्यवस्थाका है जहां ऊँच-नीच, छूत-अछूत, धनी-गरीब, इत्यादि भेद-भाव बनाए रखना इसलिए आवश्यक है कि कुछ लोग बाकियोंके ऊपर अपना प्रभुत्व

अक्षुण्ण रख सकें, धनी बने रहें और दूसरा गरीब रहकर, अछूत रहकर उनकी गुलामी करता रहे, उनके अत्याचार सहता रहे।

आज हम क्या पाते है ? तीर्थंकरों, मुनियों, धर्माचार्यों और लाखों उपदेशको और सन्तोंने न जाने किस प्राचीन-कालसे अबतक लोगोंको उपदेश दिया—स्वय आचरण करके, कष्ट सहकर, अपनी बलि देकर उदाहरण उपस्थित किया पर कितने व्यक्तियोंने अपनी सम्पत्ति छोड़ी और लोगोंमें बांट दी ? और कितने समयतक उनका प्रभाव रहा ? आज हर तरफ लूट और शठताका बाजार गर्म है। पुराने उपदेश तो है ही नए-नए हर क्षण निकलते ही रहते हैं—सन्तोंकी कमी अब भी नही। पर क्या धनियोने अपना धन त्यागकर अपने पड़ोसियोंकी बराबरी कभी धारण की ? या केवल अपने कुटुम्ब परिवारके समुचित भरण-पोषणलायक रखकर बाकीको "सर्वोदय" के लिए लगा दिया हो ? ऐसे उदाहरण भी कही-कही मिलते है पर कही करोड-दस-करोड़ व्यक्तियोंमें एकाध ही—उससे क्या होगा—महासागरको भरनेके लिए एक अंजुली बालू ! जबतक संसारमें धन ही प्रभुता, सुख, शक्ति इत्यादिका मापदंड या दाता रहेगा, लोग हर उपायोंसे संचय करना नही छोड़ेंगे फिर त्यागका सवाल ही कहां उठता है ? संसारसे दुःख, दरिद्रता और गरीबी मिटानेके लिए उपदेश और दानसे काम नही चलनेका। यह तो कोई काम सामूहिक रूपसे, सरकारोंकी ओरसे और दबावयुक्त होनेसे ही देशों, समाजों और व्यक्तियोंमें अधिकाधिक "समानता" या "समता" लाई जा सकती है। जितनी अधिकाधिक "समता" और "समानता" का व्यापक प्रसार होगा। संसारसे असत्य, हिंसा, युद्ध और दुःख दारिद्र्य उतना ही अधिकाधिक दूर होते जायेंगे। लोगोंका ध्यान भी जीवन-यापन की चिन्ताओंसे मुक्त होकर धर्म, परोपकार, सत्य, अहिंसा इत्यादिकी तरफ अपने-आप जायगा।

प्रश्न हो सकता है कि भारत तो गरीब देश है, यहां गरीबोंकी सख्या अधिक होनेसे अच्छे उपदेश कारगर नही होते पर अमेरिका, इगलैण्ड इत्यादि देश तो बड़े ही समृद्धि-शाली है, वहां तो लोग निश्चित है उपदेशोका असर पडना चाहिए था। हां, होना तो ऐसा ही चाहिए था पर वहां सभी लोग संचयात्मक विचार वाले ही है और भारतमे जो त्यागमय शिक्षाओंकी शृंखला या तारतम्यता प्राचीन कालसे चली आती है उसका वहा एकदम ही अभाव है—वहां लोग सच्चे ज्ञानकी खोजमें जोरोंमें लगे हुए है और सच्चे ज्ञान वाले सिद्धान्तों और तत्त्वोंके प्रचारकी वहा सख्त जरूरत है, आधुनिकतम तरीकोंमे उन्हीके देशकी भाषामें जोरोमे प्रचार करनेसे उन्हें जैन सिद्धान्तोंकी वैज्ञानिकताके कारण इसमे दिलचस्पी एव इधर झुकाव अवश्य होगा। हमारे धनिकवर्ग चाहे तो बहुत-कुछ कर सकते है। अभी तो जब भी "समता" या "समानता" का शब्द उनके सामने आता है वे उसे रूसी साम्यवादका "हौवा" समझकर इतना डर जाते है कि फिर सारी सदाशाएं और सद्विचार क्षणमात्रमें हवा हो जाते है। वहा पूजीवादी प्रधान सत्ताका सचालन करनेवालोने इतना भयकर प्रचार कर रखा है कि लोगोके मस्तिष्कको दूसरी तरफ बदलना आसान नही। इगलैण्डकी हालत तो और भी अधिक चिन्ता-जनक है। सच पूछिए तो वर्तमान युगकी सारी ऊंच-नीच कई व्यवस्थाका आधुनिकतम रूप इगलैण्डकी ही देन श्राप-रूपमे संसारके ऊपर हावी है। मनुष्यको धर्म और आत्मा, सत्य और अहिसा इत्यादिकी बाते उसी समय सामूहिक रूपमे हर्षित करेंगी और स्वीकृत होंगी जब उसे जीवन-यापन, कुटुम्ब-परिपालन और वृद्धावस्थाके निर्वाहके प्रश्नो-का समुचित समाधान निश्चितता या बीमा (Assurance or Guarantee) एवं निशंकता हो जायगी। ऐसी हालतमें ही वह "सर्वोन्नति" की ओर सच्चा ध्यान देगा, अपनी भी उन्नति करेगा और समाज एव मानवताका भी उत्कर्ष करनेमे पूर्ण सहायक होगा।

मेरे कहनेका मतलब यह नही कि जबतक ऐसी परिस्थिति या स्थिति न हो जाय लोग चुपचाप बैठे रहें। श्री विनोबाभावे "भूमिदान-यज्ञ" कर रहे है। काफी सफलता भी उन्हे मिल रही है। यही काम यदि आजसे दस वर्ष पहले आरम्भ किया जाता तो उसका कुछ भी फल नहीं निकलता—अब परिस्थितिया बदल गई है एव तेजी-से बदल रही है। फिर भी जिस ध्येयको लेकर यह काम हो रहा है उसके लिए तो वर्तमान व्यवस्था बदलनेसे ही कुछ स्थाई कार्य हो सकता है। यों तो जो लोग अपनी भूमि दे रहे है वे भी अधिकतर यही देखकर दे रहे है कि आगे उसे रखना सभव नही—आज नही तो दो-एक वर्ष बाद सही उन्हें मजबूरन जमीन छोडनी ही पडेगी। इसके अतिरिक्त भी दान देकर दानी तो अपनेको उपकारी एव

सर्वसाधारणसे ऊंचा समझने लगता है। दानकी राशि ही तो पूंजीवादी व्यवस्थाका प्राण है और ऊंच-नीच, धनी-गरीब, दाना-याचककी भावनाओंको बनाए रखनेका प्रमुख आधार या यत्न है। फिर भी एकदम कुछ नहीसे इस तरहकी भूमिदान वर्तमान परिस्थितियोंमें कुछ बुरा नहीं है। कम-से-कम एक लाभ तो है कि लोग अब यह समझते या महसूस करते जारहे हैं कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था एवं रूढियां अब अधिक नही चलेंगी और उन्हें बदलना ही होगा एवं गरीब-अमीरमें अब अधिक भेद या दूरी बनाए रखना देश और संसार दोनोके लिए हानिकारक है।

चीन देशने हमारे सामने एक बडा ही ज्वलत उदाहरण रख दिया है। जहां दुख दैन्य लूट, बेईमानी, भ्रष्टाचारका बोलबाला था वहां अब अधिक-से-अधिक लोग स्वावलम्बी और सत्यशील होते जारहे हैं। माना कि वहा "आत्मा" और ईश्वरमें विश्वास अभी घट गया है—पर यहतो केवल एक प्रतिक्रिया (reaction) मात्र है जो अधिक सुख-संतोष बढनेपर स्वयं धीरे-धीरे दूर हो जायगा। अभीतो वहां भी लोगोंका केवल मात्र एक यही ध्येय है कि कैसे सबका पेट भरे और हजारो वर्षोंके सतापके बाद थाडे आरामको प्राप्ति हो। अभी तो वे उत्पादन और सगठनमे अपनी सारी शक्ति लगानेमे एकदम व्यस्त है उन्हे दूसरी तरफ देखनेकी फुर्सत भी नही। ऊपरसे युद्ध और आसन्न आक्रमणका भय शान्ति और चैनकी सास नहा लेने देता फिर तो आत्मा परमात्माको कौन पूछता है। भारतमे भी तो "आत्मा परमात्मा" की बाते केवल खोखली और भुलावा मात्र रह गई है। जैनियोमे ही कितने करोड़पति पडे हुए है क्या कभी उन्होने अपरिग्रह पर क्रियात्मक विश्वास किया? फिर उनके लिए जैनधर्म और सिद्धान्तोंका प्रतिपादन दिखावा और "छलना" नही तो क्या है? सच्चा जैन तो हम उसे कहे जो "अपरिग्रही" एव "समदर्शी" होनेके मार्गमे अवस्थित हो और आगे बढ़ रहा हो। हम तो ठीक उलटी तरफ चल रहे है। संचय, सचय और अधिक संचय यही हमारा एकमात्र जीवनोद्देश्य बन गया है। हम गरीबों पर दया एवं करुणा करते हैं। पतितों पर घृणा करते हैं—कभी-कभी अनुग्रह भी करते हैं पर हम कभी न उन्हे उठाना चाहते है न उठने देना चाहते है। हम भले ही अपने धर्मको "सार्वभौम" घोषित करें और थोड़ा-बहुत दानवान करके, मंदिर, धर्मशाला इत्यादि बनाकर या कुछ पडित कहे जानेवाले व्यक्तियोंको धनमानसे संतोषितकर अपना "सिक्का" समाज एव ससारमे बनाए रखें पर यह तो न धर्म है न सच्ची मानवता ही।

धनी धनमें व्यस्त है और गरीब अपनी गरीबी और अभावको दूर करनेमें लगा हुआ है। किसे धर्म और उपदेश सुननेकी फुरसत है? हमारे उपदेशकगण तो मूलको पकड़नेकी बजाय एकाध "पत्ते डौगी" तोडताड़ कर ही दुखरूपी और अशान्ति रूपी विष वृक्षका नाश करनेकी बात करते है—भला यह सैकड़ों, हजारों, लाखों वर्षोंमें भी होने का है? उल्टे और बढ़ता ही जायगा जैसा अबतक होता आया है। सत्य, अहिंसा, धर्म, सर्वोदय इत्यादि साधु भावनाओंको फैलाने, कार्यरूपमें व्यापक और प्रभावकारी रूपमें परिणत करनेके लिए सर्वप्रथम जरूरी है सामाजिक एवं राजनैतिक सुधार समुचित रूपसे लाकर गरीबी दूर करना और "समता" एव "समानता" की सस्थापना और संवृद्धि करना। यदि ससारके सारे उपदेशक, दार्शनिक (Philosophers) भ्रम छोड़कर लोगोंको अपनी गलत बातोंके प्रचार द्वारा गलत मार्गपर चलनेसे बचाना चाहे तो उन्हे अपने विचारोंमें सम्यक सुधार करना होगा। मानव-मानवको जन्मसे समान और बराबर मानना एवं बनानेकी चेष्टा करनी होगी तभी ससारमें स्थाई शान्ति भी हो सकेगी और सचमुच सभी सुखी हो सकेंगे। सच्चे अर्थोंमें "सर्वोदय" होगा और लोग निस्पृह एव सत्यवादी और अहिंसक होंगे। तभी जैनधर्मकी भी और संसारके दूसरे सच्चे धर्मोंकी भी सार्थकता कही जायगी।

पटना, ता० २७-३-५२

❋ अहिंसा ❋

(पं० विजयकुमार जैन साहित्यरत्न)

(१)

जियो और जीने दो का जो भाव हमें बतलाती ।
मानवमें मानवताका जो दर्शन दिव्य कराती ॥
जिसकी सुख-शीतल छायामें बैठ अनेकों प्राणी ।
वैर-विरोध भूल पा जाते शान्ति सुधा कल्याणी ॥

(२)

अभय और विश्वास सदा जो जन-जीवनमें भरती ।
घृणा और प्रतिहिंसाकी ज्वालाको जो नित शमती ॥
जिसका नव संगीत सुमधुरिमा-राग हृदयमें भरता ।
पावन-प्रेम-प्रवाह सुधा निर्झर-सा झर्झर बहता ॥

(३)

जो बनकर आलोक जगतका घन-तम हरती रहती ।
मानसकी अन्तर्गङ्गासी पावन कलमष हरती ॥
स्नेह भरी नव-ज्योति जगमगाकर सत्पथ बतलाती ।
विश्वप्रेमकी मूर्ति भावमें पावनता भर लाती ॥

(४)

जो वीरोंका धर्म और धीरोंकी प्रबल निशानी ।
स्वानुभूतिमय आत्म-रमणकी अन्तर्वृत्ति पिछानी ॥
राग-द्वेषमय भव-बन्धनका पाश खोलने वाली ।
आत्म-आत्म पर-परका अन्तर्बोध जगाने वाली ॥

(५)

दानव-मानवमें बस जिसही का अन्तर रहता है ।
दानवमें जो नही मनुजसे जिसकी मधु ममता है ॥
मानवका अधिकार जिसीके बलपर सदा टिका है ।
और मुक्तिका द्वार उसीके बलपर सदा खुला है ॥

(६)

यही अहिंसा है जिसने खोले स्वराष्ट्रके बन्धन ।
बापूको देवत्व दिया बढ़ चला विजयका स्पन्दन ॥
महावीरकी परम साधनाका प्रतीक यह निश्चय ।
बुद्धदेवको रही इष्ट इसमें भी नही अनिश्चय ॥

(७)

समर श्रान्त सम्राट् नृपतिवर थे अशोक से योद्धा ।
जिनके तेजपराक्रमसे थे भीत शत्रु संयोद्धा ॥
बैठ अ-शोक बने इसकी सुख शीतल-सी छायामें ।
साधक इसके रहे अनेकों भूल न जग मायामें ॥

(८)

इसी अहिंसाकी पावन गंगामें कितने प्राणी
निज कल्मष धो चुके जिन्होंने जीवन ज्योति पिछानी
इसका तीर्थ बनाने वाले हुए अनेकों ज्ञानी
जिनने स्वात्म-विभूति मात्रको सतत सुख प्रदा मानी ॥

(९)

वही समन्तभद्रसे मुनिवर कुन्दकुन्द गुरु ज्ञानी ।
विद्यानन्द प्रवीण उमास्वामीसे हुए अमानी ॥
जिनने इसके परम अमृतको बाटा जग जीवनमे ।
पीकर कितने अमर हो चुके पा स्वशक्ति निज मनमें ॥

(१०)

यही अहिंसा जिसके बल पर हुआ सत्य-उद्घाटन ।
सर्वोदयी विचारोंका जिसमें नित नव प्रोद्घाटन ॥
अनेकान्त स्याद्वाद समन्वय मार्ग इसीका निश्चय ।
नय-प्रमाणका बोध लिए चलना है नहीं अनिश्चय ॥

(११)

मैत्री हो जीवोंसे नित लख गुणी मोद उमगाये ।
दुखी विपन्न जनोंपर मन करुणा सम्भार बहाये ॥
जो विपक्षजन उनके प्रति हो शुभा सशाना मेरी ।
देती शुभ आशीस अहिंसा हो सुबुद्धि यह तेरी ॥

(१२)

यह अमोघ है अस्त्र न जिसका व्यर्थ कभी फल होता ।
वीरोंका वीरत्व सदा इस ही से जगता होता ॥
समताकी प्रतिमूर्त्ति सिंह मृग मिलते सुहृदयतासे
पा जाते सब अभय इसी जग जननीकी ममतासे ॥

अनेकांतवाद, सापेक्षवाद और ऊर्जाणुगामिकी

(ले० श्री दुलीचन्द जैन M. Sc.)

[प्रस्तुत लेखमें जैन सिद्धांतके अनेकान्तवाद और आधुनिक विज्ञानके सापेक्षवाद (Relativity) एवं ऊर्जाणु गामिकी (Quantum Mechanics) के सिद्धांतकी तुलनाका प्रयास किया गया है । साथ ही इस ओर संकेत किया है कि यदि जैन सिद्धांतोंका आधुनिक विज्ञानके प्रकाशमें अध्ययन एवं मनन कर उन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे प्रस्तुत किया जाय तो संसारकी आंखें जैन सिद्धांत एवं जैन धर्मकी ओर आकृष्ट हो सकती है । इसके लिए हमें जैन धर्मके सूक्ष्म एवं गूढ़ सिद्धांतोंकी चालू एवं स्थूल व्याख्यामें भी किंचित् परिवर्तन करना होगा । इस दिशामें मुझे श्री. प्रो० जी० आर० जैन की Cosmology old and new (कॉस्मॉलॉजी ओल्ड एन्ड न्यू) से बहुत प्रोत्साहन एवं विचार मिले हैं जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ एवं अनुग्रहीत हूं । —लेखक]

सत्यके अनुसंधानकी ओर मनुष्यकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति रही है । जैन शास्त्रोंके मतानुसार जब मानवने वसुन्धरा पर चतुर्थ कालके अन्तमें उषाकी लाली, सूर्य एवं चन्द्रकी किरणों और समुद्रकी लहरियोंके प्रथम दर्शन किये तबसे ही उसके हृदयमें इनका आतङ्कमय रहस्य समझनेकी इच्छा हुई और उसकी इस उत्कण्ठाका समाधान विशिष्ट ज्ञानी, लोकनायक ऋषभदेवने किया । आधुनिक विद्वानोंके मतानुसार आदिम युगमें जब मनुष्य असभ्य अवस्थामें था तबसे ही उसके मनमें सृष्टिके कार्यकलापको देखकर आतङ्क, आश्चर्य और रहस्यकी भावना प्रस्फुटित हुई और प्रकृतिकी शक्तियोंके रहस्यका उद्घाटनकर उस ज्ञानको व्यावहारिक जीवनमें प्रयुक्त करनेकी ओर वह उन्मुख हुआ । आधुनिक विज्ञान मनुष्यकी इसी प्रवृत्तिका प्रतिफल है । तबसे अब तक मानवसमाजकी ज्ञानधारा समयकी अनेक पर्वतश्रेणियों और समतल मैदानोंमें प्रवाहित होती हुई चली आ रही है । समाजकी जागृति एवं उसके स्वास्थ्यके लिए यह अनिवार्य है । मनुष्यके मस्तिष्क की अतृप्ति इससे दूर होती है । यह ज्ञानकी विकासधारा दार्शनिकताकी ओर उन्मुख होती है और अन्तमें धर्मके—वस्तु-सत्य अन्वेषण और अपने विशिष्ट स्वरूपमें तल्लीनताके अगम सागरमें मिल जाती है । इसी लिए हम देखते हैं कि मानवने जितने भी साहित्यका निर्माण किया है उसमें मानवकी इस मानसिक व आध्यात्मिक भूख की संतुष्टीका तत्व भी सम्मिलित है, और आजका विज्ञान भी जब सापेक्ष सत्य (Relative truth) को जानकर यह अनुभव करता है कि हम वस्तु-सत्य, निश्चय-सत्यसे बहुत दूर हैं तो आजका सबसे महान् वैज्ञानिक, सापेक्षवादका आचार्य आइन्स्टाइन (Einstein) दार्शनिककी भाँति कह उठता है—

"We can know only the relative truth—the real truth is known to the universal observer."

तात्पर्य यह कि हम केवल सापेक्ष सत्यको ही जान सकते है । वस्तु-सत्यको—निश्चय सत्यको (absolute truth) केवल विश्व दृष्टा (सर्वज्ञ देव) ही जान सकते हैं ।

वस्तुमें अनेक गुण होते है और इन गुणोंको जाननेके लिए हमें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणोंका आश्रय लेना पड़ता है । वस्तुके विषयमें वास्तविक सत्यको जाननेके लिए हमें सापेक्ष (Relative) दृष्टिकोणोंका आश्रय लेना आवश्यक है । स्याद्वाद या अनेकान्तवाद इस प्रणाली द्वारा वस्तु-सत्यकी ओर पहुँचनेकी भूमिका है जो दार्शनिक और वैज्ञानिक है । किसी भी दर्शनका अर्थ होता है, जीवनका अध्ययन उसकी व्याख्या और साथ ही साथ विश्व और आत्मसंबंधी तत्वोंका—इनके रहस्य और सत्यका अनुशीलन और उद्घाटन । इस उद्देश्यमें सफल होनेके लिए आवश्यक है कि हमारी विचार-शैली सम्यक् हो, निर्मल हो । हम हठग्राही (dogmatic) न हों आधुनिक विज्ञान भी किसी सिद्धांतके विषयमें यह नहीं कहता कि यही सत्य है । उसका सदासे यह कथन रहा है कि अब तकके प्रयोगों (experiments) की दृष्टिसे यह सिद्धांत ठीक है । भविष्यमें होनेवाले अनुसंधान और प्रयोगोंके फलस्वरूप यह सिद्धांत दूसरे रूपोंमें भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं । स्याद्वादका भी यही दृष्टिकोण है । स्याद्वाद कहता है कि इन दृष्टिकोणोंसे वस्तुका यह स्वरूप

है, और दूसरी दृष्टियोंसे वस्तु इस रूप नहीं—उसका स्वरूप दूसरा है। इस शैलीसे अनेकान्तमें सात प्रकारके वाक्य स्थिर होते हैं जिन्हें सात भंग (seven aspects) कहा जाता है—

(१) स्यात् अस्ति—स्व (अपने) द्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा वस्तुका एक स्वरूप है।

(२) स्यात् नास्ति—पर (दूसरे) द्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा वही स्वरूप नही है जो स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा लक्षित होता है। जैसे यदि एक स्थल उदाहरण ले तो पेंसिल अपने आकार-प्रकार आदिकी अपेक्षा पेंसिल है लेकिन फाउन्टेनपेनकी अपेक्षा 'नहीं' है।

(३) स्यात् अस्ति नास्ति—किसी एक तीसरे दृष्टिकोणकी अपेक्षा वस्तु है भी और नहीं भी है। यह उपरोक्त दोनों भंगोंका समन्वय है। जैसे उपरोक्त उदाहरणमें लिखनेकी उपेक्षा पेंसिल लेखिनी है और फाउन्टेनपेन भी लेखनी है किन्तु दोनों एक तो नहीं है।

(४) स्यात् अवक्तव्य—वस्तुके विषयमें सम्पूर्ण रूपसे निश्चित नहीं कहा जासकता—उसका निश्चय (absolute) स्वरूप लक्षित नहीं किया जा सकता। विश्वदृष्टाके संपूर्ण ज्ञानकी सीमामें ही वस्तुका पूर्ण स्वरूप लक्षित होता है। इस दृष्टिसे वस्तु अवक्तव्य-अकथनीय है।

(५) स्यात् अस्ति अवक्तव्य—किसी दृष्टिमें वस्तु 'अस्ति' रूप है लेकिन अवक्तव्य भी है।

(६) स्यात् नास्ति अवक्तव्य—किसी दृष्टिमें वस्तु 'नास्ति' रूप है और अवक्तव्य भी है।

(७) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य—किसी दृष्टिमें वस्तु 'अस्ति' रूप भी है 'नास्ति' रूप भी है और अवक्तव्य भी है।

इस तर्क शैलीसे हम देखते है कि एक ही वस्तुमें भिन्न-भिन्न गुण विभिन्न दृष्टिकोणोंसे लक्षित होते हैं। विश्व, प्रकृति, आत्मा इत्यादिके विषयमें इस शैलीसे ही पूर्ण विचार किया जा सकता है।

जिस प्रकार सापेक्षवादके सिद्धात (Theory of Relativity) के आगमनपर कई बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने भी सापेक्षवादको आइन्स्टाइनके मस्तिष्ककी भूल कहा था, इसी प्रकारकी भ्रामक बातोंका आविर्भाव स्याद्वादको न समझनेके कारण हुआ है किन्तु यह प्रवाद उचित नहीं है और न इससे वस्तुके वास्तविक स्वरूपके ज्ञानकी ओर ही उन्मुख हुआ जा सकता है। किसी वस्तुके विषयमें यदि यह कहा जाय कि यह कूटस्थ नित्य है—प्रत्येक दृष्टिकोणकी अपेक्षा अक्षय है तो यह कथन ठीक नही। क्योंकि द्रव्यकी दृष्टिसे—अपने विशिष्ट गुणोंकी दृष्टिसे—वस्तु नित्य है और परिवर्तनशील पर्यायों (various forms) की दृष्टिसे वस्तु अनित्य है—परिवर्तनशील है। विज्ञानके क्षेत्रमें भी प्रकृति (Matter) (जिसे जैनधर्ममें पुद्गल कहा जाता है) कई पर्यायों—कई रूपों (forms) में परिवर्तित हो सकती है। पुद्गलका एक कण प्रकृति (Matter) से ऊर्जा (Energy) के रूपमें भी बदल सकता है लेकिन उसका अस्तित्व सदैव रहता है, वह निश्चय दृष्टिसे (absolutely) विनष्ट नही हो सकता। विज्ञानकी दृष्टिमें इस मात्राकी स्थिरताके सिद्धांत (Law of Conservation of Mass and Energy) की अपेक्षासे वस्तु नित्य है—अक्षय (Indestructible) है, किन्तु अन्य दृष्टियोंसे—उसमें क्रिया, प्रतिक्रिया और परिवर्तन होनेकी दृष्टिसे—वस्तु अनित्य है, परिवर्तनशील है।

सापेक्षवाद और अनेकान्तवादकी तुलना करनेके पूर्व नयवादपर भी एक दृष्टि डाल लेना वाछनीय है, क्योंकि स्याद्वाद और नय प्रणालीमें कोई सैद्धान्तिक भेद नही—यह प्रणालियाँ एक-दूसरेकी पूरक है। स्याद्वाद जिस विषयका एक विस्तृत सामान्य दृष्टिकोण (general view) समक्ष रखता है, नयवाद उसका एक विशिष्ट विश्लेषणात्मक स्वरूप उपस्थित करता है। इस प्रकार नयवाद स्याद्वादका ही विशिष्ट रूप है। स्याद्वादके द्वारा हम वस्तुके मौलिक गुणोंके आधारसे विचार करते है जैसे कि द्रव्य (any real entity of universe) का लक्षण सत् है—'अस्तित्वमय' होना ही द्रव्यकी परिभाषा है। जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होते रहते है वही सत है—अस्तित्वमय है। इस प्रकार उत्पाद और व्यय (change in forms) अथवा परिवर्तनशीलताकी दृष्टिसे वस्तु अनित्य है और ध्रौव्य (Indestructibility) की अपेक्षा वस्तु नित्य है। यह स्याद्वादकी शैलीसे वस्तुका सामान्य निरूपण हुआ।

नयवाद वस्तुके एक-एक अंगको ग्रहणकर उसका निरूपण करता है। सामान्यत: नयके दो भेद हैं। एक निश्चय-नय और दूसरा व्यवहार-नय। निश्चय-नयका अर्थ

है कि वस्तुके निश्चय (absolute) रूपका कथन नही किया जा सकता। निश्चयका अर्थ नकारात्मक कहा जा सकता है—अर्थात्, वस्तुके स्वरूपकी पूर्णता तक नहीं पहुंचा जा सकता, यही निश्चय-नयका तात्पर्य है। सापेक्ष रूपसे—व्यावहारिक दृष्टियोंसे हम वस्तुके विषयमें आंशिक ज्ञान प्राप्त कर सकते है। यही नकारात्मक आधुनिक दार्शनिकोंने भी स्वीकार की है। 'यही कूटस्थ सत्य है' ऐसा कोई भी आधुनिक दार्शनिक नही कहता। अतः हमारा ज्ञान सत्य कहा जा सकता है—यह व्यवहारनय है। व्यवहारनय सात हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। इन सात नयोंमे उत्तरवर्ती नयका विषय-क्षेत्र पूर्ववर्ती नयकी अपेक्षा सूक्ष्मतर है—कम विस्तृत है। दूसरा नय प्रथम नयकी अपेक्षा सामान्यसे विशिष्टकी ओर एक सीढ़ी आगे है—उत्तरोत्तर इन नयोंका क्षेत्र अधिकाधिक सूक्ष्म है। वर्तमान तर्कशास्त्र (Modern logic) की विश्लेषण-प्रणाली भी इस नय-प्रणालीसे मिलती-जुलती है। प्रो० हरिसत्य भट्टाचार्यने अपनी पुस्तक A Comparative Study of the Indian Science of Thought from Jain Stand-point.

"The study of the nature of the Nayas gives the principle of modern European logic that the intension of a term increasing, its extension decreases and *vice versa*. The Naigama Naya gives what is called Definition in European logic, it supplies the genetic definition of consciousness and is exactly the definition per genus at deferention".

साराश यह कि नयोंका अध्ययन अर्वाचीन यूरोपीय तर्कशास्त्रके सिद्धांतका निरूपण करता है। यूरोपीय तर्कशास्त्रका सिद्धांत है कि जैसे-जैसे वस्तुका विश्लेषण किया जाता है उसका स्वरूप संकुचित होता जाता है—वह सामान्य (general) से विशिष्ट (particular) होती जाती है; हमारा विषयक्षेत्र विस्तृत और सामान्यसे संकुचित और विशिष्ट होता जाता है। यही जैनधर्मकी नय सम्बन्धी विश्लेषण प्रणाली है। जैनधर्ममें कथित नैगमनय जो वस्तुके सामान्य संकल्प मात्रको विषय करता है उसकी यह परिभाषा वर्तमान तर्कशास्त्र (logic) की (definition) से बिल्कुल मिलती है।

सात नयोंकी विस्तृत और सामान्यसे संकुचित और विशिष्टकी ओर उन्मुख होनेकी प्रणाली इस प्रकार है:—नैगम नय पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती पर्यायोंका सामान्य दिग्दर्शन है—संग्रहनय केवल वर्तमानकालीन पर्यायोंका दिग्दर्शन है। संग्रह सम्पूर्ण वर्तमानवर्ती पर्यायोंको विषय करता है और व्यवहार उसके एक-एक अंगका पृथक्-पृथक् विश्लेषण करता है। ऋजुसूत्र केवल वर्तमानवर्ती किसी एक मुख्य अवस्थाको ही विषय करता है। शब्दनय समयके अनुसार वस्तुके निर्देशको विषय करता है। समभिरूढनय एकार्थवाची नामोंका विश्लेषण करता है। एवंभूतनयका विषय-क्षेत्र और भी संकुचित है; वह वस्तुका वर्तमानवर्ती क्रिया-की दृष्टिसे केवल एकागी निरूपण करता है। इस नय प्रणालीसे स्पष्ट है कि वस्तुके सर्वांगीण अध्ययनके लिए विभिन्न दृष्टिकोणोंका आश्रय लेना अनिवार्य है।

व्यावहारिक जीवनमें भी स्याद्वादको घटित किया जा सकता है। यदि 'अ' 'ब' 'स' तीन वस्तुएँ एक पंक्तिमें रखी हों, तो यदि 'स' की दृष्टिसे 'ब' दाईं ओर है तो 'अ' की दृष्टिसे बाईं ओर। यदि हम एक ही दृष्टिसे 'ब' की स्थिति कहना चाहे तो यह ठीक नही क्योंकि 'अ' और 'स' दोनोंकी अपेक्षासे उसकी स्थिति एक-सी नही है। इस प्रकार सभी कथन सापेक्ष होते है—विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सत्य होते है। एक ही व्यक्ति विभिन्न सबंधियोंकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न है। भानजेकी अपेक्षा मामा, मामाकी अपेक्षा भानजा, पत्नीकी अपेक्षा पति और पुत्रकी अपेक्षा पिता है, इसलिए किसी मनुष्यको संकेत करनेके लिए हम कहते हैं कि उसका पुत्र है, उसका पिता है, उस गाँवका निवासी है, इत्यादि इत्यादि। यह एक साधारण-सी बात है कि एक ही वस्तु औषधि भी होती है और विष भी। इस प्रकार उसमे दो विपरीत गुण सापेक्ष रूपसे सिद्ध होते हैं। एक रोगीकी अपेक्षा और सेवनविधिकी अपेक्षा वह औषधि है और दूसरी अपेक्षाओंसे विष।

विज्ञानके क्षेत्रमे भी हमें इस प्रकारके उदाहरण मिलते है। यदि हम रेलगाड़ीमें चले जा रहे है तो किनारेके वृक्ष हमें विपरीत दिशामें चलते दिखाई देते है यद्यपि भूमिकी दृष्टिसे वे स्थिर है। यदि दो रेलगाड़ियां एक ही प्रवेगसे समानान्तर दिशामें जा रही हो तो उनके यात्री एक-दूसरे को स्थिर दिखाई देंगे यद्यपि दोनोंके यात्री भूमिकी अपेक्षा

गतिशील हैं। इन्ही बातोंका वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे सूक्ष्म अध्ययन कर आइन्सटाइनने अपना सापेक्षवाद सिद्धात (Theory of Relativity) प्रस्तुत किया है। वैज्ञानिक लोग पहिले प्रकाश-ऊर्जा (Light energy) को अणुरूप मानते थे किन्तु बादमें कुछ प्रयोगोंके फलस्वरूप वे इस निष्कर्षपर पहुंचे कि प्रकाश तरंग-रूप (Wave-form) है। आधुनिकतम प्रयोगोंकी दृष्टिसे अब यह माना जाता है कि किन्हीं प्रयोगों और घटनाओं (Phenomena) की दृष्टिसे प्रकाश तरंग रूप है और किन्ही घटनाओं व प्रयोगोंकी दृष्टिसे अणुओंकी धाराके रूप है। सापेक्षवादियोंका विचार है कि यदि दो संहतियां 'अ' और 'ब' (Two systems A and B) एक-दूसरेकी अपेक्षा गतिशील हों तो हम यह नहीं जान सकते कि कौन संहति (System) स्थिर है और कौन गतिशील। इसीलिए सापेक्षवादके सिद्धांतके आविष्कारके पश्चात् वैज्ञानिक लोग पृथ्वी और सूर्यकी गतिसम्बन्धी सिद्धांतको भी सापेक्ष मानने लगे है। आइन्स्टाइनने एक स्थलपर इस आशयके विचार प्रकट किये हैं कि सूर्यके चारों ओर पृथ्वीकी गति अथवा पृथ्वीके चारों ओर सूर्यकी गति यह दोनों सापेक्ष सत्य है। केवल गणितकी सरलताके दृष्टिकोणसे हम पृथ्वीको सूर्यके चारों ओर घूमता हुआ मानते है।

आधुनिक विज्ञानके क्षेत्रमें सापेक्ष सत्यका एक बहुत सुन्दर उदाहरण जो अनेकांतवादके स्यात् अस्ति और स्यात्नास्तिको स्पष्ट करता है श्री प्रो० जी. आर. जैनने अपनी पुस्तक Cosmology Old and New में दिया है। कल्पना कीजिए कि दो संहतिया 'अ' और 'ब' (Two systems A and B) है। जिस प्रकार पूर्वलिखित रेलगाड़ीके उदाहरणमें एक संहति (System) रेलगाड़ी (और उसके यात्री इत्यादि) है जो दूसरी संहति (System) भूमिवृक्ष आदिकी अपेक्षा गतिशील है। दोनों संहतियों (Systems) में आपेक्षिक गति (Relative Motion) है। यह हम ठीक प्रकारसे निश्चय नही कर सकते कि कौनसी संहति (System) स्थिर है और कौन गतिशील। इतना नहीं जानते हुए भी हम देखते हैं कि दोनों संहतियों (Systems) की आपेक्षिक गति (Relative Motion) के कारण एक संहतिकी दृष्टिसे निर्धारित किये हुए हमारे निर्णय व उपधारणाएं (Postulates) दूसरी संहतिकी दृष्टिसे गलत सिद्ध होती हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी संघनक (एक यन्त्र Condenser) पर कोई विद्युत्प्रभार (बिजली Electrical charge) हो तो वह संघनक (condenser) एवं विद्युत्प्रभार पृथ्वीकी अपेक्षासे तो स्थिर हैं लेकिन वरिमा (आकाश Space) की अपेक्षा गतिशील है क्योंकि पृथ्वीकी गतिके कारण पृथ्वीपर स्थित सभी वस्तुएं वरिमा (आकाश Space) की अपेक्षा गतिशील हैं। विज्ञानका सिद्धांत है कि यदि कोई विद्युत्प्रभार स्थिर होता है तो उसके चारों ओर चुम्बकीय क्षेत्र (Magnetic field) उत्पन्न नहीं होता लेकिन यदि वह विद्युत्प्रभार गतिशील होता है तो उसके चारों ओर चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। उपर्युक्त विद्युत्प्रभारयुक्त संघनक (electrically charged condenser) पृथ्वीकी दृष्टिसे स्थिर है इसलिए इस अपेक्षासे वह चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न नहीं कर रहा लेकिन वही संघनक वरिमा (Space) की दृष्टिमे गतिशील है और इस अपेक्षासे वह अपने चारों ओर चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न कर रहा है। इस प्रकार एक ही समय में एकही संघनक (condenser) चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न भी कर रहा है और चुम्बकीय क्षेत्र नही भी उत्पन्न कर रहा है। इसीको अनेकांतवादकी भाषामें कहा जा सकता है कि स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा वस्तुके विषयमें 'स्यात् अस्ति' लक्षित होता है और परद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा वस्तुके विषयमें 'स्यात् नास्ति' लक्षित होता है।

विज्ञानके क्षेत्रमें सापेक्षवाद सिद्धात (Theory of Relativity) का आविर्भाव इसी प्रकारकी विचित्र प्रतीत होनेवाली घटनाओं (Phenomena) से हुआ। मानलीजिए कि एक लम्बी रेलगाड़ी है जिसके एक दूसरे डब्बोंके बीच ऐसे दरवाजे हैं कि चलती गाड़ीमें भी हम एकसे दूसरे डब्बेमें जाकते है। यदि रेलगाड़ी ३० मील प्रति घंटाकी गतिसे जा रही है और रेलगाड़ीके सबसे पिछले डब्बेसे एक मनुष्य अगले डब्बेकी ओर २ मील प्रति घंटाकी गतिसे चल रहा है तो उस मनुष्यकी गति रेलकी पटरीपर किनारेके वृक्षों इत्यादिकी अपेक्षा ३०+२=३२ मील प्रति घंटा होगी क्योंकि ३० मील प्रति घंटासे रेल आगे बढ़ रही है और २ मील प्रति घंटासे रेलमें चलनेवाला वह मनुष्य आगे बढ रहा है और इस प्रकार दोनोंकी गति जोड़नेपर हमे किनारेके वृक्षोंकी अपेक्षा

मनुष्यकी गति मिलती है। यह पूर्व स्थित प्रवैगिकी (Classical Dynamics) का सिद्धांत है। अब वैज्ञानिकोंने विचार किया कि प्रकाशकी गतिपर भी इसी प्रकार पृथ्वीकी गतिका प्रभाव पड़ना चाहिए। जिस दिशामें पृथ्वी चल रही है उसी दिशामें यदि एक प्रकाशकी किरण भी चले तो उस प्रकाश-किरण (Light-ray) की गति साधारणतः प्रकाशकी गतिकी अपेक्षा अधिक होना चाहिए। (साधारणतः प्रकाशकी गति एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकंड है।) प्रकाशकी गतिपर पृथ्वीकी गतिके इस प्रभावको लक्षित (detect) करनेके लिए माइकेल्सन और मॉर्ले महोदयने अपना प्रसिद्ध प्रयोग (Michelson and Morley Experiment) किया। अत्यन्त सावधानीपूर्वक कई बार प्रयोग दुहरानपर भी वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि प्रकाशकी गतिका पृथ्वीकी गतिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता यद्यपि पूर्व स्थित प्रवैगिकी (Classical Dynamics) के उपरोक्त सिद्धातके अनुसार पृथ्वीकी गतिकी दिशामें प्रकाशकी गति अधिक होना चाहिए। इस प्रयोगके 'प्रकाशकी गतिपर पृथ्वीकी गतिका कोई प्रभाव नही पड़ता' इस निष्कर्षको समझानेके लिए आइन्स्टाइनने अपना सापक्षवादसिद्धांत (Theory of Relativity) प्रस्तुत किया। इस सापेक्षवाद सिद्धान्तकी मूल उपधारणा (Postulate) यह है कि यदि हम दो सापेक्ष गतिशील (अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षासे गतिशील) संहतियों (Systems) में अलग अलग कोई प्रयोग एवं गवेषणा करें तो उन संहतियों की सापेक्षगतिशीलताके फलस्वरूप दोनों संहतियों (Systems) में लिए गये हमारे अवलोकन (Observations) और परिणाम (Results) एकसमान (Identical) नहीं होगे। जैसाकि विद्युत्प्रभार युक्त संघटक (Electrically charged condenser) के उदाहरणमें पृथ्वीकी अपेक्षासे संघटक चुम्बकीय क्षेत्र (Magnetic field) उत्पन्न नहीं करता और वरिमा (आकाश Space) की अपेक्षा वह संघटक चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न करता है। सापेक्षवाद-सिद्धांतके उपर्युक्त निष्कर्ष सामान्य दृष्टिसे विचित्र और स्थूलतः समझमें न आनेवाले प्रतीत होते हैं लेकिन विज्ञानके क्षेत्रमें हम देखते हैं कि आधुनिकतम प्रयोगोंको ठीक-ठीक समझनके लिए सापेक्षवाद-सिद्धांत अनिवार्य है।

विज्ञानके क्षेत्रमें तीन मौलिक माप्य राशियां (Fundamental measurable quantities) मानी जाती हैं—आयाम (length), मात्रा (mass) और समय (time) इन्हींके आधारसे सभी प्रयोग और सिद्धांत चलते हैं। सापेक्षवाद सिद्धांतके अनुसार यह तीनों राशियां (quantities) सापेक्ष (Relative) मानी जानें लगीं हैं। आधुनिक विज्ञानके प्रयोगोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आयाम (length) सापेक्ष है। जैसे एक वस्तुकी लम्बाई ५ फुट मापी गई, यह ५ फुट लम्बाई सापेक्ष है क्योंकि यदि मापनी (Scale) और वस्तुमें सापेक्ष गति हो तो वस्तुकी लम्बाई ५ फुट न होकर कम या अधिक होगी। सापेक्षवादके अनुसार दो बिन्दुओंकी दूरी (वस्तुकी लम्बाई) गतिकी दिशामें कम हो जाती है। बात स्थूल दृष्टिसे देखनेपर स्पष्ट नहीं होती और न चालू सरल भाषांमें ठीक-ठीक कही जा सकती है—केवल गणितकी भाषामें ही इसे हम व्यक्त कर सकते हैं। लेकिन, "आयाम (length) सापेक्ष है" इस आधार पर यदि हम किन्ही सूक्ष्म प्रायोगिक परिणामो (Experimental results) को समझाने (Interpret) का प्रयास करते है तो हम सही निष्कर्षोंपर पहुँचते है अन्यथा नही।

इसी प्रकार विज्ञानके सापेक्षवादकी दृष्टिमें समय (Time) भी सापेक्ष (Relative) है। मानलीजिए कि आज दो मनुष्य मिलते है। इस समय दोनोंकी अवस्था ठीक ६० वर्ष की है। एक वर्षका समय व्यतीत होनेपर वे फिर मिलते हैं। सामान्य दृष्टिसे उनके मिलनेके समयमे केवल एक बर्षका ही अन्तर है किन्तु अन्य दृष्टियोंसे यह अन्तर भिन्न-भिन्न है—दोनों मनुष्योंके विषयमें एक वर्ष नहीं। सापेक्षवाद कहता है कि जो मनुष्य अधिक चलता-फिरता रहा है और कार्य-व्यस्त रहा है उसकी अवस्था गतिसे (तेजीसे) बढ़ी है और जो बहुत कम चलाफिरा है उसकी अवस्था कम गतिसे बढ़ी है और इस दृष्टिसे पहिले और दूसरे मनुष्यकी अवस्थाएँ एक वर्ष बाद बराबर नहीं। इस सापेक्षवाद सिद्धांतके अनुसार एक ६१ वर्षसे अधिक अवस्थाका है और दूसरा ६१ वर्षसे कम अवस्थाका। इसी प्रकार दो सापेक्ष गतिशील संहतियों (Systems) में समयकी माप (measure) एकसमान (identical) नहीं होगी। सापेक्षगतिशीलताके कारण

एक संहतिमें समयका १ मिनिट परिमाण दूसरी संहतिमें १ मिनिटसे कम या अधिक होगा।

विज्ञानकी दृष्टिसे मात्रा और भार (mass and weight) भी सापेक्ष है। एक वस्तुको यदि स्कन्द तुला (spring balance) पर बम्बईमें तोला जाय और उसी वस्तुको उत्तरीध्रुव पर तोला जाये तो दोनों स्थानोंपर मापे गये उसके भार (weight) में अन्तर होगा। भार (weight) की माप (measure) केवल स्थान की अपेक्षासे ही न्यूनाधिक नहीं होती अपितु और दूसरे प्रतिकारक (factors निमित्त) भी भार (weight) की न्यूनाधिकतामें कारण होते है। जिस वस्तुमें प्रवेग (velocity) कम या अधिक होता है उसका वजन न्यूनाधिक हो जाता है। अधिक प्रवेगसे चलती हुई वस्तुका भार अधिक होता है। अणु विज्ञानके क्षेत्रमें यह बात प्रयोगोंसे सिद्ध हो गई है कि यदि कोई अणु (atom) स्थिर है तो उसकी मात्रा (वजन mass) कम होगी, यदि उसी अणुमे प्रवेग (Velocity) हो तो उसकी मात्रा (mass) अधिक हो जायगी। यह बात भी स्थूल रूपसे बुद्धिगम्य नहीं प्रतीत होती लेकिन इसी सिद्धांतके आधारपर आइन्स्टाइनने सिद्ध किया कि प्रकृति (Matter) ऊर्जा (Energy) के रूपमें परिवर्तित हो सकती है और प्रकृति और ऊर्जा मूलत. एक ही द्रव्य है।

ऊर्जा (Energy) = मात्रा (mass) × (प्रकाशकी गति)²

$$E = mC^2$$

और, मात्रा (mass) और ऊर्जा (energy) को संबंधित करनेवाले इसी समीकरण ($E = mC^2$) के आधारपर अणुशक्ति (Atomic energy) और अणुबम (Atom Bomb) का आविष्कार हुआ है।

विज्ञानके प्रयोगोंको समझने और सिद्धांतोंका निरूपण करनेमें भी वैज्ञानिक लोग अचल और चल संहतियो (Fixed and moving systems) के आधारपर चलते हैं। एक संहति प्रयोगशाला संहति (Laboratory system) कहलाती है जो दर्शक (observer) की अपेक्षा स्थिर रहती है और दूसरी संहति मात्रा-केन्द्र संहति (Centre of mass system) कहलाती है जो दर्शककी अपेक्षा गतिशील रहती है। इन्हीं विचारोंके आधारपर वैज्ञानिक लोग प्रयोगोंको समझाकर सिद्धांत प्रस्थापित करनेका प्रयास करते है।

मेरे विचारसे अनेकांतवादके प्रथम तीन भंगों—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अस्ति नास्ति, की तुलना सापेक्षवाद सिद्धांतके निरूपणो (ideas) से इस प्रकार की जासकती है। मान लीजिए कि दो संहतियां (systems) 'अ' और 'ब' है जो एक-दूसरेकी अपेक्षा गतिशील हैं—दोनोंमें सापेक्षगति (Relative motion) है। सापेक्षवादके अनुसार इन दो सापेक्षगतिवाली संहतियां (systems) की अपनी-अपनी आयाम, मात्रा और समय (length, mass and time) की माप (standard) होती है। एक संहतिकी आयाम, मात्रा और समयकी मापसे दूसरी संहतिकी आयाम, मात्रा और समयकी माप असमान होती है। यदि उनमेंसे एक संहति 'अ' (System 'A') में कोई घटना होती है तो उस घटनाका तीन दृष्टिकोणोंसे अवलोकन (observation) किया जा सकता है। एक तो वह घटना अपनी 'अ' संहतिपर ही अवलोकित (observed) की जा सकती है; दूसरे वह 'अ' संहतिकी अपेक्षा गतिशील 'ब' संहति (B system) परसे अवलोकित (observed) की जा सकती है। इस प्रकारके यह दो अवलोकन (observations) समान (identical) नही होंगे जैसाकि सापेक्षवादके आधारपर आधुनिक विज्ञानने प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिखाया है। उसी घटनाके विषयमें दोनो पूर्व दृष्टिकोणोंका सन्तुलन करनेवाले एक तीसरे दृष्टिकोणसे भी अवलोकन (observation) किया जा सकता है। अपनी ही संहति 'अ' किये गये अवलोकनसे उस वस्तुका स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा अवलोकित 'अस्ति' रूप लक्षित होगा। दूसरी सापेक्षगतिशील 'ब' संहतिमें किये गये अवलोकनसे उस वस्तुका परद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा स्थिर किया गया 'नास्ति' रूप लक्षित होगा और तीसरे दोनो अवलोकनों (observations) का संतुलन करनेवाले दृष्टिकोणसे उस वस्तुका 'अस्ति नास्ति' रूप लक्षित होगा।

यदि आरम्भमें प्रस्तुत किये गये उदाहरणको लिया जाय तो उसमें ३० मील प्रति घंटाकी गतिसे चलनेवाली रेलगाड़ीके डब्बे में २ मील प्रति घंटाकी गतिसे चलनेवाले मनुष्यको तीन दृष्टिकोणोंसे अवलोकित किया जासकता है। एक तो उसी डब्बेमें बैठा हुआ कोई अन्य मनुष्य देखता है जिसकी दृष्टिसे वह मनुष्य लगभग २ मील प्रति घंटाकी

गतिसे चल रहा है। यह उस मनुष्यकी अपनी संहृति 'अ' में किये गये (स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा किये गये) अवलोकन (observation) का निष्कर्ष है (स्यात् अस्ति भंग)। उसी मनुष्यको किनारेके किसी वृक्षपर बैठा हुआ एक मनुष्य देखता है और अपने अवलोकनके फलस्वरूप वह कहता है कि रेलमें चलता हुआ मनुष्य लगभग ३०+२=३२ मील प्रति घंटाकी गतिसे चल रहा है। यह परद्रव्यक्षेत्रकालभावकी अपेक्षा किये गये अर्थात् 'अ' संहृतिकी अपेक्षा गतिशील संहृति 'ब' में किये गये अवलोकनका निष्कर्ष है (स्यात् नास्ति भंग)। इन दो दृष्टिकोणोंका समन्वय करके एक तीसरे दृष्टिकोणसे जो अवलोकन (observation) किया जायगा वह इन दोनोंसे भिन्न निष्कर्ष देगा। यह अनेकांतका स्यात् अस्ति नास्ति भंग कहा जासकता है।

एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस प्रकार अनेकान्तवादमें "अस्ति", "नास्ति" आदि भंगोंकी परिभाषा-में स्व-पर (अपने और दूसरे) द्रव्यक्षेत्र कालभावकी अपेक्षाका निर्देश है उसी प्रकार सापेक्षवादमें अपनी व दूसरी संहृतियों (Fixed and moving systems) के आयाम या क्षेत्र (length), मात्रा या द्रव्य (mass) व समय या काल (time) का निर्देश किया जाता है और इन्हीं अपेक्षायोंसे विचार किया जाता है। अनेकांत-वादके 'भाव' शब्दका पर्यायवाची अवश्य सापेक्षवादमें नहीं मिलता। (संभव है कि उत्तरवर्ती अनुसन्धानमें भावके पर्यायवाचीकी भी आवश्यकताका वैज्ञानिकोंको अनुभव हो।) स्वद्रव्यक्षेत्र और काल उस संहृतिसे सम्बद्ध मात्रा, आयाम व समय (mass, length and time) है जिसमें वस्तु स्थिर (fixed) है जो वस्तुकी अपनी संहृति है और परद्रव्यक्षेत्र और काल उस संहृतिसे सम्बद्ध मात्रा, आयाम व समय (mass, length and time) है जो पहिली संहृतिकी अपेक्षा गतिशील है।

विज्ञानकी दृष्टिसे अनेकांतवादके स्यात् अवक्तव्य आदि भंगोंको समझनेके लिए विज्ञानकी एक और आधुनिकतम गणित प्रणाली ऊर्जाणुगामिकी (Quantum Mechanics) के आधारभूत सिद्धांतोंपर दृष्टिपात करनेकी आवश्यकता है। इस शताब्दिके आरंभतक स्थूलमापों (measurements) के सम्बन्धमें विज्ञानके सिद्धांतोंके आधारपरसे ही निष्कर्ष निकलते रहे लेकिन अणुविज्ञानके आविर्भावके साथ ही वैज्ञानिकोंको बहुत सूक्ष्मराशियाँ (quantities) मापना (measure) पड़ी और इसलिए पूर्वस्थित रीतियां (Classical Methods) अपूर्ण और अपर्याप्त (insufficient) प्रतीत हुईं और वैज्ञानिकोंको और दूसरे दृष्टिकोणोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। एक छोटेसे पुद्गलकण (Particle of matter) में असंख्य अणु (atoms) होते हैं और इसलिए अणुविज्ञानमें एक कणके असंख्य अणुओंकी क्रिया (behaviour) को समझनेके लिए सांख्यिकीय रीतियां (Statistical methods) का प्रयोग करना आवश्यक है।

मानलीजिए कि हम एक अठन्नी उछाल रहे हैं तो नीचे आनेपर वह चित पड़ेगी या पट इस विषयक संभावनापर यदि हम विचार करें तो स्पष्ट है कि चित या पट गिरनेकी बराबर संभावना है। लेकिन, वास्तविक घटनामें यदि देखा-गया कि वह पट गिरी तो चित गिरनेकी हमारी संभावना (probability) गलत हो जाती है। इसी प्रकार यदि हम ५० बार अठन्नी उछालें तो साधारणतः संभावना यह है कि वह २५ बार चित गिरेगी और २५ बार पट गिरेगी लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि वास्तवमें ५० बार अठन्नी उछालनेपर ३० बार या ४० बार भी वह चित आवे और केवल २० बार या १० बार पट आवे, इसलिए यह जानते हुए भी कि चित या पट आनेकी बराबर सम्भावना है हमें निश्चय नहीं होसकता कि इतने बार ही वह पट गिरेगी। ज्ञानकी इसी अनिश्चितताके कारण असंख्य अणुओं की क्रियाके अनुसंधानमें सांख्यकीय रीतियां (Statistical methods) अपनानी पड़ती है।

इसी प्रकार ज्ञानकी अनिश्चितताके सिद्धांतका आश्रय हमें आधुनिक अणुविज्ञानकी सूक्ष्म घटनाओंके सम्बन्धमें लेना पड़ता है क्योंकि असंख्य अणुओंकी क्रियाका अध्ययन विश्लेषण करते समय उनके विषयमें हम उपसाधित (approximate) लगभग ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं। उनके विषयमें निश्चय (absolute) ज्ञान प्राप्त करना असंभव है—यही निश्चयनयका दृष्टिकोण बोर महोदय (Bohr) के संपूरकत्व सिद्धांत (Complementary Principle) में दिग्दर्शित है। संपूरकत्व सिद्धान्त यह है कि अणुविज्ञानके क्षेत्रमें होनेवाली घटनाओंके विषयमें हम निश्चित सत्यको नहीं जान सकते। केवल इतना कहा

जासकता है कि अमुक दृष्टकोणको ध्यानमें रखते हुए यह संभाव्य (probable) निष्कर्ष है और निश्चय सत्य (absolute truth) जाननेके लिए हमें इस प्रकारके विभिन्न दृष्टिकोणोंके संभाव्य निष्कर्षोंका समन्वय करना होगा।

वैज्ञानिकोंको अणुविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तोंमें ऊर्जाणुगामिकी (एक विशेष प्रकारका सूक्ष्म गणित जिसे Quantum Mechanics कहते हैं) के प्रयोगकी अनिवार्यताका निम्न खोजोंके कारण अनुभव हुआ। जैसा कि पहिले संकेत किया गया है कि प्रकाश सम्बन्धी कुछ प्रयोगोंको समझनेके लिए तरंगवाद (Wave Theory of light) का आश्रय लेना पड़ता है और किन्ही प्रयोगोंकी दृष्टिसे प्रकाशके विषयमें अणुवाद (Corpuscular Theory of Light) सिद्ध होता है;* उसी प्रकार प्रकृति (Matter) या पुदगलके सम्बन्धमें एक विशेष प्रकारके प्रयोग (Experiments) विद्युत-व्याभंग-प्रयोगों (Electron Diffraction Experiments) के द्वारा यह सिद्ध होता है कि किन्ही परिस्थितियोंमें सूक्ष्म पुद्गल कण तरंगों जैसी क्रिया करते हैं। इन प्रयोगोंको समझानेके लिए आवश्यक है कि हम पुदगल कणोंसे संवलित (associated) किन्ही तरंगों (Waves) को मानकर चले और तभी उन प्रयोगोंके परिणाम (Experimental Results) को समझाने (interprot) में हम सफल हो सकते है। यद्यपि, वस्तुतः पुद्गल कणोंके साथ कोई तरंगें संवलित नही है और केवल प्रयोगोंसे सही निष्कर्ष निकालनेकी क्रियामें ही हम यह मानकर चलते हैं कि उनके साथ कोई तरंगें संवलित है। इस प्रकारकी विचार प्रणाली और सूक्ष्म गणित जिसे ऊर्जाणुगामिकी या तरंग गामिकी (Quantum Mechanics) या (Wave Mechanics) कहते है, अनेकान्तवादके अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य इत्यादि सूक्ष्म और गूढ़ भंगोंकी कोटिमें आ सकते है।

और भी, यदि हम ऊर्जाणुगामिकी (Quantum Mechanics) के मूल आधारोंमेंसे एक अनिर्धारिण सिद्धान्त (Indeterminacy Principle या Uncertainty Principle) की ओर दृष्टिपात करें तो हमें आधुनिक विज्ञानके क्षेत्रमें अवक्तव्यका सुन्दर भाष्य मिल जाता है। मान लीजिए कि हम एक ऐसा अपूर्व और आदर्श (Ideal) प्रयोग (Experiment) करते हैं जिसमें कि हम एक अणु (atom) की ऊर्जा (energy) और समय (time) को निश्चयतः ठीक-ठीक (most precisely) मापनेका प्रयास करते हैं। अब अणु बहुत छोटा होता है और हमारे मापनेके यन्त्र व साधन उसपर प्रभाव डालते है जिससे कि उसकी ऊर्जा (energy) न्यूनाधिक हो जाती है और इसका यह फल होता है कि हम जिस राशि (Quantity) को माप रहे थे, हमारे प्रयोगके फलस्वरूप वही न्यूनाधिक हो जाती है और हमारी ऊर्जा (energy) और समय (time) को निश्चयतः ठीक (precisely) मापनेका प्रयोग अंशतः असफल हो जाता है। इस असफलताका कारण हमारे यन्त्रों एवं साधनोंकी अपरिपक्वता नही अपितु जिस पर हम प्रयोग (Experiment) कर रहे थे उस संहति (system) की सूक्ष्मता है। वह इतना सूक्ष्म है—उस संहतिमें कोई ऐसी आन्तरिक विशेषता (something inherent) है कि हम उसके विषयमें निश्चित, पूर्ण एव सही (Precise) ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। यही हाइसेनबर्ग महोदयका अनिर्धारण सिद्धान्त (Heisenberg's Uncertainty Principle है जो कहता है कि वस्तुके विषयमें हम केवल अपूर्ण, एकांगी और उपसादित (approximate) ज्ञान प्राप्त कर सकते है बिल्कुल ठीक ज्ञान (Precise Knowledge) प्राप्त नही कर सकते। उदाहरणार्थ यदि हम यह जानना चाहें कि एक सुनिश्चित समयमें एक अणुकी ऊर्जा (energy) कितनी होगी तो केवल हम संभाव्य व उपसादित (approximate) रूपसे ही ऊर्जाकी मात्रा जान सकते है, निश्चित नही कह सकते। यही अनेकान्तवादका स्यात अवक्तव्य नामक भंग है जो कहता है कि वस्तु स्वरूपकी गहनता एवं सूक्ष्मताके कारण उसके विषयमें निश्चय सत्यका कथन सम्भव नही।

एक अन्य दृष्टिकोणसे भी अनेकान्तवाद, सापेक्षवाद एवं ऊर्जाणुगामिकी (Quantum Mechanics) की तुलना सम्भव है। सामान्यतः सापेक्षवादका प्रयोग

* प्रकाश तरंगवादके अनुसार यह मानते है कि प्रकाश तरंगोंके रूपमें चलता है और अणुवादके अनुसार प्रकाश ऊर्जाणुओं (प्रकाशके अणुओं) की धारा है ऐसा मानते हैं।

किये बिना ही केवल ऊर्जाणुगामिकी (Quantum Mechanics) का प्रयोग किया जाता है, लेकिन किन्हीं अणुविज्ञान सम्बन्धी समस्याओंको सुलझाने-समझनेके लिए सापेक्षवादी ऊर्जाणुगामिकी (Relativistic Quantum Mechanics) का प्रयोग किया जाता है। इस तथ्यके प्रकाशमें यदि अनेकान्तवादके सात भंगोंका गहन अनुशीलन एवं मनन किया जाय तो सम्भव है कि हम साधारण ऊर्जाणुगामिकी (Quantum Mechanics) को स्यात् अवक्तव्यका पर्यायवाची सिद्ध कर सकें और साथ ही जिस प्रकार पिछले पृष्ठोंमे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति एवं स्यात् अस्ति नास्तिका सापेक्षवादी दृष्टिकोण (Relativistic point of view) से दिग्दर्शन करानेका प्रयास किया गया है. उसी प्रकार स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य और स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यको सापेक्षवादी ऊर्जाणुगामिकी (Relativistic Quantum Mechanics) की दृष्टिसे दिग्दर्शित किया जा सके।

अनेकान्तके स्यात् अस्ति अवक्तव्य आदि भंगोंको सापेक्षवादी ऊर्जाणुगामिकी(Relativistic Quantum Mechanics) की भाषामें व्यक्त कर सकनेकी संभावनाकी ओर इस दृष्टिसे भी संकेत मिलता है कि सापेक्षवादी ऊर्जाणुगामिकीमें किन्हीं प्रयोग सिद्ध घटनाओं (Experimental Phenomena) को समझाने (interpret) के लिए यह उपधारणा (postulate) मानकर चलते हैं कि संपूर्ण वरिमा (आकाश space) में ऋणऊर्जायुक्त विद्युदणु (negative energy electrons) पूरी तरह भरे हुए हैं और जैन धर्म भी मानता है कि लोक (space) का एक-एक प्रदेश (iota) पुद्गल परमाणुओंसे भरा है; यद्यपि, लोक किस प्रकारके पुद्गल परमाणुओंसे भरा है ऐसा कोई संकेत नही किया गया है जैसा कि सापेक्ष ऊर्जाणुगामिकी (Relativistic Quantum Mechanics) में मानते हैं कि वरिमा (आकाश space)में ऋण ऊर्जायुक्त विद्युदणु (Negative energy electrons) भरे हुए है।

इस प्रकारके सापेक्षवाद व ऊर्जाणुगामिकी (Relativity and Quantum Mechanics) और अनेकान्तवादके तुलनात्मक अध्ययनसे यह भी संभावना है कि विज्ञानके क्षेत्रमें सापेक्षवाद (Relativity) और ऊर्जाणुगामिकी (Quantum Mechanics) को जो अलग अलग मूलसिद्धांतों एवं उपधारणाओं (Fundamental principles and postulates) के आधारपर प्रस्तुत हुई हैं, उन्हें एक ही सिद्धांतकी समान भूमिकापर स्थापित किया जासके जिस प्रकार कि स्याद्वादके सातों भंग एक ही सिद्धांतकी पृष्ठभूमिका पर अंकित हैं।

सापेक्षवाद एवं ऊर्जाणुगामिकी (Quantum Mechanics) की उत्पत्ति (पुद्गल Matter and energy) के सूक्ष्म अध्ययनसे हुई है और अनेकान्तवाद आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे उत्पन्न ज्ञानपिपासाका प्रतिफल है; लेकिन, मूलतः दोनोंका दार्शनिक आधार एक ही प्रतीत होता है। स्याद्वाद आध्यात्मिक पृष्ठभूमिकामें वस्तुका विश्लेषण करना है और सापेक्षवाद वैज्ञानिक दृष्टिकोणोंसे केवल पुद्गल (Matter and energy) के विषयमें वस्तु-सत्यकी सापेक्षता प्रदर्शित करता है। स्याद्वादका क्षेत्र प्रमुख रूपसे आध्यात्म दर्शन है वह केवल उदाहरण देनेके लिए व्यवहारका आश्रय लेता है किन्तु सापेक्षवाद व्यवहारके उदाहरणोंसे चलकर आगे वैज्ञानिकसत्य(Relative truth) के धरातलपर दार्शनिकतासे वस्तु सत्य (absolute truth) की ओर बढ़नेका प्रयास करता है। स्याद्वाद इस प्रकार उच्च दार्शनिक पृष्ठभूमिकासे व्यवहारके धरातलको देखता है और सापेक्षवाद व्यवहारकी नींवपर वैज्ञानिक सापेक्ष सत्यकी आधारशिलासे वस्तु-सत्यके दर्शनकी ओर उन्मुख है। इस प्रकार हम देखते है कि दोनों दो विभिन्न दृष्टिविन्दुओंसे चलकर एक ही दार्शनिक भूमिकापर मिलते हैं।

नोट:—पारिभाषिक शब्दोंके लिए डा० रघुवीरके आङ्गल भारतीय कोशका उपयोग किया है। जैनधर्मके पुद्गल शब्दमें प्रकृति (Matter) और ऊर्जा (Energy) दोनों ही गर्भित मानकर चला गया है क्योंकि आधुनिक विज्ञान (Matter) और (Energy) को एक ही द्रव्यकी दो पर्यायें मानता है।

कविवर पं० दौलतरामजी

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

कविवर पं० दौलतरामजीका जन्म संवत् १८५० या १८५५ के मध्यवर्ती समयमें सासनी जि० हाथरसमें हुआ था। आपके पिताका नाम 'टोडरमल्ल' था। आपकी जाति पल्लीवाल या पालीवाल थी और गोत्र था गंगीरीवाल; परन्तु आप 'फतहपुरिया' नाम से उल्लेखित किये जाते थे। आपका विवाह सेठ चिन्तामणिजी अलीगढ़की सुपुत्रीके साथ हुआ था, उससे आपके दो पुत्र भी हुए थे। जिनका जन्म संवत् १८८२ और १८८६ में हुआ था। उनमें बड़े पुत्र-का नाम टीकाराम था और जो कुछ समय पहले लश्कर में रहते थे। और छोटा पुत्र असमय में ही अपनी स्त्री और एक पुत्रीको छोड़कर परलोकवासी हो गया था। थोड़े दिन बजाजीका कार्य हाथरसमें करनेके बाद कर्मोदयवश आप अलीगढ़में रहने लगे थे। सं० १८८२ या ८३ में मथुराके सुप्रसिद्ध सेठ राजा लक्ष्मणदासजी सी. आई. के पिता सेठ मनीरामजी पं० चंपालालजीके साथ कारणवश हाथरस गये, वहां उन्होंने मन्दिरजीमें कविवरको गोम्मटसारकी स्वाध्याय करते हुए देखकर बहुत ही खुश हुए और उन्हे अपने साथ मथुरा ले आए और वहां उन्हें बहुत आदरके साथ रक्खा; परन्तु पडितजीको वह भोगोपभोग सम्पदा अरुचिकर प्रतीत हुई, फलस्वरूप वे कुछ दिन बाद वहासे लश्कर और बादको सासनी अपनी जन्मभूमिमें आ गए। और सासनी से अलीगढ़ आकर छीटें छापनेका कार्य करने लगे। छ्पाईका काम करते हुए भी आप अपने विद्याभ्यास का अनुराग कम न कर सके, और चौकी पर जैनसिद्धान्त-के ग्रंथ रखकर छपाईका काम करते हुए भी ५० या ६० पद्य रोजाना कण्ठस्थ कर लेना आपका दैनिक कर्तव्य था। आप संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे और आपमें विवेक था तथा जैनसिद्धान्तके परिज्ञानकी थी बलवती भावना उस समय आपके कुछ पूर्वकृत कर्मका अशुभोदय था जिसे आपने विवेक और धैर्यके साथ सहा। कुछ दिनोंके पश्चात् पंडितजी अलीगढ़से देहली आ गए और देहलीमें साधर्मीवात्सल्य प्रेमी सज्जनोंकी गोष्ठीको पाकर अपना अधिकांश समय तत्त्वचिंतन, सामायिक और सिद्धान्तशास्त्रोंके स्वाध्याय जैसे प्रशस्त कार्योंमें व्यतीत करने लगे।

आपका सैद्धान्तिक ज्ञान बढ़ा चढ़ा था और आपको तत्त्वचर्चा करनेमें खूब रस आता था, वस्तुत्वका विवेचन करते हुए उनका हृदय प्रमोदभावनासे परिपूर्ण हो जाता था। बीचमें श्रोताओके प्रश्न होनेपर उनका उत्तर बड़ी ही प्रसन्नताके साथ देते थे, श्रोताजन उनके सन्तोषजनक उत्तरोको सुनकर हर्षित होते थे और उनकी मधुरवानीका पान बड़ी भक्ति और श्रद्धाके साथ करते थे। आपने वस्तु-तत्त्वका मंथन कर उसमे से जो नवनीत रूप सार अथवा पीयूष निकाला उसका अनुभव आपकी सं० १८९१ में रची जानेवाली एक छोटी-सी कृति छहढाला से ही हो जाता है। इस ग्रंथका परिचय आगे दिया जायगा।

आपने अपने जीवनको आध्यात्मिक सांचेमें ढालने-का प्रयत्न किया। आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन मनन एवं परिशीलनसे आपका जीवन ही बदल गया, उसमें नवचेतना-का जागरण हुआ और उसके धुंधले प्रकाशमें वे अपनी भूली हुई उस आत्मनिधिका दर्शन पानेके लिए उत्कंठित होने लगे। समता भावोंका चयन करनेके साथ वे शारीरिक चेष्टाओंको केन्द्रित कर मन और वचनको भी जीतने एवं वशम करनेके सुदृढ़ प्रयत्नमें लग गए। आत्मनिन्दा और गर्हाके साथ वे आत्मनिरीक्षण करनेका प्रयत्न करते थे और उससे ज्ञात दोषोकी तरफ दृष्टि डालते तथा उनके शोधनके साथ-साथ भविष्यमें उनसे बचनेका बुद्धिपूर्वक पूरा-प्रयत्न भी करते थे। कभी २ एकान्त स्थानमें बैठकर वस्तुस्थितिका विचार करते समय शरीरके स्वरूपपर दृष्टि डालते और विचारते कि यह शरीर घिनावना है—मलसे पूरित है, जड़ है, माता पिताके रज और वीर्यसे निष्पन्न होने वाली मल फुलवारी है। हाड़ मांस और नसा-जालकी रक्तरंजित लाल क्यारी है, चर्मसे मढ़ी होनेके कारण ऊपर से सुन्दर-सी प्रतीत होती हैं; परन्तु धन और धर्म चुराने वाली है, स्वेद (पसीना) मेद

(चरबी) और कफको बहुत दुःखदायी तथा मदरोग-रूपी सर्पकी पिटारी है। जितनी-जितनी चन्दनादि पावन वस्तुओंका इससे सम्पर्क एवं संयोग हुआ उन सबको इसने अपवित्र और विकृत बनाया है। जबतक इस अशुचिशरीरका संयोग रहता है तबतक यह आत्मा संसार-रूपी रोगसे ग्रसित रहता है। और आशा पाशमें बन्धकर अपनेको कर्म बन्धनसे बांधनेका प्रयत्न करता रहता है। और जिस तरह मकड़ी अपने ही मुंहसे निकले तन्तुजालसे बन्धकर अपने प्राणोंको भी खो बैठती है। किन्तु जब इस शरीरका सर्वथा वियोग हो जाता है—ध्यानादिके द्वारा जब आत्मा जन्म मरणादिरूप विषमदोषों को जला देता है, उनका आत्मासे ऐसा आत्यन्तिक विछोह कर देता है कि फिर वे भविष्यमें उस ओर झांक भी न सकें—तब आत्मा अपने स्वरूपको पा लेता है। इसी कारण विद्वान लोग उससे ममता नहीं करते ; किन्तु वह मूढ पुरुषोंको प्यारी लगती है—वे रातदिन उसको ही पुष्ट करने और उसे साफ सुथरा बनानेके प्रयत्नमें लगे रहते हैं वे अपने स्वरूपकी ओर कभी दृष्टि पसार कर भी नहीं देखते। जिन जीवोंने इस शरीरको ही पुष्ट करनेका प्रयत्न किया है—उसीकी सेवा-में अपना सर्वस्व अर्पण किया है वे ही दोषी हुए और उन्होंने ही भव-परम्पराके अनेक असह्य कष्ट भोगे और भोग रहे हैं। परन्तु जिन विवेकी पुरुषोंने इस जड़ शरीरके रहस्य-को जान कर तपश्चर्या और आत्मध्यानके द्वारा उसका शोषण किया है उन्होंने ही स्वात्मोपलब्धिरूप अमृतका पान किया है और कर रहे हैं इस तरह कविवर अपने शरीरकी स्थितिका विचार करते हुए और अपनेको सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे दौलतराम! यह शरीर इन्द्रधनुष, शरदऋतुके बादल, और पानी-के बुलबुलेके समान शीघ्र ही विनष्ट होने वाला है तू इस शरीरसे अपनी चैतन्य आत्माको भिन्न जानकर समताका धारी बन—स्व-पर-वैरी राग-द्वेष रूप विभाव-भावोंका—परित्यागकर, जो तेरी आत्मनिधिके घातक हैं।

अन्य किसी दिन आत्मस्वरूप पर दृष्टि डालते हुए पंचे-न्द्रियोंके विषय और उन विषयोंसे होने वाली रतिसे हानि-का विचार कर उनसे विरक्तिद्वारा आत्मरसके आस्वादन-की महिमाका ध्यान करते हुए एवं अपनेको समझाते हुए मनमें कुछ गुनगुनाते हुए कविवर कहते हैं:—

"अब अद्‌भुत पुण्य उपायो, कुलजात विमल तू पायो।
यातैं सुन सीख सयाने, विषयनिसौं रति मत ठानै॥
ठानै कहा रति विषयमें ये विषम-विषधर सम लखो,
यह देह मरत अनन्त इनको त्याग आतम-रस चखो।
या रस रसिक जन बसे शिव अब बसैं पुनि बसि हैं सही॥
'दौल' स्वरचि पर विरचि सतगुरु सीख उर नित धर यही॥

हे दौलतराम! तूने महापुण्यसे उत्तम कुल और उच्च जातिमें जन्म लिया है। कर्मोदयसे शरीरको सुख कर सातारूप सामग्रीका भी तुझे लाभ हुआ है, और पंचेन्द्रियोंके विषयोंके योग्य भोग्य सामग्रीका संयोग भी मिला है। यद्यपि तू चतुर है परन्तु तो भी तू उनमें संलग्न होकर कदाचित् अपनेको न भूल जाय, अतः यह सीख सुनो, पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें रति मत करो, क्योंकि ये विषय विषम विषधरके समान हैं—विषधरके डसनेसे इस शरीरका एक बार नाश होता है किंतु इनके सेवनसे इस शरीरका अनन्त बार विनाश होता है। अतः तेरी भलाई इसीमें है कि तू इनका त्याग कर निजात्म-स्वरूपका वह अद्‌भुत रस चख। जिस स्वानुभवरूप रसके रसिक जन कर्म कलंक रूप 'अन्तर' बाह्य कालिमाको जलाते हैं—विनष्ट करते हैं और स्वरूप-को प्राप्त करते हैं—मुक्तिके अधिकारी बनते हैं। बने हैं, और बनेंगे। अतएव तू पर रतिका त्यागकर स्वरूपानुभव में रति कर—निजात्माके ध्यान द्वारा स्व-परका स्वामी बन यही सत् गुरुकी सीख है जिसे तू सदा हृदयमें धारण कर। तू अपने दिलकी कपाटी खोल, और अपने ज्ञायक भावकी ओर देख, तेरा स्वरूप कर्मकी दलदलसे लिप्त है—वह विकृत और अशान्त हो रहा है उससे निकलनेके लिये छटपटा रहा है। तू ज्ञानी होकर और बड़ी कठिनतासे इस मानव जन्मको जिनधर्मकी पावन गंगामें अवगाहन किये बिना ही विषयोंकी लालसामें खो रहा है जिस तरह मणि-के अमूल्य मूल्यको न समझ कर कोई मूर्ख उसे समुद्रमें डाल कर पीछेसे पश्चात्ताप करता है रोता और विलाप करता है; परन्तु वह मणि पुनः हाथमें नहीं आता। उसी तरह यदि तूने भी यह नर भव यों ही खो दिया, सम्यग्दर्शन रूप मणिको प्राप्त नहीं किया, तो तुझे भी केवल पश्चात्तापकी दाहमें जलना और कष्ट उठाना होगा। फिर पछतानेसे क्या लाभ हो सकता है!

अन्य किसी दिन ध्यान—मुद्रामें अवस्थित कविवर आत्मस्वरूपका चिन्तन करते हुए ज्ञानानन्दमय परमात्म-

स्वरूपका और उनके अनन्त गुणोंके विचारमें निमग्न हुए गुणानुरागके आवेगको न रोक सके, और भक्ति-उद्रेकमें कह उठे।

तुम बहु पतित सुपावन कीने, क्यों न हरो भव संकट मेरे।
भ्रम उपाधि हर शम-समाधि, कर बौल भये तुमरे अबचेरे॥

हे जिनेंद्र! आपने कर्म समूहका नाश कर उस वीतराग निजानन्द निराकुल आनन्दको प्राप्त किया है। और अनन्त जीवोंको उस मार्गका पथिक बनाकर—आत्माके वास्तविक चिदानन्द स्वरूपका भान कराकर भव दुःखसे उन्मुक्त किया हैं। जिन्होंने आपकी शरण ग्रहण की है, उन्होंने जन्म जरा-मरण रूप भयंकर रोगोंका नाश कर अज-अजर और अमरता प्राप्त की है। और जिन्होने आपकी शरण छोड़ दी है वे चतुर्गति रूप संसारमे भ्रमण करते हुए महान् विपदाओंके पात्र बने हैं। आप ही ससारी जीवोके हितैषी एवं अकारण बन्धु हैं दयालु हैं, अहिसा रूप परमब्रह्मकी पूर्ण प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए हैं मुझे चिरकालमे विधि कराल-काल रूपी काल घेरे हुए है, अतः आप मेरे दुखोंको शीघ्र टालनेका प्रयत्न कीजिये। संशय विभ्रम और मोह रूप त्रिदोषोंने मुझे संसार वनमे भटकाया है, दुखी किया है, और मैं उन दोषोंकी कुसंगतिसे अपने स्वरूपको भूल गया हू पर मे आत्माकी कल्पना करने लगा, राग-द्वेष रूप उपाधिभावोंको अपना स्वरूप समझ और मोहमदका पान कर पंचेंद्रियोंके विषयोंमें चिरकालसे मग्न रहा, और दुःखका पात्र बनता रहा। आज मै भाग्योदयसे आपका दर्शन पाकर चिरकालके उस भारी सतापको भूल गया—मुझे भूली हुई उस निज निधिका दर्शन हुआ, जिसे मै असेंसे पानेका इच्छुक था, मुझे अब यह निश्चय हो गया कि आप ही मेरे भवदुख मेटनेमें समर्थ है—जन्म-जरा-मरण रूपवेदनासे उन्मुक्त कर सकते है, अतः मुझे वह उपाय बतलाइये जिससे मे कर्मकी उस महासेनाका दमन करनेमें समर्थ हो सकू। मुझे संसारके अन्य किसी वैभव और भव-सुखोकी वाछा नही है, और न उस वाछाको आप पूरा ही कर सकते है। क्योंकि आप अकिंचन और वीतारागी है, कर्मजयी और समताके आकार हैं मैंने उनका अनन्त पर्यायोंमें उपभोग किया है, परन्तु उनसे तृप्ति नही हुई। उल्टी मेरी तृष्णा बढ़ती ही गयी और मैं चाह-दाहकी भीषण ज्वालामें जलता रहा हू। अब मुझे अपनी चिर भूलका पता चला है मैं कौन हूं क्या मेरा रूप है, और मेरा स्थिर बास कहां है! मै किस कारणसे इधर-उधर घूम रहा हूं अब मेरा क्या कर्त्तव्य है। इन चक्षुरादि इंद्रियोंसे मैं जो कुछ भी देखता जानता हूं वह मेरा रूप नहीं, जो कुछ मुझे दीख रहा है वह सब पुद्गलका परिकर है, परिणाम है और जड़ है, मै भूलसे उसे ही आत्मा समझता था, मै चैतन्य द्रव्य हूं, और मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है। उनमें राग विरोध करना मेरा कार्य नही और न वह कभी मेरा स्वरूप हो ही सकता है। मेरी आत्माके अहित करने वाले विषय और कषाय हें। मै इनमें प्रवृत्ति करके ही दुःखका पात्र बना हूं। जब एक एक इन्द्रियके विषय प्राण घातक हैं तब पांचो इंद्रियोंके विषय किन-किन अनिष्टोंके जनक और दुख दाई न होंगे यह कल्पना भी अमित दुखका कारण हैं' इसी तरह आत्माकी कल्मष-परिणति संसार-व्याधिको बढा रही है।

यह सकषाय परिणति ही कर्मबंधको सुदृढ़ और सरस बनाती है जिससे मेरा आत्मा कर्मबंधनसे नही छूट पाता। सासारिक विषय और यह कषायभाव ही बन्ध-परम्पराके जनक और अत्यन्त दुःखदायी है। मेरी ज्ञानरूप-निधिके घातक है। अतः मै बुद्धिपूर्वक इनमें प्रवृत्त न होऊ इसी मे मेरा हित है। यदि कदाचित् बिना किसी प्रयत्नके ये विभाव भाव उदित भी हो जायें तो भी मै उनमें राग-विरोध रूप प्रवृत्तिको जमनेका अवसर न दूं यही मेरा पुरुषार्थ है। हे जिनेन्द्र यही मेरी बह वेदना है जो मुझे बेचैन किये देती है। अतःआप वह सुबुद्धि दीजिये अथवा आपके सान्निध्यसे मेरी आत्मामे वह अत्मबल जाग्रत हो जिससे मै कर्म-बन्धनसे उसी तरह अपनेको जुदा करनेमे समर्थ हो सकू जिस तरह म्यानसे तलवार अलगकी जाती है। हे वीतराग विज्ञानधन! भव दुःखसे उन्मुक्त करनेमें आप ही मेरे निमित्त कारण हैं आपकी वह प्रशान्त मुद्रा मुझे स्व-पर स्वरूपके पिछान करनेमें निमित्त हुई है। अब मेरी आत्मा में शिवराहके लाभकी आकांक्षा हुई है—मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्मनिधिके प्राप्त करनेका अभिलाषी हुआ हू—हिंसा और रागद्वेषादि रूप असयम भावोमें मेरा उत्साह क्षीण होता जा रहा है। सांसारिक भोग भुजंगके समान दुःखद प्रतीत होते हैं। उनकी अभिलाषा दूर करनेके लिए तो तीन लोककी संपदा भी थोड़ी है। जिन्होने उससे ममता तोड़ी,वे ही सुखी हुए हैं तुझे भी सुखी होना है तो तू भी वही प्रयत्न कर। ध्यान और समाधिके द्वारा कर्ममलको जलाने या नाश करनेका प्रयत्न

कर। ज्ञान और वैराग्य ही हितकारी हैं अब मुझे अपनी उस आत्मनिधिका भान हो चुका है। इसीकारण मैंने आपकी शरण ग्रहण की है आप जैसा संसारमें पतिततार नही सुना। अतएव मेरी यही अरदास है कि मेरा फिर भववास न हो। हे दौलतराम! तू पुण्य पापके फलमें हर्ष-विषाद क्यो करता है—क्षणमे रोता और क्षणमें हंसता है—निज कर्तव्यको क्यो नही संभालता और संयमरूपी जल लेकर अपने कलिमलको क्यों नही धोता? इस तरह कविवर स्वरूप-चिंतन करते हुए अपनी आत्माको बार-बार सम्बोधित कर स्वपरमें रहनेके लिए सावधान करते देखे जाते हैं। उनकी आध्यात्मिक पदावली उनकी निर्मल आत्मपरिणतिकी अभिव्यंजक है। उन्होंने जो अपनी आत्मभावना व्यक्त की है उसका निर्दशन निम्न पदसे होता है :—

मेरे कब ह्वं है वा दिन की सु-घरी ॥
तन विन वसन असन विन बनमें, निवसों नासादृष्टि धरी ॥१
पुण्यपाप परसौं कब विरचौं, परचौं निजनिधि चिर-विसरी।
तज उपाधि सजि-सहज-समाधी, सहौं धाम-हिममेघझरी ।।२
कब थिर जोग धरौं ऐसो मोहि, उपलजान मृग खाजहरी।
ध्यान-कमान-तान अनुभव-शर, कादिन छेदौं मोह अरी ॥३
कब तृण कंचन एक गिनौं अरु, मणिजड़तालय शैलदरी।
'दौलत' सतगुरु चरन सेव जो, पुरवै आश यहै हमरी ॥४

इस तरह कविका आध्यात्मिक पद संग्रह उनकी आन्तरिक निर्मलता और आत्मानुभवकी सरस भावनाका प्रतीक है। आध्यात्मिकताका वह मधुररस उनके पद-पदमें समाया हुआ है। साथ मे देह-भोगोकी निःसारताको व्यक्त करते हुए निर्वेदभावनाका जनक है। उसे पढते ही आत्मा एक प्रकारके आनन्दमें लीन हो जाता है जो अनिर्वचनीय है।

आपकी दूसरी कृति छहढाला है जिसे पढ़कर पाठक निजानन्दरसमें मग्न हो जाता है, उसका हृदय आनन्द-विभोर हो उठता है और वह कुछ समयके लिए अपनेको सर्वथा भूल जाता है तथा अपने चिदानन्द स्वरूपका स्मरण आते ही उसे जानने और प्राप्त करनेके प्रयत्नमें लग जाता है। कविवर दौलतरामजीने इस कृतिमें—छहढालो, चालो अथवा छन्दोंमें—जीवकी चाह, चतुर्गतिके दुःख, उनका कारण, सुखका स्वरूप और सुखप्राप्तिके कारणोंके साथ दुःखोंसे छुटकारा पानेके उपाय-स्वरूप-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप श्रावक और मुनिधर्मका बड़ा ही सुन्दर एवं मार्मिक विवेचन किया है। जैनसिद्धान्तके गहन तत्त्वोंका सरल एवं संक्षेपमें जो नवनीतामृतरूप सार निकाला गया है वह हृदयस्पर्शी, और गम्भीर है तथा अन्तस्तलको निर्मल ही नहीं बनाता, किन्तु वह समता और आत्मकर्तव्यकी ओर भी आकृष्ट करता है।

कविवर दौलतरामजीने तीसरी ढालके १५ वें छन्दमें अन्तरात्मा अविरतसम्यग्दृष्टिकी आत्म-परिणतिका उल्लेख करते हुए लिखा है:—

दोष रहित गुण सहित सुधी जे, सम्यक्दर्श सजे हैं।
चरित मोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजे हैं॥
गेही पै गृहमें न रचै ज्यों जलमें भिन्न कमल है।
नगरनारिको प्यार यथा का-दे में हेम अमल है ॥१५॥

जो बुद्धिमान् पुरुष पच्चीस दोषोसे रहित और सम्यक्त्वके निःशंकत्वादि आठ गुण सहित सम्यग्दर्शनसे शोभायमान है। यद्यपि चरित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह लेशमात्र भी सयम धारण नहीं करता—उसके संयम धारण करनेकी हृदयमें उत्कट भावनायें उदित होती रहती है परन्तु तो भी चरित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियोंके उदयसे उसकी आत्मपरिणति मकानके ऊपर स्थित ध्वजाके समान चचल रहती है इसी कारण वह अपनी भावनाको मूर्तरूप देनेमें असमर्थ रहता है—तो भी वह अपनी निर्दोष आत्मदृष्टिके कारण देवेन्द्रोंसे पूजित होता है। वह घरमे रहता हुआ भी जलमें कमलके समान अलग रहता है:—उसमे उसका राग नही होता। घरमे उसका प्रेम नगरनारी (वेश्या)- के समान होता है जिस तरह वेश्याका प्रेम पैसे पर होता है पुरुष पर नही, इसी तरह सम्यग्दृष्टिका प्रेम अपने आत्मलक्ष्यपर रहता है, गृहादि पर वस्तुओसे नही। अथवा कीचडमे पडा हुआ सोना जिस तरह निर्मल रहता है फिर उसमें कालिमाका प्रवेश नही हो पाता, उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी घरमें बसता हुआ भी उदासीन ही रहता है।

चतुर्थ ढालमे कविने सम्यग्ज्ञानके महत्वको प्रकट करते हुए तत्त्व अभ्यासकी प्रेरणाके साथ ज्ञानके दोषोके त्यागका सकेत करते हुए मनुष्य पर्याय उत्तम कुल और जिनवाणीके श्रवनको 'सुमणि' ज्यों उदधि समानी' के समान दुर्लभ बतलाया है। साथ ही कर्मोदयसे प्राप्त वैभव और राज्यादि सामग्री आत्माके किसी काम नही आती किन्तु ज्ञान जब अपने आत्मस्वरूपको पाकर निश्चल हो जाता है।—अपने ज्ञानस्वरूपमें ही रम जाता है। उस आत्मज्ञानका कारण स्व-परका विवेक है। उस विवेकज्ञान (भेदज्ञान) को करोड़

उपाय बनाकर भी हृदयमें अवधारण करनेकी प्रेरणाकी है; क्योंकि जिन जीवोंने आत्मस्वतन्त्रता प्राप्त की है और करेंगे वह सब भेदज्ञानसे ही प्राप्त हुई हैं। संसारके प्राणी विषयोंकी चाह रूपी आगमें जल रहे हैं उस चाह-दाहके बुझानेका एकमात्र उपाय ज्ञान घन-धान' के सिवाय अन्य नहीं है। यह अज्ञानी जीव पुण्य-पापके फलमें हर्ष-विषाद करता है। सो यह पुण्य-पाप पुद्गलकर्मकी अवस्थाएं हैं वे कभी उत्पन्न होती और नष्ट हो जाती हैं—स्थिर नहीं रहतीं। हे दौलतराम! लाख बातकी यह बात है कि तुम संसारके सम्पूर्ण दंद-फंद (विकल्पजाल) को छोड़कर निरन्तर अपनी आत्माका ध्यान करो। इस तरह यह सारा ही ग्रन्थ जैनसिद्धान्तके गंभीर रहस्यका उद्‌भावक और हिन्दीकी भावपूर्ण कविताको लिए हुए है।

अब कविवर अपनी आत्माको सम्बोधित करते हुए कहते हैं:—

" 'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै,
यह नर भव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै" ॥
"मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं,
अरु धरेंगे ते शिव लहैं तिन सुयश जल जगमल हरैं ॥
इमिजानि आलसहानि साहसठानि यह सिख आदरौ ॥
जब लौं न रोग जरा गहै, तब लौं झटिति निज हित करौ ॥
यह राग आग दहै सदा तातें समामृत सेइये ।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निजपद वेइये ॥
कहा रच्यौ पर पदमें न तेरो पद यहै क्यों दुख सहै ।
अब 'दौल' होऊ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चूको यहै ॥"

हे दौलतराम! तू चेत और अपने अमूल्य समयको व्यर्थ मत खो, यदि इस जीवनमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई तो इस मानव पर्यायका मिलना कठिन है। जो पुण्यात्मा-जीव निश्चय-व्यवहार रूप रत्नत्रयको धारण करते हैं और करेंगे वे मोक्ष पाते हैं और पावेंगे। उनका यशरूपी जल संसारमलको दूर करेगा, ऐसा जानकर आलसको छोड़कर और साहस कर यह सीख मानो कि जबतक तेरा जरारूपी-रोग न आवे तबतक शीघ्र ही निजहित करो। यह जीव रागरूपी आगमें सदा जल रहा है अतएव समतारूपी अमृत-का सेवन करना चाहिए, और चिरकालसे सेवन किये हुए विषय-कषायोंको छोड़कर अपने चिदानन्द टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावका अनुभव कर। पर पदमें क्यों राग कर रहा है, यह तेरा पद नहीं है तू किस लिए दुःख सहता है। हे दौलतराम! अब तू सुखी हो और स्वपदमें रच—स्वस्वरूपमें मग्न हो—यह दाव अथवा अवसर मत चूक।

कविवरने सं० १९१० में माघवदी चतुर्दशीके दिन गिरिराज सम्मेदशिखरजीकी यात्रा कर अपने जीवनको सफल बनाया था, और उसकी स्मृतिमें एक पद भी बनाया था। भगवान पार्श्वनाथकी वंदना कर हृदयमें विचार किया कि हे भगवान्! कब वह अवसर पाऊं जिस दिन मैं स्वस्वरूपका अनुभव कर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करूं।

इस तरह कविवरने देहलीमें उसके बाद १०-१२ वर्ष और जीवनयापन किया। उनका जीवन बड़ा ही सीधा-सादा और आडम्बरहीन था। दुनियाके भोगभाव उन्हें असुन्दर प्रतीत होते थे। और प्रकृतिके प्रतिकूल पदार्थोंके समागम होने पर भी उनमें उनकी अरुचि तो रहती ही थी। पर उसकी चर्चा करना भी उन्हें इष्ट नहीं था।

कहते हैं कि कविवरको एक सप्ताह पहले अपनी मृत्युके समयका परिज्ञान हो गया था, उसी समयसे उन्होंने अपना समय और भी धर्मसाधनमें बितानेका प्रयत्न किया—और कुटुम्बियोंके प्रति रहा सहा मोह भी छोड़नेका प्रयास किया। सं० १९२३ या २४ में ठीक मध्यान्हके पश्चात् इस नश्वर-शरीरका परित्याग कर देवलोकको प्राप्त किया। उसी दिन गोम्मटसारका स्वाध्याय पूरा हुआ था। उन्होंने अपने शरीरका त्याग महामन्त्रका जाप करते करते किया था।

देहली, ता० ५-५-५२

सूचना— साहित्य परिचय और समालोचन अगली किरण में आवेगा—प्रकाशक

जैन साधुजनोंके निष्क्रिय एकाकी साधनाकी छेड़छाड़

(श्री दौलतराम 'मित्र')

आजकल लोगोने एक रिवाज-सा बना लिया है कि अपनेसे भिन्न प्रकारकी सेवा (भले ही वह अधिक उत्तम हो) करनेवालोंको कुछ तो भी भलाबुरा कहना।

अर्थात् इन्दौर मे ता० ६-४-५२ को "अखिल विश्व-जैन मिशन" के प्रथम अधिवेशनके अध्यक्ष श्री रिषभदासजी रांका वर्धावालेने भी उक्त रिवाजका आश्रय लेकर जैन साधुजनोंके निष्क्रिय एकाकी साधनाकी छेड़-छाड़ की है। उनका कहना हुआ कि--

"जिस प्रकार ईसाई साधु प्रत्यक्ष सेवाका काम करते है वैसे ही हमारे साधुओंको भी करना चाहिए।" "साधुओ-का वैराग्य इतना एकाकी हो गया है कि वे अब अनुपयोगी माने जाने लगे है।" "साधु इतने त्यागी होते है कि समाजसे कोई वास्ता नही रखते.....वैराग्यका अर्थ निष्क्रियता नही, अनासक्ति है।"

बेसमझ आदमीकी बातपर आन्दोलन करनेकी जरूरत नही होती। किन्तु समझदार आदमी यदि बेतुकी बात करदे तो जरूरत हो जाती है।

श्री रांकाजीकी बात सिर्फ उनकी अपनी निगाहमें जैनसाधुओंकी एकाकी निष्क्रिय साधनाका महत्त्व नही जंचने पुरती होती तो एतराज योग्य नहीं थी किन्तु वह तो लोकनिगाहमें उक्त साधुसाधनाका हलकापन जचनेका प्रतिनिधित्व भी करती है। अतएव वह एतराज योग्य है। देखिए वह कहां तक ठीक है—

नीचे लोकमान्य पुरुषोंके प्रवचनोंमेंसे कुछ संगत अंश अंकित किये जाते है जो बतलाते है कि समाजसे वास्ता न रखकर एकाकी निष्क्रिय साधना (अप्रत्यक्ष सेवा) करने-वाला व्यक्ति ही पूर्ण पुरुष है। न कि समाजसे, वास्ता रखकर सक्रिय साधना (प्रत्यक्ष सेवा) करनेवाला व्यक्ति—

"योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यत् चित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥"

(गीता ६।१०)

अर्थ—चित्त स्थिर करके वासना और संग्रहका त्याग करके अकेला एकान्तमें रहकर योगी निरन्तर आत्माको परमात्माके साथ जोड़े।

"विविक्तदेश सेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥"

(गीता १३।१०)

"एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥"

(गीता १३।११)

अर्थ—एकान्त स्थानका सेवन, जनसमूहमें सम्मिलित होनेकी अरुचि।" "यह ध्यान कहलाता है, इससे उलटा जो है वह अध्यान है।"

म० गांधीने कहा है—

"ईश्वरने मुझ जैसे अपूर्ण मनुष्यको इतने बड़े प्रयोग-के लिए क्यो चुना? मै अहंकारसे नहीं कहता लेकिन मुझे विश्वास है कि परमात्माको गरीबोंमें कुछ काम लेना था। इसलिए उसने मुझे चुन लिया। मुझसे अधिक पूर्ण पुरुष होता तो वह शायद इतना काम न कर सकता। पूर्ण मनुष्य-को हिन्दुस्थान पहिचान भी नहीं सकता। वह बेचारा विरक्त होकर गुफामें चला जाता। इसलिए ईश्वरने मुझ-जैसे अशक्त और अपूर्ण मनुष्यको ही इस देशके लायक समझा। अब मेरे बाद जो आवेगा वह पूर्ण पुरुष होगा।"

(गांधी सेवा संघ सभा ता० २२-६-४०)

इस प्रकार अलौकिकी वृति धारक (पु. सि. १६) महात्माओं (साधुजनों) को दूषित ठहराना क्या है? जैसाकि श्री कालिदासने कहा है—वह है और क्या है! कहा है—

"अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकम्।
द्विषंति मंदाश्चरितं महात्मनाम्॥"

सच तो यह है कि —लौकिक ज्ञानदान, अभयदान, आहार दान, गुणसुश्रुषादान, इन चार प्रकारके दान द्वारा प्रत्यक्ष जन-सेवा करना यह सावद्यकर्त्तव्य है। जो कि प्रवृत्ति प्रधान, अधिकांश प्रशस्त रागी द्वेषी, शत्रु मित्रप्रति असमान दृष्टि रखनेवाले, सामाजिक जिम्मेदारी सहित, अहिंसाधर्म-के उपासक (अणु साधक) गृहस्थोचित (श्रावको चित) कर्त्तव्य है। न कि—निवृत्ति प्रधान, अल्पांश प्रशस्त रागी द्वेषी, शत्रु-मित्र प्रति समान दृष्टि रखनेवाले, सामाजिक जिम्मेदारी रहित, अहिंसाधर्मके महा साधक, वनस्थ मुनियों (साधुओं) के उचित कर्त्तव्य है।

कुछ लोग ऐसा ख्याल करते है कि प्रवृत्तिपरायण मनुष्य निवृत्तिपरायण मनुष्यसे परम-श्रेष्ठ-धर्मात्मा है। क्योंकि नि० परायण मनुष्य तो निजहित (इष्ट-उपकार-सुखदकार्य) ही करता है किन्तु प्र० परायण मनुष्य तो परहित भी करता है।

परन्तु यह खयाल ठीक नहीं है। देखिए दो बातों पर ध्यान दीजिए—

१. एक तो यह कि परजीवोंको दुःख पहुंचाने वाली—परजीवोंको सुख-साधनोंकी लूट करनेवाली प्रवृत्तिके नियंत्रणका नाम है निवृत्ति-चित्तशुद्धि, चरित्र, धर्म, अनासक्ति अथवा अहिंसा महाव्रत

(पंचाध्यायी २/७५५-५७। ७६४-६५)

जैसा कि कहा है—

"कुल-जोणि-जीव-मग्गण ठाणाइसु जाण ऊण जीवाणं।
तस्सारम्भणियत्तण परिणामो होई पढम वदं ॥"

(नियमसार ५६)

अर्थ—कुलस्थान, योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणास्थान, इत्यादि जीवोंके ठिकानोंको जान करके उनमें आरम्भ करनेसे हटनेका जो परिणाम है वही प्रथम अहिंसाव्रत है।

२. दूसरी यह कि पर-रक्षाको जो परोपकार (सेवा) कहा जाता है, असलमें यह परोपकार नहीं किन्तु निजोपकार है। क्योंकि बिना राग (कषाय) भावके परका अपकार (घात) होता नही, और राग भाव जो है सो प्रथम निज आत्मा का अपकारक (घातक) है अतएव अपनी रक्षाके लिए पर-रक्षा आवश्यक है—कर्त्तव्य है न कि एहसान, परोपकार या सेवा। जैसा कि कहा गया है—

"आत्मेतराङ्गिणामंग रक्षणं यन्मतं स्मृतौ।
तत्परं स्वात्मरक्षायां कृतं नातः परत्रयत् ॥"

(पंचाध्यायी २/७५६)

"यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथम मात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यंतराणांतु ॥"

(पु सि. ४७)

अब बतलाइए इस निवृत्तिमें स्वहितके अलावा परहित (परसेवा) समाया हुआ है या नही? कहना होगा अवश्य है।

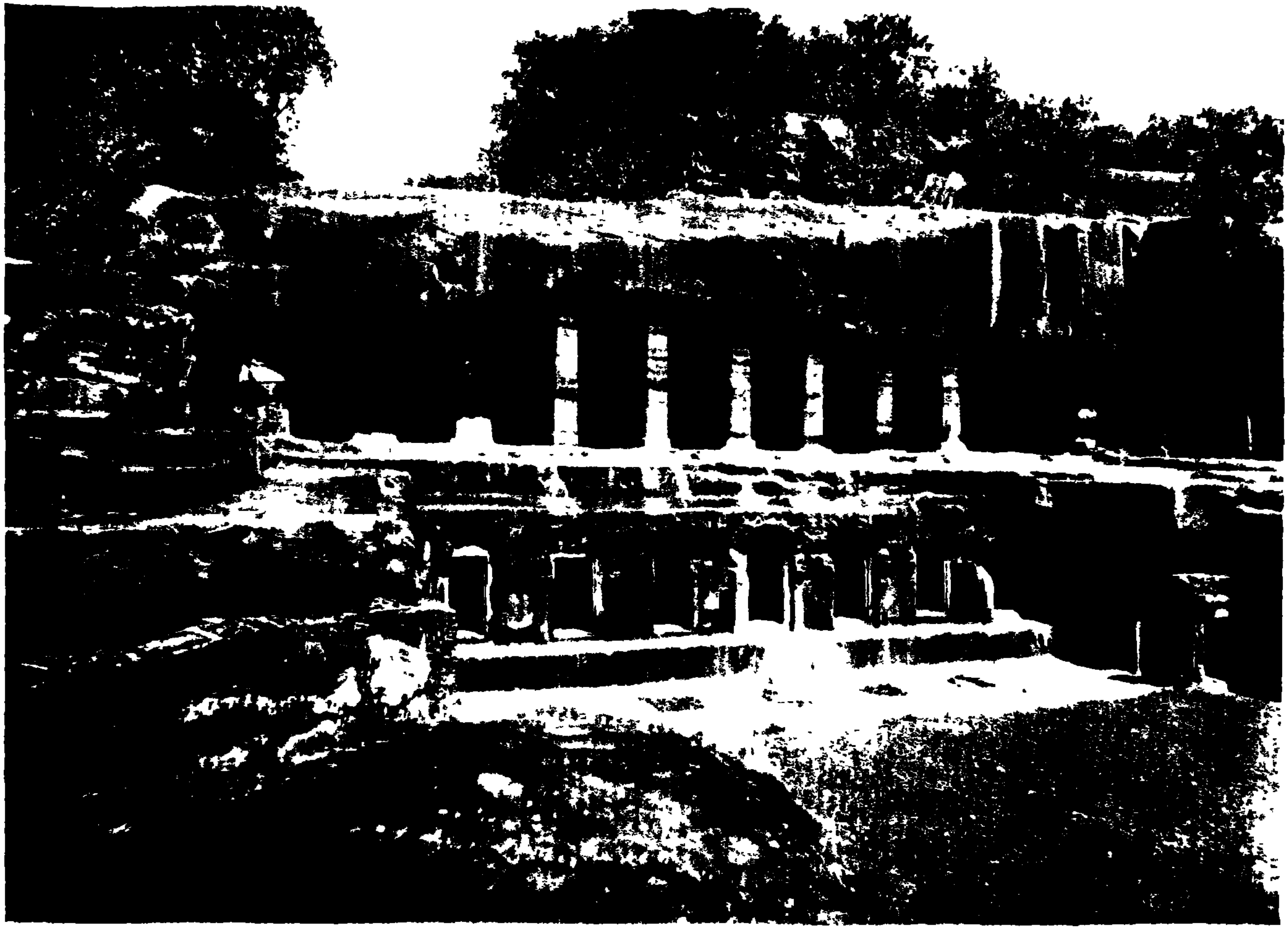
ऐसा भी कहा जा सकता है कि जब कि नि० परायण मनुष्य दो लड़ते हुए प्राणियोको छुड़ाकर अभयदान तो दे सकता है, परन्तु वह यह दान देनेको भी कोशिश नही करता फिर भी इन्हें श्रेष्ठ धर्मात्मा कैसे कहें?

नि० परायण मनुष्य (साधु) अभयदान देने की भी—कोशिश नही करता यह कहना भी ठीक नही है। कोशिश वह अवश्य करता है परन्तु उसका ढंग निराला है। ऊपर कह आये है कि साधुमें प्रशस्त राग-द्वेषका अधिकांश नही है।

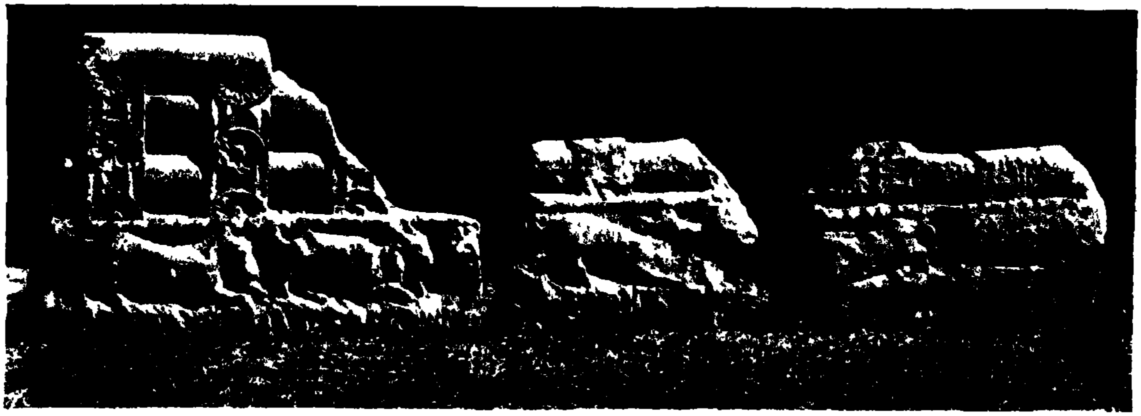
प्र० सार ३/५४

शत्रुमित्रके प्रति समान दृष्टि है, (आत्म प्रवाह, ११२) अतएव साधु प्रवृत्तिपरायण (श्रावक गृहस्थ) जैसी, याने एकका अहित (अनिष्ट, अपकार, दुःखदकारी) करके भी दूसरेका हित करने जैसी, सावद्य कोशिश नही करेगा। किन्तु साधु तो हिंसक (लड़ाकू) प्राणियोको—यदि वे समझ सकने लायक होंगे तो—अहिंसातत्त्व समझानेकी—उनका हृदय-परिवर्तन करनेको—कोशिश करेगा। यदि सफलता नहीं मिली तो गरम न होगा—राग-द्वेष न करेगा—उन लड़ाकू लोगोंको हाथापाई करके नही छुड़ायगा। अन्यथा-परिणाम यह होगा कि साधुको भी तीसरा लड़ाकू हो जाना पड़ेगा। और तब तो यह अहिंसाकी साधना नहीं होगी, किन्तु विराधना होगी। तो फिर—आखिर साधु करेगा क्या? —वह यही करेगा कि दिमागको ठण्डा रखकर वस्तुस्वरूपपर—लड़ाकू प्राणियोंके मिथ्यात्व पर—विचार करता हुआ वहांसे हट जावेगा—वनकी राह लेगा।

स्पष्ट हो गया है कि अलौकिकी वृत्तिधारक (पु. सि. १६) साधु—निवृत्ति परायण मनुष्य—परम (श्रेष्ठ) धर्मात्मा है और उनका निवृत्यात्मक कर्त्तव्य—निष्क्रिय एकाकी साधना—महत्त्वकी वस्तु है।—

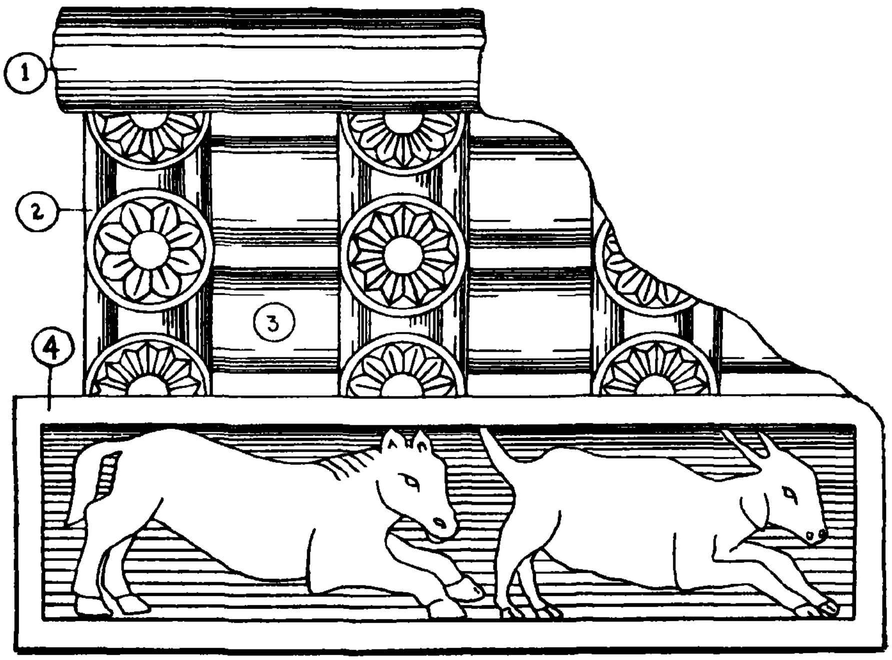


चित्र नं १। रानी गुफा, उदयगिरि, ई पू. द्वितीय शताब्दी



चित्र नं० २। वेदिका (Railings) के भग्नावशेष, उदयगिरि, ई पू. द्वितीय शताब्दी

चित्र नं० ३। वेदिका, ई. पू. द्वितीय शताब्दी



1. उष्णीष। 2. ऊर्ध्वपट्ट। 3. सूची। 4 अधिष्ठान।

महाराज खारवेल एक महान निर्माता

(श्री बाबू छोटेलाल जैन)

(१) मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त और अशोक, कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल आदि शासकोने अपने जीवनको प्रारम्भसे ही धर्माचरणमें लगाते हुए अन्तिम जीवनको तपश्चरण करते हुए व्यतीत किया था। अपनी सम्पत्तिको भी वे प्रजाहित और धार्मिक कार्योंमें लगाते थे। यही कारण है कि कलाके प्राचीन उच्चतम निदर्शन धर्मायतनोंमें उपलब्ध हो रहे हैं।

(२) प्राचीनकालमें कला धर्मकी सहचरी रही है। उस समयके शिल्पियोंने यह अनुभव किया था कि उनकी कलाका आदर केवल तभी होगा जब वह मानवकी धार्मिक या नैतिक रक्षामें सहायक हों। इसी कारण वे अपने प्रयासमें सफल हुए थे।

महाराज खारवेल एक महान सम्राट और कलिंगके शासक रूपसे तो अति प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनकी अन्य सुकृतियोंमे बहुत लोग अपरिचित है। उन्होंने प्रजाहितके अनेक कार्य किये थे। तथा प्रजाजनोंको सदा सुखी और सन्तुष्ट रखते थे। पुरानी इमारतोंका जीर्णोद्धार करवाकर उनकी रक्षा करना और नई तथा कलापूर्ण इमारतोंका निर्माण करना, और शिल्पियोंको पुरस्कारादिसे प्रोत्साहन देना यह उनकी एक विशेषता थी। यह बात उनके शिलालेख और उपलब्ध पुरातत्त्वसे स्पष्ट होजाती है।

अब हम पाठकोंके समक्ष शिलालेखके वे अंश उद्धृत करते हैं जिनमें उनके निर्माण-कार्योंका उल्लेख हुआ है:—

(१) अभिसितमतो च पधमे वसे वात-विहत-गोपुर-पाकार-निवेसनं पटिसंखारयति [।] कलिंगनगरि—[ि] खबीर-इसि-ताल-तड़ाग-पाडियो च बंधापयति [।] सवुयान-पटिसंठपनंच कारयति [॥] पनतीसाहि सत सहसेहि पकतियो च रंजयति [।]

महाराज्य पदमें अभिषिक्त होते ही प्रथम महान कार्य खारवेलने यह किया कि राजधानीके उन गोपुर (द्वारों) प्राकरो (शहर पनाह), अट्टालिकाओं, उद्यानोंका जीर्णोद्धार करवाया जो एक भयंकर तूफानसे क्षतिग्रस्त हो गये थे। जलाशयोके तथा प्रसिद्ध ऋषितालके बांध बंधवाये और इन कार्योंमें पैतीस लाख मुद्रा व्ययकर प्रजाका रंजन किया।

(२) [।] तथा चवुथे वसे विजाधराधिवासं अहत-पुवं कलिंगपुवराज (निवेसितं)

चतुर्थ (राज्य) वर्षमें विद्याधराधिवासको जिसे कलिंगके पूर्व राजाओंने बनवाया था। और जो पहिले कभी क्षतिग्रस्त नहीं हुआ था (शिलालेखके अक्षर नष्ट हो गये हैं इससे यह नही ज्ञात होता है कि खारवेलने उसका क्या सुधार किया) सम्भवतः उसको उन्नत बनाया गया।

(३) पंचमे च दानी वसे नन्दराज-तिवस-सत-ओघाटितं तन-सुलिय-वाटा पणाडिं नगरं पवेस [य] ति

पांचवे (राज्य) वर्षमें खारवेल नंदराजके १०३ वर्ष (संवत्*) में खोदी गई एक नहरको तनसुलियवाट (सड़क) से बढ़ा कर राजधानीमें लाये।

(४) राज —संनिवासं महाविजयं पासादं कारयति अठतिसाय सतसहसेहि

नवमें (राज्य) वर्षमें खारवेलने महाविजय नामक एक नया राजप्रासाद बनवाया जिसमें अड़तीस लाख पण (रुपये) खर्च हुए। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तका सुगंगि प्रासाद ई० पू० चतुर्थ शताब्दीमें अपनी भव्यता, विशालता, सौन्दर्य और समृद्धिके कारण लोकप्रसिद्ध था। अतः सम्राट् खारवेल भी चन्द्रगुप्तसे किसीभी प्रकार कम नहीं थे फिर वे क्यों न "महाविजय" प्रासाद बनवाते।

(५)......क. तु [.] जठर लिखिल-बरानि सिहरानि-नीवेसयति सत-वेसिकनं परिहारेहि।

---

* अर्थात् ई० पू० ३५५ वर्ष

यद्यपि लेखकी १३वी पंक्ति प्रारम्भमें खंडित हो गई है तो भी अवशिष्टांससे ज्ञात होता है कि बारहवें (राज्य) वर्षमें खारवेलने भीतरसे लिखे (खुदे) हुए सुन्दर शिखर बनवाये और सौ स्थपतियो (कारीगरो) को जागीरें प्रदान की।

(६) अरहत-निसीदिया समीपे पभारे वराकार-समुथपिताहि अनेक-योजनाहिताहि प. सि. ओ......सिलाहि सिंहपथ-रानी सिंधुलाय निसयानि......पटाल को चतरे च वेडूरियगभे थंभे पतिठापयति, पान-तरीय सत सहसेहि ।

लेखकी पद्रहवी पक्ति भी कई जगह खडित हो गई है अत. सुरक्षित लेखांसका अर्थ है कि तेरहवें (राज्य) वर्षमे खारवेलने अर्हतकी निषीदीके समीप, पर्वतपर, श्रेष्ठ प्रस्तर-खानोंसे निकाले हुए और अनेक योजनोसे ले आये गये पत्थरोंसे सिहप्रस्थ वाली रानी सिधुलाके लिए नि.श्रय बनवाये। लेखकी १६वी पक्तिका पूर्वाश खडित है अतः बादके लेखका अर्थ है कि खारवेलने वैडूर्य जड़ित चार स्तम्भ स्थापित किये, पचहत्तरलाख पण (रुपये) व्यय करके। डाक्टर वेणीमाधव बरुवाने इन पंक्तियोंको अन्य रूपमे पढ़ा है। उनका अभिमत है कि खारवेलने अपने राज्यके १४वे वर्षमे पंचहत्तर लाख रुपये व्यय करके जो इमारत बनवाई थी वह धार्मिक अट्टालिका थी और उसमें एक वैडूर्यके स्तम्भोका मडप था जिसकी पत्थरकी दिवालो पर ६४ खाने (Panels) थे जिनमे प्रत्येकमे सुन्दर भास्कर कार्य द्वारा विविध चित्र अंकित थे।

(७) "**सव-देवायतन—संखारकारको।**" इस अन्तिम पंक्ति (१७वी) में खारवेलको सर्व देवायतन (मंदिरो) के संस्कार (जीर्णोद्धार) कारक कहा गया है।

(८) इन पर्वतोंपर कई प्राचीन उल्लेखयोग्य गुफायें ऐसी हैं जिनमें कोई शिलालेख नहीं है। लेखवाली गुफाओंमें कहीं भी खारवेलका नाम नहीं है इससे मालूम होता है कि बिना लेखवाली गुफायें खारवेल द्वारा निर्मित है। अस्तु उदयगिरिकी रानी गुफा भी महाराज खारवेलने अपनी रानीके लिए बनवाई थी। हाथी गुफा शिलालेखमें खारवेलके ३८ वर्षके जीवनकाल तकका उल्लेख है और वे इसके पश्चात् भी जीवित थे। यह उनकी महारानीके शिलालेखसे सिद्ध होता है×।

इससे मालूम होता है कि रानीगुफा उनके राज्यके १८वे वर्षके बाद निर्मित हुई है, इसीमे शिलालेखमें इसका उल्लेख प्राप्त नही हुआ। या उल्लेख था तो वह अंश लेखमें खडित हो गया है।

रानीगुफाका भास्कर कार्य भारतके प्राचीनतम निदर्शनोमेंमे एक है। यह गुफा यहाकी सबसे बड़ी और केवल दो मजिलकी ही नही है पर बहुत विस्तृत है और अनेक उत्तम कलापूर्ण और मूल्यवान शिलाचित्रोंसे विभूषित है (चित्र न. १)

रानीगुफा अपने सम्मुखवर्ती उपयोगी विपाणक (पार्श्व-स्थ गृह), अनेक आगार और विशाल प्रकोष्ठकके लिए प्रसिद्ध है। प्रकोष्ठकके तीन तरफ दो खड (मजिल) युक्त इमारत है और चतुर्थ या दक्षिण-पूर्वकी ओर खुला स्थान है। ऊपरकी मजिलका मुख्य बरांडा ६२ फीट लम्बा है और नीचेकी मंजिलका बरांडा ४४ फीट लम्बा है। नीचेका दाहिनी पक्षका बरांडा १९ फीट लम्बा, ६॥ फीट चौड़ा और ७ फीट ऊंचा है और इसके भीतर २०×७×७ फीटका एक कमरा है। बाई तरफका बरांडा २३×९॥ फीट है और उसके भीतर ३ कमरे हैं। उत्तरपक्षका बराडा ४४ फीट लम्बा है और उसमें भी ३ कमरे हैं। नीचेकी मंजिलकी गुफाओंकी ऊंचाई ३¼ फीट और ऊपरकी मजिलकी गुफाकी ऊचाई ७ फीट है। पहिली मजिलके प्रधान या मध्यके पक्ष (Wing) मे चार कमरे हैं और दाहिनी और बाम प्रत्येक पक्षमें एक-एक कमरा है। बराडोके भारवाहक स्तम्भ सबके सब गिर गये है और आबहवाने यहाके सुन्दर खुदाईके कार्यको बहुत क्षति पहुंचाई है। इसलिए अब बरांडोंकी रक्षाके लिए नये स्तम्भ लगा दिये गये हैं। रानीगुफाके सामनेका खुला चौक प्रायः ४९ फीट लम्बा और ४३ फीट चौड़ा है जो पहाड़को काटकर बनाया गया है। (चित्र नं. २)

इन विवरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि खारवेल कितने महान् निर्माता थे। उनकी इस नीतिका प्रभाव उनके परिजनों और राजकर्मचारियों तथा प्रजापर भी पड़ा था। खारवेलकी प्रधान रानी, उनके उत्तराधिकारी और पौत्र तथा न्यायाधीश और कई प्रजाजनों द्वारा निर्मित लेखसहित

×अनेकान्त वर्ष ११ किरण १, शिला लेख चित्र नं. ६

गुफायें वहां हैं। सब गुफायें तथा अन्य इमारतें इस सिद्धक्षेत्र-पर होनेके कारण यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे धर्मायतन रूप है। इन गुफाओंकी बहुमूल्यता, विस्तृति और सौष्ठवके सम्बन्धमें तो कुछ लिखनेकी आवश्यकता ही नही है। इनमें उदयगिरीकी बड़ी गुफाओंमें द्वितलकी तीन—रानी गुफा, मंचपुरी और जयविजय तथा छोटी-हाथी गुफा तो गृहाकार हैं।

खंडगिरि-उदयगिरिपर वर्तमानमें उपलब्ध इमारतोमें एक भी ऐसी नही है जो पत्थरोंको जोड़कर या चिनकर बनाई हुई हो। जो है वे सभी पर्वतको खोदकर बनाई गई हैं। अब प्रश्न यह होता है कि जो इमारतें दूर देशसे लाये गये पत्थरोसे निर्माण की गई थी और जिनका उल्लेख हाथी-गुफाके अभिलेखमें किया गया है और जिनके निर्माणमें प्रचुर धनराशि व्यय की गई थी—वे कहां गई? वहां तो उनके भग्नावशेष भी देखनेमें नहीं आते हैं। इस प्रश्नका उत्तर यही है कि प्राचीनकालमें किसी समय इस पर्वतपर भयंकरता-से बिजली गिरी है या भूकम्प आदि कोई अन्य प्राकृतिक दुर्घटना हुई थी जिससे वहाकी इमारते धराशायी हो गई और पर्वतभी अनेक स्थलोंपर खडित हो गया था। शिलालेखके अनुसार इस पर्वतका मौलिक नाम कुमारीगिरी था, जिसका परवर्ती नाम १०वी शताब्दीके जैन साहित्यमें कुमारगिरि उपलब्ध होता है। खंडगिरिकी ललाटेन्दु केशरीगुफामें जो ११वी शताब्दीका लेख है उसमें भी पर्वतका नाम कुमारगिरि है। इससे मालूम होता है कि वह प्राकृतिक दुर्घटना ११वी शताब्दीके बाद हुई है और पर्वतके खडित हो जानेके कारण, खंडगिरि नाम प्रचलित हो गया। पर्वतकी दो चोटियां है इससे यह भी संभव है कि एक चोटी विशेष खडित हो जानेके कारण उसका नाम खडगिरि पड गया। फिर यह स्वाभाविक था कि दूसरी चोटीका भी कोई नाम रखा जाय। दूसरी चोटीसे सूर्योदय भली प्रकार दिखाई देता है इससे उसका नाम उदयगिरि रख दिया गया जान पडता है।

वर्तमानमें खंडगिरि और उदयगिरिके ठीक मध्यमें एक सड़क है जो बहुत दूर तक चली गई है। पाठक जानते हैं कि सरकार ठेकेदारोंसे सड़कें बनवाती है और सड़कोके निर्माणमें पत्थरोंकी रोड़ियां बहुत लगती है। पुरातत्त्वकी रिपोर्टोंसे जाना जाता है कि इन ठेकेदारोने अनेक प्राचीन मन्दिर, मठ, स्तूप, प्रासाद और अन्य उजड़ी हुई या जीर्णशीर्ण और त्यक्त इमारतोंके पत्थर और ईंट आदि उपादानोंका सड़कें, बांध और पुल बनवानेके कार्योंमें निर्ममतासे उपयोग कर, इतिहास, कला और संस्कृतिके विलोप-साधनमें बहुत बड़ा भाग लिया है और अन्याय किया है। अतः यही कारण है कि महाराज खारवेल द्वारा निर्मित यहांकी उन अट्टालिका-ओंके वे प्रस्तर जो उन्होंने बहुत दूरसे मंगवाये थे आज अनुप-लब्ध है। संभव है कुछ पत्थर पहाड़में राविश (मलवा) के नीचे दबे हुए हों। सन् १९५० में पुरातत्त्व विभागकी ओरसे उदयगिरिपर सीढ़ियां बनाई गई थी और कुछ जंगल भी साफ करवाया गया था और राविश उठाते समय प्रस्तर वेदिकाके कई खंड और एक नारी मूर्तिका धड़ (गलेके नीचेका भाग स्तनों तक) मिला था। ये सब भग्नावशेष हाथीगुफामें रख दिये गये है (चित्र नं. ३)। इनकी कला-से ये ई. पू. द्वितीय शताब्दीके मालूम होते हैं और यही समय खारवेलका है। वेदिका (Railing) के एक टुकड़ेके रेखा चित्र नं. ३ को देखनेसे उसके कलापूर्ण अलंकरण-का भान सहज ही में हो जाता है। इसके उर्ध्वपट्टके उत्फुल्ल कमल और अधिष्ठानके गतिशील पशु विशेष दृष्टव्य हैं। इन भग्नावशेषोंका पत्थर भी स्थानीय नही है। यह पत्थर कहांका हो सकता है इसकी परीक्षा मैं भूतज्ञ विशेषज्ञोंसे करवा रहा हूं। यदि पर्वतपर खुदाई की जाय तो अब भी पूर्ण आशा है कि कुछ प्राचीन भग्नावशेष उपलब्ध हो जांय।

स्थापत्यको अपने पार्श्वस्थ वस्तुओंसे पृथक नहीं किया जा सकता है। किसी भी देश या जातिके वास्तु (Architecture) के आदर्श निरूपण करनेमें जिन प्रधान प्रभावोंकी आशा की जा सकती है उनमें (१) प्रदेश—उससे सम्बन्धित भौगोलिक, भूतत्वविषयक और जलवायु सम्बन्धी अवस्था, (२) धर्म, (३) सामाजिक और राजनैतिक प्रभाव और (४) ऐतिहासिक प्रभाव है। यों तो ये चारों ही प्रधान है तो भी धर्म निःसन्देह सर्वोपरि बलिष्ठ है। सभी देशोंमें और खासकर भारतवर्षमें प्रधान अट्टालिकाये, जातिकी धार्मिक श्रद्धाका फल है। जातिके गुणोंको जितनी स्पष्टतासे धर्म व्यक्त कर सकता है उतना अन्य कोई नही। और उसके स्थापत्यपर धर्मसे अधिक आन्तरिक प्रभाव अन्य वस्तुका नहीं होता है। अतः रानीगुफा तथा अन्य गुफागृहोंमें प्रचुरतासे तक्षण (Sculptured खोदे हुए) किये हुए आश्चर्यकारी प्रस्तर चित्रों-को समझनेके लिए पहिले जैनधर्मके कथा साहित्यके अध्ययन करनेकी आवश्यकता है। अतीतकालीन स्थापत्य और

धर्मका अध्ययन करनेमें जो समय व्यय होगा वह सार्थक ही होगा; क्योंकि प्राप्त भग्नावशेषोंके एक-एक टुकड़े उस अतीतके इतिहास और अपने पूर्वजोंकी अवस्था और उनके गुणोंका ज्ञान आपको मंत्रमुग्ध ही न कर देगा पर आनन्द-दायक और प्रेरक भी होगा।

अतः इस विषयको आकर्षक और सरस बनानेके लिए पाठकोंके समक्ष यहांके चित्र बहुलतासे उपस्थित किये जायेंगे जिससे इनकी व्याख्या करनेका सुअवसर उन्हें प्राप्त हो; क्योंकि अभी तक इन चित्रोंका प्रामाणिक वर्णन कोई भी नहीं कर सका है। हां एक-दो चित्रोंकी व्याख्या हुई है। अनेकान्तकी किरणोंमें रानीगुफा तथा अन्य गुफाओंके सम्पूर्ण चित्र श्रीवीरशासनसंघ कलकत्ताके सौजन्यसे प्राप्तकर, पाठकोंके मनन तथा मनोरंजनके लिए प्रगट किये जायेंगे। कलकत्ता, ता० २-५-१९५२

आकस्मिक दुर्घटना

ता० ११ अप्रैल रविवारकी शामको ७।। बजेके करीब चावड़ीमें सड़क पार करते हुए पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारको तांगा दुर्घटनासे सख्त चोट आगई थी—एक्सरेसे मालूम हुआ कि उनकी तीन पसलियोंकी हड्डियां टूट गई थीं, चोट लगनेका कारण उनकी लाठी ट्राम्बे की लाइनमें आगई थी वे उसे निकाल रहे थे कि सहसा तांगा आ गया और उससे उन्हें चोट लग गई, वे बेहोश होकर सड़कपर गिर पड़े। मालूम होते ही ला० जुगलकिशोरजी कागजी उन्हें इरविन अस्पताल ले गए और प्रयत्न द्वारा भर्ती कराकर इन्जैक्शन लगवाया और दवाई भी खानेको दी गई जिससे उन्हें नींद आगई और वे ११।। बजे बोले, ला० जुगलकिशोर जी कहां है। मैंने कहा वे ९।। बजे चावड़ी चले गए हैं। जब चोट लगनेका समाचार देहली के प्रतिष्ठित सज्जनों और उनके हितैषी मित्रोंको मालूम हुआ, तो वे सब मुख्तार सा० को देखने अस्पतालमें पहुँचे। और उनके इस आकस्मिक दु.खमें सभीने सम्वेदना व्यक्त की, न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी पं० विजय कुमारजी आदि विद्वान भी आए और सम्वेदना व्यक्त की। उनके भतीजे बा० प्रद्युम्नकुमार जी भी उनकी सेवामें रहे। डा० एस० सी० किशोरने मुख्तार सा० को अस्पतालसे छुट्टी दिलाकर अपने आरोग्य सदनमें ले आए और उन्हे बड़े प्रेमसे रक्खा और दवाई तथा सिकाई पलस्तर आदि-के द्वारा उनकी चिकित्सा की, और डा० साहबके ज्येष्ठ भ्राता बा० जिनेन्द्रकिशोर जी जौहरी और उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती जयमालादेवीने उनका पूर्ण आतिथ्य किया। जिससे मुख्तार साहबका स्वास्थ्य सुधरा और चोटका दर्द भी कम हुआ, टूटी हुई पसलियोंकी हड्डियां भी जुड़ गईं और वे उठने-बैठने तथा थोड़ा चलने-फिरने भी लगे। ता० ७ मईको उनके भतीजे डा० श्रीचन्द जी 'संगल' उन्हें कार में एटा ले गए है जहां पर उनकी चिकित्सा हो रही है जिससे उनकी रही-सही कमजोरी और अवशिष्ट चोटका दर्द भी दूर हो जायगा और वे पूर्णतः स्वस्थ्य होकर समाज-सेवामें अग्रसर हो सकेंगे। देहली जैन समाज और डा० ए० सी० किशोर तथा बा० जिनेन्द्रकिशोर जी ने मुख्तार साहबके प्रति जो सहानुभूति प्रदर्शित की है व अपने कर्तव्यका पालन किया है उसके लिये वे धन्य-वादके पात्र हैं। साथ ही, ला० जुगलकिशोर जी और बा० पन्नालाल जी अग्रवाल धन्यवादके पात्र है, जो सदा उनके पास आते रहे हैं। वीरसेवामन्दिरके प्राण और मुख्तार साहबके अनन्यभक्त बा० छोटेलाल जी कलकत्ता, बा० कपूरचन्द जी जैन रईश कानपुर, पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री, पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य, पं० फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री बनारस, तथा पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी सागर, और श्री सेठ हुकमचन्द जी साहब इन्दौर आदि अनेक धीमान, श्रीमानोंने अपने सम्वेदना-सूचक पत्रों द्वारा आरोग्य कामना की है उसीका फल है कि मुख्तार साहब इतनी जल्दी आरोग्य लाभ करनेमें समर्थ हो सके हैं। इसके लिये मै, और वीर-सेवामन्दिर उनका आभारी है। वीर प्रभुसे प्रार्थना है कि मुख्तार साहब चिरजीवी हों और वे अपने आत्मकल्याणके साथ-साथ दि० जैन संस्कृतिकी सेवा करनेमें अग्रसर हो। साथ ही जैन समाज व उनके इष्ट मित्रोंका कर्तव्य है कि वे वीरसेवा मन्दिरको स्थायित्व प्रदान करते हुए मुख्तार साहबके भारको कम करनेका प्रयत्न करें।

निवेदक—परमानन्द जैन

आमेर भण्डारका प्रशस्तिसंग्रह

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

इस प्रशस्तिसंग्रहके सम्पादक हैं पं० कस्तूरचन्दजी शास्त्री, एम. ए. कासलीवाल, और प्रकाशक सेठ बधीचन्दजी गंगवाल, मंत्री, श्री महावीरजी अतिशय तीर्थक्षेत्र कमेटी जयपुर है। पृष्ठ संख्या ३३६ और मूल्य छः रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थमें भट्टारक महेन्द्रकीर्ति आमेरके शास्त्र-भण्डारके कतिपय संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश और हिन्दी ग्रन्थोंकी १९६ प्रशस्तियां दी हुई है और साथमें उनकी ५० लेखक प्रशस्तियां भी अंकित है। उक्त प्रशस्तियां ग्रन्थमें भाषाके क्रमसे तीन विभागोंमें विभाजित कर, दी हुई है। इससे ग्रन्थ तीन भागोंमें बंट गया है।

अन्वेषणके क्षेत्रमें प्रशस्तियां कितनी उपयोगी है और उनसे इतिवृत्तके निर्णय करनेमें क्या कुछ सहायता मिल सकती है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं, अन्वेषक विद्वान ग्रन्थकार और लेखक प्रशस्तियोंकी महत्तासे अपरिचित भी नही है। भारतीय जैनवाङ्मयमें इतिवृत्तिकी साधक बहुतसी सामग्री लुप्तप्राय हो गई है जो कुछ अवशिष्ट है उसमेंसे कुछ खण्डहरों, और भूगर्भमें दबी पड़ी है। फिर भी, बहुत कुछ सामग्री प्रशस्तियों, मूर्तियों, ताम्रपत्रों, पाषाणखण्डों, चित्रों तथा मूर्तिलेखोंमें अंकित उपलब्ध होती है। यदि वह सब संकलित होकर प्रकाशमें लाई जा सके तो उससे जैन इतिवृत्तोंके सिलसिलेवार लिखनेमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी सद्उद्देश्यको लेकर प्रकाशित किया गया है। महावीर तीर्थक्षेत्र कमेटी-ने इस दिशामें जो भी प्रयत्न प्रारम्भ किया है वह अवश्य अभिनन्दनीय है। पर इतने से ही सन्तुष्टि मान लेना समुचित प्रतीत नही होता। राजपूतानेमें पुरातन अवशेषोंकी कमी नही है। शास्त्रभंडार भी वहां अधिक मात्रामें पाये जाते है। यदि कमेटी ४-५ योग्य विद्वानोंकी नियुक्ति कर उस कार्यमें प्रगति करना चाहे तो मूर्ति लेखों और शास्त्रभंडारों-की सूचीका कार्य आसानीसे थोड़े समयमें सम्पन्न किया जा सकता है। पर इस दिशामें बहुत ही मन्दगतिसे कार्य किया जा रहा है। आशा है कमेटी इस विषयमें अपनी और भी तत्परता दिखायगी।

सम्पादकजीने इन प्रशस्तियोंके संकलन आदिमें काफी परिश्रम किया है, परन्तु जब प्रशस्तियोंका हम ऐतिहासिक दृष्टिसे पर्यवेक्षण करते हैं तब उसमें जो स्थूल त्रुटियां एवं भद्दी भूलें पद-पदपर नज़र आती हैं, और उनसे होनेवाले अनर्थकी ओर जब दृष्टि जाती है, तब चित्तमें बड़ा ही दुःख होता है। कहीं-कहीं पर तो उन मोटी-मोटी खटकने योग्य स्थूल त्रुटियोंके कारण पाठक भ्रममें पड़ जाता है और वस्तुस्थितिका कोई निर्णय नही कर पाता। वह कुछ समयके लिए किंकर्तव्यविमूढ़सा हो जाता है और फिर अन्य साधन सामग्रीके अभावमें वस्तुतत्त्वका यथार्थ निर्णय करना उसे अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतः उक्त प्रशस्तिसंग्रहमें जो स्थूल त्रुटियां रह गई हैं उनका परिमार्जन किये बिना कोई भी अन्वेषक विद्वान उससे यथेष्ट लाभ उठानेमें समर्थ नही हो सकता है। अतः उनका परिमार्जन एवं संशोधन होना अत्यन्त आवश्यक है।

इस ग्रन्थकी सम्पादकीय प्रस्तावना २२ पेजकी है जिसमें भाषाओंका परिचय कराते हुए ९८ वे ग्रंथकार कवियोंका संक्षिप्त परिचय भी दिया हुआ है। यद्यपि उसमें कितने ही कवियोंका परिचय नही दिया गया; पर जिनका परिचय दिया गया है उसमें भी पूरी सावधानी नही वर्ती गई, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि उस परिचयमें कुछ अन्यथा ही नतीजा निकाला गया है जो उस ग्रन्थकी प्रशस्तियोंपरसे उपलब्ध नही होता, जैसाकि निम्न उदाहरणोंसे स्पष्ट है:—

१. अपभ्रंश भाषाके कवि श्रीधरका परिचय देते हुए उन्हें कायस्थ जाति और माथुर कुलका बतलाया है और उनके पिताका नाम नारायण और माताका नाम रुपिणी दिया है तथा उसका सम्बन्ध सं० ११८९ में रचे जानेवाले पार्श्वनाथचरितके कर्ता विबुध श्रीधरके साथ जोड़ दिया है, जो देहलीके राजा अंगपाल तृतीयके शासनकालमें वहां-के राजश्रेष्ठी नट्टलसाहूकी प्रेरणासे रचा गया था; परन्तु सम्पादकजी यह भूल गए कि नट्टलसाहूने जिस

विबुधश्रीधरसे 'पार्श्वनाथचरित' की रचना कराई है, वे उस समय देहलीमें रहते थे और अग्रवालकुलम समुत्पन्न हुए थे। इनकी माताका नाम 'वील्हा' देवी और पिताका नाम 'बुध गोल्ह' था। कविने इससे अधिक अपना परिचय नही दिया। हां, इस ग्रन्थ प्रशस्तिमें इस ग्रन्थसे पूर्व रची जानेवाली अपनी कृति 'चन्द्रप्रभचरित' का उल्लेख अवश्य किया है। ऐसी स्थितिमें कायस्थजातिके श्रीधरका जो उल्लेख किया गया है वह अभ्रान्त नहीं है और उसके साथ इन अग्रवाल श्रीधरका सम्बन्ध कैसे सुघटित हो सकता है? दूसरे कवि श्रीधरको माथुर कुल और कायस्थ जातिका बतलाना तथा उनके पिता नारायण और माताका नाम रूपिणी प्रकट करना बिल्कुल ही निराधार और गलत है, क्योंकि उस भविष्यदत्त पचमी कथाके कर्ता श्रीधरने प्रशस्तिमे अपना कोई परिचय नहीं दिया है किन्तु उस कथा ग्रन्थकी रचनामे प्रेरक महानुभावका परिचय ग्रन्थकारने दिया है जो माथुरकुलीन नारायणके पुत्र सुपट्ट साहूकी प्रेरणासे रचा गया था। उनके ज्येष्ठ भ्राताका नाम वासुदेव था। उक्त पार्श्वनाथचरित साहू नारायणकी धर्मपत्नी 'रूपिणी' के नामांकित किया गया है अतएव कवि श्रीधरके सम्बन्धमे जो कल्पना की गई है वह बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है। यहां एक बात और नोट करनेलायक है और वह यह कि सुकमालचरितके रचयिताभी इन्हीं श्रीधरको बतला दिया है जो अभी प्रमाण सिद्ध नही है।

इसी तरह संस्कृत भाषाके कवि ब्रह्मनेमिदत्तको अग्रवाल और गोयल गोत्री बतला दिया गया है जो भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य थे। ब्रह्मनेमिदत्तके अग्रवाल होनेकी कल्पना उनके 'श्रीपालचरित' नामक ग्रन्थकी प्रशस्तिके पद्य नं० ३ से की गई है। वह सब कथन ब्रह्मनेमिदत्तके लिए न होकर महेन्द्रदत्तयतिके लिए किया गया है।

अपभ्रंश भाषाके महाकवि अमरकीर्तिकी षट्कर्मोपदेशरत्नमालाका रचनाकाल सं० १२७४ बतलाया गया है जो उक्त ग्रन्थकी प्रशस्तिमें दिये हुए रचना समय सं० १२४७ से भिन्न है।

भट्टारक यशःकीर्तिके 'पाण्डवपुराण' और चंद्रप्रभ-चरित्र इन दोनों ग्रन्थोंका कर्ता एक बतला दिया है, वह गलत है। पाण्डव पुराणके कर्ता भट्टारक यशःकीर्ति भट्टारक गुणकीर्तिके शिष्य तथा लघुभ्राता थे। चन्द्रप्रभचरितके कर्ता इनसे भिन्न पूर्ववर्ती यशः कीर्ति है। साथ ही, यशःकीर्ति के पाण्डव पुराणका रचनाकाल सं० ११७९ कार्तिक शुक्ला अष्टमी बतलाया है जो ठीक नहीं है, क्योंकि पांडव पुराणका रचनाकाल उसकी प्रशस्तिमें वि. सं. १४९७ दिया है। इन्होने अपना हरिवंश पुराण" सं. १५०० में पूर्ण किया है।

उक्त प्रस्तावनामे यह भूल तो और भी अधिक खटकती है और वह यह कि पृष्ठ २१ पर रूपचन्दका परिचय देते हुए उन्हें पांडे रूपचन्दजीसे भिन्न बतलाया गया है और लिखा है कि इन्हें कविवर बनारसीदासने गुरुके समान माना है। परन्तु यह पांडे रूपचन्दजीसे भिन्न कोई दूसरे व्यक्ति नही है। इनके उपदेशसे ही बनारसीदास और उनके तीन साथियों का—चन्द्रभान, उदयकरण, और थानमल्लका—वह एकान्त मिथ्याभिमनिवेश दूर हो गया था, उन्हे सद्दृष्टि प्राप्त हुई थी। इसीसे बनारसीदासने उनका गुरुरूपसे परिचय दिया है और नाटक समयसारके अन्तम 'चतुरभाव थिरता भए रूपचद परगास' जैसे वाक्योके द्वारा उनका स्मरण किया है। बनारसीदासने उक्त सद्दृष्टि प्राप्त करनेके बाद ही स० १६९३ में नाटक समयसार बनाकर पूरा किया है और स० १६९४ में पांडे रूपचन्दकी मृत्यु हो गई थी। उन्हे जो आगरेका वासी बतलाया गया है, सो वे आगराके वासी भी नही थे; किन्तु बनारससे दरियापुर होते हुए वे आगरामें आए थे और उस समय आगरामें 'तिहुना' साहूके घरपर उन्होने डेरा किया था। परमार्थ दोहा शतक, पदसग्रह, पंचमंगलपाठ, समवसरणपाठ, नमिनाथरासो, आदि कितनी ही रचनाएं इन्हीकी रची हुई हैं। इन्होंने अपना समवसरणपाठ स० १६९२ में आगरामे आनेसे पूर्व पूरा किया था। इनका विशेष परिचय अनेकान्त वर्ष १० कि० २ से जानना चाहिए। अस्तु, इस प्रकारका नतीजा पाठकको भ्रममे डाल देता है। इस कारण इस सम्बन्धमें विशेष जानकारी रखनकी जरूरत है।

हिन्दी भाषाके कवियोंका परिचय देते हुए पं० दौलतरामजीको, जो आनन्दरामके पुत्र और बसवाके निवासी थे, उन्हें स० १८०० के पूर्व ही अपनी रचनाओका रचयिता बतलाना किसी भूलका परिणाम जान पड़ता है। प० दौलतरामजीने वि० सं० १७७७में पुण्यास्रव टीका, १७९८ में अध्यात्मबारह खड़ी, सं० १७९५ मे क्रियाकोष, स० १८०८ में वसुनन्दिश्रावकाचारकी टब्बा टीका, स० १८२३ मे पद्मपुराण टीका, सं० १८२४ में आदि पुराण टीका सं० १८२७ में पं० टोडरमलजीके पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी

की अधूरी टीकाको पूर्ण किया था और फिर सं० १८२९ में पुन्नाट संघी जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणकी टीका लिखी थी। इस समुल्लेख परसे स्पष्ट है कि पं० दौलतराम-जीकी रचनाएं सं० १८०० से पूर्वकी कैसे मानी जा सकती हैं? —वे तो १९वीं शताब्दीके २९ वर्ष तक रची जाती रही हैं। अतः यह निष्कर्ष भूलसे खाली नही है।

उक्त प्रशस्तिसंग्रहमें संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश भाषाकी किन्हीं प्रशस्तियोंमेंसे कुछ प्रशस्तियोका तो आदि भाग भी दिया हुआ हैं किन्तु अधिकांश प्रशस्तियोंका वह ऐतिहासिक महत्वका आदि भाग नही दिया गया, जिनमें ग्रन्थकर्ताकी गुरु परम्परा, वंशपरम्परा, ग्रन्थरचनाओके उल्लेख, पूर्ववर्ती कवियोंका स्मरण, स्थान और ग्रन्थ-निर्माणमें प्रेरक महानुभावोंकी प्रेरणा आदिका उल्लेख सन्निविष्ट हैं। ऐसे महत्वपूर्ण भाग छोड़ दिये गये है जिन्हें इस ग्रन्थमें अवश्य देना चाहिए था। उनके न दिये जानेके कारण प्रशस्तियोंका वह अधूरापन खटकता है। अतः इस ग्रन्थमें प्रशस्तियोंके उस आदि भाग-का संकलन आवश्यक था; क्योंकि प्रशस्तिसंग्रहका उपयोग अन्वेषक विद्वान रिफरेन्सबुकके रूपमें करते हैं। नीचे उन प्रशस्तियोंके नम्बर दिये जा रहे हैं जिनके ऐतिहासिक आद्य-भाग संकलित होने चाहिए थे। संस्कृत प्रशस्तियोंमें २१, ३९, ५२, ५७ और अपभ्रंश प्रशस्तियों में १३, १४, १५, २०, ३०, ३४, ३८, ३९, ४१, ४३।

इस प्रशस्तिसंग्रहके पृष्ठ १०८ पर पं० हरिषेणकी 'धर्म परीक्षा' की प्रशस्ति दी हुई है जिसमे उसका आद्यभाग भी दिया हुआ है उसमें छः पंक्तियोके बाद निम्न दो पंक्तियां छूटी हुई हैं जिनका उसमें रहना अत्यन्त आवश्यक है और वे इस प्रकार हैं:—

जो सयंभू सो देउ पहाणउ, अहकम लोया-लोय-वियाणउ।
पुप्फयंतणवि माणुस वुच्चइ, जो सरसइए कयावि ण मुच्चइ॥

इसके सिवाय निम्न प्रशस्तियोंमें जिनका रचनाकाल अंकित है, परन्तु वह परिचयमें नही दिया गया, जिसके देने-की वहां बड़ी आवश्यकता थी। उनके नम्बर इस प्रकार है—
२१ पद्मपुराण सोमसेन, ३९ यशोधर चरित्र भ० ज्ञानकीर्ति १, १७, १९, २१ (ए), २१ (बी), २२, २३, २९, ४४। ये नम्बर अपभ्रंश प्रशस्तियों के हैं।

प्रशस्तिसंग्रहके पृष्ठ १३ पर 'जिन सहस्रनाम सटीक-का मूलकर्ता आचार्य जिनसेन लिख दिया गया है। जबकि उस सहस्रनाम ग्रन्थके मूलकर्ता १३वी शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान पं० आशाधरजी हैं। क्योंकि ब्रह्मश्रुतसागरने पं० आशाधरके सहस्रनामकी टीका लिखी है। जिन सेनाचार्यके सहस्रनामपर नही। इसी तरह पृष्ठ ९७वें पर 'क्रियाकलाप स्तुति' का कर्ता आचार्य समन्तभद्रको बतलाया गया है। जबकि टीकाकार प्रभाचन्द्रने स्वयं उस क्रियाकलाप-ग्रन्थकी टीकामें प्राकृत भक्तिपाठके कर्ता कुन्दकुन्द और संस्कृत भक्तिपाठके कर्ता पूज्यपाद (देवनन्दी) को बतलाया है।

उक्त संग्रहमें प्रूफरीडिंगमे प्रेस आदिकी असावधानीसे रह जानेवाली सैकड़ो अशुद्धियोंको छोड़कर ग्रन्थमें कुछ ऐसी अशुद्धियां भी रह गई हैं जो बहुत खटकने योग्य है। उनमें-से पाठकोंकी जानकारीके लिए एक-दो प्रशस्तियोका दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है। उससे पाठक सहज ही में उनकी अशुद्धियोंको ज्ञात कर सकेंगे। भट्टारक शुभचन्द्रके 'करकण्डुचरित' नं. ५ की प्रशस्तिकी अशुद्धियोंको देखनेसे पाठकका जी खेद खिन्न होने लगता है जैसा कि उसके रचनाकाल-सूचक निम्न एक पद्यसे स्पष्ट है—

ध्वष्टो विक्रमतः शातसमुवातचैकावशाब्दधिका,
भाद्रे मासि समुद्दालयुगतिथो लंगेजवाछे पुरे।
श्रीमच्छ्री वृषभेश्वरस्य सवने चक्रो चरित्रं त्विदं,
राज्ञः श्री शुभचन्द्रसूरियतिपश्चंपाधिपस्याःद्र्वं ॥१४॥

—प्रशस्तिसंग्रह

द्वयष्टे विक्रमतः शते समहते चैकादशाब्दाधिके,
भाद्रे मासि समुज्वले समतिथौ सङ्गेज वाछे पुरे।
श्रीमच्छ्रीवृषभेश्वरस्य सदने चक्रे चरित्रं त्विदं,
राज्ञः श्रीशुभचन्द्रसूरियतिपश्चंपाधिपस्याद्भुतं ॥५५

इसी तरह इस प्रशस्तिके पद्य नं. ४ में ''प्रद्यनाथ' के स्थान पर 'पद्मनाभ', और 'चरितं मुचारं' के स्थान पर 'महिमान मतंद्रो' तथा 'जीवस्य चरितं', के आगे एक चकार और छूट गया है। पद्य नं ५ में 'वंदनामाः' के स्थानपर 'चंदनायाः', और 'धृतिः' की जगह 'वृत्ति' होना चाहिए। पद्य नं. ६ में 'वृद्धंच' के स्थानपर 'सद्वृद्धं' पाठ होना चाहिए। और 'मत्र चित्रं' के स्थान पर 'मत्र सुद्धं' पाठ बना देना चाहिए। पद्य नं. ७ में 'गुणौद्य' के स्थान पर 'गुणौघ', और 'सगर्व्वनं' के स्थान पर 'समर्च्चनं', तथा 'श्री पार्श्वनाथव' पदके आगे एक रकार छूट गया है, उसे लगा देनेपर 'श्री पार्श्वनाथवर' पाठ ठीक हो जाता है। 'पंजिगांच' की जगह 'पंजिकांच' पाठ अच्छा है, 'सचकार' के स्थानपर 'सच्चकार' और 'यतीचन्द्रः' के स्थानपर 'यतीन्द्रचन्द्रः' पाठ होना चाहिए।

पद्य नं. ८ में 'म ीपिष्टा' के स्थानपर 'महीपिष्ट' 'विधिश्च' के स्थानपर 'विशेषश्च' तथा 'जुस्त्रि' के स्थान पर 'चतुस्त्रि' पाठ होना चाहिए"। पद्य नं. ९ की प्रथम लाइनमें 'परं' के आगे 'तर्क' वाक्य और होना चाहिए, जिसे पद्यके तीसरे चरणके साथ जोड़ दिया गया है। 'तत्त्वनिर्णयं' के आगे एक चकार और भी छूट गया है। १०वें पद्यमें 'वृत्तिसंद्वार्थी' के स्थान पर 'वृत्ति सर्वार्था'-पाठ होना आवश्यक है। ११ वें पद्यमें 'युग्मं' पद अधिक जोड़ दिया है, वहां उसकी आवश्यकता नही है। तथा षट् पदाः के स्थानपर 'षट्वादा.' पाठ होना जरूरी है। इस तरह यह सारी प्रशस्ति अशुद्धियोंसे भरी हुई है।

प्रशस्ति नं. ३४ में 'महावीर पुराण' लिखकर उसका कर्ता पं. आशाधर बतलाया है। जबकि आशाधरजीका इस नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है। प्रशस्तिका मिलान करनेपर ज्ञात हुआ कि यह त्रिषष्ठिस्मृति पुराण है, जो माणिकचन्द्र ग्रंथमालामें मुद्रित हो चुका है।

इसी तरह पेज नं. २१ की सोमसेनके पद्मपुराण प्रशस्तिमें भी अनेक खटकने योग्य अशुद्धियां रह गई हैं। उसके रचनाकाल सूचक पद्य को देखिए, उसमें क्या कुछ कम भूल हुई है। वह पद्य इस प्रकार है:—

शके षोडश शत वर्षके
षट् पंचा सत्युक्ते मासे श्रावणिके तथा ॥—प्रशस्ति संग्रह

विक्रमस्य गते शाके षोडशशतवर्षके
षट् पंचाशत्समायुक्ते मासे श्रावणिके तथा ॥

दूसरे पद्यमें शुक्ल पक्षके स्थान पर 'शुकल पक्षे' यह सप्तमी का रूप होना चाहिए। और 'रामस्य' के स्थान पर 'रामचन्द्रस्य' पाठ होना आवश्यक है। ५वें पद्य में 'श्रुताः'के स्थान पर 'स्तुताः' पाठ होना जरूरी है। इस प्रशस्तिमें पद्य संख्या सूचक निम्न पद्य भी छूटा हुआ है। जो इस प्रकार है:—

सहस्रं सप्तशतं त्रीणि वर्तते भुवि विस्तरात् ।
सोमसेनमिदं वक्ष्ये चिरंजीव चिर जीवितं ॥

'जीवंधरचरित्र' की १२वीं प्रशस्तिके रचनाकाल सूचक पद्यका अर्थ भी ठीक नहीं लगाया, इसीसे उसके रचनाकाल निश्चित करने में भूल हो गई है। सम्पादकजीने ग्रन्थका रचनाकाल सं० १५९६ दिया है, जबकि सं० १६०७ में से ४ घटानेपर सं० १६०३ उस ग्रन्थका रचनाकाल निश्चित होता है। १५९६ नहीं। इस पद्यमें 'शुभेतरे' के आगे जो 'पि' दी हुई है, वह निरर्थक है वहां नहीं देना चाहिए। और 'वरे' के स्थानपर 'वरेण्ये' पाठ बना लेना चाहिए। यह संस्कृत प्रशस्तियोंका नमूना बतौर उदाहरणके बतलाया गया है। अपभ्रंश ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें भी बहुत अशुद्धियां रह गई है पर उन्हें लेख वृद्धिके भयसे यहा छोड़ा जाता है।

यहां हिन्दीकी एक प्रशस्तिका नमूना भी दिया जाता है जिससे पाठक हिन्दीकी प्रशस्तियोंकी अशुद्धियों को भी सहज ही जान सकेंगे।

इस प्रशस्तिसंग्रहके पृ० २०५ पर 'आदित्यवार कथा' की प्रशस्ति दी हुई है जिसके कर्ता अज्ञात बतलाये गये है। जबकि उस प्रशस्तिमें कर्ताका नाम 'भाऊकवि' अंकित है। प्रशस्तिका अन्तिम पाठ भी अशुद्ध रूपमे छपा है इसीसे उसपर सम्पादकजीने ध्यान नही दिया।

अग्रावाली यें कीयो बखान, कुवरि जननी तिहुं नग्रोथान।
गरगहि गोत मलूको पूत, भयो कविजन भगति सूंजत ॥
—प्रशस्ति संग्रह

अगरवाल यह कियो बखाणु, कुवरिजननि तिहुवणगिरि ठाणु।
गगंहिं गोत्र मनूको पूत, भाऊ कवि अणु भगति संजूत ॥

अपभ्रंश भाषाकी २३वीं 'पार्श्वनाथ चरित' प्रशस्तिको तो और भी विचित्र ढंगसे दिया गया है। उसके आदिके ऐतिहासिक भागको तो दिया ही नही, किन्तु उसका अन्तिम भाग भी पूरा नही दिया, किन्तु सिर्फ वे ही पंक्तिया दी गई है जिनमें उस ग्रन्थका रचनाकाल अंकित है। उससे ऊपरका भाग छोड़ दिया गया है। जिसमें ग्रन्थ रचनामें प्रेरक नट्टलसाहूके कुटुम्बका परिचय निहित था और जिसमें कविने नट्टलसाहूके लिए भगवान पार्श्वनाथसे निर्मल समाधिकी ही कामना की गई है। साथ ही इसकी सन्धि वाक्यसूचक दो गाथाओको भी रनिंग रूपमें दे दिया है जिससे उनके पद्यात्मक रूपकी हत्या हो गई है। इसी तरह नयनन्दीके सकल विधि-विधान ग्रन्थकी संधि-सूचक दो गाथाएं भी रनिंगके रूपमें दे दी गई हैं जिससे उनका वह पद्य रूप नष्ट हो गया है।

भट्टारक श्रुतकीर्तिके 'हरिवंश पुराण' की ४४ नं. की प्रशस्ति परिचयमें भी उसका रचनाकाल सं० १६०७ बतलाया गया है जबकि वह उस ग्रंथका रचनाकाल न होकर उस प्रतिको लिखवाकर दान देनेवाले सज्जनका वह लिपि संवत् है। यहां सम्पादकने उस ग्रन्थ प्रशस्तिका अन्तिम भाग भी नहीं दिया जिसमें उसका रचनाकाल सं० १५५२

(शेष पृष्ठ २६८ पर)

अनेकान्तके सर्वोदयतीर्थांक पर लोकमत

अनेकान्तके सर्वोदयतीर्थाङ्क को देखकर जिन सज्जनोंने उसपर अपने विचार प्रकट किये हैं उनमें से कुछके विचार इस प्रकार हैं

(१) प्रो० महेन्द्रकुमारजी जैन, न्यायाचार्य, बनारस—

"अनेकान्त पार्श्वनाथ जैनाश्रममें देखनेको मिला, देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। जैनसमाजमें सांस्कृतिक दृष्टिसे संपादित पत्रोंका अभाव खटकता रहा, उसकी पूर्ति अनेकान्त-से होगी। लेख सामग्री बहुत ठोस और स्थायी है।"

२०-३-५२

(२) पं० चैनसुखदासजी, प्रिंसिपल जैन संस्कृत कालेज, जयपुर—

'यह अंक बड़ा शानदार और आकर्षक है! इस वृद्धावस्थामें भी आपमें जो उमंग और उत्साह है वह युवकोंमें भी दुर्लभ है। इस सर्वोदयतीर्थांकके लिए आपको जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है।

(३) साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी सागर—

"'अनेकान्त'का सर्वोदय अंक देखा। प्रथम और द्वितीय चित्र बहुत भावपूर्ण दिये गये हैं। लेखोंका चयन भी उत्तम है। आप लोग इस कार्यके लिए धन्यवादार्ह हैं।" ता २५-३-५२

(४) पं० अजितकुमारजी, सम्पादक जैन 'गजट', देहली—

"'अनेकान्त'का यह अंक अपने अनूठे सौन्दर्यके साथ प्रकाशित हुआ है। दोनों (रंगीन) चित्रोंकी कल्पना प्रशंसनीय है।. . कविताएं और लेख चुने हुए सुन्दर इस अंकके अनुरूप हैं। खण्डगिरि, उदयगिरि-परिचय शीर्षक सचित्र लेखमें खण्डगिरि उदयगिरिका अच्छा ऐतिहासिक परिचय दिया है। यह लेख अलग पुस्तक रूपमें प्रकाशित होना चाहिए। यह अंक ९६ पृष्ठका पठनीय लेखोंसे पूर्ण है। . . . प्रत्येक पुस्तकालय तथा वाचनालयमें 'अनेकान्त' अवश्य आना चाहिए ऐसी हमारी प्रेरणा है।" ता० २०-३-५२

(५) सम्पादक 'जैनमित्र' सूरत—

"मुख्य पृष्ठका चित्र बड़ा आकर्षक व भावमय चित्र है। . .यह सर्वोदय तीर्थांक सर्वाङ्ग सुन्दर व भ० महावीरके सर्वोदयतीर्थका परिचय करानेवाला अतीव जानने व संग्रह करने योग्य है। मुख्तार साहबके सर्वस्व दानका ट्रस्ट डीड तो पढ़ने योग्य व अनुकरणीय है। ऐसा सर्वांगसुन्दर विशेषांक प्रकट करनेके लिए मुख्तार साहबका परिश्रम अतीव धन्यवादका पात्र है।" २७-३-५२

(६) सम्पादक "जैन प्रचारक" देहली—

"इसमें विशिष्ट विद्वानोंके महत्त्वके १९ (?) लेख और कविताएं हैं। . . मुखपृष्ठ व अन्दरके दोनों चित्र आकर्षक तथा वस्तुतत्त्व-बोधक हैं। यह अंक पूरा ही पठनीय है।'

(७) पं० नाथूरामजी 'प्रेमी', बम्बई—

"सर्वोदय अंक मिला है। कुछ पढ़ा भी है। इस उम्रमेंभी आप इतना कार्य कर लेते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है, श्रद्धा भी होती है। केवल खर्चके खयालसे आपने इसे इतने समय बन्द रखा, इसका दुःख है। आशा है आगे आप इसे चालू रखेंगे और आपके श्रमका फल लोगोंको मिलता रहेगा। पैसेकी चिन्ता आप नाहक करते हैं। देनेवालोंकी कमी नहीं है और नहीं तो आपका ट्रस्ट तो है ही। इस अंक में राष्ट्रीयताके पोषक कई लेख हैं। इसे उत्तरोत्तर राष्ट्रीय भावनाओंका प्रचारक बनाइए, साम्प्रदायिकताको कम।"

(८) पं० फूलचन्दजी शास्त्री, बनारस—

"'अनेकान्त'का 'सर्वोदय' अंक देखा, उसकी सजावट और सामग्री सबका मन मोह लेती है। 'अनेकान्त' का जीवित रहना सर्वोपयोगी है।"

(९) पं० के. भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री—

'सर्वोदयतीर्थांक' मिला, धन्यवाद। अंक बहुत सुन्दर निकला है। आचार्य समन्तभद्र का 'पाटलिपुत्र', मोहनजोदडो-कालीन और आधुनिक जैन-संस्कृति, और खण्डगिरि, उदयगिरि, परिचय आदि इसके कई लेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'अनेकान्त' के पुनरुदयमें बड़ी प्रसन्नता हुई।

(१०) पं० नाथूलालजी शास्त्री इन्दौर—

'सर्वोदयतीर्थांक' पढ़ा। आप लोगोंने बीमारी आदि असुविधाओंके होते हुए भी यह सुन्दर अंक निकाला एतःदर्थ धन्यवाद हैं। वास्तवमें जैन समाजका एक ही यह पत्र है जिससे कुछ ज्ञानकी सामग्री प्राप्त होती है। जैन साहित्य और इतिहासकी इस पत्र द्वारा जो सेवा हुई है वह अमर रहेगी। श्री मुख्तार साहबका इस वृद्धावस्थामें भी यह महान् परिश्रम सराहनीय है। पत्रकी छपाई-सफाई आदि सुन्दर है।"

(११) नवभारत टाइम्स, देहली—

इस विशेषांकमें लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यिको, खोजप्रेमी दार्शनिक विद्वानों तथा विविध धर्मोंके तुलनात्मक अध्ययनमें संलग्न विद्वानोके सुन्दर लेखों, चित्ताकर्षक कविताओ और भावपूर्ण सुन्दर और अनूठे चित्रोंका संकलन जैन समाजके पुराने और प्रख्यात साहित्यसेवी आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारने किया है। इन लेखों और उनके नीचे दी गई टिप्पणियों तथा विद्वान सम्पादकके सम्पादकीय लेखसे पाठकोको वास्तविक 'सर्वोदय तीर्थ' की सच्ची और अच्छी सामग्री मिलती है।

विद्वान सम्पादकने बड़े-बड़े पौराणिक और सैद्धांतिक ग्रंथों तथा महर्षियोंके वचनोंका हवाला देते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके समान शूद्रको भी सब प्रकारके धर्म सेवनका अधिकारी प्रमाणित किया है। किसीके कुलमें कोई भी दोष आ जाय धर्म सेवनसे उसकी तथा म्लेच्छों तकके कुलकी शुद्धि होनेका प्रमाण दिया गया है।

इस अंकमें विशेषता यह है कि किसी जाति, धर्म, संप्रदाय या व्यक्ति विशेषकी ओर न झुककर वास्तविक सर्वोदयतीर्थको ही प्रधान लक्ष्य रक्खा गया है और इसके निर्माणमे ही सम्पादकका सफल प्रयत्न हुआ है। हिन्दी पत्रजगतके नाते शायद 'अनेकान्त' ने ही इस दिशामे अपना पहिला कदम उठाया है। अतः यह विशेषांक हिन्दी मासिक पत्रिकाओके लिए एक आदर्श है।

सन्त श्री वर्णी गणेशप्रसादजीका पत्र

मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोरजीके पत्रको पढ़कर आध्यात्मिक संत श्री पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीने सागरसे जो पत्र भेजा है वह इस प्रकार है:—

श्रीयुत महानुभावधर्ममर्मज्ञ प० जुगलकिशोरजी योग्य इच्छाकार पत्र आया समाचार जाने। आपकी प्रतिभाका सदुपयोग आपने किया, किन्तु खेद है वर्तमान जैन जनता उसका महत्व नही समझी—अन्यथा अब आपको इतस्ततः भ्रमण की आवश्यकता नही थी। एक स्थान पर रहकर आपके द्वारा प्राचीन आचार्योंके अन्तस्तत्व द्वारा निर्गत सिद्धांतका विकाश करती—आपने जो अकथ परिश्रम द्वारा प्राचीन महर्षियों के सिद्धान्तका मनन किया है उसे लिपि बद्ध करनेका प्रयत्न करती—कोई विशेष द्रव्यकी आवश्यकता नहीं। ५ लाखसे यह काम हो सकता है, १ मकान और ४ विद्वानका व्यय यही तो रामकहानी है—जो विद्वान नियत हों उन्हें २५०) मासिक और ५०) भोजन व्यय दिया जावे। यद्यपि यह कुछ कठिन नहीं परन्तु इस ओर लक्ष्य हो तब—मैं तो श्री १००८ भगवानसे भी भिक्षा मांगना अनुचित समझता हूं। मेरी लाला कपूरचन्दजीसे दर्शनविशुद्धिः वह एक धार्मिक सद्गृहस्थ है—उनका जीवन सुखमय जाता है, विशेष क्या लिखूं।

मेरा दृढ़तम विश्वास है जो आपका मनोरथ नियमसे सफल होगा, कालका विलम्ब हो यह अन्य बात है अपने अस्तित्व कालमें ही आप इसे प्रत्यक्ष करेंगे।

वैशाख वदी ५ आ० शु० चि०
सं० २००९ गणेशवर्णी

आमेर भण्डारका प्रशस्तिसंग्रह

(पृष्ठ २६६ का शेष)

दिया हुआ है। इसीसे यह भूल हुई जान पड़ती है।

इस तरह प्रायः सारा ही प्रशस्तिसंग्रह अशुद्धियोंसे भरा हुआ है। परन्तु यहा उदाहरणस्वरूप प्रायः उन्ही प्रशस्तियोंको दिया गया है जिनका संशोधन अत्यन्त वांछनीय है। इन त्रुटियोंको यहां देनेका मेरा यही प्रयोजन है कि भविष्यमें इनकी पुनरावृत्ति न हो। आशा है भाई कस्तूरचन्द्रजी आगेको और भी सावधानीसे कार्य करेंगे। साथ ही तीर्थक्षेत्र कमेटीके मंत्रीसे भी सानुरोध निवेदन है कि वह इनका शुद्धिपत्र बनवाकर प्रशस्तिसंग्रहमें लगानेका प्रयत्न करें।

देहली ता० ३१-३-५२

वीरसेवामन्दिरके चौदह रत्न

(१) **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि-ग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे प्राकृत पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी गवेषणापूर्ण महत्त्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम ए, डी लिट के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन उपाध्याय एम. ए, डी लिट् की भूमिका (Introduction) से विभूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द ... ... १५)

(प्रस्तावनादिका अलगसे मूल्य ५ रु.)

(२) **आप्तपरीक्षा**—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञसटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा-द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालके हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द .. .. ८)

(३) ***न्यायदीपिका***—*न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद,* विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द ... ... ५)

(४) **स्वयम्भूस्तोत्र**—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्द-परिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्त्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित। ... .. २)

(५) **स्तुतिविद्या**—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्त्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत, सुन्दर जिल्द-सहित। ... .. १॥)

(६) **अध्यात्मकमलमार्तण्ड**—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। .. .. १॥)

(७) **युक्त्यनुशासन**—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। .. १।)

(८) **श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र**—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्त्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। .. ॥।)

(९) **शासनचतुस्त्रिंशिका**—(तीर्थ-परिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। . .. ॥।)

(१०) **सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ**—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणों का महत्त्वपूर्ण संग्रह मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। .. .. ॥)

(११) **विवाह-समुद्देश्य**—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन .. ॥)

(१२) **अनेकान्त-रस-लहरी**—अनेकान्त जैसे गूढ गभीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। .. .. ।)

(१३) **अनित्यभावना**—श्रीपद्मनन्दी आचार्यकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। .. .. ।)

(१४) **तत्त्वार्थसूत्र** (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त .. ।)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालों को ३७॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

सरसावा, जि० सहारनपुर।

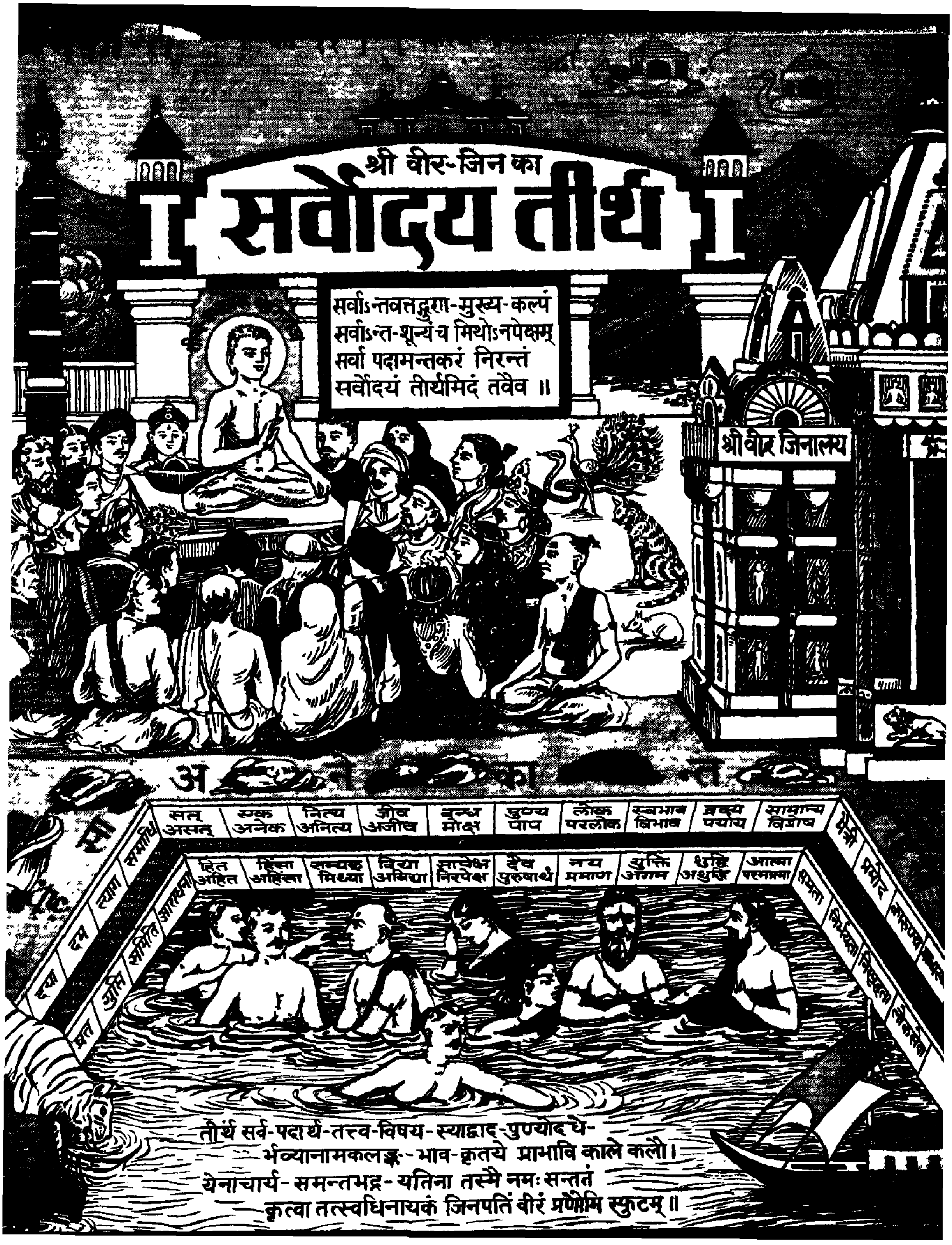
अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

अनेकान्त पत्रको स्थायित्व प्रदान करने और सुचारू रूपसे चलानेके लिये कलकत्ता-में गत इन्द्रध्वज-विधानके अवसर पर (अक्तूबरमें) संरक्षकों और सहायकोंका एक नया आयोजन हुआ है। उसके अनुसार २५१) या अधिकको सहायता प्रदान करने वाले सज्जन 'संरक्षक' और १०१) या इससे ऊपरकी सहायता प्रदान करने वाले 'सहायक' होते हैं। अब तक 'अनेकान्त' के जो 'संरक्षक' और 'सहायक' बने हैं—उनके शुभ नाम निम्न प्रकार हैं:—

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन ''
२५१) बा० सोहनलाल जी जैन ''
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदास जी ''
२५१) बा० ऋषभचन्द्रजी (V.R.C.) जैन ''
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ''
२५१) बा० रतनलालजी झाझरी ''
२५१) सेठ बल्देवदासजी जैन ''
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ''
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ''
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ''
२५१) सेठ मांगीलालजी ''
२५१) सेठ शान्तिप्रसाद जी, जैन ''
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द्र धूपचन्द्रजी, जैन कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमल जी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्द्र जी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलाल जी जैन, फीरोजाबाद
२५१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाचकम्पनी देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी विनोद मिल्स, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्द्रजी जैन सरावगी ''
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी ''
१०१) बा० काशीनाथ जी, कलकत्ता ''
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ''
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ''
१०१) बा० जीतमलजी जैन ''
१०१) बा० चिरंजीलाल जी सरावगी ''
१०१) बा० रतनलाल चाँदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीर प्रसाद जी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

रमानन्द जैन शास्त्री C/O धूमीमल धरमदास, चावडी बाजार, देहली। मुद्रक—नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, १० दरियागंज, देहली


श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक' तथा 'सहायक' बनना और बनाना।

(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना ।

(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरोंपर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना ।

(४) अपनी ओरसे दूसरोको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओ, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको ।

(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५),५०)आदिकी सहायता भेजना । २५) की सहायतामें १०को अनेकान्त अर्धमूल्यमे भेजा जा सकेगा ।

(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना ।

(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि-सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना ।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेटस्वरूप भेजा जायगा ।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता —
मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामंदिर, सरसावा जि० सहारनपुर ।

ॐ अर्हम्



सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११	वीरसेवामन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर	जून, जुलाई
किरण ४-५	आषाढ़, श्रावण वीर-संवत् २४७८, विक्रम-संवत् २००६	१६५२

कविश्री-नागराज-विरचित

समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र

सास्मरीमि तोष्टवीमि नंनमीमि भारतीं
तंतनीमि पापठीमि बंभणीमि तेमिताम् ।
देवराज-नागराज-मर्त्यराज-पूजितां
श्रीसमन्तभद्र-वाद-भासुरात्मगोचराम् ॥ १ ॥

'श्रीसमन्तभद्रके वादसे—कथनोपकथनसे—जिसका आत्म-विषय देदीप्यमान है और जो देवेंद्रों, नागेन्द्रों तथा नरेन्द्रोंसे पूजित है, उस सरसा भारतीका—समन्तभद्रस्वामीकी सरस्वतीका—मैं बड़े आदरके साथ बार बार स्मरण करता हूं, स्तवन करता हूं, वन्दन करता हूं, विस्तार करता हूं, पाठ करता हूं और व्याख्यान करता हूं।'

मातृ-मान-मेय-सिद्धि-वस्तुगोचरां स्तुवे
सप्तभंग-सप्तनीति-गम्यतत्त्वगोचराम् ।
मोक्षमार्ग-तद्विपक्ष-भूरिधर्मगोचरा-
माप्ततत्त्वगोचरां समन्तभद्रभारतीम् ॥ २ ॥

'प्रमाता (ज्ञाता) की सिद्धि, प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) की सिद्धि और प्रमेय (ज्ञेय) की सिद्धि ये वस्तुएं जिसकी विषय हैं, जो सप्तभंग और सप्तनयसे जानने योग्य तत्त्वोंको अपना विषय किये हुए है—जिसमें सप्तभंगों तथा सप्तनयोंके द्वारा जीवादि-तत्त्वोंका परिज्ञान कराया गया है—जो मोक्षमार्ग और उसके विपरीत संसार-मार्ग-संबंधी प्रचुर धर्मोंके विवेचन-

विषय-सूची

को लिये हुए है और आप्ततत्त्वविवेचन—आप्तमीमांसा—भी जिसका विषय है, उस समन्तभद्रभारतीका मैं स्तोत्र करता हूं।'

सूरिसूक्ति-वन्दितामुपेयतत्त्व-भाषिणीं
चारुकीर्ति-भासुरामुपायतत्त्व-साधनीम् ।
पूर्वपक्ष-खण्डन-प्रचण्डवाग्विलासिनीं
संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ३ ॥

'जो आचार्योंकी सूक्तियों द्वारा वन्दित है—बड़े बड़े आचार्योंने अपनी प्रभावशालिनी वचनावलि द्वारा जिसकी पूजा-वन्दनाकी है—जो उपेयतत्त्वको बतलानेवाली है, उपायतत्त्वकी साधनस्वरूपा है, पूर्वपक्षका खंडन करनेके लिये प्रचंड वाग्विलासको लिये हुए है—लीलामात्रमें प्रवादियोंके असत्पक्षका खंडन कर देनेमें प्रवीण है—और जगत्के लिये हितरूप है, उस समन्तभद्रभारतीका मैं स्तवन करता हूं।'

पात्रकेसरि-प्रभावसिद्धि-कारिणीं स्तुवे
भाष्यकार-पोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः ।
गृध्रपिच्छ-भाषित-प्रकृष्ट-मंगलार्थिकां
सिद्धि-सौख्य-साधनीं समन्तभद्रभारतीम् ॥ ४ ॥

'पात्रकेसरीपर प्रभावकी सिद्धिमें जो कारणीभूत हुई—जिसके प्रभावसे पात्रकेसरी-जैसे महान् विद्वान् जैनधर्ममें दीक्षित होकर बड़े प्रभावशाली आचार्य बने—,जो भाष्यकार-अकलंकदेव—द्वारा पुष्ट हुई, मुनीश्वरो—विद्यानन्द-जैसे मुनिराजों—द्वारा अलङ्कृत की गई, गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वाति) के कहे हुए उत्कृष्ट मंगलके अर्थको लिये हुए है—उनके गंभीर आशयका प्रतिपादन करनेवाली है—और सिद्धिके—स्वात्मोपलब्धिके—सौख्यको सिद्ध करनेवाली है, उस समन्तभद्र-भारतीको—समन्तभद्रकी आप्तमीमांसादि रूप-कृति-मालाको—मैं अपनी स्तुतिका विषय बनाता हूं—उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं।'

इन्द्रभूति-भाषित-प्रमेयजाल-गोचरां
वर्द्धमानदेव-बोध-बुद्ध-चिद्विलासिनीम् ।
योग-सौगतादि-गर्व-पर्वताशनिं स्तुवे
क्षीरवार्धि-सन्निभां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ५ ॥

'इन्द्रभूति (गौतम गणधर) का कहा हुआ प्रमेय-समूह जिसका विषय है, जो श्रीवर्द्धमानदेवके बोधसे प्रबुद्ध हुए चैतन्यके विलासको लिये हुए है, योग तथा बौद्धादि-मतावलम्बियोंके गर्वरूपी पर्वतके लिए वज्रके समान है और क्षीरसागरके समान उज्ज्वल तथा पवित्र है,उस समन्तभद्रभारतीका मैं कीर्तन करता हूं—उसकी प्रशंसामें खुला गान करता हूं।'

मान-नीति-वाक्यसिद्ध-वस्तुधर्म-गोचरां
मानित-प्रभाव-सिद्धसिद्धि-सिद्धसाधनीम् ।
घोर-भूरि-दुःख-वार्धि-तारण-क्षमामिमां
चारु-चेतसा स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥

'प्रमाण, नय तथा आगमके द्वारा सिद्ध हुए वस्तु-धर्म जिसके विषय हैं—जिसमें प्रमाण, नय तथा आगमके द्वारा वस्तुधर्मोंको सिद्ध किया गया है—,मानित (मान्य) प्रभाववाली प्रसिद्ध सिद्धिके—स्वात्मोपलब्धिके—लिए जो सिद्धसाधनी है—अमोघ उपायस्वरूपा है—और घोर तथा प्रचुर दुःखोंके समुद्रसे पार तारनेके लिए समर्थ है, उस समन्तभद्रभारतीकी मैं शुद्ध हृदयसे प्रशसा करता हूं।'

सान्त-साद्यनाद्यनन्त-मध्ययुक्त-मध्यमां
शून्य-भाव-सर्ववेदि-तत्त्व-सिद्धि-साधनीम् ।
हेत्वहेतुवाद-सिद्ध-वाक्यजाल-भासुरां
मोक्ष-सिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥

'सादि-सान्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त, और अनादि-अनन्त-रूपसे द्रव्य-पर्यायोका कथन करनेमें जो मध्यस्था है—इनका सर्वथा एकात स्वीकार नही करती—, शून्य (अभाव) तत्त्व, भावतत्त्व और सर्वज्ञतत्त्वकी सिद्धिमें जो साधनीभूत है और हेतुवाद तथा अहेतुवाद (आगम) से सिद्ध हुए वाक्य-समूहसे प्रकाशमान है—अर्थात् जो युक्ति और आगम-द्वारा सिद्ध हुए वाक्योसे देदीप्यमान है, उस समन्तभद्रभारतीकी मै, मोक्षकी सिद्धिके लिए, स्तुति करता हू।'

व्यापकद्वयाप्तमार्ग-तत्त्वयुग्म-गोचरां
पापहारि-वाग्विलासि-भूषणांशुकां स्तुवे ।
श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्य-दायिनीं
नागराज-पूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥

'व्यापक-व्याप्यका—गुण-गुणीका—ठीक प्रतिपादन करनेवाले आप्तमार्गके दो तत्त्व—हेयतत्त्व, उपादेयतत्त्व अथवा उपेयतत्त्व और उपायतत्त्व—जिसके विषय है, जो पापहरण-रूप आभूषण और वाग्विलासरूप वस्त्रको धारण करनेवाली है; साथ ही, श्री-साधिका, बुद्धि-वर्धिका और सर्वसुख-दायिका है, उस नागराज-पूजित समन्तभद्रभारतीकी मे स्तुति करता हूं।'

समन्तभद्र-वचनामृत

(४)

स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन धर्मशास्त्रमें धर्म-के अगभूत-सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रतिपादन करते हुए उसे 'अष्टांग' विशेषणके द्वारा आठ अंगोवाला बतलाया है। वे आठ अंग कौनसे है और उनका क्या स्वरूप है, इसका स्वय स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजीने जिन अमृत वचनोंका प्रणयन किया है, वे क्रमश इस प्रकार है —

इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चाऽन्यथा ।
इत्यकम्पाऽऽयसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११॥

तत्त्व—यथावस्थित वस्तुस्वरूप—**यही है और ऐसा ही है** (जो और जैसाकि दृष्ट तथा इष्टके विरोध-रहित परमागममे प्रतिपादित हुआ है), **अन्य नहीं और न अन्य प्रकार है, इस प्रकारकी सन्मार्गमें**—सम्यग्दर्शनादिरूप समीचीन धर्ममें—**जो लोहविनिर्मित खड्गादिकी आब** (चमक) **के समान अकम्पा रुचि है**—अडोल श्रद्धा है—उसे **'असशया'** —नि:शकित—**अंग कहते है**।'

व्याख्या—यहा 'तत्त्व' पद यद्यपि विना किसी विशेषण-के सामान्यरूपसे प्रयुक्त हुआ है, परन्तु 'सन्मार्ग' पदके साथमे होनेसे उसका सम्बन्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्ररूप उस सन्मार्ग-विषयक तत्त्वसे है जिसमे प्राय. सारा ही प्रयोजनभूत तत्त्वसमूह समाविष्ट हो जाता है, और इसलिये सम्यग्दर्शनादिकका सम्यग्दर्शनादिके विषय-भूत आप्त-आगम-तपस्वियोका तथा जीव-अजीवादि पदार्थों-का भी जो तत्त्व विवक्षित हो उस सबके विषयमे सदेहादिकसे रहित अडोल श्रद्धाका होना ही यहा इस अंगका विषय है—उसमे अनिश्चय जैसी कोई बात नही है। इसीमे 'तत्त्व यही है, ऐसा ही है, अन्य नही और न अन्य प्रकार है' ऐसी सुनिश्चय और अटल श्रद्धाकी द्योतक बात इस अगके स्वरूप-विषयमें यहा कही गई है।

इस पर किसीको यह आशका करनेकी जरूरत नही है कि 'इस तरहसे तो 'ही' (एव) शब्दके प्रयोग-द्वारा 'भी' के आशयकी उपेक्षा करके जो कथन किया गया है उससे तत्त्वको सर्वथा एकान्तताकी प्राप्ति हो जावेगी और तत्त्व एकान्तात्मक न होकर अनेकान्तात्मक है, ऐसा स्वयं स्वामी समतभद्रने अपने दूसरे ग्रन्थोंमें 'एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं', 'तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं' जैसे वाक्योंके द्वारा प्रतिपादन किया है, तब उनके उस कथनके साथ इस कथनकी संगति कैसे बैठेगी?' यह शंका निर्मूल है, क्योकि अपने विषयकी विवक्षा-को साथमे लेकर 'ही' शब्दका प्रयोग करनेसे सर्वथा एकान्तता-का कोई प्रसंग नही आता। जैसे 'तीन इंची रेखा एक इंची रेखासे बडी ही है' इस वाक्य मे 'ही' शब्दका प्रयोग सुघटित है और उससे तीन इंची रेखा सर्वथा बडी नही हो जाती, क्योकि वह अपने साथमें केवल एक इंची रेखाकी अपेक्षा-को लिये हुए है। इसी प्रकार जो भी तात्त्विक कथन अपनी विवक्षाको साथमें लिये हुए रहता है उसके साथ 'ही' शब्द-का प्रयोग उसके सुनिश्चयादिकका द्योतक होता है। उसी दृष्टिसे ग्रन्थकार महोदयने यहा 'इद' तथा 'ईदृश' शब्दो-के साथ 'ही' अर्थके वाचक 'एव' शब्दका प्रयोग किया है, जो उनके दूसरे कथनोके साथ किसी तरह भी असगत नही है। उन्होंने तो अपने युक्त्यनुशासन ग्रन्थमे 'अनुक्ततुल्यं यदनेव-कारं' जैसे वाक्योके द्वारा यहातक स्पष्ट घोषित किया है कि जिस पदके साथमे 'एव' (ही) नही वह अनुक्ततुल्य है—न कहे हुएके समान है। इस एवकारके प्रयोग-अप्रयोग-विषयक विशेष रहस्यको जाननेके लिये युक्त्यनुशासन[1] ग्रन्थको देखना चाहिये।

कर्म-परवशे साऽन्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पाप-बीजे सुखेऽनास्था श्रद्धाऽनाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

'जो कर्मकी पराधीनताको लिये हुए है—सातावेद-नीयादि कर्मोके उदयाधीन है—, अन्त सहित है—नाशवान है—, जिसका उदय दु:खोसे अन्तरित है—अनेक प्रकारके शारीरिक तथा मानसिकादि दु.खोंकी बीच-बीचमें प्रादुर्भूति होते रहनेसे जिसके उदय-उपभोगमें बाधा पडती रहती है तथा वह एकरसरूप भी रहने नही पाता—और जो पापका बीज है—तृष्णाकी अभिवृद्धिद्वारा संक्लेश-परिणामोका जनक होनेसे पापोत्पत्ति अथवा पापबन्धका कारण है—

१. यह महत्वपूर्ण गम्भीर ग्रन्थ, जिसका हिन्दीमें पहले-से कोई अनुवाद नहीं हुआ था, हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावासे हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हो गया है। मूल्य सजिल्द ग्रन्थका १।) है।

ऐसे (इन्द्रियादिविषयक सांसारिक) सुखमें जो अनास्था-अनासक्ति और अश्रद्धा अरुचि अथवा अनास्थारूप श्रद्धा—अरुचिपूर्वक उसका सेवन—है उसे 'अनाकांक्षणा'—निःकांक्षित—अंग कहा गया है।'

व्याख्या—यहां सांसारिक विषय-सुखके जो कर्म-परवशादि विशेषण दिये गये है वे उसकी निःसारताको व्यक्त करनेमें भले प्रकार समर्थ है। उनपर दृष्टि रखते हुए जब उस सुखका अनुभव किया जाता है तो उसमें आस्था, आसक्ति, इच्छा, रुचि, श्रद्धा तथा लालसादिके लिये कोई स्थान नही रहता और सम्यग्दृष्टिका सब कार्य बिना किसी बाधा-आकुलताको स्थान दिये सुचारु रूपसे चला जाता है। जो लोग विषय-सुखके वास्तविक स्वरूपको न समझकर उसमें आसक्त हुए सदा तृष्णावान बने रहते है उन्हे दृष्टिविकारके शिकार समझना चाहिये। वे इस अंगके अधिकारी अथवा पात्र नही।

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय-पवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुण-प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१३॥

'स्वभावसे अशुचि और रत्नत्रयसे—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूपधर्मसे—पवित्रित कायमे—धार्मिकके शरीरमे—जो अग्लानि और गुणप्रीति है वह 'निर्विचिकित्सिता' मानी गई है। अर्थात् देहके स्वाभाविक अशुचित्वादि दोषके कारण जो रत्नत्रय गुण-विशिष्ट देही-के प्रति निरादर भाव न होकर उसके गुणोमे प्रीतिका भाव है उसे सम्यग्दर्शनका 'निर्विचिकित्सित' अंग कहते हैं।

व्याख्या—यहा दो बाते खास तौरसे ध्यानमें देने योग्य उल्लिखित हुई है, एक तो यह कि शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है और इसलिये मानव-मानवके शरीरमें स्वाभाविक अपवित्रताकी दृष्टिसे परस्पर कोई भेद नही है—सबका शरीर हाड़-चाम-रुधिर-मांस-मज्जादि धातु-उपधातुओका बना हुआ और मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थोंसे भरा हुआ है। दूसरी यह कि, स्वभावसे अपवित्र शरीर भी गुणोंके योगसे पवित्र हो जाता है और वे गुण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप तीन रत्न। जो शरीर इन गुणोसे पवित्र है—इन गुणोंका धारक आत्मा जिस शरीरमें वास करता है—उस शरीर तथा शरीरधारीको जो कोई शरीरकी स्वाभाविक अपवित्रता अथवा किसी जाति-वर्गकी विशेषता-के कारण घृणाकी दृष्टिसे देखता है और गुणोमें प्रीतिको भुला देता है वह दृष्टि-विकारसे युक्त है और इसलिये प्रकृत अंगका पात्र नहीं। इस अंगके धारकमें गुणप्रीतिके साथ अग्लानिका होना स्वाभाविक है—वह किसी शारीरिक अपवित्रताको लेकर या जाति-वर्ग-विशेषके चक्करमें पड़कर किसी रत्नत्रयधारी अथवा सम्यग्दर्शनादि-गुणविशिष्ट धर्मात्माकी अवज्ञामें कभी प्रवृत्त नही होता।

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥१४॥

'**दुःखोंके मार्गस्वरूप कुमार्गमें**—भवभ्रमणके हेतुभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रमें—**तथा कुमार्गस्थितमें**—मिथ्यादर्शनादिके धारक तथा प्ररूपक कुदेवादिकोंमे—**जो असम्मति है**—मनसे उन्हे कल्याणका साधन न मानना है—**असम्पृक्ति है**—कायकी किसी चेष्टा-से उनकी श्रेय.साधन जैसी प्रशंसा न करना है—**और अनुत्कीर्ति है**—वचनसे उनकी आत्मकल्याण-साधनादिके रूपमें स्तुति न करना है— उसे '**अमूढदृष्टि**' **अंग कहते हैं।**'

व्याख्या—यहा दुःखोके उपायभूत जिस कुमार्गका उल्लेख है वह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र-रूप है, जिसे ग्रन्थकी तीसरी कारिकामे 'भवन्ति भवपद्धतिः' वाक्यके द्वारा संसार-दुःखोका हेतुभूत वह कुमार्ग सूचित किया है जो सम्यग्दर्शनादिरूप सन्मार्गके विपरीत है। ऐसे कुमार्ग-की मन-वचन-कायसे प्रशंसादिक न करना एक बात तो यह अमूढदृष्टिके लिये आवश्यक है, दूसरी बात यह आवश्यक है कि वह कुमार्गमे स्थितकी भी मन-वचन-कायसे कोई प्रशंसादिक न करे और यह प्रशंसादिक जिसका यहा निषेध किया गया है उसके कुमार्गमे स्थित होनेकी दृष्टिसे है, अन्य दृष्टिसे उस व्यक्तिकी प्रशंसादिका यहा निषेध नही है। उदाहरणके लिये एक मनुष्य धार्मिक दृष्टिसे किसी ऐसे मतका अनुयायी है, जिसे 'कुमार्ग' समझना चाहिये; परन्तु वह राज्यके रक्षामंत्री आदि किसी ऊंचे पद पर आसीन है और उसने उस पदका कार्य बडी योग्यता, तत्परता और ईमानदारीके साथ सम्पन्न करके प्रजाजनोको अच्छी राहत (साता, शान्ति) पहुंचाई है, इस दृष्टिसे यदि कोई सम्यग्दृष्टि उसकी प्रशंसादिक करता या उसके प्रति आदर-सत्कारके रूप मे प्रवृत्त होता है, तो उसमें सम्यग्दर्शनका यह अंग कोई बाधक नही है। बाधक तभी होता है जब कुमार्गस्थितिके रूपमें उसकी प्रशंसादिक की जाती है; क्योकि कुमार्गस्थितिके रूपमें प्रशंसा करना प्रकारान्तरसे कुमार्गकी ही प्रशंसादिक करना है, जिसे करते हुए एक सम्यग्दृष्टि अमूढदृष्टि नही

रह सकता ।

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाऽशक्त-जनाऽऽश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥

'**जो मार्ग**—सम्यग्दर्शनादिरूपधर्म—स्वयं शुद्ध है—स्वभावतः निर्दोष है—उसकी बालजनोके—हिताऽहित-विवेकरहित अज्ञानी मूढजनोके—तथा अशक्तजनोंके—धर्मका ठीक तौरसे (यथाविधि) अनुष्ठान करनेकी सामर्थ्य न रखने वालोंके—आश्रयको पाकर जो निन्दा होती हो—उस निर्दोष मार्गमें जो असद्दोषोद्भावन किया जाता हो—उस निन्दा या असद्दोषोद्भावनका जो प्रमार्जन—दूरीकरण—है उसे 'उपगूहन' अंग कहते हैं ।'

व्याख्या—इस अंगकी अगभूत दो बातें यहाँ खास तौरसे लक्षमे लेने योग्य है, एक तो यह कि जिस धर्ममार्गकी निन्दा होती हो वह स्वय शुद्ध होना चाहिये—अशुद्ध नही। जो मार्ग वस्तुत. अशुद्ध एव दोषपूर्ण है—किसी अज्ञानभावादिके कारण कल्पित किया गया है—उसकी निन्दाके परिमार्जनका यहा कोई सम्बन्ध नही है—भले ही उस मार्गका प्रकल्पक किसी धर्मका कोई बडा सन्त साधु या विद्वान ही क्यो न हो। मार्गकी शुद्धता—निर्दोषताको देखना पहली बात है। दूसरी बात यह कि वह निन्दा किसी अज्ञानी अथवा अशक्तजनका आश्रय पाकर घटित हुई हो। जो शुद्धमार्गका अनुयायी नही ऐसे धूर्तजनके द्वारा जानबूझकर घटित की जानेवाली निन्दाके परिमार्जनादिका यहा कोई सम्बन्ध नही है। ऐसे धूर्तोंकी कृतियोका यदि सन्मार्गकी निन्दा होनेके भयसे गोपन किया जाता है अथवा उनपर किसी तरह पर्दा डाला जाता है तो उससे धूर्तताको प्रोत्साहन मिलता है, बहुतोका अहित होता है और निन्दाकी परम्परा चलती है। अतः ऐसे धूर्तोंकी धूर्तताका पर्दाफ़ाश करके उन्हे दण्डित कराना तथा सर्वसाधारणपर यह प्रकट कर देना कि 'ये उक्त सन्मार्गके अनुयायी न होकर कपटवेषी हैं' सम्यग्दर्शनके इस अंगमें कोई बाधा उत्पन्न नही करता, प्रत्युत इसके पेशेवर धूर्तोंसे सन्मार्गकी रक्षा करता है।

दर्शनाच्चरणाद्वाऽपि चलतां धर्मवत्सलैः ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥१६॥

'सम्यग्दर्शनसे अथवा सम्यक्चारित्रसे भी जो लोग चलायमान हो रहे हों—डिग रहे हों—उन्हें उस विषयमें दक्ष एवं धर्मसे प्रेम रखनेवाले स्त्री-पुरुषोके द्वारा जो फिरसे सम्यग्दर्शन या सम्यकचारित्रमें (जैसी स्थिति हो) अवस्थापन करना है—उनकी उस अस्थिरता, चलचित्तता, स्खलना एवं डांवाडोल स्थितिको दूर करके उन्हें पहले जैसी अथवा उससे भी सुदृढ स्थितिमें लाना है—वह 'स्थितीकरण' अंग कहा जाताहै ।'

व्याख्या—यहां जिनके प्रत्यवस्थापन अथवा स्थितीकरणकी बात कही गई है वे सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्रसे चलायमान होनेवाले है। धर्मके मुख्य तीन अंगोंमेंसे दो से चलायमान होनेवालोको तो यहा ग्रहण किया गया है किन्तु तीसरे अंग सम्यग्ज्ञानसे चलायमान होनेवालोंको ग्रहण नही किया गया, यह क्यो ? इस प्रश्नका समाधान, जहां तक मैं समझता हूं, इतना ही है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोका ऐसा जोडा है जो युगपत् उत्पन्न होते हुए भी परस्परमें कारण-कार्य-भावको लिये रहते हैं—सम्यग्दर्शन कारण है तो सम्यग्ज्ञान कार्य है, और इसलिये जो सम्यग्दर्शनसे चलायमान है वह सम्यग्ज्ञानसे भी चलायमान है और ऐसी कोई व्यक्ति नही होती जो सम्यग्दर्शनसे तो चलायमान न हो किन्तु सम्यग्ज्ञानसे चलायमान हो, इसीसे सम्यग्ज्ञानसे चलायमान होनेवालोंके पृथक् निर्देशकी यहा कोई जरूरत नही समझी गई। अथवा 'अपि' शब्दके द्वारा गौण रूपसे उनका भी ग्रहण समझ लेना चाहिये।

इसके सिवाय, जिनको इस अंगका स्वामी बतलाया गया है उनके लिये दो विशेषणोका प्रयोग किया गया है—एक तो 'धर्मवत्सल' और दूसरा 'प्राज्ञ'। इन दोनोंमेंसे यदि कोई गुण न हो तो स्थितीकरणका कार्य नही बनता; क्योंकि धर्मवत्सलताके अभावमें तो किसी चलायमानके प्रत्यवस्थापनकी प्रेरणा ही नही होती और प्राज्ञता (दक्षता)-के अभावमें प्रेरणाके होने हुए भी प्रत्यवस्थापनके कार्यमें सफल प्रवृत्ति नही बनती अथवा यों कहिये कि सफलता ही नही मिलती। सफलताकेलिये धर्मके उस अंगमें जिससे कोई चलायमान हो रहा हो स्वय दक्ष होनेकी और साथ ही यह जाननेकी जरूरत है कि उसके चलायमान होनेका कारण क्या है और उसे कैसे दूर किया जा सकता है।

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

'**स्वधर्मसमाजके सदस्यों**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप आत्मीय-धर्मके मानने तथा पालनेवाले साधर्मीजनो—**के प्रति सद्भावसहित**—मैत्री, प्रमोद-सेवा तथा परोपकारादिके उत्तम भावको लिये हुए—**और**

कपटरहित जो यथायोग्य प्रतिपत्ति है—यथोचित आदर-सत्काररूप एवं प्रेममय प्रवृत्ति है—**उसे 'वात्सल्य' अंग कहते हैं।**

व्याख्या—इस अंगकी सार्थकताके लिये साधर्मी जनोंके साथ जो आदर-सत्कार रूप प्रवृत्ति की जाये उसमें तीन बातो-को खास तौरसे लक्षमें रखनेकी जरूरत है, एक तो यह कि वह सद्भावपूर्वक हो—लौकिक लाभादिकी किसी दृष्टि-को साथमे लिये हुए न होकर सच्चे धर्मप्रेमसे प्रेरित हो। दूसरी यह कि उसमें कपट-मायाचार अथवा नुमाइश, दिखावट जैसी चीजको कोई स्थान न हो। और तीसरी यह कि वह 'यथायोग्य' हो—जो जिन गुणोंका पात्र अथवा जिस पदके योग्य हो उसके अनुरूप ही वह आदर-सत्काररूप प्रवृत्ति होनी चाहिये, ऐसा न होना चाहिये कि धनादिककी किसी बाह्य दृष्टिके कारण कम पात्र व्यक्ति तो अधिक आदर-सत्कारको और अधिक पात्र व्यक्ति कम आदर-सत्कारको प्राप्त होवे।

अज्ञान-तिमिर-व्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासन-माहात्म्य-प्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

'अज्ञान-अन्धकारके प्रसारको (सातिशय ज्ञानके प्रकाश द्वारा) **समुचितरूपसे दूर करके जिनशासनके माहात्म्य-को**—जैनमतके तत्वज्ञान और सदाचार एव तपोविधान-के महत्वको—**जो प्रकाशित करना है**—लोक-हृदयोपर उसके प्रभावका सिक्का अंकित करना है—**उसका नाम 'प्रभावना' अग है।'**

व्याख्या—जिनशासन जिनेन्द्र-प्रणीत आगमको कहते है। उसका महात्म्य उसके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तमूलक तत्वज्ञान और अहिसामूलक सदाचार एव कर्मनिर्मूलक तपोविधानमें संनिहित है। जिनशासनके उस माहात्म्यको प्रकटित करना—लोक-हृदयोंपर अंकित करना—ही यहा 'प्रभावना' कहा गया है। और वह प्रकटीकरण अज्ञानरूप अन्धकारके प्रसार (फैलाव) को समुचितरूपसे दूर करने-पर ही सुघटित हो सकता है, जिसको दूर करनेकेलिये सातिशय ज्ञानका प्रकाश चाहिये और इससे यह फलित होता है कि सातिशयज्ञानके प्रकाशद्वारा लोक-हृदयोंमें व्याप्त अज्ञान-अन्धकारको समुचितरूपसे दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको जो हृदयांकित करना है उसका नाम 'प्रभावना' है। और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोरी धन-सम्पत्ति अथवा बल-पराक्रमकी नुमाइशका नाम 'प्रभावना' नही है और न विभूतिके साथ लम्बे-लम्बे जलूसोके निकालनेका नाम ही प्रभावना है, जो वस्तुत. प्रभावनाके लक्ष्यको साथ में लिये हुए न हों। हां, अज्ञान अन्धकारको दूर करनेका पूरा आयोजन यदि साथ मे हो तो वे उसमे सहायक हो सकते है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रभावनाका कार्य किसी जोर-जबर्दस्ती अथवा अनुचित दबावसे सम्बन्ध नही रखता—उसका आधार सुयुक्तिवाद और प्रेममय व्यवहार-द्वारा गलतफ़हमीको दूर करना है।

यदि सम्यग्दर्शन इन अगोसे हीन है तो वह कितना नि.सार एवं अभीष्ट फलको प्राप्त करानेमे असमर्थ है उसे व्यक्त करते हुए स्वामी जी लिखते हैं:—

नाऽङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्म-सन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षर-न्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥२१॥

'अगहीन सम्यग्दर्शन जन्म-संततिको—जन्म-मरणकी परम्परारूप भव(ससार)प्रबन्धको—छेदनेके लिये समर्थ नही है; जैसे अक्षरन्यून—कमती अक्षरो वाला—मत्र विषकी वेदनाको नष्ट करनेमें समर्थ नही होता है।'

व्याख्या—जिस प्रकार सर्पसे डसे हुए मनुष्यके सर्वअगमें व्याप्त विषकी वेदनाको दूर करनेके लिये पूर्णाक्षर मत्रके प्रयोगकी जरूरत है—न्यूनाक्षर मत्रसे काम नही चलता, उसी प्रकार ससार-बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये प्रयुक्त हुआ जो सम्यग्दर्शन वह अपने आठो अगोसे पूर्ण होना चाहिये—एक भी अगके कम होनेसे सम्यग्दर्शन विकलागी होगा और उससे यथेष्ट काम नही चलेगा—वह भवबन्धनमे अथवा सासारिक दु:खोसे मुक्ति की प्राप्तिका साधन नही हो सकेगा।

—युगवीर

समन्तभद्र-प्रतिपादित कर्मयोग

(स्वयम्भूस्तोत्रकी मुख्तारश्रीजुगलकिशोर-विरचित-प्रस्तावनासे ।)

मन-वचन-काय-सम्बन्धी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे आत्म-विकास सधता है उसकेलिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है उसे 'कर्मयोग' कहते हैं। और इसलिये कर्मयोग दो प्रकारका है—एक क्रियाकी निवृत्तिरूप पुरुषार्थको लिये हुए और दूसरा क्रियाकी प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थको लिये हुए। निवृत्ति-प्रधान कर्मयोगमें मन-वचन-कायमेंसे किसीकी भी क्रिया-का, तीनोकी क्रियाका अथवा अशुभ क्रियाका निरोध होता है। और प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोगमें शुभकर्मोंमे त्रियोग-क्रियाकी प्रवृत्ति होती है—अशुभमें नही, क्योंकि अशुभकर्म विकासमे साधक न होकर बाधक होते हैं। राग-द्वेषादिसे रहित शुद्धभावरूप प्रवृत्ति भी इसीके अन्तर्गत है। सच पूछिये तो प्रवृत्ति बिना निवृत्तिके और निवृत्ति बिना प्रवृत्तिके होती ही नही—एकका दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों मुख्य-गौण-की व्यवस्थाको लिये हुए हैं। निवृत्तियोगमें प्रवृत्तिकी और प्रवृत्तियोगमे निवृत्तिकी गौणता है। सर्वथा प्रवृत्ति या सर्वथा निवृत्तिका एकान्त नही बनता। और इसलिये स्वयम्भू-स्तोत्रके ज्ञानयोगमें जो बाते किसी न किसी रूपसे विधेय ठहराई गई हैं उचित तथा आवश्यक बतलाई गई है अथवा जिनका किसी भी तीर्थंकरकेद्वारा स्व-विकासके लिये किया जाना विहित हुआ है उन सबका विधान एवं अनुष्ठान कर्मयोगमें गर्भित है। इसी तरह जिन बातोंको दोषादिक-के रूपमें हेय बतलाया गया है, अविधेय तथा अकरणीय सूचित किया गया है अथवा किसी भी तीर्थंकरके द्वारा जिनका छोड़ना-तजना या उनसे विरक्ति धारण करना आदि कहा गया है उन सबका त्याग एवं परिहार भी कर्मयोगमे दाखिल (शामिल) है। और इसलिये कर्मयोग-सम्बन्धी उन सब बातो को पूर्वोल्लिखित ज्ञान-योगसे ही जान लेना और समझ लेना चाहिए। उदाहरणके तौर पर प्रथम-जिन स्तवनके ज्ञानयोगमे ममत्वसे विरक्त होना, वधू-वित्तादि परिग्रहका त्याग करके जिन-दीक्षा लेना, उपसर्ग-परीषहोंका समभावसे सहना और सद्व्रत-नियमोसे चलायमान न होना जैसी जिन बातोंको पूर्णविकासके लिये आवश्यक बतलाया गया है उनका और उनकी इस आवश्यकताका परिज्ञान ज्ञानयोग-से सम्बन्ध रखता है, और उन पर अमल करना तथा उन्हें अपने जीवनमें उतारना यह कर्मयोगका विषय है। साथ ही, 'अपने दोषोंके मूलकारणको अपने ही समाधितेजसे भस्म किया जाता है' यह जो विधिवाक्य दिया गया है इसके मर्मको समझना, इसमे उल्लिखित दोषों, उनके मूल कारणो, समाधितेज और उसकी प्रक्रियाको मालूम करके अनुभवमे लाना, यह सब ज्ञानयोगका विषय है और उन दोषो तथा उनके कारणोको उस प्रकारसे भस्म करनेका जो प्रयत्न अमल अथवा अनुष्ठान है वह सब कर्मयोग है। इसी तरह अन्य स्तवनोके ज्ञानयोगमेंसेभी कर्मयोग सम्बन्धी बातोका विश्लेषण करके उन्हें अलगसे समझ लेना चाहिए, और यह बहुत कुछ सुख-साध्य है। इसीसे उन्हें फिरसे यहा देकर प्रस्तावनाको विस्तार देने-की जरूरत नही समझी गई। हा, स्तवन-क्रमको छोडकर, कर्मयोगका उसके आदि मध्य और अन्तकी दृष्टिसे एक सक्षिप्त सार यहा दे देना उचित जान पडता है और वह पाठकोंके लिए विशेष हितकर तथा रुचिकर होगा। अतः सारे ग्रथका दोहन एव मथन करके उसे देनेका आगे प्रयत्न किया जाता है। ग्रथके स्थलोंकी यथावश्यक सूचना ब्रेकटके भीतर पद्याकोंमे रहेगी।

कर्मयोगकी आदि और उसका अन्त—

कर्मयोगका चरम लक्ष्य है आत्माका पूर्णत विकास। आत्माके इस पूर्ण विकासको ग्रथमें—ब्रह्मपद-प्राप्ति (४) ब्रह्म-निष्ठावस्था, आत्मलक्ष्मीकी लब्धि, जिनश्री तथा आर्हन्त्यलक्ष्मीकी प्राप्ति (१०,७८) आर्हन्त्य-पदावाप्ति (१३३) आत्यन्तिक स्वास्थ्य—स्वात्मस्थिति (३१), आत्म-विशुद्धि (४८) कैवल्योपलब्धि (५५) मुक्ति, विमुक्ति (२७) निर्वृति (५०,६८), मोक्ष (६०,७३,११७) श्रायस (११६) श्रेयस् (५१,७५), निःश्रेयस (५०) निरजना शांति (१२) उच्चशिवताति (१५) शाश्वतशर्मा-वाप्ति (७१), भवक्लेश-भयोपशान्ति (८०) और भवो-पशान्ति तथा अभव-सौख्य-संप्राप्ति (११५), जैसे पद-वाक्यों अथवा नामोंके द्वारा उल्लिखित किया है। इनमेंसे कुछ नाम तो शुद्धस्वरूपमें स्थितिपरक अथवा प्रवृत्तिपरक हैं

कुछ पररूपसे निवृत्तिके द्योतक हैं और कुछ उस विकासावस्थामें होनेवाले परम शान्ति-सुखके सूचक हैं। 'जिनश्री' पद उपमालंकारकी दृष्टिसे 'आत्मलक्ष्मी' का ही वाचक है; क्योंकि घातिकर्ममलसे रहित शुद्धात्माको अथवा आत्मलक्ष्मीके सातिशय विकासको प्राप्त आत्माको ही 'जिन' कहते हैं। 'जिनश्री' का ही दूसरा नाम 'निजश्री'[1] है। 'जिन' और 'अर्हत्' पद समानार्थक होनेसे 'आर्हन्त्यलक्ष्मीपद' भी आत्मलक्ष्मीका ही वाचक है। इसी स्वात्मोपलब्धिको पूज्यपाद आचार्यने, सिद्धभक्तिमें, 'सिद्धि' के नामसे उल्लेखित किया है।[2]

अपने शुद्धस्वरूपमें स्थितिरूप यह आत्माका विकास ही मनुष्योंका स्वार्थ है—असली स्वप्रयोजन है—क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय विषयोंका सेवन—उनका स्वार्थ नहीं है, जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥३१॥

और इसलिये इन्द्रिय-विषयोंको भोगनेके लिये—उनसे तृप्ति प्राप्त करनेके लिये—जो भी पुरुषार्थ किया जाता है वह इस ग्रंथके कर्मयोगका विषय नहीं है। उक्त वाक्यमें ही इन भोगोंको उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकाक्षाकी—वृद्धिके कारण बतलाया है, जिसमें शारीरिक तथा मानसिक तापकी शांति होने नहीं पाती। अन्यत्र भी ग्रंथमें इन्हें तृष्णाकी अभिवृद्धि एवं दुःख-संतापके कारण बतलाया है तथा यह भी बतलाया है कि इन विषयोंमें आसक्ति होनेसे मनुष्योंकी सुखपूर्वक स्थिति नहीं बनती और न देह अथवा देही (आत्मा) का कोई उपकार ही बनता है (१३, १८, २०, ३१, ८२)। मनुष्य प्रायः विषय-सुखकी तृष्णाके वश हुए दिन भर श्रमसे पीड़ित रहते हैं और रातको सो जाते हैं—उन्हें आत्महितकी कोई सुधि ही नहीं रहती (४८)। उनका मन विषय-सुखकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित जैसा हो जाता है (४७)। इस तरह इन्द्रिय-विषयको हेय बतलाकर उनमें आसक्तिका निषेध किया है, जिससे स्पष्ट है कि वे उस कर्मयोगके विषय ही नहीं जिसका चरम लक्ष्य है आत्माका पूर्णतः विकास।

पूर्णतः आत्मविकासके अभिव्यंजक जो नाम ऊपर दिये हैं उनमें मुक्ति और मोक्ष ये दो नाम अधिक लोकप्रसिद्ध हैं और दोनों बन्धनसे छूटनेके एक ही आशयको लिये हुए हैं। मुक्ति अथवा मोक्षका जो इच्छुक है उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं। मुमुक्षु होनेसे कर्मयोगका प्रारम्भ होता है—यही कर्मयोगकी आदि अथवा पहली सीढ़ी है। मुमुक्षु बननेसे पहले उस मोक्षका जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा हृदयमें जागृत हुई है, उस बन्धनका जिससे छूटनेका नाम मोक्ष है, उस वस्तु या वस्तुसमूहका जिससे बन्धन बना है, बन्धनके कारणोंका बन्धन जिसके साथ लगा है उस जीवात्माका, बन्धनसे छूटनेके उपायोंका और बन्धनसे छूटनेमें जो लाभ है उसका अर्थात् मोक्षफलका सामान्य ज्ञान होना अनिवार्य है—उस ज्ञानके बिना कोई मुमुक्षु बन ही नहीं सकता। यह ज्ञान जितना यथार्थ विस्तृत एवं निर्मल होगा अथवा होता जायगा और उसके अनुसार बन्धनसे छूटनेके समीचीन उपायोंको जितना अधिक तत्परता और सावधानीके साथ काममें लाया जायगा उतना ही अधिक कर्मयोग सफल होगा, इसमें विवादके लिये कोई स्थान नहीं है। बन्ध, मोक्ष तथा दोनोंके कारण, बद्ध, मुक्त और मुक्तिका फल इन सब बातोंका कथन यद्यपि अनेक मतोंमें पाया जाता है परन्तु इनकी समुचित व्यवस्था स्याद्वादी अर्हन्तोंके मतमें ही ठीक बैठती है, जो अनेकान्तदृष्टिको लिये होता है। सर्वथा एकान्तदृष्टिको लिये हुए नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्वादि एकान्तपक्षोंके प्रतिपादक जो भी मत हैं उनमेंसे किसीमें भी इनकी समुचित व्यवस्था नहीं बनती। इसी बातको ग्रंथकी निम्न कारिकामें व्यक्त किया गया है—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥

और यह बात बिलकुल ठीक है। इसको विशेष रूपमें सुमतिजिन आदिके स्तवनोंमें पाये जानेवाले तत्वज्ञानसे, जिसे ज्ञानयोगमें उद्धृत किया गया है, और स्वामी समन्तभद्रके देवागम तथा युक्त्यनुशासन-जैसे ग्रन्थोंके अध्ययनसे और दूसरे भी जैनागमोंके स्वाध्यायसे भले प्रकार अनुभव किया जा सकता है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थमें बन्धनको 'अचेतनकृत' (१७) बतलाया है और उस अचेतनको जिससे चेतन (जीव) बधा है 'कर्म'

---

१. स्तुतिविद्याके पार्श्वजिन-स्तवनमें 'पुरुनिजश्रियं' पदके द्वारा इसी नामका उल्लेख किया गया है।

२. "सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगणोच्छादि-दोषापहारात्।"

(७१, ८४) कहा है, 'कृतान्त' (७९) नाम भी दिया है और दुरित (१०५, ११०), दुरिताजंन (५७), दुरितमल, (११५), कल्मष (१२१) तथा 'दोषमूल' (४) जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया है। वह कर्म अथवा दुरितमल आठ प्रकारका (११५) है—आठ उसकी मूल प्रकृतियां है, जिनके नाम हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय (मोह) ४ अन्तराय, ५ वेदनीय, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ आयु। इनमेंसे प्रथम चार प्रकृतिया कटुक (८४) है—बडी ही कड़वी है, आत्माके स्वरूपको घात करनेवाली है और इसलिये उन्हे 'घातिया' कहा जाता है, शेष चार प्रकृतियां 'अघातिया' कहलाती है। इन आठो जड़ कर्ममलोंके अनादि सम्बन्धसे यह जीवात्मा मलिन, अपवित्र, कलकित, विकृत और स्वभावसे च्युत होकर विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है; अज्ञान, अहकार, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभादिक असख्य-अनन्त दोषोंका क्रीड़ास्थल बना हुआ है, जो तरह तरहके नाच नचा रहे हैं; और इन दोषोके नित्यके ताण्डव एव उपद्रवसे सदा अशान्त, उद्विग्न अथवा बेचैन बना रहता है और उसे कभी सच्ची सुख-शान्ति नहीं मिल पाती। इन दोषोकी उत्पत्तिका प्रधान कारण उक्त कर्ममल है, और इसीसे उसे 'दोष-मूल' कहा गया है। वह पुद्गलद्रव्य होनेसे 'द्रव्यकर्म' भी कहा जाता है और उसके निमित्तसे होनेवाले दोषोंको 'भावकर्म' कहते हैं। इन द्रव्य-भाव-रूप उभय प्रकारके कर्मोंका सम्बन्ध जब आत्मासे नही रहता—उसका पूर्णत· विच्छेद हो जाता है—तभी आत्माको असली सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है और उसके प्राय: सभी गुण विकसित हो उठते है। यह सुख-शान्ति आत्मामे बाहरसे नही आती और न गुणोंका कोई प्रवेश ही बाहरसे होता है, आत्माकी यह सब निजी सम्पत्ति है जो कर्ममलके कारण आच्छादित और विलुप्तसी रहती है और उस कर्ममलके दूर होते ही स्वत. अपने असली रूपमे विकासको प्राप्त हो जाती है। अत: इस कर्ममलको दूर करना अथवा जलाकर भस्म कर देना ही कर्मयोगका परम पुरुषार्थ है। वह परम-पुरुषार्थ योगबलका सातिशय प्रयोग है, जिसे 'निरुपमयोग-बल' लिखा है और जिसके उस प्रयोगसे समूचे कर्ममलको भस्म करके उस अभव-सौख्यको प्राप्त करनेकी घोषणा की गई है जो संसारमें नही पाया जाता (११५)। इस योगके दूसरे सिद्ध नाम प्रशस्त (सातिशय) ध्यान (८३), शुक्ल-ध्यान (११०) और समाधि (४,७७) हैं। कर्म-दहन-गुण-सम्पन्न होनेसे इस योग, ध्यान अथवा समाधिको, जो कि एक प्रकारका तप है, अग्नि (तेज) कहा गया है।[1] इसी अग्निमे उक्त पुरुषार्थ-द्वारा कर्ममलको जलाया जाता है, जैसाकि ग्रन्थके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

> "स्व-दोष-मूलं स्व-समाधि-तेजसा
> निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् (४)।
> "कर्म-कक्षमदहत्तपोऽग्निभिः (७१)।
> "ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् (७९)।
> "यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
> र्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् (११०)।
> "परमयोग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः (१२१)

यह योगाग्नि क्या वस्तु है? इसका उत्तर ग्रन्थके निम्न वाक्य-परसे ही यह फलित होता है कि 'योग वह सातिशय अग्नि है जो रत्नत्रयकी एकाग्रताके योगसे सम्पन्न होती है और जिसमे सबसे पहले कर्मोंकी कटुक प्रकृतियोंकी आहुति दी जाती है'—

> हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्चतस्रो
> रत्नत्रयातिशय-तेजसि-जात-वीर्यः। (८४)

'रत्नत्रय' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रको कहते है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थसे प्रकट है, जिसमें इनका गृहस्थोंकी दृष्टिसे कुछ विस्तारके साथ वर्णन है। इस ग्रन्थमे भी उसके तीनो अगोका उल्लेख है और वह दृष्टि, सविद् एव उपेक्षा-जैसे शब्दोंके द्वारा किया गया है (९०)[2], जिनका आशय सम्यग्दर्शनादिकसे

---

१ कर्म-छेदनकी शक्तिसे भी सम्पन्न होनेके कारण इन योगादिकको कहीं कहीं खड्ग तथा चक्रकी भी उपमा दी गई है। यथा:—

"समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोह-चक्रम् (७७)।"

"स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम्। (१३३)"

एक स्थानपर समाधिको कर्मरोग-निर्मूलनके लिए 'भैषज्य' (अमोघ-औषधि) की भी उपमा दी गई है—
'विशोषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीन-यत् (६७)'

२. 'दृष्टि-संविदुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर पराजितः' इस वाक्य के द्वारा इन्हें 'अस्त्र' भी लिखा है, जो आग्नेयअस्त्र हो सकते हैं अथवा कर्मछेदन की शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण खड्गादि जैसे आयुध भी हो सकते हैं।

ही है। इन तीनोंकी एकाग्रता जब आत्माकी ओर होती है—आत्माका ही दर्शन, आत्माका ही ज्ञान, आत्मामे ही रमण होने लगता है—और परमें आसक्ति छूटकर उपेक्षाभाव आजाता है तब यह अग्नि सातिशयरूपमें प्रज्वलित हो उठती है और कर्म-प्रकृतियोंको सविशेषरूपसे भस्म करने लगती है। यह भस्म-क्रिया इन त्रिरत्न-किरणोंकी एकाग्रतासे उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार कि सूर्यरश्मियोंको शीशे या कांच-विशेषमें एकाग्र कर शरीरके किसी अंग अथवा वस्त्रादिकपर डाला जाता है तो उनसे वह अगादिक जलने लगता है। सचमुच एकाग्रतामें बड़ी शक्ति है। इधर-उधर बिखरी हुई तथा भिन्नाप्रमुख-शक्तिया वह काम नही देती जो कि एकत्र और एकाग्र (एकमुख) होकर देती है। चिन्ताके एकाग्र-निरोधका नाम ही ध्यान तथा समाधि है। आत्म-विषयमें यह चिन्ता जितनी एकाग्र होती जाती है सिद्धि अथवा स्वात्मोपलब्धि भी उतनी ही समीप आती जाती है। जिस समय इस एकाग्रतासे सम्पन्न एव प्रज्वलित योगानलमे कर्मोंकी चारों मूल कटुक प्रकृतिया अपनी उत्तर और उत्तरोत्तर शाखा-प्रकृतियोंके साथ भस्म हो जाती है अथवा यो कहिये कि सारा घाति-कर्ममल जलकर आत्मासे अलग हो जाता है उस समय आत्मा जातवीर्य (परम-शक्तिसम्पन्न) होता है—उसकी अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य नामकी चारों शक्तिया पूर्णत विकसित हो जाती है और सबको देखने-जाननेके साथ साथ पूर्ण सुख-शान्तिका अनुभव होने लगता है। ये शक्तिया ही आत्माकी श्री है, लक्ष्मी है, शोभा है। और यह विकास उसी प्रकारका होता है जिस प्रकारका कि सुवर्ण-पाषाणसे सुवर्णका होता है। पाषाण-स्थित सुवर्ण जिस तरह अग्नि-प्रयोगादिके योग्य साधनोंको पाकर किट्ट-कालिमादि पाषाणमलसे अलग होता हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमें परिणत हो जाता है उसी तरह यह संसारी जीव उक्त कर्ममलके भस्म होकर पृथक् हो जानेपर अपने शुद्धात्मस्वरूपमें परिणत हो जाता है[1]। घाति-कर्ममलके अभावके साथ प्रादुर्भूत होने वाले इस विकासकानाम ही 'आर्हन्त्यपद' है जो बडा ही अचिन्त्य है अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशय (परमप्रकर्ष) का स्थान है (१३३)। इसीको जिनपद, कैवल्यपद तथा

१. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुण-गुणगणोच्छादिदोषापहारात्। योग्योपादान-युक्त्या दृषद् इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥१॥ —पूज्यपाद-सिद्धभक्ति

ब्रह्मपदादि नामोंसे उल्लेखित किया जाता है।

ब्रह्मपद आत्माकी परम-विशुद्ध अवस्थाके सिवा दूसरी कोई चीज नही है। स्वामी समन्तभद्रने प्रस्तुत ग्रन्थमें 'अहिंसा भूताना जगति विदितं ब्रह्म परमं' (११९) इस वाक्यके द्वारा अहिंसाको 'परमब्रह्म' बतलाया है और यह ठीक ही है, क्योंकि अहिंसा आत्मामे राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोषोंकी निवृत्ति अथवा अप्रादुर्भूतिको कहते है[1]। जब आत्मामें रागादि-दोषोंका समूलनाश होकर उसकी विभाव-परिणति मिट जाती है और अपने शुद्धस्वरूपमें चर्या होने लगती है तभी उसमें अहिंसाकी पूर्णप्रतिष्ठा कही जाती है, और इसीलिये शुद्धात्म-चर्यारूप अहिंसा ही परमब्रह्म है—किसी व्यक्तिविशेषका नाम ब्रह्म तथा परमब्रह्म नही है। इसीसे जो ब्रह्मनिष्ठ होता है वह आत्म-लक्ष्मीकी सम्प्राप्तिके साथ साथ 'सम-मित्र-शत्रु' होता तथा 'कषाय-दोषोसे रहित होता है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-विद्या-विनिर्वान्त-कषायदोषः।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान्विधत्ताम् ॥

यहा ब्रह्मनिष्ठ अजित भगवानसे 'जिनश्री' की जो प्रार्थना की गई है उससे स्पष्ट है कि 'ब्रह्म' और 'जिन' एक ही है, और इसलिये जो 'जिनश्री' है वही 'ब्रह्मश्री' है—दोनोमे तात्त्विकदृष्टिसे कोई अन्तर नही है। यदि अन्तर होता तो ब्रह्मनिष्ठसे ब्रह्मश्रीकी प्रार्थना की जाती, न कि जिनश्रीकी। अन्यत्र भी, वृषभतीर्थकरके स्तवन (४) में जहा 'ब्रह्मपद' का उल्लेख है वहां उसे 'जिनपद' के अभिप्रायसे सर्वथा भिन्न न समझना चाहिये। वहा अगले ही पद्य (५) में उन्हें स्पष्टतया 'जिन' रूपसे उल्लेखित भी किया है। दोनों पदोंमे थोडासा दृष्टिभेद है—'जिन' पद कर्मके निषेधकी दृष्टिको लिये हुए है और 'ब्रह्म' पद स्वरूपमें अवस्थिति अथवा प्रवृत्तिकी दृष्टिको प्रधान किये हुए है। कर्मके निषेध-विना स्वरूपमे प्रवृत्ति नही बनती और स्वरूपमें प्रवृत्तिके विना कर्मका निषेध कोई अर्थ नही रखता। विधि और निषेध दोनोंमें परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है—एकके विना दूसरेका अस्तित्व ही नही बनता, यह बात प्रस्तुत ग्रन्थमें खूब स्पष्ट करके समझाई गई है। अत संज्ञा अथवा शब्द-भेदके कारण सर्वथा भेदकी कल्पना करना न्याय-संगत नही

१. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रः।

है। अस्तु।

जब घाति-कर्ममल जलकर अथवा शक्तिहीन होकर आत्मासे बिल्कुल अलग हो जाता है तब शेष रहे चारों आघातियाकर्म, जो पहले ही आत्माके स्वरूपको घातनेमे समर्थ नही थे, पृष्ठबलके न रहनेपर और भी अधिक आघातिया हो जाते एव निर्वल पड़ जाते है और विकसित आत्माके सुखोपभोग एवं ज्ञानादिककी प्रवृत्तिमे जरा भी अडचन नही डालते। उनके द्वारा निर्मित, स्थित और संचालित शरीर भी अपने बाह्यकरण-स्पर्शनादिक इन्द्रियों और अन्तःकरण मनके साथ उसमें कोई बाधा उपस्थित नही करता और न अपने उभयकरणोके द्वारा कोई उपकार ही सम्पन्न करता है[1]। उन आघातिया प्रकृतियोंका नाश उसी पर्यायमे अवश्यभावी होता है—आयुकर्मकी स्थिति पूरी होते होते अथवा पूरी होनेके साथ साथ ही वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मोकी प्रकृतिया भी नष्ट हो जाती हैं अथवा योग-निरोधादिके द्वारा सहजमें ही नष्ट कर दी जाती हैं। और इसलिये जो घातिया कर्मप्रकृतियोका नाश कर आत्मलक्ष्मीको प्राप्त होना है उसका आत्मविकास प्रायः पूरा ही हो जाता है, वह शरीर-सम्बन्धको छोडकर अन्य सब प्रकारसे मुक्त होता है और इसीसे उसे 'जीवन्मुक्त' या 'सदेहमुक्त' कहते है—'सकलपरमात्मा' भी उसका नाम इसी शारीरिक दृष्टिको लेकर है। उसके लिये उसी भवसे मोक्षप्राप्त करना, विदेहमुक्त होना और निष्कल परमात्मा बनना असन्दिग्ध तथा अनिवार्य हो जाता है—उसकी इस सिद्धपद-प्राप्तिको फिर कोई रोक नही सकता। ऐसी स्थितिमे यह स्पष्ट है कि घाति-कर्ममलको आत्मासे सदाके लिये पृथक् कर देना ही सबसे बडा पुरुषार्थ है और इसलिये कर्मयोगमे सबसे अधिक महत्व इसीको प्राप्त है। इसके बाद जिस अन्तिम समाधि अथवा शुक्लध्यानके द्वारा अवशिष्ट अघातिया कर्मप्रकृतियोका मूलतः विनाश किया जाता है और सकलकर्मसे विमुक्तिरूप मोक्षपदको प्राप्त किया जाता है उसके साथ ही कर्मयोगकी समाप्ति हो जाती है और इसलिये उक्त अन्तिम समाधि ही कर्मयोगका अन्त है, जिसका प्रारम्भ 'मुमुक्षु' बननेके साथ-साथ होता है।

1. जैसा कि ग्रन्थगत स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत्।
नाथ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ।।१२९।।

कर्मयोगका मध्य—

अब कर्मयोगके 'मध्य' पर विचार करना है, जिसके आश्रय बिना कर्मयोगकी अन्तिम तथा अन्तसे पूर्वकी अवस्थाको कोई अवसर ही नही मिल सकता और न आत्माका उक्त विकास ही सध सकता है।

मोक्ष-प्राप्तिकी सदिच्छाको लेकर जब कोई सच्चा मुमुक्षु बनता है तब उसमें बन्धके कारणोंके प्रति अरुचिका होना स्वाभाविक हो जाता है। मोक्षप्राप्तिकी इच्छा जितनी तीव्र होगी बन्ध तथा बन्ध-कारणोंके प्रति अरुचि भी उसकी उतनी ही बढ़ती जायगी और वह बन्धनोंको तोड़ने, कम करने, घटाने एवं बन्धकारणोंको मिटानेके समुचित प्रयत्नमें लग जायगा, यह भी स्वाभाविक है। सबसे बडा बन्धन और दूसरे बन्धनोंका प्रधान कारण मोह है। इस मोहका बहुत बडा परिवार है। दृष्टि-विकार (मिथ्यात्व) ममकार, अहंकार, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, और घृणा (जुगुप्सा) ये सब उस परिवारके प्रमुख अंग है अथवा मोहके परिणाम-विशेष है, जिनके उत्तरोत्तर भेद तथा प्रकार असंख्य है। इन्हे अन्तरग तथा आभ्यन्तर परिग्रह भी कहते है। इन्होंने भीतरमे जीवात्माको पकड़ तथा जकड़ रक्खा है। ये ग्रहकी तरह उसे चिपटे हुए है और अनन्त दोषों, विकारो एवं आपदाओंका कारण बने हुए है। इसीसे ग्रन्थमें मोहको अनन्त दोषोका घर बतलाते हुए उस ग्राहकी उपमा दी गई है जो चिरकालसे आत्माके साथ संलग्न है—चिपटा हुआ है। साथ ही उसे वह पापी शत्रु बतलाया है जिसके क्रोधादि कषाय सुभट है(६५)। इस मोहसे पिण्ड छुडानेके लिये उसके अगोको जैसे तैसे भग करना, उन्हे निर्बल-कमजोर बनाना, उनकी आज्ञामें न चलना अथवा उनके अनुकूल परिणमन न करना जरूरी है।

सबसे पहले दृष्टिविकारको दूर करनेकी जरूरत है। यह महाबन्धन है, सर्वोपरि बन्धन है और इसके नीचे दूसरे बन्धन छिपे रहते हैं। दृष्टिविकारकी मौजूदगीमें यथार्थ वस्तुतत्त्वका परिज्ञान ही नही हो पाता—बन्धन बन्धनरूप मे नजर नही आता और न शत्रु शत्रुके रूपमें दिखाई देता है। नतीजा यह होता है कि हम बन्धनको बन्धन न समझ कर उसे अपनाए रहते है, शत्रुको मित्र मानकर उसकी आज्ञामे चलते रहते है और हानिकारकको हितकर समझनेकी भूल करके निरन्तर दुःखों तथा कष्टोके चक्करमे पड़े रहते है—कभी निराकुल एव सच्चे शान्तिसुखके उपभोक्ता नहीं हो

पाते। इस दृष्टि-विकारको दूर करनेके लिये 'अनेकान्त' का आश्रय लेना परम आवश्यक है। अनेकान्त ही इस महारोगकी अमोघ औषधि है। अनेकान्त ही इस दृष्टिविकारके जनक तिमिर-जालको छेड़नेकी पैनी छैनी है। जब दृष्टिमें अनेकान्त समाता है—अनेकान्तमय अंजनादिक अपना काम करता है— तब सब कुछ ठीक ठीक नजर आने लगता है। दृष्टिमे अनेकान्तके संस्कारबिना जो कुछ नजर आता है वह सब प्राय: मिथ्या भ्रमरूप तथा अवास्तविक होता है। इसीसे प्रस्तुत ग्रन्थमें दृष्टिविकारको मिटानेके लिये अनेकान्तकी खास तौरसे योजना की गई है— उसके स्वरूपादिको स्पष्ट करके बतलाया गया है, जिससे उसके ग्रहण तथा उपयोगादिकमें सुविधा हो सके। साथ ही यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि जिस दृष्टिका आत्मा अनेकान्त है—जो दृष्टि अनेकान्तसे संस्कारित अथवा युक्त है—वह सती सच्ची अथवा समीचीन दृष्टि है, उसीके द्वारा सत्यका दर्शन होता है, और जो दृष्टि अनेकान्तात्मक न होकर सर्वथा एकान्तात्मक है वह असती झूठी अथवा मिथ्यादृष्टि है और इसलिये उसके द्वारा सत्यका दर्शन न होकर असत्यका ही दर्शन होता है। वस्तुतत्त्वके अनेकान्तात्मक होनेसे अनेकान्तके बिना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नही सकती।[1] अत: सबसे पहले दृष्टि-विकारपर प्रहार कर उसका सुधार करना चाहिये और तदनन्तर मोहके दूसरे अगों पर, जिन्हे दृष्टि-विकारके कारण अभी तक अपना सगा समझकर अपना रक्खा था, प्रतिपक्ष भावनाओंके बलपर अधिकार करना चाहिये—उनसे शत्रु-जैसा व्यवहार कर उन्हें अपने आत्मनगरसे निकाल बाहर करना चाहिये अथवा यों कहिये कि क्रोधादिरूप न परिणमनेका दृढ सकल्प करके उसके बहिष्कार का प्रत्यत्न करना चाहिये। इसीको अन्तरग परिग्रहका त्याग कहते है।

अन्तरंग परिग्रहको जिसके द्वारा पोषण मिलता है वह बाह्य परिग्रह है और उसमे संसारकी सभी कुछ सम्पत्ति और विभूति शामिल है। इस बाह्य सम्पत्ति एवं विभूतिके सम्पर्कमे अधिक रहनेसे रागादिकी उत्पत्ति होती है, ममत्व-परिणामको अवसर मिलता है, रक्षण वर्द्धन और विघटनादि-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा आकुलताएं घेरे रहती है, भय बना रहता है, जिन सबके प्रतिकारमें काफी शक्ति लगानी पडती है तथा आरम्भ जैसे सावद्य कर्म करने पड़ते है और इस तरह उक्त सम्पत्ति एवं विभूतिका मोह बढ़ता रहता है। इसीसे इस सम्पत्ति एवं विभूतिको बाह्य परिग्रह कहा गया है। मोहके बढ़नेका निमित्त होनेसे इन बाह्य पदार्थोंके साथ अधिक सम्पर्क नहीं बढ़ाना चाहिये, आवश्यकतासे अधिक इनका सचय नही करना चाहिये। आवश्यकताओंको भी बराबर घटाते रहना चाहिये। आवश्यकताओंकी वृद्धि बन्धनोंकी ही वृद्धि है ऐसा समझना चाहिये और आवश्यकतानुसार जिन बाह्य चेतन-अचेतन पदार्थोंके साथ सम्पर्क रखना पड़े उनमें भी आसक्तिका भाव तथा ममत्व-परिणाम नही रखना चाहिये। यही सब बाह्य परिग्रहका एकदेश और सर्वदेश त्याग है। एकदेश त्याग गृहस्थियोके लिये और सर्वदेश त्याग मुनियोंके लिये होता है।

इन दोनों प्रकार के परिग्रहोंके पूर्ण त्याग-बिना वह समाधि नही बनती जिसमे चारों घातिया कर्मप्रकृतियोंको भस्म किया जाता है[1] और न उस अहिंसाकी सिद्धि ही होती है जिसे 'परम-ब्रह्म' बतलाया गया है।[2] अत. समाधि और अहिंसा परमब्रह्म दोनोंकी सिद्धिके लिये—दोनो प्रकारके परिग्रहोंका, जिन्हें 'ग्रन्थ' नामसे उल्लेखित किया जाता है, त्याग करके नैर्ग्रन्थ्य-गुण अथवा अपरिग्रह व्रतको अपनानेकी बड़ी जरूरत होती है। इसी भावको निम्न दो कारिकाओंमें व्यक्त किया गया है —

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्दयावधूं क्षांतिसखीमशिश्रियत्।
समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चाऽयुजत् ॥१६॥
अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।

---

१. अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥९८॥

१. इसी बातको लेकर विप्रवंशाग्रणी श्रीपात्रकेशरी स्वामीने, जो स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' को प्राप्त करके जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे, अपने स्तोत्रके निम्न पद्यमें परिग्रही जीवोंकी दशाका कुछ दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि 'ऐसे परिग्रहवशवर्ति कलुषात्माओंके परमशुक्लरूप सद्ध्यानता बनती कहां है?'—

परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते
प्रकोप-परिहिंसने च परुषाऽनृत-व्याहृती।
ममत्वमथ चोरतः स्वमनसश्च विभ्रान्तता
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥४२॥

२. उभय-परिग्रह-वर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविध-परिग्रह-वहनं हिंसेति जिन-प्रवचनज्ञाः ॥११८॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रसूरिः

ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं ।
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधिरतः ॥११९॥

यह परिग्रह-त्याग उन साधुओंसे नहीं बनता जो प्राकृतिक-वेषके विरुद्ध विकृत वेष तथा उपाधिमें रत रहते हैं। और यह त्याग उस तृष्णा-नदीको सुखानेके लिये ग्रीष्मकालीन सूर्यके समान है, जिसमें परिश्रमरूपी जल भरा रहता है और अनेक प्रकारके भयोंकी लहरें उठा करती हैं।

दृष्टिविकारके मिटनेपर जब बन्धनका ठीक भान हो जाता है, शत्रु-मित्र एवं हितकर-अहितकरका भेद साफ़ नज़र आने लगता है और बन्धनोके प्रति अरुचि बढ जाती है तथा मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा तीव्रसे तीव्रतर हो उठती है तब उस मुमुक्षुके सामने चक्रवर्तीका सारा साम्राज्य भी जीर्ण तृणके समान हो जाता है, उसे उसमें कुछ भी रस अथवा सार मालूम नहीं होता, और इसलिये वह उससे उपेक्षा धारण कर—वधू वित्तादि सभी सुखरूप समझी जाने वाली सामग्री एवं विभूतिका परित्याग कर—जंगलका रास्ता लेता है और अपने ध्येयकी सिद्धिके लिये अपरिग्रहादि-व्रतस्वरूप 'दैगम्बरी' जिनदीक्षाको अपनाता है—मोक्षकी साधनाके लिये निर्ग्रन्थ साधु बनता है। परममुमुक्षुके इसी भाव एवं कर्तव्यको श्री वृषभजिन और अरजिनकी स्तुतिके निम्न दो पद्योंमें समाविष्ट किया गया है :—

विहाय यः सागर-वारिवाससं वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम्
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ३
लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलांछनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत् ॥८८॥

समस्त बाह्य परिग्रह और गृहस्थ-जीवनकी सारी सुख-सुविधाओंको त्यागकर साधु-मुनि बनना यह मोक्षके मार्गमे एक बहुत बड़ा कदम उठाना होता है। इस कदमको उठानेसे पहले मुमुक्षु कर्मयोगी अपनी शक्ति और विचारसम्पत्तिका खूब सन्तुलन करता है और जब यह देखता है कि वह सब प्रकारके कष्टों तथा उपसर्ग-परिषहोको समभावसे सह लेगा तभी उक्त कदम उठाता है और कदम उठानेके बाद बराबर अपने लक्ष्यकी ओर सावधान रहता एवं बढ़ता जाता है। ऐसा होनेपर ही वह तृतीय-कारिकामें उल्लेखित उन 'सहिष्णु' तथा 'अच्युत' पदोंको प्राप्त होता है, जिन्हें ऋषभदेवने प्राप्त किया था, जब कि दूसरे राजा, जो अपनी शक्ति एवं विचार-सम्पत्तिका कोई विचार न कर भावुकताके वश उनके साथ दीक्षित हो गये थे, कष्ट-परिषहोंके सहनेमें असमर्थ होकर लक्ष्यभ्रष्ट एवं व्रतच्युत हो गये थे।

ऐसी हालतमें इस बाह्य-परिग्रहके त्यागसे पहले और बाद-को भी मन-सहित पांचों इन्द्रियों तथा क्रोध-लोभादि-कषायों-के दमनकी—उन्हें जीतने अथवा स्वात्माधीन रखने की—बहुत बड़ी जरूरत है। इनपर अपना कंट्रोल (Control) होनेसे उपसर्ग-परिषहादि कष्टके अवसरों पर मुमुक्षु अडोल रहता है, इतना ही नहीं बल्कि उसका त्याग भी भले प्रकार बनता है। और उस त्यागका निर्वाह भी भले प्रकार सधता है। सच पूछिये तो इन्द्रियादिके दमनबिना—उनपर अपना काबू किये बग़ैर—सच्चा त्याग बनता ही नहीं, और यदि भावुकताके वश बन भी जाय तो उसका निर्वाह नहीं हो सकता। इसीसे ग्रन्थमें इस दमका महत्व ख्यापित करते ए उसे 'तीर्थ' बतलाया है—संसारसे पार उतरनेका उपाय सुझाया है—और 'दम-तीर्थ-नायकः' तथा 'अनवद्य-विनय-दमतीर्थ-नायकः' जैसे पदों-द्वारा जैनतीर्थंकरोंको उस तीर्थ-का नायक बतला कर यह घोषित किया है कि जैनतीर्थंकरोंका शासन इन्द्रिय-कषाय-निग्रहपरक है (१०४, १२२)। साथ ही, यह भी निर्दिष्ट किया है कि वह दम (दमन) मायाचार रहित निष्कपट एवं निर्दोष होना चाहिये—दम्भके रूपमें नहीं (१४१)। इस दमके साथी सहयोगी एवं सखा (मित्र) है यम-नियम, विनय, तप और दया। अहिंसादि व्रतानुष्ठान का नाम 'यम' है। कोई व्रतानुष्ठान जब यावज्जीवके लिये न होकर परमितकालके लिये होता है तब वह 'नियम' कह-लाता है[1]। यमको ग्रन्थमें 'सप्रयामदमाय.' (१४१) पदके द्वारा 'याम' शब्दसे उल्लेखित किया है जो स्वार्थिक 'अण्' प्रत्ययके कारण यमका ही वाचक है और 'प्र' उपसर्गके साथ में रहनेसे महायम (महाव्रतानुष्ठान) का सूचक हो जाता है। इस यम अथवा महायमको ग्रन्थमें 'अधिगत मुनि-सुव्रत-स्थिति.' (१११) पदके द्वारा 'सुव्रत' भी सूचित किया है और वे सुव्रत अहिंसादिक महाव्रत ही है, जिन्हें कर्मयोगीको भले प्रकार अधिगत और 'अधिकृत' करना होता है। विनयमें अहंकारका त्याग और दूसरा भी कितना ही सदाचार शामिल है। तपमे सासारिक इच्छाओंके निरोधकी प्रमुखता है और वह बाह्य तथा अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। बाह्यतप अनशनादिक-रूप[2] है और वह अन्तरंग तपकी वृद्धिके लिये

१ नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ।
—रत्नकरण्ड ८०

२ अनशनाऽवमोदर्य-वृत्तपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त शय्यासन—कायक्लेशा बाह्यं तपः । —तत्त्वार्थसूत्र९-१९

ही किया जाता है (८३) —वही उसका लक्ष्य और ध्येय है, मात्र शरीरको सुखाना, कृश करना अथवा कष्ट पहुंचाना उसका उद्देश्य नही है । अन्तरंग तप प्रायश्चितादिरूप[1] है, जिसमे ज्ञानाराधन और ध्यान-साधनकी प्रधानता है—प्रायश्त्तिादिक प्रायः उन्हीकी वृद्धि और सिद्धिको लक्ष्यमे लेकर किये जाते है। ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे चार प्रकारका होता है, जिनमें पहले दो भेद अप्रशस्त (कलुषित) और दूसरे दो प्रशस्त (सातिशय) ध्यान कहलाते है। दोनों अप्रशस्त ध्यानोंको छोड़कर प्रशस्त ध्यानोंमें प्रवृत्ति करना ही इस कर्मयोगीके लिये विहित है (८३)। यह योगी तप साधनाकी प्रधानताके कारण 'तपस्वी' भी कहलाता है, परन्तु इसका तप दूसरे कुछ तपस्वियोंकी तरह सन्ततिकी, धनसम्पत्तिकी तथा परलोकमें इन्द्रासनादि-प्राप्तिकी आशा-तृष्णाको लेकर नही होता, बल्कि उसका शुद्धलक्ष्य स्वात्मोपलब्धि होता है—वह जन्म-जरा-मरणरूप ससार-परिभ्रमणसे छूटनेके लिये अपने मन-वचन और कायकी प्रवृत्तियोंको तपश्चरण-द्वारा स्वाधीन करता है (४८), इन्द्रिय-विषय-सौख्यमे पराङ्मुख रहता है (८१) और इतना निस्पृह हो जाता है कि अपने देह-से भी विरक्त रहता है (७३)—उसे धोना, माजना, तेल लगाना, कोमल शय्यापर सुलाना, पौष्टिक भोजन कराना, शृंगारित करना और सर्दी गर्मी आदिकी परिषहोंसे अनावश्यकरूपमें बचाना जैसे कार्योंमे वह कोई रुचि नही रखता। उसका शरीर आभूषणों, वेषो, आयुधो और वस्त्र-प्रावरणादि-रूप व्यवधानोंसे रहित होता है और इन्द्रियोंकी शान्तताको लिये रहता है (९४, १२०)। ऐसे तपस्वीका एक सुन्दर सक्षिप्त लक्षण ग्रन्थकार-महोदयने अपने दूसरे ग्रन्थ 'समीचीन धर्मशास्त्र' (रत्नकरण्ड) में निम्न प्रकार दिया है —

विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान-तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

'जो इन्द्रिय-विषयोकी आशातकके वशवर्ती नही है, आरम्भोंसे—कृषि-वाणिज्यादिरूप सावद्यकर्मोंसे—रहित है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे मुक्त है और ज्ञान-ध्यानकी प्रधानताको लिये हुए तपस्यामें लीन रहता है वह तपस्वी प्रशंसनीय है।'

अब रही दयाकी बात, वह तो सारे धर्मानुष्ठानका प्राण ही है। इसीसे 'मुनौ दया-दीधित-धर्मचक्रं' वाक्यके द्वारा योगी साधुके सारे धर्म-समूहको दयाकी किरणोंवाला बतलाया है (७८) और सच्चे मुनिको दयामूर्तिके रूपमें पापों की शांति करने वाला (७६) और अखिल प्राणियोंके प्रति अपनी दयाका विस्तार करने वाला (८१) लिखा है। उसका रूप शरीरकी उक्त स्थितिके साथ विद्या, दम और दयाकी तत्परताको लिये हुए होता है (९४)। दयाके बिना न दम बनता है, न यम-नियमादिक और न परिग्रहका त्याग ही सुघटित होता है; फिर समाधि ओर उसके द्वारा कर्मबन्धनोको काटने अथवा भस्म करनेकी तो बात ही दूर है। इसी से समाधिकी सिद्धिके लिये जहा उभय प्रकारके परिग्रह-त्यागको आवश्यक बतलाया है, वहा क्षमा-सखीवाली दया-वधूको अपने आश्रयमें रखनेकी बात भी कही गई है (१६) और अहिंसा-परमब्रह्म की सिद्धिके लिये जहा उस आश्रमविधिको अपनानेकी बात करते हुए जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ न हो, द्विविध-परिग्रहके त्यागका विधान किया है वहा उस परिग्रह-त्यागीको 'परम-करुणः' पदके द्वारा परमकरुणाभावसे—असाधारण-दया-सम्पत्तिसे— सम्पन्न भी सूचित किया है। इस तरह दम, त्याग और समाधि (तथा उनसे सम्बन्धित यम-नियमादिक) सबमे दयाकी प्रधानता है। इसीसे मुमुक्षुके लिये कर्मयोगके अगोंमे 'दया'को अलग ही रखा गया है और पहला स्थान दिया गया है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने दूसरे महान् ग्रन्थ 'युक्त्यनुशासन' मे कर्मयोगके इन चार अंगों दया, दम, त्याग और समाधिका इसी क्रमसे उल्लेख किया है[2] और साथ ही यह निर्दिष्ट किया है कि वीरजिनेन्द्रका शासन (मत) नय-प्रमाणके द्वारा वस्तु-तत्त्व-को स्पष्ट करनेके साथ साथ इन चारोकी तत्परताको लिये हुए है, ये सब उसकी खास विशेषताए है और इन्हीके कारण वह अद्वितीय है तथा अखिल प्रवादियोके द्वारा अधृष्य है—अजय्य है। जैसा कि उक्त ग्रन्थ-की निम्न कारिकासे प्रकट है —

१. प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्यायव्युत्सर्ग-ध्याना-न्युत्तरम् । —तत्त्वार्थसूत्र ९-२०॥

२. श्री विद्यानन्दाचार्य इस क्रमकी सार्थकता बतलाते हुए टीकामें लिखते है—निमित्त-नैमित्तिक-भाव-निबन्धनः पूर्वोत्तर-वचन-क्रम । दया हि निमित्तम् दमस्य, तस्यां सत्यां तदुत्पत्तेः । दमश्च त्यागस्य (निमित्त) तस्मिन्सति तद्घटनात् । त्यागश्च समाधेस्तस्मिन्सत्येव विक्षेपादिनिवृत्ति-सिद्धेरेकाग्रस्य समाधिविशेषस्योत्पत्तेः अन्यथा तदनुपपत्ते. ”

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

यह कारिका बडे महत्वकी है। इसमें वीरजिनेन्द्रके शासन-का बीज-पदोंमें सूत्ररूपसे सार सकलन करते हुए भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग तीनोंका सुन्दर समावेश किया गया है। इसका पहला चरण कर्मयोगकी, दूसरा चरण ज्ञान-योगकी और शेष तीनों चरण प्रायः भक्तियोगकी संसूच-नाको लिये हुए है। और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि दया, दम, त्याग और समाधि इन चारोंमे वीरशासनका सारा कर्मयोग समाविष्ट है। यम, नियम, सयम, व्रत, विनय, शील, तप, ध्यान, चारित्र, इन्द्रियजय, कषायजय, परीषहजय, मोहविजय, कर्मविजय, गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, त्रिदण्ड, हिंसादिविरति और क्षमादिकके रूपमे जो भी कर्मयोग अन्यत्र पाया जाता है वह सब इन चारोमे अन्तर्भूत है—इन्हींकी व्याख्यामे उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। चुनांचे प्रस्तुत ग्रन्थमे भी इन चारोका अपने कुछ अभिन्न सगी-साथियोंके साथ इधर-उधर प्रसृत निर्देश है; जैसाकि ऊपरके सवचन और विवेचनमे स्पष्ट है।

इस प्रकार यह ग्रन्थके सारे शरीरमें व्याप्त कर्मयोग-रसका निचोड है—सत है अथवा सार है, जो अपने कुछ उपयोग-प्रयोगको भी साथमे लिये हुए है।

गांधीजीका अनासक्ति कर्मयोग

(प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन, एम० ए०)

गांधीजी अनासक्त कर्मयोगी थे और यह योग उन्होंने गीतासे लिया था, पर उन्होंने इसका जो अर्थ किया है वह गीताके अर्थसे भिन्न है। गाधीजीने विभिन्न धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तोंका अपने राजनैतिक जीवनमें प्रयोग ही नही किया, उनका अपने दृष्टिकोणसे नया अर्थ भी किया है। उनके इस मौलिक अर्थको न समझनेके कारण बडे-बडे मनीषी भ्रम मे पड जाते है।

गाधीजी लोकपुरुष थे, वे शास्त्रोंकी पुरानी लकीर पीटने नही आये थे, उन्हे नये समाजका निर्माण करना था, उन्होंने जिन आधारभूत तत्त्वोंको चुना, भले हों उनके नाम पुराने हों पर अर्थ नया था। अनासक्तयोगकी तरह उन्होंने अहिंसाको भी अपनाया, पर जैनी अहिंसासे उनकी अहिंसा कुछ अलग है। वह ईश्वरवादी थे, पर उनकी ईश्वर भावना-का अन्त टाल्सटायके मानवता-धर्मदर्शनमें होता है, मध्य युगीन भक्तोकी ईश्वरीय लीलामें नही। पर इधर जो गांधी सम्प्रदाय है वह व्यक्ति, समाज और प्रवृत्ति-निवृत्तिके विषयमें बहुत ही भ्रम में है। यह सम्प्रदाय अनासक्तियोगके नामपर व्यक्तिमूलक भारतीय आध्यात्मिक विचारधाराकी अपेक्षा समाजमूलक ईसाई विचारधाराको अधिक अच्छा समझती है।

गीताके अनुसार अनासक्त-कर्मयोगका अर्थ है—"फलमें आसक्ति न रखकर कर्म करते रहना", क्योंकि व्यक्ति-का अधिकार कर्ममें है फल उसके हाथमें नहीं है; फल अवश्य मिलता है, पर उसकी प्राप्ति दुनियाकी विषम परिस्थिति-में अनिश्चित है। अतः फलपर अधिक आकांक्षा रखने-से व्यक्ति निराश हो जाता है। व्यक्तिका कर्ममें अधिकार भी इसलिये है कि वह प्रकृतिजन्य है, अतः वह निष्क्रिय नहीं बैठ सकता, सत्व, रज और तमसे बनी प्रकृति उसे नाना कार्य-मे लगाती है। कर्मका यहा अर्थ है—जन्मजात वर्णसे प्राप्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कर्म। मनुष्योको प्रकृतिके अनु-सार वर्णानुकूल कर्म मिलता है, अतः फलका विचार न करके कर्ममे लगे रहना चाहिये। अनासक्तयोगसे कर्म करता हुआ व्यक्ति जब उन्हे भगवानको अर्पित कर देता है तो प्रभु उन्हें अपना लेते है; इस तरह गीताकारने वर्ण व्यवस्थाकी विषम सीमामें सबको प्रभुका द्वार खोल दिया है, यही उसका प्रवृत्तिमूलक सक्रिय धर्म है, जिसका प्रचार उसने निवृत्तिमूलक धर्मोंके विरुद्ध किया था। गीता समाज-दर्शन है, व्यक्तिदर्शन नहीं। अब थोड़ा निवृत्तिमूलक धर्मों-को देखिये, उनके अनुसार मनुष्यकी प्रवृत्तिका मूल राग-द्वेष है, और राग-द्वेषको निर्मूल करके ही व्यक्ति पूर्ण आत्म-विकास कर सकता है, पर राग-द्वेषको कम करनेकी साधना लोकजीवनमें करनी चाहिये और अन्तमें लोककर्मों-से मुक्त होकर आत्म-साधनामें लगना चाहिये, इस आत्म-

साधनामें वह लोकके अधीन नहीं रहता और इसी अनधीनताके कारण वह तटस्थ बुद्धिसे लोक कल्याणके अनुरूप स्वरूप विचारोंका उद्देश्य करता है।

तिलकने अनासक्त कर्मयोगका अर्थ किया है—"अपनी बुद्धिसे निर्णीत कर्ममें फलकी आकांक्षा न करते हुए लगे रहना।" गांधीजीने भी इसी अर्थको ग्रहण किया है। उन्होंने अपनी बुद्धिसे राष्ट्रोद्धारको ही श्रेष्ठ कर्म योग समझा; क्योंकि उनका विश्वास था कि भगवान्ने इसके लिये उन्हें ही चुना है। ईश्वरके प्रति इस अर्पणकी भावनासे व्यक्तिका अहंभाव कम होता है। इससे स्पष्ट है कि राग-द्वेष जन्य आसक्ति और इस आसक्तिमें अन्तर है। एकका अर्थ प्रमाद या वासना है और दूसरीका फलकी आकांक्षा। अनासक्त कर्मयोगमें वस्तुतः आसक्ति है, पर वह फलमें न होकर केवल कर्ममें है, कर्ममें यदि आसक्ति न हो तो फिर उसमें प्रवृत्ति नही होगी। ईश्वरवादमें यह बात चाहे संगत हो पर अनीश्वरवादमें नही, अतएव वहां वासनाके चरमक्षयसे आत्माका विकास हो सकता है। इस प्रकारके विकासके लिये कई ईश्वरवादी विचारक भी वासनाके अत्यन्त क्षयपर ज़ोर देते हैं, इसलिये विरागपूर्ण त्याग और निष्क्रियता एक बात नही है। बुद्ध महावीर जैसे विरागी साधक उन हजारों गांधीवादियोंसे अधिक सक्रिय थे, जो अपनी शरीरयात्राके लिये सरकार और पूजीपतियों का मुह जोहते थे।

श्रमणोकी निवृत्तिका समाजव्यवस्थासे सम्बन्ध नही। प्रवृत्ति भी निवृत्तिके लिये हो सकती और निवत्ति प्रवृत्तिके लिये। गांधी सम्प्रदायके कुछ विचारक ईसाई संतोंका उदाहरण श्रमण साधुओंके सामने रखनेसे नही चूकते। बात बहुत अच्छी है, पर उनकी इस समाज-सेवासे स्वयं ईसाई भक्तोंका कितना उद्धार हो रहा है? अमेरिका और और यूरोपके जिन पूजीपतियोंके दानसे ईसाई मिशन चल रहे हैं, क्या वह उनकी शुद्ध कमाई है? एक ओर शोषण और दूसरी ओर सेवा, यही पूंजीवादी समाजका चित्र है। शोषकों और सेव्योंके बीच बढ़ते हुए अन्तरको कम करनेके लिये 'त्याग' पर ज़ोर दिया गया, वस्तुतः इस विषमताका अन्त व्यक्तिगत त्यागसे नही हो सकता, उसके लिये नवीन समाजदर्शन और समाजव्यवस्थाकी आवश्यकता है। चाहे वैराग्यमूलक निवृत्तिपरायण श्रमण साधु हो और या प्रवृत्तिमूलक अनासक्तयोगी गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ता।

नवीन समाजव्यवस्थाकी दृष्टिसे ये अक्षम हैं; अपने आर्थिक साधनोको सुरक्षित रखते हुए बड़े-बड़े सिद्धान्तोंकी बातें करनेकी प्रथा उस देशमें बहुत रही है। किसी भी सिद्धान्तकी कसौटी उसके अनुयायी होते हैं। वैराग्यमूलक त्यागका अर्थ भले ही आज कुंठित हो, किसी समय बड़े-बड़े प्रवृत्तिभीरु व्यक्ति उसमें दीक्षित हुए परन्तु अनासक्ति कर्मयोगको अपने जीवनमें गांधीवादी कहां तक उतार सके यह गाधीजीने स्वय देख लिया। स्वराज्य मिलने के अनन्तर भी यदि कोई गांधीवादी अपनेको अनासक्तकर्मयोगी मानता हो तो उससे हमें कुछ नही कहना। आचार्य विनोबा भावे जैसे दो-चार व्यक्ति अवश्य हैं। जिनके व्यक्तित्वके प्रति पूर्ण श्रद्धा होते हुए भी कार्यशैली सामाजिक दृष्टिसे अधिक अच्छी नही और नवीन एवं वर्णहीन समाज व्यवस्थाके लिये अनासक्त योगकी अपेक्षा किसी और योगकी आवश्यकता है, इसमें संदेह नही।

अलमोड़ा ता० २६–५–१९५२

गौतमस्वामि-रचित सूत्रकी प्राचीनता

गौतम स्वामीने जो प्रतिक्रमणकी विधि अपने प्रतिक्रमण सूत्रमें बतलाई है वह केवल वर्धमानस्वामीके द्वारा ही निर्दिष्ट हुई ऐसा नहीं है, बल्कि सब तीर्थंकरोंके द्वारा निर्दिष्ट हुई है। टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र इस बातका प्रतिपादन करते हुए और इसकी पुष्टिमें एक गाथाको भी उद्धृत करते हुए लिखते है—

"अयं द्विविधो अपि प्रतिक्रमणाविधिर्न केवलं वर्धमानस्वामिनैवोक्तः अपितु सर्वैरपि तीर्थंकरवैर्देवक्तइत्याह—

"एसो पडिक्कमणविहि, पण्णत्तो जिणवरेहिं सव्वेहिं।
संजमतवट्ठियाणं, णिग्गंथाणं, महरिसीणं॥"

यह गाथा गौतम स्वामीकी ही रची हुई है, इससे इस प्रतिक्रमण सूत्रकी प्रामाणिकता और प्राचीनतामें कोई संदेह नही रहता। अन्यथा वे इस सूत्रको अपनी एक स्वतन्त्र रचना कह सकते थे। यह सूत्र दिगम्बर शासनका सबसे अधिक प्राचीन है और अनादि प्रवाहसे चला आ रहा है। रत्नकरण्डमें बतलाया हुआ शास्त्रका लक्षण इसमें अच्छी तरह घटित होता है।

—क्षुल्लक सिद्धसागर

भारतकी अहिंसा-संस्कृति

(श्री बाबू जयभगवान एडवोकेट)

भारतका मौलिक धर्म अहिंसाधर्म है

प्राचीनकालसे लेकर आजतक भारतीय जनताका यदि कोई एक धर्म है, जिसने इसके आचार और विचारमें तरह-तरहके भेद-प्रभेदोंके रहते हुए भी भारतकी सभ्यताको एक-सूत्रमे बांधकर रक्खा है, तो वह अहिंसाधर्म है। यह बात उन सब ही पौराणिक आख्यानों तथा ऐतिहासिक वृत्तांतोंसे सिद्ध है, जो अनुश्रुतियो व साहित्य-द्वारा हमतक पहुचे है।

बृहदारण्यक उपनिषद् ५-२-३ मे किसी पुरानी अनुश्रुतिके आधारपर प्रजापतिकी एक कथा दी हुई है। इसमे बतलाया गया है कि प्राचीन ज़मानेमे सब आर्यजन और असुरगण एक दूसरेके पडोसमे बसे हुए थे, तब देवोंका नेता इन्द्र और असुरोका नेता विरोचन दोनो इकट्ठे ही धर्म सुननेके लिये प्रजापतिके पास गये। उन दोनोको प्रजापतिने जिस धर्मका उपदेश दिया था वह तीन अक्षरोमे समाया हुआ है—द, द, द। ये तीन अक्षर दया, दान और दमन शब्दोंका सकेत है। इस तरह इन तीन अक्षरो द्वारा प्रजापतिने आर्य और असुरगणको धर्मका सार बताते हुए यह सूचित किया था कि लोकशांति और सुखप्राप्तिके लिए मानवमात्रका सनातन और पुरातनधर्म दया, दान और दमन है।

पुरातत्त्वके खोजी पडितोका मत है कि ईसासे लगभग ३००० वर्ष पूर्व वैदिक आर्यजन सुमेर (ईराकका दक्खिनी भाग) देशमें और असुरगण इसके पूरबमें पासवाले असूरिया देशमे बसे हुए थे। असूरिया देशकी राजधानी निनेवेह थी। आर्यभाषामे सस्कृत रूपातर होकर इसी नगरका नाम विदेह प्रसिद्ध हुआ। सुमेरसे पूरबकी ओर स्थित होनेके कारण जैनसाहित्यमें यह देश ही पूर्वी विदेहके नामसे उल्लिखित हुआ मालूम पड़ता है। तब इन देशोंकी सभ्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, और इन लोगोंमें उतने ही महान् प्रजापति (सन्त) पैदा हो रहे थे। हो सकता है ऊपरवाली कथा उसी युगकी एक वार्ता हो।

प्रजापतिने संक्षेपमें जिस धर्ममार्गका दिग्दर्शन कराया था, उसीको समग्र भारतके सन्त सदासे धर्मके रूपमें व्याख्या करते चले आये है। इस तथ्यकी जानकारीके लिये निम्न उदाहरणोंका अध्ययन करना उपयोगी होगा :—

(१) इस सम्बन्धमें अंगिराऋषिका उपदेश खास तौरपर अध्ययन करने योग्य है। यह अंगिरा ऋषि एक ऐतिहासिक महात्मा है, जो सभवतः ईसासे १५०० वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध-कालके समय भारतभूमिको शोभा दे रहे थे। इनके सम्बन्धमें छादोग्य उपनिषद् ३-१७ मे बताया गया है कि यह देवकीपुत्र कृष्णके आध्यात्मिक गुरु थे। इन्होंने कृष्णको भौतिक यज्ञोंकी जगह उस आध्यात्मिक यज्ञकी शिक्षा दी थी, जिसकी दीक्षा इन्द्रियसंयम वा इंद्रियोंका दमन है और जिसकी दक्षिणा तपश्चर्या, दान, आर्जव, (सरलता), अहिंसा और सत्यवादिता है। इस यज्ञके करनेसे मनुष्यका पुनर्जन्म छूट जाता है—उसका संसारपरिभ्रमण खत्म हो जाता है। मौतका सदाके लिये अंत हो जाता है। इसके अलावा इस ऋषिने कृष्णको यह भी उपदेश दिया था कि मरते समय मनुष्यको तीन धारणाए धारण करनी चाहिए—'अक्षतमति, अच्युतमति', 'प्राणसंशितमति', अर्थात्—हे आत्मन् तू अविनाशी है, तू सनातन है, तू अमर-चेतन है। इस उपदेशको सुनकर कृष्णका हृदय गद्‌गद् हो उठा था।

इसी प्रकार महाभारतकारने अनुशासनपर्वमे अध्याय १०६, १०७मे अंगिराऋषिकी दी हुई अहिंसा, दान, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास-संबंधी जिन शिक्षाओंका उल्लेख किया है, वे ऊपर बतलाई हुई शिक्षाओंसे बहुत मिलती जुलती है, इससे प्रमाणित होता है कि महाभारतके उद्धृत अंशमें कौरव-पाडव-कालीन भारतीय संस्कृतिका काफी आलोक है। यह वही युग है जब कि रैवतक पर्वत (सौराष्ट्र देशका गिरनार पर्वत) के विख्यात सन्त अरिष्टनेमि, अपने तप, त्याग और विश्वव्यापी प्रेम-द्वारा भारतकी अहिंसामयी संस्कृतिको देश-विदेशोंमें सब ओर फैला रहे थे।

(२) स्त्रीपर्व अध्याय ७ में भी महाभारतकारने कहा है—

> दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हयाः।
> शीलरश्मिसमायुक्तः स्थितो यो मनसि रथे।
> त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन् ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥
>
> —महा. स्त्रीपर्व ७-२३-२५

अर्थात्—दम, दान और अप्रमाद ही ब्रह्मके तीन घोड़े हैं। जो इन घोड़ोंसे युक्त मनरूपी रथ पर सवार होकर सदाचारकी बागडोर संभालता है, वह मौतके भयको छोड़कर ब्रह्मलोकमें पहुंच जाता है।

(३) इसी प्रकार आजसे कोई २५०० वर्ष पूर्व भारतके अंतिम तीर्थंकर महावीरने कहा था—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि त नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥
—दशवैकालिक सूत्र १-१

अर्थात्—अहिंसा (दया) संयम (दमन) तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जो इस धर्ममार्गपर चलते हे, देवलोग भी उन्हे नमस्कार करते है।

ईसाकी तीसरी सदीके महान् आचार्य समन्तभद्र भगवान् महावीरकी दिव्यवाणीका संक्षेपमें यों व्याख्यान करते है—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाणप्रकृतांऽऽजसार्थम्
—युक्त्यनुशासन ॥६॥

अर्थात्—हे महावीर भगवान् आपका धर्ममार्ग दया, दम, त्याग (दान) और समाधि (आत्म-ध्यान रूप-तपश्चर्या) इन चार तत्त्वोंमें समाया आ है। और नयप्रमाण-द्वारा वस्तुसारको दर्शानेवाला है।

हिंसामयी यज्ञप्रथाका त्रेतायुगमें प्रारंभ और द्वापरमें अन्त

इस तरह भारतकी सभी पौराणिक अनुश्रुतियोंसे विदित, हैं कि आदिकालसे भारतका मौलिक धर्म अहिंसा तप, त्याग, और संयम रहा है। होम हवन आदि याज्ञिक तथा पशुबलि नरमेध, अश्वमेध आदि हिंसक विधान सब पीछेकी प्रथाएं हे, जो त्रेतायुगमें बाहिरसे आकर भारतके जीवनमें दाखिल हुई है और द्वापरके आरम्भमें यहांकी अहिंसामयी अध्यात्मसस्कृतिके सम्पर्कसे सदाके लिये विलुप्त हो गयी। इस विषयमें मनुस्मृतिकारका मत है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ १-८६॥

अर्थात भारतमें सतयुगका धर्म तप है, त्रेतायुगका धर्म ज्ञान है, द्वापरका धर्म यज्ञ है और कलियुगमें अकेला दान ही धर्म है।

इसी प्रकार महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २,३१, ३२,३३ में कहा है सतयुगमें यज्ञ करनेकी आवश्यकता न थी, त्रेतामें यज्ञका विधान हुआ द्वापरमें उसका नाश होने लगा और कलियुगमें उसका नामनिशान भी न रहेगा।

इसी प्रकार मुडक उपनिषद् में कहा गया है:—

"तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेताय बहुधा सन्ततानि ॥
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके।
१-२ १

प्लावा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म,
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं पुनरेवापयन्ति।
१-२ ७

अर्थात्—वैदिकमंत्रोंमे जिन याज्ञिककर्मोंका विधान है वे निःसन्देह त्रेतायुगमें ही बहुधा फलदायक होते है। उन्हे करनेसे पुण्यलोककी प्राप्ति होती है। इनसे मोक्षकी सिद्धि नही होती; क्योंकि यह यज्ञरूपी नौकाये जिनमें अठारह प्रकारके कर्म जुड़े हुए हे, संसारसागरसे पार करनेके लिये असमर्थ है। जो नासमझ लोग इन याज्ञिक कर्मोंको कल्याणकारी समझ कर इनकी प्रशंसा करते है उन्हे पुन. पुनः जरा और मृत्युके चक्करमे पड़ना पड़ता है।

महा० शान्तिपर्व अध्याय २४१ मे शुकदेवने धर्म और ज्ञानका स्वरूप पूछते हुए व्यासजीसे प्रश्न किया है— "पिता जी ! वेदमे ज्ञानवानके लिये कर्मोंका त्याग और कर्म-निष्ठके लिये कर्मोंका करना ये दो विधान हे, किंतु कर्म और ज्ञान ये दोनो एक दूसरेके प्रतिकूल हे, अतएव मे जानना चाहता हू कि कर्मकरनेसे मनुष्योंको क्या फल मिलता है। और ज्ञानके प्रभावसे कौन सी गति मिलती है।

व्यासजीने उक्त प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है— "वेदमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकारके धर्म बतलाये गये है। कर्मके प्रभावसे जीव ससारके बन्धनमें बधा रहता है और ज्ञानके प्रभावसे मुक्त हो जाता है, इसीसे पारदर्शी संन्यासी लोग कर्म नही करते, कर्म करनेसे जीव फिर जन्म लेता है, किंतु ज्ञानके प्रभावसे नित्य अव्यक्त अव्यय पर-मात्माको प्राप्त हो जाता है। मूढलोग कर्मकी प्रशसा करते हैं, इसीसे उन्हे बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है जो मनुष्य सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जो कर्मको भली भान्ति समझ लेता है, वह जैसे नदीके किनारे वाला मनुष्य कुओका आदर नही करता, वैसेही ज्ञानीजन कर्म-

की प्रशंसा नही करते।

भारतकी अहिंसामयी संस्कृतिने सदा हिंसा पर विजय पाई

प्राचीन पौराणिक आख्यानोंसे यह भी स्पष्ट है कि जब कभी विदेशी आगन्तुकोंकी सभ्यताके कारण भारतके उत्तरीय सप्तसिंधुदेशमें अथवा कुरुक्षेत्र, शौरसेन, व मध्यदेशमें देवपूजा, उदरपूर्ति व मनोविनोद आदिके लिये पशुबलि-मांसाहार आदि हिंसक-प्रवृत्तियोंने ज़ोर पकड़ा तभी भारतकी अन्तरात्माने उसका घोर विरोध किया, और जब तक इन हिंसामयी व्यसनोंका उसने अपने सामाजिक जीवनमेंसे पूर्णतया बहिष्कार नही कर दिया, उसको शान्ति प्राप्त नहीं हुई। इसीलिये भारतका मौलिकधर्म अहिंसाधर्म कहा जाय तो इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नही है।

इस ऐतिहासिक तथ्यकी जानकारीके लिये यहा चार प्रसिद्ध आख्यान दिये जाते हैं:—

१. हिमाचलदेशसम्बन्धी दक्ष और महादेवकी कथा।
२. कुरुक्षेत्रसम्बन्धी पणि और इद्रकी कथा।
३. पांचालदेशसम्बन्धी राजा वसु और पर्वतकी कथा।
४. शौरसेनदेशसम्बन्धी कृष्ण और इद्रकी कथा।

हिमाचल देश संबंधी दक्ष और महादेवकी कथा

महाभारतके शान्तिपर्व अध्याय २८४ मे दी हुई दक्ष-राजाकी कथामे बतलाया गया है कि एक समय प्रचेताके पुत्र दक्षने हिमालयके समीप गंगाद्वारमे अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया, उस यज्ञमें देव, दानव, नाग, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, ऋषि, सिद्धगण, सभी सम्मिलित हुए। इतने बड़े समागम-को देखकर महात्मा दधीचि बहुत कुपित हुए और कहने लगे कि जिस यज्ञमें महादेवकी पूजा नही की जाती वह न तो यज्ञ है और न धर्म ही है। हाय! कालकी गति कैसी बिगड़ी है कि तुम लोग इन पशुओंको बांधने और मारनेके लिये उत्सव मना रहे हो! मोहके कारण तुम नही समझते कि इस यज्ञके कारण तुम्हारा घोर विनाश होगा। उसके बाद महायोगी दधीचिने ध्यान-द्वारा नारदसहित महादेव, पार्वतीको देखा और बहुत संतुष्ट हुए, फिर यह सोचकर कि इन लोगोंने एक मत होकर महादेवको निमंत्रण नही दिया है, वह यो कहते हुए यज्ञभूमिमे से चल दिये कि—"अपूज्य देवोंकी पूजासे और पूज्यदेवोंकी पूजा न करनेसे मनुष्य को नरहत्याका पाप लगता है। यहां पशुपति जगत्का कर्ता यज्ञका भोक्ता महादेव आया हुआ है क्या तुम लोग उसे नहीं देख रहे हो?" दक्षने कहा महर्षि! जटाजूटधारी शूलपाणि ११ रुद्र इस लोकमें हैं परन्तु उनमें महादेव कौन-सा है यह मुझे मालूम नहीं है।

दधीचिने कहा—"तुम सबने षड्यंत्र करके महादेव-को निमंत्रण नही दिया है किंतु मेरी समझमें महादेवके समान दूसरा श्रेष्ठ देवता और नही है, इसलिये निस्संदेह तुम्हारा यज्ञ नष्ट होगा।" इस पर दक्षने कहा कि "मंत्रों द्वारा पवित्र किया हुआ यह हवि रक्खा हुआ है मै इस यज्ञभागसे विष्णुको संतुष्ट करूंगा।" यह बात पार्वतीके मनको न भाई। तब महादेवने कहा—"सुन्दरी! मै सब यज्ञोंका ईश हूं, ध्यानहीन दुर्जन मुझे नही जानते।" तब महादेवने अपने मुखसे वीरभद्र नामक एक भयंकर पुरुष उत्पन्न किया, जिसने भद्रकाली और भूतगणके साथ मिलकर दक्षके यज्ञका विध्वंस कर दिया।

जब प्रजापति दक्षने वीरभद्रसे पूछा—"भगवन्! आप कौन है?"—वीरभद्रने उत्तर दिया—"ब्रह्मन! न तो मै रुद्र हूं और न देवी पार्वती, मै वीरभद्र हूं और यह स्त्री भद्रकाली है, रुद्रकी आज्ञासे यज्ञका नाश करनेके लिये हम आये है तुम उन्ही उमापति महादेवकी शरणमें जाओ। यह सुनकर दक्ष महादेवको प्रणाम कर उनकी स्तुति करने लगा।

इस कथाका ऐतिहासिक तथ्य यही है कि सप्तसिंधु-देशके मूल निवासियोकी भांति हिमाचल प्रदेशके भूत, यक्ष, गन्धर्व लोग भी वैदिक आर्योंके देवतावाद और उनके हिंसा-मयी यज्ञोंके विरोधी थे। जब वैदिक आर्यजनकी एक शाखा-ने दक्षके नेतृत्वमें गंगाद्वारके रास्ते ईलावर्त अर्थात् मध्य हिमा-चलदेशमें प्रवेश किया और इन यक्ष, गन्धर्वोंके माननीय धर्म-तीर्थों—बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि स्थानोंमें अपनी परम्पराके अनुसार हिंसामयी यज्ञोंका अनुष्ठान किया, तो वहाके भूत, यक्ष, गन्धर्व लोग उनके विरोधपर उतारू हो गये, और इस विरोधके कारण वे निरन्तर आर्यजनोंके यज्ञ-यागोंको नाश करने लगे। यह सांस्कृतिक संघर्ष उस समय जाकर शान्त हुआ, जब वैदिक आर्योंने इनके आराध्य देव महायोगी शिवको और इनके तप,त्याग, ध्यान और अहिंसा-मयी अध्यात्ममार्गको अपना लिया।

सप्तसिंधुदेश और कुरुक्षेत्रके आर्यजन

इसी तरह आर्यगणकी दूसरी शाखा जो उत्तर पश्चिमके द्वारोंसे सप्तसिंधु देशमें दाखिल हुई वह धीरे-धीरे सप्तसिंधु देशमेंसे होती हुई इस अन्तिम छोर कुरुक्षेत्रमें जा पहुंची। यह कुरुक्षेत्र उस समय सरस्वती और दृषद्वती नाम वाली दो चालू नदियोंके संगम पर स्थित था। आर्यगणकी भारतीय यात्रामें कुरुक्षेत्र ही वह प्रमुख देश है जहां उन्हें विघ्नबाधारहित दीर्घकाल तक आरामसे रहकर अपनी संस्कृतिको विकसित करने, बढ़ाने और संघटित करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ था, इसलिये स्वभावतः इस देशको आर्यसंस्कृतिका एक महान केन्द्र कहनेका गौरव प्राप्त है। विशेषतया कुरुवंशी परीक्षित और जनमेजयके शासनकालमें यह महत्ता और भी बढ़ गयी थी। यह श्रेय कुरुक्षेत्रको ही हासिल है कि आर्यजातिको अपनी प्रगतिकी लम्बी यात्राओमे जिन घटनाओंसे वास्ता पड़ा है, और अपने सांस्कृतिक विकासमें उन्हें जिन उलझनोंको सुलझाना पड़ा है उनकी अनुश्रुतियों और सस्मृतियों उनकी भावनाओं और कल्पनाओंको, जो सूक्तों (गीतों)के रूपमें सीना ब सीना चली आ रही थी, चार वैदिक सहिताओके व्यवस्थित रूपमें यहां संकलन किया गया। इन सूक्तों और इनमें वर्णित देवताओंकी संतुष्टिके अर्थ किये जानेवाले याज्ञिक अनुष्ठानोंकी पौराणिक व्याख्यायें, जो ब्राह्मण-ग्रंथोंमें मिलती है, उनका संग्रह भी प्रायः इसी देशमें हुआ है, और यहां ही बड़े बड़े याज्ञिक-सूत्रोंका सम्पादन किया गया है। इन तमाम विशेषताओंके कारण आर्यजातिके भारतीय इतिहासमें जो महत्ता कुरुक्षेत्रको प्रदान की गयी है वह भारतके किसी अन्य स्थानको—यहांके पुराने प्रसिद्ध तीर्थ-धामोंमेंसे भी किसीको—नही मिली है। इस सांस्कृतिक महत्वके कारण ही वैदिक विद्याका अपर नाम सरस्वती प्रसिद्ध हुआ है। इसी महत्वके कारण यह स्थान वैदिकसाहित्यमें देवानां देवयजनं[1], प्रजापतिवेदी"[2], ब्रह्मलोक[3], और धर्मक्षेत्र[4], आदि गौरवपूर्ण नामोंसे पुकारा गया है। चूंकि आर्यजन अपनेको देव और अपने रहनेकी भूमियोंको स्वर्गनामसे पुकारते थे। अतः उस जमानेमें सप्तसिंधुदेशका यह अन्तिम छोर स्वर्गका अन्तिम भाग कहलाता था।[1]

इस कुरुक्षेत्रमें आबाद होकर देवजन काफी समय तक अपनी सभ्यताका विकास करते रहे। यहां वे बहुतसे आदिवासी नाग जातिके विद्वानों व राजघरानोंके व्यक्तियोंको भी अपनी सभ्यताके अनुयायी बनानेमें सफल हुए। इनमेंसे कईने तो मन्त्रोंकी रचनामें काव्य-कुशलताके कारण ब्राह्मणोंमें इतनी ख्याति प्राप्त की, कि विजातीय होते हुए भी उन्हें ऋषि-श्रेणीमें सम्मिलित किया गया और उनकी रचनाओको वैदिक संहिताओंमें स्थान दिया गया। ऋग्वेदके दशवें मंडलके ९४वें सूक्तके रचयिता कद्रुके पुत्र नागवंशी अर्बुद थे। ७६वें सूक्तके रचयिता नागजातीय इरावतके पुत्र जरुत्कर्ण थे, और १८९वें सूक्तकी रचयित्री सर्पराज्ञी थी। यह सब कुछ होते हुए भी अपने जातीय गर्व और अपने सफेद, सुन्दर वर्ण व रक्तकी शुद्धिको बनाये रखनेके ख्यालसे वे न तो यहांकी आम जनतामें अपनी संस्कृतिको ही फैला सके और न रोटी-बेटीके सम्बन्ध कायम करके उन्हें अपनेमें मिला सके। इसलिये जैसा कि अथर्ववेदके पृथ्वी सूक्तसे जाहिर है, इतने लम्बे समय आर्यजनके बसे रहनेके बाद भी इन देशोंके लोग अन्य भाषाओं और अन्य धर्मोंको मानने वाले बने रहे।[2] इतना ही नही, बल्कि यहांकी साधारण जनतासे अपनेको अलग और महान बनाये रखनेकी भावनाने इन्हे यहाकी मानव समाजको वर्ण व्यवस्थाके आधार पर चार भागोमे विभक्त करने पर मजबूर किया। इस कल्पनाने धीरे-धीरे घर करते हुए ब्राह्मणोंको इस समाजरूपी विराटपुरुषका मुख, राजकर्मचारियोको इसके बाहु, सर्वसाधारण मध्यवर्गी लोगोंको इसका पेट, और श्रमजीवी शूद्र लोगोको इसके पाओं बना दिया। इनकी इस भावनाका आलोक ऋग्वेद के १०-९०वे पुरुष सूक्तसे साफ मिलता है। इस भावना-[3] के कारण यद्यपि ये अपनी वर्णशुद्धि और अपनी याज्ञिक संस्कृतिको बहुत कुछ सुरक्षित रख सके; परन्तु इस भावनासे यहांके लोगोंमें जो पृथक्करण और विद्वेषकी लहर

---

१ शतपथ ब्राह्मण ॥१४,१,१,५॥

२ तांडय ब्राह्मण ॥२५,१३,३॥

३ एतरेय ब्राह्मण ॥७,१९॥

४ भगवद्गीता ॥१,१॥

---

१ ऋग्वेद १०,१०८,५।

२ अथर्ववेद १२,१,४५।

३ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥—ऋग्वेद १०.९०,१२।

पैदा हुई है वह आर्यजन और देशके लिये आगे चलकर बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुई है ।

इस युगमे सप्तसिधुके आर्यजन सभी ओरसे विजातीय और विधर्मी लोगोसे घिरे हुए थे। उत्तरमें भूत, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व लोगोसे, पूर्वमें व्रात्य लोगोसे, दक्षिणमें राक्षस लोगोंसे, और स्वयं सप्तसिंधु देशमें, पणि, शूनि, आदि नागलोगोंकी विभिन्न जातियोसे। चूकि यह सभी लोग प्रायः श्रमणसंस्कृतिके अनुयायी थे, त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी, साधु-संतोंके उपासक थे, अहिंसाधर्मको माननेवाले थे, इसलिये ये सदा देवगणके माननीय देवताओ और उनके हिंसामयी याज्ञिक-अनुष्ठानोका विरोध करते रहते थे और उनके पशुओको विद्वेष वश वध-बन्धनसे छुडानेके लिये छीन कर व चुराकर ले जाया करते थे। इस सम्बन्धमें कुरुक्षेत्रकी तत्कालीन स्थिति जाननेके लिये पणि और इन्द्र-का प्रसिद्ध आख्यान जो ऋग्वेद १०,१० मे दिया हुआ है विशेष अध्ययन करने योग्य है। यह आख्यान सप्तसिंधु देशके तत्कालीन विजातीय सांस्कृतिक सघर्षको जाननेके लिये इतना ही जरूरी है जितना कि दक्षिणापथके विध्य-गिरि देशमे विद्याधर राक्षसो द्वारा याज्ञिकी पशुहिसाके विरुद्ध किये गये सघर्षका पता लगानेके लिये रामायणकी कथाका जानना जरूरी है ।

पणि और इन्द्रका आख्यान

ऋग्वेदके उपर्युक्त आख्यानमें बतलाया गया है कि पणि लोगोने इद्रके पुरोहित वृहस्पतिकी गायोको चुरा कर सरस्वती, दृपद्वती नदियोंके पार ले जाकर बलपुरकी अद्रिमे छुपा दिया, तब इद्रने वृहस्पतिकी शिकायतपर इन गायोका पता लगाने और इन्हे लानेके लिये सरमा नामकी एक स्त्रीको अपनी दूती बनाकर पणि लोगोके पास भेजा। यह सरमा शूनी जातिकी एक अनार्य स्त्री थी। ये पणि और शूनी जातिके लोग सरस्वती दृषद्वती नदियोके पार कुरुक्षेत्रसे दक्षिणकी ओर अपने जनपदोमे बसे हुए थे। पणि लोगोंका जनपद पणिपद और शूनी जातिका जनपद शूनीपद नामसे मशहूर था। इतना दीर्घसमय बीतनेपर भी इन जनपदोंके नगर आज भी अपने स्थानपर स्थित है और पानीपत और सोनीपतके नामोसे प्रसिद्ध है। ये दोनों नगर एक दूसरेसे २५ मीलकी दूरी पर कुरुक्षेत्र और देहलीके मध्यमागमें स्थित है। बलपुर जहा गायोको चुराकर रक्खा गया था, वह सभवतः पानीपत तहसीलका आधुनिक बला नामका ग्राम है। उक्त सरमाने यद्यपि इन पणि लोगोको वृहस्पतिकी गाये लौटा देनेके लिये बहुत विध समझाया और उन्हें इद्रका अपार पराक्रम और उसके सैनिक बलका भी डर दिखाया, परन्तु पणिलोगोने कुछ भी परवाह न की, और उसे यह कह कर चलता कर दिया, कि यदि इंद्रके पास सेना और आयुध है, तो हमारे पास भी काफी संरक्षक सेना और तीक्ष्ण आयुध है, बिना युद्ध किये ये वापिस नही हो सकती।

आर्यजन और आर्यावर्त

इस प्रकारके आये दिनके नागोंके आक्रमणोंसे परेशान होकर देवगण सप्तसिंधुदेशको छोड़कर जमनापार मध्यप्रदेशकी ओर बढ चले, जो आज उत्तर प्रदेशके नामसे प्रसिद्ध है। चूकि पीछेसे यह देश ही आर्यजनकी स्थायी वसति बन कर रह गया, इसलिये भारतका यह मध्यमभाग आर्यावर्तके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इस देशमें यद्यपि देवगण-को रहनेका स्थान तो स्थायी मिल गया, परन्तु यहां उन्हें भारतकी अहिंसामयी सस्कृतिमे प्रभावित होकर धर्म व आहार व्यवहारके लिये होनेवाली अपनी हिंसात्मक प्रवृत्तियोका सदाके लिये त्याग करना पड़ा।

राजावसु और पर्वतकी कथा

इस सम्बन्धमे पाचालदेशके राजा वसु, नारद और पर्वतकी पौराणिक कथा जो मत्स्यपुराण[1] व महाभारत[2] ग्रथोमे दी हुई है, विशेष विचारणीय है। इस कथामें बतलाया गया है, कि त्रेतायुगके आरम्भमें इंद्रने विश्वयुग नामका यज्ञ आरम्भ किया, बहुतसे महर्षि उसमे आये। उम यज्ञमें पशुबध होते देख कर महर्षियोने घोर विरोध किया। महर्षियोने कहा—"नाय धर्मो ह्यधर्मोऽय, न हिंसा धर्म उच्यते, अर्थात् यह धर्म नही है यह तो अधर्म है, हिसा कभी धर्म नही हो सकता। यज्ञ बीजोसे करना चाहिए, स्वयं मनुने पूर्वकालमें, यज्ञसम्बन्धी ऐसा ही विधान बतलाया है। परन्तु इंद्र न माना, इस पर इंद्र और ऋषियोके बीच यज्ञविधिको लेकर विवाद खडा हो गया, कि यज्ञ जगम प्राणियोंके साथ करना उचित है या अन्न और वनस्पतिके साथ। इस विवादका निपटारा

---

१ मत्स्यपुराण-मन्वन्तरानुकल्प—देवर्षिसम्बादनामक अध्याय १४६।

२ महाभारत अश्वमेधपर्व अध्याय ९१

करनेके लिये इंद्र और ऋषि आकाशचारी चेदिनरेश वसु-के पास पहुंचे, वसुने बिना सोचे कह दिया, कि यज्ञ जंगम अथवा स्थावर दोनों प्रकारके प्राणियोंके साथ हो सकता है, क्योंकि "हिंसास्वभावोयज्ञस्येति" इस पर ऋषि लोगोंने उसे शाप दे दिया और वह आकाशसे गिर कर तुरन्त अधोगति-को प्राप्त हुआ और इससे लोगोंकी श्रद्धा हिंसासे उठ गयी।

यही कथा कुछ हेर-फेरके साथ जैन पौराणिक साहित्य[1] मे यों बतलाई गई है कि—बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत भगवान्के के कालमें "अजैर्यष्टव्यम्" के प्राचीन अर्थ 'जौ से देवयज्ञ करना चाहिए' को बदल कर जब पर्वत ऋषिने यह अर्थ करना आरम्भ कर दिया कि बकरोंको मारकर देवयज्ञ करना चाहिए तो इसके विरुद्ध नारदने घोर सवाद खड़ा कर दिया। इस सवादका निर्णय करानेके लिये चेदिनरेश राजा वसुको पंच नियुक्त किया गया। उस जमानेमें राजावसु अपनी सत्यता और न्यायशीलताके कारण बहुत ही लोकप्रिय था। उसका सिंहासन स्फटिक मणियोंसे खचित था, जब वह उस सिंहासनपर बैठता तो ऐसा मालूम होता कि वह बिना सहारे आकाशमें ही ठहरा हुआ है। राजावसु-ने यह जानते हुए भी कि पर्वतका पक्ष झूठा है, केवल इस कारण कि वह उसके गुरुका पुत्र है पर्वतका समर्थन कर दिया। इसपर राजावसु तुरन्त मरकर अधोगतिको प्राप्त हुआ। जनतामें हाहाकार मच गया, और अहिसा की पुनः स्थापना हो गयी।

यज्ञार्थ-पशुहिंसाका प्रचार करने वाले पर्वत ऋषि और उसके मतका समर्थन करनेवाले चेदिनरेश वसुका ठीक समय निर्णय करना तो कठिन है; परन्तु यह बात निर्विवाद रूपसे कही जा सकती है कि वे अवश्य ही महाभारत युद्ध-से काफी पहले लगभग २००० ईसा पूर्वके निकट हुए हैं; क्योंकि ऋग्वेदके तीसरे मंडलके ५३ वे सूक्तमे इद्र और पर्वत दोनोंको इकट्ठे ही देवतातुल्य हव्यग्रहण करनेके लिये आह्वान किया गया है।[1] जैन अनुश्रुतिके अनुसार-भी भगवान् मुनिसुव्रत त्रेतायुगकालीन रघुवंशी रामके समकालीन है और महाभारत युद्धकालसे काफी पहिले हुए हैं।

चेदीका आधुनिक नाम चन्देरी है। यह मध्यप्रदेशके बुन्देलखंडमें ललितपुरसे २२ मीलकी दूरीपर स्थित है, यह पीछेसे शिशुपालकी राजधानी भी रही है।

इस कथासे पता चलता है कि जब आर्य देवगण कुछ हिमाचलदेशसे और कुछ सप्तसिंधुदेशसे मध्यप्रदेशकी ओर आगे बढ़े तो उनकी हिंसात्मक प्रथाओंका विरोध उतने ही जोरसे हुआ जितना कि सप्तसिंधु और हिमाचल-मे हुआ था।

शौरसेनदेश, कृष्ण और इन्द्रकी कथा

इस मध्यदेशमे बसनेके बाद देवगणकी जो शाखा मथुरा, आगरा आदि शौरसेनदेशके इलाकेमे बढ़ी, उसे भी यदुवशी क्षत्रियोंके विरोधके कारण हिंसामयी प्रवृत्तियों-को तिलाजलि देनी पड़ी। इस सम्बन्धमे भागवतपुराणके १० वे स्कन्धके २४ वे और २५ वे अध्यायोंमें जो भगवान् कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठानेकी कथा दी हुई है, वह बड़े महत्वकी है। इस कथामें बतलाया गया है कि एक बार शौरसेनदेशमे नन्दादिक गोपालोंने इद्रकी सतुष्टिके लिये यज्ञ करनेका विचार किया, परन्तु कृष्णको उनकी यह बात पसन्द न आई, उसने उन्हें यज्ञ करनेसे रोक दिया' और गायोंको लेकर गोवर्धन पर्वतकी ओर चल पड़ा। कृष्णका यह कार्य इंद्रको अच्छा न लगा। उसने रुष्ट होकर मूसलाधार वर्षा द्वारा गोकुलको नष्ट करनेका संकल्प कर लिया, इस पर कृष्णने गोवर्धन पर्वत हाथमें उठा और उसके नीचे गोकुलको आश्रय दे, इद्रको असफल बना दिया।

---

१ (अ) ईसाकी आठवीं सदीके आचार्य जिनसेन-कृत हरिवंशपुराण सर्ग १७ श्लोक ३८ से १६४

(आ) ईसाकी सातवीं सदीके आचार्य रविषेण-कृत पद्मचरित पर्व ११

(इ) ईसाकी नवीं सदीके आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराणपर्व ६७ श्लोक ५८ से ३६३।

(ई) ईसाकी बारहवीं सदीके आचार्य हेमचन्द्रकृत त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र पर्व ७, सर्ग २७

(उ) ईसाकी प्रथम सदीके आचार्य विमलसूरि-कृत पउमचरिउ ११-७५, ८१

(ऊ) ईसाकी प्रथम सदीके आचार्य कुन्दकुन्द-कृत भावप्राभृत ॥४५॥

(ए) ईसाकी दशवीं सदीके आचार्य सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू आश्वास ७ पृ. ३५३।

---

१ इंद्रा पर्वता बृहता रथेन वामिरिष आवहतं सुवीराः। वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिळया मदन्ता ॥१॥ —ऋग् ३-५३, १

ऋग्वेदकालीन उत्तरी भारतमे पाच क्षत्रिय जातिया प्रसिद्ध थी। यदु, अनु, द्रुस्यु, तुर्वसा, और पुरुस। ऋग्वेद १०,६२,१० में यदु और तुर्वसा लोगोको दास सज्ञासे सम्बोधित किया है।[१] इसका कारण यही मालूम होता है कि वे वैदिक देवताओ और उनके लिये किये जाने वाले याज्ञिक अनुष्ठानोको मानने वाले न थे,[२] दूसरे यदु और तुर्वसा लोग कृष्णवर्णके थे। अर्थात् अनार्य जातिके थे—इस लिये उनका याज्ञिक अनुष्ठानोसे विरोध करना स्वाभाविक ही था। इसी आधार पर ए० बनर्जीने उपरोक्त क्षत्रियोकी पाचो जातियोको आर्य मानकर असुरजातिया कहा है[३]? खैर कुछ भी हो, उपरोक्त व्याख्यासे यह बात स्पष्ट है कि शौरसेनदेशके निवासी तुर्वसा लोग भी अहिसाधर्मके अनुयायी थे।

ऊपरके आख्यानोसे यह भी साफ सिद्ध होता है, कि भारतका मौलिकधर्म, अहिंसा तप, त्याग, और सयम रहा है, हिसात्मक याज्ञिक क्रियाकाड, त्रेतायुगके आरम्भमे देवगणकी आमदके साथ भारतमे दाखिल हुआ और द्वापरके आरम्भ तक यहाकी अध्यात्म-सस्कृतिके सम्पर्कके कारण अहिसामयी होम 'हवन' मे बदल गया।

भारत सदा शाकाहारी रहा है

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, भारतीय जीवनका आदर्श सदा योगी जीवन रहा है। भारत लोग परमात्माकी कल्पना भी योगीके रूपमे ही करते रहे है, और परमात्मरूप बननेके लिये सदा योगी जीवनको अपने जीवनका ध्येय मानते रहे है। इसी ध्येयको लेकर भारतके प्रसिद्ध राजयोगी भर्तृहरिने कहा है:—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्म निर्मूलनक्षमः॥

अर्थात्—हे शम्भो! वह दिन कब आयगा जब अनादि कर्मबन्धनोको निर्मूल करनेके लिये मै योगियोके समान अकेला शान्तिभावसे बिना किसी वस्त्र उपकरण और आडम्बरके अलिप्त और निष्कामभावमे विचरूगा।

इसलिये भारतीय जनता श्रमणयोगियोके समान ही अपने खान, पान, व्यवहार और व्यवसायोमें अहिंसाको अपनाती रही है। यहाके लोग सदा अन्नभोजी शाकभोजी स्वच्छव्यवहारी बने रहे है। ये सदा बनस्पति अथवा वृक्षोका सिंचन करना, कीड़े-मकोड़े आदि छोटे जन्तुओसे लेकर काग, चिड़िया, बन्दर, बैल, गाय, आदि पशुओ तक को आहार दान देना, सांपों तक को दूध पिलाना, एक पुण्य कार्य मानते रहे है।

आजके भारतीय जीवन, विशेषतया पंजाबी जीवनको देखते हुए भले ही यह बात हमे आश्चर्यजनक प्रतीत हो, परन्तु समस्त भारतीय साहित्य और विदेशी यात्रियोंके विवरणोपरसे उक्त बात पूर्णतया सिद्ध है। आजके भारतीय जीवनमे जितनी अधिक मासाहारकी प्रवृत्ति देखनेमें आ रही है, वह सब मुस्लिम और विशेषकर पाश्चात्य योरोपीय सभ्यताके दुष्प्रभावोका ही फल है।

ईसवी सन्‌से ३०० वर्ष पूर्व भारतमें आने वाले यूनानी दूत मैगस्थनीजसे लेकर ई सन् ७०० के लगभग आनेवाले चीनी यात्री इत्सिग तक सभी यात्रियोने उक्त मतकी पुष्टि की है।

मैगस्थनीजने बतलाया है कि भारतीयजन बड़े आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते है, क्योंकि इनका चलन बहुत सीधा और सादा है। ये सिवाय यज्ञ-यागके कभी मदिरापान नही करते, असभ्य पहाडी लोगोके सिवाय जो शिकारसे प्राप्त किये हुए मासको खा लेते है, उनकी आहार सामग्री विविध प्रकार के अन्न—मुख्यतः चावल है चूकि इनका स्थायी व्यवसाय कृषि ही है।[१]

फाहियान चीनी यात्रीने जो चन्द्रगुप्त द्वितीयके समयमे (३९९–४२३ ई सन्) भारत आया था, लिखा है कि "भारतवासी किसी मादक द्रव्यका सेवन नही करते, भोजनके लिये वे पशुओको नही मारते, केवल चांडाल जिन्हे पैरिया कहते है, मास, प्याज, और लहसुन खाते है, पैरिया लोग नगरके बाहर रहते है। जब वे नगरमे आते है तो लोगोंको सूचना देनेके लिये लकड़ीको दण्डेमे बजाते है, जिसे सुनकर लोग उनके स्पर्शसे दूर हो जाते हैं। भारतवासी लोग सुअर, मुर्गा आदि जानवरोको भी नही पालते।

१ उतदासा परिविषे समदृष्टि गोपरीणासा, यदुस्तुर्वश्च मामहे। ऋग् १०-६२-१०

२. Dr. A. C. Das—Rigvedic Culture, P. 128.

३. Dr. A. Banerjee—Asura India, pp. 17-19, 34-40.

१. Ancient India as described by Megasthenes and Arrian by J. W. Mecrindle 1877—pp. 69 and 222.

न वे पशुओंको बेचनेका व्यवसाय ही करते है, बाजारोमें मांस और शराबकी दुकानें भी नही रखते ।"[१]

इसीप्रकार चीनी यात्री हुएन्त्साग ने जो ईस्वी सन् ६२९–६४५ में भारतमें आया था, लिखा है कि "भारतीय लोग स्वाभाविक रूपसे पवित्र रहते है, वे भोजनके पूर्व स्नान करते है। वे उच्छिष्ट भोजन न खुद खाते है और न दूसरोको खिलाते है। भोजनके पात्र बिना साफ किये दूसरों को नही दिये जाते। मिट्टी और लकडीके पात्र एक बार ही प्रयोगमें आते है। सोने, चादी तावे आदिके पात्र प्रयोगके बादमें शुद्ध किये जाते है। भारतीयोका भोजन साधारणतया गेहू, चावल, ज्वार, बाजरा, दूध, घी, गुड और शक्कर है[२]।

इसी प्रकार चीनी यात्री इत्सिग, जो हर्षवर्धनके कालमे ईस्वी सन् ६९१-६९२के लगभग भारतमे आया था, लिखता है कि—"यहापर भारतमे सारा भोजन—क्या खानेके लिये और क्या चबानेके लिये बड़ी उत्तमतासे नानाविधियोसे तैयार किया जाता है; उत्तर भारतमे गेहूका आदर बहुत होता है; पश्चिमी प्रदेशमे सबसे अधिक सेका हुआ आटा-अर्थात् चावल या जौका सत्तू वर्ता जाता है, मगधमे गेहूका आटा बहुत कम परन्तु चावल बहुतायतसे होता है, दक्षिणी सीमान्त प्रदेश और पूर्वी उपान्त्य भूमिकी उपज वही है जो कि मगधकी है। घी, तेल, दूध, और मलाई सब कहीं मिलती है। मीठी रोटिया अर्थात् गुड़की भेलिया और फलोकी इतनी प्रचुरता है कि उनका यहा गिनना कठिन है। सामान्य लोग तक मद और मास बहुत कम खाते है। भारतके पाचो भागों मे अर्थात् उत्तरीय भारत मे लोग किसी प्रकारका प्याज अथवा कच्ची तरकारिया नही खाते है, अतएव वे अजीर्ण से बचे रहते है।"[१]

१. Buddhism Records--Introducted pp. 37-38.

२. वाटर्स ओन युवन च्वांग, जिल्द १ पृ. १५२

ऋषिकुल जीवन भी अहिंसामयी रहा है

महाभारत, रामायण, रघुवंश, शकुन्तला, कादम्बरी, आदि साहित्यिक ग्रथोंमे बाल्मीकि, अगस्त्य, भृगु, कण्व, जाबालि आदि माननीय ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंका जो वर्णन दिया हुआ है, उससे भली भाति विदित है कि ब्राह्मण ऋषियोके आश्रमोका वातावरण दया, सरलता और स्वच्छतासे कितना सुन्दर था, विनय, भक्ति और सेवासे कैसा सजीव था, उनका लोक मानव-लोक तक ही सीमित न था, वह पशु-पक्षी लोक तथा वनस्पति लोक तक व्याप्त था। वह आकाशसे धरती तक और पूर्व क्षितिजसे पश्चिम क्षितिज तक फैला हुआ था। ऋतु-चक्रका नृत्य, उषाकी अरुण मुस्कान, सूर्यकी तेजस्वी चर्या, सध्याकी शान्त निस्तब्धता, तारों भरे उत्तग गगनके गीत, उनके आमोद-प्रमोदके साधन थे। सब ओर लतावेष्टित रूखोकी पक्ति, फलोकी वाटिकाए, अलियोका गुजार, पक्षियोके नाद, मोरोके नाच, मृगोकी अठखेलियाँ, कमलोंसे भरपूर जलाशय, उनकी नाटकशालाके सजीव दृश्य थे; खानेके लिये प्राकृतिक फल फूल, पीनेके लिये स्वच्छ नदी जल, पहिननेके लिये बल्कल, रहनेके लिये तृणकुटी, उनकी धनसम्पदा थी।

स्मृति-ग्रन्थोंके विधान भी अहिंसामयी हैं

स्मृति-ग्रथोमे भी आहार और व्यवसाय-सम्बन्धी अहिसापर बहुत जोर दिया गया है। मनुस्मृति ११-५४-९६ मे कहा गया है कि मास, मद्य, सुरा, और आसव ग्रहण न करना चाहिए। कीडे, मकोड़े पक्षियोंकी हत्या करना अथवा मधुमिश्रित भोजन, निन्दित अन्नका भोजन, लहसुन, प्याज आदि अभक्ष्य चीजोका सेवन करना भी पाप है। खानोपर अधिकार जमा, उनको खोदना, बडे भारी यन्त्रोंका चलाना, औषधियोका उखाडना, ईंधनके लिये हरे वृक्षोका काटना भी पाप है। याज्ञवल्क्य-स्मृति १-१५६, बृहन्नारदीय पुराण २२,१२,१६ में पशुबलि और मासाहारको लोकविरुद्ध होनेसे त्याज्य ठहराया है।

१. इत्सिंगकी भारतयात्रा, अनुवादक ला. सन्तराम बी. ए. १९२५ पृष्ठ ६६,६७

कविवर द्यानतराय

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

जीवन-परिचय——

कविवर द्यानतरायजी आगराके निवासी थे। यह अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे और उनका गोत्र गोयल था। कविवरके पूर्वजोंने लालपुरसे आकर आगरामें निवास किया था। कविके पितामह (दादा) का नाम वीरदास था और पिताका नाम श्यामदास। सवत् १७३३ में कविवरका जन्म आगरामें हुआ था। इनका लालन-पालन बडे प्रेमसे किया गया और प्रारम्भिक शिक्षा भी इन्हे मिली। उस समय इनकी जैनधर्ममे कोई रुचि नही थी और न उसका परिज्ञान ही इन्हें था। उस समय केवल अपने पिता द्वारा मानित धर्मका आचरण मात्र करते थे।

दैवयोगसे कविवरके पिताका सं० १७४२ में अचानक स्वर्गवास हो गया। उस समय उनकी अवस्था नौ वर्षकी थी। पिताके स्वर्गस्थ हो जानेसे उन्हे जो शोक हुआ, उसका प्रभाव भी उनके जीवनपर पड़ा, घर गृहस्थीका सब कार्य उन्हे भार स्वरूप प्रतीत होने लगा, परन्तु फिर भी आत्मीयजनों और दूसरे धर्मात्मा सज्जनोंके सहयोगसे कुछ समय अपना कार्य करते हुए भी शिक्षाकी ओर अग्रसर होते रहे।

भाग्योदयसे तेरह वर्षकी उम्रमे इनका परिचय पं० विहारीलाल और शाह मानसिहजीसे हो गया। ये दोनों ही जैनधर्मके अच्छे जानकार थे और शक्त्यनुसार उसपर अमल भी करते थे। उस समय आगरामे यत्र तत्र जैनधर्मकी खूब चर्चा थी, वहा विद्वानोंका समागम और तत्वचर्चाका वह केन्द्र-सा बना हुआ था। इनसे पहले भी वहा अध्यात्मशैली अपना कार्य कर रही थी, उसके बाद इनकी शैली भी प्रसिद्धिको प्राप्त हो गई। फलत वहा उस समय यदि कोई हाकिम या सद् गृहस्थ पहुच जाता था तो वह उन विद्वानोंकी तत्वचर्चा और सत्संगतिसे यथेष्ट लाभ उठानेका जरूर प्रयत्न करता था। अध्यात्मरसकी चर्चा उस नवागन्तुक व्यक्तिपर अपना प्रभाव अछूता नही छोडती थी, और परिणामस्वरूप उसकी आस्थामें जो कुछ रुकावट अथवा शैथिल्यका अश होता वह दूर होकर उसमें दृढ़ता आ जाती थी। और वह जैनधर्मका सच्चा हामी ही नहीं बनता था बल्कि अपने मानवजीवनको ऊंचा उठाने जैसी भावनाको भी हृदयंगम कर लेता था। इस प्रकारकी अध्यात्मशैलिया उस समय कितने ही स्थानोपर अपना कार्य करती थीं। अस्तु, द्यानतरायजी उन दोनों सज्जनोंकी शिक्षा उपदेश एवं प्रयत्नसे अपने मानवजीवनकी सफलताके रहस्यको पा गए। और सस्कृत-प्राकृत भाषाके साथ हिन्दी भाषाके भी अच्छे विद्वान बन गए। साथ ही जैनधर्मका परिज्ञान कर अपनेको उसकी शरणमे ले आए। कविवर पं० विहारीदास और शाह मानसिंहके इस उपकारको वे कभी नहीं भूले, प्रत्युत जबतक जीवित रहे उनका उपकार बराबर मानते रहे। फलत उन्होने अपनी रचनाओमें भी उनका आदर एवं सम्मानके साथ उल्लेख किया है।

सवत १७४८ मे १५ वर्षकी अवस्थामे द्यानतरायजीका विवाह हो गया और वे गृहस्थ-जीवनकी सुदृढ सांकलोंसे जकड दिये गए, जिसमे रागी होकर अनेक जीव अपने कर्त्तव्यको भूल जाते है। उस समय यौवनकी उन्मादकता जीवको पागल बना देती है और वह उसके रागरंगमे अपना सब कुछ भूल जाता है। जहा उनकी परिणति रागी होती थी वहा सत्संगका असर भी उनपर अपना काफी प्रभाव रखता था। इस समय उनकी अवस्था १९ वर्षकी हो चुकी थी। उस अवस्थामे जहा कामकी वासना भीषण ज्वाला रूपमें आत्मिकगुणोंको जलानेका प्रयत्न करती है वहां सत्समागम और अध्यात्म-शैलीने उनके विवेकको सदा जगरूक रहनेके लिये बाध्य किया। यही कारण है कि वे उस समय भी अच्छी कविता करने लगे थे। फलतः सवत् १७५२ में कातिकवदी त्रयोदशीके दिन आपने आगरामे 'सुबोध पचासिका' नामकी कविता पूर्ण की।[1] सुगुरु विहारीदासने उसका उन्हें हितसे अर्थ बतलाया था और उन्होंने उसे पद्यबद्ध किया था। यह रचना कितनी सुन्दर और अर्थवान है (इतनी छोटी अवस्थामें इस प्रकारकी रचना करना आसान काम नही,)

---

१. "हितसौं अर्थ बताइयो, सुगुरु विहारीदास।
सत्रहसौ बावन वदी तेरस कातिकमास ॥५०
ज्ञानवान जैनी सबै बसैं आगरे मांहि।
अक्षर ज्ञानी बहु मिलै, मूरख कोऊ नांहि॥"५१ धर्मविलास

उससे कविकी प्रतिभाका सहज ही आभास हो जाता है। और उससे यह भी निश्चित हो जाता है कि उस समय जैन-धर्मके ग्रंथोंका अध्ययन कर कितना रस वे हृदयंगम कर लेते थे और बादको उसे वे कवितामें कैसे परिणत करते थे।

संवत् १७५८में मंगसिर वदी ६के दिन आगरामें शाहमानसिंह और पं० बिहारीदासके शिष्य द्यानतने 'उपदेशशतक' की रचना समाप्त की है,[1] जिसमें १२१ पद्य हैं। इस रचनाके अन्तमें कविने अपनी यह भावना व्यक्त की है कि हमें उस तरहसे प्रवृत्ति करनी चाहिए जिस तरहसे निजात्माकी प्राप्ति हो और आत्मामें वीतराग धर्मकी अभिवृद्धि होकर भव-दुखोसे छुटकारा मिले।

कविवर अपने प्रारम्भिक गृहस्थ-जीवनमे विषय-भोगोंमें आसक्त थे। फलस्वरूप उनके सात पुत्र और तीन पुत्रिया थी। उनके लालन-पालनका भार भी उन्हें अपने कर्तव्यकी ओर अग्रसर होनेका बराबर सकेत करता रहता था। वे उससे छूटनेका उपाय भी करते थे, परन्तु वे मोह-वश उसे छोड़ नहीं सके। किन्तु जब विवेकने जोर पकड़ा तो उनका जीवन भी शनैः शनैः बदलता गया, और वे घरमे रहते हुए भी अपनेको कारागारमें पड़ा अनुभव करने लगे। वे अपनी आजीविकाके निर्वाहार्थ उद्योग भी करते थे, परन्तु अपनी सज्जन गोष्ठीके कार्यको कभी नही भूलते थे। जैनधर्मको प्राप्त कर वे जितना जितना उसके सैद्धातिक तत्त्वोंका मनन एव पर्यालोचन करते जाते थे उतना ही उनका बुद्धि वैभव भी बढ़ता जाता था। हिन्दी भाषादि-के साथ वे गुजराती और उर्दू भाषाके भी अच्छे जानकार थे; क्योंकि उस समय आगरामे अनेक देशोके व्यापारी जन आते जाते थे, उनसे सम्बन्ध रखनेके लिये उनकी भाषा-का परिज्ञान होना आवश्यक ही था।

जिनेन्द्र भक्ति—

ज्यों-ज्यों उनके तत्वज्ञानमें वृद्धि हुई त्यों-त्यों उनका क्षयोपशम भी बढ़ता गया और उससे भावोमें निर्मलता-की अभिवृद्धि होती गई, अध्यात्मग्रन्थोंके अध्ययन और सत्समागमसे उनमें नव चेतनाका जागरण हो गया, जैनधर्म-में उनकी श्रद्धा अडोल थी। जिनेन्द्रभक्तिमें वे किसीसे पीछे नही थे। जिन वचनोको सुनकर ही उनका पाप मलदूर हुआ था। जिन गुणोंके चिन्तन और श्रद्धासे भक्तजन उन जैसे बन जाते हैं। एक दिन—'हे द्यानत! यदि तू कल्याण चाहता है, भव दुःखसे छूटनेकी तेरी अभिलाषा है, तो अन्त-रंगमें देव, धर्म और गुरुरूप अमोलक रत्नोका श्रद्धानकर और ब्रह्मज्ञानका अनुभवकर भव-पाशसे छूट। जिनेन्द्र ही तरणतारन हैं यह उनका विरद लोकमें विश्रुत है। अतः वे मुझे भी शिव पद देवें, यही मेरी अन्त कामना है। भावपूर्ण की गई निष्कामभक्ति आत्म-साधनामे साधक है, उससे ही स्व-परका भेद ज्ञान होता है और आत्मा मुक्तिकापात्र बनता है' इस तरह कुछ गुन गुनाते हुए कविवर भक्तिभावमें लीन होकर कहते हैं :—

"तू जिनवर स्वामी मेरा, मैं सेवक प्रभु हो तेरा॥
तुम सुमरन बिन मैं बहुकीना, नाना जोनि बसेरा।
भाग्य उदय तुम दरसन पायो, पाप भज्यो तजि खेरा॥१॥
तुम देवाधिदेव परमेसुर, दीजै दान सबेरा।
जो तुम मोख देत नहि हमको, कहां जायं किहि डेरा॥२॥
मात तात तू ही बड़ भ्राता तो सौं प्रेम घनेरा।
द्यानत तार निकार जगत तैं, फेर न ह्वै भव फेरा॥३॥

'हे जिनेन्द्र! तुम ही मेरे स्वामी हो, और मैं तुम्हारा सेवक हू। तुम्हारे गुण-स्मरण बिना मैंने अनेक योनियोमे भ्रमण किया है। भाग्यउदयसे मैंने आपका दर्शन प्राप्त किया है, और उससे मेरा भव-पापमल दूर हुआ है, आप मुझे मुक्ति प्रदान करे, आप ही मेरे मात, तात और अकारण ज्येष्ठ बन्धु हैं। आपसे ही मेरा घनिष्ठ प्रेम है, आप ही ससारसे तारनेवाले हे। अतः आप मुझे ऐसा बल प्रदान करे जिससे फिर मेरा भव-वास न हो।'

एक बार जिनेन्द्रके सम्मुख विचार-मग्न हुए कविर कहते हैं—'यह भववास ही मेरे दुःखोंका प्रधान कारण है। अब मेरा चित्त उससे ऊब गया है, मैं इससे अब छूटना चाहता हूं, अतएव मेरा इससे कब और कैसे छुटकारा हो, यही मेरे सामने एक समस्या है जो मुझे बराबर बेचैन कर रही है। इस समस्याके हल करनेमें आप ही प्रमाण है। आपकी इस प्रशान्त मुद्राको देखकर ही मैंने अपने स्वरूपको जानने

---

१. **"सत्रैसौठावन मगसिर बदी छठि बढ़ी आगरेमें सैली सुखी निजमन धनसौं। मानसिहसाह औ बिहारीदास ताकौ शिष्य, द्यानत विनती यह कहै सब जनसौं॥ जिहिविधि जानौं निज आतम प्रगट होय, वीतराग धर्म बढ़ै सोई करौ तनसौं। दुखित अनादिकाल चेतन सुखित करौ, पावै सिव-सुख सिधु-छूटै दुःख-वनसौं॥ धर्मविलास १२०**

या अनुभव करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु मै अभी तक उसमें पूर्ण सफलताको नही पा सका, जिसे प्राप्त करनेकी मेरी उत्कट अभिलाषा है। परन्तु मेरा यह चैतन्यात्मा हाड, मांस और लोहूकी थैलीमें वास कर रहा है, वह तीन लोकका ठाकुर होकर भी भिखारी क्यों बन रहा है ? इसके भिखारी बननेका क्या कारण है और उसे मै कैसे दूर कर सकता हू ? इस शरीरको मै नित्य पुष्ट करता हू। और अनेक प्रयत्नोंसे इसकी सार सम्हाल भी रखता हू, तथा हर समय इसे साफ-सुथरा रखनेका भी यत्न करता हू, परन्तु खेद है कि वह मुरझाता एव सूखता चला जाता है, मै इसकी निरन्तर सेवा करता हुआ भी हार रहा हू और वह जीत रहा है। इस कारण इस अवस्थामे मेरे मे जो कुछ भी उस आत्मदेवकी सेवा अथवा वीतरागी प्रभुका भजन हो सके वही मेरा कर्त्तव्य है। फिर भी कविवर कहते हैं –'कि हे द्यानन! जिन नाम-का स्मरण करनेसे अनेक जीव ससार समुद्रमे तर गए, जिनकी गणना करना शक्य नही, इस कारण मुझे भी दुख-दायी विकथाओंको छोडकर उसी नामको जपना चाहिए, जिन्होने उस कालको भी जीतकर स्थिर अवस्था प्राप्त की है। जब ससारमे तेरा कोई सहारा नही होता उस समय जिन नाम ही, सुख, दुःख, जीवन और मरणादिसे तेरी रक्षा करना है।'

विषय-विरक्ति––

कविवरकी विषय-विरक्तिकी सूचक कुछ विचार-धाराए इस प्रकार है.––'जब इस नरकायाकी प्राप्तिके लिये सुरपति (इन्द्र) भी तरसता है और विचारता है कि मै इस नरभवको कब पाऊ और दीक्षा लेकर सयमका आचरण करू। तब मै उसे पाकर भी विषयोंकी लालसामे खो रहा हू। ये विषय पिशाच मुझे उस आत्म-निधिका भान नही होने देते, जिसे मै अनादिकालमे भूला हुआ था। ये विषय मुझे बाह्यमे रमणीय-से प्रतीत होते हैं, परन्तु ये विषय कारे नागसे भी अत्यन्त भयकर और प्राण घातक है। इनमे जो फसा वही अपनेको खो बैठता है, अपना सर्वस्व गमा देता है। ये विषय महादु.खकारी है, तू इनकी सगतिमे अनेक दु.खोंका पात्र बनता हुआ भी अपने हितको नही देखता। अब लाख बातकी एक बात है और वह यह कि तू अब इन विषयोकी टेव छोड दे। जो इन विषयोंकी आशा-को छोड़ देता है वही वास्तविक सुखका अधिकारी बनता है?' इस तरह मनमे कुछ गुनगुनाते हुए कविवर कहते हैं:—

साधो! छाडो विषय विकारी, जातै तोहि महादुख भारी ॥
जो जैनधर्मको ध्यावै, सो आत्मीक–सुख पावै ॥१॥
गज फरस विषै दुख पाया, रस मीन गंध अलि गाया।
लखि दीप शलभ हितकीना, मृग नादि सुनत जिय दीना ॥२॥
ये एक एक दुखदाई, तू पंच रमत है भाई।
यह कौनें सीख बताई, तुमरे मन कैसे आई ॥३॥
इन माहिं, लोभ अधिकाई, यह लोभ कुगतिको भाई।
सो कुगति माहि दुख भारी, तू त्याग विषय मतिभारी ॥४॥
ये सेवत सुखसे लागें, फिर अन्त प्राणको त्यागें।
तातै ये विष-फल कहिये, तिनको कैसे कर गहिये ॥५॥
तबलौ विषया रस भावै, जबलौ अनुभव नहि आवै।
जिन अमृत पान न कीना, तिन और रसन चित दीना ॥६॥
अब बहुत कहा लौ कहिए, कारज कहि चुप ह्वै रहिये।
ये लाख बात की एक, मत गहो विषयकी टेक ॥७॥
जो तजै विषयकी आसा, द्यानत पावै शिववासा।
यह सत गुरु सीख बताई, काहू विरले जिय आई ॥८॥

"तूने इस विषय-सामग्रीके सचय करनेमें ही अपना अमूल्य समय लगाया है, और पर पदार्थोंको मेरा मेरा कहता इस जन्मको व्यतीत किया है। पर पर्यायोमें रत होकर अपने स्वरूपकी ओर कोई ध्यान नही दिया, किन्तु बार-बार उस ममता ठगनीसे ठगा गया, इन्द्रिय-सुखको देखकर अपने वास्तविक सुखको भूल गया, और कभी तूने उन पाचों इन्द्रियोंको वशमें करनेका प्रयत्न नही किया। किंतु धन, रामा और धामकी संभालमें अपने नरभव रूप अमोलक हीरे-को लगाता रहा। इस शरीरको पुष्ट करता हुआ भी अपने हितको क्यों नही देखता, झूठे सुखकी आशामें इधर-उधर डोल रहा है ? दु:खको सुख समझकर मूढजनोंकी सगति मे हर्ष मानता है, किन्तु सत्समागमसे डरता है, झूठ कमाता, झूठ ही खाता और झूठी जाप जपता है, सच्चा साईं तुझे नही सूझता, तू इस ससारसे क्योकर पार होगा, यह कुछ समझमें नहीं आता। यमसे डरता है, और पर पदार्थोंकी सम्प्राप्तिसे फूला फिरता है और उनमें मै, मै की कल्पना करता है। जब यह शरीर भी तेरा नही और न तेरे साथ ही जाता है, जिसके सरक्षण और सवर्द्धनमे तू रातदिन लगा रहता है, तब अपनेसे सर्वथा भिन्न स्त्री, पुत्र, मित्र और धनादि सम्पदा तेरी कैसे हो सकती है ? तूने इन्हीके कारण अनेक पाप उत्पन्न किये हैं तो भी तेरी तृष्णा पुरानी नही हुई। तेरी तृष्णारूपी इस भारी गड्डेमें तीन लोककी सम्पदा

अणुके समान है। फिर बता ये तेरा आशारूपी कांसा कैसे भर सकता है? इसे अनेकोंने भरनेका प्रयत्न किया, पर वे सब अन्तमें निराश हुए है। धन संख्यात है और अनन्तीतृष्णा है, वह कैसे पूरी हो सकती है, वृक्षकी छाया और नरकी माया क्षण-क्षणमें घटती-बढती रहती है। इसकी पूर्तिका एकमात्र उपाय सन्तोष है, जिन्होंने उसका आचरण किया, वे ही संसारमें सुखी हुए हैं। इस ठगनी तृष्णाको साधुओंने यो ही छोड दिया है जिस तरह नाकका मैल निकालकर फेंक दिया जाता है।"

'इनकी सगतिसे तूने भव-भवमे दुःख सहन किये है। और भव-भवकी अनन्त पर्याणोको छोडा है, ऐसा कौनसा स्थान है जहां तूने जन्म-मरण नही किया। तीन लोकके अनन्तपुद्गलोका तूने भक्षण किया है। यदि उन सबका हिसाब लगाया जाय तो वह तेरे अमित दुःखका कारण होगा। इन सब दुःखोंको तूने बिना किसी समभावके सहन किया है। खेद है कि तू आज भी अज्ञानी बन रहा है। हे द्यानत! तू ज्ञानरूपी सुधारसका पान क्यो नही करता, जो अजर अमर पदका स्थान है। इस शरीरका मूल कारण ममता है, तू उस ममताका नाश कर ज्ञाता क्यो नही बनता? ससारमें जितने शरीरधारी हुए उन सबको मृत्युने खाया है। जिनकी तिरछी भोहे देखते ही बड़े-बड़े क्षत्री राजा डर जाते हे, इन्द्र और फणीन्द्र जिनके चरणोमे पड़ते थे उन्हे भी कालरूपी सिहने अछूता नही छोडा। जिस महाबली रावणने इन्द्र जैसे सुभटको पराजित किया, उसी रावण-को लक्ष्मणने मार भगाया। उस महा सुभट लक्ष्मणको भी कालने नही बकसा। जिस कृष्णने कस और जरासध जैसे शूरवीरोको प्राणरहित किया, उसी कृष्णको जरत्कुमार-के बाणने मृत्युके मुखमें पहुचा दिया। जिस परशुरामने कई बार वीर क्षत्रियोको मारकर इस भूमिको क्षत्रि-विहीन करनेका प्रयत्न किया, उसी परशुरामको सुभूमि-चक्रवर्तीने प्राणरहित किया, और वह सुभूमि भी काल कवलित हो गया। फिर तू अपनेको क्यो अमर समझता है? और इस जड-सम्पदाके अविनाशी होनेकी कल्पना-में मग्न हो रहा है। ये सब आत्मीय-जन एवं परिजन तुझे ममताकी दृढ़ साकलोंसे जकड़े हुए है। तू इनकी मोह-ममतामें अपनेको सर्वथा भूल रहा है। यह घर बंदीग्रह है, और परपदार्थोंकी प्राप्तिका लोभ यह चौकीदार है, जो तुझे आत्महितसे सदा रक्षित रखता है—उसमें प्रवृत्त नही होने देता। यह काल तुझे भी देख रहा है, अवसर पाते ही तुझ खा जावेगा, फिर तू ऐसा उपाय एव प्रयत्न क्यों नही करता, जिससे इस कालरूप सिहसे तुझे सदाके लिए छुट-कारा मिल सके।

भेदविज्ञान और आत्मानुभव——

भेदविज्ञान और आत्मानुभव—विषयक कविवरके कुछ विचार इस प्रकार है.—'देहादिकपर द्रव्य न मेरे, मेरा चेतनवाना।' कर्मोदयसे प्राप्त शरीरादिपर द्रव्य मेरे नही है, मै चेतनद्रव्य हू और यह सब दीखनेवाले पदार्थ मेरेसे सर्वथा भिन्न जड़स्वरूप है। वे मेरे कभी नही हो सकते, और न हं। मं मोहवश इनमे रागी द्वेषी हुआ ससार-परिभ्रमण-के कारणभूत कर्मोंका सचय करता रहा हू। अब भाग्यवश मुझे उस विवेक अथवा भेद विज्ञानकी प्राप्ति हुई है जिसके लिये मै वर्षोसे प्रयत्नशील हो रहा था और जिसे ससारके सभी प्राणी प्राप्त करना चाहते है। उस आत्मतत्वरूपी चिन्तामणिके प्राप्त होते ही मेरी वे सब इच्छाए शान्त हो गई है। वह चैतन्यज्योति समरस और अनाकुल है जिसके पावन प्रकाशमे वे सब पद अपद प्रतीत होते है जिनकी चाहमे इस मूढ प्राणीने अपना सर्वस्व खोया है। अब मेरी स्थिति ही बदल गई है जिस आत्मरसके बिना इन्द्रिय-भोग सुहावने-से प्रतीत होते थे, वे ही उस सद्दृष्टिके प्राप्त होते ही सब अरुचिकारक और सन्ताप करनेवाले ज्ञात होते है। ससार-के सभी विषय अब मुझे नीरस एव दुखदाई जान पड़ते है। आत्मानुभव ही चिन्तामणि है। इसके सुधारसमे वह मधुरता है जो अन्यत्र कही प्राप्त नही होती। इसके लिये अनेक तीर्थो-मे गया, अनेक कठिनाइया झेली, पाषाणोकी पूजा की, परन्तु वहा उसकी प्राप्ति नही हुई किन्तु जव मैने अपनी ओर दृष्टि पसारकर देखा तो उसे मैने अपने घटमे ही विराजमान पाया, जिस तरह तिलमे तेल और चकमकमे आग है उसी तरह इस शरीरमे आत्मदेव है। वह मेरे निकट और नजीक है सिर्फ अपने 'चेतनवाने' को देखनेकी आवश्यकता है। कविवर स्वय निम्न पदमें अपनी उस स्थितिका व्यक्त करते है.—

मै एक शुद्ध ज्ञाता, निरमल सुभावराता।
दृग-ज्ञान-चरन-धारी, थिर चेतना हमारी॥
तिहु काल परसो न्यारा, निरद्वद निरविकारा।
आनन्दकन्द चन्दा, द्यानत जगत सदंदा।
अब चिदानन्द प्यारा, हम आपमें निहारा॥"

'इसी कारण अब मुझे पर पदार्थोंकी विपरीत परिणतिपर खेद नही होता, और न अनिष्ट परिणति पर पहले जैसा दुख-शोक ही होता है, किन्तु उस अनुभवके होनेपर मुझे जो आनन्द होता है, वह अवक्तव्य है—वचनोसे नही कहा जा सकता। वह निर्विकल्प ज्योति ही मेरा स्वरूप है। आत्मतत्त्व ही तीन जगतमें सार पदार्थ है, वह न क्रोधी है और न मानी है, वह तो अपने चिदानन्दस्वरूपमें सदा अवस्थित है, और वही मेरे घटमें वर्तमान है, जो निगोदमे है वही मुझमे है और वही मुक्तिमे है। उसमें रंचमात्र भी भेद नही है, जो इस प्रकार उसे जानता अथवा अनुभव करता है वही बुद्धिमान है, सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्रसे भूषित वह ज्ञायकभाव ही हमारा स्वरूप है। जो संसारमे सुखिया हुए और होगे वे सब इसी ज्ञा-क भावका अनुभव कर, अष्ट कर्ममलको धोकर उस अनन्त अविनाशी सुखके भोक्ता बने हैं, और बनेगे। कविवर कहते हैं कि मुझे भी उन्हीके पदचिन्होंका अनुसरण करते हुए 'मोह' पदमें निविष्ट दो अक्षरोका ध्यान एव चिन्तन करते हुए उस 'मोह'की भावनासे भी ऊचे उठकर राग-द्वेषरूप कालिमाको गलाकर संसार समुद्रसे तरना है, यही मेरा वह चरम लक्ष्य है जिसका साधन करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हू।

कविवर केवल अध्यात्मशास्त्रके पडित ही न थे किन्तु वे अध्यात्म-ग्रन्थोके परिज्ञानके साथमे आत्मचिन्तन द्वारा अपने अनुभवको निर्मल बनानेका सतत प्रयत्न करते थे। आपको आत्मध्यान अथवा सामायिक करनेका बडा शौक था। वे आत्मध्यानमे इतने सलग्न हो जाते थे कि उन्हे बाह्य बातोका कुछ भी पता नही चलता था, वे ध्यानमे घंटों पत्थरकी नाई स्थिर रह सकते थे। उनका मन गृह-विकल्पो और ससारके स्वार्थपूर्ण व्यवहारो अथवा छल-कपटरूप परिणमनोसे ऊब गया था—घबरा गया था। वे चाहते थे कि मैं योगी बन जाऊ, परन्तु योगी बननेके लिए जब वे अपनी आत्म-शक्तिको तौलते और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके परिणमनका विचार करते, तब वे अपनेको असमर्थ पाते थे। वे यह कभी नही चाहते थे कि योगी बनकर शास्त्र-विरुद्ध क्रिया करू, अथवा लोगोंको अपने वेष-भूषोको दिखाकर यशस्वी बनू, घर-मठ अथवा मन्दिरमें निवास करू, और बाह्य अन्तर्जल्पोमे पड़कर अपने आत्मसयममे बाधक बनकर लोक-हास्यका पात्र बनूं। वे सोचते थे कि ऐसा करना मेरे लिए किसी तरह भी इष्ट नही हो सकता। उस पदको धारण कर जो आगमानुकूल निर्दोष प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है। इसी कारण वे घरमे रहते हुए भी अपनी उदासीन परिणतिसे अपना हित साधन करनेका प्रयत्न करते थे। घरके व्यापारादि कार्योंका संचालन भी करते, और पुत्रोंको उसकी सार सम्हाल रखनेका उपदेश भी देते थे, साथ ही अन्तरगमे वे अपनी परिणतिको उन विकल्पोसे सर्वदा दूर रखनेका बुद्धिपूर्वक पूरा प्रयास भी करते थे।

पद्मावती देवीका आराधन—

जैनधर्मके सिद्धान्त उन्हे बडे प्रिय लगते थे और उनसे उनकी आत्मामे निर्मलताकी जो झलक दृष्टिगोचर होती थी उसे वे जैनधर्मका ही उपकार मानते थे। कभी-कभी वे समयसारादि ग्रन्थोंमें चर्चित आत्मपरिणतिका मनन करते हुए इतने आत्मविभोर हो उठते थे कि वे अपनी सुध-बुध भूल जाते थे। वे इस बातका सदा प्रयत्न करते रहते थे कि मेरे द्वारा किसीका अपकार अथवा अहित न हो जाय। यदि कदाचित् ऐसा प्रसग उपस्थित हो जाता था तो वे उस समय मौनका अवलम्बन ले लेते थे, और जबतक वह विकल्प शान्त न हो जाता था तब तक आत्मनिन्दा और गर्हा द्वारा अपनी आलोचना करते रहते थे। उनके दिलमे यह टीस बार बार वेदना उत्पन्न करती थी और वह यह कि जैनधर्म जैसे पतित पावन, विश्वधर्मसे जनता विहीन है, यह विकल्प उनके जीवनमें अनेक बार उत्पन्न होता, कि तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे ससारके सभी मानव जैनधर्मकी शरणमें आकर अपना हित-साधन कर सके। इस विषयमे उन्होने वर्तमानमें अपनी असमर्थताका अनुभव करते हुए यह विचार किया कि यदि पद्मावतीदेवीका आराधन किया जाय तो सभव है कि वह मेरे मनोरथको पूर्ण करनेमें समर्थ हो सके। इसी सद्भावनाको लेकर उन्होने पद्मावतीदेवीका आराधन किया। आराधनाके फलस्वरूप पद्मावतीदेवीने प्रगट होकर कहा कि हे भद्र! तूने मुझे किसलिये याद किया है, तुझे जिस किसी वस्तुकी वाछा हो और जिसकी मैं पूर्ति कर सकती हू, नि संकोच कहिये मैं तेरे उस मनोरथको पूर्ण करूगी।' कविवरने कहा, 'हे देवी! मुझे किसी इष्ट वस्तुकी चाह नही है, संसारका कोई भी वैभव अथवा राज्यादि पद मेरी अभिलाषाका विषय नही है। मेरी चिरतन अभिलाषाका

एकमात्र विषय सारे संसारको जैनी बनाना है। इसी कारण मैंने आपको कष्ट दिया है कि संसारके ये अज्ञ प्राणी जैनधर्मके पावन तत्वोंसे अपरिचित है इसीसे वे अपना अहित साधन कर रहे है, अतः आप उन्हे जैनधर्मकी महत्ता-का प्रभाव बतलाकर जैनी बनानेका प्रयत्न करे जिससे उनका संसारके दुःखोंसे छुटकारा हो सके'। देवीने सुनकर कहा कि 'इस कार्यको तो तीर्थंकर भी नही कर सके, फिर इतना गुरुतर कार्य मेरे जसे असमर्थ व्यक्तिसे कैसे सम्पन्न हो सकता है। मैं तो उनके पुण्यकी दासी हूं। सारे संसारको जैनी बनानेका कार्य तो मेरी शक्तिसे बाहर है। इस कार्य-को छोड़कर आप अन्य किसी कार्यको करनेको कहे तो मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण कर सकती हूं। देवीके इन वचनों-को सुनकर कविवरको अपनी भावनाको पूरा न होते देख किंचित् खेद अवश्य हुआ; पर अलघ्यशक्ति भवितव्यता-का ध्यान आते ही दूसरे क्षण वे सम्हल कर बोले—हे देवी! मेरा अपराध क्षमा करो। देवीने कहा 'आप मुझे कोई काम अवश्य बतलाइये। तब कविने कहा कि मैं 'चर्चाशतक' नामक ग्रंथ बना रहा हूं तुम मुझे इसकी रचनामे सहायता करना। देवी 'तथास्तु' कहकर अपने स्थान चली गई। हो सकता है कि इस घटनामें कुछ अतिशयोक्ति हो, पर इसमे तथ्य जरूर जान पड़ता है और उससे जैनधर्मके सम्बन्ध-में कविकी अन्तर्भावनाका यथेष्ट आभास मिल जाता है।

कविवरका जीवन बहुत ही सादगीसे व्यतीत होता था। वे कभी आगरामें रहते और कभी दिल्ली जाते, परन्तु दोनों ही स्थानो पर वहांकी अध्यात्म-शैलीके सत्समागम-में अपना समय जरूर व्यतीत करते थे। कविवरने लिखा है कि सवत् १७७५ मे मेरी माताने शील बुद्धि ठीक की, और सवत् १७७७ में वे सम्मेदशिखरकी यात्रार्थ गईं और वही पर परलोकवासिनी होगईं।

कविवर बड़े ही द्यानतदार अथवा ईमानदार थे। उनका जीवन सीधा-सादा और वेष-भूषा भी साधारण था। उनका नैतिक और आध्यात्मिक जीवन उच्च भावनाओका प्रतीक था। वे जैनधर्मके रहस्य के ज्ञाता तो थे ही, साथ ही, उसका सार वे संक्षिप्तमें बहुत ही सरल ढंगसे श्रोताओंके समक्ष रखनेमें कुशल थे। वे कठिनसे कठिन विषयको सरल भाषामें समझा सकते थे। आपकी सारी कविताएं भी इसी भावको लिए हुए है। यही कारण है कि वे उतनी गम्भीर और कठिन नही है किन्तु अत्यन्त सरल और भाव-पूर्ण है।

रचनाएं—

कविवर द्यानतरायजीकी सभी रचनाएं सरल और सुगम है। ऊपर दो रचनाओका (स. १७५२ और १७५८ का) रचनाकाल दिया जा चुका है। अधिकांश रचनाओंमें रचना समय अंकित नही है, इससे यह बतलाना प्रायः कठिन है कि वे सब रचनाएं किस-किस समयमें रचकर समाप्त की गई है। पर यह सुनिश्चित है कि कविकी सभी कृतिया संवत् १७५२ से १७८३ तकके मध्यवर्ती समयमें रची गई हैं। इन सब रचनाओंमें पदोंको छोडकर ऐसी रचनाए बहुत थोड़ी है जिनमें दूसरे ग्रन्थोसे सहारा नही लिया गया अथवा जो उनके अनुवादादि रूपमें प्रस्तुत नही की गई है।

सवत् १७५८ मे कार्तिक वदी त्रयोदशीके दिन छहढाला नामका ग्रथ बनाकर समाप्त किया गया है। सबसे पहले छहढाला नामक कृतिको जन्म देनेका श्रेय उक्त कविको ही प्राप्त है। कविने सं० १७८० मे 'धर्मविलास' बनाकर समाप्त किया है जिसमें मगलचरण सहित ४५ रचनाए सकलित है। यह ग्रथ छप चुका है।

इस ग्रथगत ४५ रचनाओके अतिरिक्त आपने ३२३ आध्यात्मिक, औपदेशिक और भक्तिपूर्ण पदोंकी रचना की है जिनका एक 'पदसग्रह' अलगसे छप चुका है। आपकी रची हुई पूजाओकी सख्या संभवतः १२-१३ है जिनमे दश लक्षण पूजा प्रायः बड़ी ही भावपूर्ण और अर्थ गौरवको लिये हुए है। ये पूजाए पूजा सग्रहमे छप चुकी है।

द्रव्य सग्रहका पद्यानुवाद भी आपने किया है और वह भी छप चुका है।

'चर्चाशतक' कविवरकी एक सुन्दर कृति है, जिसमें करणानुयोगकी महत्वपूर्ण चर्चाओंको पद्योमे अनूदित किया गया है। यह ग्रथ भी छप चुका है।

इन रचनाओके अतिरिक्त 'आगमशतक' अथवा 'आगमविलास' नामका एक ग्रंथ और भी है जिससे बहुत कम पाठक परिचित होगे। इस ग्रथमे जिन रचनाओका संकलन किया गया है वे सब कविवरके अन्तिम जीवनकी रचनाए है। इनका आगमविलासके रूपमें संकलन होनेसे पूर्व ही कविवरका संवत् १७८३ में कार्तिक शुक्ला चतुर्दशीके दिन देहोत्सर्ग हो गया था। कहा जाता है कि कविवर आत्म-ध्यानमें लीन थे, रात्रिको उनकी बैठकमे जो चूहे बिल बनाकर रहते थे, वे किवाड़ बंद होनेसे बाहर निकल नही सके। अतः कविवरके शरीर पर उछलते रहे, और उन्होंने

उनके शरीरको काटना शुरू कर दिया, जिससे विष चढ़कर उनकी मृत्यु होगई। प्रातःकाल जब उनकी बैठक नही खुली, तब पुत्रोने उसे प्रयत्न करके खुलवाया और पिताको मृत्युकी गोदमें पाया; तब उनके निर्जीव शरीरका दाहसंस्कार किया गया। उनकी इस आकस्मिक मृत्युसे साधर्मीजन तथा कुटुम्बीजन सभी शोकसागरमे डूब गए। इस घटनामें क्या कुछ तथ्य हैं; इसका मुझे कोई प्रामाणिक उल्लेख तो अभी तक प्राप्त नही हुआ, पर उनकी मृत्युके उस समय होनेमे कोई सन्देह नही है। जैसा कि उक्त ग्रथके निम्न पद्यसे प्रकट है :

संवत विक्रम नृपतके, गुण वसु शैल सितंश।
कातिक सुकल चतुरदशी, द्यानत सुर गतूश ॥

आगमविलासके सकलित करनेकी भी एक रोचक कहानी है। कविवरकी मृत्युके पश्चात् उनकी रचनाओका चिट्ठा, जो द्यानतविलाससे अतिरिक्त था इनके पुत्र लालजीने उन्हे लेकर आलमगंजवासी किसी झाझू न.मक व्यक्ति को दे दिया था। मालूम होने पर प० जगतरायने उससे छीनकर मोतीकटलेमें रखा। और इस बातका विचार कर कि फिर भविष्यमे ये रचनाएं नष्ट न हो जाय, इसलिए उनका एकत्र सग्रहकर उसे सवत् १७८४ मे माघसुदी १४ को मैनपुरीमे समाप्त किया है, जैसा कि उसके निम्न पद्योसे प्रकट है जिन्हे प जगतरायजीने उसमे दिया है। प जगतरायजी आगरामे रहते थे, वे भी अग्रवाल और अध्यात्म-शैलीके विद्वान् थे। और ताजगंजमें रायसे बागमे वे रहते थे:—

'द्यानत सुत था लालजी, चिट्ठे ल्यायो तास।
सो ले झाझूको दिये, आलमगज सुवास ॥१३॥
तासै पुन ते सकल ही, चिट्ठे लिये मंगाय।
मोतीकटले मेल है जगतराय सुख पाय ॥१४॥'
'तब मन मांहि विचार, पोथी कीनी एकठी।
जोरि पढै नरनारि, धर्मध्यानमें थिर रहे ॥१५'
'सवत् सतरह सै चौरासी,माघ सुदी चतुरदसी भाषी।
तब यह लिखत समापत कीनी. मैनपुरीके माहि नवीनी ॥'

आगमविलासमें १५२ सवैया है, जिनमें सैद्धान्तिक विषयोका वर्णन किया गया है। इसे शतक लिखा गया है शेष ५५ छोटी २ रचनाएं और है, जिनमें प्रतिमा बहतरी स० १७८१ में दिल्लीमें बनाकर समाप्तकी है। विद्युतचोरकथा ४० पद्योमे भवानीदासके लिए बनाई गई है और सनतकुमार चक्रवर्तीकी कथा कथाकोषके अनुसार ४७ पद्योमे दी हुई है। पचास दोहे भी सुन्दर है। इनके अतिरिक्त, ऊंकारादिक ५२ और ६४ वर्ण, द्वादशाग, ज्ञान पच्चीसी, जिन पूजनाष्टक, गणधर आरती, कालाष्टक, ४६ गुण जैमाला, सघपच्चीसी, सहजसिद्ध अष्टक, अकृत्रिम चैत्यालय जयमाला, अष्टोत्तर-सौ गुनमाला, देवशास्त्रगुरूकी आरती, आदि फुटकर रचनाए दी हुई है। आगमविलासकी दो प्रतिया मेरे देखनेमे आई है—एक जयपुरमे बाबा दुलीचदजीके भडारमें और दूसरी देहलीके शास्त्र भडारमे। इन दोनो ही प्रतियोके लेखकोंने लिपी करनेमें कुछ प्रमाद किया है, जिससे कितनी ही अशुद्धिया पाई जाती है।

वीरसेवा मन्दिर, सरसावा ता० ६-६-'५२

क्या जैनमतानुसार अहिंसाकी साधना अव्यवहार्य है ?

(श्री दौलतराम मित्र)

क्या जैन मतानुसार अहिंसाकी साधना अव्यवहार्य है ? यह प्रश्न एक हकीकतपरसे उपस्थित हुआ है। वह यह है—

"जैन-गृहस्थोमें बहुतसा मुनिधर्म प्रवेश पा गया है। इनके इस आचार-विचारको देखकर दूसरे-जैनेतर गृहस्थ-लोग जैनधर्मकी अहिंसाको अव्यवहार्य समझने लगे है।"

(देवेन्द्रकुमार)

अतएव उक्त प्रश्नका स्पष्टीकरण आवश्यक हो गया है। जैनमतानुसार अहिंसाकी साधना इस प्रकार है –

अहिंसाकी न्यूनसे न्यून (कमसे कम) साधनाको जैसे सकल्पपूर्वक (आक्रामक) त्रसजीवहिसात्याग अथवा कषायके अल्पाश-त्यागको 'अणुसाधना' और अहिसाकी अधिकसे अधिक तथा पूर्ण साधनाको जैसे त्रस-स्थावर-जीवोंकी हिसाका त्याग अथवा कषाय[1] के अधिकाश तथा पूर्ण त्यागको 'महासाधना' कहते है।

गृहस्थ (पाक्षिक या व्रती श्रावक) अणुसाधना करते हैं, और वनस्थ (मुनि-तपस्वी) महासाधना करते है।

यद्यपि गृहस्थ करते तो है अणु-साधना, किंतु वनस्थ होकर महासाधना करनेका आदर्श सामने रखते है[2] बल्कि आदर्शकी ओर गति करनेके लिये उचित कारण मिलाते है[3] और निजपदस्थ तथा शक्तिके अनुरूप (अनुसार) महासाधनाका अभ्यास भी करते रहते है।[4]

अहिंसाके अणुसाधक गृहस्थके तेरह चिन्ह इस प्रकार है.[5]—

१. न्यायसे धन कमाने वाला हो। अर्थात् जुआरी न हो, श्रम (आरम्भ) जीवी हो।

२. सद्गुण अथवा गुरुजन (गुणीजन-सज्जन) सेवक हो। दुर्जन-सेवक न हो।

३. हित-मित-प्रियभाषी हो।

४. धर्म (अहिसा) अर्थ (धन) काम (पंचेंद्रिय विषय) इन तीनोकी परस्पर विरोध-रहित सिद्धि-प्राप्ति-करने-वाला हो।

५. नागरिक (सामाजिक नियम पालक) तथा दाम्पत्य-

---

१. क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा हास्य, रति अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष, नपुन्सक लिंगोमें राग—ये १३ कषाय कहलाते हैं।

२. "कब गृहवाससो उदास होय वन सेऊ, वेऊ निजरूप रोकूं गति मनकरीकी। रहिहो अडोल एक आसन अचल-अंग, सहिहों परीषह शीत-घाम मेघ-झरीकी ॥ सारग-समाज खाज कबधौं खुजैं है आनि, ध्यानदल जोर जीतू सेना मोह-अरीकी। एकल विहारी जथाजात लिंगधारी, कब होऊँ इच्छाचारी बलिहारी वा घरीकी ॥ (भूधर जैनशतक) "सागारधर्मामृत ६, ४२, ४३।

३. "विषयेषु सुखभ्रांतिं कर्माभिमुखपाकजां।
छित्वा तदुपभोगेन त्याज्ययेत्तान् स्ववत्परम् ॥
(सा ध ६-२-६२)

"प्रयतेत सधर्मिण्यामुत्पादयितुमात्मज।
व्युत्पादयितुमाचारे स्ववत्त्रातुमथापथात् ॥
(सा. ध २।३०)

"विना स्वपुत्रं कुत्र स्वं न्यस्य भारं निराकुलः।
गृही, सुशिष्यं गणिवत्प्रोत्सहेत परे पदे ॥
(सा. ध. ३।३१)

४. "जिनपुगवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणं।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥
—(पु. सि. २००)

"सा. ध. ७।५९—६०"

५. "न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज-
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमिति : प्राज्ञ : कृतज्ञो वशी
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥

जीवन वाला हो ।[१]

६. लज्जालु हो, बेशरम न हो ।

७, योग्य आहार (मद्य मास रहित) तथा विहार करने वाला हो ।

८, सत्संगति करने वाला हो ।

९. विचारक हो ।

१० कृतज्ञ हो ।

११ इंद्रियोको वशमें रखने वाला हो ।

१२. दयालु-दानी हो । जैसे अज्ञानी, भयभीत, भूखे, रोगी अपंग, इन चारों प्रकारके दुःखी जीवोका साधारणतया यथाशक्ति दुःख दूर करनेवाला हो । और विशेषत. ब्राह्मण हो तो ज्ञान दान देवे । क्षत्रिय हो तो अभयदान देवे । वैश्य हो तो अन्न, औषधि दान देवे । शूद्र हो तो सेवासुश्रुषा कर देवे ।

१३. पाप (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह,) से डरने वाला हो ।[२]

(सा. ध. १।११)

अहिंसाके महासाधक वनस्थो (मुनि तपस्वियो) के चिन्ह इस प्रकार है.—

(क) विषयोकी आशाकी वशतासे रहित हो । आरम्भ और परिग्रहसे रहित हों । ज्ञान ध्यान तपमें लवलीन हों[३] ।

(ख) स्व-पर-उपकारी हो । शत्रु-मित्रमें समभावी हो, रागीद्वेषी न हों ।[४]

(ग) सबसे प्रिय बोलनेवाले हों । दुर्वचनी दुर्जनोंपर भी क्षमा करनेवाले हो । सबके गुण-ग्रहण करनेवाले हों ।[५]

इस प्रकार गृहस्थ और वनस्थ (मुनि-तपस्वी) की अहिंसा-साधनाके प्रकार तथा चिन्ह जो ऊपर बतलाये गये है, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि जैन मतानुसार अहिंसाकी अणु-साधना सर्वसाधारणजनोचित्त (गृहस्थोचित) है, व्यवहार्य है । अव्यवहार्य नही है ।

अब देखना यह है कि वे कौनसी बाते है जो मुनिजनो-चित होकर गृहस्थोंने अपना ली है । वे ये होनी चाहियें :—

१ त्रस-हिसा-घातपर जहा ध्यान ज्यादा देना चाहिए वहा कम देना और स्थावरहिंसा-घातपर ध्यान ज्यादा देने-का ढोग करना ।

२. सज्जन-अनुग्रह और दुर्जन-निग्रह पर ध्यान कम देना ।

३. आरम्भ-जीवी (असि कृषि गोपालन वाणिज्य आदि श्रमजीवी) होनेमे जी चुराकर निरारम्भी होनेका ढोग करना ।

४. योग्य विषयो (पचेन्द्रियोके नियन्त्रित विषयो) से भी मुह मोड़नेका ढोग करना; जैसे, अविवाहित रहना, नागरिकता-सामाजिकताका उल्लघन करना । अपुत्र रहना (शुक्लध्यानका हेतु जो मानव कुल है उसमे आनेवाले जीवो-के लिये द्वार बन्द करना) इत्यादि ।

निष्कर्ष यह है कि जैन गृहस्थोको चाहिए कि वे अन-धिकार चेष्टाओको नही अपनावे । ताकि दुनियाका समा-धान हो जाय कि जैन मतानुसार अहिंसाकी साधना व्यवहार्य है । अव्यवहार्य नही है ।

---

१ "हिंसासत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणा ॥
(आदिपुराण, जिनसेन)

२ "धर्मसततिमक्लिष्टा रतिं वृत्तकुलोन्नति ।
देवादिसत्कृतिं चेच्छन् सत्कन्या यत्नतो वहेत् ॥
(सा. ध २।६०)

३. "विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते । (र क श्रा १०)

"कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणउण जीवाणं ।
तस्मारंभणियत्तण-परिणामो होई पढमवद (नियमसार ५६)

४. "साधारणा रिपौ मित्रे साधका. स्व-परार्थयोः ।
साधुवादास्पदी भूता साकारे साधका. स्मृताः ॥
(आत्मप्रबोध ११२)

५ "सव्वत्थवि पियवयण दुव्वयणे दुज्जणेहि खमकरणं ।
सव्वेसिं गुणगहण मदकषायाण दिट्ठंता ॥"

क्या सेवा साधनामें बाधक है ?

(श्री रिषभदास रांका)

इन्दौरमें अखिल विश्व जैनमिशनके मेरे भाषणके कुछ अंशको लेकर श्री दौलतरामजी 'मित्र' का अनेकांतमें एक लेख निकला। उनका आक्षेप है कि मैंने "जैनसाधुजनोके निष्क्रिय एकाकी साधनाकी छेडछाड की है और वह भी इस रिवाजका आश्रय लेकर कि "अपनेमे भिन्न प्रकारकी सेवा (भले ही वह अधिक उत्तम हो) करनेवालोको कुछ नो भी भला बुरा कहना।"

यो मेरी बिना सोचे-समझे कुछ कह देनेकी वृत्ति नही है और दूसरेको दोष देनेकी आदत भी नही है। फिर मै जैनसाधु-सस्थाके प्रति आदर रखता हूं इसलिये उन्हे बुरा बताना तो मुझसे हो ही नही सकता। किन्तु श्री दौलतरामजीने मेरा ध्यान अपने शब्दोपर फिर से विचार करनेके लिये आकर्षित करनेकी कृपा की, इसलिये मै उनका आभारी हू।

मै नही चाहता था कि इस बारेमे कुछ लिखकर वाद-विवादमें पडा जाय। वाद-विवाद और झगडेमें पडनेकी मेरी वृत्ति नही है। फिर भी मित्रोका आग्रह रहा कि इसपर मुझे स्पष्टीकरण करना ही चाहिए। इसमे समाजके सामने स्पष्ट रूपसे एक विषय आ जायगा। विषय व्यक्तिगत नही है। यह और ऐसी शकाये समाजके तरुणवर्गमे खासकर पाई जा रही है।

श्री "मित्र" जीने लिखा है कि "श्री," राकाजीकी बात सिर्फ़ उनकी अपनी निगाहमें जैन साधुओकी एकाकी निष्क्रिय साधनाका महत्व नही जचने पुरती होती तो ऐतराज योग्य नही थी। किन्तु वह लोक-निगाहमे उक्त साधु-साधनाका हलकापन जचनेका प्रतिनिधित्व भी करती है। अतएव वह एतराजयोग्य है," इससे शायद वे यह कहना चाहते है कि मैने जैन साधुओंको या उनकी क्रियाओको हलकी निगाहसे देखा है और उनके प्रति अनादर या तिरस्कार भी बताया है, लेकिन बात यह नही है। मैंने जो कुछ कहा था वह इस प्रकार है :—

"मिशन तो हमने खडा कर लिया, लेकिन मिशनरी कहा है? ऊपरके उदाहरणोंके प्रकाशमें, हमारा खयाल है हमारे साधुओंसे बढ़कर और कोई इस कामको नहीं कर सकता। अगर हम चाहते है कि जैनतत्वोका प्रचार हो। लोग जैनधर्म और समाजकी ओर आकर्षित हो तो हमें उनके लिये उपयोगी बनना होगा। जिस प्रकार ईसाई साधु प्रत्यक्ष सेवाका काम करते है वैसेही हमारे साधुओको भी करना चाहिए। इसके लिये अब वैराग्यकी व्याख्याको बदलनेकी जरूरत है। यह खुशीकी बात है कि हमारे साधु पिछडे और अछूत माने जानेवाले लोगोमे मास-मदिराके त्यागका उपदेश करते है और वे लोग उनकी ओर आकर्षित भी होते है, लेकिन साधु महाराजके विहार करनेके बाद बात जहा की तहा रह जाती है।

"सामाजिक दृष्टिमे साधुओका वैराग्य इतना एकाकी हो गया है कि वे अब अनुपयोगी माने जाने लगे और गृहस्थ तो बेचारे मोहमें प्रत्यक्ष फसे रहते है। गृहस्थोंके पीछे पूरा ससार लगा रहता है। उनसे त्यागकी बात करना ठीक नही और साधु इतने त्यागी होते है कि समाजसे कोई वास्ता नही रखते। अगर हमारे साधु सेवाको वैराग्य माने और अनासक्त भावमे समाजकी सेवा करे तो उनसे समाजका बहुत भला हो सकता है। इस प्रत्यक्ष सेवासे वे आदरके पात्र बनेगे और विश्वका हित भी होगा। जो काम कानून और पुलिस नही कर सकती, वह साधु आसानीमे कर सकते है। समाज त्यागकी कद्र करना जानती है। पर ऐसे त्यागका तिरस्कार भी कर सकती है जो भाररूप हो जाय। हमे आशा करनी चाहिए कि समय साधुओको ऐसा सोचनेके लिये विवश अवश्य करेगा, और वे भी स्वेच्छासे, आनन्दपूर्वक प्रत्यक्ष सेवाको अपना धर्म मानने लगेगे। वैराग्यका अर्थ निष्क्रियता नही है अनासक्ति है।

रेखाकित शब्दोको ध्यानपूर्वक देखनेपर सोचा जा सकता है कि जैन साधुओको हलका तो बताया ही नही गया है, बल्कि उनकी योग्यता, त्याग और आवश्यकताको स्वीकार ही किया गया है, मेरी समझमे नही आता कि किसी भले कामका सुझाव देना भी बुरा और हलका कैसे हो जाता है? मेरे कहनेका मतलब यह तो नही निकलता कि जो आत्मचिंतन करते है और आत्मकल्याण करना ही जिनका एकमात्र ध्येय है वे अपना विकास

नही कर सकते। जिन्हे केवल आत्म-कल्याण ही साधना है वे एकाकी और निष्क्रिय रह कर भी आत्म-साधना चाहें तो कर सकते है, लेकिन समाजको कौन अधिक उपयोगी होगे, यही प्रश्न है, हा मैंने सामाजिक दृष्टि-से यह अवश्य कहा कि अगर हम चाहते हो कि ससारमे जैन-धर्मका और तत्त्वोका प्रसार हो तो दूसरे साधुओकी तरह हमारे साधुओको भी प्रत्यक्ष सेवाके काम करने चाहिये, मेरे सारे भाषणको सामाजिक दृष्टिकोणसे पढ़ना चाहिये और मैंने जो कुछ लिखा है वह किसी खास परम्परासे या पद्धतिसे आबद्ध होकर नही, बल्कि तुलनात्मक और उप-योगात्मक दृष्टिसे लिखा है, और ऐसे लोगोके लिये कहा है जो अपनी साधनाके साथ-साथ जन-कल्याण भी करना चाहते है, जिन्हें जैन तत्त्वोके प्रसारमें रुचि है।

हम सब ससारी प्राणी हैं, कोई आदमी संसारमे अकेला नही रह सकता, अनेक व्यक्तियोके उपकार, सहयोग, सेवा-के बलपर व्यक्तिका जीवन बनता है, यह अभिमान मिथ्या है कि कोई अपना निर्माण और विकास अकेले कर सकता है, परस्पर अनुग्रह और उपग्रह ही जीवका कार्य है, ऐसी हालत-मे संसारमें रह कर केवल आत्मकल्याण करनेवाले, आत्म-कल्याण कर तो सकते हैं, पर जनताके लिये किसी प्रकार उपयोगी नही पड सकते, आत्म-कल्याण करनेवाले साधुको भी समाजसे अन्न-जलकी जरूरत पड़ती है, उसके लिये समाजमे आना ही पडता है और कुछ नही तो आत्मसाधना-के लिये शरीरके सहयोगकी तो उन्हे भी जरूरत रहती है, जैनधर्मके अरिहत और सिद्ध दो महान आदर्श है, सिद्धका ससारसे कोई ताल्लुक नही रहना मुक्त हो जाते है, अरिहत 'सदेह' और जीवनमुक्त रहते है, अरिहंतको पहले इसीलिये नमन किया जाता है कि ये संसारी लोगोको उपदेश करते है, उन्हे सद्-मार्गपर लगनेकी प्रेरणा करते है, जन-सेवा और जन-कल्याण करते है।

इस समय हमारे नवयुवकोके मनमे साधुओके प्रति आदर कम होता जा रहा है। यह आदर कम क्यो हो रहा है, यह जरा गंभीरतासे सोचने और समझनेकी बात है, नवयुवकोंको पश्चिमी सभ्यताके पुजारी और मिथ्यात्वी कह देनेसे समस्या हल नही हो जाती, वस्तुस्थिति यह है कि जब वे ससारकी गति-विधिको विशाल दृष्टिसे देखते है तब वे पाते है कि जैनसाधु ससारकी प्रगतिमें साथ नही दे रहे है, और जनसेवासे भी वे अपने को अलग रखते है, नवयुवकों-की उपेक्षा करके भी हम जैनसमाजकी उन्नति नही कर सकेंगे, वे जो कुछ कहते हैं उसपर भी हमें सोचना ही पड़ेगा, और आत्मविकासके साथ-साथ यदि जनसेवा भी हो सकती हो तो उसमें बुराई क्या है ?

साधना या चितनकी दृष्टिसे विचार करनेपर भी हमें यही दिखाई देता है कि कोई साधक कितना भी प्रयत्न करके रात-दिन चौबीसो घटे आत्म-चिंतन नही कर सकता, क्योंकि ध्यान भी अन्तर्मुहूर्तसे अधिक देर तक नही हो सकता ऐसा बताया गया है और साधक भी इस बातका अनुभव करते है, इसलिये चित्तको सत् प्रवृत्तिमें लगाकर उसकी शुद्धि करना आसान है ऐसा भी साधकोंको अनभव आता है, इस-लिये अपनी मर्यादामें रह कर कोई प्रत्यक्ष सेवाके ऐसे पढाने आदिके काममे या धर्मप्रसारमे लगे तो साधनामें सहायता ही मिलती है, हा, उसमें हम उलझ न जायें इसकी सावधानी रखना जरूरी है, एकात साधना अच्छी चीज है, मनको शुद्ध करनेका वह उत्तम उपाय है, लेकिन उसकी मर्यादा नही भूलना चाहिये। मेरी विनम्र रायमें निरन्तर शुद्धि और कल्याणका ध्यान रखना भी अशुद्धि और अकल्याणका कारण होता है, शुद्धि और कल्याणकी आकांक्षा-को त्यागे बिना शुद्धि और कल्याण नही हो सकता, हमारे यहा यह प्रसिद्ध ही है कि मुक्तिकाध्यान भी मुक्तिके लिये बाधक होता है।

शास्त्रोके प्रमाण देनेका झझटमे मैं नही पड़ा करता। शास्त्रोमे से हर व्यक्ति अपने अनुकूल सामग्री निकाल लेता है और वह आसानीसे मिल भी जाती है, शास्त्रोकी रचना देश, कालकी परिस्थितियोके अनुसार होती है। इसलिये सब शास्त्र सब समयके लिये एक-से उपयोगी नही हो पाते, श्री दौलतरामजीने शास्त्रोंके कुछ अवतरण देकर एकांत-साधनाको महत्व देना चाहा है, मै भी चाहता तो अनासक्ति पूर्वक प्रत्यक्ष सेवाके अनुकूल अवतरण दे सकता था—खासकर गीताके, जिन्होने गीताका गहरा अभ्यास किया है वे जानते है कि गीताका मूलमंत्र अनासक्तियोग है। सत्कर्म करो और आसक्तिसे दूर रहो यह उसका मूल सूत्र है, इसी सिलसिलेमें कही-कही एकांत-साधनाका भी उल्लेख आगया है, पर वह तो प्रासंगिक है और उसका उतना ही महत्व है जितना दालमें नमक, अपनी अनासक्तिको जांचते रहनेके लिये एकात साधना भी करनी होती है। इससे यह साबित नही किया जा सकता कि अनासक्त कर्म नही, एकांत साधना

ही मुख्य है।

गांधीजीके शब्दोंका अर्थ भले ही दौलतरामजी अपने अनुकूल लगायें, पर उसपर विचार करने पर यही मालूम देगा कि वे उनके प्रतिकूल पड़ते हैं, गांधीजीने कभी अपने-को पूर्ण पुरुष बतानेकी कोशिश नही की, यह उनका अपने आपको नम्र बनानेका प्रयत्न हैं। देशमें अनेक आत्मचिंतकों या निष्क्रिय-साधकोके रहते हुए भी देशको आजाद बनाने में या लोगोंकी भलाई में गांधीजी जैसे ही अधिक उपयोगी हुए, जनताको उन पूर्ण पुरुषोसे क्या लाभ जो उसके उप-योगमें न आये, उनके साधनके प्रति भले ही आदर रखे पर प्रत्यक्ष हित करनेवालेकी ही समाजको जरूरत है। आत्म-कल्याणके लिये घरबारको छोड़कर जगलमें चले जानेका यह अर्थ भी हो सकता हैं कि एकातमें जानेवाले-को डर है कि वह अनासक्त या निर्लेप नही रह सकेगा, ब्रह्म-चर्यकी रक्षाके लिए स्त्रीको छोडकर चले जानेवालेकी अपेक्षा स्त्रीके साथ रह कर भी ब्रह्मचर्य की रक्षा करनेवाला अधिक योग्य, साहसी और दृढ माना जावेगा, क्योकि वह कसौटी पर खरा उतरता हैं। यह सही है कि राग-द्वेषसे मुक्त हुए बिना कोई आत्मकल्याण नही कर सकता। मैंने कहा है कि जो काम कानून नही कर सकता वह साधु कर सकते है लोगोंका हृदय परिवर्तन तो साधु कर सकते हैं। आदमियत जगा सकते है। एक दूसरेकी सेवाके लिये तैयार कर सकते हैं। सच बात यह है कि जबतक "स्व" से ऊपर नही उठा जायेगा तबतक व्यापकता नही आयेगी, व्यष्टिसे समष्टि बड़ी है। केवल आत्मकल्याण भी तो एक प्रकारका स्वार्थ है। फिर आत्मकल्याण करते-करते दूसरोंकी भलाई कर सकें, तो और भी अच्छा।

आजकी परिस्थितियां बदल गई है। व्यक्तिगत धर्म-की अपेक्षा अब सामूहिक धर्मके बारेमें सोचना आवश्यक हो गया है। किसी संप्रदाय या धर्म विशेषके बारेमें भी अब सोचना सकुचित मनोवृत्तिका परिचय देना है। इसलिये अब हमें अपने धर्म और धर्मकी परिभाषाको भी विशाल दृष्टि-से बदलने और उसमें सामूहिक हितकी दृष्टि लानेकी जरूरत है।

सारा खेल परिणामोंका है। प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, बुरी-भली कोई नही होती। व्यक्तिका हित-अहित परिणामों-पर निर्भर है। एकांत साधक भी विकारोंके वशीभूत होकर नीचे गिर सकता है और जनकल्याणके कामोंमें उलझा दीखनेवाला व्यक्ति भी शुद्ध परिणामोंके कारण ऊपर उठ सकता है। फिर भी अपनी-अपनी वृत्ति, संस्कार, रुचिके अनुसार मार्ग अपनाया जाना चाहिये और उसीमें परिणामों-को अविकारी रखना चाहिये। किसी भी एक मार्गका आग्रह रखना योग्य नही होगा, हर व्यक्ति अपने लिये जो योग्य मार्ग जंचे वह स्वीकार करे।

मेरा यह दावा नही है कि मेरे विचार ही सत्य है और ससारका हर छद्मस्थ प्राणी ऐसा दावा नही कर सकता, किसी भी विषय पर अनेक पहलुओसे विचार होता आया है, हो रहा है और होगा, भाई दौलतरामजीने इस चीजको और समझनेके लिये प्रेरित किया, अतः उनका आभारी हूं, मैंने अपना दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है, नही जानता कहा तक इसमें सफल हुआ हू।

भूल सुधार—गत तीसरी किरण के पृष्ठों पर भूल से कुछ पृष्ठ संख्या २३५ से २६८ तक छप गई है उसके स्थान पर पाठक १३५ से १६८ तक पृष्ठ लेने की कृपा करें। —प्रकाशक

कविवर भगवतीदास और उनकी रचनाएँ

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

हिन्दी भाषाके अनेक प्रसिद्ध जैन कवि हो गए है। उनमें पंडित भगवतीदासका नाम भी खासतौरसे उल्लेखनीय है जो कुशल कवि थे। आपकी प्रायः सभी रचनाए हिन्दी भाषामें हुई है। परन्तु सबसे अन्तिम रचना 'मृगांकलेखाचरिउ' अपभ्रंशभाषामें हुई है। यद्यपि उसमें भी हिन्दी भाषाके और देशी भाषाके शब्दोंकी प्रचुरता पाई जाती है। इनकी उपलब्ध रचनाओंमें कितनी ही कृतियां आत्मसम्बोधनार्थ लिखी गई है। आपकी अबतक २३ रचनाओका मुझे पता चल सका है। संभव है इनके अतिरिक्त और भी इनकी कृतियां शास्त्रभडारो में कही पर उपलब्ध हो।

कवि भगवतीदास अग्रवाल कुलमे उत्पन्न हुए थे। इनका गोत्र 'बंसल' था। यह बूढ़िया[1] जिला अम्बालाके निवासी थे। इनके पिताका नाम किसनदास था। इन्होने चतुर्थवयमे मुनिव्रत धारण कर लिया था। यह बूढ़ियासे जोगिनीपुर (देहली) चले गये थे। उस समय देहलीमें अकबर बादशाहके पुत्र जहागीरका राज्य था। और उस समय देहलीकी प्रसिद्ध भट्टारकीय गद्दीपर मुनि महेन्द्रसेन विराजमान थे। मुनि महेन्द्रसेन भट्टारक सकलचन्द्रके पट्ट शिष्य थे और भट्टारक गुणचन्द्रके प्रशिष्य थे। उस समय देहलीमे मोतीबाजारमे जिनमन्दिर था, जिसमें भगवान पार्श्वनाथकी मूर्ति विराजमान थी, और वहा अनेक गुणी एवं सुजन श्रावकजन जिनपूजा आदि षट्कर्मोका नितप्रति पालन करते थे। विनय तथा विवेकसे मुनियोको दान देते थे। गुणी पडितजनोंका सन्मान करते थे और करुणावृत्तिसे निर्धनोको धनका दान भी देते थे। इसकारण जगतमें उनका निर्मल यश व्याप्त हो रहा था। वहा ही कवि भगवतीदास निवास करते थे।[2] कविने अपनी अधिकांश रचनाएं बादशाह जहांगीरके राज्यमें रची है। जहांगीरका राज्य सन् १६०५ (वि० सं० १६६२) से सन् १६२८ (वि० स० १६८४) तक रहा है। और अवशिष्ट रचनाए शाहजहांके राज्यमें जो सन् १६२८ (वि० सं० १६८४) से सन् १६५८ (वि० सं० १७१५) तक रहा है, रची गई है।

यद्यपि ये सब रचनाए जिनमें रास अथवा रासककी सख्या अधिक है, छोटी-छोटी स्वतन्त्र कृतिया है। उनमें कितनी ही रचनाए भावपूर्ण और ललित प्रतीत होती है और उनका एकमात्र लक्ष्य स्व-पर-बोध करानेका प्रतीत होता है। कविने अपनी सभी रचनाएं निस्वार्थभावसे रची है, वे किसीकी खास प्रेरणासे नही रची गई है। और उनकी रचना विभिन्न स्थानोपर सहजादिपुर (देहली-शाहादरा), सकिसा, कपिस्थल (कंथिया) जिला फर्रुखाबाद आगरा और हिसार आदि रमणीय स्थानोपर रची गई है। यह उन रचनाओके अन्तिम प्रशस्ति-सूचक पद्योसे सहज ही ज्ञात हो जाता है। कविने अपनी चार रचनाओमे उनका रचनाकाल दिया है, शेष रचनाओमें वह नही पाया जाता। उनमें 'चूनड़ी' नामक रचना कविने संवत् १६८० म बनाकर समाप्त

१. बूढिया पहले एक छोटी-सी रियासत थी, जो धन-धान्यादिसे खूब समृद्ध नगरी थी। जगाधरीके बस जानेसे बूढ़ियाकी अधिकांश आबादी वहांसे चली गई, आजकल वहां खंडहर अधिक हो गये है, जो उसके गतवैभव की स्मृतिके सूचक है।

२ सोरठा—देस कोस गजिबाज, जासु न महि नृप क्षत्रपति।
जहागीरको राज, सीतासतु मैं भनि किया ॥ ८०
गुरु गुणचन्द आनन्दसिन्धु बखानिये,
सकलचन्द तिस पट्ट जगत तिम जानिये।
तासु पट्ट जसु नाम खमागुन मंडणों,
पर हां—गुरु मुनि मांहिंदसेन मुणहु दुख खंडणो ॥८१
गुरु मुनि माहिंदसेन भगौती, तिस पद-पंकज रैन भगौती।
किसनदास वणिउ तनुज भगौती, तुरिये गहिउ व्रतमुनिजुभगौती
नगर बूढिये वसै भगौती, जन्मभूमि है आसि भगौती।
अग्रवाल कुल बंसल गोती, पंडितपद जन निरख भगौती। ८३
जोगनिपुर परि राजै, राय-रवौरि नित नौवल बाजै।
प्रतिमा पार्श्वनाथ धनवंता, नागर नर पवर मंतिवंता ॥ ८४
मोतीहट जिनभवन विराजै, प्रतिमा पार्श्वनाथकी साजै।
श्रावक सुगुन सुजान दयाल, पट जिय जाम करैं प्रतिपाल ॥ ८५
—बृहत्सीतासतु, सलावा प्रति

की है। अन्य उन्नीस रचनाएं भी संभवतः सं० १६८० या उससे पूर्व बन चुकी थीं; क्योंकि कविने स्वयं उन्हें संवत् १६८० में जहांगीरके राज्यमें सांचीमें लिखकर समाप्त की हैं। उनके नाम और संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१ 'टंडाणारास'—यह सबसे छोटी रचना है। इसमें बतलाया है कि यह स्याना जीव अपने दर्शन ज्ञानचारित्रादि गुणोंको छोड़कर अज्ञानी बन गया और मोह-मिथ्यात्वमें पड़कर निरंतर परवश हुआ चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करता है। इसे छोड़कर तू धर्म शुक्ल रूप अनुपम ध्यान धर, और केवलज्ञानको प्राप्त कर शाश्वत निर्वाण सुखको प्राप्त कर। जैसाकि उसके अन्तिम पदसे प्रकट है :—

"धर्म्म-सुकल्ल धरि ध्यानु अनूपम, लहि निजु केवलनाणा वे।
जंपति दासभगवती पावहु, सासउ-सुहु निव्वाणा वे ॥"

२. दूसरी रचना 'आदित्यव्रत रास' है, इसमें २० पद्य दिये हुए हैं। तीसरी रचना 'पखवाडा रास' है जिसमें पन्द्रह-तिथियोंमें क्या कुछ विचार करना चाहिए यह बतलाया गया है, इसमें २२ पद्य है, रचना साधारण है। चौथी रचना 'दशलक्षणरास' है, जिसमें उत्तम क्षमादि दशधर्मोंका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। इसमें ३४ पद्य हैं। पांचवी रचना 'खिचडीरास' है, इसमें ४० पद्य हैं। रचना साधारण होते हुए भी भावपूर्ण है। छठी रचना 'समाधि रास' नही बल्कि कविने 'साधुसमाधि-रासु भणेसउं' वाक्य द्वारा उसे 'साधु-समाधिरास' बतलाया है। सातवी रचना 'जोगीरास' है। इसके पद्योंकी संख्या ३८ है, जिनमें बतलाया गया है कि यह जीव भ्रमके कारण भववनमे भटक रहा है इसने शिवपुरकी सुधको विसार दिया है और अतीन्द्रिय आत्म-सुखको छोड़कर पंचेन्द्रियोके विषयोंमें लुभा रहा है। कविने जीवकी इस महती और पुरातन भूलका दिग्दर्शन कराते हुए अपने आंतरिकघटमें बसे हुए उस चिदानन्द स्वरूप आत्माके देखनेकी प्रेरणा की है। साथ ही, मनको स्थिर कर, ध्यान द्वारा उस शिवनायकके जपनेकी प्रेरणा भी की है जिससे जीवात्मा भव-समुद्रसे पार हो जाय, जैसा कि उसके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

"पेखहु हो तुम पेखहु भाई, जोगी जगमहि सोई।
घट-घट-अन्तरि बसइ चिदानंदु, अलखु न लखिए कोई।
भव-वन-भूल रहचौ भ्रमिरावलु, सिवपुर-सुध विसराई।
परम अतींद्रिय शिव-सुख-तजिकरि, विषयनि रहिउ लुभाई।
अनंतचतुष्टय-गुण-गण राजहिं तिन्हकी हउं बलिहारी।
मनिधरि ध्यानु जयहु शिवनायक, जिउं उतरहु भवपारी ॥"

आठवीं रचना 'मनकरहा रास' है। यह एक रूपक खंड रचना है, इसकी पद्य संख्या २५ है। जिनमें जीवरूपी मन-करहाके चौरासीलाख योनियोंमें भ्रमण करने और जन्म-मरणके असह्य दुःख उठानेका विवरण देते हुए कविने उससे छूटनेका उपाय बतलाते हुए लिखा है कि जब यह जीव शिवपुर-को पा लेता है तब फिर इसका जन्ममरण नही होता। यह वहां अनन्तचतुष्टय रूप निराकुल अविनाशी सुखमें मग्न रहता है। यह रास सहजादिपुरमे बनाकर समाप्त किया गया है। नौवी रचना 'रोहिणीव्रत रास' है, इसमें ४२ पद्य हैं। दशवीं रचना 'चतुर बनजारा' है जिसमें ३५ पद्य निहित हैं। ग्यारहवी रचना 'द्वादश अनुप्रेक्षा' जिसमें १२ पद्यों द्वारा संसारदशा-का चित्र प्रकट करते हुए उससे विरागी होनेकी शिक्षा दी गई है। बारहवी रचना 'सुगंधदशमी कथा' है। जिसमे ५१ पद्यों-द्वारा सुगध दशमीके व्रत पालनके फलका उल्लेख किया गया है। तेरहवी रचना आदितवार कथा है। जिसे रविव्रत कथा भी कहते हैं। इसमें भी उक्त व्रतके अनुष्ठानकी चर्चा और फलकी महत्ता बतलाई गई है। चौदहवीं रचना 'अनथमी कथा' है जिसमें २६ पद्यों द्वारा रात्रि भोजनसे हानि और उसके त्यागसे लाभकी महत्ता बतलाई गई हैं। पन्द्रहवी रचना 'चूनड़ी' अथवा 'मुकतिरमणिकी चूनड़ी' है। यह भी एक दिलचस्प रचना है। चूनड़ी एक उत्तरीय वस्त्र है जिसे स्त्रियां अपने शरीरपर ओढती थी। राजपूताना और मध्यप्रातमें इसका रिवाज अब भी कही-कही देखा जाता है, अन्य प्रातो-से अब उसका रिवाज संभवतः नष्ट हो गया जान पड़ता है। चूनड़ी एक रंगीन वस्त्र है। कविने उसे 'मुक्ति रमणी' की चूनड़ीकी उपमा दी है और उसे भवतारिणी बतलाया है। साथ ही सम्यक्त्वरूप उस विसाहले वस्त्रको ज्ञानरूप सलिल (पानी) के साथ भिगोकर और साजि (सज्जी) लगाकर रंगनेका उपक्रम किया है। इस रचनाको कविने अपनी जन्म-भूमि बूढिया नगरमें रचा है, जो पहले एक छोटी-सी रियासत थी और उस समय सुन्दर भवनोसे सुशोभित थी। आज इस नगरका अधिकाश भाग खण्डहरके रूपमे पड़ा हुआ है जो अपने गत गौरवपर आसु बहा रहा है। कविता अच्छी है। और वह सं० १६८० में जहांगीरके राज्यमे रची गई है। सोलहवी रचना 'वीर जिनिन्द गीत' है इसमें भ० महावीर-की स्तुति की गई है। सत्रहवी रचना 'राजमती नेमीसुर-ढमाल' है। इसमें राजमति और नेमिनाथके जीवन परिचय-को अंकित किया गया है। अठारहवीं रचना 'सज्ञानी ढमाल'

है। उन्नीसवीं और बीसवी रचनाएं 'आदिनाथ और शांतिनाथ' के स्तवन है।

इन रचनाओंके अतिरिक्त निम्न तीन रचनाएं और है, लघुसीतासतु, अनेकार्थनाममाला और मृगांकलेखा-चरित। जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

लघु-सीतासतु—इस ग्रन्थमें सीताके सतीत्वका अच्छा चित्रण किया गया है, और उसमें बारहमासोके मंदोदरी-सीता प्रश्नोत्तरके रूपमें जो कुछ भी भाव सकलित किये गये है। उनसे रावण और उसकी पट्टरानी मदोदरीकी कलुषित चित्त-वृत्तिका सहज ही परिचय मिल जाता है। साथ ही, उससे *सीताके दृढ़तम सतीत्व और पतिव्रतधर्म-सम्बन्धी सुदृढ़* भावनाका मूर्तिमान चित्रपट हृदय पटल पर अंकित हो जाता है। कथानक बड़ा ही सुन्दर और मनोमोहक है। कविने पहले स० १६८४मे जहांगीरके राज्यमे 'बृहत्सीतासतु' बनाया था, परन्तु एकतो वह रचना बड़ी हो गई थी, एक ही दिनमे पूरी नही पढ़ी जा सकती थी, दूसरे उसमें रोचकता भी उतनी आकर्षक नही थी। इसीसे कविने उसे ही सक्षिप्त करके देशभाषामें चौपाई बद्ध किया था। और अन्य सब छन्दोंको छोड़कर केवल बारह महीनोके संवाद-सूचक छन्द ही रक्खे थे। इस ग्रन्थकी रचना स० १६८७ चैत्र शुक्ला चतुर्थी चंदवारके दिन भरणी नक्षत्रमें 'सिहरदि नगर मे' (दिल्ली-शहादरा में) की गई थी[1] पाठकोकी जानकारीके लिये आषाढमासका प्रश्नोत्तर नीचे दिया जाता है :—

तब बोलइ मदोदरी रानी, रुति अषाढ़ धनघट घहरानी।
पीय गए ते फिर घर आवा, पामरनर नित मन्दिर छावा।
लवहि पपीहे दादुर मोरा, हियरा उमग धरत नहि मोरा।
बादर उमहि रहे चौपासा, तिय पिय विनु लिहि उसन उसासा।
नन्ही बूंद झरत झरलावा, पावस नभ आगमु दरसावा।
दामिनि दमकत निशि अंधियारी, विरहनि काम-बान उरिमारी।
भुगवहि भोगु सुनहि सिख मोरी, जानत काहे भई मति भोरी।
मदन रसायनु हइ जगसारु, संजमु-नेमु कथन विवहारु।
दोहा—जब लगु हस शरीरमहि, तब लगु कीजइ भोगु।
राज तजहि भिक्षा भमहि, हउं भूला सबु लोगु।
सोरठा—सुखविलसहि परवीन, दुखदेखहि ते बावरे।
मिउ जल छडे मीन, तडफि मरहि थलि रेतकइ।
पुनिहां—यहु जग जीवन लाहु न मन तरसाइये।
तिय पिय संजोगि परमसुहु पाइये।
जो हु समज्झण हारु तिसहि सिख दीजिये।
जाणत होइ अयाणु तिसहि क्या कीजिये॥१॥

(सीता)

शुकनासिक मृग-दृग पिक-वइनी, जानुकि वचन लवइ सुखिरइनी
अपना पिय पइ अमृत जानी, अवर पुरुष रवि-दुग्ध समानी॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनदा, पिय गुन सरत बढ़त जसकंदा।
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी, तिनि बालिमु संगु नाहि दूरी!
जिनि परपुरिष तिया रति मानी ....!
करत कुशील बढ़त बहु पापू, नरकि जाइ तिउं हइ सतापू।
जिउ मधु बिदु तनूमुख लहिये, शील बिना दुरगति दुख सहिये।
कुशल न हुइ परपिय रसवेली, जिउ सिसुमरइ-उरगसिउ खेली
दोहरा—सुख चाहइ ते बावरी, परपति सग रतिमानि।
जिउ कपि शीत बिथा मरइ, तापत-गुजा आनि।
सोरठा—तृष्णा तो न बुझाइ, जलु जब खारी पीजिये।
मिरगु मरइ धपि धाइ, जल धोखइ थलि रेतकइ।
पुनिहां—पर पिय संगु करिनंहु सुजनमु गमावना।
दीपगि जरइ पतगु सुपेखि सुहावना।
पर रमणी रसरंग न कवणु नरु सुहु लहइ।
जब कब पूरी हानि सहति जिह अहि रहइ॥ २॥

अनेकार्थनाममाला—यह एक पद्यात्मक कोष है जिसमें एक शब्दके अनेकानेक अर्थोंका दोहोमे संग्रह किया गया है। कविकी यह रचना भी पंचायती मन्दिर देहलीके शास्त्र भंडार-के एक गुटकेमे लिखी हुई है। गुटका प्राचीन है और वह कोई ३०० वर्षसे भी अधिक पुराना लिखा हुआ जान पड़ता है। लिपि पुरानी साफ तथा सुन्दर है; परन्तु कही कही लिपि-सम्बन्धि अशुद्धियां जरूर खटकती है जिन्हें किसी दूसरी प्रतिपरसे सशोधित करनेकी आवश्यकता है। ग्रन्थमें कवि-ने अपना कोई परिचय नही दिया, किन्तु उसके रचना समयके

---

१ इन्द्रपुरी सम सिहरदि पुरी, मानवरूव अमरद्युति दुरी
अग्रवाल श्रावक धनवन्त, जिनवर भक्ति करहि समकंत।
तह कवि आइ भगोतीदासु, सीतासतु भनियो पुनि आसु।
बहु विस्तरू अरु छंद घनेरा, पढ़त प्रेम बाढई चित केरा।
एक दिवस पूरन ह्वै नाही, अति अभिलाष रहइ मनमाही॥
दोहा—तिहि कारण लघु सतु करयो, देस चौपई भास।
छंद जूझ सबु छाडिकइ, राखै बारह मास।
सोरठा—संवतु सुणहु सुजान सोलहसइस सतासियइ।
चैति सुकल तिथिदान, भरणी ससि दिन सो भयो॥
—प्रशस्ति लघुसीतासतु

साथ अपनी उक्त गुरु परम्पराको ही दुहराया है। इस ग्रन्थकी रचना कविने सं० १६८७ में आषाढ़ कृष्णा तृतिया गुरुवारके दिन श्रवण नक्षत्रमें शाहजहांके राज्यकालमें 'सिहरदि' (देहली-शहादरा) नामके नगरमें बनाकर समाप्तकी है[1]।

इस ग्रन्थमें तीन अध्याय हैं और वे क्रमशः ६३,१२२ और ७१ दोहोंकी संख्याको लिये हुए हैं। यह कोष हिन्दी-भाषा भाषी जनताके लिये बहुत ही उपयोगी है। इसकी रचना कवि बनारसीदासजीकी नाममालासे १७ वर्ष बाद हुई है। अनेकार्थ शब्दोंका हिन्दीमें ऐसा पद्यबद्ध सुन्दर कोष अबतक मेरे देखनेमें नही आया। कविवर भगवतीदासकी यह भारतीय हिन्दी साहित्यको अनुपम देन है। ग्रन्थकी रचना सुन्दर और सरल है। पाठकोंकी जानकारीके लिये 'सारंग और 'गो' इन दो शब्दोंके वाचक अनेक अर्थोंवाले पद्य नीचे दिये जाते है, जिनसे प्रस्तुत कोषके महत्वका सहज ही पता चल जाता है :—

करकटु कामु कुरगु कपि, कोकु कुंभु कोदंडु।
कंजरु कमल कुठारु हलु, झोडु कोपु पविदंडु ॥५॥
करटु करमु केहरु कमठु, कर कोलाहल चोरु।
कंचन काकु कपोतु अहि, कंबल कलसरु नीरु ॥६॥
खगु नगु चातिगु खंग खलु, खरु खोदनउ कुदालु।
भूधरु भूरुह भुवनु भगु, भटु भेकजु अरु कालु ॥७॥
मेखु महिषु उत्तिम पुरुसु, वृषु पारस पाषानु।
हिम जमु ससि सूरजु सलिलु, बारह अंग बखानु ॥८॥

दीपु कूपु कज्जलु पवनु, मेघु सलिलु सब भृंग
कवि सुभगौती उच्चरइ, ए कहियत सारग
गो घर गो तरु गो दिशा, गो किरणा आकास।
गो इंद्री जल छन्द पुनि, गो बानि जन भास ॥ ५।

मृगांकलेखाचरित—इस ग्रन्थमें कविने चन्द्रलेखा और सागरचन्द्रके चरितका वर्णन करते हुए चन्द्रलेखाके शीलव्रतका महत्व स्थापित किया है। चन्द्रलेखा अनेक विपत्तियोंको साहस तथा धैर्यके साथ सहते हुए अपने शीलव्रतसे ज़रा भी विचलित नही हुई, प्रत्युत उसमें स्थिर रहकर उसने सीताके समान अपने सतीत्वका अच्छा और अनुपम आदर्श उपस्थित किया है।

कवि भगवतीदासने इस ग्रन्थको हिसार नगरके भगवान वर्धमान (महावीर) के मन्दिरमें विक्रम संवत् १७०० में अगहन शुक्ला पंचमी सोमवारके दिन पूर्ण किया है। उस समय वहां मन्दिरमे ब्रह्मचारी जोगीदास और प० गंगाराम उपस्थित थे।[1] इस ग्रन्थकी भाषा अपभ्रंश है, ठेठ हिन्दी नही। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंशभाषाका साहित्य आज भी ईसाकी ७वी सदीसे १७वी सदी तकका उपलब्ध हो रहा है। यद्यपि उसमे हिन्दीका बहुत कुछ अंश गर्भित पाया जाता है, परन्तु उससे हिन्दीके क्रमिक विकासका इतिवृत्त सामने आ जाता है और उससे अपभ्रंशभाषाके एक हजार वर्ष तक साहित्यिक भाषा बने रहनेका परिणाम भी प्रकट हो जाता हैं। अपभ्रंशने ही हिन्दी, जूनी गुजराती और मराठी आदि प्रांतिक भाषाओंको जन्म दिया हैं। और स्वय वह हिन्दी भाषाके पावन रूपमें परिणत हो गई है। इस भाषाके क्रमिक विकासका इतिवृत्त लिखे जानेकी अत्यन्त आवश्यकता है। साथ ही, उसके अप्रकाशित विशाल साहित्यको आधुनिक ढंगसे प्रकाशमे लानेकी सख्त जरूरत है।

वीर सेवा मन्दिर, ता० ६–७–५२

---

१ सोलह सयरु सतासियइ, साढि तीज तम-पाखि।
गुरु दिनि श्रवण नक्षत्र भनि, प्रीति जोगु पुनिभाखि ॥६६॥
साहिजहाके राजमहिं सिहरदि नगर मझारि।
अर्थ अनेक जुनामकी, माला भनिय विचारि ॥५७॥
गुरु गुणचन्द अनिंद रिसि, पंच महाव्रतधार।
सकलचन्द्र तिस पट्ट भनि, जो भवसागर तार ॥६॥
तासु पट्ट पुनि जानिये, रिसि मुनि माहिंदसेन।
भट्टारक भुवि प्रगट जसु, जिनि जितियो रणि मैनु ॥६९॥
तिंह ज........सिहइ, कवि [सुभगोतीदासु।
तिनि लघुमति दोहा करे, बहुमति करहु न हासु ॥७०॥
लघु दीरघ मात्राचरण, शबद-भेद अवलोइ।
बुधिजन सबइ संवारियहु, हीनु अधिक जहँ होइ ॥७१॥
इति श्री अनेकार्थनाममाला पंडित भगोतीदास कृत दोहाबंध बालबोध देशभाषा समाप्तं।

१ घत्ता—सगदह सवदतीह तहा, विक्कमराय महप्पए।
अगहणसिय पंचमि सोमदिणे, पुण्ण ठिउ अवियप्पए।
दुवइ—चरिउ मयंकलेह चिरुणदउ जाम गयणि-रवि-ससिहरो
मंगल मारुइ वइजणि मेइणि, धम्मापसंगा हिदकरो ॥
गाथा—रइओ कोट हिसारे जिणहरि वरवीर वड्ढमाणस्स।
तत्थ ठिओ वयधारी जोईदासो वि बंभयारी ओ ॥
भागवई महुरीया बत्तिगवर वित्ति साहुणा विण्णि
मइविबुध सुगंगारामो तत्थ ठियो जिणहरेसु मइवतो।
ससिलेहा सुय बंधु जे अहिउ कढ़िण जो आसि।
महुरी भासउ देसकरि भणिउ भगोतीदासि ॥

अश्रमण-प्रायोग्य-परिग्रह

(क्षुल्लक सिद्धिसागर)

आजसे कोई ढाई हजार वर्ष पहिले श्रीगौतम स्वामीने, जोकि भगवान् वर्द्धमानके—महावीर स्वामीके—मुख्य गणधर थे अपने स्वरचित प्राकृत प्रतिक्रमणसूत्रमें उस परिग्रहका जो सब प्रकारसे गृहस्थोंके योग्य है, श्रमणोंके योग्य नही 'असमण-पाउग्ग-परिग्गह'के नामसे उल्लेख किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र इसकी टीकामें लिखते हैं:—

"न श्रमणा अश्रमणा गृहस्थास्तेषा प्रकर्षेण आ समंताद्योग्यं त न गृह्णीयात्।"

अर्थात् जो श्रमण नही वे अश्रमण गृहस्थ है, उनके-लिये प्रकर्षरूपसे तथा सब ओरसे जो परिग्रहयोग्य है—जो गृहस्थोंके ही वास्तवमें होता है—उसे महाव्रती श्रमण ग्रहण न करें।

गौतम स्वामि-विरचित मूलसूत्र-पाठमें लिखा है:—

"तत्थ बाहिर परिग्गहं से हिरण्ण वा सुवण्ण वा धणं वा खेत्तं वा खल वा वत्थु वा पवत्थु वा कोम वा कुठारं वा जाण वा जपाण वा जुग वा गद्दियं वा रहं वा सदणं वा सिवियं वा दासी-दास-गो-महिस-गवेडयं मणि-मोत्तिय-सख-सिप्पि-पवालय मणिभाजण वा सुवण्णभाजण वा रजतभाजण वा कंसभाजण वा लोहभाजण वा तंबभाजण वा अडज वा तसरिचीवर वोडजं (कार्पासवस्त्र) रोमज वा वक्कज वा चम्मज वा अप्पं वा बहु वा अणु वा सचित्त वा अचित्तं वा अमुत्थ वा बहित्थ वा अविवालग्ग-कोडिमित्तं पि णेव सयं असमणपाउग्ग परिग्गहं गिण्हिज्ज :····।"

उक्त परिग्रहोंमेंसे यदि किसी परिग्रहको कोई ग्रहण करता है तो वह श्रमण निर्ग्रंथ या महाव्रती नही होता, क्योंकि उक्त परिग्रहको अश्रमणताका प्रतीक कहा गया है। वह वास्तवमें गृहस्थ है।

इससे यह साबित होता है कि श्रमणोंके सिवाय श्रावक श्राविका क्षुल्लक ऐलक क्षुल्लिका आर्यिका ये सब सागार लिंग हैं, क्योंकि महाव्रत या सकल व्रतके विरुद्ध ये वस्त्रादिक संगसे युक्त हैं। स्वामी समंतभद्रके निम्न वाक्योंसे भी यही बात पुष्ट होती है—

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानां,
अनगाराणं, विकलं सागाराणां ससगानाम्।

अर्थात् जो सर्वसगसे अन्तरग परिग्रहके साथ वस्त्रादिक दस प्रकारके बाह्य परिग्रहोसे रहित हैं वही सकल व्रती हो सकता है, जब तक इन परिग्रहोका त्याग नही करता तबतक वह सगसहित है। जो ससग है वही सागार है—गृहस्थ है।

समूचे प्रतिक्रमणसूत्रमें ऐलक और आर्यिकाका कोई उल्लेख नही है किन्तु गृहस्थ-धर्मका उल्लेख किया है। उससे यह अच्छी तरहसे जाना जा सकता है कि उनका अन्तर्भाव क्षुल्लक (देशसयत) और क्षुल्लिका (देशसंयती) में हो जाता है। शेष देशव्रती या अव्रतियोंका अन्तर्भाव श्रावक और श्राविकाओमें हो जाता है। गौतमस्वामी प्रतिक्रमण सूत्रमें कहते हे:—

"इह खलु समणेण भयवदा महदि महावीरेण महाकस्सवेण[1] सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरसिणा सावयाणं सावियाण खुड्डयाणं खुड्डीयाण कारणेण पचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खाव-दाणि वारसविह गिहत्थधम्म सम्मं उवदेसियाणि।"

"जो एदाइ वदाइ धरेइ सावया सावियाओ वा खुड्डय खुड्डियाओ वा अट्ठदह भवणवासियवाण-वितर-जोइसिय-सोहम्मीसाण देवीओ वदिक्कमित्तउवरिम अण्णदरमहड्ढियासु देवेसु उववज्जंति। तं जहा—सोहम्मीसाण सणक्कुमार म.हिंदबभबंभुत्तर-लांतव-कापिट्ठ-सुक्क-महासुक्क सतार-सहस्सार-आणत-पाणत-आरण-अच्चुत-कप्पेसु उववज्जन्ति।"

ऐलक और आर्यिकाका उत्पाद सोलहवें स्वर्ग तक ही होता है अतः इनका भी उन्ही श्रावक श्राविकाओंमें अन्तर्भाव हो जाता है जिनके उत्पादका कथन उक्त सूत्रमें किया गया है क्योकि वे भी सागारधर्म या विकलचारित्रसे युक्त हैं।

'खुड्डय' शब्दका अर्थ 'क्षुल्लक' होता है। क्षुल्लक शब्द नवीन नही है अपितु अत्यन्त प्राचीन है।। ढाई हजार वर्ष पहिले देशयति जो ग्यारह प्रतिमाओमें युक्त थे, क्षुल्लक

---

१. महाकाश्यप-महान् तेजके रक्षक हैं

कहलाते थे। चाहे वह प्रथम आर्य क्षुल्लक हो चाहे द्वितीय ऐलक आर्य क्षुल्लक हो। 'आर्या' शब्दका प्रयोग आर्य स्त्री-के लिये होता है। जो ग्यारह प्रतिमाओं से युक्त आर्या है वह 'क्षुल्लिका 'कहलाती है। उसके दो भेद हैं प्रथम क्षुल्लिका नामकी आर्या और दूसरी क्षुल्लिका नामकी आर्यिका।

ऊपर उद्धृत प्रतिक्रमणसूत्रके वाक्यमें जिन बाह्य अश्रमण-प्रायोग्य परिग्रहोका उल्लेख किया गया है वे उपलक्षणसे भी युक्त है, उनके सदृश्य अन्य जितने भी घड़ी चश्मे पीतल, जस्त रुपये, पैसे आदि परिग्रह हे वे सब भी महाव्रती साधुओकेलिये अग्राह्य हे जैसा कि पं० अजितकुमार शास्त्रीके जैन गजटमे प्रगट हुए लेखमे जाहिर है। इस विषय में पं० कैलाशचन्द्रका "भगवान महावीरका अचेलक धर्म" पढ़ने योग्य है। गौतमस्वामीने भी इस प्रतिक्रमणसूत्र में '*अचेलक*' शब्दकेद्वारा वस्त्रके त्यागका उल्लेख किया है।

जो सचेल है वह श्रमण नही है, सचेलतासे उसके पहिनने ओढने आदिसे ममत्व रूप कारणका सद्भाव सिद्ध होता है। वस्त्र रखनेसे असयम भी अवश्य ही होता है। वह वस्त्रके फ़क्र और फिक्रसे रहित नही है अतः वास्तवमें श्रमण या फ़कीर नही है।

यह अचेलक धर्म नवीन भी नही है, प्रवाहकी अपेक्षा यह अनादिसे चला आ रहा है, जैसे कि उत्पन्न होने वाला मारा जगत् नग्न उत्पन्न होता है। जो निर्विकार हो जाता है उसे वस्त्रके धारण करनेसे क्या? जब विकार उत्पन्न होता है उसे छुपानेके लिये वस्त्र धारण कर लेते है। लज्जा एक कषाय है उसको जो नही जीत सका है उसे वस्त्र-की आवश्यकता है किन्तु जिसने विकारके साथ लज्जा कषायको छोड़ दिया है उसे वस्त्रसे क्या? अन्तरंग *परिग्रहका कार्य बाह्य परिग्रहका ग्रहण है, क्योंकि वे बाह्य* परिग्रह अन्तरंग परिग्रहके रहे बिना ग्रहण नही किये जा सकते है।

बाह्य परिग्रह अन्तरंगकी कषायोंको उत्पन्न नही करता है। बाह्य परिग्रह अन्तरंग परिग्रहके उत्पन्न करनेमें कारण नही हैं, बाह्य परिग्रहके न रहनेपर भी कोई कोई साधु क्रोधी देखा जाता है। अतः बाह्य परिग्रहका ग्रहण अन्तरंगकी कषायोंका कार्य है, कारण नही है। यदि है भी तो वह उपचारसे है अविनाभाव रूपसे नही है। जो बाह्य परिग्रह-को ग्रहण करता है वह कषायादिकसे रहित नही है उसके त्यागने पर ही निर्ग्रन्थ होकर मुक्त होता है। वस्त्र और पात्रका ग्रहण अशक्त लोगोंने श्रमणपदमें स्थिर नही रह सकनेके कारण किया है।

यदि बिना वस्त्र छोड़े मुक्ति होती तो दीक्षाके समय तीर्थंकर नग्न क्यों होते? यदि तीर्थंकरके समान महान आत्माओंको भी जिनकल्पी और नग्न होने पर ही सिद्धि की प्राप्ति हुई तो अन्यको बिना निर्ग्रन्थ हुए मुक्ति कैसे हो सकती है। यदि बिना वृक्षपर चढे ही फल तोड़ सकते है तो वृक्ष पर चढ़ने से क्या लाभ? "*हस्तसुलभे फले किं तरुः समारुह्यते?*"

जबतक जीव परिग्रहरूपी पिशाचमे रहित नही होता तबतक वह अवश्य ही संसारमे परिभ्रमण करता रहता है।

जो बाह्यके परिग्रहको छोड कर साधु हुए हैं उन लोगों-ने बाह्य परिग्रहोमेसे जिन जिन परिग्रहोका त्याग किया है वह क्यो किया है? यदि ममत्व घटानेके लिये किया है तब तो बाह्य वस्त्रादिकपरसे भी ममत्व घटानेके लिये उन्हें छोड़ देना चाहिए।

इस कालमें मोक्ष नही है तो भी इस कालमें उत्पन्न हुए जीव कर्मोकी निर्जरादिक करनेकेलिये या संसारको कम करनेकेलिये उद्यम करते है, वे तपको संवर और निर्जराके-लिये करते है—स्वर्गकी इच्छासे नही।

देशव्रतीसे महाव्रतीके निर्जरा अधिक होती है। अतः महाव्रती बननेका उद्यम करना चाहिये। यदि श्रमण नही बने हो तो भी श्रमण बननेकी भावनासे रहित मत रहो।

अश्रमण-प्रायोग्य-परिग्रहको छोड़े बिना किसीने भी मुक्ति प्राप्त नही की है अतः मुक्त होनेके लिये उसका परित्याग अवश्य करना ही पड़ेगा। 'मरकर तो छोड़ना ही पड़ेगा तो फिर छोड़ कर क्यो नही मरता है।'

एक परमाणुमात्रपर भी ममत्व रहने पर जब मोक्ष नही हो सकता तब वस्त्रादिक पर ममत्व रखकर कोई मुक्त कैसे हो सकता है? जहां श्रद्धामें निर्ग्रंथ आत्मा बैठा हुआ है वहा उस बाह्य परिग्रहको आत्मसिद्धिका साधक बनाना कैसे उचित हो सकता है? एक दिन निर्ग्रंथ होनेपर ही परमात्माके समान निर्ग्रंथ होना पड़ेगा। बिना परिग्रह छोड़े सिद्ध परमात्माके समान कोई कैसे हो सकता है?

अपभ्रंश भाषाका पासचरिउ और कविवर देवचंद

(परमानन्द जैन शास्त्री)

भारतीय भाषाओमें अपभ्रंशभाषा भी अपना महत्व-पूर्ण स्थान रखती हैं। यह भाषा भी देशविशेषके कारण नागर उपनागर, ब्राचड आदि भेद-प्रभेदोमे बट गई है, फिर भी इसमे जन्मजात माधुर्य हैं। दूसरे इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस भाषामें पदलालित्यकी कमी नही है। रड्डा, ढक्का, चौपई, पद्धडिया, दोहा, सोरठा, घत्ता, दुवई, संसगिणी भुजगप्रयात दोधक और गाहा आदि विविध छन्दोमे इसके साहित्यकी सृष्टि देखी जाती है। इसके सिवाय इसमें सस्कृत भाषाके समान दीर्घपद, समास, और अर्थकाठिन्यादि दोष नही पाये जाते। इसका पाठ करते ही पाठक उसके रहस्य-का भाव सहज ही अवगत कर लेता है। इसकी सरसता, सुगमता और कोमलता पाठकके हृदय पट पर अकित हो जाती है। इन्ही सब विशेषताओके कारण अपभ्रश भाषाने अपना स्थायी स्थान साहित्यिक भाषामे बना लिया है। इस भाषामें जैनकवियोने विपुल साहित्यकी रचना की है। रासक या रासा साहित्य भी इसीकी देन है, जो विविध छन्दोमे ताल व नृत्यके साथ गाया जाता रहा है। यद्यपि 'रासा' शब्दका उल्लेख भारतीय पुरातन साहित्यमें उपलब्ध होता है; परन्तु अपभ्रशभाषाके 'रासा' साहित्यका सबमे पुराना उल्लेख महाकवि 'वीर' के 'जबूसामिचरिउ' नामक काव्यग्रंथमें, जो विक्रम सवत् १०७६ की रचना है, पाया जाता है। वीर कविके पिता देवदत्त महाकवि थे। इन्होंने सवत् १०५० या ५५ में 'अम्बादेवीरास' नामका एक ग्रन्थ लिखा था जो उस समय विविध छन्दोमे गाया जाता था।[1]

१. भव्वरिय बंधि विरइय सरसु, गाइज्जइ सतिउ तारु जसु।
नच्चिज्जइ जिण-पय सेवयहि, किउ रासउ अबादेवयहि ॥
—जंबूस्वामिचरितप्रशस्ति

डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालके मतानुसार रासा या रासकका पुरातन उल्लेख कवि बाण के 'हर्षचरित' मे पाया जाता है। रासा वास्तवमें ऊंचे ताल स्वरके साथ भक्तिके आवेशमें नादृधक्रियाके साथ गाई जाने वाली रचना है। आचार्य हेमचन्द्रने काव्यानुशासनमे रासकका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है :—

अपभ्रशभाषामे रासा या रासकका इससे पुरातन उल्लेख[2] अभीतक उपलब्ध नही हुआ। श्वेताम्बर जैनसाहित्यमें रासादि साहित्यविषयक अपभ्रंश भाषाकी जो स्फुट रचनाये उपलब्ध होती है, वे सब रचनाए विक्रमकी १२वी, १३वी, १४वी शताब्दीमे रची गई है। इससे स्पष्ट है कि 'कविदेवदत्त'-का 'अम्बादेवीरास' इन सबसे पूर्वकी रचना है। यह रचना अभी तक अनुपलब्ध है। अन्वेषक विद्वानोंको शास्त्रभडारोमें इसके खोजनेका यत्न करना चाहिए।

जैनियोके तेवीसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। भारतीय पुरातत्वमे पार्श्वनाथकी पुरातन मूर्तियां और मन्दिर उपलब्ध होते है। और चौवीसवे तीर्थंकर महावीरके वर्तमानतीर्थमे भी भगवान् पार्श्वनाथकी यत्र-तत्र विशेष पूजा प्रचलित है। आज भी पार्श्वनाथके अनेक विशाल गगन-चुम्बी मन्दिर देखे जाते है। मन्दिर और मूर्तियोकी तरह अनेक कवियो और विद्वानोने प्राकृत सस्कृत, अपभ्रश और हिन्दीभाषाके अनेक काव्यग्रन्थोमे पार्श्वनाथके जीवन-चरितको गुम्फित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भी उन्ही पार्श्वनाथके जीवन-परिचयको लिये हुए है, जो एक खण्डकाव्य होते हुए भी कविने उसे 'महाकव्वे' जैसे वाक्यद्वारा महाकाव्य' सूचित किया है। इस ग्रन्थ प्रतिमे तीन पत्र त्रुटित है, ७वां, ७९वां और अन्तिम ८१वा। इनमेसे सातवा और ७९वा ये दोनों पत्र अत्यन्त आवश्यक हैं; क्योकि इनके अभावमे मूलग्रन्थ ही खंडित हो गया है। ८२वे पत्रपर तो लिपिकारकी प्रशस्तिका थोड़ासा अश गया प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थमे ११ सधिया दी हुई है जिनमें २०२ कडवक-निबद्ध हुए है, जिनमें कविने पार्श्वनाथके चरितकोबड़ी खूबी-के साथ चित्रित किया है। प्रथममें पहले पार्श्वनाथतीर्थंकरका चरित दिया हुआ है, और उसके बाद उनके पूर्व भवान्तरोका कथन संक्षिप्त रूपमें अकित किया है। ग्रंथकी भाषा अपभ्रंश होते हुए भी वह हिन्दी भाषाके बहुत कुछ विकासको लिये हुए है। ग्रन्थमें दोधक छन्दका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकारने

२. अनेकनर्त्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्—'
आचतुःषष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धते ॥

भगवान् पार्श्वनाथकी उस ध्यानमुद्राको अंकित किया है जिसमें वे एक जंगलमें पाषाणकी सुन्दर शिलापर बैठे हुए स्व-स्वरूपमें निमग्न हैं। इस उद्धरणपरसे पाठक ग्रन्थकी भाषाका सहज ही अनुमान कर सकते हैं :—

"तत्थ सिलायले थक्कु जिणिंदो, संतु महंतु तिलोयहो वंदो।
पंच-महव्वय-उद्दय-कंधो , निम्ममु चत्त-चउव्विहबंधो।
जीवदयावरु संग-विमुक्को, णं दहलक्खणु धम्मु गुरुक्को।
जम्म-जरा-मरणुज्झिय दप्पो, बारस भेय तवस्स महप्पो।
मोहतमंध-पयाव-पयंगो , खंतिलया रुहणे गिरि तुंगो।
संजम-सील-विहूसिय देहो , कम्म-कसाय-हुआसण-मेहो ।
पुप्फंधणु वर तोमर धंसो, मोक्ख-महासरि-कीलणहंसो ।
इदियसप्पहं विसहरमंतो , अप्पसरूव-समाहि-सरंतो ।
केवलनाण-पयासण-कंखू , धाणपुरम्मि निवेसिय-चक्खू।
णिज्जिय सासु पलंबिय बाहो, निच्चल-देह-विसज्जिय बाहो।
कंचणसेलु जहा थिरचित्तो, दोधकछंद इमो बुह वुत्तो॥"

इसमें बतलाया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथ एक शिलापर ध्यानस्थ बैठे हुए हैं, वे सन्त, महन्त और त्रिलोकवर्ती जीवोंके द्वारा वन्दनीय हैं, पंच महाव्रतोके धारक हैं निर्ममत्व है, और प्रकृति, प्रदेश, स्थिति अनुभागरूप चार प्रकारके बंधसे रहित हैं। दयालु और संग (परिग्रह) से मुक्त है, दशलक्षणधर्मके धारक हैं। जन्म-जरा और मरणके दर्पसे रहित हैं। तपके द्वादश भेदोंके अनुष्ठाता है, मोहरूपी अंधकारके दूर करनेके लिये सूर्य समान है, क्षमारूपी लताके आरोहणार्थ वे गिरिके समान उन्नत है। जिनका शरीर संयम और शीलसे विभूषित हैं, जो कर्मरूप कषाय-हुताशनके लिये मेघ हैं। कामदेवके उत्कृष्ट वाणको नष्ट करनेवाले, तथा मोक्षरूप महासरोवरमें क्रीड़ा करनेवाले हंस है। इंद्रियरूपी विषधर सर्पोंके रोकनेके लिये मंत्र हैं, आत्मसमाधिमें चलने वाले हैं। केवलज्ञानको प्रकाशित करनेवाले सूर्य हैं, नासाग्रदृष्टि हैं, श्वासको जीतनेवाले हैं, जिनके बाहु लम्बायमान हैं। और व्याधियोंसे रहित जिनका निश्चल शरीर है। जो सुमेरुपर्वतके समान स्थिरचित्त हैं। इस समुल्लेख परसे भगवान् पार्श्वनाथकी अटल ध्यान-समाधिका जो कर्मावरणकी नाशक है, परिज्ञान हो जाता है।

इस ग्रन्थके रचयिता कविवर देवचन्द हैं। जिन्होंने इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें अपनी गुरुपरम्परा इस-प्रकार बतलाई है, इससे ज्ञात होता है कि कविने इस महाकाव्यकी रचना गुंदिज्ज नगरके पार्श्वनाथ मन्दिरमें निवास करते हुए की है। गुंदिज्जनगर दक्षिण प्रांतमें ही कहीं पर अवस्थित होगा। इसके सम्बन्धमें और कुछ ज्ञात नहीं हो सका। कविवर देवचन्द मूलसंघ देशीगच्छके विद्वान् वासव चन्द्रके शिष्य थे। उनकी गुरुपरम्परा निम्न प्रकार है :— श्रीकीर्ति, देवकीर्ति, मौनीदेव, माधवचन्द्र, अभयनन्दी, वासवचन्द्र और देवचन्द। ग्रन्थमें रचनाकाल दिया हुआ नहीं है जिससे यह बतलाना कठिन है कि यह ग्रंथ कब बना है क्योंकि तदविषयक ऐतिहासिक सामग्रीका अभाव है। ग्रंथकी यह प्रति सं० १४९८ के दुर्मति नाम संवत्सरके पूष महीनेके कृष्णपक्षमें अलाउद्दीनके राज्यकालमें भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिके पट्टाधिकारी भट्टारक प्रतापकीर्तिके समयमें देवगिरि महादुर्गमें अग्रवाल श्रावक पंडित गांगदेवके पुत्र श्री पासराजके द्वारा लिखाई गई है।

प्रशस्तिमें ऊपर जिस गुरुपरम्पराका उल्लेख किया गया है, उसका पूरा समर्थन अन्यत्र कहींसे भी प्राप्त नहीं हुआ। इस गुरुपरम्परामें अन्तिम नाम वासवचन्द्रका आया है। अबतक मुझे वासवचन्द्र नामके दो विद्वानोंका पता चला है। जिनमें एकका उल्लेख खजराहा के सं० १०११ वैशाख सुदी ७ सोमवारके दिन उत्कीर्ण किये गए जिननाथ मन्दिरके शिलालेखमे दिया हुआ है, जो वहांके राजा धंगके राज्यकालमे खोदा गया है।[1]

दूसरे वासवचन्द्रका उल्लेख श्रवणबेल्गोलाके शिलालेख नं० ५५ में पाया जाता है, जो शक संवत् १०२२ (वि० सं० ११५७) का है। उस लेखके २५वें पद्यमें बतलाया गया है कि वासवचन्द्रमुनीन्द्र स्याद्वाद विद्याके विद्वान् थे कर्कशतर्क करनेमें उनकी बुद्धि चलती थी। उन्होंने चालुक्य राजाकी राजधानीमे 'बालसरस्वति' की उपाधि प्राप्त की थी[2]। यदि इन दोनों वासवचन्द्रोंमेंसे कोई एक वासवचन्द्र उक्त देवचन्द्रके गुरु रहे हो तो देवचन्द्रका समय विक्रमकी ११वी या १२वी शताब्दी हो सकता है।

वीर-सेवा-मन्दिर

१—See Epigraphica Indica Vol. I Page 136.

२—वासवचन्द्रमुनीन्द्रो रुन्द्रस्याद्वादतर्क्क-कर्कश-धिषण :।
चालुक्यकटकमध्येबालसरस्वतिरिति प्रसिद्धि प्राप्त: ।२५।
—श्रवणबेलगोलाशिलालेख

५००) रु० के पाँच पुरस्कार

जो कोई विद्वान्, चाहे वे जैन हों या जैनेतर, निम्न विषयोंमेंसे किसी भी विषयपर अपना उत्तम लेख हिन्दीमें लिख कर या अनुवादित कराकर भेजनेकी कृपा करेगे उनमेंसे प्रत्येक विषयके सर्वश्रेष्ठ लेखकको १००) रु० बतौर पुरस्कारके वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टकी मार्फत सादर भेंट किये जाएंगे। जो सज्जन पुरस्कार लेनेकी स्थितिमे न हो अथवा उसे लेना नही चाहेंगे उनके प्रति दूसरे प्रकारसे सम्मान व्यक्त किया जायगा। उन्हे अपने इष्ट एव अधिकृत विषयपर लोकहितकी दृष्टिसे लेख लिखनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिए। प्रत्येक विषयका लेख फुलस्केप साइजके २५ पृष्ठों अथवा ८०० पंक्तियोसे कमका नही होना चाहिए और उसे ३१ दिसम्बर सन् १९५२ तक विज्ञापकके पास निम्न पतेपर रजिस्ट्रीसे भेज देना चाहिए। जो सज्जन किसी भी विषयकी पुरस्कारकी रकममे अपनी ओरसे कुछ वृद्धि करना चाहेगे तो वह वृद्धि यदि २५) से कमकी नही होगी तो स्वीकार की जायगी और वह बढी हुई रकम भी पुरस्कृत व्यक्तिको उनकी ओरसे भेंट की जाएगी। पुरस्कृत लेखोको छपाकर प्रकाशित करनेका वीरसेवा-मन्दिर-ट्रस्टको अधिकार होगा। विषयोंके नाम और तत्सम्बन्धी कुछ सूचनाएँ इस प्रकार है :—

१. समयसारकी १५वीं गाथा——

इस गाथाकी ऐसी व्याख्या होनी चाहिए जिसके द्वारा यह स्पष्ट हो जाय कि आत्माको अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य और अविशेष रूपसे देखनेपर सारे जिनशासनको कैसे देखा जाता है? उस जिनशासनका क्या रूप है जिसे उस द्रष्टाके द्वारा पूर्णत: देखा जाता है? और वह जिनशासन श्री कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति और अकलक जैसे महान् आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनसे क्या कुछ भिन्न है? यदि भिन्न नही है तो इन सबके द्वारा प्रति-पादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी सगति कैसे बैठती है? साथ ही यह भी स्पष्ट किया जाना चाहिए कि इस गाथामें 'अपदेससंतमज्झं' नामका जो पद पाया जाता है और जिसे कुछ विद्वान् 'अपदेससुत्तमज्झं' रूपसे भी उल्लेखित करते हैं, उसे 'जिनसासण' पदका विशेषण बतलाया जाता है और उससे द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुतका भी अर्थ लगाया जाता है, यह सब कहा तक सगत है अथवा पदका ठीक रूप क्या होना चाहिए? श्री अमृतचन्द्राचार्य इस पदके अर्थ-विषयमे मौन है और जयसेनाचार्यने जो अर्थ किया है वह पदमें प्रयुक्त हुए शब्दोंको देखते हुए कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है। एक सुझाव यह भी है कि यह पद 'अपवेससतमज्झं' (अप्रवेशमान्तमध्यं) है, जिसका अर्थ अनादिमध्यान्तहोता है और यह अप्पाणं (आत्मान) पदका विशेषण है, न कि 'जिनसासणं' पदका। शुद्धात्माके लिये स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्ड (६) में और सिद्धसेनाचार्यने स्वयम्भूस्तुति (प्रथम द्वात्रिंशिका १) मे 'अनादिमध्यान्त' पदका प्रयोग किया है। समयसारके एक कलशमें अमृतचन्द्राचार्यने भी 'मध्याद्यन्तविभागमुक्त' जैसे शब्दो द्वारा इसी बातका उल्लेख किया है। इन सब बातोको भी ध्यानमे लेना चाहिए।

एक बात और भी स्पष्ट होने की है और वह यह कि १४वी गाथामे शुद्ध नयके विषयभूत आत्माके लिये पाँच विशेषणोंका प्रयोग किया गया है, जिनमेंसे कुल तीन विशेषणोंका ही प्रयोग १५वी गाथामे हुआ है, जिसका अर्थ करते हुए शेष दो विशेषणोंको भी उपलक्षणके रूपमें ग्रहण किया जाता है; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि मूलकारका ऐसा ही आशय था तो फिर इस १५वी गाथामें उन विशेषणोको क्रमभग करके रखनेकी क्या जरूरत थी? १४वी गाथाके पूर्वार्धको ज्यों-का-त्यों रख देनेपर भी शेष दो विशेषणोको उपलक्षणके द्वारा ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु ऐसा नही किया गया, तब क्या इसमें कोई रहस्य है, जिसके स्पष्ट होने की जरूरत है?

२. श्री कुन्द कुन्द और समन्तभद्रका तुलनात्मक अध्ययन——

इस शीर्षक लेखमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और स्वामी समन्तभद्रके सभी उपलब्ध ग्रन्थोंका तुलनात्मक अध्ययन करके यह बतलानेकी जरूरत है कि दोनों आचार्य किस-किस विषयमें परस्पर क्या विशेषताको लिये हुए हैं ? दोनोंके दृष्टिकोणमें क्या कहीं कुछ अन्तर है ? और दोनोंके द्वारा प्रतिपादित जिनशासन क्या एक ही है अथवा उसमें कहीं कुछ भेद है ? यदि भेद है तो वह कहा पर क्या भेद है ? और मौलिक है या औपचारिक ? साथ ही, यह भी स्पष्ट करके बतलाना चाहिए कि दोनों आचार्योंके द्वारा जिनशासनकी तथा लोककी जो सेवाए हुई हैं वे अलग-अलग किस कोटि की और कितने महत्त्वकी हैं। दोनो आचार्योंके कथनोमे परस्पर समानता और असमानताको प्रदर्शित करनेवाली एक सूची भी साथमें रहनी चाहिए।

३. अनेकान्तको अपनाए विना किसीकी भी गति नहीं——

अनेकान्तको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अपनाये विना कैसे किसीकी भी गति नही बनती, इस बातको विशद करते और सक्षेपमें अनेकान्तका महत्व ख्यापित करते हुए, इस लेखमें यह स्पष्ट करके बतलानेकी खास जरूरत है कि कोई भी सर्वथा एकान्तवाद अथवा मत अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता। इसके लिये संसारके ऐसे कुछ प्रमुख सर्वथैकान्तवादी प्रचलित मतों तथा वादोको चुनकर यह सप्रमाण दिखलाना होगा कि वे कैसे अपने स्वरूपके प्रतिष्ठापक नही हो सकते और कैसे उनके द्वारा लोकका व्यवहार नही बन सकता। लोकव्यवहारको बनाये रखनेके लिये यदि वे दूसरे प्रकारकी कुछ कल्पनाए करते हैं तो अपने सैद्धान्तिक दौर्बल्यको प्रदर्शित करते हैं और प्रकारान्तरसे उस अनेकान्तवादको अपना रहे हैं जो सापेक्ष नयवादका विषय है। इस विषयका एक नमूना अनेकान्तके गत 'सर्वोदयतीर्थांक' मे पृष्ठ ११, १२ पर प्रकट किया गया है, उसे ध्यान में रखना चाहिए।

४. शुद्धि-तत्त्व-मीमांसा——

शुद्धिका मूल तत्त्व क्या है ? अशुद्धिका क्या स्वरूप है ? वह आत्मामें कहांसे तथा कैसे आती है और उसे कैसे अथवा किन उपायोसे दूर किया जा सकता है ? अशुद्धिको दूर करते हुए मानवको इसी जन्ममे तथा जन्मान्तरमे कितना ऊचा उठाया जा सकता है ? बाह्यशुद्धि और अन्तरगशुद्धिका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? दोनोंमे किसको कितना महत्व प्राप्त है ? और उनमेंसे प्रत्येकका अधिकारी कौन है ? इन सब बातोका सप्रमाण विवेचन एव स्पष्टीकरण इस लेखमें होना चाहिए और उसके लिये जैन-जैनेतर दोनो प्रकारकी दृष्टियोको सामने रखना चाहिए। विषयको पुष्ट करनेवाले कुछ प्रौढ उदाहरण भी साथमे सक्षेपतः प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

५. विश्व-शान्तिका अमोघ उपाय——

आजकल विश्वमे चारो ओर अशान्ति है और ऐसी अशान्ति है जैसी पहले कभी नहीं हुई। इस व्यापक अशान्तिका मूल कारण क्या है ? उसको दूर करनेका अमोघ उपाय कौनसा है ? और कैसे उस उपायको व्यवहारमे लाया जा सकता है ? इन्ही सब बातोका विवेचन एवं स्पष्टीकरण इस लेखका विषय है। इस लेखमें शान्तिके सिद्धान्तोंकी कोरी बाते ही न होनी चाहिएँ, बल्कि उनके व्यवहारकी ठीक दिशाका भी बोध कराना चाहिए। साथ ही, यह भी सुझाना चाहिए कि वर्तमानमें शातिके उस उपायको या उपाय-समूहको काममें लानेके लिये क्या-क्या बाधाएँ उपस्थित हैं और उन्हे कैसे अथवा किस व्यापक तरीकेसे दूर किया जा सकता है। इसमें भी जैन-जैनेत्तर दोनों दृष्टियोसे विचार होना चाहिए।

पुरस्कारदानेच्छुक
जुगलकिशोर मुख्तार
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

नोट—इस विज्ञप्तिको दूसरे पत्र-सम्पादक भी अपने-अपने पत्रोंमें देनेकी कृपा करे, ऐसी प्रार्थना है।

सम्पादकीय

१. तीन महीने बाद पुनः सेवामें——

आज मैं कोई तीन महीने बाद अपने पाठकोंकी सेवामें उपस्थित हो रहा हूँ। तीन महीनेकी इस अनुपस्थितिका कारण वह भयंकर तांगा-दुर्घटना थी जिसका १३ अप्रैलको देहलीके चावड़ी बाजारमें मुझे अचानक शिकार होना पड़ा था। इस दुर्घटनासे दाहिनी और बाईं दोनो तरफकी छह पसलियोकी हड्डिया टूट गई थी, रीढकी एक हड्डीमे तथा सिरमे भी कई जगह भारी चोटें आई थी और शरीरके दूसरे अंग——दोनों घुटने, हाथ, भुजाए, कंधे——भी अनेक चोटोसे अभिभूत हुए थे। इन सब चोटोके कारण मैं घटनास्थलपर ही बेहोश हो गया था और बेहोशीकी हालतमें ही इर्विन अस्पताल ले जाया गया था, जहा कुछ घंटोंके बाद मुझे होश आया था। वहां बेगौरी तथा लापर्वाहीका कुछ ऐसा वातावरण अनुभवमे आया जिससे मुझे मजबूर होकर दो दिन बाद अन्यत्र ऐक्स रे (X' Ray) कराते हुए, श्री सुखवीरकिशोरजीके अस्पतालमे जाना पडा, जहा घरका-सा आराम मिला और प्रेमके साथ चिकित्सा की गई। देहलीसे बाहर ले जाए जाने योग्य होनेपर मेरे भतीजे डा० श्रीचन्द संगल मुझे कार-द्वारा ता० ६ मई को एटा ले गये और वहा अपने पास रखकर उन्होने बडी सावधानी एव तत्परताके साथ मेरी चिकित्सा की, जिसमें स्थानीय सिविल सर्जन श्री पी. सी. टण्डनजीका भी सहयोग प्राप्त रहा, उसीका यह शुभ परिणाम है जो मैं फिरसे अपने पाठकोंकी सेवाके लिये प्रस्तुत हो रहा हू। इस प्रसंग पर जिन सज्जनोंने मेरी सेवाएं की है और जिन्होंने मेरे प्रति संवेदना व्यक्त की हैं उन सबका मैं हृदयसे आभारी हू।

उक्त दुर्घटनाजन्य चोटोंके कारण मुझे जिन कष्टो तथा वेदनाओका सामना करना पडा है उनका यहा उल्लेख करके मै अपने पाठकोका चित्त दुखाना नही चाहता, सिर्फ इतना ही कहना चाहता हू कि मैंने उन सब दुःखोको बड़ी शांति और समताभावके साथ सहन किया है——अपने चित्तमे यथाशक्ति संक्लेश-परिणामको आने नही दिया——यही मेरी सबसे बड़ी विजय रही है और यही चित्तपरिणति मेरे शीघ्र आरोग्य होनेमें प्रधान सहायक बनी है; अन्यथा, ७५ वर्षकी इस वृद्धावस्थामें इतनी भारी दुर्घटनाको झेल जाना आसान नही था। जान पड़ता है यह दुर्घटना एक सूलीके रूपमें उपस्थित हुई थी और धर्मके प्रतापसे सूलके रूपमे परिणत होकर चली गई तथा कितना ही पाठ पढा गई है। अब मैं एक प्रकारसे अपना नया जन्म हुआ ही समझता हू। अस्तु।

मेरी इस अस्वस्थताके कारण अनेकान्तकी ४थी किरण समय पर नही निकल सकी, जिसका मुझे खेद है। मै तो समझता था कि मुझसे तथा अनेकान्तसे प्रेम रखनेवाले समाजके कुछ विद्वज्जन इस कठिन अवसरपर अपना खास तौरसे सहयोग प्रदान करेंगे और पत्रको लेट नही होने देंगे, परन्तु आफिससे प्रेरणात्मक पत्रोंको पाकर भी वे अपनी परिस्थितियो के वश समय पर कोई लेख नही भेज सके। चौथी किरणका समय टलनेपर मैंने चोथी और पाचवी किरणको संयुक्तरूपमें निकालनेका विचार स्थिर किया और ता० ४ जुलाई को मैटरप्रेसमे भेज दिया। आशा थी २० या २२ जुलाई तक स० कि० प्रकाशित हो जायगी परन्तु दुर्भाग्यसे प्रेसकी मशीनके खराब हो जाने आदिके कारण १५ दिन तक मैटर बिना कम्पोजके ही पडा रहा और इससे यह सयुक्त किरण भी कुछ लेट हो गई। ऐसी हालत मे पाठकोको जो प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पडा है उसका मुझे खेद है। आशा है परिस्थितियोकी विवशताकी ओर जब पाठक देखेंगे तब अपने उस कष्टको भुला देंगे।

२. पुरस्कारोंकी योजना——

अपने स्वास्थ्य-लाभकी खुशी मे मैंने ५००) रु० की एक निजी रकम निकाली है, जिसे मैं विद्वानोंको पुरस्कारके रूपमे देना चाहता हू। पुरस्कारोकी एक योजना इसी पत्रमे अन्यत्र प्रकाशित है। आशा है विद्वज्जन उन्हे प्राप्त करने का शीघ्र ही प्रयत्न करेंगे। इससे विद्वानोको जहा अवकाशके समयमें काम मिलेगा वहां उनकी प्रतिभाको चमकनेका अवसर भी प्राप्त होगा और वे समाज तथा देश-हितके लिये आवश्यक ठोस साहित्यका निर्माण कर लोकमे यशस्वी हो सकेंगे।

वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टके उद्देश्योमे 'योग्य विद्वानोको उनकी साहित्यिक सेवाओ तथा इतिहासादि-विषयक विशिष्ट खोजोके लिये पुरस्कार या उपहार देने' का भी एक उद्देश्य है। इस उद्देश्यकी ओर ट्रस्ट कमेटी अपनी परिस्थितियोके अनुसार कब ध्यान देने में समर्थ होगी यह तो भविष्य-

की बात है, परन्तु मैंने अपनी ओरसे कुछ पुरस्कारोंकी योजना कर उन्हें वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टकी मार्फत देनेका जो विधान किया है उसका एक लक्ष्य यह भी है कि मेरे जीवनमें ही पुरस्कारोंकी परम्परा चालू हो जाय और ट्रस्टकमेटी को भविष्यमें इस विषयके आयोजनकी यथोचित प्रेरणा मिलती रहे।

मेरे पास साहित्य, इतिहास और तत्त्व-सम्बन्धी कितने ही ऐसे विषय हैं जिनके लिए पुरस्कारोकी योजना होनी चाहिए। अतः जो भी सज्जन अपनी तरफसे कुछ रकम पुरस्कारोंके रूपमें देना चाहें वे मुझसे (अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर के पते पर) पत्र व्यवहार करें। उनके पुरस्कार की रकमके लिये योग्य विषय चुन दिया जायगा और उसकी विज्ञप्ति भी पत्रोंमें निकाल दी जायगी। जो बन्धु अपनी ओरसे किसी पुरस्कार की योजना न करना चाहे वे दूसरोंके द्वारा आयोजित पुरस्कारकी रकममें कुछ वृद्धि कर सकते हैं, जो २५) से कमकी न होनी चाहिए, और वह बढ़ी हुई रकम भी उन्हींकी ओरसे पुरस्कृत व्यक्तिको दी जावेगी।

३. भारत-सरकारके ध्यान देने योग्य—

विदेशी राजसत्ता अंग्रेजी हुकूमतके भारतीय राजसिंहासनसे अलग हो जानेके बाद विदेशी भाषा अंग्रेजीको भी राजकाजसे अलग कर देनेकी चर्चा चली और यह समझा गया कि इस भाषाका राजकाजमें प्रमुखताके साथ प्रचलित रहना एक प्रकारकी विदेशी गुलामी होगा और वह भारतीय गौरवके अनुकूल नही होगा। अतः ससदके द्वारा १५ वर्ष की अवधिके भीतर अंग्रेजी भाषाको राजकाजसे पूर्णतः अलग कर देनेका विधान किया गया।

विदेशी भाषाकी तरह विदेशी महीनो तारीखों दिनों तथा साल-सन् का राजकाजमें प्रचलित रहना भी भारतीय शासनके लिये कोई गौरवकी वस्तु नही, वह भी गुलामीका चिन्ह है और इसलिये उसे भी दूर किया जाना चाहिए। स्वतन्त्र भारतके लिये उनका व्यवहार शोभाजनक नही जिनके व्यवहारको विदेशी शासनके साथ उसपर लादा गया था। भारतके सदा कालसे जो अपने श्रावणादिक महीने तथा तिथि आदिक हैं उन्हीका व्यवहार राजकाजमें भी होना चाहिये।

रही साल-सम्वत् की बात, जनता तो देशी महीनों आदि के साथमें अपनी इच्छानुसार विक्रम, शक, वीरनिर्वाण और बुद्धपरिनिर्वाणादि चाहे जिस सम्वत का उल्लेख करती रहती है, परन्तु भारतीय राजशासनके लिये एक सम्वत् का होना जरूरी है। वह विक्रम सम्वत् हो सकता है, अशोकका राज्यकाल भी हो सकता है जिसके चक्रको भारतके राष्ट्रीय ध्वजमें स्थान दिया गया है, और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तका शासनकाल भी हो सकता है जिसने सबसे पहले विदेशियोके आक्रमणसे भारतकी रक्षा की थी और विदेशियोंकी राजसत्ताको भारतमें जमने तथा पनपने नहीं दिया था। इन सम्वतोपर गहरा विचार करके जिसको अधिक उचित और उपयुक्त समझा जाय उसको अपनाया जा सकता है। देशी महीनों आदिके व्यवहरार्थ और विदेशी महीनों आदि के व्यवहारको बन्द करने के लिये १५ वर्ष जितनी किसी लम्बी अवधिकी भी जरूरत नही है—उसे ५-७ वर्षके भीतर ही अमली जामा पहनाया जा सकता है। उसके लिये प्रस्ताव-द्वारा एक छोटी अवधि नियत हो जानी चाहिए।

यहांपर एक खास बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि प्राचीनतम भारतमे वर्षका प्रारम्भ श्रावण-कृष्ण प्रतिपदासे होता था, जो वर्षाऋतुका पहला दिन है। वर्षाऋतुसे प्रारम्भ होनके कारण ही साल (year) कानाम 'वर्ष' पड़ा जान पड़ता है, जिसका अन्त आषाढी पूर्णिमाको होता है। इसीसे आषाढी पूर्णिमाके दिन भारतमें जगह जगह अगले वर्षका भविष्य जाननेके लिये ज्योतिष और निमित्त-शास्त्रोके अनुसार पवनपरीक्षा की जाती थी, जो आज तक प्रचलित है। सावनी आषाढीके रूपमें किसानोका फ़सली साल भी उसी पुरानी प्रथा का द्योतक है, जिसे किसी समय पुनरुज्जीवित किया गया है। श्रावणकृष्ण-प्रतिपदासे वर्षके प्रारम्भसूचक कितने ही प्रमाण मिलते हैं जिनमेंसे एक बहुत प्राचीन गाथा खास तौरसे उल्लेखनीय है, जिसे विक्रमकी ८ वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य वीरसेनने अपनी धवला और जयधवला नामकी सिद्धान्तटीकाओमें उद्धृत किया है, और वह इस प्रकार है :—

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्हि।

इसमें वर्षके पहले महीनेको श्रावण और पहले पक्षको बहुल (कृष्ण) पक्ष बतलाया है और उस पक्षकी प्रतिपदा-को पूर्वान्हिके समय अभिजित् नक्षत्रमें एक तीर्थकी उत्पत्ति-का उल्लेख किया है। इससे साफ जाना जाता है कि पहले वर्षका आरम्भ यहां श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको हुआ करता था। यही प्राचीन भारतका नव-वर्ष-दिवस (न्यू ईयर्स डे) था,

जिसपर भारत कृषिप्रधान देश होनेके कारण खूब खुशियां मनाया करता था ।

ऐसी हालतमें स्वतन्त्र भारतका वर्ष भी श्रावण कृष्ण प्रतिपदा (सावनवदि१) से प्रारम्भ होना चाहिए, उसीको सर्वत्र राजकाजमें स्थान दिया जाना चाहिए और उसी दिन नये वर्षकी छुट्टी रखनी चाहिए । इससे किसानोंको भी विशेष सन्तोष मिलेगा, जिनकी संख्या सबसे अधिक है ।

सावनवदि एकमसे वर्षका प्रारम्भ करने पर भी उसके साथ साल सम्वत् जो चाहे जोडा जा सकता है, जैसाकि ऊपर प्रकट किया जा चुका है । यदि किसी व्यक्तिविशेष-के नामवाले सम्वतको न अपनाया जाय तो दूसरे स्वतन्त्र सम्वत् या वर्षकी एक योजना और हो सकती है और वह तबसे होनी चाहिए जबसे किसी महान पुरूषने सावन वदि एकमको सुव्यवस्थित रूपसे अहिंसाकी प्रथम देशना दी हो और उसका नाम अहिंसासंवत् या वर्ष रखना चाहिए । जिस अहिंसाके प्रतापसे वर्तमानमें गांधीजीने भारतदेश-को स्वराज्यकी प्राप्ति कराई है उसके नाम पर संवत प्रचलित करना कृतज्ञताका एक बडा भारी सूचक होगा । ऐसी सुव्यवस्थित अहिंसा-देशना को आज २५०८ वर्ष हो चुके है और गत श्रावणीय-प्रतिपदासे २५०९ वां वर्ष चालू है । इसी अहिंसात्मक देशनावाले तीर्थकी उत्पत्तिका उल्लेख उक्त गाथा में है । ऐसे अहिंसा-सम्वत् या वर्षका अपने यहां चालू करने में भारतका गौरव है, उसका यह नया आविष्कार होगा और अन्य प्रचलित सन्-सम्वतोंकी अपेक्षा वह सख्यामें भी बढा चढा रहेगा । अतः इस विषयपर भारत-सरकारको पूरी तौरसे ध्यान देना चाहिए ।

दुनियाकी नज़रोंमें

वीरसेवामन्दिरके कुछ प्रकाशन

१. पुरातन-जैनवाक्य-सूची

१. डा. हीरालाल जैन एम ए, डी लिट्, नागपुर—

"पुरातन जैन वाक्यसूचीकी प्रति पाकर बडा ही हर्ष हुआ । ..... आपने साहित्य अन्वेषकोंके हाथमें एक बहुत ही उपयोगी बहुमूल्य साधन दे दिया है जिससे उनकी न जाने कितने समय और शक्तिकी बचत हो सकेगी व खोजका कार्य वेगसे गतिशील हो सकेगा ; आपकी प्रस्तावना तो अध्ययनकी वस्तु है जो समयसाध्य है । . .आपने जो परिश्रम किया है उसका तो कोई पार ही नही । उसके द्वारा आपने साहित्यिकोंको अपना चिरऋणी बना लिया है । × × ×इस अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाके लिये मेरा विनीत अभिवादन स्वीकार करें ।"

२. डा. ए एन. उपाध्याय एम. ए, डी. लिट्, कोल्हापुर—

"Just on the Diwali day I received the copy of the Puratan-Jainvakya-Suchi. It is a sumptuous volume with a solid and learned Introduction. It will definitely give you a longer life and prove a valuable instrument of research. Please accept my respectful greetings."

३ पं कैलाशचन्द जैन शास्त्री, बनारस—

"इस (पुरातनजैन-वाक्यसूची) में प्राकृतभाषाके ६४ दिगम्बर जैनग्रथोंके पद्योंकी अकारादिक्रमसे अनुक्रमणी दी गई है । प्रारंभमें लगभग दोसौ पृष्ठकी प्रस्तावना है उसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंके विषयमें गवेषणापूर्ण प्रकाश डाला गया है । श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारके नामसे और उनकी सेवाओंसे जैनसमाज सुपरिचित है । मुख्तार सा. जैनसाहित्य-विषयक इतिहासके आचार्य हैं । इस विषयमें उनकी सूझ-बूझ और गवेषणा निराली है । जैनाचार्योंके विषयमें उन्होंने जो खोजें की है, वे अनुपम हैं । इसी ग्रन्थकी प्रस्तावनामें आचार्य कुन्दकुन्द, यतिवृषभ, सिद्धसेन, नेमिचन्द्र आदिके विषयमें उन्होंने जो कुछ लिखा है वह जैन इतिहासके लिए उनकी अनुपम देन है । आचार्य सिद्धसेनको एक पक्ष अभी तक श्वेताम्बरपरम्पराका ही मानता आता है । किन्तु मुख्तार सा. ने बड़ी प्रांजल युक्तियोंके आधारपर सन्मतिसूत्रके कर्ता प्रसिद्ध सिद्धसेनको दिगम्बर आम्नायका विद्वान् प्रसिद्ध

किया है। सिद्धसेन-विषयक उनका विस्तृत निबन्ध उनकी गवेषणापूर्ण बुद्धि और श्रमका साक्षात् प्रतीक है। ××× अधिक न लिखकर हमारा ज्ञान-प्रेमियोंसे इतना ही निवेदन है कि इस पुस्तकको खरीदकर अपने-अपने भडारोंमें रक्खे और बडे-बड़े इतिहासज्ञ अजैन विद्वानों तथा बड़े-बड़े पुस्तकालयोंको अर्पण करे, वे ही इस पुस्तकका यथेष्ट उपयोग और समादर कर सकते है। हम स्वय तो सस्कृत पद्यानुक्रमणीकी प्रतीक्षामें हैं।"

४. सैक्रेटरी, जैन रिसर्च इन्स्टिटयूट, यवतमाल—

"—The book is the most valuable and important addition to our collection and very useful for the use while working in the field of research regarding our religion, its history and literature alike."

५. श्री जमनालाल जैन, सम्पादक "जैनजगत"—

"—उन (पं. जुगलकिशोर मुख्तार) की आकाक्षा थी कि इतिहासके विद्यार्थियो और अध्ययनशील अन्वेषकोंके कार्यमें, सुविधाकी दृष्टिसे अकारादिक्रमसे पद्यानुक्रमणिकाका रहना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य कठिन है। परन्तु मुख्तारजी धुनके पक्के और लगनके सच्चे थे कि यह पर्वत-सा भारी कार्य भी वे सम्पन्न कर सके। भूमिका काफी विस्तृत, सूक्ष्म अध्ययनसे परिपूर्ण और इतिहासके क्षेत्रमे अनुपम मानी जायेगी। इसमें प्राकृत-भाषाके ग्रथो, ग्रथकारो आदिका परिचय ऐतिहासिक तथा भाषा-शास्त्रकी दृष्टिसे दिया गया है। अन्य विद्वानोंके मतोंपर भी पर्याप्त विचार किया गया है। मुख्तारसाहबका यह कार्य उनकी कीर्तिको बनाए रखनेके लिए दीपस्तम्भके समान समझा जायगा। साहित्य और इतिहासके क्षेत्रमें इस आदर्श और मल्यवान सेवाके लिए मुख्तारजी न केवल अभिनन्दन बल्कि श्रद्धाके पात्र है। प्रस्तुत ग्रंथ बडी-बडी लाइब्रेरियो, विश्वविद्यालयों और भडारोंमें रहना ही चाहिए।"

६. डा. कालीदास नाग एम ए, डी लिट्, कलकत्ता—

"The Puratana-Jainvakya-Suchi, based on 64 standard works of the Digambar Jains in Prakrit and Apabhransh, is now presented to the public, the Hindi Introduction of which is full of his (Pt. Jugal Kishore Mukhtiar's) valuable researches in Jain History, Literature and Philosophy. So I recommend the Puratana-Jainvakya-Suchi and······to the scholars and libraries of India and to the Indological Departments of big foreign Universities, interested in Indian religion and philosphy."

२. आप्त-परीक्षा

१ श्री जमनालाल जैन, सम्पादक "जैनजगत" वर्धा—

"इस (आप्तपरीक्षा) ग्रथमें कुल १२४ कारिकाएं हैं और उन्हीकी विस्तृत टीका भी। आप्त अर्थात् 'ईश्वर' की परीक्षा इस ग्रथका मूल उद्देश्य है। 'ईश्वर' यों तो एक छोटा-सा और जाना-बूझा शब्द है, परन्तु अर्थ और व्याख्याकी दृष्टिसे कठिन भी उतना ही है। इस एक शब्द ने बडे-बड़े प्रकाड विद्वानोको हजारो वर्षोंसे उलझा रखा है। विभिन्न दर्शनोंमें ईश्वरसबधी भिन्न-भिन्न मान्यताए है और सब एक दूसरेका खडन भी करते रहते है। आचार्य विद्यानन्दने जैनदर्शनमें मान्य ईश्वरके सर्वज्ञता, वीतरागता, और हितोपदेशिता आदि गुणोंकी अन्य दर्शनोंकी मान्यताओं-को आलोचनाके साथ परीक्षा और प्रतिष्ठा की है। प्रारभमे प कैलाशचन्दजीका प्राक्कथन है और सम्पादककी (प दरबारीलाल न्यायाचार्य) की विद्वता तथा खोजपूर्ण लम्बी प्रस्तावना है। प्रस्तावनामें दार्शनिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिसे ग्रंथ, ग्रथकार आदिपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। बादमें कुछ परिशिष्टोंमें सुविधाके लिए कारिका-अनुक्रमणिका, ग्रथकारोकी सूची, समय आदिका निर्देश उपयोगी हुआ है। हिंदी अनुवाद उत्तम हुआ है। ऐसे महान् दार्शनिक ग्रथको प्रकाशमे लानेके लिये सम्पादक और प्रकाशक धन्यवादार्ह है।"

२. पं वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सम्पादक 'जैनबोधक' शोलापुर—

"श्री महर्षि विद्यानंदकृत इस (आप्तपरीक्षा) महत्वपूर्ण ग्रथका संपादन व हिंदी अनुवाद प दरबारीलालजी न्यायाचार्य कोठियाने किया है।·········न्याय ग्रथकी हिंदी टीका करना बडा ही कठिन कार्य है तथापि सम्पादकजीने बहुत श्रमसे यह कार्य किया है। कही-कही पाठ-भेद भी दिये गये है। निक्षप्त पाठोंका भी सकेत दिया गया है।······वीर सेवा-मन्दिर द्वारा ऐसे ग्रंथोंका प्रकाशन होता है जिससे साहित्य

संसारमें बड़ा ही उपकार हो रहा है। छात्रोंको अध्ययन करनेके लिए इस संस्करणका बहुत ही अधिक उपयोग होगा।..............हर एक ग्रंथ-भंडारोंको एवं स्वाध्याय-प्रेमियोंको यह ग्रंथ अवश्य मंगाना चाहिये।"

३. डा. डब्ल्यु. शुब्रिंग (W. Schubring) हैम्बर्ग (जर्मनी)–

"The आप्तपरीक्षा with its survey of various standard systems can not but attract the greatest interest of all students of Jainism as well as of Indian thought in general. Should there be an occasion, I shall certainly not forget to mention these valuable products of your scholarly zeal."

४. श्री के के हैंण्डिक, एम ए, वाइस-चांसलर, गोहाटी यूनिवर्सिटी गोहाटी (आसाम)—

"The new edition of Vidyananda's Aptapariksa prepared by Pandit Darbarilal Jain is a valuable contribution to the study of Indian Philosophical text. Students will be grateful for this exhaustive edition with a learned Introduction and a translation in Hindi with several appendices. The text is not a very easy one, and the translation appears to be lucid and can be followed by students of Sanskrit even with a little knowledge of Hindi. . . . . . A detailed exposition of Vidyananda's treatment of Jaina doctrines and those of the other schools of Indian thought will advance our knowledge of the cross-currents in Indian philosophical literature."

३. स्तुति-विद्या

१. श्री जमनालाल जैन, सम्पादक "जैनजगत" वर्धा–

"दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य समन्तभद्रने दर्शन, तर्क, आचार और भक्ति आदि सबधी गभीर और मार्मिक साहित्य-का सृजन किया था। उनका साहित्य भारतीय वाङ्मयमें अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्रस्तुत स्तुतिविद्या या जिन-शतक ग्रंथमे उन्होने चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति या भक्ति की है। भक्ति अधिकतर भावना-प्रधान होती है। किन्तु आचार्य समन्तभद्र स्वभावत: तार्किक थे। तर्ककी चट्टानोंको लांघते-लांघते ही वे भक्तिके द्वारपर पहुचे है। कुल मिलाकर ११६ श्लोकोंमें आचार्यजीने अलंकार, रस-सौष्ठव और भाव-व्यंजनाका जो चमत्कार और पांडित्य बताया है, वह आज भी ज्ञानियोंके लिये चिंतन-का विषय है। प्रस्तावना पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने, ऐतिहासिक शोधों और प्रमाणोंके आधारपर परिश्रमपूर्वक लिखी है और सचमुच आचार्य समन्तभद्रपर लिखनेके वे ही अधिकारी भी है। अनुवाद ठीक हुआ है छपाई-सफाई उत्तम।"

२. डा हीरालाल जैन, एम ए. डी लिट्, नागपुर—

"(स्तुति विद्या) का पाठशोधन और अर्थ-विस्तार सावधानीपूर्वक अच्छी रीतिसे हुआ है। और आपकी प्रस्तावनाने ग्रथको चमका दिया है। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाके लिये मेरा विनीत अभिनन्दन स्वीकार करें।"

३. श्री मा ज भीसीकर एम ए, न्यायतीर्थ, सम्पादक 'सन्मति' शोलापुर—

"समन्तभद्राचार्य-विरचित 'स्तुति-विद्या' अर्थात् 'जिन-स्तुति-शतक' या चित्रालंकारपूर्ण काव्याचें वसुनन्दि आचार्य-कृत संस्कृत टीकासहित झालेले नवें भाषांतर विशेष उल्लेखनीय आहे, सागरचे विद्वान् साहित्याचार्य पं पन्नालालजी 'वसंत' यांनी अत्यंत परिश्रम घेऊन आधुनिक पद्धतीने टिपणी, विशेषार्थ व अलंकाराचीं विविध चित्रें देऊन हें भाषांतर तयार केलें आहे। व मुख्तारजींनी आपली ३१ पानी अभ्यासपूर्ण प्रस्तावना त्याम जोडून हे, अत्यंत दुर्गम काव्य रसिकांना सुगम करून ठेवलें आहे। विद्वत्संसार त्यांचा या चिर-कांक्षित उपकृती बद्दल सदैव ऋणी राहील।"

४ श्री के के हैण्डिक, एम ए., वाईस-चासलर, गोहाटी यूनिवर्सिटी, गोहाटी (आसाम)—

"—The first edition of the work was published nearly forty years ago, and the new edition reflects great credit on Pandit Pannalal Jain who has re-edited the work with the commentary of Vasunandin and a Hindi translation. Samantabhadra is better known as a great exponent of Jaina philosophical and religious tenets, and is earlier, probably much earlier than Akalanka who is known to have flourished in the seventh century A. D. The Stutividya is a

poetical work in 116 verses in praise of the twenty-four Tirthankaras and employs throughout-the citralankaras such as Murajabandha, Ardhabhrama and the different varieties of Yamakas etc. The use of these devices in a religious poem by such an early author helps to explain their recurrence in Mahakavyas, and bears witness to the mastery of the intricacies of the Sanskrit language expected of the poets..........Our thanks are due to Pandit Jugal Kishore Mukhtar well known for his researches in *Jaina Sanskrit literature, for his learned* introduction to the poem."

४. स्वयम्भूस्तोत्र

१. प. कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री, बनारस—

"आ. समन्तभद्र-प्रणीत स्वयभूस्तोत्र एक ऐसा महत्व-पूर्ण स्तोत्र है जिसमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुतिके आधारसे अनेकान्तवादका, नयवाद, प्रमाणवादका, सप्तभंगीका, तथा स्तुति और पूजनके महत्व, उद्देश्य आदिका गभीर विवेचन है। अनुवादकके शब्दोंमें इसमें जैन ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगकी त्रिवेणी प्रवाहित है।.........

......मुख्तार सा ने इसका अनुवाद बहुत ही नपे-तुले शब्दोंमें किया है। यों तो इसके विवेचनमें एक बृहत्काय ग्रंथ लिखा जा सकता है इतना प्रमेय इस स्तोत्रमें भरा हुआ है। अनुवाद सुन्दर है और ग्रंथको समझनेमे सहायक है। प्रारभमें सौ पृष्ठकी प्रस्तावना है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें स्तोत्रका विवेचन और विश्लेषण अनेक दृष्टियोंसे किया गया है।.... ....इसके पढ़नेसे स्तोत्रके हृदयकी पूर्णरूपरेखा पाठककी दृष्टिमें अंकित हो जाती है।......... स तरह इसके सपादनमें काफी श्रम किया गया है।.........पुस्तक संग्राह्य है।"

२. पं. चैनसुखदास, न्यायतीर्थ, सम्पादक 'वीरवाणी' जयपुर—

"जैन वाङ्मयमें स्वामी समन्तभद्राचार्यकी रचनाओंका अत्यंत आदरणीय स्थान है। उनकी आश्चर्यकारिणी प्रतिभा-के द्वारा प्रसूत यह स्वयंभूस्तोत्र निःसन्देह संस्कृत वाङ्मयका अनुपमेय ग्रंथ है। इसमें आदीश्वरसे महावीर चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन है। पर ग्रंथकर्ताने इस स्तवनके रूपमें समूचे जैन वाङ्मयका सार निचोड़कर रख दिया है। यह एक ही ग्रंथ प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका स्वरस है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे सरस्वती स्वयं ही बोल रही है। इसके हिंदी अनुवादक मुख्तार साहब श्रीसमन्तभद्र-भारतीके गंभीर एवं तलस्पर्शी अध्येता हैं। आचार्यश्रीकी रचनाओं एवं उनके परिचयके विषयमें अभी-तक मुख्तार साहबने जितना लिखा है संभवतः उतना किसीने भी नहीं लिखा। इसके लिये उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है। इस वृद्धावस्थामें भी माता सरस्वतीकी सेवाके लिए वे जो कुछ कर रहे हैं वह हर एकके लिये अनुकरणीय है।......स्तोत्रके प्रत्येक पद्यको पढते समय रचयिताकी लोकोत्तर-प्रतिभा जैसे आंखोंके सामने नाचने लगती हो। यह हिंदी अनुवाद भी मूलग्रंथके अनुरूप ही हुआ है।.......प्रारंभमें ८२ पृष्ठकी प्रस्तावना और २४ पृष्ठका समन्तभद्रका सक्षिप्त परिचय लगा देनेसे ग्रंथकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। परिशिष्टमें स्वयभूस्तवनछद सूची और अर्हत्सबोधन-पदावलि भी लगा दी गई है। पुस्तक प्रत्येक दृष्टिसे उपादेय है। प्रत्येक मन्दिर और पुस्तकालयमें इसकी एक-एक प्रति अवश्य चाहिए।"

३. श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, सम्पादक 'ज्ञानोदय' बनारस—

"इस स्तोत्रमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करते हुए स्वामी समन्तभद्रने जैनागमका सार एव तत्त्वज्ञान गागरमें सागरकी तरह भर दिया है। और खबी यह है कि जहा श्रद्धालु आत्मा-स्तवन करते हुए भक्ति-विभोर हो उठता है, वहां तत्त्व-चिन्तन करते हुए आत्मलीन हो जाता है। इस ग्रंथमें भक्तियोग, ज्ञानयोग, और कर्मयोगकी निर्मलधाराएं इस कलापूर्ण ढंगसे एकाकार हुई है, कि समन्तभद्राचार्यके बनाये इस संगममें जो एकबार डुबकी मार लेता है, कृतकृत्य ो जाता है।.......स्तोत्रका अनुवाद भी मुख्तार साहबने आत्म-विभोर होकर किया है। एक-एक शब्दको सरल और सुन्दर ढंगसे व्यक्त किया है। अनुवादके अतिरिक्त १०६ पृष्ठोंमें ग्रंथकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना और ग्रंथ-कर्ताका परिचय जिस खोज और अध्यवसायसे दिया है, वह ग्रंथके स्वाध्यायसे ही विदित हो सकता है।"

४. प. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सम्पादक "जैन-बोधक" शोलापुर—

"—जैन शासनके प्रभावक आचार्य स्वामी समन्तभद्र-के द्वारा विरचित स्वयम्भूस्तोत्र प्रसिद्ध है जिसमें २४ तीर्थ-

करोंकी स्तुति अत्यत भावपूर्ण है। इतना ही नही इन स्तुतियोंमें जैनागमका दार्शनिक अंश भी कूट-कूटकर भरा है। प्रकृत ग्रथमें मुख्तारजीने उस स्वयंभूस्तोत्रका मलसहित अनुवाद प्रकाशित किया है। अनुवाद अत्यत स्पष्ट व सरल होनेके कारण सर्वसाधारण जनताको समझनेमें सरलता हो गई है। किसी भी स्तोत्रके अर्थको समझकर पाठ करनेमे ही उसका यथार्थ फल मिलता है। ग्रंथमें स्तोत्र और स्तोत्रकार समन्तभद्र स्वामीके परिचय, इतिहास, आदिके सबंधमें ऊहापोहात्मक विस्तृत प्रस्तावना १०६ पृष्ठोंमें है। इस दृष्टिसे ग्रथकी उपादेयता और भी बढ़ गई है। अंतमें स्वयभू स्तोत्रगत स्तवन-छदसूची और श्लोकानुक्रमणिका भी दी गई है। पुस्तक संग्रह करने एव पढ़ने योग्य है।"

५. ब्र गुलाबचन्द जैन, स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़--

"आपका त्रियोगविषयक स्वयभूस्तोत्र पढकर अत्यानन्द हुआ। प्रस्तावना लिखनेमे आपने सर्वथा योग्य (श्रम) किया है। यह प्रस्तावना सचमुच सर्वोत्तम है।"

५. युक्त्यनुशासन

१ प्रो. महेन्द्रकुमार, न्यायाचार्य, हिंदू विश्वविद्यालय काशी—

"युक्त्यनुशासन-जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रथका सुन्दरतम अनुवाद समन्तभद्र स्वामीके अनन्यनिष्ठ भक्त, साहित्य-तपस्वी प. जुगलकिशोरजी मुख्तारने जिस अकल्पनीय सरलतासे प्रस्तुत किया है, वह न्याय-विद्याके अभ्यासियोंके लिये आलोक देगा। सामान्य-विशेष युतसिद्धि-अयुतसिद्धि, क्षणभगवाद, सन्तान आदि पारिभाषिक दर्शनशब्दोका प्रामाणिकतासे भावार्थ दिया है। आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारकी यह एकान्त साहित्य-साधना आजके मोल-तोलवाले युगमें भी महगी नही मालूम होगी, जब वह थोड़ा-सा भी अतर्मुख होकर इस तपस्वीकी निष्ठाका अनुवादकी पंक्ति-पंक्ति पर दर्शन करेगा। वीरसेवामन्दिरकी ठोस साहित्य-सेवाएं आज सीमित साधन होनेसे विज्ञापित नही हो रही हैं पर वे ध्रुवताराए हैं,जो कभी अस्त नही होते और देश और कालकी परिधियां जिन्हे धूमिल नहीं कर सकती।"

२. प. कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री, बनारस—

"युक्त्यनुशासन स्वामी समन्तभद्रकी महनीय कृति है। इसमें ग्रथकारने ६४ पद्योंके द्वारा अबाधित वस्तुतत्त्वका निरूपण करके वीर प्रभुके तीर्थको ही सर्वोदय तीर्थ सिद्ध किया है। ग्रंथ अतिगहन है इसीसे अभीतक हिंदीमें इसका कोई अनुवाद नहीं हो पाया था। मुख्तार साहबने इसके हिंदी अनुवादको प्रस्तुत करके तथा वीरसेवामन्दिरने उसे प्रकाशित करके एक बहुत बड़े अभावकी पूर्ति की है। ग्रंथका प्राक्कथन न्यायाचार्य पंडित महेन्द्रकुमारजीने लिखा है। उन्होंने मुख्तार सा. के अनुवादको सुन्दरतम, प्रामाणिक और सरल बताया है। वास्तवमें दर्शन-शास्त्रकी गुत्थियोंसे ओत-प्रोत ग्रथका हिंदी-अनुवाद करना सरल कार्य नही है। मुख्तार सा ने अपने अनुवादमें प्रत्येक पद्यके रहस्यको अच्छी तरह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। ग्रथके आरंभमें मुख्तारसा की छतीस पृष्ठकी प्रस्तावना भी है जिसमे ग्रंथ तथा ग्रथकारके विषयमें ोचक प्रकाश डाला गया है। ग्रथ सग्राह्य है, प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमीको इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये।"

३. प चैनसुखदास, न्यायतीर्थ, सम्पादक 'वीरवाणी', जयपुर—

"—भगवान् महावीरकी स्तुतिस्वरूप यह (युक्त्यनुशासन) ग्रथ जैनागम के दार्शनिक सिद्धातोंका गभीर हृदयाकर्षक एव विश्लेषणात्मक विवेचन करने वाला है। .... हम इस स्तोत्रको स्तोत्रोंका सम्राट् कह सकते है। समूचे सस्कृत वाङ्मयमें यदि इसकी सानीका दूसरा कोई स्तोत्र हो सकता है तो वह इसी कविकी दूसरी रचना स्वयभू स्तोत्र ही हो सकता है। ऐसे महिमामय स्तोत्रका हिंदी अनुवाद करके आदरणीय मुख्तार साहबने हिदी पाठकोका बडा उपकार किया है। ग्रथके प्रारभमें २४ (१२) पृष्ठोंकी प्रस्तावना और २४ पृष्ठोका समन्तभद्रका संक्षिप्त परिचय देकर इसे और भी उपयोगी बना दिया है।"

४. श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय, सम्पादक, 'ज्ञानोदय', काशी—

"कहनेको इस ग्रथमें स्वामी समन्तभद्राचार्यने वीर प्रभुका स्तवन किया है। लेकिन वे किस धर्मके प्रवर्तक थे? कल्याणकारी मार्ग क्या है, आत्महितैषी कौन है, वास्तविक सुख क्या है? आदि विषयोंपर बहुत गहरेमें डूबकर चिंतन किया है। मुख्तार साहबने इस अनुपम ग्रंथका अनुवाद बड़ी तन्मयतासे प्रस्तुत किया है और सर्वसाधारणके समझने योग्य बना दिया है।"

५. प. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सम्पादक, "जैन बोधक" शोलापुर—

"स्वामी समन्तभद्रके उक्त महत्वपूर्ण ग्रंथका हिंदी अनुवाद मुख्तार साहबने बहुत ही सुन्दर ढंगसे किया है। प्रस्तावनामें समन्तभद्रके संबंधमें एवं प्रकृत ग्रंथके संबंधमें खूब विस्तृत परिचय दिया गया है। ...पुस्तक पठनीय, अवश्य संग्रहणीय है।"

ग्रन्थ नम्बर ४, ५ पर युगपत् विचार

१. पं. अमृतलाल जैन, दर्शनाचार्य, काशी—

"आपकी दोनों पुस्तकें—युक्त्यनुशासन और स्वयंभू स्तोत्र—पाकर बडी प्रसन्नता हुई। आपका अनुवाद उतना ही प्रशंसनीय है जितना मल्लिनाथका। मल्लिनाथकी सजीवनी टीकासे कालिदासकी भारती जीवित हो गई और आपकी टीकासे समन्तभद्रकी। भगवान्से प्रार्थना है कि आप १०० वर्ष और जीवित रहें। आपके बाद ऐसे काम कौन करेगा? आप तो वृद्ध युवक है। अब तो युवक वृद्ध होने लगे हैं।"

२. डा. ए. एन. उपाध्याय, एम. ए., डी. लिट्, कोल्हापुर—

"—These two books have come out in an excellent form, and your authoritative Hindi rendering has not only enriched the Hindi language but has also given a wider circulation to these works of Samantabhadra which you have made subject of your life-long study and meditation. I have to learn more from these books than to suggest anything to you when you have spent so much time and energy on them."

३. प्रो हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्, नागपुर—

"—मुख्तारजीने इन अतिदुर्गम ग्रंथोंको अपनी टीका-द्वारा बहुत ही सुबोध बना दिया है। इसके लिये उनका हृदयसे अभिनन्दन करता हूं।"

४. श्री भूपनारायण झा, ग. सं कालिज, बनारस—

"श्रीमान् जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' ने स्वामी समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासनका जो अनुवाद लिखा है, वह सारार्थगर्भित, तथा प्रतिपद विशद रहनेके कारण आपकी प्रौढ प्रतिभाका आदर्श है। स्वयंभूस्तोत्रकी प्रस्तावनामें भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, इन तीनो प्रवाहमार्गोंसे उसे भगवती त्रिपथा गंगा अथवा त्रिवेणीका रूपक, तथा उसमें सर्वश्रेष्ठ भक्तियोगकी मुख्यता सत्यतापूर्ण प्रतीत हुई है। युक्त्यनुशासनकी प्रस्तावनामें उसके संक्षिप्त महत्वका निरूपण करते हुए वीर-जिनेन्द्रको आगम तथा युक्तिसे परीक्षित शासनकी विजयमाला रूप उपहारसे उसकी स्तोत्ररूपता भी युक्त है। वीर जिनेन्द्रको किसी विशिष्ट माता-पिताकी प्रसूति रहते हुये भी स्वयंभू पद प्रयोगकी उपपत्तिके लिये जो उक्तपदकी व्याख्या की है, वह अत्यन्त मनोरंजक है। जैनसमाजके द्वारा आपकी स्वयं-आविर्भूत, साहित्यसेवोपयुक्त असाधारण विद्वत्ताका जो परिचय मिला है, तदनुसार आप भी स्वयंभू इस उपाधिके योग्य हैं। मैं एकमात्र अपने संस्कृत पद्यसे आपकी वीरसेवा प्रवृत्तिको जागरूक रहनेकी कामना करता हुआ सक्षिप्त समालोचनासे उपरत हो रहा हूं :—

स्वत एवाद्भुतवीरो युगलकिशोरो विभाति युगवीरः।
तेनास्तु वीरसेवा सन्ततमेवाधुनेवासौ ॥

५. श्री जमनालाल जैन, सम्पादक, "जैनजगत" वर्धा—

"दोनों आचार्य समन्तभद्रकी अनुपम कृतिया है। आचार्य समन्तभद्र जैन दार्शनिक परम्पराके वह अखड ज्योतिर्मान दीपक है, जो अपनी उज्ज्वलता, प्रखरता, और महानताके लिये सुप्रसिद्ध हैं। शब्दोंके मूल्य और महत्वको समझनेके लिये इनकी कृतियोका अध्ययन आवश्यक है। गत दो हजार वर्षोंमें अनेक विद्वान् आचार्योंने उनकी ज्ञान-गरिमासे प्रकाश प्राप्त किया है। ज्ञान-के इस अथाह सागरमें गोता लगानेवाले अनेक पुरुषार्थी भ्रम-भवरसे पार हो चुके है। इस युगके आचार्यवरके अनन्यभक्त प जुगलकिशोरजी मुख्तारने इन दोनों रचनाओका सम्पादन किया है। जिन कृतियोका सम्पादन वर्षोंके गहन अध्ययन और मथनके बाद हुआ हो उनके विषयमें क्या कहा जाय? .... ये स्तुतियां तर्क और सिद्धातके आधारपर रची गई है। इन स्तुतियोमे व्यक्तिगत गुण-दोषोंको स्थान न देकर आचार्यश्रीने जैनधर्मकी नीति, सिद्धात और दार्शनिकताके एक-एक अंगको स्पष्ट कर दिया है। युक्त्यनुशासनमे ही, सबसे पहले आचार्यश्रीने वीरके धर्मको सर्वोदय-तीर्थ बताया है। सम्पादक महोदयने ऐतिहासिक विवेचनामे आचार्यके समय, उनकी शैली, भाषा और ग्रंथगत विषयको भलीभांति समझाया है। छपाई-सफाई अत्युतम है।"

६. श्री मा. ज. मीसीकर, एम. ए, न्यायतीर्थ, सम्पादक 'सन्मति'—

"अशा या महान् कृतीचें महा-मूल्यमान या छोटचाशा लेखांत मी कुठवर करणार? तें स्वामी समन्तभद्र-भारतीचे

एकनिष्ठ उपासक महर्षि जुगलकिशोर मुख्तार यांनीच करावें। व तें त्यांनी नुकतेच संपादित नि प्रकाशित केलेल्या 'स्वयम्भूस्तोत्र' व 'युक्त्यनुशासन' या सर्वांगसुन्दर पुष्पद्वयास १०६ व ४८ पानांची बृहत् प्रस्तावना जोडून केलें आहे। अध्यात्मप्रेमी रसिकानी ती दोन्ही प्रकाशनें 'वीरसेवामन्दिर, सरसावा' येथून मागवून जरूर अभ्यासावीत।"

७. श्री आण्णगौडा आदगौडा जैन पाटील, सैक्रेटरी, "श्री शातिनाथ लायब्रेरी", शेडबाल (बेलगांव)——

"—सभी ग्रंथ आद्योपात देख लिया, अत्यानन्द हुआ। श्री समन्तभद्र-भारतीका नमूना तो बहुत सुन्दर, बहुमोल, मनोज्ञरूपसे आपने उसका संकलन, अनुवाद, सुन्दर प्रस्तावनादिसे प्रकाशित किया है। इसीलिये आप धन्यवादके पात्र हे ही। साथ साथ आपका साहित्यका दीर्घ अभ्यास और परिचय होता है। आप सरीखे विद्वानोसे और ऐसे ही बहुमोल ग्रंथसाहित्य सभ्रमसे प्रकाशित होनेंके लिये आप शतायु होवें ऐसी श्री जिनेद्रचरणोमे प्रार्थना है।"

संरक्षकों और सहायकोंसे प्राप्त सहायता

अनेकान्तके सरक्षक और सहायक सज्जनोंसे जो सहायता अभी तक प्राप्त हुई है उसकी तफसील इस प्रकार है :—

५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता मध्ये १५००) के
२५१) बा० सोहनलालजी कलकत्ता
२५१) ला० गुलजारीदास ऋषभदास, कलकत्ता
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी, "
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी, "
२५०) सेठ बलदेवदासजी, "
२५१) सेठ गजराजजी गंगलाल, "
२५०) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन, "
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्र किशोरजी जौहरी, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) सेठ छदामीलालजी, फीरोज़ाबाद
२५१) ला० रघुवीर किशोरजी, जैना वाच क०, देहली
१०१) बा० ऋषभचन्दजी जैन, कलकत्ता, मध्ये २५१) के
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० जीतमलजी, कलकत्ता
१०१) बा० चिरजीलालजी सरावगी, "
१०१) बा० लालचन्दजी सरावगी, "
१०१) बा० काशीनाथजी, "
१०१) ला० महावीर प्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) कलकत्ता स्थित फतहपुर जैन समाज
१०१) श्रीमती श्री मालादेवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द जैन, 'सगल, एटा'
१०१) गुप्त सहायक, सदर बाज़ार, मेरठ
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी सेठी, उज्जैन

योग ५२२४)

साहित्य परिचय और समालोचन

१. **जैनजागरणके अग्रदूत**—लेखक, बाबू अयोध्याप्रसादजी गोयलीय। प्रकाशक, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृष्ठ संख्या, ६३६। मूल्य सजिल्द प्रति का ५) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तकमें ३७ विद्वानो, त्यागियो और श्रीमानों आदिके जीवन परिचय दिये गये है, जिन्हे त्याग और साधनाके पावन-प्रदीप, तत्वज्ञानके आलोकस्तम्भ, नवचेतनाके प्रकाशवाह, श्रद्धा और समृद्धिके ज्योतिरत्न इन चार विभागो में बाटा गया है। कितने ही परिचय तो पत्र पत्रिकाओसे संकलित किये गये है और कुछ परिचय इनमे गोयलीयजी आदिके द्वारा नवीनभी लिखे गये है पर उन सबका संकलन गोयलीयजीने ही करके उसे वर्तमान रूप दिया है। *गोयलीयजी स्वयं सिद्धहस्त लेखक है उनके दिलमें उमंगे है और हृदय* उत्साहसे भरा हुआ है, उनकी लेखनीमे तेज है और वह अनेकोंको उत्तेजित भी करते रहते है। परिचयोमे यद्यपि कितने ही परिचय अतिरंजित और कितने ही अतिशयोक्तियोको लिये हुए है पर इसमें सदेह नही कि गोयलीयजीने उक्त पुस्तकका संकलन आदि कर एक आवश्यक कमीको दूर करनेका प्रयत्न किया है। इसकेलिये गोयलीय जी धन्यवादके पात्र है। पुस्तककी छपाई सुन्दर और गेटअप चित्ताकर्षक है।

२. **कल्याणमन्दिरस्तोत्र**—(ऋद्धि मंत्रयंत्र और साधनविधि सहित) मूलकर्ता, आचार्य कुमुदचन्द्र। लेखक (अनुवादक) प० कमलकुमार शास्त्री खुरई। प्रकाशक, श्री कुन्थसागर स्वाध्याय सदन खुरई जि. सागर। पृष्ठ संख्या, १८०। मूल्य, अजिल्द प्रति का २) रुपया।

प्रस्तुत स्तवनका नाम *कल्याण-मन्दिर* है जो उसके आद्यपद्यके प्रारम्भमें ही प्रयुक्त हुए 'कल्याणमन्दिरम्' पदके कारण भक्तामर आदि स्तोत्रोंकी तरह लोकमें विश्रुत हुआ है। इसमें जैनियोंके तेइसवें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथका स्तवन अंकित है। जिसमें उनके साधुजीवनके समय उनके पूर्वज लघुबन्धु कमठके द्वारा घटने वाली उस सोपसर्ग घटनाका सजीव चित्रण किया गया है जो श्वेताम्बर परम्पराद्वारा अमान्य है। फिर भी इस स्तवनका समादर दिगम्बर और श्वेताम्बर उभय सम्प्रदायोंमें पाया जाता है। इस स्तवनके कर्त्ता आचार्य कुमुदचन्द्र है, पर कुमुदचन्द्र कब हुए है और उनकी गुरुपरम्परा क्या है, इस सम्बन्धमें प्रस्तावनामें कोई विचार नही किया गया है, जिसके करनेकी आवश्यकता थी। इस ग्रन्थकी इस प्रस्तावनाके लेखक पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्यने श्वेताम्बरोंकी इस मान्यताका निरसन किया है और बतलाया है कि इस स्तवनके कर्ता सिद्धसेन दिवाकर नही है किन्तु यह कुमुदचन्द्रचार्यकी कृति है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने इससे भी पूर्व पुरातनजैनवाक्य-सूचीकी प्रस्तावनामें अनेक प्रमाणोके आधारसे इस स्तवनका कर्ता कुमुदचन्द्रको ही बतलाया है सिद्धसेन दिवाकरको नही।

इस स्तवनमे मूलस्तोत्र कर्ताने कही पर भी मंत्र-तंत्र आदिका विधान नही किया है, क्योंकि प्रस्तुत स्तवन निष्काम *भक्तिकी उत्कट भावनाका प्रतीक है, उसका प्रत्येक पद* भक्तिभावकी अपूर्वताको लिये हुए है, उसमें भक्तिकी महत्ताका उद्भावन करते हुए लिखा है कि भावशून्य क्रियायें फलवती नही होती। परन्तु लेखक (अनुवादक) महाशयने इस संस्करणमें मूलस्तवनके साथ उनके अनेक ऋद्धिमंत्र यंत्र साधनविधि और उसके फल प्राप्त करनेवालोंकी संक्षिप्त कथाए भी साथमें जोड दी, इससे जहां भक्तजन इस स्तवनके द्वारा जिनेन्द्रगुणोको यथावत् अवधारण कर कर्मबंधनको ढीला करनेका प्रयत्न करता वहा उसे मंत्रयंत्र तंत्रके झमेलेमे डालकर सांसारिक बन्धनोंकी ओर लगानेका प्रयत्न किया गया है और यह नही बतलाया कि ये ऋद्धिमत्र यंत्रादि उक्त स्तवन परसे कैसे फलित होते है। और इसलिये वे मूलस्तोत्रके साथ असम्बन्द्व जान पड़ते तथा भ्रामक प्रतीत होते है बिना किसी युक्ति प्रमाणके ऐसा करके लोगोको गुमराह करना उचित नही कहा जा सकता। यों ही इस प्रकारकी चीजोका इधर उधरसे संकलित करके रख देना मूल स्तवनकी महत्ताको कम करना है।

इसके सिवाय लेखकने इस स्तवनके कर्ता कुमुदचन्द्रके साथ उज्जैनीमे सिद्धसेन दिवाकरके साथ घटने वाली उस महाकालेश्वरकी घटनाका सम्बन्ध जोड़ दिया है जिसका प्रस्तुत स्तवनकर्त्ताके इतिहासके साथ कोई सम्बन्ध नही इस प्रकार की असावधानी भविष्य में बड़ी दुखदायक हो जाती है। प्रेसादिकी असावधानीसे छपनेमें कुछ त्रुटियां रह गई है। फिर भी छपाई सफाईकी दृष्टिसे यह संस्करण बुरा नही है।

३. स्याद्वाद सिद्धि :—मूलकर्ता, आचार्य वादीभसिंह-सूरि। सम्पादक, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया। प्रकाशक, पं० नाथूरामजी प्रेमी, मन्त्री माणिकचन्द दि. जैन ग्रन्थमाला हीराबाग, बम्बई ४। पृष्ठ संख्या १४०। मूल्य डेढ रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थका विषय दार्शनिक है, उसमें विविध दर्शनों-के मन्तव्योंकी अलोचना करते हुये स्वमतका सस्थापन किया गया है। प्रायः सारा ही ग्रन्थ संस्कृतके अनुष्टुप् छंदमें रचा गया है, रचना गम्भीर और प्रसादगण युक्त है। ग्रन्थका अन्तिम भाग किसी कारणवश खंडित हो गया है, उसकी यह अपूर्णता हमारी असावधानीकी ओर संकेत कर रही है जिसका हमें खेद है। इसी तरहकी उपेक्षा और असवाधानीसे हमारा कितनाही बहुमूल्य साहित्य आज अनुपलब्ध हो रहा है, आशा है समाज भविष्यमे इस असावधानीको पनपने नहीं देगी। ग्रन्थकी प्रस्तावना महत्वपूर्ण है और उसमें ग्रन्थ-कर्ता वादीभसिंह सूरि तथा उनके समय सम्बन्धादिके विषय में पर्याप्त विचार किया गया है, साथ ही, ग्रन्थका हिन्दीमें संक्षिप्त सार और विषयसूचीभी लगा दी गई है जिससे प्रस्तुत सस्करणकी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। इसके लिए सम्पादक प दरबारीलाल जी और ग्रन्थमालाके सुयोग्य मन्त्री श्रद्धेय प. नाथूराम जी प्रेमी बम्बई धन्यवादके पात्र हैं। ग्रन्थ पठनीय है और संग्रहणीय है।

४ भारतीय राष्ट्रीयता किधर—लेखक, रघुवीर शरण दिवाकर। प्रकाशक मानव-साहित्य-सदन मुरादाबाद। पृष्ठ सख्या ७८। मूल्य एक रुपया।

इस पुस्तकमे लेखकने भारतीय साहित्यके अध्ययन और मननस्वरूप नारीत्वके शोषण और पददलनकी करुण कहानीके साथ नारी पूजाके रहस्यको प्रकट किया है, और नारी-जीवनके खिलाफ दिये जाने वाले फतवे, यहा तक कि पतिके मृत शरीरके साथ नारीको जीवित जलाने जैसी सती-प्रथाके रहस्यका भी उद्भावन किया है। दिवाकरजीने पुस्तकमें अपने स्वतन्त्र विचारोंका निर्भयतासे प्रदर्शन किया है। इस स्पष्टवादिताके लिए वे धन्यवादके पात्र है। आशा है भारतीय विद्वान इसे पढकर नारी जीवनको ऊंचा उठानेका प्रयत्न करेंगे।

५. महावीरका जीवन दर्शन—लेखक, ऋषभदास रांका। सम्पादक, जमनालाल जैन। प्रकाशक भारत महा-मंडल वर्धा। पृष्ठ ४२, मूल्य ६ आने।

पुस्तकका विषय उसके नामसे स्पष्ट है। इसमें जैनियों-के चौवीसवें तीर्थंकर भगवान महावीरके जीवनका दिग्दर्शन कराया गया है। लेखकने श्वेताम्बरीय आचारांग सूत्रके मूल भावोको आधुनिक दृष्टिकोणके साथ सरल भाषामें रखनेका प्रयत्न किया है और उसका सम्पादन भाई जमना-लालजीने किया है। पुस्तक उपयोगी है, इसके लिए लेखक और सम्पादक धन्यवादार्ह है।

६. प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें नारीका स्थान—लेखक रघुवीरशरण दिवाकर। प्रकाशक, मानव-साहित्य-सदन, मुरादाबाद। पृष्ठ संख्या ४०। मूल्य बारह आना।

प्रस्तुत पुस्तकमें भारतीय संस्कृतिमें नारीके साथ किये जानेवाले अन्याय, अत्याचारोका सप्रमाण उदघाटन किया गया है। पुस्तकको लिखकर दिवाकरजीने जनताकी आखे खोल दी है। पुस्तक सरल और रोचक ढंगसे लिखी गई है इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं।

७. धर्म और समाज—लेखक पं मुखलालजी सघवी। सम्पादक, दलसुख मालवणिया। प्रकाशक, पं० नाथूराम प्रेमी स्व० हेमचन्द मोदी पुस्तकमाला, हीराबाग, गिरगाव, बम्बई। पृष्ठ सख्या, २०८। मूल्य डेढ रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक प सुखलालजी संघवीके विचारात्मक निबन्धोका सग्रह है। इसमें २४ निबन्ध अंकित है जिनमें धर्म और समाजकी वस्तुस्थितिका अच्छा चित्रण किया गया है। पंडितजी गहरे विचारक है और उनकी लेखनी भी विचारको नूतन सामग्री प्रस्तुत करती है। प्रेमीजीने स्व० हेमचन्द मोदी ग्रन्थमालामे इसका प्रकाशन कर जगतका भारी उपकार किया है, इसकेलिए वे धन्यवादके पात्र हैं। पुस्तक पठनीय और संग्रहनीय है।

८ तत्वार्थसूत्र—*मूल लेखक, श्री १०८ गृद्धपिच्छाचार्य, सम्पादक, प० कैलाशचन्दजी शास्त्री। प्रकाशक, भारतीय दिगम्बर जैन संघ मथुरा। पृष्ठ सख्या २५६। मूल्य दो रुपये आठ आने।*

तत्वार्थसूत्र जैन समाजका एक बहुमूल्य सूत्र ग्रन्थ है, उसके कर्ता उमास्वाति बतलाये जाते हैं। इस सूत्र ग्रन्थका श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों ही समाजोमें समादर है। श्वेताम्बर समाजकी अपेक्षा दिगम्बर समाजमें इसका पठन-पाठन अधिक तादादमें होता रहा है उस पर महत्वपूर्ण प्राचीनसे प्राचीन टीकायें भी प्राचीन आचार्यों द्वारा समय-समयपर लिखी गई हैं। श्वेताम्बर परम्परा मान्य सूत्र तत्वार्थाधिगम

सूत्रपाठके नामसे उल्लेखित किया जाता है। उसपर भाष्यवादको बना और भाष्यकी टीकायें भी लिखी गई हैं। श्वेतांबरसूत्रपाठमें अनेक पाठ-भेद देखे जाते हैं जबकि दिगम्बर समाजमें एकही सूत्र पाठ प्रमाण माना जाता है, उसी पर सर्वार्थसिद्धि आदि अनेक टीकायें लिखी गई हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थकी यह नवीन टीका प्रकाशित हुई है। पंडित कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीने इसे विद्यार्थियों और स्वाध्यायप्रेमियोंके लिए खासकर तैयार किया है। टीका समयोपयोगी और संक्षिप्त है और उसमें शंका समाधान एवं विशेषार्थोंके द्वारा विषयका रोचक ढंगसे सर्वार्थसिद्धि-के आधारपर स्पष्टीकरण किया गया है, जिससे जिज्ञासु पाठक उक्त सूत्रग्रन्थके रसका भली भांति आस्वादन कर सकते हैं।

इस ग्रन्थकी प्रस्तावनामें शास्त्रीजीने पं. फूलचन्द्र-जी सिद्धान्तशास्त्रीकी तत्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य हैं उमास्वाति नही, इस कल्पनाको मान देते हुए उसे पुष्ट करनेका प्रयत्न किया है। पंडितजीका यह प्रयत्न अभि-नन्दनीय है, पुस्तककी छपाई सफाई सुन्दर है।

परमानन्द जैन

सन्तश्री वर्णी गणेशप्रसादजीका तीसरा पत्र

श्रीयुत महाशय पण्डित जुगलकिशोरजी योग्य इच्छाकार। आपके स्वास्थ्यका समाचार पढ़कर प्रसन्नता हुई। मेरा तो यह विश्वास है जिनके निर्मल परिणाम होते हैं उनका संसार बन्धन छूट जाता है यह तो कोई बात नही आत्मा अनन्त शक्तिशाली है—अपनी भूलसे इतस्ततः भ्रमण कर रहा है यह सर्व मोहराजका विलास है जिस दिन उस पर विजय प्राप्त कर लिया आपही में परमात्मा है—लोककी कथा छोड़ो, जो आप द्वारा मार्मिक सिद्धान्त प्रतिपादन किया जाता है वे इतने पराजित मोहसे हो गए हैं जो उस तरफ देखते ही नहीं—यदि उस तरफ १ बार ही दृष्टि दे देवें तब १ दिनमें आपके साहित्यका उद्धार हो सकता है परन्तु बात तो कुछ विपरीत हो रही है—अब समयने पलटा खाया है आप अपने जीवनमें अपनी इच्छाकी पूर्ति देखकर निराकुल परलोककी यात्रा करेंगे—यदि बाबू छोटेलाल जी साहब सब तरफसे दृष्टि संकोच कर इस ओर ही लगादें तब अनायास यह कार्य हो जावे परन्तु कहे कौन—यह देश दरिद्र है अतः मैं इस विषयको यहां व्यवहारमें नही लाता—जिन बड़े आदमियोंसे आशा है वे मुझे सुधारक कहकर टाल देते हैं अत मैं अकिंचित्कर कोटिमें आगया हूं।

आ० सुदि २ सं० २००९

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

दुःखद वियोग !!

यह लिखते हुए दुःख होता है कि वीरशासन जयन्तीके दिन जिन पूज्य आचार्य श्री सूर्यसागरजीका 'आरोग्य कामना' दिवस सारे भारतमें मनाया गया था उनका डालमियां नगरमें श्रावण वदी अष्टमीकी रात्रि को १२ बजकर २० मिनट पर समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया है। आचार्य सूर्यसागरजी जैन समाजके ही नही किंतु भारतके अध्यात्म योगी थे। बड़े प्रभावशाली थे और अध्यात्म शास्त्रके प्रेमी थे। साथ ही वस्तुस्थितिके स्पष्ट वक्ता थे। आप अन्त तक सचेष्ट रहे और पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण करते हुए दिवंगत हुए। आपके इस दुःखद वियोगसे वीर-सेवा-मंदिर परिवार दुःखित चित्त हुआ हार्दिक भावना करता है कि आपको परलोकमें सुख-शान्ति की प्राप्ति हो।

वीरसेवामन्दिरके चौदह रत्न

(१) **पुरातन-जैनवाक्य-सूची**—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि-ग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे प्राकृत पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी गवेषणापूर्ण महत्त्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम ए, डी लिट के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम ए, डी लिट् की भूमिका (Introduction) से विभूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द ... ... १५)
(प्रस्तावनादिका अलगसे मूल्य ५ रु)

(२) **आप्तपरीक्षा**—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञसटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा-द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य प० दरबारीलालके हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द . .. ८)

(३) **न्यायदीपिका**—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य प० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द ... ... ५)

(४) **स्वयम्भूस्तोत्र**—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्द-परिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्त्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित। ... .. २)

(५) **स्तुतिविद्या**—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्त्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत, सुन्दर जिल्द-सहित। ... .. १॥)

(६) **अध्यात्मकमलमार्तण्ड**—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। .. .. १॥)

(७) **युक्त्यनुशासन**—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। .. १।)

(८) **श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र**—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्त्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। .. ॥।)

(९) **शासनचतुस्त्रिंशिका**—(तीर्थ-परिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। .. .. ॥।)

(१०) **सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ**—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणों का महत्त्वपूर्ण संग्रह मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। .. .. ॥)

(११) **विवाह-समुद्देश्य**—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन .. ॥)

(१२) **अनेकान्त-रस-लहरी**—अनेकान्त जैसे गूढ गभीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझाने की कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। .. .. ।)

(१३) **अनित्यभावना**—श्रीपद्मनन्दी आचार्यकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। .. .. ।)

(१४) **तत्त्वार्थसूत्र** (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त .. ।)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालों को ३७॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
सरसावा, जि० सहारनपुर।

Regd. No. D. 211

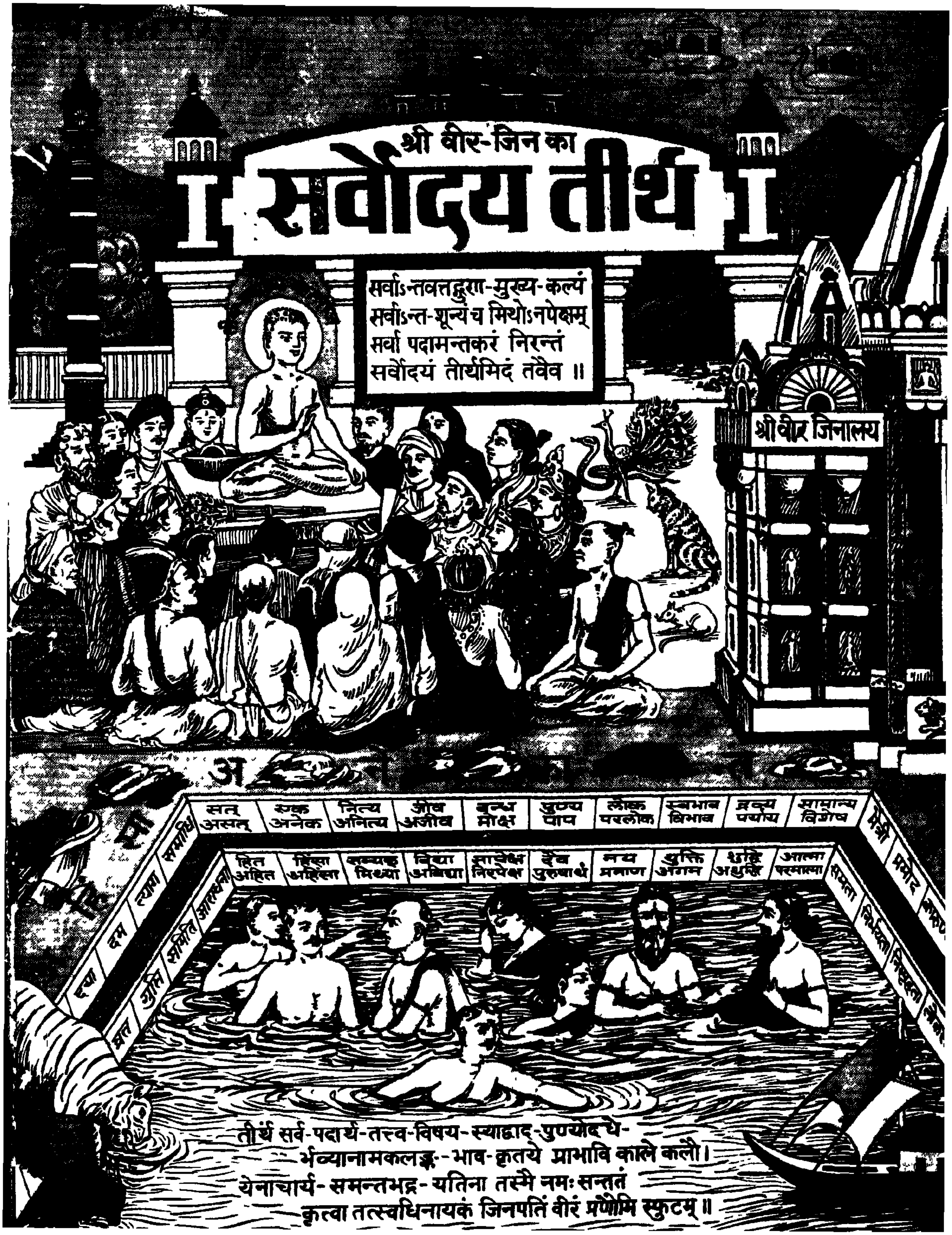
अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

अनेकान्त पत्रको स्थायित्व प्रदान करने और सुचारू रूपसे चलानेके लिये कलकत्ता-में गत इन्द्रध्वज-विधानके अवसर पर (अक्तूबरमें) संरक्षकों और सहायकोंका एक नया आयोजन हुआ है। उसके अनुसार २५१) या अधिकको सहायता प्रदान करने वाले सज्जन 'संरक्षक' और १०१) या इससे ऊपरकी सहायता प्रदान करने वाले 'सहायक' होते हैं। अब तक 'अनेकान्त' के जो 'संरक्षक' और 'सहायक' बने हैं—उनके शुभ नाम निम्न प्रकार हैं :—

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन "
२५१) बा० सोहनलाल जी जैन "
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदास जी "
२५१) बा० ऋषभचन्द्रजी (V.R.C.) जैन "
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी "
२५१) बा० रतनलालजी झाझरी "
२५१) सेठ बल्देवदासजी जैन "
२५१) सेठ गजराजजी गगवाल "
२५१) सेठ सुआलालजी जैन "
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी "
२५१) सेठ मांगीलालजी "
२५१) सेठ शान्तिप्रसाद जी, जैन "
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द्र धूपचन्द्रजी, जैन कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमल जी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्द्र जी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलाल जी जैन, फीरोजाबाद
२५१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाचकम्पनी, देहली
१०१) ला० परमादीलाल भगवानदासजी पाटनी, "
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्द्रजी जैन सरावगी "
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी "
१०१) बा० काशीनाथ जी, कलकत्ता "
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी "
१०१) बा० धनजयकुमारजी "
१०१) बा० जीतमलजी जैन "
१०१) बा० चिरंजीलाल जी सरावगी "
१०१) बा० रतनलाल चाँदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार एटा
१०१) श्री श्रीमाला देवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्र जी जैन 'सगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी ठेकेदार, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

परमानन्द जैन शास्त्री C/O धूमीमल धरमदास, चावड़ी बाजार, देहली। मुद्रक—नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, १० दरियागंज, देहली



श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
अ
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
दया
दम
त्याग
समाधि
व्रत
गुप्ति
समिति
आराधना
मैत्री
प्रमोद
समता
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक' तथा 'सहायक' बनना और बनाना।

(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।

(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरोंपर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।

(४) अपनी ओरसे दूसरोंको अनेकान्त भेट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।

(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५),५०)आदिकी सहायता भेजना। २५) की सहायतामें १०को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।

(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि-सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेटस्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता—
मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामंदिर, सरसावा जि० सहारनपुर।

ॐ अर्हम्



वार्षिक मूल्य ५)

इस किरणका मूल्य ।।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११ किरण ६	वीरसेवामन्दिर सरसावा जि० सहारनपुर भाद्रपद शुक्ल, वीर-संवत् २४७८, विक्रम-संवत् २००६	अगस्त १६५२

श्रीपार्श्वनाथ-स्तुति और महर्षि-स्तुति

[प्रस्तुत 'पार्श्वनाथस्तुति' और 'महर्षिस्तुति' ये दोनों ही हालमे देहली पंचायती मन्दिरके शास्त्रभंडार (गुटका नं.६) से उपलब्ध हुई है। पहली स्तुति 'वेणु' वर्णीकी रचना है जैसाकि उसके पद्य नं. ९ से जाना जाता है; परन्तु ये वर्णी महाशय किसके शिष्य थे और कब हुए है इसका कोई पता स्तोत्रसे नहीं चलता। इनकी दूसरी कोई कृति भी अभी तक सामने नही आई अतः इस विषयमें खोजकी जरूरत है। यहांपर सिर्फ इतना ही प्रकट किया जाता है कि जिस गुटकेमें यह स्तुति पाई जाती है उसकी विषय-सूची 'पुस्तक-संचिका-दृष्टिक्' "संवत् १७६५ अश्विनवदि ९ शनि" की लिखी हुई है। इससे यह स्तुति उक्त संवत् या उससे पहलेकी रचना जान पड़ती है, इतना तो सुनिश्चित है। विशेष हाल बादके अनुसंधानपरसे मालूम हो सकेगा। दूसरी 'महर्षिस्तुति' मे कर्ताका नामादिक दिया हुआ नहीं है। संभव है कि किसी ग्रंथका यह एक अंश हो और उसी परसे उद्धृत हो। जिन जिन विद्वानोंको इसके विषयका विशेष हाल मालूम हो उन्हें उसको प्रकट करना चाहिए। यह भी स्तुति उक्त सवत्-जितनी पुरानी तो जरूर ही है। दोनों ही स्तुतियां अच्छी सुन्दर हैं, और इसीसे उन्हें अनेकान्त-पाठकोके अवलोकनार्थं यहा प्रकट किया जाता है। —सम्पादक]

श्रीपार्श्वनाथ-स्तुतिः

भविक-कामिक-दान-सुरद्रुमः पद-नखावलि-निर्जित-विद्रुमः ।
सुयशसा-परिपूर्ण-दिशान्तरः सृजतु मां मम पार्श्वजिनेश्वरः ॥१॥

प्रणय-नम्र-सुरासुर-राजितः न हि कदापि परैश्च पराजितः ।
अवगताखिल-लोकपरंपरः सृजतु मां मम पार्श्वजिनेश्वरः ॥२॥
दुरित-दाव-घनाघन-तुल्यतां श्रयति यो यतियोग्य-समस्तताम् ।
कमठ-तापस-मान-समुद्धरः सृजतु मां मम पार्श्वजिनेश्वरः ॥३॥
व्रत-रमाश्रितवानपहापयः सकल-राज्यरमा-परमाश्रयः ।
कमल-कोमल-पादतलो वरः सृजतु मां मम पार्श्वजिनेश्वरः ॥४॥
हृदयभाव-नताऽमरसुन्दरी-कृत-गुणस्तुति-रागतरौ करी ॥
सुघट-सप्तफणावलि-सुन्दरः सृजतु मां मम पार्श्वजिनेश्वरः ॥५॥
शुचि-वचोरस-सुप्रतिबोधिताऽखिल-सभाजनतोत्सवदः पिता ।
चरणराज्य-निषेव्य-कृपाकरः सृजतु मां मम पार्श्वजिनेश्वरः ॥६॥
प्रथित-सद्गुणरत्न-रमाश्रितः सकल-साधुजनाऽलिभिराश्रितः ।
श्रित-समस्तनयो विजितस्मरः सृजतु मां मम पार्श्वजिनेश्वरः ॥७॥
विलसदंशुकलाऽतिशयोदधिः सुख-समाधि-सुमान-दयानिधिः ।
विदलिताऽखिल-दुष्टदरोदरः सृजतु मां मम पार्श्वजिनेश्वरः ॥८॥
श्रीपार्श्वनाथस्य जिनस्येयं स्तुतिः कृता मया सेवक-वेणु-र्वणिना ।
पठन्ति ये केऽपि भजन्ति ते सुखं भवत्यमीषामपि शाश्वतं पदम् ॥९॥

इह जगति महिम्नां सेवधिः पार्श्वनाथः
सकल-सुख [स]मृद्धिश्रेणिवीरुत्सुपाथः ।
स्तुति इति जयमाला नाम नुत्यास्तु भक्त्या
रचयतु जयमालां सेवितः साधु-भक्त्या ॥१०॥

इति श्रीपार्श्वनाथस्तुतिः समाप्ता ।

श्रीमहर्षि-स्तुतिः

महायोगिन् नमस्तुभ्यं महाप्राज्ञ नमोऽस्तु ते । नमो महात्मने तुभ्यं नमोऽस्तु ते महर्द्धये ॥१॥
नमो विधिजुषे तुभ्यं नमो देशाऽवधि-त्विषे । परमाऽवधये तुभ्यं नमः सर्वाऽवधि-त्विषे ॥२॥
कोष्ठ-बुद्धे नमस्तुभ्यं नमस्ते बीजबुद्धये । पदानुसारि संभिन्नश्रोत्र तुभ्यं नमोनमः ॥३॥
नमोस्त्वृजुमते तुभ्यं नमस्ते विपुलात्मने । नमः प्रत्येकबुद्धाय स्वयंबुद्धाय वै नमः ॥४॥
अभिन्नदशपूर्वित्वात्प्राप्तपूजाय ते नमः । नमस्ते पूर्वविद्यानां विश्वासां पारदृश्विने ॥५॥
दीप्तोग्र-तपसे नित्यं नमस्तप्त-महातपः । नमो घोरगुण-ब्रह्मचारिणे घोर-तेजसे ॥६॥
नमस्ते विक्रियर्द्धीनामष्टधा-सिद्धिमीयुषे । आमर्ष-क्ष्वेलि-वाग्विप्रुट्-जल-सर्वौषधे नमः ॥७॥
नमोऽमृत-मधु-क्षीर-सर्पि-संश्राविने स्तुते । नमोमनो-वचः-काय-बलिना ते बलीयसे ॥८॥
जल-जंघा-फल-श्रेणी-तन्तु-पुष्पाम्बरांश्च यान् । चारणर्द्धि-जुषे तुभ्यं नमोऽक्षीणसमृद्धये ॥९॥
त्वमेव परमो बन्धुस्त्वमेव परमो गुरुः । त्वमेव सेव्यमानानां भवन्ति ज्ञानसम्पदः ॥१०॥
त्वयैव भगवन्विश्वविहिता धर्मसंहिता । अतएव नमस्तुभ्यममी कुर्वन्ति योगिनः ॥११॥
त्वत्त एव वरं श्रेयो मन्यमानास्ततो वयम् । तवपादांह्रि यच्छायान्वयातिक्यादुपास्महे ॥१२॥
वाग्गुप्तेस्तत्स्तुतोहानिर्मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ । कायगुप्त-प्रणामेन काममस्तु सदाऽर्थिने ॥१३॥

इति महर्षि-स्तुति-विधानं समाप्तऽमिति मंगलं ।

समन्तभद्र-वचनामृत

(५)

स्वामी समन्तभद्रने, अपने समीचीन-धर्मशास्त्रमें, सम्यक्चारित्रका वर्णन करते हुए, जिस वचनामृतकी वर्षा की है उसका कुछ रसास्वादन यहां अनेकान्तके पाठकोंको कराया जाता है:—

हिंसा-ऽनृत-चौर्येभ्यो मैथुनसेवा-परिग्रहाभ्यां च ।
पाप-प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥

'हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुनसेवा और परिग्रह रूप जो पाप-प्रणालिकाएं है—पापास्रवके द्वार हैं, जिनमें होकर ही ज्ञानवरणादि पाप-प्रकृतियां आत्मामें प्रवेश पाती हैं और इसलिये पापरूप है—उनसे जो विरक्त होना है—तद्रूप प्रवृत्ति न करना है—वह सम्यग्ज्ञानीका चारित्र अर्थात् सम्यक् चारित्र है ।'

व्याख्या—यहां 'संज्ञस्य' पदके द्वारा सम्यक् चारित्र के स्वामीका निर्देश किया गया है और उसे सम्यग्ज्ञानी बतलाया गया है । इससे स्पष्ट है कि जो सम्यग्ज्ञानी नहीं उसके सम्यक्-चारित्र होता ही नहीं—मात्र चारित्र-विषयक कुछ क्रियाओंके कर लेनेसे ही सम्यक् चारित्र नही बनता, उसके लिये पहले सम्यग्ज्ञानका होना अति आवश्यक है ।

हिंसाके लिये इसी ग्रंथमें आगे, 'प्राणातिपात' (प्राणव्यपरोपण,प्राणघात), 'वध' तथा 'हति' का; अनृत-के लिये 'वितथ', अलीक' तथा मृषाका एवं फलितार्थ-के रूपमें असत्यका; चौर्यके लिये 'स्तेय' का; मैथुनसेवा-के लिये 'काम' तथा 'स्मर' का एवं फलितार्थ रूपमें 'अब्रह्म' का; और परिग्रहके लिये 'संग', 'मूर्छा' (ममत्वपरिणाम) तथा 'इच्छा' का भी प्रयोग किया गया है† । और इसलिये अपने अपने वर्गके इन शब्दोंको एकार्थक, पर्यायनाम अथवा एक दूसरेका नामान्तर समझना चाहिए ।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंग-विरतानाम् ।
अनगाराणां, विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥५०॥

'(पूर्वनिर्दिष्ट हिंसादि-विरति-लक्षण) चारित्र 'सकल' (परिपूर्ण) और 'विकल' (अपूर्ण) रूप होता है—महाव्रत-अणुव्रतके भेदसे उसके दो भेद है । सर्वसंगसे—बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहसे—विरक्त गृहत्यागी मुनियोंका जो चारित्र है वह सकलचारित्र (सर्व संयम) है, और परिग्रहसहित गृहस्थोंका जो चारित्र है वह 'विकलचारित्र'' (देशसंयम) है ।"

व्याख्या—यहां चारित्रके दो भेद करके उनके स्वामियोंका निर्देश किया गया है । महाव्रतरूप सकलचारित्र-के स्वामी (अधिकारी) उन अनगारों (गृहत्यागियों) को बतलाया है जो संपूर्णपरिग्रहसे विरक्त हैं, और अणुव्रतरूप विकलचारित्रके स्वामी उन सागारों (गृहस्थों) को प्रकट किया है जो परिग्रहसहित हैं और इसलिये दोनोंके 'सर्वसंग-विरत' और 'ससंग' इन दो अलग अलग विशेषणोंसे स्पष्ट है कि जो अनगार सर्वसंगसे विरक्त नहीं हैं—जिनके मिथ्या-त्वादिक कोई प्रकारका परिग्रह लगा हुआ है—वे गृह-त्यागी होनेपर भी सकलचारित्रके पात्र या स्वामी नहीं—यथार्थमें महाव्रती अथवा सकलसंयमी नहीं कहे जा सकते; जैसे कि द्रव्यलिंगी मुनि, आधुनिक परिग्रहधारी भट्टारक तथा ११ वी प्रतिमामें स्थित क्षुल्लक-ऐलक । और जो सागार किसी समय सकलसंगसे विरक्त हैं उन्हें उस समय गृहमें स्थित होने मात्रसे सर्वथा विकलचारित्री (अणुव्रती) नहीं कह सकते—वे अपनी उस असंगदशामें महाव्रतकी ओर बढ़ जाते हैं । यही वजह है कि ग्रंथकार महोदयने सामायिकमें स्थित ऐसे गृहस्थोंको 'यति भावको प्राप्त हुआ मुनि' लिखा है (कारिका १०२) और मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थको श्रेष्ठ बतलाया है (का. ३३)। और इससे यह नतीजा निकलता है कि चारित्रके 'सकल' या 'विकल' होनेमें प्रधान कारण उभय प्रकारके परिग्रहसे विरक्ति तथा अविरक्ति है—मात्र गृहका त्यागी या अत्यागी होना नहीं है । अतः 'सर्वसंगविरत' और 'ससंग' ये दोनों विशेषण अपना खास महत्व रखते हैं और किसी तरह भी उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते ।

† देखो, हिंसावर्गके लिए कारिका ५२,५३,५४,७२,७५ से ७८,८४; अनृतवर्गके लिए कारिका ५२,५५,५६; चौर्यवर्गके लिए कारिका ५२,५७; मैथुनसेवावर्गके लिए कारिका ५२,६०,१४३; और परिग्रहवर्गके लिए कारिका ५०,६१ ।

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षा-व्रतात्मकं चरणम् ।
पंच-त्रि-चतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ॥५१॥

'गृहस्थोका (विकल) चारित्र अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतरूपसे तीन प्रकारका होता है। और वह व्रतत्रयात्मक चारित्र क्रमशः पांच-तीन-चार भेदोंको लिये हुए कहा गया है—अर्थात्, अणुव्रतके पाच, गुणव्रतके तीन और शिक्षाव्रतके चार भेद होते हैं।'

विकल चारित्रके इन भेदों तथा उपभेदोका क्रमशः वर्णन करते हुए स्वामीजी लिखते है:—

प्राणातिपात-वितथव्याहार-स्तेय-काम-मूर्च्छाभ्यः
स्थूलेभ्यः पापेभ्यः व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥५२॥

'स्थूल प्राणातिपात—मोटे रूपमें प्राणोके घातरूप स्थूलहिंसा, स्थूल वितथव्याहार—मोटे रूपमें अन्यथा कथनरूप स्थूल असत्य, स्थूलस्तेय—मोटे रूपमे परधनहरणादिरूप स्थूल चौर्य (चोरी), स्थूल काम—मोटे रूपमे मैथुनसेवारूप स्थूल अब्रह्म, और स्थूलमूर्च्छा—मोटे रूपमें ममत्वपरिणामरूप स्थूल-परिग्रह, इन (पांच) पापोसे जो विरक्त होना है उसका नाम 'अणुव्रत' है।'

व्याख्या—यहां पापोके पांच नाम दिए हैं, जिन्हे अन्यत्र दूसरे नामोंसे भी उल्लेखित किया है, और उनका स्थूल विशेषण देकर मोटे रूपमे उनसे विरक्त होनेको 'अणुव्रत' बतलाया है। इससे दो बातें फलित होती है—एक तो यह कि इन पापोका सूक्ष्मरूप भी है और इस तरहसे पाप स्थूल-सूक्ष्मके भेदसे दो भागोमें विभक्त है। अगली एक कारिका ('सीमान्तानां परतः' नं. ९५) में स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात्' इस पदके द्वारा इन पाच पापोंके 'स्थूल' और 'सूक्ष्म' ऐसे दो भेदोंका स्पष्ट निर्देश भी किया गया है और ६८ वीं तथा ७० वीं कारिकाओंमें सूक्ष्मपापको 'अणुपाप' नामसे और ५७ वी कारिकामें स्थूल पापको 'अकृश' शब्दसे उल्लेखित किया है, इससे 'अणु' और 'कृश' भी सूक्ष्मके नामान्तर हैं। दूसरी बात यह कि सूक्ष्मरूपसे अथवा पूर्णरूपसे इन पापोंसे विरक्त होनेका नाम 'महाव्रत' है, जिसकी सूचना कारिका ७०,७२ और ९५ से भी मिलती है।

इसके सिवाय, जिन्हें यहां 'पाप' बतलाया गया है उन्हें ही चारित्रका लक्षण प्रतिपादन करते हुए पिछली एक कारिका (४९) में 'पापप्रणालिका' लिखा है, और इससे यह जाना जाता है कि यहां कारणमें कार्यका उपचार करके पापके कारणोंको 'पाप' कहा गया है। वास्तवमें पाप मोहनीयादि कर्मोंकी वे अप्रशस्त प्रकृतिया हैं जिनका आत्मामें आस्रव तथा बन्ध इन हिंसादिरूप योगपरिणतिसे होता है और इसीसे इनको 'पापप्रणालिका' कहा गया है। स्वयं ग्रन्थकार महोदयने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें 'मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः' इस वाक्यके द्वारा 'मोह' को उसके क्रोधादि-कषाय-भटो-सहित 'पाप' बतलाया है और देवागम (९५) तथा इस ग्रन्थ (का. २७) में भी 'पापास्रव' जैसे शब्दोंका प्रयोग करके कर्मोकी दर्शनमोहादिरूप अशुभ प्रकृतियोंको ही 'पाप' सूचित किया है। तत्त्वार्थसूत्रमें श्री गृध्रपिच्छाचार्यने भी 'अतोऽन्यत्पापं' इस सूत्रके द्वारा सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभ (उच्च) गोत्रको छोड़कर शेष सब कर्मप्रकृतियोको 'पाप' बतलाया है। दूसरे भी पुरातन आचार्योका ऐसा ही कथन है। अतः जहा कहीं भी हिंसादिकको पाप कहा गया है वहां कारणमें कार्यकी दृष्टि सनिहित है, ऐसा समझना चाहिए।

संकल्पात्कृत-कारित-मननाद्योग-त्रयस्य चर-सत्वान् ।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूल-वधाद्विरमणं निपुणाः ॥५३॥

'संकल्पसे—सकल्पपूर्वक (इरादतन) अथवा शुद्ध स्वेच्छासे—किए गए योगत्रयके—मन-वचन-कायके—कृत-कारित-अनुमोदनरूप व्यापारसे जो त्रस जीवोंका—लक्ष्यभूत द्वीन्द्रियादि प्राणियोका—प्राणघात न करना है उसे निपुणजन (आप्तपुरुष वा गणधरादिक) 'स्थूलवधविरमण'—अहिंसाऽणुव्रत—कहते है।'

व्याख्या—यहा 'संकल्पात्' पद उसी तरह हेतुरूपमें प्रयुक्त हुआ है जिस तरह कि तत्त्वार्थसूत्रमें 'प्रमत्तयोगात्' और पुरुषार्थसिद्धयुपायमे 'कषाययोगात्' पदका प्रयोग पाया जाता है*, और यह पद आरम्भादिजन्य त्रसहिंसाका निवर्तक (अग्राहक) तथा इस व्रतके व्रतीकी शुद्ध स्वेच्छा अथवा स्वतंत्र इच्छाका सद्योतक है। और इसके द्वारा व्रतकी अणुताके अनुरूप जहा त्रसहिंसाको सीमित किया गया है वहां

* "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा"
—तत्त्वार्थसूत्र ७-१३

"यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्य-भाव-रूपाणां ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥ पुरु॰४३

यह भी सूचित किया गया है कि इस (संकल्प) के बिना वह (संकल्पी) त्रसहिंसा नही बनेगी। और यह ठीक ही है; क्योंकि कारणके अभावमें तज्जन्य कार्यका भी अभाव होता है। और इस 'संकल्पात्' पदकी अनुवृत्ति अगली 'सत्याणुव्रत' आदिका लक्षण प्रतिपादन करनेवाली कारिकाओंमें उसी प्रकार चली गई है जिस प्रकार कि तत्त्वार्थसूत्रमें 'प्रमत्त-योगात्' पदकी अनुवृत्ति अगले असत्यादिके लक्षण-प्रतिपादक सूत्रोमें चली गई है।

शुद्ध स्वेच्छा अथवा स्वतत्र इच्छा ही संकल्पका प्राण है, इसलिए वैसी इच्छाके बिना मजबूर होकर जो अपने प्राण, धन, जन, प्रतिष्ठा तथा शीलादिकी रक्षाके लिए विरोधी हिंसा करनी पडे वह भी इस व्रतकी सीमासे बाहर है। इस तरह आरम्भजा और विरोधजा दो प्रकारकी त्रसहिंसा इस संकल्पी त्रसहिंसाके त्यागमें नही आती। पंच-सूना और कृषिवाणिज्यादिरूप आरम्भ-कार्योमें तो किसी व्यक्तिविशेषके प्राणाघातका कोई संकल्प ही नही होता, और विरोधजा हिसामें जो सकल्प होता है वह शुद्ध स्वेच्छासे न होनेके कारण प्राणरहित होता है, इसीसे इन दोनोंका त्याग इस व्रतकी कोटिमे नही आता। इन दोनों प्रकारकी हिंसाओकी छूटके बिना गृहस्थाश्रम चल नही सकता, राज्य-व्यवस्था बन नही सकती और न गृहस्थजीवन व्यतीत करते हुए एक क्षणके लिए ही कोई निरापद या निराकुल रह सकता है। एक मात्र विरोधिहिंसाका भय कितनोंको ही दूसरोके धन-जनादिकी हानि करनेसे रोके रहता है।

यहापर इतना और भी जान लेना चाहिए कि 'हिनस्ति' पदके अर्थरूपमें, हिंसाके पूर्वनिर्दिष्ट पर्यायनाम 'प्राणाति-पात' को लक्ष्यमें रखते हुए प्राणाघातकी जो बात कही गई है वह व्रतकी स्थूलतानुरूप प्रायः जानसे मारडालने रूप प्राणघातसे सम्बन्ध रखती है, और यह बात अगली कारिका मे दिए हुए अतीचारोको देखते हुए और भी स्पष्ट हो जाती है। क्योकि छेदनादिक भी प्राणघातके ही रूप है, उनका समावेश यदि इस कारिका-वर्णित प्राणघातमें होता तो उन्हें अलगसे कहने तथा 'अतीचार' नाम देनेकी जरूरत न रहती। अतीचार अभिसन्धिकृत-व्रतोंकी बाह्य सीमाएं हैं।

छेदन-बन्धन-पीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणाऽपि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पंच ॥५४॥

'छेदन—कर्ण-नासिकादि शरीरके अवयवोंका परहित-विरोधिनी दृष्टिसे छेदना-भेदना—, बन्धन—रस्सी, जंजीर तथा दूसरे किसी प्रतिबन्धादिके द्वारा शरीर और वचनपर यथेष्ट-गति-निरोधक अनुचित रोक-थाम लगाना—, पीडन—दण्ड-चाबुक-वेत आदिके अनुचित अभिघात-द्वारा शरीरको पीड़ा पहुंचाना तथा गाली आदि कटुक वचनोंके द्वारा किसीके मनको दुखाना—, अतिभारा-रोपण—किसी पर उसकी शक्तिसे अथवा न्याय-नीतिसे अधिक कार्यभार, करभार, दण्डभार तथा बोझा लादना—, और आहार-वारणा—अपने आश्रित प्राणियोके अन्न-पाना-दिका निरोध करना, उन्हें जानबूझकर शक्ति होते यथासमय और यथापरिमाण भोजन न देना—, ये पांच स्थूलवध-विरमणके—अहिंसाऽणुव्रतके—अतीचार हैं—सीमोल्लंघन अथवा दोष हैं।'

व्याख्या—यहां जिस सीमोल्लंघन अथवा दोषके लिए 'व्यतीचार' शब्दका प्रयोग किया है उसीके लिए ग्रन्थमे आगे क्रमशः व्यतिक्रम, व्यतीपात, विक्षेप, अतिक्रमण, अत्याश, व्यतीत, अत्यय, अतिगम, व्यतिलंघन और अतिचार शब्दोंका प्रयोग किया गया है*, और इसलिए इन सब शब्दोंको एकार्थक समझना चाहिए।

स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद-वैरमणम् ॥५५॥

'(संकल्पपूर्वक अथवा स्वेच्छासे) स्थूल अलीकको—मोटे झूठको—जो स्वयं न बोलना और न दूसरोसे बुलवाना है, तथा जो सत्य विपदाका निमित्त बने उसे भी जो स्वय न बोलना और न दूसरोसे बुलवाना है, उसे सन्तजन—आप्त पुरुष तथा गणधरदेवादिक—'स्थूलमृषावाद वैरमण'—सत्याणुव्रत—कहते हैं।'

व्याख्या—यहा स्थूल अलीक अथवा मोटा झूठ क्या? यह कुछ बतलाया नही—मात्र उसके न बोलने तथा न बुल-वानेकी बात कही है, और इसलिए लोकव्यवहारमें जिसे मोटा झूठ समझा जाता हो उसीका यहां ग्रहण अभीष्ट जान पड़ता है। और वह ऐसा ही हो सकता है जैसा कि शपथ-साक्षीके रूपमे कसम खाकर या हलफ़ उठाकर जानते-बूझते अन्यथा (वास्तविकताके विरुद्ध) कथन करना, पंच या जज (न्यायाधीश) आदिके पदपर प्रतिष्ठित होकर अन्यथा कहना

* देखो, कारिका नं. ५६,५८,६२,६३,७३,८१,९६, १०५ ११०,१२९।

कहलाना या निर्णय देना, धर्मोपदेष्टा बनकर अन्यथा उपदेश देना और सच बोलनेका आश्वासन देकर या विश्वास दिलाकर झूठ बोलना (अन्यथा कथन करना)। साथ ही ऐसा झूठ बोलना भी जो किसीकी विपदा (संकट वा महाहानि) का कारण हो; क्योंकि विपदाके कारण सत्यका भी जब इस व्रतके लिए निषेध किया गया है तब वैसे असत्य बोलने का तो स्वतः ही निषेध हो जाता है और वह भी स्थूलमृषावादमें गर्भित है। और इसलिए अज्ञानताके वश (अजानकारी) या असावधानी (सूक्ष्मप्रमाद) के वश जो बात बिना चाहे ही अन्यथा कही जाय या मुंहसे निकल जाय उसका स्थूल मृषावादमें ग्रहण नहीं है; क्योंकि अहिंसाणुव्रतके लक्षणमें आए हुए 'संकल्पात्' पदकी अनुवृत्ति यहां भी है जैसाकि पहले उसकी व्याख्यामें बतलाया जा चुका है। इसीतरह ऐसे साधारण असत्यकी भी इसमें परिगणना नहीं है जो किसीके ध्यानको विशेषरूपसे आकृष्ट न कर सके अथवा जिससे किसीकी कोई विशेष हानि न होती हो।

इसके सिवाय, बोलने-बुलवाने में मुखसे बोलना-बुलवाना ही नहीं बल्कि लेखनीसे बोलना-बुलवाना अर्थात् लिखना-लिखाना भी शामिल है।

यहां ऐसे सत्यको भी असत्यमें परिगणित किया है जो किसीकी विपदाका कारण हो, यह एक खास बात है और इससे यह साफ सूचित होता है कि अहिंसाकी सर्वत्र प्रधानता है, अहिंसाव्रत इस व्रतका भी आत्मा है और उसकी अनुवृत्ति उत्तरवर्ती व्रतोंमें बराबर चली गई है।

परिवाद-रहोऽभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासाऽपहारिता च व्यतिक्रमाः पंच सत्यस्य ॥ ५६ ॥

'परिवाद—निन्दा-गाली-गलौच, रहोभ्याख्या—गुह्य (गोपनीय) का प्रकाशन, पैशून्य—पिशुनव्यवहार-चुगली, तथा कूटलेखकरण—मायाचारप्रधान लिखावट-द्वारा जालसाजी करना अर्थात् दूसरोंको प्रकारान्तरसे अन्यथा विश्वास करानेके लिए दूसरोंके नामसे नई दस्तावेज या लिखावट तैयार करना, किसीके हस्ताक्षर बनाना, पुरानी लिखावटमें मिलावट अथवा काट-छांट करना या किसी प्राचीन ग्रन्थमेंसे कोई वाक्य इस तरह से निकालदेना या उसमें बढ़ा देना जिससे वह अपने वर्तमान रूपमें प्राचीन कृति या अमुक व्यक्तिविशेषकी कृति समझी जाय—और न्यसापहारिता—धरोहरका प्रकारान्तसे अपहरण अर्थात् ऐसा वाक्य-व्यवहार जिससे प्रकटरूपमें असत्य न बोलते हुए भी दूसरेकी धरोहरका पूर्ण अथवा आंशिक रूपमें अपहरण होता हो, ये सब सत्याऽणुव्रतके अतीचार हैं।

—युगवीर

वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टके उद्देश्योंका सार

वीरसेवामन्दिर और उसके ट्रस्टके जो उद्देश्य एवं ध्येय ट्रस्ट नामाकी आठ कलमों (उपधाराओं) में यत्किंचित् विस्तारके साथ दिये गये हैं उनका पंचसूत्री सार इस प्रकार है :—

१. जैनपुरातत्वसामग्रीका अच्छा संग्रह, संकलन और प्रकाशन।

२. महत्वके प्राचीन जैनग्रन्थोंका उद्धार।

३. लोक-हितानुरूप नव-साहित्यका सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।

४. जनताके आचार-विचारको ऊंचा उठानेका सुदृढ प्रयत्न।

५. जैनसाहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान-विषयक अनुसंधानादि कार्योंका प्रसाधन तथा उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियोंका विधान और पुरस्कारादिका आयोजन।

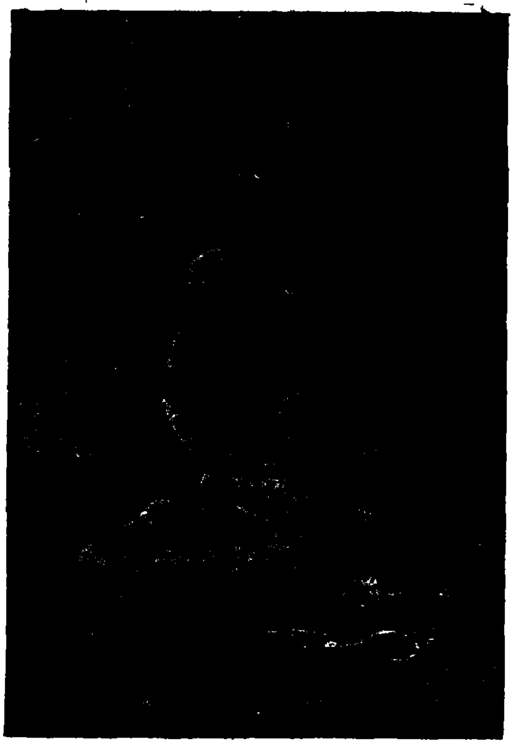
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

विश्व-शुद्धिका पर्व पर्यूषण

(श्री वी० वी० कोछल वकील)

मानव-शुद्धिपर विश्वकी शुद्धि होना निर्भर है। दर्शन विशुद्धि वह प्रशस्त अमर प्रदीप है जिसमें विश्वके चेतन और अचेतन द्रव्योंके समस्त रहस्य खुल जाते हैं। मानवता प्राणवती तभी होती है जब वह अपनेको विज्ञान की प्रयोगशाला (Laboratory) मानकर, अपनी अशुद्धिका कारण ढूंढनेके प्रयासमें संलग्न होती है स्व-निरीक्षण और परीक्षण करनेके बाद परिणाम सिद्धि निकालती है। बन्धनकी सयुक्ति ही उसे मुक्तिकी चाह पैदा करती है। इसमें व्यक्त और अव्यक्त तत्त्वोंकी संश्लिष्टि है, यही कारण है कि वह अव्यक्त होना चाहती है। अचेतन शक्तियों-के मोहमें वह व्यक्त होकर विपरीत दर्शन कर रही है और उन्हींके व्यापारमें रत होकर आबद्ध हो रही है। अविपरीत दृष्टि हो जानेपर वह अपनी स्वशुद्धिके निर्माणमें लग जाती है—यही प्राथमिक दर्शनविशुद्धि हो जानेपर, उसके जीवनके समस्त व्यापार प्रतिशोधमें संलग्न हो जाते हैं। दर्शन-विकारके कारण जो भावोंके निक्षेप और विकल्प उसमें पैदा हो रहे थे वे शनैः २ निरपेक्ष और निर्विकल्प हो जाते हैं। और साम्यदृष्टि हो जानेसे—पुद्गल वर्गणा और अनंत व्यापार निर्दर्शित हो जानेसे—वह अनंतदर्शी, तत्त्वजनित भावोंके विलय हो जानेसे अनंतज्ञानी और उनकी स्वतंत्र क्रियाओंका अनुभव हो जानेपर अनंत-चारित्रकी निधि "पूर्ण सिद्धि" को पा लेता है—पर द्रव्योंके (Control) हट जानेसे वह दिव्य दृष्टि अर्हन् बन जाता है, और उसमें विश्वशुद्धि क्रिया अनवरत रूपसे चालू रहती है। इसी विश्वशुद्धिके मार्गको चालू रखनेके लिये विज्ञा-नियोंने भाद्रपदको संवत्सरी प्रतिक्रमणके लिये प्रशस्त समझ कर इसे सामाजिक शुद्धिका पर्व निश्चित किया।

प्रतिवर्ष भाद्रपद आता है और साथ साथ विरति पर्व लाता है। इस मासमें रति-क्रिया चक्र स्थितिको प्राप्त होती है; वर्षाके कारण मानव बाह्य व्यापारकी गति संस्थानको प्राप्त होती है और अनुष्ठान व्रतादि स्वयं जागृत हो उठते हैं। व्रत-पर्व भी वैज्ञानिक रहस्यसे खाली नहीं है—समाजमें सामूहिक रति बढ़ जाती है तो उसे दूर करनेके लिये सामूहिक विरति-विधान कराना मनीषियोंने ठीक समझा। कितने महान् दूरदर्शी थे वे, कितना भरा था समाज-प्रेम उनमें, वे सुधारवादी नहीं थे कितने अधिक थे वे क्रान्तिकारी, परिवर्तन-कारी, कितने महान् विप्लववादी थे वे कि जिन्होंने मिथ्यात्व और अज्ञानको समाजसे हटानेके लिये धार्मिक जहादकी घोषणा इस पर्वमें कर दी। और प्रत्येक व्यक्तिको पर्यूषणी बना दिया। शारीरिक शुद्धि-मानसिक शुद्धि और आत्मशुद्धि-की सामूहिक योजना बनाकर प्रवृत्तिमें निवृत्तिके अनुष्ठान संयोजित कर दिये, और समाजमें नवीन उन्नतिकी होड़ पैदा कर दी; सामयिक आदि षट् आवश्यककर्मोंको नियोजित कर दिया। और मानवको तीर्थ बनानेके लिये उपवास-उपाहारसे शरीर-शुद्धि, विरति भावसे रति शुद्धि-के अनुष्ठान यज्ञ प्रारम्भ कर दिये, जनमात्रको इस जहाद-में निरत कर धर्म प्रभावनाके कार्यमें संलग्न कर दिया और प्रामाणिक पुरुषोंने दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकिरणों-की प्रशस्त ज्योति (Flash Light) छोड़ना प्रारम्भ कर दिया और मानव हृदस्थित करण-लब्धियां जाग्रत कर तीर्थोंकी समष्टि करदी और घोषणा करदी कि प्रत्येक मानव तीर्थ है" और तीर्थंकर हो सकता है—उसमें उत्तम क्षमादि दश धर्मोंकी सत्तात्मक निधि मौजूद है कहीं बाहरसे किराये-से उसे लाना नही पड़ता है। साथ ही 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्' का झंडा फहराते हुए; आदेशना करदी कि विश्वके समस्त तत्त्व मानव पर्यायमें निहित होकर आये हैं। विश्वनिर्माण ही स्वच्छ है, उसमें समस्त द्रव्योंके नग्न और मुक्त व्यापार हो रहे हैं,वे सब दिगम्बरी हैं। मानव-की पूर्ण सिद्धि इसी दिगम्बरत्वमें है, यही अव्यक्त तत्त्व है जिसकी प्राप्ति पर मानव धर्म—जैन धर्म—विश्व धर्म हो जाता है। हरएक मानवका कर्त्तव्य है कि वह विश्वको गंदा न करे। जो गंदा करता है उसे जमीन पर जीना मरना पड़ता है और दुःख उठाने पड़ते हैं और वह मुक्तिका व्यापारी नहीं बन सकता। शाश्वत लोककी यही संदृष्टि है और यही अमर प्रकाश है, जिसमें पर्यूषणपर्वका माहात्म्य भरा है।



भारत के अहिंसक महामना सन्त श्री पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी की वर्ष गांठ

पूज्यवर्णीजी भारतके ही अहिंसक सन्त नहीं हैं, किन्तु वे दुनियाके आध्यात्मिक सन्त हैं। उन्होंने अपने ७८ वर्षके जीवनमें देश, धर्म और समाजकी जो सेवा की है, वह भारतीय इतिहासके पन्नोंमें स्वर्णाक्षरोंमें अंकित रहेगी। भारत आध्यात्म विद्याका सदासे केन्द्र रहा है और आजभी वह केन्द्र बना हुआ है। भारतको पूज्य श्री गणेषप्रसादजी वर्णी जैसे महासन्तोंसे गर्व है। इतनी वृद्धावस्थामें भी उनका दिल व दिमाग आत्म-साधनाके साथ जगतके पीड़ित एवं दुखी जनोंको आर्तभावनाओंको दूर कर उन्हें वास्तविक-सुख-शान्तिका सच्चा आदर्श उपस्थित कर रहा है। पाठकोंको यह जानकर अत्यन्त हर्ष होगा कि श्री पूज्य वर्णीजी की ७९वी जन्म जयन्ती असौज वदी चतुर्थी ता० ७ सितम्बर १९५२ को है। अत. आप सब महानुभावोंका कर्त्तव्य है कि प्रत्येक नगर व ग्राममें उक्त महापुरुषकी शुभ जयन्ती मनाते हुये उनके शतवर्ष जीवी होने की कामना करें। साथ ही उनके मौजूदा जीवनसे लाभ उठाते हुये उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण कर आत्म-विकास करनेका प्रयत्न करें। म उनके शतवर्ष जीवी होनेकी कामना करता हुआ अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

श्रद्धावनत
परमानन्द जैन

भारतमें आत्मविद्याकी अटूट धारा

(बाबू जयभगवानजी एडवोकेट)

ब्रह्मजिज्ञासा

जन्मेजयकी मृत्युके बाद जब उत्तरके नागवंशी क्षत्रियोंके आये दिनके हमलोंने कुरुक्षेत्रके कौरवोंकी राष्ट्रीय सत्ताको छिन्न भिन्न कर दिया और सप्तसिंधु देश व मध्यदेशमें पुनः भारतके नागराज घरानोंने अपनी-अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रताको प्राप्त किया, तो कौरववंशकी संरक्षताके अभावमें वैदिक संस्कृतिको बहुत धक्का पहुंचा। गान्धारसे लेकर विदेह तक समस्त उत्तर भारतमें पहलेके समान पुनः श्रमण-संस्कृतिका उभार हो गया। इसी ऐतिहासिक स्थितिकी ओर संकेत करते हुए हिंदू पुराणकारोंने लिखा है कि भारतका प्राचीन धर्म जो सतयुगसे जारी रहता चला आया है, तप और योग साधना है। त्रेता युगमें सबसे पहले यज्ञोंका विधान हुआ द्वापरमें इनका ह्रास होना शुरू हो गया और कलियुगमें उसका नाम भी शेष न रहेगा।[1] पुनः मनुस्मृतिकारने लिखा है कि सतयुगका मानवीधर्म तप है, त्रेताका ज्ञान है, द्वापरका यज्ञ है और कलियुगका दान है।[2]

इस तरह शुरू-शुरूके राष्ट्रिक संघर्षों और सांस्कृतिक वैमनस्योंसे ऊब कर जब वैदिकऋषियोंका ध्यान भारतकी आध्यात्मिक संस्कृतिकी ओर गया, तो वे उसके उच्च. आदर्श, गम्भीर विचार, संयमीजीवन और त्यागमयी साधना मार्गसे ऐसे आनन्दविभोर हुए कि उनमें आत्मज्ञानके लिये एक अदम्य-जिज्ञासाकी लहर जाग उठी है।[3] अब उन्हें जीवन और मृत्युकी समस्याए विकल करने लगी। अब उनके मानसिक व्योममें प्रश्न उठने लगे—ब्रह्म अर्थात् जीवात्मा क्या वस्तु है? इसका क्या कारण है? यह जन्म समय कहांसे आता है? यह मृत्यु-समय कहां चला जाता है? कौन इसका आधार है? कौन इसकी प्रतिष्ठा है? यह किसके सहारे जीता है, किसके सहारे बढ़ता है? कौन इसका विधाता है? कौन इसका अधिष्ठाता है? कौन इसे सुख-दुख रूप वर्ताता है? कौन इसे मारता और जिवाता है?[4] अब ऋक्, यजु, साम, अथर्व, वैदिक संहिताएं और शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, व्याकरण, ज्योतिष सम्बन्धी षड़ांग विद्याएं, जिन्हें वे अमूल्य निधिजानकर परम्परासे पढ़ते और पढ़ाते चले आये थे, उनको अपरा अर्थात् मामूली लौकिक विद्याएं भासने लगी।[5] अब धन और सुवर्ण, गाय और घोड़े, पुत्र और पौत्र, खेत और जमीन, राज्य व अन्य लौकिक सम्पदाएं जिनकी प्राप्तिके लिये, रक्षा तथा वृद्धिके लिये, वे निरन्तर इंद्र और अग्निसे प्रार्थनाएं किया करते थे, उनकी दृष्टिमें सब हेय और तुच्छ और सारहीन वस्तु दिखाई देने लगी। अब उनके लिये आत्मविद्या ही परम विद्या बन गयी। आत्मा ही देखने और जानने और मनन करने योग्य परम सत्य हो गया।[6]

अब उन्हें भासने लगा कि "यज्ञयाज आदि श्रौतकार्य संसार बन्धनतकका कारण है, और ज्ञान मुक्तिका कारण है, कर्म करनेसे जीव बारबार जन्ममरणके चक्करमें पड़ता रहता है, परन्तु ज्ञानके प्रभावसे वह संसारसागरसे उभर कर अक्षय परमात्मपदको पा लेता है। नासमझ आदमी ही इन कर्मोंकी प्रशंसा करते हैं, इससे उन्हें बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है।"[7]

---

१. महाभारत-शान्तिपर्व-अध्याय ३३५

२. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।
—मनुस्मृति १,८६

३. "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा"—ब्रह्मसूत्र,१.१.१.

४. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ —श्वेताश्वतर० उप० १,१

५. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः शिक्षा-कल्प-व्याकरणं। निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति अथ परामया तदक्षरमधिगम्यते॥
—मुंडक उप,१,१,५

६. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
—बृह० उप० २,४,५

७. मुण्डक उप० १-२,७। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २४१-१-१०

व्रात्योंके प्रति आदर

इस जिज्ञासाके फलस्वरूप उनका व्रात्यों और यतियों-के प्रति आदर और सहिष्णुताका व्यवहार बढ़ने लगा। ब्राह्मण ऋषियोंने गृहस्थ लोगोंके लिये यह नियम कर दिया कि जब कभी व्रात्य व्रतधारी साधु अथवा श्रमणजन घूमते-फिरते हुए आहार लेनेके लिये उनके घर आयें तो उनके साथ अत्यन्त विनयका व्यवहार किया जावे, यहांतक कि यदि उनके आनेके समय गृहपति अग्निहोत्रमें व्यस्त हो तो गृहपतिको अग्निहोत्रका कार्य छोड़ उनकी आतिथ्य सेवा करना अधिक फलदायक है।[1]

ब्रह्मविद्याकी खोज

ज्ञानकी इस अदम्य प्यासले व्याकुल हो अनेक प्रसिद्ध ऋषिकुलोंके पूर्ण शिक्षाप्राप्त नवयुवक परवार छोड़ ब्रह्मविद्याकी खोजमें निकल पड़े। वे दूर-दूरकी यात्राएं करते हुए, जंगलोंकी खाक छानते हुए, गान्धारसे विदेह तक, पांचालसे यमदेश तक, विभिन्न देशोंमें विचरते हुए, ब्रह्म-विद्याके पुराने जानकार क्षत्रिय-घरानोंमें पहुंचने लगे, वे वहां शिष्य भावसे ठहर कर इंद्रिय संयम, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग और स्वाध्यायका जीवन विताने लगे।

इनकी इस अपूर्व जिज्ञासा, महान उद्यम, और रहस्य-मयी संवादोंके आख्यान भारतीय वाङ्मयके जिस भागमें सुरक्षित हैं, उसका नाम उपनिषद् है। यों तो ये उपनिषद् संख्या में १०० से भी अधिक हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे ग्यारह मुख्य उपनिषद—ईश, केन, कट, मुण्ड, मांडुक्य, प्रश्न, छांदोग्य, वृहदारण्यक, तैत्तिरीय, एतरेय और श्वेताश्वर, बहुत ही उपयोगी है। चूंकि इन उपनिषदोंमें महाभारत-कालसे लेकर वैदिक और श्रमण दो मौलिक संस्कृतियोंके सम्मेलनको कथा अंकित हैं[2] चूंकि इनमें जिज्ञासुक ऋषि-मुनोंकी सरल विचारणा, सत्यपरायणता और तत्कालीन आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षाके जीते जागते चित्र दिये हुए हैं, चूंकि इनमें आर्य्यऋषियोंके तत्त्वज्ञान का अन्तिम निष्कर्ष दिया हुआ है, चूंकि ये वैदिक वाङ्मयके अन्तिम फल वेदान्त रूप हैं, और आधुनिक हिंदू दर्शन शास्त्रके मूलाधार है, इन्हीका दोहन करके २०० बी. सी. के लगभग बादरायण ऋषिके नामसे ब्रह्मसूत्रकी रचनाकी गई है, इसलिये इनका भारतीय साहित्यमें एक अमूल्य स्थान है। बुद्ध और महावीरसे पहलेकी भारतीय संस्कृतिकी जांच करनेके लिये इनका अध्ययन बहुत ही आवश्यक है।

उस समय ब्रह्मज्ञानके प्रसारमें पिप्पलाद, अंगिरस, याज्ञवल्क आदि ऋषियोंके अलावा जिन क्षत्रिय राजाओंने बड़ा भाग लिया है, वे है केकयदेशके अश्वपति, पांचालदेश-के प्रवाहण जैबलि, काशीके अजातशत्रु, विदेहके जनक, और दक्षिणदेशके विवस्वत यम आदि। इनके आख्यानोंके कुछ नमूने यहां उद्धृत किये जाते हैं।

प्रवाहणजैबलिकी कथा[3]

एक बार अरुणि गौतम ऋषिका पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देशके क्षत्रियोंकी सभामें गया, तब पांचालके राजा प्रवाहण जैबलिने उसको कहा—हे कुमार! क्या तुझे तेरे पिताने शिक्षा दी है? यह सुनकर उसने उत्तर दिया—हां भगवन्! उसने मुझे शिक्षा दी है।

राजाने कहा हे श्वेतकेतु! जिस प्रकारसे मरकर प्रजाएं परलोकको जाती हैं, क्या तू उसे जानता है? उसने कहा भगवन्! मै नही जानता। राजाने कहा— जिस प्रकार-से प्रजाएं पुनः जन्म लेती हैं क्या तू उसे जानता है? उसने कहा—भगवन्! मै नही जानता। राजाने पूछा—क्या तू देवयान और पितृयानके मार्गोंकी विभिन्नताको जानता है? उसने कहा भगवन्! मै नहीं जानता। उसके बाद राजाने फिर पूछा—जिस प्रकार यह लोक और परलोक कभी जीवोंसे नहीं भरता, क्या तू उसे जानता है? उसने कहा भगवन्! मैं नहीं जानता। राजाने फिर पूछा—जिस प्रकार गर्भाधानमें पुरुषाकृति बन जाती है—क्या तू उसे जानता है? उसने कहा भगवन्! मै नहीं जानता।

तदनन्तर राजाने कहा—जो मनुष्य इन प्रश्नोंका

---

१. अथर्ववेद, कांड १५, सूक्त १(११), १ (१२), १ (१३),

२. (i) "Upnishads are the Product of the Arya, Dravidian inter Mixture of Cultures"

KEITH—Religion and Philosophy of the Vedas and Upnishads—pp. 497.

(ii) Dr. Wintevnitz—History of Indian Literature—Vol I pp. 226-244,

३. =छान्दो० उप० ५—३ =वृह० उप० ६—२

उत्तर नहीं जानता वह किस भांति अपनेको सुशिक्षित कह सकता है ? इस प्रकार प्रवाहण राजासे परास्त हो वह श्वेतकेतु अपने पिताके स्थानपर गया और कहने लगा— कि आपने मुझे बिना शिक्षा दिये हुए ही यह कैसे कह दिया कि मुझे शिक्षा दे दी गयी है ।"

राजन्यबन्धुने मुझसे पांच प्रश्न पूछे, परन्तु मैं उनमें-से एकका भी उत्तर देनेमें समर्थ न हो सका । वह अरुणी बोला—मैंभी इन प्रश्नोंका उत्तर नही जानता । यदि मै इनका उत्तर जानता हुआ होता तो कैसे मैं तुम्हें इन्हे न बताता ।

उसके बाद वह अरुणि गौतम उन प्रश्नोंका ज्ञान करनेके लिये राजा प्रवाहणके पास गया । राजाने उसे आसन दे पानी मंगवाया और उसका अर्घ्य किया । तत्-पश्चात् राजाने कहा—हे पूज्य गौतम ! मनुष्य योग्य धन-का वर मागो । यह सुनकर गौतमने कहा—हे राजन् ! मनुष्य धन तेरा ही धन है । वह मुझे नही चाहिए । मुझे तो वह वार्ता बता दे, जो तूने मेरे पुत्रसे कही थी ।

गौतमकी यह प्रार्थना सुन राजा सोचमें पड़ गया । सोच-विचार करने पर उसने ऋषिसे कहा—यदि यही वर चाहिए तो चिरकाल तक व्रत धारण करके मेरे पास रहो । नियत साधना करने पर राजाने उसे कहा—हे गौतम ! जिस विद्याको तू लेना चाहता है, उसे मैं अब देने को तैयार हूं, परन्तु यह विद्या पूर्वकालमें तुझसे पहले ब्राह्मणोंको प्राप्त न होती थी इसलिये सारे देशोंमें क्षत्रियोंका ही इस पर अधिकार था । क्षत्रिय क्षत्रियोंको ही सिखाते थे ।[१] यह कहकर राजाने पंच प्रश्नोंका रहस्य गौतमको बतलाना शुरू कर दिया ।

पं० जयचन्दके कथनानुसार पांचालनरेश प्रवाहण जैबलि-जन्मेजयके पौत्र अश्वमेधदत्त अर्थात् पाडव पुत्र अर्जुनकी पांचवी पीढ़ीके समकालीन था ।[२] इस तरह उक्त वार्ताका समय लगभग १४०० ई. पूर्व होना चाहिए ।

कैकेयअश्वपतिकी कथा[३]

कैकेय देशका राजा अश्वपति परीक्षित और जन्मेजय-का समकालीन था । कैकेय देश (आधुनिक शाहपुर जेहलम गुजरात जिला) गांधारसे ठीक पूर्वमें सटा हुआ है। कैकेय अश्वपतिकी कीर्ति उसकी सुन्दर राज्य व्यवस्था और उसके ज्ञानके कारण सब ओर फैली हुई है ।[४]

एक बारका कथन है कि उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषिका पुत्र सत्ययज्ञ, मालविका पुत्र इंद्रद्युमन, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्विका पुत्र बुडिल जो बड़ी-बड़ी शालाओंके अध्यक्ष थे और महाज्ञानी थे आपसमें मिल कर विचारने लगे "हमारा आत्मा कौन है ? ब्रह्म क्या वस्तु है ।" उन्होंने निश्चय किया कि इन प्रश्नोंका उत्तर अरुणवशीय उद्दालक ऋषि ही दे सकता है, वह ही इस समय आत्माके ज्ञान को जानता है, चलो उसके पास चलें ।

उन आगन्तुकोंको देख उद्दालक ऋषिने विचार किया कि ये सभी ऋषि महाशाला वाले हैं और महा श्रोत्रिय है, उनको उत्तर देनेके लिये मै समर्थ नहीं हूं । उसने कहा कि इस समय कैकेय अश्वपति ही आत्माका सब प्रकारका ज्ञाता है । आओ उसके पास चलें । वहां पहुंचने पर अश्वपतिने उनका सत्कार किया और कहा 'मेरे देशमें न कोई चोर है न कृपण, न शराबी, न अग्निहोत्र रहित, न कोई अपढ़ है और न व्यभिचारी, व्यभिचारिणी तो होगी कहा से ?" आप इस पुण्य देशमें ठहरें,मैं यज्ञ करने-वाला हूं, आप उसमें ऋत्विज बनिये, मैं आपको बहुत ही दक्षिणा दूगा । उन्होंने कहा, कि हम आपसे दक्षिणा लेने नही आये हैं, हम तो आपसे आत्मज्ञान लेनेके लिये आये है । अश्वपतिने उन्हें अगले दिन सवेरे उपदेश देने-का वादा किया । अगले दिन प्रातःकाल वे समिधाएं हाथोंमें लिये उसके पास पहुंचे और अश्वपतिने उन्हें आत्मज्ञान दिया ।

१ "सह कृच्छ्री बभूव । त ह चिरं वसेत्त्याज्ञापयां चकार । तं हो वाच—यथा मां त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति । तस्मात् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति ।
—छां. उप. ५-३-७ ।

२. भारतीय इतिहासकी रूपरेखा, जिल्द प्रथम, पृष्ठ २८६ ।

३. छां. उप. ५-११,१२; महाभारत-शान्तिपर्व अध्याय ७७ ।

४. भारतीय इतिहासकी रूपरेखा—जिल्द प्रथम, पृष्ठ २८६ ।

अजातशत्रुकी कथा[1]

काशीनरेश अजातशत्रु, विदेहके राजा जनक उग्रसैन, तथा कुरुराज जन्मेजयके पुत्र शतानीकका समकालीन था। वह अपने समयका एक माना हुआ आत्मज्ञानी था। और ब्रह्मज्ञानकी चर्चामें अभिरुचि रखनेवाले विद्वानोंका भक्त था। एक बार गर्ग गोत्री भी दृप्त बालाकि नामवाला ब्राह्मण ऋषि आत्मचर्चाके लिये उसके पास पहुंचा और कहने लगा कि मैं तुझे ब्रह्मकी बात बताऊंगा। अजातशत्रु-ने कहा, कि यदि तुम ब्रह्मकी व्याख्या कर पायोगे, तो मै तुम्हें एक हजार गायें दक्षिणामें दूंगा। गार्ग्यने व्याख्या करनी चाही, परन्तु वह सफल न हुआ। अजातशत्रुने कहा—गार्ग्य ! क्या इतना ही ब्रह्म विचार है ? गार्ग्यने कहा—हां इतना ही। तब अजातशत्रुने कहा, इतनेसे ब्रह्म नही जाना जा सकता। तब गार्ग्यके शिष्यवृत्ति धारण करने पर अजातशत्रुने उसको ब्रह्मका स्वरूप समझाया।

सनत्कुमारकी कथा[2]

एक समय नारद महात्माने सनत्कुमारके पास जाकर कहा हे भगवन् ! मुझे ब्रह्म विद्या पढ़ाइये। सनत्कुमार-ने उसको कहा—जो कुछ तू जानता है, मेरे समीप बैठ, वह मुझे सुना दे, उससे ऊपर तुझे बताऊंगा।

नारदने कहा—भगवन् ! मै ऋग्वेदको जानता हूं, यजुर्वेदको, सामवेदको, चौथे अथर्ववेदको, पांचवें इतिहास पुराणको, वेदोंके वेद व्याकरणको, पितृ कर्मको, गणित-शास्त्रको, भाग्यविज्ञानको, निधिज्ञानको, तर्कशास्त्रको, नीति-शास्त्रको, देव-विद्याको, भक्तिशास्त्रको, भूत-विद्याको, धनुर्विद्याको, ज्योतिष सर्वविद्या, संगीत नृत्य-विद्याको जानता हूं। हे भगवन् ! इन समस्त विद्याओंसे सम्पन्न मै मंत्रवित् ही हूं, परन्तु आत्माका ज्ञाता नहीं हूं। मैंने आप-जैसे महापुरुषोंसे सुना है कि जो आत्मवित् होता है, वह जन्ममरणके शोकको तर जाता है। परन्तु भगवन् ! में अभी तक शोकमें डूबा हुआ हूं। मुझे शोकसे पार कर देवें। सनत्कुमारने नारदसे कहा—तुमने आज तक जो कुछ अध्ययन किया है वह नाममात्र ही है, इसके उपरान्त सनत्कुमारने आत्मशिक्षा देकर नारदको संतुष्ट कर दिया।

नचिकेताकी गाथा

कठ उपनिषदमें औद्दालिक अरुणि गौतमके पुत्र नचिकेता ऋषिकी एक कथा दी हुई है, कि एक बार नचि-केता, जो जन्मसे ही बड़ा उदार और विचारशील था, अपने पिताके संकुचित व्यवहारसे रूठकर भाग गया। वह शान्ति लाभके लिये वैवस्वत यमके घर पहुंचा। पर उस समय वैवस्वत बाहर गया हुआ था। उसके बाहर जानेके कारण नचिकेताको तीन रात भूखा रहना पड़ा। वापिस आनेपर घरमें भूखे अतिथिको देखकर यमको बड़ा खेद हुआ। अपने दोषकी निवृत्तिके लिये यमने नचिकेताको कहा कि तीन रातके कष्टके बदले वह उससे तीन वर मांग ले। नचिकेताके मागे हुए पहले दो वर यमने उसे तुरन्त ही दे दिये। फिर नचिकेताने तीसरा वर इस प्रकार मांगा।

"यह जो मरनेके बाद मनुष्यके विषयमें संदेह है, कोई कहते हैं रहता है, कोई कहते है नहीं रहता, यह आप मुझे समझा दें कि असल बात क्या है। यही मेरा तीसरा वर है।

इस वरको सुनकर यम बोला—"इस विषयमें तो पुराने देवता भी संदेह करते रहे है। इसका जानना सुगम नही है, यह विषय बहुत सूक्ष्म है। नचिकेता, तुम कोई दूसरा वर मांगो, इसे छोड़ो, मुझे बहुत विवश न करो।"

इसपर नचिकेताने कहा—"निश्चयसे ही यदि देवों-ने भी इसमें संदेह किया है और आप स्वयं भी इसे सुगम नहीं कहते, तो तुम जैसा इसका वक्ता दूसरा कौन मिल सकता है इसके समान दूसरा वर भी क्या हो सकता है ?

यमने यह जाननेके लिये कि नचिकेता आत्मज्ञानका अधिकारी है या नही, उसे बहुतसे प्रलोभन दिये। हे नचि-केता ! तू सौ-सौ वर्ष की आयुवाले पुत्र और पौत्र मांग। बहुतसे पशु हाथी, सोना और घोड़े मांग, भूमिका बड़ा भारी भाग मांग। और जबतक तू जीना चाहे उतनी आयुका वर मांग। तू इस विशाल भूमिका राजा बन जा। जो भी कामनाएं तू इस लोकमें दुर्लभ समझ रहा है वे सभी जी खोलकर तू मुझसे मांग। रथों और बाजों सहित ये अलभ्य रमनियां तेरी सेवाके लिये देता हूं। इन सभी वस्तुओंको ले लो। परन्तु हे नचिकेता ! मरनेके अनन्तर-की बात मुझसे न पूछो।

---

१. वृह उपनिषद् २.१—कौषीतिकी ब्राह्मणोपनिषद्—अध्याय ४

२. छां. उप. ७ वां अध्याय।

पर नचिकेता इन प्रलोभनोंसे तनिक भी भ्रममें न पड़ा। वह बोला 'हे यम! ये सब भोग-उपभोगके सामान दो दिनके हैं। ये सब इंद्रियोंका तेज नष्ट करने वाले है। जीवन अल्पकाल तक रहनेवाला है, इसलिये ये सब नाच-गान, हाथी, घोड़े मुझे नहीं चाहिए। धनसे कभी तृप्ति नहीं होती। मुझे तो वही वर चाहिए।"

नचिकेताकी इस सच्ची लगनको देख यम विवश हो गया। उसने अन्तमें जन्म-मरण सम्बन्धी आत्मज्ञान दे नचिकेताके छटपटाये हुए दिलको शान्ति प्रदान की।

उपरोक्त कथामें जिस नचिकेताका उल्लेख है, वह कठ जातिका ब्राह्मण मालूम होता है। प्राचीनकालमें यह जाति पंजाबके उत्तरकी ओर रावी नदीसे पूरबवाले देशमें जिसे आजकल माम्मा (लाहौर अमृतसर वाला देश) कहते हैं, रहा करती थी। इसी कारण इस देशका पुराना नाम कठ है।[१] उपर्युक्त कथाके समय यह जाति मध्य देश अर्थात् आर्यखंडमें बसी हुई थी।

विवस्वतयम जिसके पास नचिकेता ज्ञानप्राप्तिके लिये गया था, उस सूर्यवंशी शाखाका एक क्षत्रिय राजा मालूम देता है, जिसने मध्यदेशके दक्षिणकी ओर एक स्वतंत्र जनपद कायम कर लिया था। इसीलिये भारतीय अनुश्रुतिमें दक्षिणका अधिष्ठाता यम कहा गया है।[२] यम किसी विशेष व्यक्तिका नाम न होकर इस शाखाके राजाओंकी परम्परागत उपाधि थी। सूर्यवंशी क्षत्रियोंकी यह शाखा अपनी दान, दक्षिणा, उदारता और ज्ञानचर्चाके लिये बहुत प्रसिद्ध थी। इसी कारण इस शाखाका उल्लेख शत-पथ ब्राह्मण १३-४-३-६ और ऋग्वेदके दसवें मंडल के १० वें सूक्तमें भी मिलता है।

अध्यात्मविद्याकी शिक्षा-दीक्षा रीति

ऊपर वाले व्याख्यानोंसे यह स्पष्ट है कि भारतमें अध्यात्मविद्याके वास्तविक जानकार क्षत्रिय लोग थे। परम्परासे उन्हीं लोगोंमें अध्यात्मतत्त्वोंका मनन होता चला आया था और उन्हींके महापुरुष घर-बार छोड़ भिक्षु बन जंगलोंमें रहते हुए तप ध्यान और श्रद्धा द्वारा आत्म-साधना किया करते थे।[३] उन्होंने यह विद्या उस समय तक ब्राह्मण लोगोंको न दी जबतक उन्हें परीक्षा करके यह विश्वास न हो गया कि वे (ब्राह्मजन) शुद्ध बुद्धि वाले हैं, और वे नम्र भाव एवं शिष्यवृत्तिसे इसे ग्रहण करनेके लिये उत्सुक हैं। चूंकि आत्मज्ञानी होनेके लिये राग-द्वेष-मोह-ममता, और परिग्रहको त्याग मन वचन कायकी शुद्धि करना साधकका सबसे पहला कर्तव्य है। इस मानसिक नियंत्रणके लिये योगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि-रूप अष्टांगिक मार्गकी एक विशेष प्रणाली दी हुई है।

इन अध्यात्मवादि क्षत्रियोंका, इस कारण कि कहीं अध्यात्मविद्या अनधिकारी हाथोंमें पड़ कर दूषित न हो जाये, सदा यह नियम रहा है कि यह विद्या श्रद्धालु पुत्र और शांत चित्त शिष्यके सिवाय किसी और को न दी जाय, चाहे वह धनपरिपूर्ण सागरसे घिरी सारी पृथ्वी भी पुरस्कार-में देनेको तैयार हो।[४]

इसी कारण उपनिषदोंमें अध्यात्मविद्याको रहस्य विद्या व गुह्य विद्या कहा गया है। स्वयं उपनिषद् शब्दका अर्थ है "—किसीके निकट बैठना" अर्थात् वह रहस्य विद्या जो गुरुके निकट रह कर साक्षात् उनकी वाणी और जीवन-से ग्रहण की जाती है। इस प्रकार विनीत, श्रद्धालु और अन्तः-वासी शिष्योंको एकान्तमें मौखिक रूपसे आध्यात्मिक शिक्षा देनेकी प्रथा केवल उपनिषद् कालमें ही प्रचलित न थी,

---

१ जयचन्द विद्यालंकर—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा, प्रथमजिल्द पृ. २९०

२ बृह. उप. ३-९-२१

३ तपः श्रद्धे मे ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्तो विद्वांसो-
भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स
पुरुषोह्यव्ययात्मा॥

—मुण्डक उप० १११,२

४ (अ) "वेदान्ते परमं गुह्यं पुरा कल्पे प्रचोदितम्।
नाऽप्रशान्ताय दातव्यं नाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा पुनः।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

श्वेताश्वतर उप. ६-२२-२३।

(आ) नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीताम्।
धनस्य पूर्णां दद्यात्, एतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भय इति"— छां. उप. ३-११-६।

बल्कि यह प्रथा भारतके शैव, जैन, बौद्धआदि अध्यात्मकारि-लोगोंमें आजतक जारी है। यह इसी प्रथाका फल है, कि आजसे पचास साल पहले तक जैन विद्वानोंको अपना साहित्य दूसरोंको दिखाना या उसे मुद्रित कराना तनिक भी सह्य न था। इसलिये जैनसाहित्यका परिचय बाहिरके विद्वानोंको आज तक बहुत ही कम हो पाया है।

लिपिबोध और लिखितसाहित्य

सिंध और पंजाबके मोहनजोदड़ो और हड़प्पा आदि पुराने नगरोंके खंडराततसे प्राप्त मोहरोंके अभिलेखोंसे यद्यपि यह सिद्ध है कि भारतीय लोग लगभग ३००० ईसा पूर्व कालसे भी पहिले लिपि विद्या और लेखनकलासे भलीभांति परिचित थे, परन्तु सिवाय तिजारती कामोंके वे इस कलाको धार्मिक, पौराणिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक अथवा नैतिक रचनाओंके लिये कभी प्रयोगमें न लाते थे। इन सभी बातों-के लिये वे केवल मौखिक शब्दसे ही काम लेते थे और मौखिक शब्दके द्वारा ही वे अपनी ज्ञान-विधिको अगली सन्तति तक पहुंचाते थे। जैसा कि यूनानी दूत मेगास्थनीज-के वृत्तान्तोंसे विदित है। ईसासे ३०० वर्ष पूर्व मौर्य शासन काल तक भारतीय लोगोंके पास अपने कोई लिखे कानून तक मौजूद न थे।[1] इसी तरह बौद्ध आचार्योंने यद्यपि अपने आगम साहित्यको २४० ईसा पूर्वमें संकलित कर लिया था, परन्तु इस समयके बहुत बाद तक कभी वे लिखित साहित्यका सृजन न कर सके। भारतमें सबसे पुराने धार्मिक अभिलेख जो आज तक उपलब्ध हो पाये है वे हैं जो अशोककी धर्मलिपिके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये सम्राट अशोक[2] ने अपने शासनकालमें तीसरी सदी ईस्वी पूर्व स्तम्भों व शिला खंडों-पर अंकित कराये थे। लिखित साहित्यके अभावके कई कारण हो सकते हैं—एक तो योग्य लेखन सामग्री और खासकर कागजका अभाव, दूसरे विद्वानोंकी महत्त्वाकांक्षा और संकीर्णता, कि कहीं दूसरे भी पढ़-लिख कर उन जैसे विद्वान न बन जायें। तीसरे शिक्षा-दीक्षाकी प्राचीन पद्धति। ऊपर वाले कारणोंमेंसे तीसरा कारण ही इस अभावका सबसे जोरदार कारण माना जाता है।

शिक्षा-दीक्षाकी इस प्राचीन पद्धतिके कारण ही भारतके तत्त्ववेत्ता क्षत्रिय विद्वानोंने लिखित रचनाएं तो दूर रहीं कभी अपने तत्त्वदर्शन और अध्यात्मिक कथानकों-को संकलन करनेका प्रयास तक नही किया। दार्शनिक साहित्य ही क्या, इतिहास, विद्या, पुराणविद्या, सर्पविद्या, पिशाचविद्या, असुरविद्या, विश्वविद्या, अंगरसविद्या, ब्रह्म-विद्या, गाथा, नाराशंसी आदि भारतकी अनेक पुरानी विद्याओंका भी जिनका नाममात्र प्रसंगवश वैदिक वाङमय[3]-में मिलता है और जिनका सविस्तर वर्णन जैनवाङमय[4]के १४ पूर्वोंके कथनमें दिया हुआ है, कोई संकलित व लिखित साहित्य मौजूद नही है।

ब्राह्मणोंका श्रेय

इस अभावपरसे कुछ विद्वानोंने यह मत निर्धारित किया है कि औपनिषदिककालसे पहले भारतीय लोगोंको आत्मविद्याका कोई अवबोध न था। भारतमे अध्यात्मिक विद्याका जन्म उपनिषदोंकी रचनाके साथ-साथ या उसके कुछ पहलेसे हुआ है। उनका यह मत कितना अज्ञानपूर्ण है यह ऊपर वाले विवेचनसे भली-भांति सिद्ध है कि औप-निषदिककाल आत्मविद्या जन्म काल नही है। आत्मविद्या वैदिक आर्यगणके भी आनेसे पहले सिंधदेशकी ३००० ईसा पूर्व मोहनजोदड़ो कालीन आध्यात्मिक संस्कृतिसे पहले यहांके व्रात्य, यति, श्रमण कहलानेवाले योगीजनों-को मालूम थी। औपनिषदिककाल केवल उस युग-का प्रतीक है जब ब्राह्मण विद्वानोंकी निष्ठा वैदिक विद्या-से उठकर आत्मविद्याकी ओर झुकी थी, और आत्म-विद्याक्षत्रियोंकी सीमासे निकल कर ब्राह्मणोंमें फैलनी शुरू हुई थी। इस दिशामें ब्राह्मणऋषियोंका श्रेय इसमें

---

१ Ancient India as described by Megasthenies—by Macrindle —1877, p. 69.

२ विद्वानोंका अब यह मत होता चला जा रहा है कि यह अभिलेख अशोकने नही बल्कि उसके पौत्र सम्राट् सम्प्रतिके हैं।

३ अथर्ववेद १५-६,७-१२; गोपक ब्राह्मण पूर्व १,१०। शतपथ ब्राह्मण १४-५,४,१०; वह उपनिषद् २-४-१०। शांखाय न श्रौत्रसूत्र १६.२, अश्व-लायण श्रौत्रसूत्र १०,७।

४ (अ) षट्खंडागम—धवलाटीका—जिल्द १ अम-रावती सन् १९३९ पष्ठ १०९-१२४।
(आ) समवायांग सूत्र।

है कि उन्होंने सबसे पहले भारतके अध्यात्मिक तत्वों और उनके आख्यानोंको उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र आदि दर्शनशास्त्र व पुराणोंकी शकलमें संकलन व लिपिबद्ध करनेका साहस किया। यदि इन द्वारा संकलित की हुई अध्यात्म चर्चाएं हमारे पास न होतीं, तो बुद्ध और महावीर कालसे पहलेकी अध्यात्मिक संस्कृतिका साहित्यिक प्रमाण ढूढ़ना हमारे लिये असंभव था। जैन लोगोंमें लिखित जो लिखित साहित्य आज मिलता है, उसकी परम्परा महावीर निर्वाणके ६०० वर्ष पीछे अर्थात् ईसाकी पहली सदीमें उस समयसे शुरू होती है, जब जैन आचार्योंको यह अच्छी तरह भान हो गया था, कि अध्यात्म तत्त्वबोध दिनोंदिन घटता जा रहा है, और यदि इसे लिपिबद्ध न किया गया तो रहासहा बोध भी लुप्त हो जायगा।[1]

अध्यात्मविद्या सभी लोगोंमें रहस्यविद्या बनकर रही है

भारतके सभी धर्मशास्त्रोंमें जगह जगह अधिकारी और अनधिकारी श्रोताओंके लक्षण देते हुए बतलाया गया है कि अध्यात्म विद्याका बखान उन्हींको किया जावे जो जितेन्द्रिय और प्रशान्त हों, हस समान शुद्ध वृत्ति वाले हों, जो दोषोंको टाल कर केवल गुणोका ग्रहण करने वाले हों।[2]

अध्यात्मविद्याको इस प्रकार अनधिकारी लोगोंसे सुरक्षित रखनेका विधान केवल भारतके सन्तों तक ही सीमित न रहा है, भारतके अलावा जिन अन्य देशोंमें अध्यात्मिक तत्वोंका प्रसार हुआ है, वहांके अध्यात्मिक सन्तोंने भी इस विद्याको अनधिकारी लोगोंसे बचाकर रखनेका भरसक यत्न किया है। आजसे लगभग २००० वर्ष पूर्व जब पश्चिमी एशियाके यहूदी लोगोंमें प्रभु ईसा ने आध्यात्मिक तत्वोंकी विवेचना शरू की तो बहुत विवेक और सावधानी से Parables अर्थात रूपकों द्वारा ही की।[3] कि कही वे अपनी नासमझीसे इन तत्वोंको बिगाड़कर कुछका कुछ अर्थ न लगा बैठें और फिर विरोध पर उतारू हो जायें। इसीलिए प्रभु ईसाने इस बातको कई स्थलोंपर दोहराया है—"जो बहुमूल्य और पवित्र तत्व हैं, उन्हें श्वान और शूकवृत्तिवाले लोगोंके सामने न रखा जाय, कही वे उन्हें पाओंसे रोंदकर तुम्हें ही फाड़ने के दर पर न हो जायें।[4]

---

१. वही षट् खण्डागम—डा० हीरालाल द्वारा लिखित प्रस्तावना।

२ (अ) महाशान्तिपर्व अध्याय २४६।
(आ) वृही षट् खण्डागम—गाथा ६२,६३।

३. "But without a parable spake be not into them", Bible–Mark, IV 34.

४. (अ) It is not meet to take children's bread and to cast it into the dogs. Bible—Marke VII 27
(आ) Give not that which is holy intc the dogs, not castye your pearls before swine lest they tramble them under their feet and turn agin and rend you."
Bible—Mathew VII 6.

पूज्य श्री वर्णी गणेशप्रसादजीका एक आध्यात्मिक पत्र

(श्रीमान् ला० जिनेन्द्रकिशोरजी जौंहरी देहलीके सौजन्यसे प्राप्त)

श्रीमहानुभाव लाला जिनेन्द्रकिशोरजी झवेरी, योग्य दर्शन विशुद्धिः—

पत्र पाकर अति प्रसन्नता हुई—आत्माकी परिणतिकी निर्मलता ही तो इसको संसारसमुद्रसे उत्तीर्ण करती है, जिस जीवका मोह गया वह संसारबंधनसे उसी समय मुक्त हो गया। संसारका मूल कारण यही तो है आत्मा तो निरंजन प्रकृतिसे परबोध स्वरूप है इतने काल जो संसारमें भ्रमण कर रहा है मोह ही की तो विडम्बना है—वही कहा हैः—

अहो निरंजनः शान्तो बोधोहं प्रकृतिपरः।
एतावन्तमह कालं मोहेनैव विडम्बितः॥

संसारकी जड़ मोह ही है इसके अभावमें अनायास संसार चला जाता है—संसार अन्य कोई पदार्थ नही, आत्माकी विकार परिणति ही का नाम तो संसार है—यद्यपि उस विकार परिणतिके उपादान कारण हम ही तो हे। ज्ञेय पदार्थ विकारी नही—वह तो निमित्तमात्र है—आत्माका ज्ञान जो है वह ज्ञेयके निमित्तसे कोई विकारको नही प्राप्त होता है जैसे घटादि पदार्थके द्वारा दीपकमें कोई विक्रिया नही होती। घटके अस्तित्वमें दीपक स्वस्वरूपसे ही प्रकाशमान हो रहा है एवं ज्ञान भी ज्ञेयके सद्भावमें जैसे स्वरूप रूपसे प्रकाशित हो रहा है एवं ज्ञेयके अभावमें भी स्वरूपसे प्रकाशमान हो रहा है—फिर भी जीव अपनी अज्ञानतासे निज उदासीनताको त्यागकर नाना यातनाओंका पात्र होता है—अतः जिसने इस पर विजय प्राप्त कर ली वही कल्याणका पात्र है—आपके पत्रसे यह बात समझमें आती है जो आपकी श्रद्धा दृढ़ है वही आपका कल्याण करेगी—चिन्ताकी बात नही—शारीरिक अव्यवस्था काल पाकर स्वयमेव शान्त हो जावेगी। अथवा हम अपनी परिणतिको क्यो न देखें उसमें जो दोष हों उन्हे दूर करनेका प्रयास करना ही हमारा कर्तव्य होना चाहिये।

वैशाख सुदि १० — आ० शु० चि०

सं० २००९ — गणेश वर्णी

अनेकान्तकी सहायताका सदुपयोग

'अनेकान्त' को जो सहायता विवाहादिके अवसरोंपर प्राप्त होती है उसका बहुत अच्छा सदुपयोग किया जाता है। इस सहायतासे जैनेतर विद्वानों, लायब्रेरियों, गरीब विद्यार्थियों तथा असमर्थ जैन संस्थाओंको 'अनेकान्त' बिना मूल्य अथवा रियायती मूल्य ३) में भेजा जाता है। इससे दातारोंको दोहरा लाभ होता है—इधर वे अनेकान्तके सहायक बन कर पुण्य तथा यशका अर्जन करते हैं और उधर उन दूसरे सज्जनोंके ज्ञानार्जनमें सहायक होते हैं जिन्हें यह पत्र उनकी सहायतासे पढ़नेको मिलता है। अतः इस दृष्टिसे अनेकान्तको सहायता भेजने-भिजवानेकी ओर समाजका बराबर लक्ष्य रहना चाहिये और कोई भी अवसर इसके लिये चूकना नहीं चाहिये। अनेकान्तकी सहायताके मार्गोको टाइटिलके दूसरे पृष्ठ पर देखिये।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

कविवर बुधजन और उनकी रचनाएं

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

कविवर बधीचन्द या बुधजन जयपुर निवासी सेठ निहालचन्दजीके तृतीय पुत्र थे। आपकी जाति खंडेलवाल और गोत्र 'बज' था। आपको रुचि बालकपनसे स्वभावतः जैनधर्मके ग्रंथोंके अध्ययन और जिनेंद्रकी भक्ति में आकृष्ट होती थी। आप बड़े ही धर्मात्मा सज्जन थे। आपने लौकिक शिक्षणके साथ धार्मिक ग्रथोका भी अच्छा अभ्यास किया था। और बादको स्वाध्याय एव सत्संग द्वारा आप अपने ज्ञानको बराबर वृद्धि करते रहे है। आपकी जिनेंद्रभक्ति प्रसिद्ध है, वह सप्राण और निष्काम थी। उसमें कविको आन्तरिक श्रद्धा अथवा आस्था ही प्रबल कारण जान पड़ती है। इसीसे वह अपने सात्विकरूपको लिये हुए थी। आपके भक्तिपूर्ण पद इसी भावको द्योतित करते हैं। इसी भक्ति-भावनासे प्रेरित होकर आपने जयपुरमें द जिनमन्दिरोंका निर्माण करवाया था जो आज भी वहां मौजूद है और जिनमें जाकर भक्त जन पुण्यार्जनके साथ पापके विनाश का श्रम कर आत्मपरिणतिको निर्मल बनानेका प्रयास करते है। कविवरने अपने गृहस्थजीवन और गुरु आदिका कोई परिचय नही दिया, जिससे उसका यथेष्ट परिचय मिल जाता।

कविवर जहां धर्मनिष्ठ कवि, दयालु थे, वहां अध्यात्मशास्त्रके भी वेत्ता थे। वे कभी कभी भक्ति रसकी सरस धारामें निमग्न हो इस बातका विचार किया करते थे कि 'हे बुधजन! तूने जिनेन्द्रके भजन अथवा आत्मदेवके आराधन विना ही अपने मानव जीवनको यों ही गंवा दिया, और जो कुछ रहा है वह भी बीता जा रहा है। पानी आनेसे पहले [illegible] (बांध) न बाधी फिर पीछे पछताने से क्या लाभ हो सकता है। जप, तप, संयमका कभी तूने आचरण नहीं किया, न किसीको दान ही दिया—किंतु धन और रामाकी सार सम्हाल करते हुए उन्हीके आशाजालमें बध कर ही तूने इस मानव-जीवनको हराया है। अब तू वृद्ध हो गया। शरीर और शिर तेरा कंपने लगा, दांत भी चलाचल हो रहे हैं—वे एक एक करके विदा लेते जा रहे हैं। चलना-फिरना भी अब किसी लाठीके अवलम्बन बिना नहीं हो सकता। आशारूपी कांसा तेरा इतना विस्तृत हो गया है कि उसका भरना असंभव-सा हो गया है। शारीरिक और मानसिक अनन्त वेदनाएं तुझे चैन नही लेने देतीं, फिर भी तू अपनेको सुखी समझनेका यत्न करता है, यही तेरी अज्ञानता है, दूसरोंको उपदेश देता फिरता है—हितकी बातें सुझाता है, पर स्वयं अहितके मार्गमें चल रहा है। इस तरह तेरा कल्याण कैसे हो सकता है? इसका स्वयं विचार कर और अपने हितके मार्गमें लग, इसीमें तेरी भलाई है। जिनेंद्र ही तारन तरन हैं, इसीसे मैंने अब उन्हींकी शरण ग्रहण की है। इस तरह मनमें कुछ गुन-गुनाते हुए कविवर एक दिन बोल उठे—

"सरन गही मैं तेरी, जग जीवनि जिनराज ।१।
जगतपति तारन तरन, करन पावन जग, हरन-करन-
भव-फेरी ।२।

ढूढत फिरयो भरयो नाना दुख, कहू न मिली सुख सेरी।
यातैं तजी आनकी सेवा, सेवा रावरी हेरी ॥
परमें मगन विसारयो आतम, धरयो भरम जग केरी।
ए मति तजू भजू परमातम, सो बुधि कीजे मेरी ॥"

एक दूसरे दिन जिन चरणोंमें अडोल श्रद्धाको और भी निर्मल बनानेके हेतु, अपनी आत्म कहानी कहते हुए तथा मोहरूपी फांसीको काटकर अविचल सुख प्राप्त करने तथा केवल ज्ञानी बननेकी अपनी भावनाको व्यक्त करते हुए कविवर कहते हैं:—

मेरी अरज कहानी सुनिये केवल ज्ञानी ।
चेतनके संग जड़ पुद्गल मिल, मेरी बुधि बोरानी ॥१॥
भवबन माहीं फेरत मोकूं, लखि चौरासी थानी।
को तू वरनू तुम सब जानू-जन्म मरण दुख खानी ॥२॥
भाग भले तैं मिले बुधजनकू, तुम जिनवर सुखदानी
मोहि-फांसिका काटि प्रभुजी कीजे केवलज्ञानी ॥३॥

कविवर सोचते हैं कि हे बुधजन! तूने मूढ अज्ञानी बन कर तनिक-से विषम सुखकी लालसामें अनन्त काल यों ही बिता दिया, अनादि कालसे जड़ चेतनाका यह मेल बंध अथवा एक जगह रहना इस तरह इन दोनों की एकता, जिस तरहकी एकता दूध और पानीमें पाई जाती है, जो दोनोंके भिन्न भिन्न स्वरूपका भान नहीं होने देती। इसी मिथ्या

एकताके कारण हे आत्मन् ! तू अनन्तकालसे दुःखका पात्र बना हुआ है। इस एकतासे तेरा कैसे छुटकारा हो, जिससे यह भव-फांसी कट कर गिर जाय और तू स्वयं आतमराममें लीन हो जाय, तुझे उसी बलकी आवश्यकता है।—"हूँ तो बुधजन ज्ञाता दृष्टा, ज्ञाता तनजड़ सरधानी। वे ही अविचल सुखी रहेंगे होंय मुक्तिवर प्रानी।" यद्यपि मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, फिर भी मोहकी यह वासना अनन्त संसारका कारण है, उस अनन्त संसारका छेदन करना हीं आत्मकर्त्तव्य है।

पर जब मैं अपनी पूर्व परिस्थितिका चिन्तन करता हूं और संसारकी विचित्र दशाका स्मरण करता हूं तब मेरी जो दशा बनती है उसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना संभव प्रतीत नहीं होता, और न वह वचनोंसे कही ही जा सकती है। उसका स्मरण करना भी मेरे अनन्त दुःखोंका कारण है। इसी बातका विचार करते हुए कविवर कहते हैं:—

"उत्तमनरभव पायके मति भूलै रे रामा ॥
कीट पशुका तन जब पाया, तब तू रहा निकामा।
अब नर देही पाय सयाने क्यों न भजै प्रभु नामा ॥१॥
सुरपति याकी चाह करत वर, कब पाऊं नर जामा।
भूख-प्यास सुख दुख नहि जाके, नाहीं वन पुर गामा।
ऐसा रतन पायकें भई, क्यों खोवत बिन कामा ॥२॥
धनजोवन तन सुन्दर पाया, मगन भया लखि भामा।
काल अचानक झटक खायगा, पडे रहेंगे ठामा ॥३॥
अपने स्वामीके पद पंकज, धरो हिये विसरामा।
मेटि कपट-भ्रम अपना 'बुधजन' ज्यों पावो शिवधामा ॥४॥"

अतः हे बुधजन ! अब अधिक चिन्तन और विचार करने से तेरा कुछ भी सुधार नहीं हो सकता, पशु पर्यायमें तू निकामा ही रहा—आत्महितसे दूर रहा, और नरतनरूपी हीरा पाकर, जिसे देवेंद्र भी पानेकी अभिलाषा करता है, तू उसे व्यर्थ खो रहा है। कर्मोदयसे जो तुझे धन, यौवन और सुन्दर शरीर मिला है उसे पाकर भामा (स्त्री) में क्यो मग्न हुआ है। गुरु बार बार पुकार कर कह रहे हैं—हे आत्मन् ! पंच इन्द्रियोंके यह विषय बड़े ही घातक हैं, इन्हें छोड़, अन्यथा काल अचानक आकर तुझे खा जायगा, और कर्मोदयजनित यह सब ठाट पड़ा रह जायगा, तेरा मनका विचार मनमें ही रह जायगा, फिर कुछ न कर सकनेके कारण केवल पछतावा तेरे हाथ रह जायगा। अतः अब तू अपना अन्तर कपट रूपी भ्रम मेट, और अपने हितकी ओर देख, जिससे तुझे सच्चे शिवधामकी प्राप्ति हो, जो तेरी चिर अभिलाषा का विषय रहा है। इन सब विचारोंसे कविवरका आत्महित-का लक्ष्य और भी दृढ़ हो गया, और वे सबसे उदासीन होकर आत्मसाधनाके कार्यमें जुट गये।

अब कविवरका जीवन, जो कभी आत्महितकी विचार-तरंगोंमें उछला करता था, वह उस ज्ञायक आत्मस्वरूपमें स्थिरता पानेका अधिकारी हो गया, इसके लिये उन्हें काफी पुरुषार्थ कर ध्यानका अभ्यास करना पड़ा, पर इससे उनके चित्तकी प्रसन्नता और संतोषमें भारी वृद्धि हुई, जो आत्मसाधनामें सहायक है। एक दिन कविवर ध्यानमें बैठे हुए कुछ गुनगुनाते हुए कहते हैं:—

मैं देखे आतम रामा ॥
"रूप परस रस गंधते न्यारा, दरश ज्ञान गुन धामा।
नित्य निरंजन जाके नाही, क्रोध-लोभ मद कामा ॥१॥
नहि साहिब नहि चाकर भाई, नही तात नही मामा ॥२॥
भूल अनादि थकी जग भटकत, ले पुद्गलका जामा।
बुधजन संगति गुरुकी कीयें, मै पाया मुझ ठामा ॥३॥

इस तरह कविवर आत्मरसमें विभोर हो शरीरको पुद्गलका जामा समझकर सुगुरुकी संगति अथवा कृपासे अपनी निधिको पा गये।

रचनाएँ

इस समय कविवरकी मुझे चार रचनाओंका पता चला है। बुधजन सतसई, तत्त्वार्थबोध, बुधजन विलास और पंचास्तिकायका पद्यानुवाद। इन ग्रंथोमेंसे पंचास्तिकाय-को छोड़ कर शेष तीन रचनाओंको देखा है और उनपरसे कुछ नोट्स भी लिये थे। पंचास्तिकायकी रचना संभवतः जयपुरमें ही किसी ग्रथभंडारमें होगी, इसीसे उसे देखनेका सौभाग्य अभी तक प्राप्त नही हो सका है।

१ बुधजन सतसई—यह ग्रथ सातसौ दोहोंमें रचा गया है। इसमें चार प्रकरण है—देवानुराग शतक, सुभाषित-नीति, उपदेशाधिकार और विराग भावना। इस ग्रंथके उक्त प्रकरणोंका अध्ययन करनेसे ग्रथकी महत्ता और कविकी प्रतिभा एवं अनुभूतिका सहज परिचय मिल जाता है। परन्तु खेद इस बातका होता है कि इतने सुन्दर ग्रथका समाजमें कोई प्रचार ही नही है। और न उसका तुलनात्मक अध्ययन द्वारा कोई महत्त्वका आधुनिक संस्करण ही निकाला गया है, जिससे वह साहित्यसंसारमें अध्ययनकी वस्तु बनता।

उक्त प्रकरणोंमेंसे प्रथम प्रकरणमें कविने देवता-विषयक अनुराग एवं भक्तिका सजीव चित्रण किया है। कविके देवानुराग-विषयक कथनको देखते हुए महात्मा सूर और कविवर तुलसीके देव-भक्तिविषयक पद भी कही स्मृतिका विषय बन जाते है। संभव है उनकी कुछ छाया कविपर पड़ी हो, जैसा कि निम्न उद्धरणसे स्पष्ट है:—

"मेरे अवगुन जिन गिनौ, मै औगुनको धाम ।
पतित उद्धारक आप हो, करो पतितको काम।"—बुधजन
"प्रभु मेरे अवगुन चित्त न धरो ।
समदर्शी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो ॥"—सूरदास
"रामसौ बड़ो है कौन मोसे कौन छोटो ।
रामसौं खरो है कौन मोसे कौन खोटो ॥"—तुलसी

सुभाषित नीतिपर भी कविने २०० दोहे लिखे है, उनके पढ़नेसे कविके अनुभवपूर्ण पाडित्यकी झांकीका सहज ही दर्शन हो जाता है। उनमे कितने ही दोहे संस्कृत के नीति-सम्बन्धी श्लोको के सूचक है। हिंदी भाषाके प्रायः सब ही कवियोने (वृन्द, रहीम, और तुलसी आदि ने) सस्कृत पद्योके नीति-विषयक पद्योका अनुवाद ही दोहोमें किया है। इसलिये इस सम्बन्धमें कविवर बुधजनको उनका अनुकरण करने वाला नही कहा जा सकता किंतु वे सब दोहे सस्कृत पद्योपरसे ही स्वकीय योग्यतानसार अनूदित किये गये है। जैसा कि उनके निम्न उद्धरणोसे स्पष्ट है:—

"महाराज महावृक्षकी, सुखदा शीतल छाय ।
सेवत फल भासै न तौ, छाया तौ रहि जाय ॥ बुधजन
"सेवितव्यो महावृक्ष., फलच्छाया समन्वितः ।
यदि दैवात् फले नास्ति छाया केन निवार्यत. ॥ हितोपदेश
"पर उपदेश करन निपुन, ते तो लखे अनेक ।
करे समिक बोलै समिक, ते हजारमें एक"॥ बुधजन
"परोपदेशे पांडित्य, सर्वेषा सुकर नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं, कस्य चित्तु महात्मन : ॥ हितो०
"मिनख जनम ले ना किया, धर्म न अर्थ न काम ।
सो कुच अजके कंठमें, उपजे गए निकाम ॥" बुधजन
"धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्यैव, तस्य जन्म निरर्थकम् ॥" हितोप०
"नदी नखी श्रृंगीनिमें शस्त्र पानि नर नारि ।
बालक अरु राजानढिग, वसिए जतन विचारि ॥' बुधजन
"नदीनां शस्त्रपाणीनां नखीनां श्रृंगिणां तथा ।
विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥' हितो०
"विपताको धन राखिए धन दीजे रखि दार ।
आतमहितको छोड़िए धन दारा परिवार ॥" बुधजन
"आपदर्थे धनं रक्षेत् दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।" —हितोपदेश
"रिपु समान पितु मात जो, पुत्र पढावै नांहि ।
शोभा पावै नांहि सो, राज सभाके मांहि ।"
"मातः शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ।"—हितो०

इसी तरहके और भी कितने ही दोहे है जिन्हें संस्कृत पद्योंका भावानुवाद कहा जा सकता है।

उक्त सतसईमें नीति-विषयक दोहे कुछ ऐसे भी है जिनकी अन्य हिंदी कवियोके दोहोंके साथ समानता पाई जाती है। पाठकोकी जानकारीके लिये यहां सिर्फ ४ दोहे ही दिये जा रहे है:—

"दुष्ट मिलत ही साधुजन, नही दुष्ट ह्वै जाय ।
चन्दन तरु को सर्प लगि, विष नही देत बनाय । बुधजन
बुद्धिवान गम्भीरकौ संगत लागै नांहि ।
ज्यों चन्दन ढिग अहि रहत विष न होय तिहि मांहि। वृन्द
रहिमन ज्यो उत्तम प्रकृति का कर सकत कुसंग ।
चन्दन विष व्यापै नही लिपटे रहत भुजंग। रहीम
दुर्जन सज्जन होत नहि राखो तीरथ बास ।
मेलो क्यों न कपूरमै हीग न होय सुवास ॥ बुधजन
नीच निचाई नहि तजै, जो पावै सत्सग ॥
तुलसी चन्दन विटपिवसि विष नहि तजत भुजग। तुलसी
करि सचित कोरो रहै, मूरख विलसि न खाय।
माखी कर मंडित रचै, शहद भील ले जाय ॥ बुधजन
खाये न खरचै सूम धन, चौर सबै ले जाय ।
पीछै ज्यों मधु मक्षिका, हाथ मले पछताय। वृन्द
दुष्ट कही सुनि चुप रह्यो, बोलें ह्वै है हान ।
भाटा मारे कीचमे, छीटे लागै आन ॥ बुधजन
कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको सग ।
पाथर डारयो कीचमें, उछरि बिगारै अंग ॥" वृन्द

आत्म कर्त्तव्यका भान कराने वाले कविवरके निम्न दोहे खास तौरसे मनन करने योग्य है जो आत्म-बोधके साथ वस्तुस्थितिके निदर्शक तथा वैराग्योत्पादक भी है:—

धंधा करता फिरत है, करत न अपना काज ।
घरकी झुंपरी जरत है, पर घर करत इलाज ॥

कितने दिवस बीते तुम्हें, करते क्यों न विचार ।
काल गहैगा आय कर, सुनि है कौन पुकार ॥
जो जीए तो क्या किया मूए तो क्या दिया खोय ।
लारै लगी अनादिकी, देह तजै नहि कोय ॥
तजै देहसौं नेह अर, मानै खोटा संग ।
नहि पोषै सोखत रहै, तब तूं होय निसंग ॥
तन तौ कारागार है, सुत परिकर रखवार ।
यों जानै भानै न दुख, मानै हितू गँवार ॥
या दीरघ संसारमें, मुवो अनन्ती बार ।
एक बार ज्ञानी मरै, मरै न दूजी बार ॥
मन तुरंग चंचल प्रबल, बाग हाथमें राखि ।
जा छिन ही गाफिल रह्यो, ता छिन डारै नाखि ॥
चाह करै सो न मिलै, चाह समान न पाप ।
चाह रखै चाकर करै, चाह विना प्रभु आप ॥
परमारथका गुरु हितू, स्वारथका संसार ।
सब मिल मोह बढ़ात हैं, सुत तिय किंकर यार ॥
तीरथ तीरथ क्यों फिरै, तीरथ तो घट मांहि ।
जो थिर हुए सो तिरगए, अथिर तिरत है नांहि ।
अपने आप विगाड़तै, निश्चै लागत पाप ।
पर अकाज तो हो नहीं, होत कलंकी आप ॥
को है सुत को है तिया, काको धन परिवार ।
आके मिले सरायमें, बिछुरैंगे निरधार ॥
परी रहेगी संपदा, धरी रहेगी काय ।
छल बल करि क्यों तू न बचै, काल झपट ले जाय ॥
देहधारी बचता नहीं, सोच न करिए भ्रात ।
तनतौ तर्ज गे रामसे, रावनकी कहा बात ॥
आया सो नांही रह्या, दशरथ लछमन राम ।
तूं कैसे रह जायगा, झूंठ पापका धाम ॥
करना क्या करता कहा, धरता नांहि विचार ।
पूंजी खोई गांठकी, उलटी खाई मार ॥

और भी कितने ही दोहे पाठकोंके अवलोकनार्थ दिये जा सकते थे, परन्तु विस्तार भयसे उन सबको छोड़ा जाता है। ऊपरके इन कतिपय उद्धरणोंसे पाठक सतसईकी महत्ताका भान कर सकते हैं। कविवरने इस सतसई ग्रंथको सं. १८७९ में जयपुरके राजा जयसिंह तृतीयके राज्यकालमें बना कर समाप्त किया है।[१] ग्रंथ कर्ताने इस ग्रंथको किसीकी प्रेरणासे नही बनाया है किन्तु अपनी बुद्धिकी प्रेरणासे स्वयं ही रचा है।

कविवरकी दूसरी रचना 'तत्त्वार्थबोध' है जो एक पद्यबद्ध ग्रंथ है। इसमें गृद्धपिच्छाचार्यके 'तत्त्वार्थसूत्र'के सूत्रविषयका पल्लवित अनुवाद दिया हुआ है। इसके सिवाय ग्रंथमें १४ गुणस्थानोंका विशद स्वरूप, पल्य, सागर, राजूका प्रमाण, मध्यलोकका वर्णन, १४ मार्गणाओंकी चर्चा, श्रावकोंके षट् आवश्यक कार्य, दशधर्म, द्वादशतम, बाईस परिषह, अठारह हजार शीलके भेद और सत्सख्यादि प्ररूपणाओंका सुन्दर कथन दिया हुआ है। इस ग्रंथको भी कविने सं. १८८९में राजा जयसिंहके राज्यमें बनाकर पूर्ण किया है।[२] तत्त्वार्थबोधसे यहां सिर्फ चतुर्थ गुणस्थान-का संक्षिप्त स्वरूप पाठकोंकी जानकारीके लिये दिया जा रहा है:—

जो निज आतम अनुभवै, तन-तुष-माष पिछान ।
उदासीन घरमें बसै, सो चौथा गुनथान ॥२१॥
सात तत्त्व षट् द्रव्यको गुन-परजाय विधान ।
जैसा भाष्या केवली, तिसा करै सरधान ॥२२॥
सूतो जीव अनादिको मोहनीदमें दीन ।
कर्मशत्रु धन लूटिकै, करो संपदाहीन ॥२३॥
जागै गुरउपदेशतैं, मोहनीद तजि जीव ।
शनै शनै कर्मनितजै, सपति रहे सदीव ॥२४॥
विषयविरेचन औषधी, श्रीजिनवचन प्रमाण ।
जन्म-जरा-दुख दाघहर, शिव-सुखदायक जान ॥
अनंत चतुष्टयका धनी, मदिरा मोह सवादि ।
रंक भया चिरु दुख सहै, निजधन करै न यादि ॥
रहिये जा सग जाहिसौं, आदि अन्त सुख भोग ।
आदि अन्त सुखमय सदा, परसंग तजिवे जोग ॥
जरै मरै फाटै गेरै, नव जीरनता वानि ।
जरै मरै नहि जीव ये, दुखी पराई हानि ॥
हानि वृद्धिके योगमें, दुखी सुखी मतिमान ।
जो बोया सो ही मिले, निज-प्रापति उनमान ॥
जो अलाभ औ लाभसिर, बंधो सो मिलहै आय ।
कर्म जोरि है मति जिसी, वाही देत गिराय ॥

---

१ संवत् ठारासै असी एक बरस तैं घाट ।
ज्येष्ट कृष्ण रवि अष्टमी हुवो सततई पाठ ॥

२ उस समय जयपुरमें जयसिंह तृतीयका राज्य था, जो जगतसिंहके पुत्र थे। और वे तब चार-पांच बरसके थे। उनकी माता उस समय राज्यकी अधिकारिणी थी। जयसिंह की सन् १८३४ वि. सं. १८७१ में मृत्यु हो गयी थी।

जो कछु नीत अनीत है, निरख पराई गैर।
क्षमा करै तो रनघटै, बढ़ै धरै जिय वैर ॥
जो जिन दर्शन भ्रष्टकै, लाज लोभ भय खाय।
इष्ट जानके पग परै, ताको समकित जाय ॥
सम्यक् रुचि ।रधानतै, शुद्ध ज्ञान उपलब्धि।
तातै निज आचरन ह्वै, कर्मनाश शिव सिद्ध ॥
धर्म मूल सम्यक्त जिन, कहो देव निर्दोष।
धर्महीन समकित बिना, होय न कबहू मोक्ष ॥
विना मूल ज्यों विटपकै, दल फल फूल न वृद्धि।
धर्ममूल समकित विना, त्यों न होय सिव सिद्ध ॥
विषम परीषहको सहै, विन समकित सरधान।
करै कोटि लख बरष तप, तो न लहे निरवान ॥
चूटत काटत दल मलत, मिटत न इम मिथ्यात।
मूल उखारत समकिती, पुनि विकास नहि पात ॥
चरितमोहनीकै उदै, वर तन धारै लेश।
पहचानै निज अपर कू, रहै उदासी भेस ॥
जो जग अपजस न बढ़ै, धर्म विरोध न कोय।
वा कारिजको समकिती, करै उद्यमी होय ॥
मेरी नाही राजरिद्धि, सुत दारा परिवार।
राग दोष तन मन वचन, क्रोध लोभ मद मार ॥
मनमें मैं तब ही कियो, अहंकार ममकार।
जब जब बांध्यो कर्मपुञ्ज, लयो कुगति दुखभार ॥
मै नहि इनका ये न मम, हुए न होंगे नांहि।
मै एकाकी ज्ञान घन, जिसा शिवाले मांहि ॥
पहले कीनी भूल जो, उदै आय रस देय।
तासौं परवश पररह्यो, करज देय सो लेय ॥
जड़को करता जड़ सही, मै मेरा करतार।
विरथा करता होय पर, कैसै भुगतों मार ॥
मन वच काय शरीर सब, पर पुद्गलके बंध।
पुनि ज्ञानावरणादि वसु, द्रव्यकर्म सम्बन्ध ॥
मेरा लक्षण चेतना, असंख्यात परदेश।
गलै बलै पूरै नहीं, आदि अन्त विनिवेश ॥
अहो भाग्य समकित जग्यो, निज धन लाग्यो हाथ।
कर कलेस बाटा बटघा, दुख सहते पर साथ ॥
जो नरभव समकित गहै, ता महिमा सुरलोय।
जो अजान विषयागमन, बूड़ैं सागर सोय ॥"

इन थोड़ेसे दोहोंपरसे ही पाठक इस ग्रंथकी उपयोगिता महत्ता और विषयविवेचनकी सरल एव मनोहर सरणि का मूल्य आक सकेंगे। और कविके भावुक हृदयकी गति-विधिको भी पहचान सकेंगे। इस तरह यह सारा ही ग्रंथ सैद्धांतिक विवेचन सुन्दर सुगम एवं ललित सूक्तियों, विविध अनुप्रासों आदिको लिये हुए है। यद्यपि यह ग्रंथ भी छप गया है, परन्तु इसका शुद्ध सुन्दर संस्करण अभी तक प्रकाशमें नही आया है जिसके लानेकी आवश्यकता है।

तीसरी रचना 'बुधजन' विलास है। इस ग्रंथमें अनेक फुटकर छोटी-बड़ी रचनाओका संग्रह एकत्र किया गया है जो विभिन्न समयों में रची गई हैं। छहढाला, इष्ट छत्तीसी, दर्शन पच्चीसी, पूजन करनेसे प्रथम पढा जाने वाला पाठ, बारह भावना पूजन तथा अनेक सुन्दर भक्तिपूर्ण, औपदेशिक एवं आध्यात्मिक पदोंका संकलन किया गया है, जिनका कुछ परिचय ऊपर कराया जा चुका है। बुधजन विलासकी प्रथम रचना छहढाला बड़ी ही सुन्दर कृति है। इस कृतिको देख-कर ही कविवर दौलतरामजीने छहढालाकी रचना की है। छहढालेकी यह रचना जो खड़ी बोलीमें की गई है, मुमुक्षु जीवके लिये हित बोधक जान पड़ती है। इस ग्रंथको कविने सं. १८५९ में वैशाख शुक्ला तीजको बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

ठारहसौ पंचास अधिक नव संवत जानों।
तीज शुक्ल वैशाख ढाल षट् शुभ उपजानों ॥

इस ग्रंथके अन्तमें कविने आत्म संबोधनका उल्लेख करते हुए लिखा है कि हे बुधजन। करोड़ बातकी यह बात है, उसे अपने हृदयमें धारण कर, और मन वचन कायकी शुद्धि-पूर्वक जिन धर्मका शरणा रखना, वह दोहा इस प्रकार है:—

कोटि बातकी बात अरे 'बुधजन' उर धरना।
मन वच तन शुद्धि होय गहो जिन वृषका शरणा ॥

वीरसेवा मन्दिर ता. २६-८-५२

जोधपुर इतिहासका एक आवरित पृष्ठ

(जोधपुरको मुसलमान अधिकारीसे वापिस लेनेवाला-गदहीया तेजा)

(श्री अगरचन्द नाहटा)

जिस प्रकार जैन आचार्योंका इतिवृत्त पट्टावलियों, प्रतिमालेखों, ग्रंथ प्रशस्तियों, लेखन पुष्पिकाओं व प्रबन्धसंग्रहोंमें और रास काव्य, गीतादिमें पाया जाता है उसी प्रकार जैन श्रावकोंके वंशकी नामावली व इतिहास वंशावलियों आदिमें पाया जाता है। पर अभी उनकी ओर विद्वानोंका जैसा चाहिए ध्यान नहीं गया, फलतः (जातीय) बहुत सी महत्वपूर्ण बातोंसे हम अपरिचित से हैं।

हमारे पूर्वजोंने इतिवृत्तको सुरक्षित रखनेका काम कुलगुरु, महात्मा व भाटोंके सुपुर्द किया था। वंशावली लिखते रहनेके लिये हजारों लाखों रुपये ओसवाल समाजके इन लोगोंके दान व सत्कारमें खर्च होते थे पर खेद है जिस साहित्य रक्षाके लिये उन्होंने लाखो रुपये खर्च कर ऐसी सुन्दर व्यवस्था की थी हमने उसकी सर्वथा सुधि विसार दी है। फलतः हमारे पूर्वजोंके कार्य-कलापों एवं कीर्ति-गाथाओंसे हम सर्वथा अपरिचित से हैं। इसीलिये उनके कार्यों द्वारा हमें जो प्रेरणा मिलनी चाहिए थी वह नहीं मिली।

इन वंशावलियोंसे कभी कभी ऐसी महत्त्वपूर्ण राजकीय घटनाओंका परिचय मिलता है जिनका उल्लेख राजकीय ख्यातों आदिमें भी नही पाया जाता। अत: इनका महत्व ओसवालादि वंशके इतिवृत्तके साथ भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे भी है। वंशावली लेखनका कार्य अब बन्द सा हो रहा है। कुलगुरु महात्मा इसको छोड़ रहे है। भाट लोग कभी कभी आ जाते हैं और पुत्र पुत्री व विवाहादिकी नोंध लिख कर ले जाते है पर उनका पूर्व जैसा अब आदर नहीं रहा, अतः वे भी थोड़े दिनोंमें इस पेशेको छोड़ देंगे, ऐसा वर्तमान स्थितिसे सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

पुरानी वंशावलियां असावधानी व कहीं भाटोंके आपसी बटवारे आदिके कारण नष्टप्राय: हो चुकी है। उनके आधारसे विलिखित नई बहिया ही भाट व कुलगुरुओंके पास देखी जाती है। पूछ ताछ करने पर पुरानी बहियां भरती (पूरी लिखी जा चुकने) हो जानेसे व जीर्ण हो जानेसे घरपर रखी हुई बतला देते है। कोई जातीय इतिहासका प्रेमी खोज करे तो कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारी हाथ लगने व प्रकाशमें आनेकी सभावना है। खेद है वैसा जातीय इतिहासका प्रेमी व्यक्ति अभी नजर नहीं आता।

समाजमें ऐसी वंशावलियां होंगी पर उनके सम्बन्धमें अभीतक कहीं प्रकाश डलाया गया नजर नही आया अतः दि० विद्वानोंसे अनुरोध है कि वे उनकी शोध पर इतिवृत्त प्रकाशमें लावें।

भाटोंके पासकी प्राचीन वंशावलियां देखनेका तो मुझे अवसर नही मिला। उन्होंने तो उसकी गोप्यताके लिये साकेतिक लिपिका आविष्कार भी वर्षोसे कर लिया है। अतः साधारण व्यक्ति बही पास पड़ी रहे तो भी उसे पढ नही सकते। पर जैन यतियो व महात्माओ व मथेरणो द्वारा लिखित कतिपय वंशावलिया हमारे संग्रहमें एवं अन्यत्र भी प्राप्त है। इनमे सबसे प्राचीन ज्ञात वंशावली बड़ौदाके म्यूजियममे सुरक्षित है जिसका कुछ हिस्सा नष्ट हो गया है। यह कपड़े पर लिखी हुई है और १६ वी शतीके अन्त की है। इसका थोड़ा सा परिचय मै ओसवालके एक अंकमें प्रकाशित कर चुका हू। इससे परवर्ती वंशावलिया हमारे संग्रहमें है जिनमें कपड़े पर लिखित दो वंशावलियां ही सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। प्रथममें लेखन सं. १६१२ लिखा हुआ है। दूसरी इसके कुछ बाद की है पर है वह भी १७ वी शतीकी। १८-१९-२० शतीकी लिखित तो कई वंशावलियां मेरे संग्रहालयमें है। ये सभी उपकेश (कवला) गच्छीय यतियोकी लिखित हैं। अभी उनको सांगोपांग देखने व उनपर प्रकाश डालनेका सुअवसर तो नही आया पर सरसरी तौरसे देखनेपर उनसे कई महत्त्वपूर्ण बातोंका पता चला, जिनमेंसे एकको प्रस्तुत लेखमें प्रकाशित किया जा रहा है।

कुछ वर्ष हुए हमारे संग्रहके एक गुटकेमें जोधपुरके तेजा गदहीया व उनके वंशजोको प्राप्त दाना माफीके परवानोंकी नकल पाई गई थी, जिसे मै "ओसवाल" वर्ष १६ अं. ३ में प्रकाशित कर चुका हूं। मूल परवाना सं.

१९०३ के विजय दशमीको जोधपुरके महाराजा मालदेवने सा० तेजा सहिमलको दिया था। परवर्ती दो परवानोंमें उसी बातको दुहराया गया है। परवर्ती राजाओं द्वारा पूर्व प्राप्त दान माफीकी बातको पुष्ट किया गया है।

मूल परवानेमें लिखा गया है कि सा. तेजा सीहमल गदहीया "रावलें बडे अवसाण आया छै सु इणा नु मया कर धरतीमें दाण जगात बगसीयो है" बीजो ही इणा नु क्युं न लागे, सरब माफ छै। अै स्याम धरमी छोरु छै।" इन शब्दोंसे जोधपुर राज्यके ये कभी किसी बड़े काम आये थे, ज्ञात होता है। पर यह बड़ा काम क्या था? अभी तक अज्ञात था। जोधपुर इतिहास में इसका कुछ भी विवरण नही मिलता। मैंने इसे प्रकाशित करते समय लिखा था कि "अब इनके वंशमें कोई है या नही? तेजा सीहमलने क्या सेवा बजाई थी? वे कहा रहते थे? आदि बातें अन्वेषणीय है।" आशा की गई थी कि जोधपुरके कोई सज्जन या उनके वंशज इन बातोंपर विशेष प्रकाश डालेगें पर इतिहासकी ओर उदासीन होनेके कारण किसीने इस ओर ध्यान ही नही दिया प्रतीत होता है। आज तो लोग रोटीकी समस्याको हल नही कर पाते तब इस ओर ध्यान दे भी कैसे! मेरे जैसा प्राचीन इतिवृत्तका प्रेमी इन विस्मृत बातोंको प्रकाशमे लानेका प्रयत्न करता है तो लोग इसे 'मुर्देको कब्र खोदकर बाहर निकालना' कहते है, अस्तु। मेरी खोज चालू ही थी। अभी उस दिन अपने संग्रहकी ओसवाल वंशावलियोको उलटते पुलटते समस्याका हल एक वशावलीमे ही प्राप्त होगया। पाठकोकी जानकारीके लिये वंशावलीका आवश्यक अश यहा उद्धृत कर दिया जाता है। इससे तेजाके वशजोंके नामादि ज्ञात होनेके साथ वह किस बड़े अवसाण (मौके कार्य) पर काम आया था, पता चल जाता है।

वंशावली का उद्धरण

गादहीयः गोत्र—

आदित्य नाग गोत्रे ॥ चोरवेडिया शाखाय। गादहीया शाखायां सा:खरुहथपु० भइसारइ केडइ गादहीया जाणिवा रूपारेल विरुदमभूत्। पत्तन मध्ये। सामेइसा पु. कउंरा पु.छाहड पु.पाल्हण पु. केल्हण भा. कमलादे पु. लिखमीधर १.छीहर।

जोधपुरे गादहीया

४ तेजा पु. सीहमल १ समरथ २। सीहमल पु. वस्ता १ द्वि जैतसी

२ वस्ता पु.देवीदास १ नगराज २ पितर छै

(वस्तानु बेटो प्रत्यक्ष हूवो (बेटो दीधो केसरीसिंघ)

२. जैतसी पु. जैराज १ जसवंत २ जगमाल ३ जोधा ४ जैकर्ण ५ जगमाल ६

१ जैराज पु. रूपचन्द १ अमीचंद २ दुलीचद ३ रूपचंद पु. कपूरचद १

२ अमीचंद पु अनोपसिंघ १ अजबसिंघ २ द्वि आणंद ३ विरधा ४ सावत ५ अखा ६ तेजा ७ २ अजबसिंघ पु. रतनजी

१ अनोपसिघ पु. भाऊजी, सांवल जी। भाऊजी पु. लालचंद १ सवाई २ उमा ३ लालचंद पु. खेता १ अमा २

२ जसवंत पु. मयाचंद, पेमराज २ रामचद ३ हरचंद ४ किमनचद ५ (मयाचद पु. विरधीचंद)

पेमराज पु. भगोतीदास १ दीनानाथ २ गुलाबचंद ३ भावसंघ ४ पु. सिरदारा १

१ भगोती पु. थिरपाल १

२ दीनानाथ पु. रुघनाथ १ जिणदास २ जैचंद ३। जिणदास पु. सुरताण।

३ गुलाबचंद पु०

४. जोधा पु. रामचद १ उदैचद २ ताराचंद ३ देवचंद४ (जोधा कारकन हूवौ मेडतै, सं. १७३४ म० जसवंत सिंहजी रै)

१. रामचंद पु. सुकलचंद १ खो० श्रीचंद पु खुस्याल चंद १

२ उदैचंद पु. छजमल १ छीतर २ छजमल पुत्र सरूपचद १ वखतमल २ तखतमल ३

४ जोधा द्वि. भा. तिलोकचद १

इसके बाद सीताकी वंशावलि आरंभ होती है

जोधपुर या उसके आसपास कहीं गदहीये तेजोके वंशज अब भी संभवतः निवास करते होंगे उनमेंसे कोई सज्जन जातीय इतिहास व स्ववंशके गौरवका प्रेमी हो तो इस सम्बन्धमे विशेष जानकारी प्रकाशमें लायें यह अनुरोध है।

तेजा

४. तेजै गढ़ जोधपुर लीधौ तेरी बाकी—राठोड़ वीरमदे दूदावत रावजी श्रीमालदेजी ऊपर सूर पातिसाहरी कटक ल्यायो। सं: १६०० वर्षे जैतो कूपो समेल काम आयो।

पातसहजी हमजानुं जोधपुर फोजदार राखीयो। पछै सा. गादहीयै तेजै सहसावत हमजानुं मारनै गढ जोधपुर लीयो। रावश्री मालदेजी नुं सूंपीयो। बडो स्वामिधर्मी हुवो। रावजी इयां नुंमय करिनै दाण जगात छूट कीधा। तिणरा पटा छै। वलै तिण समेरो गीत छै—

सूर पातिसाह नं मालवे सांकलो
ठाकुरे वडवडे छांडीया डाल
गिरंद झूझारीये तेथ कण गादह्यो
प्रतपीयो तेजलो गढै रखपाल ॥१॥

सांम रै कांम परधान सहसा सुतन-
विरद पतिसाह सूं हुवो बाथै
जोधपुर महाभारथ कियो जोरवर-
हमजो मार लियो जस हाथै ॥२॥

भारमल हरै मेछांण दल भांजिया-
राव रै काम अखियात राखी
कोटनव अचल राठोड़ साको कियो-
सूर नै सोम संसार राखी (! साखी) ॥३॥

हारिया असुरइम जस हुवो-
वाणियै इसो करि दाख वारो
थापियो मालदे तोनूं तेजा सुथिर-
थयो खटसुर खंडे नांमथारो ॥४॥

राठोड़ वीर जैता कूपाने इस युद्धमें बड़ी वीरता और स्वामिभक्ति दिखाई। दुर्भाग्यवश सैनिक कम होने व दिशा भ्रम हो जानेसे जैता कूपा काम आये। जैसा कि उपरोक्त उद्धरणमें लिखा गया है शेरशाहकी विजय तो हुई पर वह बहुत महगी पड़ी। फलतः उसके मुहसे ये शब्द निकल पड़े—"खुदाका शुक्र है कि किसी तरह फतह हमें हासिल हुई वरना मैंने एक मुट्ठी भर बाजरे के लिये हिंदुस्तानको बादशाहत ही खोई थी।"

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि सूर पातिसाहने राव मालदेवजीपर चढ़ाई सं. १६०० में की थी, जैता इसमें काम आये। जोधपुर पातसाहके कब्जेमें जा चुका था। पातसाहने हमजाको जोधपुरका फौजदार नियुक्त कर दिया था। सा. तेजा गदहीयेने उस समय वहांके नियुक्त हमजा फौजदारको मारकर राठोड़ोंके हाथसे निकले हुए जोधपुरको प्राप्त किया और उसे उसके स्वामी राव मालदेवजीको सौंप दिया। इससे वह कितना वीर, साहसी व स्वामधर्मी था—सहज पता पड़ जाता है। विधर्मी व शत्रुके हाथमें गये हुए राज्यको वापिस प्राप्त कर लेना कितना बड़ा काम है, यह किसीसे छिपा नहीं है। इस असाधारण सेवाके उपलक्षमें ही उसे वंश परम्परा तक दाण व जगात माफ की गई थी। जिससे परवानेकी नकल पूर्व प्रकाशित की जा चुकी है।

स्व० ओझाजीके जोधपुर राज्यके इतिहासके पृ० ३०८ से ३१० में इस घटनाका विवरण प्रकाशित है व पं. विश्वेश्वरनाथजी रेउके मारवाड़ राज्यके इतिहास भा. १ के पृ. १२८ में उसका विशेष वर्णन पाया जाता है। वंशावलिमें उल्लिखित सूर पतिसाह सुप्रसिद्ध शेरशाह था। राठोड़ वीरम और भीम ही उसे प्रोत्साहित कर स. १६०० में जोधपुर पर चढ़ा लाये थे। राठोड़ोंकी वीरतासे उसने विजयकी आशा छोड़ वापिस चले जानेका कई बार विचार किया था पर वीरमने उसे रोके रखा और अंतमें एक कपटकी चाल चलकर राव मालदेवको अपने सामन्तोंसे अविश्वास पैदा करा दिया, फलतः शेरशाहको विजय प्राप्त होगई। राव मालदेव पहाड़ियोंमे जा छिपा। वीरमको मेड़ताका शासन प्राप्त हो गया।—

जोधपुर आधीन कर शेरशाहने वहांका प्रबन्ध खवासखांको सौंप दिया। पर वशावलि और गीतके अनुसार उसका नाम हमजा था। रेउजीके इतिहासमें लिखा है कि १-१॥ वर्ष तक जोधपुर मुसलमानोके अधीन रहनेके अनंतर स. १६०२ में शेरशाहके मारे जाने पर मालदेवने पहाड़ोसे आकर शेरशाहके नियुक्त मुसलमान अधिकारी व सैनिकोको मारकर राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। सेवकोंके शुभ काम मालिकोके नामसे प्रसिद्ध होते आये है पर वास्तवमें जोधपुरको वापिस प्राप्त करनेका श्रेय तेजोको ही मिलना चाहिये। ओसवाल जातिके इतिहासमें इस वीरकी गौरव-स्मृति सदा बनी ही रहेगी।

श्वेताम्बर श्रावकोका पहले गुजरातके राज्यसचालन व श्रीवृद्धिमें बडा हाथ रहा है। पाटणके महाराजा सिद्धराज जयसिंह व कुमारपालका समय स्वर्णयुग था। उस समय जैनधर्म गुजरातमें चरम उत्कर्षको प्राप्त हुआ था। वस्तुपाल तेजपालकी वीरता, व्यवहार कुशलता. नीति-निपुणता व धर्मप्रेम तो गुजरातके जन इतिहासमें चिर स्मरणीय रहेगा। चौदहवी शतीमें श्वेता. दानवीर जगडूशाह व धर्ममूर्ति पेथड़शाह व समरसिहकी कीर्तिगाथा प्रसारित होती है। १५-१६वी शतीमें मंत्रिमंडल एवं संग्रामसिहका मंडपदुर्ग-मालवेमें बडा प्रभाव प्रतीत होता है। इस समयमें राजस्थानमें जैन श्रावकोंका राज्य संचालनमें प्रधान स्थान हो जाता है। इसी शतीके कर्मसाहका धर्म मर्म उल्लेख योग्य है। १७वीं में मंत्रीश्वर कर्मचंद्र व राजा भारमल. १८वीं में भंडारी रतनचंद. मुहणोतनैणसी और १९वीं में संघवी इंद्रराज हिंदुमल वैद अमरचंद घुराणा आदिने जोधपुर व बीकानेर राज्यकी बड़ी सेवा व उन्नति की। इसी प्रकार जयपुरमें दि. जैन श्रावकोंका बहुत अच्छा प्रभाव व प्रतिष्ठा रही है। इन सबसे प्रत्येक जैनीको परिचित होना चाहिये।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

भारतीय जैन श्रमण परम्परामें आचार्यश्री कुन्दकुन्द-का नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। वे उस परम्पराके केवल प्रवर्त्तक आचार्य ही नहीं थे किंतु उन्होंने आध्यात्मिक योग शक्तिका विकास कर अध्यात्म विद्याकी उस अविच्छिन्न धाराको जन्म दिया था, जिसकी निष्ठा एव अनुभूति आत्मानन्दकी जनक थी और जिसके कारण भारतीय श्रमण परम्पराका यश लोकमें विश्रुत हुआ था।

श्रमण कुलकमलदिवाकर आचार्य कुन्दकुन्द जैनसंघ परम्पराके प्रधान विद्वान एवं महर्षि थे। वे बड़े भारी तपस्वी थे। क्षमाशील और जैनागमके रहस्यके विशिष्ट ज्ञाता थे। वे मुनि-पुंगव रत्नत्रयसे विशिष्ट और संयम-निष्ठ थे। उनकी आत्म-साधना कठोर होते हुए भी दुःख निवृत्तिरूप सुख मार्गकी निदर्शक थी। वे अहंकार ममकार-रूप कल्मष-भावनासे रहित तो थे ही, साथ ही, उनका व्यक्तित्व असाधारण था। उनकी प्रशान्त एवं यथाजात मुद्रा तथा सौम्य आकृति देखनेसे परम शान्तिका अनुभव होता था। वे आत्म-साधनामें कभी प्रमादी नही होते थे किंतु मोक्ष मार्गकी वे साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। वास्तवमें कुन्दकुन्द ऋषिपुंगव थे। यही कारण है कि 'मगल भगवान वीरो' इत्यादि पद्यमें निहित 'मंगलं कुन्दकुन्दार्यो' वाक्यके द्वारा मंगल कार्योंमें आपका प्रतिदिन स्मरण किया जाता है।

नामका कारण

कुन्दकुन्दका दीक्षा नाम पद्मनन्दी था। वे कौण्डकुण्ड-पुरके वासी आचार्य थे। अतः उस स्थानके कारण बादको उनकी कौण्डकुन्दाचार्य नामसे प्रसिद्धि हुई थी जो बादको कुन्दकुन्द इस श्रुति मधुर नाममें परिणत हो गया था। और उनका सघ 'कुन्दकुन्दान्वय' के नामसे लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ और आज भी वह उसी नामसे प्रचारमें आ रहा है। वे मूल संघके अद्वितीय नेता थे। यद्यपि उन्होंने अपनी रचनाओंमें अपने सघका कोई उल्लेख नही किया किंतु उत्तरवर्ती आचार्योंने अपनी गुरुपरम्पराके रूपमें या अन्य प्रकारसे उनकी पवित्र कृतियोंकी मौलिकताके कारण अपने अपने संघको मूल संघ और अपनी परम्पराको 'कुन्दकुन्दान्वय' सूचित किया है। वे ऐसा करनेमें अपना गौरव समझते थे; क्योकि आचार्य कुन्दकुन्दने भगवान जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट समीचीन मार्गका अनुपम उपदेश दिया था। साथ ही, उसे अपने जीवनमें उतारकर भरतक्षेत्रमें उस श्रुतकी प्रतिष्ठा की थी। उन्होंने आत्मानुभूतिके द्वारा श्रुतकेवलियों द्वारा प्रदर्शित आत्ममार्गका उद्भावन किया था, जिसे जनता भूल रही थी। यही कारण है कि आचार्य-कुन्दकुन्द दिगम्बर जैनश्रमणोंमें प्रधान थे। आपकी आध्यात्मिक कृतियां अपनी सानी नही रखती और वे दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें समान रूपसे आदरणीय मानी जाती है। आपकी आत्मा कितनी विमल थी और उन्होने कल्मष-परिणति पर किस प्रकार विजय पाई थी, यह उनके तपस्वी जीवनसे सहज ही ज्ञात हो जाता है।

अटल नियम पालक

मुनिपुगव कुन्दकुन्द जैन श्रमण-परम्पराके लिये आवश्यकीय मूलगुण और उत्तर गुणोंका पालन करते थे और अनशनादि द्वादश प्रकारके अन्तर्बाह्य तपोका अनुष्ठान करते हुए तपस्वियोंमें प्रधान महर्षि थे। उन्होंने प्रवचन-सारमे जैन श्रमणोके मूलगुण इस प्रकार बतलाये हैं:—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सय मचेलमण्हाणं।
खिदिसमणमदंतवणं ठिदिभोयण-मेगभत्तं च॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तेषु पमत्तो समणो छेवोवट्ठावगो होदि॥३-७,८

'पांच व्रत, पाच समिति, पाच इंद्रियोका निरोध, केशलोंच, षट् आवश्यक क्रियाएं,अचेलक्य (नग्नता) अस्नान, क्षितिशयन, अदन्त-धावन, स्थिति भोजन और एकभुक्ति (एकाशन) ये जैन श्रमणोंके अट्ठाईस मूलगुण जिनेंद्र भगवानने कहे है। जो साधु उनके आचरणमे प्रमादी होता है वह छेदोपस्थापक कहलाता है।"

ग्रामों-नगरोंमें ससंघ भ्रमण

वे यथाजात रूपधारी महाश्रमण अनेक ग्रामो, नगरोमे ससंघ भ्रमण करते थे और अनेक राजाओं, महाराजाओं महात्माओं, राजश्रेष्ठियों, श्रावक-श्राविकाओं, और मुनियों-के समूहसे सदा अभिवन्दित थे, परन्तु उनका किसीपर अनुराग और किसीपर विद्वेष न था। विकारी कारणोंके

रहनेपर भी उनका चित्त कभी विकृत नहीं होता था; वे समदर्शी श्रमण जब गुप्तिरूप प्रवृत्तिमें असमर्थ हो जाते थे तब समितिमें सावधानीसे प्रवृत्त होते थे। क्योंकि उस समय भी वे अपने उपयोगकी स्थिरताके कारण शुद्धोपयोगरूप संयमके संरक्षक थे, इसलिये समिति रूप प्रवृत्तिमें सावधान साधुके बाह्यमें कदाचित् किसी दूसरे जीवका घात हो जानेपर भी वह प्रमत्तयोगके अभावमें हिंसक नहीं कहलाता; क्योंकि शुभोपयोग प्रवृत्ति संयमका घात करने वाली अन्तरंग हिंसा ही है, उससे ही बन्ध होता है, कोरी द्रव्य हिंसा हिंसा नहीं कहलाती; किंतु अयत्नाचाररूप प्रवृत्ति करनेवाला साधु रागादिभावके कारण षट्कायके जीवोंका विराधक होता है। परन्तु जो अपनी प्रवृत्तिमें सावधान है—रागादिभावसे उसकी प्रवृत्ति अनुरंजित नहीं है तब उसकी हलन चलनादि क्रियाओंसे जीवकी विराधना होनेपर भी वह हिंसक नहीं कहलाता—वह जलमें कमलकी तरह उस कर्मबन्धनसे निर्लेप रहता है—शुद्धोपयोगरूप अहिंसक भावनाके बलसे उसका अन्तःसमय सर्वथा अक्षुण्ण बना रहता है।

निर्जन-स्थानोंमें निवास

इस तरह महामुनि कुन्दकुन्द नगरसे बाह्य उद्यानो, दुर्गम अटवियों, सघन वनों, तरु कोटरों, नदी पुलिनों, गिरि-शिखरों, पार्वतीय कन्दराओंमें तथा श्मशान भूमियों (मरघटों) में निवास करते थे,[1] जहां अनेक हिंस्र जाति-विरोधी जीवोंका निवास रहता था। शीत उष्ण डांस, मच्छर आदिकी अनेक असह्य वेदनाओंको सहते हुए भी अपने चिदानन्द-स्वरूपसे जरा भी विचलित नहीं होते थे। सब क्रियाओंमें प्रवृत होते हुए भी वे महामुनि अपने ज्ञान दर्शन-चारित्र रूप आत्मगुणोंमें स्थिर रहनेके लिये एकान्त प्राशुक स्थानोमें आत्म-समाधिके द्वारा उस निजानन्दरूप परमपीयूषका पान करते हुए आत्म-विभोर हो उठते थे। परन्तु जब समाधिको छोड़कर संसारस्थ जीवोंके दुःखों और उनकी उच्च नीच प्रवृत्तियोंका विचार करते, उसी समय उनके हृदयमें एक प्रकारकी टीस एव वेदना उत्पन्न होती थी, अथवा दयाका स्रोत बाहर निकलता था।

१. सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाण वासे वा।
गिरि-गुह-गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा। ४२
—बोधप्राभृत

चारणऋद्धि और विदेह गमन

इस तरह सम्यक्तपके अनुष्ठानसे आचार्य कुन्दकुन्दको चारणऋद्धिकी प्राप्ति हो गई थी जिसके फलस्वरूप वे पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्षमें चला करते थे[2]

आचार्य देवसेनके 'दर्शनसार' से मालूम होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द विदेहक्षेत्रमें सीमंधर स्वामीके समवसरणमें गए थे और वहां जाकर उन्होंने उनकी दिव्य ध्वनि द्वारा आत्मतत्वरूपी सुधारसका साक्षात् पान किया था और वहांसे लौट कर उन्होंने मुनिजनोके हितका मार्ग बतलाया था।[3]

श्रवण बेलगोलाके शिलालेखोंसे तो यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने चारण-ऋद्धिकी प्राप्तिके साथ, भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की थी—उन्होंने उसे समुन्नत बनाया था[4] इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तपश्चरणकी महत्तासे आत्मासे निगड कर्मका बन्धन भी नष्ट हो जाता है तब उसके प्रभावसे यदि उन्हें चारणऋद्धिकी प्राप्ति हो गई हो, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है; क्योकि कुंदकुन्द महामुनिराज थे, अतः उन जैसे असाधारण व्यक्तिके सम्बन्धमें जिस घटनाका उल्लेख किया गया है उसमे सन्देहका कोई कारण नहीं है और देवसेनाचार्यके उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट ही है कि विक्रम स० ९९० में उनके सम्बन्धमें उक्त घटनाके उल्लेख प्रचलित थे।

अध्यात्मवाद और आत्माका त्रैविध्य

अध्यात्मवाद वह निर्विकल्प रसायन है जिसके सेवन अथवा पानसे आत्मा अपने स्वानुभवरूप आत्मरसमें लीन हो जाता है, और जो आत्मसुधारसकी निर्मल धाराका जनक है। जिसकी प्राप्तिसे आत्मा उस आत्मानन्दमे निमग्न हो जाता है, जिसके लिये वह चिरकालसे उत्कंठित हो रहा

२. रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि स व्यंजयितु यतीशः
रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥
—श्रवणबेल्गोल. लेख नं० १०५

३. जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि-दिव्वणाणेण।
ण वि बोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति-दर्शनसार

४. वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः, कुन्दप्रभा-प्रणयिकीर्ति विभूषिताशः।

यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीकश्चक्रे-श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥श्र० लेख नं० ५४

था। आचार्य कुन्दकुन्दने आत्मानुभवकी उस निर्मल सरितामें निमग्न होकर भी, संसारी जीवोंकी उस आत्मरसशून्य अनात्मरूप मिथ्यापरिणतिका परिज्ञान किया। साथ ही, चाह-दाह रूप दुःख दावानलसे झुलसित आत्माका अवलोकन कर उनका चित्त परम करुणासे आर्द्र हो गया और उनके समुद्धारकी कल्याणकारी पावन भावनाने जोर पकड़ा, अतः उन्होंने स्व-परके भेद विज्ञानरूप आत्मानुभवके बलसे उस आत्मतत्त्वका रहस्य समझाने एवं आत्मस्वरूपका बोध करानेके लिये 'सारत्रय' जैसी महत्त्वपूर्ण कृतियोंका निर्माण किया। और उनमें जीव और अजीवके संयोग सम्बन्धसे होनेवाली विविध परिणतियोंका—कर्मोदयसे प्राप्त विचित्र अवस्थाओंका—उल्लेख किया और बतलाया कि :—

हे आत्मन्! पर द्रव्यके संयोगसे होनेवाली परिणतियां तेरी नहीं हैं और न तू उनका कर्ता हर्ता है वे सब राग-द्वेष मोहरूप विभाव परिणतिका फल है। तेरा स्वभाव ज्ञाता द्रष्टा है, परमें आत्मकल्पना करना तेरा स्वभाव नहीं है। तू सच्चिदानन्द है तू अपने उस निजानन्द स्वरूपका भोक्ता बन, उस आत्मस्वरूपका भोक्ता बननेके लिये तुझे अपने स्वरूपका परिज्ञान होना आवश्यक है, तभी तेरा अनादिकालीन मिथ्या वासनासे छुटकारा हो सकता है।

इस आत्माकी तीन अवस्थाएं अथवा परिणतियां हैं बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमेंसे यह आत्मा प्रथम अवस्थामें इतना रागी हो गया है कि यह अनादिसे अपनी ज्ञान दर्शनादिरूप आत्मनिधिको भूल रहा है और पर अचेतन (जड़) शरीरादि वस्तुओंमें अपने आत्मस्वरूपकी कल्पना करता हुआ चतुर्गतिरूप संसारमें परिभ्रमण कर असह्य एवं घोर वेदनाका अनुभव कर रहा है, वह दुःख नहीं सहा जाता, किन्तु अपने द्वारा उपार्जित कर्मका फल भोगे बिना नहीं छूट सकता, इसीसे उसे विलाप करता हुआ सहता है। जीवकी यह प्रथम अवस्था ही संसार दुःखकी जनक है, यही वह अज्ञानधारा है जिससे छुटकारा मिलते ही आत्मा अपने स्वरूपका अनुभव करनेमें समर्थ हो जाता है। आत्माकी यह दूसरी अवस्था है जिसे अन्तरात्मा कहते हैं, वह आत्मज्ञानी होता है—उसे स्वस्वरूप और पररूपका अनुभव होता है, वह स्व-परके भेदज्ञान द्वारा भूली उस आत्मनिधिका दर्शन पाकर निर्मल आत्म-समाधिके रसमें तन्मय हो जाता है और सदृष्टिके विमल प्रकाश द्वारा मोक्ष मार्गका पथिक बन जाता है और अन्तिम परमात्म अवस्थाकी साधनामें तन्मय हुआ अवसर पाकर उस कर्म-शृंखलाको नष्ट कर देता है—आत्म-समाधिरूप चित्तकी एकाग्रपरिणतिस्वरूप ध्यानाग्निसे उसे भस्म कर अपनी अनन्त चतुष्टयरूप आत्मनिधिको पा लेता है।

आचार्य कुन्दकुन्दकी देन

आचार्य कुन्दकुन्दने जिस आत्माके त्रैविध्यकी कल्पना की है और उसके स्वरूपका निदर्शन करते हुए उसकी महत्ता एवं उसके अन्तिम लक्ष्य प्राप्तिकी जो सूचना की है उसके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाला व्यक्ति अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दकी उस देनको उनके बादके आचार्योंने अपने अपने ग्रंथोंमें आत्माके त्रैविध्यकी चर्चा की है और बहिरात्म अवस्थाको छोड़कर तथा अन्तरात्मा बनकर परमात्मअवस्थाके साधनका उल्लेख किया है।

इस तरह भारतीय श्रमण परम्पराने भारतको उस अध्यात्मविद्याका अनुपम आदर्श दिया है। इसीसे श्रमण परम्पराकी अनेक महत्वपूर्ण बातें वैदिक परम्पराके ग्रंथोंमें पाई जाती है। और वैदिक परम्पराकी अनेक रूढिसम्मत बातें श्रमण परम्पराके आचार-विचारमें समाई हुई दृष्टिगोचर होती हैं, क्योंकि दोनों संस्कृतियोंके सम-सामयिक होनेके नाते एक दूसरी परम्पराके आचार-विचारोंका परस्परमें आदान-प्रदान हुआ है। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दके प्रायः समान अथवा उससे मिलते-जुलते रूपमें आत्माके त्रैविध्यकी कल्पनाका वह रूप कठोपनिषद्के निम्न पद्यमें पाया जाता है जिसमें आत्माके ज्ञानात्मा महदात्मा और शांतात्मा ये तीन भेद किये गये हैं।

यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।
ज्ञान मात्मनि महति नियच्छे तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

छान्दयोग उपनिषद् में जो आत्म-भेदोंका उल्लेख किया गया है। उसके आधारपर डायसनने भी आत्माके तीन भेद किये हैं शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा। इस तरह यह आत्म त्रैविध्यकी चर्चा अपनी महत्ताको लिये हुए है।

परन्तु श्वेताम्बर मुनि श्री कल्याण विजयजीने 'श्रमण भगवान महावीर' नामकी अपनी पुस्तकमें आत्माके त्रैविध्यकी कल्पनाको विक्रमकी पांचवीं शताब्दीकी घोषित करते हुए बिना किसी प्रामाणिक उल्लेखके उसके

आधारसे आचार्य कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी ५ वी शताब्दीमें होनेकी जो कल्पनाकी है वह प्रमाण शून्य और ऐतिहासिक तथ्यसे हीन है। इस प्रकारकी निरर्थक कल्पनाओं से ही इतिहासका गला घोंटा जाता है।

गुरुपरम्परा और समय

आचार्य कुन्द कुन्दने अपनी कोई परम्परा नहीं दी और न अपने ग्रंथोंमें उनका रचना काल ही दिया है। किन्तु बोध प्राभृत की ६१ नं० की गाथामें अपनेको भद्रबाहुका शिष्य सूचित किया है[1] और ६२ नं० की गाथा में भद्रबाहु श्रुतकेवलीका परिचय देते हुए उन्हें अपना गमक गुरु बतलाया है।[2] और लिखा है कि—जिनेन्द्र भगवान महावीरने—अर्थ रूपसे जो कुछ कथन किया है वह भाषा-सूत्रोंमें शब्द विकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें गूंथा गया है। उसे भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषा-सूत्रों परसे उसी रूपमें जानकर कथन किया है।

इससे स्पष्ट है कि बोधप्रभृतके रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहुके शिष्य जान पड़ते हैं और ये भद्रबाहु श्रुतकेवलीसे भिन्न ही ज्ञात होते हैं। जिन्हें प्राचीन ग्रंथोंमें आचारांग नामक प्रथम अगके धारकोंमें तृतीय विद्वान बतलाया गया है। और जिनका समय जैन कालगणनाके अनुसार वीर नि० सं० ६१२ और वि० सं० १४२ से पूर्व वर्ती हो सकता है, परन्तु उससे पीछे का नहीं मालूम होता; क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें जिन कथित श्रुतमें ऐसा कोई विकार उपस्थित नही हुआ था जो उक्त गाथामें —"सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं" इन वाक्यों द्वारा उल्लिखित हुआ है। वह उस समय अवछिन्न-रूपसे चल रहा था, परन्तु द्वितीय भद्रबाहुके समयमें उसकी वह स्थिति नही रही, उस समय कितनाही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था।

मर्करा के ताम्रपत्रमें जो शक संवत् ३८८ का उत्कीर्ण हुआ है और जिसमें कुन्दकुन्दान्वय देशीगणके छह आचार्यों का गुरुशिष्यक्रमसे उल्लेख किया गया है।[3] उनमें से यदि एक एक आचार्यका समय कमसे कम पच्चीस वर्षका माना जावे तो इन छह आचार्यो का समय १५० वर्ष होता है। ताम्रपत्रमें जिन गुणचन्द्राचार्यका उल्लेख किया गया है वे आचार्य कुन्दकुन्दके साक्षात् शिष्य नही थे किन्तु उनके अन्वयमें (वशमें) हुए हैं। यदि उस अन्वयको लोकमें प्रतिष्ठित होनेका समय कमसेकम ५० वर्ष और अधिकसे अधिक १०० वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नही है तो ऐसी स्थितिमें उक्त ताम्रपत्रसे कुन्द-कुन्द का समय २०० वर्ष पूर्वका हो जाता है अर्थात् शक सं० १८० के करीब पहुंच जाता है।

पट्टावलियोंकी प्राचीन परम्परा भी उन्हें ईस्वी सन् से पूर्व पहली शताब्दी के मध्य भागमें रखती है। यदि तामिल वेद (कुरल काव्य) के कर्ता एलाचार्य और कुन्दकुन्द दोनों एकही व्यक्ति हो तो कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शताब्दीका प्रारम्भिक भाग हो सकता है।

ग्रन्थ रचना

आचार्य कुन्दकुन्द ८४ पाहुड ग्रंथोके कर्त्ता माने जाते है; परन्तु इस समय उनकी वे सभी रचनाएं उपलब्ध नही है, किन्तु उनकी २१ या २२ रचनाएं जरूर उपलब्ध है जो सब हिन्दी और सस्कृत टीकाओंके साथ प्रकाशित हो चुकी हैं कुंदकुन्दाचार्य के ये ग्रंथ बड़े ही महत्वपूर्ण है। इनमें आध्यात्मिक दृष्टिसे आत्मतत्त्वका विशद विवेचन किया गया है। उक्त मुनिपुगवकी कथनशैली बड़ी ही परिमार्जित, संक्षिप्त, सरल और अर्थ गौरवको लिये हुये है। जैन समाजमें इनके ग्रंथ रत्नोंकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा है, क्योंकि वे यथार्थ वस्तु-तत्त्वके निर्देशक हैं और आध्यात्मिकताकी सरस एव गंभीरपुट-से अलंकृत है। उनकी आध्यात्मिक तत्त्व विवेचना गम्भीर तथा तलस्पर्शिनी है—वह जैनधर्मके मूलतत्त्वोंका मार्मिक विवेचन करती है। इन्ही सब कारणोंसे आचार्य कुन्द कुन्द-की रचनाएं जैन साहित्यमें अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। और वे प्रवचनसारादि ग्रथ महाराष्ट्रीय प्राकृतमें रचे

---

१. सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

२. बारस अंग वियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥

३. श्रीमान् कोंगणिमहाराजाधिराज —अविनीत नामधेयदत्तस्य देशीगण कौण्डकुन्दान्वय-गुणचन्द भट्टार (प्र) शिष्यस्य अभयणंदिभट्टार तस्य शिष्य शीलभद्र भट्टार शिष्यस्य—जनाणंदि भट्टारशिष्यस्य गुणणंदिभट्टारशिष्यस्य चन्द्रणदि भट्टारगे अष्ट-शीतित्रयोशतस्य संवत्सरस्य माघमास ....।
—देखो कुर्ग इन्स क्रप्शन्स।

गए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:—

१ प्रवचनसार २ समयसार ३ पंचास्तिकाय ४. नियमसार ५ वारसअणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) ६ दंसणपाहुड ७ चारित्तपाहुड ८ सुत्तपाहुड ९ बोधपाहुड १० भावपाहुड ११ मोक्षपाहुड १२ लिंगपाहुड १३ और शीलपाहुड १४ सिद्धांतभक्ति १५ श्रुतभक्ति १६ चारित्रभक्ति १७ योगिभक्ति १८ आचार्यभक्ति १९ निर्वाणभक्ति २० पंचगुरुभक्ति २१ थोस्सामियुदि (तीर्थंकरभक्ति) २२ और रयणसार।

इनमें अन्तिम रचना 'रयणसार' अपने यथार्थ मूलरूपमें उपलब्ध नही है, उसमें कितनी ही गाथाएं प्रक्षिप्त रूपमें निहित हे। अनेक प्रतियोंमे भी गाथा सख्या एक सी नहीं मिलती, अत: उसके सम्बन्धमें यथेष्ट अनुसंधान करने की आवश्यकता है। तभी पर्याप्त परिश्रमके द्वारा उसका असली मूलरूप खोजा जा सकता है। उसी समय ही वह ग्रंथ सविशेष रूपसे प्रमाण कोटिमें रखा जा सकता है।

इन ग्रंथोंके अतिरिक्त 'मूलाचार' नामका जो ग्रंथ उपलब्ध है, जिसमें जैन श्रमणोंके आचारका विवेचन किया गया है और जिसे आचार्य वीरसेन स्वामीने अपनी 'धवला' टीकामें 'आचारांग' नामसे उल्लेखित किया है, उसमें कुन्दकुन्दके ग्रंथोंके कितने ही पद्य पाए जाते हैं। और मूलाचारकी कितनी ही प्रतियोंकी पुष्पिकाओंमें उसे कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत लिखा भी मिलता है। डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् कोल्हापुरको ऐसी कितनी ही प्रतियां देखनेमें आई है जिनमें उसका कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य सूचित किया गया है। अत: यह बहुत संभव है कि मूलाचारके कर्ता कुन्द कुन्द ही हों, क्योकि वट्टकेराचार्य नामके किसी भी मुनि या आचार्यका कोई उल्लेख नही मिलता और न उनकी गुरुपरम्पराका ही कोई उल्लेख उपलब्ध होता है।

स्व० श्रीदीनानाथजी सरावगी, कलकत्ता

स्वर्गीय सेठ रामजीवनदासजी कलकत्ता दिगम्बर जैन समाजके ख्याति प्राप्त श्रीमान् और धर्मात्मा महानुभाव थे। आप जैन विद्वानोका बहुत आदर सत्कार किया करते थे। अपने जीवनकालमें उस समयकी स्थितिके अनुसार काफी दान करते थे। आपके आठ पुत्र हुए। जिनमें १ सबसे बड़े और १ सबसे छोटे तो युवावस्थामें ही मृत्युको प्राप्त हुए। सेठजीका समाधिमरण कलकत्तामें अब तक आदर्श माना जाता है।

कलकत्ता दिगम्बर जैन समाजके सभी धार्मिक और सामाजिक कार्योंमें आपके पुत्रोंने तन, मन और धनसे योगदान किया है और कर रहे है। सब भाई शिक्षित और धर्मात्मा हैं। श्रीस्याद्वाद विद्यालय काशी, जैनबाला विश्राम आरा और श्रीवीरसेवामन्दिर सरसावाको आप लोगोंने काफी सहायता दी है।

दो वर्ष हुए तब माताजीका समाधिमरण पूर्ण विधिसे सम्पन्न हुआ था। माताजीने भी अपने जीवन कालमें प्रचुर दान दिया था और केवल वीरसेवामन्दिरके लिये करीब पचास हज़ारका दान दे गई थीं। और असहाय जैन महिलाओंको सदा गुप्त सहायता भी करती थीं।

आपके द्वितीय पुत्र सेठ फूलचन्दजी मृत्युके पूर्व तीस हज़ार रुपये वीरबाला विश्राम, आराको दे गये थे। तृतीय पुत्र सेठ गुलजारीलालजी, जिन्होंके तत्वाधानमें कलकत्ताका दिगम्बर जैन भवन निर्मित हुआ था, मृत्युके पूर्व पच्चीस हज़ार श्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशीको दे गये थे।

चतुर्थ पुत्र श्री दीनानाथजीका अभी गत भाद्रपद कृ० १४ ता० १९ अगस्तको पूर्ण सफलताके साथ समाधिमरण हुआ है। जैनसमाजके प्रसिद्ध त्यागी कलकत्ताके श्री भगतजी महाराज (ब्र० प्यारेलालजी) के पास आप गत ४० वर्षोंसे बराबर धर्मश्रवण किया करते थे, नाना प्रकारके त्याग और व्रत लिया करते थे और अन्तमें श्री भगतजीने ही समाधिमरण बड़ा उत्साह एवं साहस दिलाते हुए पूर्ण सावधानता पूर्वक सम्पन्न करवाया है। सर्व परिग्रहका त्याग कर नग्न हो, जल तकका त्याग कर पूर्ण सचेत अवस्था-

में धर्मश्रवण करते हुए तथा रोग-मृत्यु जनित कष्टोंको पुद्गलका परिणाम समझते हुए और अन्तिम स्वांसमें 'अर्हंत' के उच्चारण पूर्वक इस नश्वर शरीरका आपने त्याग किया।

आप गत ६ माससे रक्त चापके कारण बहुत दुर्बल हो गए थे और शैयारूढ थे। तबसे नित्य दिन रात शास्त्र श्रवण करते रहे। मृत्युके दो तीन दिन पूर्वसे आपने अनेक जैन भाइयोंसे क्षमा याचना की। गत ता० १६ मईको आप अपना अन्तिम दानपत्र भी लिख गये है और उसी समय पच्चीस हजारके सरकारी लोन 'श्री वीरबाला विश्राम' आराको भेज चुके हैं। दानपत्र अभी तक खुला नही है, खुलने पर उसका विवरण मालूम हो सकेगा।

६ मास पूर्व जब आपका रक्तचाप बहुत अधिक बढ़ जानेके कारण बेहोशी हो गई थी उस समय कलकत्ता दिगम्बर जैन समाजकी एक सार्वजसिक मीटिंग हुई थी, जिसमें तन, मन और धनसे आप द्वारा की गई विविध सेवाओंके प्रति आभार मानते हुए आपके स्वास्थ्य लाभके लिये श्री वीर प्रभुसे प्रार्थना की गई थी।

श्री वेलगछिया उपवन मन्दिरके सुधार और इमारती कार्योंके कराने और वहाँ नये वृक्षादि लगानेमें प्रचुर समय और शक्ति आपने लगाई थी तथा इस कार्यमें समाजके प्रतिष्ठित भाइयोसे आर्थिक सहायता ली थी। और स्वयं भी प्रदानकी थी। राजगिरिमें भी इसी प्रकार एक धर्मशाला (बंगला) आपके तत्त्वावधानमें बना था।

आप अपने छोटेभाई श्री छोटेलालजी जैनका परामर्श लिये बिना कोई भी कार्य नहीं करते थे। अभी जब छोटेलालजी देहली गये हुए थे तब आपकी तबियत कुछ अधिक बिगड़ी अतः छोटेलालजी को तुरन्त बुलवाकर कहा कि अब समय निकट है मुझे सम्हालो, अधिक धर्मध्यानकी व्यवस्था करो और समाधिमरण अवश्य हो इसका पूरा खयाल रखो। तुरन्त ही आप त्याग और तपश्चरणमें संलग्न हो गये। श्री भगतजी महाराज, श्रीमती ब्र० चमेलाबाईजी, श्री कैलाशचन्द्रजी जैन (जायसवाल), श्री डाक्टर साहब, श्री चिरंजीलालजी जैन माधोपुरवाले, श्री चिरंजीलालजी जैन बनारसवाले और उनके लघुभ्राता श्री छोटेलालजी जैन बराबर उनकी सेवा शुश्रूषा और धर्माचरणमें सहायता देते रहे।

आपके कोई सन्तान नही हुई। हम आपकी धर्मपत्नी तथा अन्य कुटुम्बीजनो और विशेषकर भाई छोटेलालजी और नन्दलालजीके प्रति सम्वेदना और सहानुभूति प्रगट करते हुए स्वर्गीय आत्माके लिये परलोकमें सब प्रकारसे सुख शान्तिकी प्राप्तिकी दृढ़ भावना करते हैं। —सम्पादक

Regd. No. D. 211

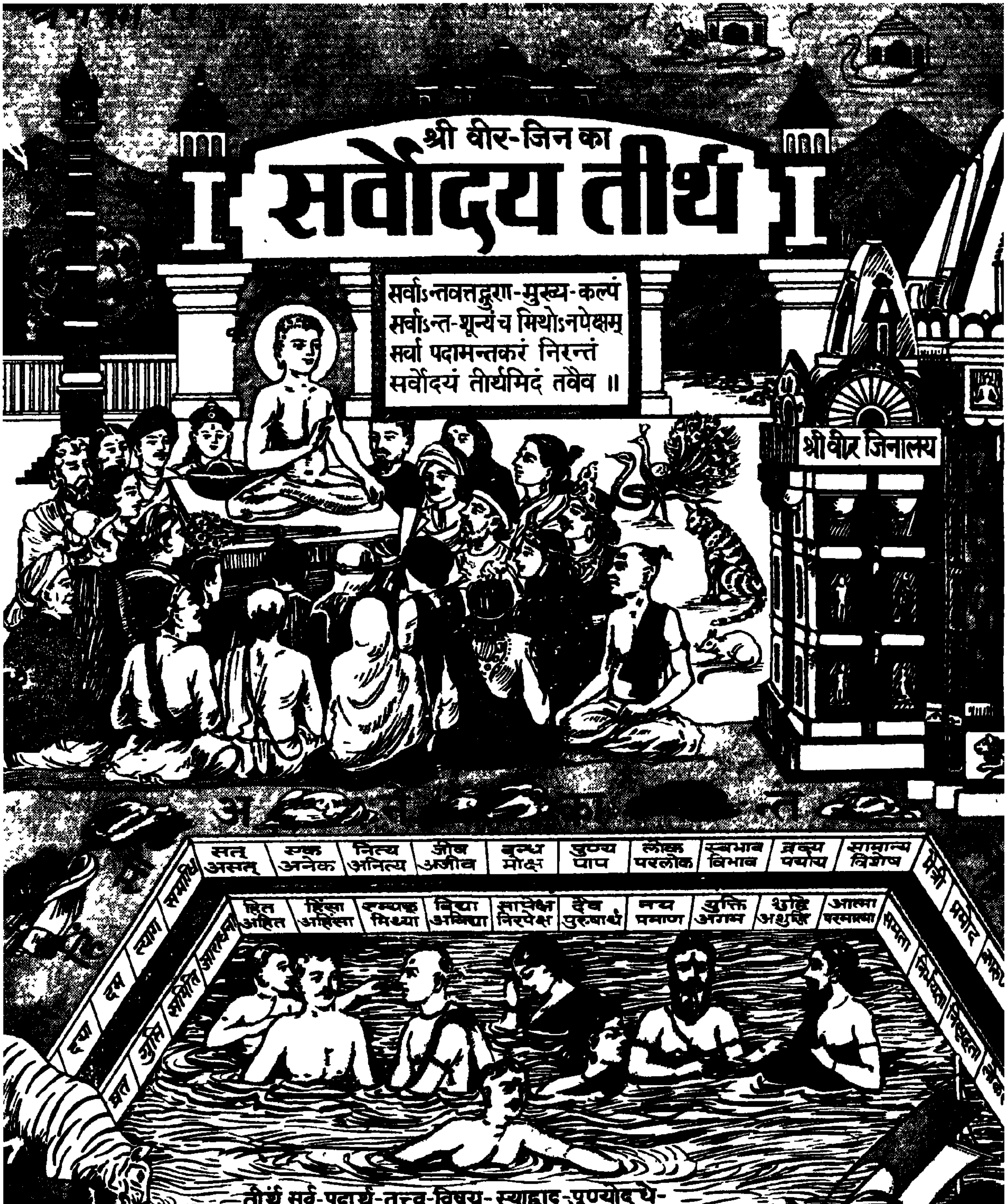
अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

'अनेकान्त' पत्रको स्थायित्व प्रदान करने और सुचारू रूपसे चलानेके लिये कलकत्ता-में गत इन्द्रध्वज-विधानके अवसर पर (अक्तूबरमें) संरक्षकों और सहायकोंका एक नया आयोजन हुआ है। उसके अनुसार २५१) या अधिककी सहायता प्रदान करने वाले सज्जन 'संरक्षक' और १०१) या इससे ऊपरकी सहायता प्रदान करने वाले 'सहायक' होते हैं। अब तक 'अनेकान्त' के जो 'संरक्षक' और 'सहायक' बने हैं—उनके शुभ नाम निम्न प्रकार हैं :—

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन "
२५१) बा० सोहनलाल जी जैन "
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदास जी "
२५१) बा० ऋषभचन्द्रजी (V.R.C.) जैन "
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी "
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी "
२५१) सेठ बल्देवदासजी जैन "
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल "
२५१) सेठ सुआलालजी जैन "
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी "
२५१) सेठ मांगीलालजी "
२५१) सेठ शान्तिप्रसाद जी, जैन "
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द्र धूपचन्द्रजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमल जी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्द्र जी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलाल जी जैन, फीरोजाबाद
२५१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाचकम्पनी, देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी,,
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्द्रजी जैन सरावगी "
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी "
१०१) बा० काशीनाथ जी, कलकत्ता "
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी "
१०१) बा० धनञ्जयकुमारजी "
१०१) बा० जीतमलजी जैन "
१०१) बा० चिरंजीलाल जी सरावगी "
१०१) बा० रतनलाल चाँदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री श्रीमाला देवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्र जी जैन 'सगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी ठेकेदार, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

परमानन्द जैन शास्त्री c/o धूमीमल धर्मदास, चावड़ी बाजार, देहली। मुद्रक—नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, १० दरियागंज, देहली



श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
दया
दम
त्याग
समाधि
व्रत
गुप्ति
समिति
मैत्री
प्रमोद
समता
निर्भयता
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

॥ वीर-सेवा-मन्दिरका स्थायी दफ्तर देहलीमें ॥

अनेकान्तके ग्राहकों और पाठकोंसे निवेदन है कि अब "वीर सेवा-मन्दिर" का स्थाई दफ्तर देहलीमें हो गया है। अतः सर्व प्रकारका पत्र-व्यवहार निम्न पते पर करें।

मैनेजर— 'अनेकान्त'
वीर सेवा मन्दिर C/O अहिंसा-मन्दिर बिल्डिंग,
१, दरियागंज, देहली।

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक' तथा 'सहायक' बनना और बनाना।
(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।
(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।
(४) अपनी ओरसे दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।
(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५) की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।
(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।
(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पताः—
मैनेजर—'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, अहिंसा मन्दिर बिल्डिंग
१, दरियागंज, देहली

ॐ अर्हम्



नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः॥

वार्षिक मूल्य ५)

इस संयुक्त किरणका मूल्य १)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११ किरण ७-८	वीर सेवामन्दिर, अहिंसा मन्दिर बिल्डिंग १, दरियागंज, देहली आश्विन, कार्तिक शुक्ला, वीर नि० सं० २४७८, वि० सं० २००९	सितम्बर अक्टूबर १९५२

श्रीमत्प्रभाचन्द्र-शिष्य-पद्मनन्दि-विरचिता

भावना-पद्धतिः

(भावना-चतुस्त्रिंशतिका)

[यह 'भावना-पद्धति', जिसे ३४ पद्योंमें रचित होनेसे 'भावना-चतुस्त्रिंशतिका' भी कहते हैं, कोई दो वर्ष हुए जयपुरमें बड़े मन्दिरके शास्त्र-भण्डारका निरीक्षण करते हुए मुझे एक अतिजीर्ण-शीर्ण गुटके परसे देखनेको मिली थी। देखने पर यह भावनात्मक जिनेन्द्रस्तुति अति सुन्दर जान पड़ी और इसलिये बादको पं० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल एम० ए० से इसकी कापी कराकर मंगाई गई, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। प्रतिके अशुद्ध होनेसे अभी तक इसे प्रकाशित नहीं किया जा सका था। हालमें परिश्रमपूर्वक ग्रन्थके संशोधनका यथाशक्ति प्रयत्न किया गया और उसीके फलस्वरूप आज यह भावपूर्ण स्तुति अनेकान्त-पाठकोंके सामने रक्खी जाती है। श्रीप्रभाचन्द्राचार्यके शिष्य पद्मनन्दि मुनिकी कृति होनेसे यह विक्रमकी १४वीं शताब्दीकी रचना है और इसलिये इसको बने हुए आज ६०० वर्षसे ऊपर हो गये हैं। आशा है पाठक इस पुरातन एवं शोभन कृतिको पाकर प्रसन्न होंगे और इससे यथेष्ट लाभ उठानेका प्रयत्न करेंगे। —सम्पादक]

शुद्ध - प्रकाश - महिमाऽस्त-समस्तमोह-
निद्रातिरेकमसमाऽवगम - स्वभावं ।
आनंद-कन्दमुदयाऽस्त-दिशाऽनभिज्ञं,
स्वायम्भुव भवतु धाम सतां शिवाय ॥१॥

धीमीशमप्रभुवोऽपि विभोर्म्महिम्नः
मात्रक्षमा न यतयः स्तवनं विधातुं ।
इत्थं विचार्य जहतस्तदमुत्रलोके,
सौख्याऽऽप्तये जिन भविष्यति मे किमन्यत् ॥२

राकाशशांक-महसां भवतो गुणानां
को वक्तुमीश ! निपुणो महतामियत्तां
को वा प्रभुर्गणयितुं गगनेऽत्र ताराः
संवर्षतां जलमुचाममिताश्च धाराः ॥३॥

सावद्यमेनदथवा निरवद्यमीश !
स्तोत्रं त्वदीयममते गदता ममापि ।
मोक्षो न चेत्तदपि देवपदं ध्रुवं स्या-
द्दीनोपि हेमगिरिमाप्य लभेत किंचित् ॥४॥

आनन्दरूप भगवन् भवता सहैकी-
भावं जिनानुभवतीह तमांस्यपास्य ।
यद्युद्गताऽद्भुत-विवेक कलः किलात्मा,
तर्ह्यऽस्य कर्मभिरुदेति कदापि बंधः । ५॥

सद्दर्शनाऽवगम-वृत्त-मयो य एव
मार्गो निसर्गविशदः सुखदो विमुक्तेः ।
तस्मै यथा मम मनः स्पृहयत्यजस्रं,
तस्मिन् हिते विहरतीश ! तथा कुरुष्व ॥६॥

अद्यैव मानस-मराल ! जिनेंद्रसेवा-
देवापगांभसि रमस्व मनस्विमान्ये ।
यातेऽथवा विधिवशाद्दिवसावसाने,
कीनाश-पाश-पतितस्य कुतो रतिस्ते ॥७॥

कर्म्मोऽग्ररा-पटलसंपिहितं परात्म-
ज्योतिर्निधिर्जिन ! तव स्तव-सत्खनित्रैः ।
उत्खाय हस्तगतमाशु यथा करोमि,
कारुण्यसागर मयीश ! तथा प्रसीद ॥८॥

रूपं चिदात्मकमदः स्मरतः स्मरारे !
नामामृतं च जपतो भवतो भदंतः ।
उच्चैर्गुणान् श्रुतिपथं नयतो नयाब्धेः !
कालोऽयमेतु मम निर्म्मम सन् कृपाब्धे ॥९॥

अद्याक्षमक्षय-सुखामृत-कुंड-चंड-
पाखंड-खंडन ! यदङ्घ्रियुग त्वदीयं ।
अंधोरुकूपकुहरे तदहं जनन्या
गर्भेऽर्भकत्वमशुचौ न पुनः स्पृशामि ॥१०॥

मावादि-निर्म्मित-शुभप्रतिमासु यस्त्वां
ध्यायत्यमर्त्य-पतितामुपयाति सोऽपि ।
ज्ञानात्मकं तु भजतां भवतः स्वरूपं,
कीदृक्क्रियत्फलमलं तदहं न जाने ॥११॥

सर्वेषु देव-निचयेषु जगत्त्रयेऽस्मिन्,
लोकोत्तमः सकलविज्जिन एव देवः ।
नान्यः किलेति सुविचारपरं मनो मे
स्थातुं त्वयीच्छति चिदात्मनि निर्विकारे ॥१२॥

देवेषु भूरिषु हरि-प्रमुखेषु सत्सु,
व्यापत्सरस्वति जनान् पतितान् विमोहात् ।
उद्धर्तुमत्र जिनएव विभु र्न चान्ये,
मत्वेति वांछति मनो भवदंघ्रिसेवां ॥१३॥

संपेव संपदबला चपला घनाली-
लोलं वपुः सुत-सुहृत्-कनकादि-सर्वं ।
ज्ञात्वेति सोऽहमहमिंद्र-शत-स्तुतांह्रे !
लीये मुदा त्वयि सनातन ! चित्स्वभावे ॥१४॥

आतंक-शोक-मरणोद्भव-तुंगशैल-
रोहाऽवरोहकरणे मम पीडितस्य ।
दुर्वारतापहनये भवताज्जिनेश !
युष्मद्वचः-शुचि-सुधा-सरसि प्रवेशः ॥१५॥

लोकेऽखिलेऽहमुरु-राग-समन्वितेन
संभ्रामितोऽनुभवितुं बहुदुःखजालं ।
एतेन देव मनसा भ्रमिता तदेतत्,
बध्वाचलं निजगुणे नय-निश्चलत्वं ॥१६॥

देवस्त्वमेव भगवन्नहमित्यकंपा,
त्वां ध्यायत समभवन्मम या सुबुद्धिः ।
संसारसागरतरीमिह तां विनिघ्नन्,
सवार्यतामरसरातिरयं विमोहः ॥१७॥

याभ्यामहं जगति जन्मनि जन्मनीह,
क्षिप्तः पुनः पुनरगाध भवाब्धि-मध्ये ।
एनौ च तौ जिन निवारय राग-रोषौ,
यस्मान्निवारण-विधावनयोस्त्वमीशः ॥१८॥

केनापि नो सुभटकोटिषु निर्जितो यो,
कामो जितो जिनपते ! भवतेति मत्वा ।
एतावदद्भुतमतोऽहमिहऽर्थये त्वां,
मां तापयंतमकृपं जहि पापमेनं ॥१९ ॥

रे पाप लोभ ! मम चित्तगृहे प्रवेशं,
स्वप्ने पि मा कुरु हठात् शठ वारितोसि ।
निर्लोभताद्भुतगदा स्वयमादधान-
तस्मिन् जिनस्तव यतो हननार्थमास्ते ॥२०॥
कोपाद्वधः सकलदेहिषु तेन नूनं
श्वाभ्री गति भवति दुःखपरंपरा स्यात् ।
मत्तस्ततो जिनपते ! गलकं गृहीत्वा,
निस्सारयाऽद्भुतममुं विपदां निदानं ॥२१॥
एकेंद्रिय-प्रमुखजीवगणे प्रमादा-
द्बाधाभिरुज्झितदयेन मया कृताभिः ।
पापं यदार्ज्जितमनेकविधं जिनेन्द्र !
मिथ्या तदस्तु चरणाद्भुतभक्तितस्ते ॥ २२ ॥
कयादितः पृथगिहाऽस्ति न कश्चिदात्मा,
देवो न कोऽपि न गुरु र्न दया न धर्मः ।
लोकः परोपि न विभो ! बहुधेत्यविद्या-
ऽऽवेशाद्यदर्जि दुरितं विफलं तदस्तु ॥२३।
मोहोदयेन मदनज्वलनावलीढो,
यत्कर्मदुष्करमकार्षमृषि-स्तुतांहे !
तन्वत् प्रमादवशतो निखिलं निरस्य,
निष्कर्म्मणि त्वयि परात्मनि देव ! वर्त्ते ॥२ ॥
कायेन देव ! वचसा मनसा स्वयं यत्,
पापं परैरहमकार्षमचीकरं च ।
अन्यैः कृतं मुदमगामनुमन्यमानो,
मिथ्याऽस्तु मे तदखिलं भवतः प्रसादात् ॥२५॥
क्लेशाकुलेषु करुणा विपरीतवृत्तौ,
माध्यस्थमासुनिचये परमा च मैत्री ।
विद्वत्सु शीलकलितेषु सदा प्रमोदः
संपद्यतां भवविपद्यमनैकहेतो ! ॥२६॥
स्त्रैणे तृणे सुहृदि वैरिणि निंद्यकाचे,
सत्कांचनेऽश्मनिचये कुसुमोच्चये च ।
दुःखे सुखे समदृशो जपतो ममाऽत्र,
लोकप्रभो ! जिन जिनेति दिनानि यांतु ॥२७॥
मार्गे त्वदुदिते सदा विहरतस्त्वां तत्त्वतो ध्यायत-
स्त्वद्वाक्यामृतमद्भुतं च पठतस्त्वत्सद्गुणान् शृण्वतः
त्वद्वृत्तं स्तवतस्त्वदंह्रिकमल-द्वंद्वार्चनं कुर्वतः,
कालोऽयं विजने वने निवसतो मे यातु लोकप्रभो! ॥२८॥
मृत्यु क्रीडति दुर्धरोहरिरतो :?)जन्मस्फुर दृष्ट करः (?)
प्रायो भीषयते जरा विचरित-व्याघ्रोन्वितो दुर्मुखी ।
संसारो वनमत्र को निपतितः प्राणी सुखी स्यादिति,
त्वां सोहं शरणं गतः शरणदः त्वं रक्ष रक्ष प्रभो ! ॥२९॥
सत्यामृतोद्गिरिवचो, दयार्द्रं चित्तं चिदानंदपरं सदैव ।
मतिर्जिनेंद्रागम-कोविदा च भवत्प्रसादाद्भगवन्ममाऽस्तु ३०
नो पाकशासन-महासन-लब्धिमब्धि-
नीरां वरामपि धरां भगवन्न याचे ।
याचे समाधिमरणं परिणामशुद्धि-
मात्मानुभूतिमधिकां सकृपाऽपवर्गं ॥३१॥
रत्नत्रय-प्राप्तिमथात्मशुद्धिमत्यद्भुतां मुक्तिपुरीसमृद्धिं
देहस्तुतं मोहतरुं लुनीहि समाधिमाधेहि मयीश ! दीने ३२
यद्व्यंजन-स्वर-विसर्ग-सदर्थमुक्तं
मात्राक्षर-च्युतमरं पदवाक्यहीनं ।
र.त्संधिवर्जितमवाचि मया प्रमादात्
वाणि ! क्षमस्वनदिह स्खलितं मदीयं ॥३३॥
श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभुवाक्य-रश्मि-
विकाशिचेतः कुमुदः प्रमोदात् ।
श्रीभावनापद्धतिमात्मशुद्ध्यै
श्रीपद्मनन्दिः रचयंचकार ॥३४॥
इति श्रीपद्मनन्दिदेवकृता भावना पद्धतिः (चतुस्त्रिंशतिका)
समाप्ता ॥

समन्तभद्र-वचनामृत

(६)

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृश-चौर्यादुपारमणम् ॥५७॥

'बिना दिये हुए पर-द्रव्यको, चाहे वह धरा-ढका हो, पड़ा गिरा हो अथवा अन्य किसी अवस्थाको प्राप्त हो, जो (संकल्पपूर्वक अथवा स्वेच्छासे) स्वयं न हरना—अनीतिपूर्वक ग्रहण न करना, और न (अनधिकृतरूपसे) दूसरोंको देना है उसे स्थूल-चौर्यविरति—अचौर्याणुव्रत—कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'परस्व' और उसका मुख्य विशेषण 'अविसृष्ट' तथा 'हरति' क्रियापद ये तीनों खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। जिसका स्वामी अपनेसे भिन्न कोई दूसरा हो उस धन-धान्यादि पदार्थको 'परस्व' कहते हैं, पर-धन और पर-द्रव्य भी उसीके दूसरे नाम हैं। जो पदार्थ अपने तत्कालीन स्वामीके द्वारा अथवा उसकी इच्छा, आज्ञा या अनुमतिसे दिया गया न हो वह 'अविसृष्ट' कहलाता है, 'अदत्त' भी उसीका नामान्तर है और उसमें व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों प्रकारके पदार्थ शामिल हैं। 'हरति' क्रियापद, जिससे हरना फलित होता है, अनीतिपूर्वक ग्रहणका सूचक है। उसीकी दृष्टिसे अगला क्रियापद 'दत्ते' अनधिकृत रूपसे देनेका वाचक हो जाता है। और इसलिए जो पदार्थ अस्वामिक हो अथवा ग्रहणादिके समय जिसका कोई प्रकट स्वामी मौजूद या संभाव्य न हो और जिसके ग्रहणादिमें उसके स्वामीकी स्पष्ट इच्छा तथा आज्ञा बाधक न हो उसके ग्रहणादिका यहाँ निषेध नहीं है। साथ ही, जो धन-सम्पत्ति बिना दिये ही किसीको उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त होती है उसके ग्रहणादिका भी इस व्रतके व्रतीके लिये निषेध नहीं है। इसी तरह जो अज्ञात स्वामिक धन-सम्पत्ति अपनी मिलकियतके मकानादिके भीतर भू-गर्भादिसे प्राप्त हो उसके भी ग्रहणादिका इस व्रतके व्रतीके लिये निषेध नहीं है, वह उस मकानादिका मालिक होनेसे साथ-साथ तत्सम्बद्ध सम्पत्तिका भी प्रायः मालिक अथवा उत्तराधिकारी है और यह समझना चाहिए कि वह सम्पत्ति उसकी अव्यक्त अथवा गुप्त सम्पत्तिके रूपमें स्थित थी, जब तक कि इसके विरुद्ध कोई दूसरी बात स्पष्ट सिद्ध न हो जाय।

यहाँ चोरीके स्थूल त्यागकी दृष्टिसे इतना और भी जान लेना चाहिये कि जो पदार्थ बहुत ही साधारण तथा अल्पतर मूल्यका हो और जिसका बिना दिये ग्रहण करना उसके स्वामीको कुछ भी अखरता न हो—जैसे किसीके खेतसे हस्त-शुद्धिके लिए मिट्टी का लेना, जलाशयसे पीनेको पानी ग्रहण करना और वृक्षसे दाँतनका तोड़ना—ऐसे पदार्थ बिना दिये लेनेका त्याग इस व्रतके व्रतीके लिए विहित नहीं है। इसी तरह दूसरेकी जो वस्तु बिना संकल्पके ही अपने ग्रहणमें आ जाय उससे इस व्रतको बाधा नहीं पहुँचती; क्योंकि अहिंसाव्रतके लक्षणमें प्रयुक्त हुए 'संकल्पात्' पद की अनुवृत्ति इस व्रतके साथ भी है।

चौरप्रयोग-चौराऽर्थादान-विलोप-सदृशसन्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमानं पंचाऽस्तेये व्यतीपाताः ॥५८॥

चौरप्रयोग—चोरको चोरीके कर्ममें स्वयं प्रयुक्त (प्रवृत्त) करना, दूसरोंके द्वारा प्रयुक्त कराना तथा प्रयुक्त हुए की प्रशंसा-अनुमोदना करना, अथवा चोरीके प्रयोगों (उपायों) को बतला कर चौरकर्मकी प्रवृत्तिमें किसी प्रकार सहायक होना—, चौराऽर्थादान—जान बूझकर चोरीका माल लेना—, विलोप—दूसरोंकी स्थावर-जंगम अथवा चेतन-अचेतनादि रूप सम्पत्तिको आग लगाने, बम गिराने, तेज़ाब छिड़कने, विष देने आदिके द्वारा नष्ट कर देना, तथा राज्यके अर्थ विषयक न्याय्य नियमोंका भंग करना—, सदृशसंमिश्र—अनुचित लाभ उठाने अथवा दूसरोंको ठगनेकी दृष्टिसे खरीमें समान रंग-रूपादिकी खोटी तथा बहुमूल्यमें अल्पमूल्य वस्तुकी मिलावट करना और नकलीको जान बूझकर असलीके रूपमें देना—, और हीनाधिकविनिमान—देने लेनेके बाट-तराजू, गज, पैमाने आदि कमती-बढ़ती रखना और उनके द्वारा कमती-बढ़ती तोल-माप करके अनुचित लाभ उठाना; ये पाँचों अस्तेयके—अचौर्याणुव्रतके—व्यतिपात हैं—अतिचार अथवा दोष हैं।

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामाऽपि ।।५६।।

'पापके भयसे (न कि राजादिके भयसे) पर-स्त्रियों को—स्वदारभिन्न अन्य स्त्रियोंको—जो स्वयं सेवन न करना और न दूसरोंको सेवन कराना है वह 'परदारनिवृत्ति' व्रत है, 'स्वदारसंतोष' भी उसीका नामान्तर है—दूसरे शब्दोंमें उसे स्थूल मैथुनसे विरति स्थूलकामविरति तथा ब्रह्मचर्याणुव्रत भी कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ इस व्रतके दो नाम दिये गये हैं—एक 'परदारनिवृत्ति' दूसरा 'स्वदारसंतोष' जिनमेंसे एक निषेधपरक दूसरा विधिपरक है। दोनोंका आशय एक है। विधिपरक 'स्वदारसंतोष' का आशय बिल्कुल स्पष्ट है और वह है अपनी स्त्रीमें ही सन्तुष्ट रहना—एक मात्र उसीके साथ काम-सेवा करना। और इसलिए परदारनिवृत्तिका भी वही आशय लेना चाहिए—अर्थात् स्वदारभिन्न अन्य स्त्रीके साथ कामसेवाका त्याग। इससे दोनों नामोंकी वाच्यभूत वस्तु (ब्रह्मचर्याणुव्रत) के स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं रहता और वह एक ही ठहरती है। प्रत्युत इसके 'परदार' का अर्थ परकी (पराई) विवाहिता या परेजा करी हुई स्त्री करना और एक मात्र उसीका त्याग करके शेष कन्या तथा वेश्यादि सेवनकी छूट रखना संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इससे दोनों नामोंके अर्थका समानाधिकरण नहीं रहता।

अन्यविवाहाऽऽकरणाऽनङ्गक्रीडा-विटत्व-विपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चाऽस्मरस्य पंच व्यतीचाराः ।।६०।।

'अन्यविवाहाऽऽकरण—दूसरोंका अर्थात् अपने तथा स्वजनोंसे भिन्न गैरोंका विवाह सम्पन्न करनेमें पूरा योग देना—, अनङ्गक्रीडा—निर्दिष्ट कामके अंगोंको छोड़कर अन्य अंगादिकोंसे या अन्य अंगादिकोंमें कामक्रीडा करना—, विटपनेका व्यवहार—भण्डपनेको लिये हुए काय-वचनकी कुचेष्टा—, विपुलतृष्णा—कामकी तीव्र लालसा—और इत्वरिकागमन—कुलटा व्यभिचारिणी स्वस्त्रीका सेवन—ये स्मरके—स्थूलकामविरति अथवा ब्रह्मचर्याणुव्रतके—पांच अतिचार हैं।

व्याख्या—यहां 'अन्यविवाहाऽऽकरण', 'अनङ्गक्रीडा, और 'इत्वरिकागमन' ये तीन पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। 'अन्यविवाहाऽऽकरण' पदमें 'अन्य' शब्दका अभिप्रायः उन दूसरे लोगोंसे है जो अपने कुटुम्बी अथवा आश्रितजन नहीं हैं और 'आकरण' शब्दका आशय उस ओरसे विवाहकार्यको सम्पन्न करना अर्थात् उसमें तन-मन-धनसे पूरा योग देना है। और इसलिये अपने कुटुम्बी तथा आश्रितजनोंका विवाह करना तथा दूसरोंके विवाहमें मात्र सलाह-मशवरा अथवा सम्मतिका देना इस व्रतके लिये दोषरूप अथवा बाधक नहीं है। 'अनङ्ग-क्रीडा' पदके द्वारा उन अंगोंसे तथा उन अंगोंमें काम-क्रीडा करनेका निषेध किया है जो मानवोंमें कामसेवा अथवा मैथुनसेवनके लिये निहित नहीं हैं, और इससे हस्तमैथुनादिक जैसे सभी अप्राकृतिक मैथुन दोष रूप ठहरते हैं। 'इत्वरिकागमन' पदमें 'इत्वरिका' शब्द उस स्वस्त्रीका वाचक है जो बादको कुलटा अथवा व्यभिचारिणी हो गई हो—परस्त्रीका वाचक वह नहीं है; क्योंकि परस्त्री-गमनका त्याग तो मूलव्रतमें ही आगया है तब अतिचारोंमें उसके पुनः त्यागका विधान कुछ अर्थ नहीं रखता।

धन-धान्यादि-ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामाऽपि ।।६१।।

"धन-धान्यादि परिग्रहको परिमित करके—धन-धान्यादिरूप दस प्रकारके बाह्य परिग्रहोंका संख्या-सीमा-निर्धारणात्मक परिमाण करके—जो उस परिमाणसे अधिक परिग्रहोंमें वांछाकी निवृत्ति है उसका नाम 'परिमितपरिग्रह' है, 'इच्छापरिमाण' भी उसीका नामान्तर है—दूसरे शब्दोंमें उसे 'स्थूल मूर्च्छाविरति', परिग्रहपरिमाणव्रत' और अपरिग्रहाणुव्रत' भी कहते हैं।

व्याख्या—यहाँ जिस धन-धान्यादि परिग्रहके परिमाणका विधान है वह बाह्य परिग्रह है और उसके दस भेद हैं, जैसा कि 'परिग्रहत्याग' नामकी दसवीं प्रतिमाके स्वरूपकथनमें प्रयुक्त हुए, 'बाह्येषु दशसु वस्तुषु' इन पदोंसे जाना जाता है। वे दस प्रकारके परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड* हैं। क्षेत्रमें सब प्रकारकी भूमि, पर्वत और नदी-नाले शामिल हैं। वास्तुमें सब प्रकारके मन्दिर, मकान, दुकान और भवनादिक दाखिल हैं। धनमें सोना-चांदी, मोती, रत्न, जवाहरात और उनसे बने आभूषण तथा रुपया पैसादि सब परिगृहीत हैं। धान्यमें शालि, गेहूँ, चना मटर, मूँग, उड़द आदि खेतोंकी सब पैदावार अन्तर्भूत

* क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं च चतुष्पदम्।
शैय्यासनं च यानं च कुप्यभाण्डमितिद्वकम् ।।

है। द्विपदमें सभी दासी दास नौकर चाकर, स्त्री पुत्रादि दो पैरवाले जीवोंका तथा चतुष्पदमें हाथी, घोड़ा, बैल, भैंसा, ऊँट, गदहा, गाय, बकरी आदि चार पैरों वाले जन्तुओंका ग्रहण है। शयनासनमें सोने और बैठनेके सब प्रकारके उपकरणोंका समावेश है जैसे खाट, पलंग, चटाई, पीढ़ा, तख्त, सिंहासन कुर्सी आदिक। यानमें डोली, पालकी, गाड़ी, रथ, नौका, जहाज, मोटरकार, और हवाई जहाज आदिका अन्तर्भाव है। कुप्यमें सब प्रकारके सूती, ऊनी, रेशमी, आदि वस्त्र अन्तर्निहित हैं तथा भाण्डमें लोहा, तांबा, पीतल, कांसी आदि धातु-उपधातुओंके, मिट्टी-पत्थर-कांचके और काष्ठादिकके बने हुए सभी प्रकारके बर्तन, उपकरण, औजार, हथियार तथा खिलौने संगृहीत हैं। इन सब परिग्रहोंका अपनी शक्ति परिस्थिति और आवश्यकताके अनुसार परिमाण करके उस प्रमाणसे बाहर जो दूसरे बहुतसे बाह्य परिग्रह हैं उन्हें ग्रहण न करना ही नहीं बल्कि उनमें इच्छा तकका जो त्याग है वही परिमित परिग्रह कहलाता है और इसीसे उसका दूसरा नाम 'इच्छापरिमाण' भी रक्खा गया है।

अतिवाहनाऽतिसंग्रह-विस्मय-लोभाऽतिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ ६२ ॥

परिमितपरिग्रह (परिग्रहपरिमाण) व्रतके भी पांच अतिचार निर्दिष्ट किये जाते हैं और वे हैं १ अतिवाहन—अधिक लाभ उठानेकी दृष्टिसे अधिक चलाना-जोतना-इस्तैमाल करना अथवा काम लेना—, २ अतिसंग्रह—विशिष्ट लाभकी आशासे अधिक काल तक धन-धान्यादिक का संग्रह रखना—, ३ अतिविस्मय—व्यापारादिकमें दूसरोंके अधिक लाभको देखकर विषाद करना अर्थात् जलना-कुढ़ना—, ४. अतिलोभ—विशिष्ट लाभ होते हुए भी और अधिक लाभकी लालसा रखना—, और अतिभारवाहन—लोभके वश किसी पर शक्तिसे अथवा न्याय-नीतिसे अधिक भार लादना।

व्याख्या—परिग्रहपरिमाण व्रत लेनेके समय संकल्पित वस्तुओंमें चेतन-अचेतन पदार्थोंसे लाभ उठानेके लिये उनके इस्तैमाल (उपयोग) आदिका जो मापदण्ड होता है उससे अधिकका ग्रहण अथवा न्याय-नीतिका उल्लंघन करके अधिक ग्रहण ही यहाँ 'अति' शब्दका वाच्यार्थ है।

पंचाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्राऽवधिरष्टगुणा: दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥

'निरतिचाररूपसे पालन किये गये (उक्त अहिंसादि) पाँच अणुव्रत निधिस्वरूप हैं और वे उस सुरलोकको फलते हैं—प्रदान करते हैं—जहाँ पर (स्वतः स्वभावसे) अवधिज्ञान, अणिमादि) आठ गुण और दिव्य शरीर प्राप्त होते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'अवधिः' पद के द्वारा जिस अवधिज्ञानका उल्लेख है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है, जो देवलोकमें भव-धारण अर्थात् जन्म लेनेके साथ ही उत्पन्न होता है तथा उस भवकी स्थिति-पर्यन्त रहता है और जिसके द्वारा देश-कालादिकी अवधि-विशेषके भीतर रूपी पदार्थोंका एकदेश साक्षात् (देशप्रत्यक्ष) ज्ञान होता है। यह अवधिज्ञान सर्वावधि तथा परमावधि न होकर देशावधि कहलाता है और अपने विषयमें निर्भ्रान्त होता है। 'अष्टगुणाः' पदके द्वारा जिन आठ गुणोंका उल्लेख किया गया है वे हैं—१ अणिमा, २ महिमा, ३ लघिमा, ४ प्राप्ति, ५ प्राकाम्य, ६ ईशित्व, ७ वशित्व, और ८ कामरूपित्व। आगमानुसार 'अणिमा' गुण उस शक्तिका नाम है जिसमें बड़ेसे बड़ा शरीर भी अणुरूपमें परिणत किया जा सके। 'महिमा' गुण उस शक्तिका नाम है जिससे छोटेसे छोटा अणुरूप शरीर भी मेरुप्रमाण जितना अथवा उससे भी बड़ा किया जा सके। लघिमा गुण उस शक्तिका नाम है जिससे मेरु जैसे भारी शरीरको भी वायुसे अधिक हलका अथवा इतना हलका किया जा सके कि वह मकड़ी-जालेके तन्तुओं पर निर्बाध रूपसे गति कर सके। 'प्राप्ति' गुण उस शक्ति-विशेषको कहते हैं जिससे दूरस्थ मेरु-पर्वतादिके शिखरों तथा चन्द्र सूर्योंके बिम्बोंको हाथकी अंगुलियोंसे छुआ जा सके। 'प्राकाम्य' गुण वह शक्ति है जिससे जलमें गमन पृथ्वी पर गमनकी तरह और पृथ्वी पर गमन जलमें गमनके समान उन्मज्जन-निमज्जन करता हुआ हो सके। 'ईशित्व' गुण उस शक्तिका नाम है जिससे सर्वसंसारी जीवों तथा ग्राम नगरादिकोंको भोगने-उपयोगमें लाने की सामर्थ्य प्राप्त हो अथवा सबकी प्रभुता घटित हो सके। 'वशित्व' गुण उस शक्तिको कहते हैं जिससे प्राणःसब संसारी जीवोंका वशीकरण किया जा सके। 'कामरूपित्व' गुण उस शक्तिका नाम है जिससे विक्रिया-द्वारा अनेक प्रकारके इच्छितरूप युगपत् धारण किये जा सकें। और 'दिव्यशरीर' पदसे उस प्रकारके शरीरका अभिप्राय है जो सप्त कुधातु

तथा मल-मूत्रादिसे युक्त औदारिक न होकर वैक्रियक होता है और अद्वितीय शोभासे सम्पन्न रहता है।

मद्य-मांस-मधु त्यागैः सहाऽणुव्रत-पंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

'श्रमणोत्तम—श्रीजिनेन्द्रदेव—मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्यागके साथ पांच अणुव्रतोंको (सद्) गृहस्थोंके आठ मूलगुण बताते हैं।—और इससे अन्य दिग्व्रतादिक जो गुण हैं वे सब उत्तरगुण हैं, यह साफ फलित होता है।'

व्याख्या—यहाँ 'गृहिणां' पद यद्यपि सामान्यरूपसे बिना किसी विशेषणके प्रयुक्त हुआ है फिर भी प्रकरणकी दृष्टिसे वह उन सद्गृहस्थोंका वाचक है जो व्रती-श्रावक होते हैं—अव्रती गृहस्थोंसे उसका प्रयोजन नहीं है। जैनधर्ममें जिस प्रकार महाव्रती मुनियोंके लिये मूलगुणों और उत्तरगुणोंका विधान किया गया है उसी प्रकार अणुव्रती श्रावकोंके लिये भी मूलोत्तरगुणोंका विधान है। मूलगुणोंसे अभिप्राय उन व्रत-नियमादिकसे है जिनका अनुष्ठान सबसे पहले किया जाता है और जिनके अनुष्ठान पर ही उत्तर गुणोंका अथवा दूसरे व्रत-नियमादिका अनुष्ठान अवलम्बित होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि जिस प्रकार मूलके होते ही वृक्षके शाखा पत्र पुष्प फलादिका उद्भव हो सकता है उसी प्रकार मूलगुणोंका आचरण होते ही उत्तरगुणोंका आचरण यथेष्ट बन सकता है। श्रावकोंके वे मूलगुण आठ हैं, जिनमें पाँच तो वे अणुव्रत हैं जिनका स्वरूपादि इससे पहले निर्दिष्ट हो चुका है और तीन गुण मद्य, मांस तथा मधुके त्याग रूपमें हैं। मद्य, जिसके त्यागका यहाँ विधान है, वह नशीली वस्तु है जो मनुष्यकी बुद्धिको भ्रष्ट करके उसे उन्मत्त अथवा भारी असावधान बनाती है—चाहे वह पिष्टोदक गुड़ और धातकी आदि पदार्थोंको गला-सड़ा कर रसरूपमें तय्यार की गई हो और या भांग-धतूरादिके द्वारा खाने-पीनेके किसी भी रूपमें प्रस्तुत हो; क्योंकि मद्यत्यागमें ग्रन्थकारकी दृष्टि प्रमाद-परिहरणकी है, जैसाकि इसी ग्रन्थकी अगली एक कारिकामें प्रयुक्त हुए 'प्रमादपरिहृतये मद्यं च वर्जनीयं' इस वाक्यसे जाना जाता है। मांस उस विकृत पदार्थका नाम है जो द्वीन्द्रियादि त्रसजीवोंके रस-रक्तादि-मिश्रित कलेवरसे निष्पन्न होता है और जिसमें निरन्तर त्रस-जीवोंका उत्पाद बना रहता है—चाहे वह पदार्थ आर्द्र हो, शुष्क हो या द्रवरूपमें व्यवस्थित हो। उसके त्यागमें त्रस-हिंसाकी दृष्टि संनिहित है। और मधु, जिसका त्याग यहाँ विहित है, वह पदार्थ है जिसे मधुमक्खियाँ पुष्पोंसे लाकर अपने छत्तोंमें संचय करती हैं और जो बादमें प्रायः छत्तोंको तोड़-मरोड़ तथा निचोड़ कर मनुष्योंके खानेके लिये प्रस्तुत किया जाता है और जिसके इस प्रस्तुतीकरणमें मधुमक्खियोंको भारी बाधा पहुँचती है, उनका तथा उनके अण्डे-बच्चोंका रसादिक भी निचुड़ कर उसमें शामिल हो जाता है और इस तरह जो एक घृणित पदार्थ बन जाता है। 'क्षौद्र' संज्ञा भी उसे प्रायः इस प्रक्रियाकी दृष्टिसे ही प्राप्त है। इस के त्यागमें भी त्रस-हिंसाके परिहारकी दृष्टि संनिहित है; जैसा कि अगली उक्त कारिकामें प्रयुक्त हुए 'त्रसहति-परिहरणार्थं पिशितं क्षौद्रं च वर्जनीयं' इस वाक्यसे जाना जाता है।

यहाँ पर एक बात खास तौरसे जान लेनेकी है और वह है अष्टमूलगुणोंमें पंच अणुव्रतोंका निर्देश; क्योंकि अमृतचन्द्र, सोमदेव और देवसेन जैसे कितने ही उत्तरवर्ती आचार्यों तथा कविराजमल्लादि जैसे विद्वानोंने अपने-अपने ग्रन्थों* में पंचाणुव्रतोंके स्थानपर पंच उदुम्बरफलोंका निर्देश किया है। जिनमें बड़, पीपल, पिलखन आदिके फल शामिल हैं। कहाँ पंचाणुव्रत और कहाँ पंच उदुम्बर फलोंका त्याग! दोनोंमें जमीन-आस्मान-जैसा अन्तर है। वस्तुतः विचार किया जावे तो उदुम्बरफलोंका त्याग मांसके त्यागमें ही आ जाता है; क्योंकि इन फलोंमें चलते-फिरते त्रस जीवोंका समूह साक्षात्‌भी दिखलाई देता है, इनके भक्षणसे मांस भक्षणका स्पष्ट दोष लगता है, इसीसे इनके भक्षणका निषेध किया जाता है। और इसलिये जो मांस-भक्षणके त्यागी हैं वे प्रायः कभी इनका सेवन नहीं करते। ऐसी हालतमें—मांस त्याग नामका एक मूलगुण होते हुए भी—पंच उदुम्बर फलोंके त्यागको, जिनमें परस्पर ऐसा कोई विशेष भेद भी नहीं है, पांच अलग अलग मूलगुण करार देना और साथ ही पंचाणुव्रतोंको मूल गुणोंसे निकाल देना एक बड़ी ही विलक्षण बात मालूम होती है। इस प्रकारका परिवर्तन कोई साधारण परिवर्तन नहीं होता। यह परिवर्तन कुछ विशेष अर्थ रखता है। इसके द्वारा मूलगुणोंका विषय बहुत ही हलका किया गया है और इस तरह

* देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, यशस्तिलक, भावसंग्रह (प्रा०) और पंचाध्यायी तथा लाटी संहिता।

उन्हें अधिक व्यापक बनाकर उनके क्षेत्रकी सीमाको बढ़ाया गया है। अब प्रश्न यह मालूम होती है कि मूल और उत्तर गुणोंका विधान व्रतियोंके वास्ते था। अहिंसादिक पंचव्रतोंका जो सर्वदेश (पूर्णतया) पालन करते हैं वे महाव्रती, मुनि अथवा यति आदिक कहलाते हैं और जो उनका एक देश (स्थूलरूपसे) पालन करते हैं उन्हें देशव्रती, श्रावक अथवा देशयति कहा जाता है।

जब महाव्रतियोंके २८ मूलगुणोंमें अहिंसादिक पंचव्रतोंका ग्रहण किया गया है तब देशव्रतियोंके मूलगुणोंमें पंचाणुव्रतोंका विधान होना स्वाभाविक ही है और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने पंच अणुव्रतोंको लिये हुए श्रावकोंके अष्टमूल गुणोंका जो प्रतिपादन किया है वह युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। परन्तु बादमें ऐसा जान पड़ता है कि जैन गृहस्थोंको परस्परके इस व्यवहारमें कि 'आप श्रावक हैं' और 'आप श्रावक नहीं हैं' कुछ भारी असमंजसता प्रतीत हुई है। और इस असमंजसताको दूर करनेके लिए अथवा देशकालकी परिस्थितियोंके अनुसार सभी जैनियोंको एक श्रावकीय झण्डेके तले लाने आदिके लिये जैनाचार्योंको इस बातकी जरूरत पड़ी है कि मूलगुणोंमें कुछ फेर-फार किया जाय और ऐसे मूलगुण स्थिर किये जाँय जो व्रतियों और अव्रतियों दोनोंके लिये साधारण हों। वे मूलगुण मद्य, माँस और मधुके त्याग रूप तीन हो सकते थे, परन्तु चूँकि पहलेसे मूलगुणोंकी संख्या आठ रूढ थी, इसलिये उस संख्याको ज्यों-का-त्यों कायम रखनेके लिये उक्त तीन मूलगुणोंमें पंचोदुम्बर फलोंके त्यागकी योजना की गई है और इस तरह इन सर्वसाधारण मूलगुणोंकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। ये मूलगुण व्रतियों और अव्रतियों दोनोंके लिये साधारण हैं, इसका स्पष्टीकरण कविराजमल्लके पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता ग्रन्थोंके निम्न पद्यसे भले प्रकार होजाता है:—

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे॥

परन्तु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि समन्तभद्र-द्वारा प्रतिपादित मूलगुणोंका व्यवहार अव्रतियोंके लिये नहीं हो सकता, वे व्रतियोंको ही लक्ष्य करके लिखे गये हैं; यही दोनोंमें परस्पर भेद है। अस्तु, इस प्रकार सर्वसाधारण मूलगुणोंकी सृष्टि हो जाने पर, यद्यपि, इन गुणोंके धारक अव्रती भी श्रावकों तथा देशव्रतियोंमें परिगणित होते हैं—सोमदेवने, यशस्तिलकमें, उन्हें साफ तौरसे 'देशयति' लिखा है—तो भी वास्तवमें उन्हें 'नामके ही' श्रावक अथवा देशयति समझना चाहिये, जैसाकि पंचाध्यायीके निम्न पद्यसे प्रकट है, जो लाटीसंहितामें भी पाया जाता है और जिसमें यह भी बतलाया गया है कि जो गृहस्थ इन आठोंका त्यागी नहीं वह नामका भी श्रावक नहीं है:—

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही॥

असल श्रावक तो वे ही हैं जो पंच अणुव्रतोंका पालन करते हैं। और इस सब कथनकी पुष्टि शिवकोटि आचार्यकी 'रत्नमाला' के निम्न वाक्यसे भी होती है, जिसमें पंच-अणुव्रतोंके पालन सहित मद्य, मांस और मधुके त्यागको 'अष्टमूलगुण' लिखा है और साथ ही यह बतलाया है कि पंच-उदुम्बरवाले जो अष्टमूलगुण हैं वे अर्भकों—बालकों, मूर्खों, छोटों अथवा कमजोरोंके लिए हैं। और इससे उनका साफ तथा खास सम्बन्ध अव्रतियोंसे जान पड़ता है—

मद्य-मांस-मधु-त्याग—संयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पंचोदुम्बराश्चार्भकेष्वपि॥१६॥

इन समन्तभद्र-प्रतिपादित मूलगुणोंमें श्रीजिनसेन और अमितगति जैसे आचार्योंने भी, अपने-अपने प्रतिपाद्यों के अनुरोधवश, थोड़ा बहुत भेद उत्पन्न किया है, जिसका विशेष वर्णन और विवेचन 'जैनाचार्यों का शासन भेद' नामक ग्रन्थसे जाना जा सकता है। *

—युगवीर

* 'समीचीन धर्मशास्त्र' के अप्रकाशित भाष्यसे।

महाकवि रइधू

(पं० परमानन्दजैन शास्त्री)

[अनेकांत वर्ष १० किरण १० से आगे]

समकालीन विद्वान भट्टारक

कवि रइधूने ग्वालियरका परिचय कराते हुए कुछ भट्टारकोंका आदर-पूर्वक समुल्लेख किया है और 'सम्मइजिन-चरिउ' नामक ग्रथकी प्रशस्तिमें देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्त्रकीर्ति, गणकीर्ति, गुरुभ्राता एवं शिष्य यश.कीर्ति, मलयकीर्ति, और गुणभद्र आदिका नामोल्लेख-पूर्वक परिचय भी दिया है। उनमें से भट्टारक सहस्रकीर्ति-के बादके विद्वान् भट्टारकोंका उपलब्ध संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाता है जो प्राय: कविवरके समकालीन एवं उससे कुछ समय पूर्व हुए थे।–

भट्टारक गुणकीर्ति—यह भट्टारक सहस्रकीर्तिके शिष्य थे और उन्हीके बाद भट्टारक पदपर आरूढ हुए थे। इन्हें बड़े तपस्वी और जैन सिद्धांतके मर्मज्ञ विद्वान् बतलाया है। इनका शरीर तपश्चरणसे अत्यन्त क्षीण हो गया था। इनके लघुभ्राता और शिष्य थे यश:कीर्ति। गुणकीर्तिने कोई साहित्यिक रचना की अथवा नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख देखनेमे नही आया। परन्तु इतना जरूर मालूम होता है कि इनकी प्रेरणा एव उपदेशसे और धर्मात्मा सेठ कुशराज जैन-के आर्थिक सहयोगसे, जो ग्वालियरके राजा वीरमदेवके विश्वसनीय मंत्री थे, और जिन्होने स्वर्गसे स्पर्धा करने वाला एक अति उत्तुग एवं विशाल चैत्यालय श्रीचन्द्रप्रभभगवान-का बनवाया था।

प० पद्मनाभ नामके एक कायस्थ विद्वान् ने संस्कृत भाषा म 'यशोधरचरित' अथवा 'दयासुन्दर' नामके एक महा-काव्यकी रचना की थी, जैसा कि उक्त ग्रन्थकी प्रशस्तिके निम्न पद्योसे प्रकट है:—

ज्ञाता श्री कुशराज एव सकलक्ष्मापालचूड़ामणि:
श्रीमत्तोमर वीरमस्य विदितो विश्वासपात्रं महान्।
मन्त्रीमन्त्रविचक्षण: क्षणमय: क्षीणारिपक्ष: क्षणात्
क्षोण्यामीक्षणरक्षणक्षममतिर्जैनेन्द्रपूजारत: ॥
स्वर्गस्पर्द्धि समृद्धि कोऽतिविमलश्चैत्यालय: कारितो,
लोकानां हृदयंगमो बहुधनैश्चन्द्रप्रभस्य प्रभो: ॥
येनैतत्समकालमेव रुचिरं भव्यं च काव्य तथा,
साधु श्री कुशराजकेन सुधिया कीर्तिश्चिरस्थायकम्

× × ×

उपदेशेन ग्रन्थोऽयं गुणकीर्तिमहामुने:।
कायस्थपद्मनाभेन रचित: पूर्वसूत्रत: ॥

वीरमदेव का समय वि० सं० १४६२ (ई० सन् १४०५) है, क्योकि उस समय मल्लू इकबालखांने ग्वालियरपर चढ़ाई की थी और उसे निराश होकर दिल्ली लौटना पड़ा था।[१] अत: यही समय भट्टारक गुणकीर्ति का है, वे विक्रम-की १५ वी शतीके अन्तिम चरण तक जीवित रहे है।

संवत् १४६० में वैशाख सुदि १३ के दिन खंडेलवाल वंशी पं० गणपतिके पुत्र पं० खेमलने पुष्पदन्तके उत्तर पुराणकी एक प्रति भट्टारक पद्मनन्दिके आदेशसे गुणकीर्ति-को प्रदान की है[१]। इससे भी भ० गुणकीर्तिका समय उपर्युक्त ही निश्चित होता है।

भ० यश:कीर्ति—यह भट्टारक गुणकीर्तिके शिष्य एवं लघुभ्राता थे, उनके बाद पट्टधर हुए थे। और अपने समय-के अच्छे विद्वान् थे। इन्होने संवत् १४८६ में विबुध श्रीधरका सस्कृत भविष्यदत्तचरित और अपभ्रंश भाषाका सुकुमाल चरितमें दोनों ग्रथ अपने ज्ञानवरणी कर्मके क्षयार्थ लिखवाए थे[२]। महाकवि रइधूने 'सम्मइजिनचरिउ' की प्रशस्तिमें यश: कीर्तिका निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है—

१.हिन्दी टाडराजस्थान ओझा जी द्वारा सम्पादित पृ० २५१।

१. देखो, सं० १३९१ की लिखित उत्तर पुराणकी आमेर भंडारकी प्रति।

२. "सम्वत् १४८६ वर्षे अश्वणिवदि १३ सोमदिने गोपाचलदुर्गे राजा डूगरेन्द्रसिंहदेवविजयराज्यप्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगण आचार्यश्रीभावसेन देवास्तत्पट्टे श्रीसहस्त्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे श्री गुणकीर्ति-देवास्तच्छिष्येन श्रीयश:कीर्तिदेवेन निजज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं इद सुकुमालचरितं लिखापितं कायस्थ थाजन पुत्र थल्ू

"ताह कमागय तव तवियंगो, णिच्चुब्भासिय्र-पवयण-संगो। भव्व-कमल-संबोह-पयंगो,वंदि वि सरि जिसकित्ति असंगो। तस्स पसाएँ कव्वु पयासमि, चिरभवि विहिउ-असुहणिण्णासमि"

सम्यकत्व गुणनिधानकी आदि प्रशस्तिमें निम्न रूपमें स्मरण किया है।

तह पुणु सु-तव-ताव-तवियंगो,
भव्व-कमल-संवोह पयंगो ।
णिच्चोब्भासिय पवयण अंगो,
वंदि वि सिरि जसकित्ति असंगो।
तासु पसाए कव्वु पयासमि,
आसि विहिउ कलिमलुणिण्णासमि ॥

भ० यशः कीर्तिने स्वयं अपना 'पाण्डव पुराण' वि० सं० १४९७ में अग्रवालवंशी साहू वील्हाके पुत्र हेमराजकी प्रेरणासे बनाया था। यह पहले हिसारके निवासी थे और बादको देहलीमें आकर रहने लगे थे, और देहलीके तात्कालिक बादशाह मुबारिक शाहके मंत्री थे, वहां इन्होंने एक चैत्यालय भी बनवाया था। और उसकी प्रतिष्ठा भी करायी थी।[१] इनकी दूसरी कृति 'हरिवंश पुराण' है जिसकी रचना इन्होंने वि० सं० १५०० में हिसारके साहू दिवड्ढाकी प्रेरणासे की थी। साहू दिवढ्डा अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे, उनका गोत्र 'गर्ग' था। वे बड़े धर्मात्मा और श्रावकोचित् द्वादशव्रतोंका अनुष्ठान करनेवाले थे। इनकी तीसरी कृति 'आदित्यवार कथा' है जिसे 'रविव्रत कथा' भी कहते है। और चौथी रचना 'जिनरात्रि कथा' है, जिसमें शिवरात्रि कथाके ढंगपर वीरजिन रात्रिके व्रतका फल बतलाया गया है। इनके सिवाय 'चन्दप्पह चरिउ' नामका अपभ्रंश भाषाका एक ग्रंथ और भी उपलब्ध है जिसके कर्त्ता कवियशःकीर्ति हैं, परन्तु प्रस्तुत यशःकीर्ति उक्त चन्द्रप्रभचरित्रके कर्ता हैं इसका ठीक निश्चय नहीं, क्योंकि इस नामके अनेक विद्वान हो गये हैं। भाषा और ग्रन्थ सरणीको देखते हुए वह इसका बनाया हुआ नहीं मालूम होता।

भ० यशःकीर्तिको महाकवि स्वयंभूदेवका 'हरिवंश पुराण' जीर्ण-शीर्ण दशामें प्राप्त हुआ था और जो खण्डित भी हो गया था, जिसका उन्होंने ग्वालियरके कुमरनगरीके जैनमन्दिरमें व्याख्यान करनेके लिये उद्धार किया था।[१] यह कविवर रइधूके गुरु थे, इनकी और इनके शिष्योंकी प्रेरणासे कवि रइधूने अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। इनका समय विक्रमकी १५ वीं शतीका अन्तिम चरण है, सं० १४८१ से १५०० तक तो इनके अस्तित्वका पता चलता ही है किन्तु उसके बाद और कितने समय तक ये जीवित रहे इसको निश्चित रूपसे बतलाना कठिन है।

भट्टारक मलयकीर्तिः—यह भट्टारक यशःकीर्तिके बाद उक्त पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। इनके शिष्य गुणभद्र भट्टारक थे, जिन्होंने इनकी कृपासे अनेक कथा ग्रथ रचे है। कवि रइधूने 'सम्मइजिन चरिउ' की प्रशस्तिमे भट्टारक मलयकीर्तिका निम्न शब्दोमें उल्लेख किया है—"उत्तम-खम-वासेण अमंदउ, मलयकित्ति रिसिवरु चिरुणदउ" प्रस्तुत मलयकीर्ति वे ही जान पड़ते है जिन्होंने भट्टारक सकलकीर्तिके 'मूलचारप्रदीप' नामक ग्रथकी दान प्रशस्ति लिखी थी। इन्होंने और किन-किन ग्रंथोंकी रचना की, यह कुछ ज्ञात नही हो सका।

भट्टारक गुणभद्र—यद्यपि गुणभद्र नामके अनेक विद्वान

लेखनीयं"

"संवत् १४८६ वर्षे आषाढ़वदि ९ गुरुदिने गोपाचल दुर्गे राजा डूंगरसी (सि) ह. राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री सहस (स्र) कीर्ति देवास्तत्पट्टे आचार्यगुणकीर्ति देवास्तच्छिष्य श्री यशःकीर्तिदेवास्तेन निज ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं इदं भविष्यदत्त-पंचमी कथा लिखापितम्।"

१. जेण करावउ जिण-चेयालउ, पुण्यहेउ चिर-रण पक्खालिउ। धय-तोरण कलसेहिं अलंकिउ, जसुगुरु ते हरि जाणुवि संकिउ।—पाण्डव पुराण प्रशस्ति

१. त जसकित्ति-मुणिहि उद्धरयिउ,
णिएविसुत्तु हरिवंसच्छरियउ।
णिय-गुरु-सिरि-गुणकित्ति-पसाए,
किउ परिपुण्णु मणहो अणुराए।
सरह सेणेदं (१) सेठिआएसें,
कुमर-णयरि आविउ सविसेसें।
गोवग्गिरिहे समीवे विसालए,
पणियारहे जिणवर-चेयालए।
सावयजणहो पुरउ वक्खाणिउ, दिढु मिच्छत्तु मोहु अवमाणिउ। —हरिवंशपुराण-प्रशस्ति

हुए हैं जिनमें उत्तरपुराणादिकके कर्ता गणभद्र जो भगवज्जिन-सेनाचार्यके शिष्य थे, प्रसिद्ध ही हैं। शेष दूसरे गुणभद्र नाम-के अन्य विद्वानोंका यहा परिचय न देकर मलयकीर्तिके शिष्य गुणभद्रका ही परिचय दे रहा हूं। ये भ० गुणभद्र काष्ठा संघी मथुरान्वयके भ० मलयकीर्तिके शिष्य थे और अपने गुरुके बाद उनके पदपर प्रतिष्ठित हुए थे। इनकी रची हुई निम्न १५ कथाएं है जो देहली पंचायती मंदिर खजूर मस्जिद-के शास्त्र भंडारके गुटका नं० १३-१४ में दी हुई है, जो संवत् १६०२ में श्रावण सुदी एकादशी सोमवारके दिन रोहतक नगरमें पातिशाह जलालुद्दीनके राज्यकालमें लिखा गया है।[1]

उन कथाओंके नाम इस प्रकार हैं:—

१ अणंतवय कहा, २ सवणवारसि-विहाण कहा, ३ पक्खवइ कहा, ४ णहपंचमी कहा, ६ चंदायणवयकहा, ७ चंदण छट्ठीकहा, ८ णरयउतारी दुद्धारसकहा, ९ मउडसत्तमी कहा, १० पुप्फजलिवय कहा, ११ रयणत्तयविहाण कहा १२ दहलक्खणवय कहा, १३ लद्धिवय विहाणकहा, १४ सोलहकारणवयविहि, १५ सुयधदसमी कहा। इनमेंसे नं० १,१० और १२ वी ये तीनों कथाएं ग्वालियरके जैसवाल-वशी चौधरी लक्ष्मणसिंहके पुत्र पडित भीमसेनके अनु-रोधसे रची गई हैं। नं० २ तथा १३ वें नम्बरकी कथाएं ग्वालियरवासी सघपति साहु उद्धरणके जिन मंदिरमें निवास करते हुए साहू सारगदेवके पुत्र देवदासकी प्रेरणा पाकर बनाई गई हैं। और न० ७ की कथा गोपाचलवासी साहु वीधाके पुत्र सहजपालके अनुरोधसे लिखी गई है। शेष नौ कथाओंके सम्बन्धमें कथा निर्माणके निमित्त भूत श्रावकोका कोई परिचय नही दिया है और इससे वे बिना किसीकी प्रेरणा-के स्वेच्छासे ही रची हुई हो सकती है।

भट्टारक गुणभद्रका समय भी विक्रमकी १५ वी शती का अन्तिम और १६ वी शतीका प्रारम्भिक काल है, क्योंकि संवत् १५०६ की लिखी हुई धनपालकी पंचमी कथाकी अपूर्ण लेखक पुष्पिकासे मालूम होता है। कि उस समय ग्वालियरके पट्टपर भ० हेमकीर्ति विराजमान थे।[2] और संवत् १५२१ में राजा कीर्तिसिंहके राज्यमें गुणभद्र मौजूद थे, जब ज्ञानार्णवकी प्रति लिखी गई थी।[3] इन्होंने अपनी कथाओं-में रचनाकाल नही दिया है। इसीसे निश्चित समय मालूम करनेमें बड़ी कठिनाई हो जाती है।

इन विद्वान् भट्टारकोके अतिरिक्त क्षेमकीर्ति, हेम-कीर्ति, कुमारसेन कमलकीर्ति और शुभचन्द्र आदिके नाम भी पाये जाते हे। इनमेंसे क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति और कुमारसेन, ये तीनों हिसारकी गद्दीके भट्टारक जान पड़ते है, क्योंकि कविरइधूके पार्श्वपुराणकी सं० १५४९ की लेखक-पुष्पिकामें जो हिसारके चैत्यालयमें लिखी गई है उक्त तीनों भट्टारकोके अतिरिक्त भट्टारक नेमिचन्द्र-का नाम भी दिया हुआ है जो कुमारसेनके पट्टपर प्रतिष्ठित हुए थे, उस समय वहा शाह सिकन्दरका राज्य था।[4]

कुछ ग्रन्थ प्रशस्तियोंके ऐतिहासिक उल्लेख

महा कवि रइधूकी समस्त रचनाओमे यह विशेषता पाई जाती है कि उनकी आद्यन्त प्रशस्तियोमें तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओंका समुल्लेख भी अंकित है, जोकि ऐतिसासिक दृष्टिसे बड़े ही महत्वका है और वह अनुसंधान-प्रिय विद्वानोके लिये बहुत ही उपयोगी है। उन उल्लेखोंपर से ग्वालियर जोइणपुर (दिल्ली) हिसार तथा आसपासके अन्य प्रदेशोंके निवासी जैनियोकी प्रवृत्ति आचार-विचार और धार्मिक मर्यादाका अच्छा चित्रण किया जा सकता है खास कर १५ वी शतीके उत्तर प्रातवासी जैनियोके तात्कालिक जीवनपर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है। उनमेंसे बतौर उदाहरणके यहा कुछ महत्वपूर्ण घटनाओका उल्लेख किया जाता है:—

(१) हरिवंशपुराणकी आद्य प्रशस्तिमें उल्लिखित भट्टारक कमलकीर्तिके पट्टका 'कनकाद्रि' 'सुवर्णगिरि' या वर्तमान सोनागिरिमें प्रस्थापित होना और उसपर भट्टारक शुभचन्द्रके पदारूढ होनेका ऐतिहासिक उल्लेख बड़े महत्वका है। उससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि ग्वालियर भट्टारकीय गद्दीका एक पट्ट सोनागिरिमें भी स्थापित हुआ था, जैसाकि प्रशस्तिकी निम्न पंक्तियोसे प्रकट है:—

१. अथ संवत्सरेस्मिन् श्री नृपविक्रमादित्य राज्यात् सं० १६०२ वर्षे श्रावण सुदि ११ सोमवासरे रोहितासशुभस्थाने पातिशाह जलांलदी (जलालुद्दीन) राज्य प्रवर्तमाने।

२. धनपाल पंचमी कथाकी अपूर्ण लेखक प्रशस्ति कारंजा प्रति।

३ ज्ञानार्णवकी लेखक-पुष्पिका जैनसिद्धांतभवन, आरा प्रति।

४. पार्श्वपुराणकी लेखक-पुष्पिका, जो मेरी नोट्सबुकमें दर्ज है।

"कमलकित्ति उत्तम खमधारउ, भव्वहिंभव-अंबोणिहि-तारउ।
तस्स पट्ट कणयद्दि परिट्ठिउ, 'सिरिसुहचन्दसु-तव उक्कंठिउ'' ।

(२) कविके 'सम्मइजिनचरिउ' नामक ग्रंथकी प्रशस्ति में जैनियोंके आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ भगवानकी एक विशाल मूर्तिके निर्माण करानेका उल्लेख निम्न प्रकारसे दिया हुआ है और उसमें बतलाया है कि अग्रवाल कुलावतंस संसार-शरीरभोगोंसे उदासीन, धर्मध्यानसे संतृप्त, शास्त्रोंके अर्थरूपी रत्नसमूहसे भूषित तथा एकादश प्रतिमाओंके संपालक, खेल्हा नामके ब्रह्मचारी उस श्रावकने मुनिसे यशः-कीर्तिकी बन्दना की, और कहा कि आपके प्रसादसे मैंने संसार-दुःखका अन्त करनेवाले चन्द्रप्रभ भगवानकी एक विशाल मूर्तिका निर्माण ग्वालियरमें कराया है। इस आशय-को व्यक्त करनेवाली मूलग्रंथकी पंक्तियां इस प्रकार हैं:—

"ता तम्मि खणिबंभवय-भार-भारेण सिरि अयर-वालंक
वंसम्मि सारेण।
संसारतणु-भोय-णिविण्णिचित्तण वरधम्मझाणामएणेव
तित्तेण ।
खेल्हाहिहाणेण णमिऊण गुरुत्तेण जसकित्ति विणयत्तु मंडिय-
गुणोहेण ।
भो मयण-दावग्गि उल्हवण वणदाण संसार-जलरासि-
उत्तार-वर जाण ।
तुम्हहं पसाएण भव-दुह कयंतस्स ससिपहजिणेंदस्स पडिमा
विसुद्धस्स ।
काराविया मइं जि गोवायले तुग उडुचावि णामेण तित्थम्मि
सुहसंग ।"

पुण्यास्रव कथाकोशकी अन्तिम प्रशस्तिमें बतलाया है कि जोइणिपुर (योगिनीपुर-दिल्ली) के निवासी साहूतासउके प्रथम पुत्र नेमिदासने, जिसे चन्द्रवाड़, के चौहानवंशी प्रतापरुद्र नामके राजाने सन्मानित किया था, बहुत प्रकारकी धातु, स्फटिक और विद्रुममयी (मूंगाकी) अगणित प्रतिमाएं बनवायी थीं, और उनकी प्रतिष्ठाभी कराई थी, तथा चन्द्रप्रभ भगवानका उत्तुंग शिखरों वाला एक चैत्यालय भी बनवाया था।

(४) 'सम्मत्तगुणनिधान' नामके ग्रंथकी प्रथम संधि-के १७ वें कडवकसे स्पष्ट है कि साहू खेमसिंहके पुत्र कमल-सिंहने भगवान आदिनाथकी एक विशाल मूर्तिका निर्माण कराया था, जो ग्यारह हाथ ऊंची थी और दुर्गतिकी विनाशक मिथ्यात्वरूपी गिरीन्द्रके लिये वज्र समान, भव्योंके लिये शुभगति प्रदान करनेवाली तथा दुख-रोग-शोककी नाशक थी। ऐसी महत्वपूर्ण मूर्तिकी प्रतिष्ठा करके उसने महान् पुण्यका संचय किया था और चतुर्विध संघकी विनय भी की थी ।

(५) 'सम्मइजिनचरिउ' में फिरोजशाहके द्वारा हिसार नगरके बसायेजाने और उसका परिचय कराते हुए वहां सिद्धसेन और उनके शिष्य कनककीर्तिका नामोल्लेख किया गया है। इन सबकी पुष्टि 'पुण्यासव', सम्मत्त गुण-निधान', तथा जसहरचरिउ' की प्रशस्तियों से भी होती है।

(६) हिसार नगरके वासी सहजपालके पुत्र सहदेव द्वारा जिनबिम्बकी प्रतिष्ठा कराने और उस समय अभि-लषित बहुत दान देनेका उल्लेख भी' सम्मइजिनचरिउ' की अन्तिम प्रशस्तिमें दिया हुआ है। साथ ही सहजपालके द्वितीयादि पुत्रों द्वारा गिरनारकी यात्राके लिये चतुर्विध-संघ चलाने तथा उसका कुल आर्थिक भार वहन करने-का भी समुल्लेख पाया जाता है। जैसा कि उसकी अन्तिम प्रशस्तिके ३१ वें ३२ वें कडवकसे ज्ञात होता है।

(७) यशोधरचरितकी प्रशस्तिसे भी प्रकट है कि लाहण या लाहडपुरके निवासी साहूकमलसिंह ने गिरनार-की यात्रा ससंघ अपने समस्त परिजनोंके साथकी थी और यशोधरचरित नामके ग्रंथका निर्माण भी कराया था।

(अगली किरण में समाप्त)

युक्त्यनुशासनकी प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थका सुप्रसिद्ध नाम 'युक्त्यनुशासन' है। यद्यपि ग्रन्थके आदि तथा अन्तके पद्योंमें इस नामका कोई उल्लेख नहीं है—उनमें स्पष्टतया वीर-जिनके स्तोत्रकी प्रतिज्ञा और उसीकी परिसमाप्तिका उल्लेख है[1] और इससे ग्रन्थका मूल अथवा प्रथम नाम 'वीरजिनस्तोत्र' जान पड़ता है—फिर भी ग्रन्थकी उपलब्ध प्रतियों तथा शास्त्र-भण्डारोंकी सूचियोंमें 'युक्त्यनुशासन' नामसे ही इसका प्रायः उल्लेख मिलता है। टीकाकार श्रीविद्यानन्दाचार्यने तो बहुत स्पष्ट शब्दोंमें टीकाके मंगलपद्य, मध्यपद्य और अन्त्यपद्यमें इसको समन्तभद्रका 'युक्त्यनुशासन' नामका स्तोत्रग्रन्थ उद्घोषित किया है; जैसा कि उन पद्योंके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्" (१)
"स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषत." (२)
"श्रीमद्वीरजिनेश्वराऽमलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम् ।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः" (४)

यहा मध्य और अन्त्यके पद्योसे यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थ वीरजिनका स्तोत्र होने हुए भी 'युक्त्यनुशासन' नामको लिये हुए है अर्थात् इसके दो नाम हैं—एक 'वीरजिनस्तोत्र' और दूसरा 'युक्त्यनुशासन'। समन्तभद्रके अन्य उपलब्ध ग्रन्थ भी दो-दो नामोंको लिये हुए है; जैसा कि मैंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' को प्रस्तावनामें व्यक्त किया है। पर स्वयम्भूस्तोत्रादि अन्य चार ग्रन्थोंमें ग्रन्थका पहला नाम प्रथम पद्य-द्वारा और दूसरा नाम अन्तिम पद्य-द्वारा सूचित किया गया है और यहा आदि-अन्तके दोनों ही पद्योंमें एक ही नामकी सूचना की गई है तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या 'युक्त्यनुशासन' यह नाम बादको श्रीविद्यानन्द या दूसरे किसी आचार्यके द्वारा दिया गया है अथवा ग्रन्थके अन्य किसी पद्यसे इसकी भी उपलब्धि होती है? श्रीविद्यानन्दाचार्यके द्वारा यह नाम दिया हुआ मालूम नहीं होता; क्योंकि वे टीकाके आदि मंगल पद्यमे 'युक्त्यनुशासन' का जयघोष करते हुए उसे स्पष्ट रूपमें समन्तभद्रकृत बतला रहे हैं और अन्तिम पद्यमे यह साफ घोषणा कर रहे हैं कि स्वामी समन्तभद्रने अखिल तत्वकी समीक्षा करके श्रीवीरजिनेन्द्रके निर्मल गुणोके स्तोत्ररूपमें यह 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ कहा है। ऐसी स्थितिमें उनके द्वारा इस नामकरणकी कोई कल्पना नही की जा सकती। इसके सिवाय, शकसंवत् ७०५ (वि सं. ८४०) में हरिवंशपुराणको बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यने 'जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्, वचः समन्तभद्रस्य' इन पदोके द्वारा बहुत स्पष्ट शब्दोमें समन्तभद्रको 'जीवसिद्धि' ग्रन्थका विधाता और 'युक्त्यनुशासन' का कर्त्ता बतलाया है। इससे भी यह साफ जाना जाता है कि 'युक्त्यनुशासन' नाम श्रीविद्यानन्द अथवा श्रीजिनसेनके द्वारा बादको दिया हुआ नाम नही है, बल्कि ग्रन्थकार-द्वारा स्वयंका ही विनियोजित नाम है।

अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थके किसी दूसरे पद्यसे इस नामकी कोई सूचना मिलती है? सूचना जरूर मिलती है। स्वामीजीने स्वय ग्रन्थकी ४८वी कारिकामें 'युक्त्यनुशासन' का निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।"

इसमें बतलाया है कि 'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका अर्थसे प्ररूपण है उसे 'युक्त्यनुशासन' कहते है और वही (हे वीर भगवन्!) आपको अभिमत है—अभीष्ट है।" ग्रन्थका सारा अर्थप्ररूपण युक्त्यनुशासनके इसी लक्षणसे लक्षित है, इसीसे उसके सारे शरीरका निर्माण हुआ है और इसलिये 'युक्त्यनुशासन' यह नाम ग्रन्थकी प्रकृतिके अनुरूप उसका प्रमुख नाम है। चुनाचे ग्रन्थकार-महोदय, ६३वी कारिकामें ग्रन्थके निर्माणका उद्देश्य व्यक्त करते हुए, लिखते हैं कि 'हे वीर भगवन्! यह स्तोत्र आपके प्रति रागभावको अथवा दूसरोंके प्रति द्वेषभावको लेकर नहीं रचा गया है, बल्कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते है और किसी प्रकृतविषयके गुण-दोषोंको जानतेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह हितान्वेषणके उपायस्वरूप

---

[1] "स्तुतिगोचरत्व निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं" (१); "नरागत्र. स्तोत्र भवति भवपाशच्छिदि मुनौ" (६३); "इति . . . स्तुतः शक्त्या श्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन मया। महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये . . ." (६४)।

आपकी गण-कथाके साथ कहा गया है, इससे साफ़ जाना जाता है कि ग्रन्थका प्रधान लक्ष्य भूले-भटके जीवोंको न्याय-अन्याय, गुण-दोष और हित-अहितका विवेक कराकर उन्हें वीरजिन-प्रदर्शित सन्मार्गपर लगाना है और वह यक्तियोंके अनुशासन-द्वारा ही साध्य होता है, अतः ग्रन्थका मलतः प्रधान नाम 'युक्त्यनुशासन' ठीक जान पड़ता है। यही वजह है कि वह इसी नामसे अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। 'वीरजिनस्तोत्र' यह उसका दूसरा नाम है, जो स्तुतिपात्रकी दृष्टिसे है, जिसका और जिसके शासनका महत्व इस ग्रन्थमें स्थापित किया गया है। ग्रन्थके मध्यमें प्रयुक्त हुए किसी पदपरसे भी ग्रन्थका नाम रखनेकी प्रथा है, जिसका एक उदाहरण धनंजय कविका 'विषापहार' स्तोत्र है, जो कि न तो 'विषापहार' शब्दसे प्रारम्भ होता है और न आदि-अन्तके पद्योंमें ही उसके 'विषापहार' नामकी कोई सूचना की गई है, फिर भी मध्यमें प्रयुक्त हुए 'विषापहारं मणिमौषधानि' इत्यादि वाक्यपरसे वह 'विषापहार' नामको धारण करता है। उसी तरह यह स्तोत्र भी 'युक्त्यनुशासन' नामको धारण करता हुआ जान पड़ता है।

इस तरह ग्रन्थके दोनों ही नाम युक्तियुक्त है और वे ग्रन्थकार-द्वारा ही प्रयुक्त हुए सिद्ध होते है। जिसे जैसी रुचि हो उसके अनुसार वह इन दोनों नामोमें से किसीका भी उपयोग कर सकता है।

ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय और महत्व—

यह ग्रन्थ उन आप्तों अथवा 'सर्वज्ञ' कहे जानेवालोंकी परीक्षाके बाद रचा गया है, जिनके आगम किसी-न-किसी रूपमें उपलब्ध हैं और जिनमें बुद्ध-कपिलादि के साथ वीर जिनेन्द्र भी शामिल है। परीक्षा 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधि-वाक्त्व' हेतुसे की गई है अर्थात् जिनके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोध रूप पाये गये उन्हें ही आप्तरूपमें स्वीकार किया गया है—शेषका आप्त होना बाधित ठहराया गया है। ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्रकी इस परीक्षामें, जिसे उन्होंने अपने 'आप्त-मीमांसा' (देवागम) ग्रन्थमें निबद्ध किया है, स्याद्वादनायक श्रीवीरजिनेन्द्र, जो अनेकान्तवादि-आप्तोंका प्रतिनिधित्व करते है, पूर्णरूपसे समुत्तीर्ण रहे हैं और इसलिये स्वामीजीने उन्हें निर्दोष आप्त (सर्वज्ञ) घोषित करते हुए और उनके अभिमत अनकान्तशासनको प्रमाणाऽबाधित बतलाते हुए लिखा है कि आपके शासनाऽमृत से बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी है वे आप्त नहीं आप्ताभिमान से दग्ध है; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्व प्रत्यक्ष-प्रमाणसे बाधित है—

> **स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्।**
> **अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥**
> **त्वन्मताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।**
> **आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥**
>
> —आप्तमीमांसा

इस तरह वीरजिनेन्द्रके गलेमें आप्त-विषयक जयमाल डालकर और इन दोनों कारिकाओंमें वर्णित अपने कथनका स्पष्टीकरण करनके अनन्तर आचार्य स्वामी समन्तभद्र इस स्तोत्रद्वारा वीरजिनेन्द्रका स्तवन करने बैठे है, जिसकी सूचना इस ग्रन्थकी प्रथम कारिकामें प्रयुक्त हुए 'अद्य' शब्दके द्वारा की गई है। टीकाकार श्रीविद्यानन्दाचार्यने भी 'अद्य' शब्द का अर्थ **'अद्याऽस्मिन् काले परीक्षावसानसमये'** दिया है। साथ ही, कारिकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्य-द्वारा यह भी सूचित किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ आप्तमीमांसाके बाद रचा गया है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थङ्करपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः? इति ते पृष्ठा इव प्राहुः।"

स्वामी समन्तभद्र एक बहुत बड़े परीक्षा-प्रधानी आचार्य थे, वे यों ही किसीके आगे मस्तक टेकनेवाले अथवा किसीकी स्तुतिमे प्रवृत्त होनेवाले नही थे। इसीसे वीर-जिनेन्द्रकी महानता-विषयक जब ये बातें उनके सामने आई कि 'उनके पास देव आते है, आकाशमें बिना किसी विमानादि की सहायताके उनका गमन होता है और चंवर-छत्रादि अष्ट प्रातिहार्योंके रूपमें तथा समवसरणादिके रूपमें अन्य विभूतियोंका भी उनके निमित्त प्रादुर्भाव होता है, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'ये बातें तो मायावियोंमें—इन्द्रजालियों-म—भी पाई जाती हैं, इनके कारण आप हमारे महान्-पूज्य अथवा आप्त-पुरुष नहीं है।'[1] और जब शरीरादिके अन्तर्बाह्य महान् उदयकी बात बतलाकर महानता जतलाई गई तो उसे भी अस्वीकार करते हुए उन्होंने कह दिया कि शरीरादिका यह महान् उदय रागादि के वशीभूत देवताओंमें भी पाया

---

१. देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नाऽतस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

जाता है। अतः यह हेतु भी व्यभिचारी है, इससे महानता (आप्तता) सिद्ध नहीं होती।[2] इसी तरह तीर्थंकर होनेसे महानताकी बात जब सामने लाई गई तो आपने साफ कह दिया कि 'तीर्थंकर' तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उतरने अथवा निर्वृति प्राप्त करनेके उपायरूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं तब वे सब भी आप्त-सर्वज्ञ ठहरते हैं, और यह बात बनती नहीं, क्योंकि तीर्थङ्करोंके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है। अतः उनमें कोई एक ही महान् हो सकता है, जिसका ज्ञापक तीर्थंकरत्व हेतु नहीं, कोई दूसरा ही हेतु होना चाहिये।[3]

ऐसी हालतमें पाठकजन यह जाननेके लिये जरूर उत्सुक होंगे कि स्वामीजीने इस स्तोत्रमें वीरजिनकी महानताका किस रूपमें संद्योतन किया है। वीरजिनकी महानताका संद्योतन जिस रूपमें किया गया है उसका पूर्ण परिचय तो पूरे ग्रन्थको बहुत दत्तावधानताके साथ अनेक बार पढनेपर ही ज्ञात हो सकेगा, यहां पर संक्षेपमें कुछ थोडा-सा ही परिचय कराया जाता है और उसके लिये ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाए खास तौरसे उल्लेखनीय हैं—

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥
दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं
नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

इनमेंसे पहली कारिकामें श्रीवीरकी महानताका और दूसरीमें उनके शासनकी महानताका उल्लेख है। श्री वीरकी महानताको इस रूपमें प्रदर्शित किया गया है कि 'वे अनुलित शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए हैं—उन्होंने मोहनीयकर्मका अभाव कर अनुपम सुख-शान्तिकी, ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मोंका नाशकर अनन्त ज्ञान-दर्शनरूप शुद्धिके उदयकी और अन्तराय कर्मका विनाश कर अनन्तवीर्यरूप शक्तिके उत्कर्षकी चरम-सीमाको प्राप्त किया है—और साथ ही ब्रह्मपथके—अहिंसात्मक आत्मविकासपद्धति अथवा मोक्षमार्गके वे नेता बने हैं—उन्होने अपने आदर्श एवं उपदेशादि-द्वारा दूसरोंको उस सन्मार्ग पर लगाया है जो शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिके परमोदयरूपमें आत्मविकासका परम सहायक है।' और उनके शासनकी महानताके विषयमें बतलाया है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्तध्यान) की निष्ठा-तत्परता को लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिलकुल स्पष्ट-सुनिश्चित करने वाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खंडित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नहीं है। यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये वह अद्वितीय है।'

अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्वको और उसके द्वारा वीरजिनेंद्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीरजिन-द्वारा इस शासनमें वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोमें निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको सिद्ध करमें असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ पाठकोंके लिये बड़ा ही रोचक है और वीरजिनेंद्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्त-व्यापिनी बनानेवाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनों और उनके अवान्तर कितने ही वादोंका सूत्र अथवा संकेतादिकके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आ गया है। यह विषय ३९ वी कारिका तक चलता रहा है। श्री विद्यानन्दाचार्यने इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें वहा तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है—

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

अर्थात्—यहांतकके इस युक्त्यनुशासन स्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीरजिनेंद्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष

२. अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

३. तीर्थंकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥
—आप्तमीमांसा

और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका संक्षेपसे निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिए।

इसके आगे, ग्रंथके उत्तरार्धमें, वीर-शासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रंथोंमें प्राय: नहीं पायी जातीं, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्द के प्रयोग-अप्रयोकग के रहस्य की बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे वीरके तत्त्वज्ञानको समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। वीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रंथमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—संसार-समुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी पार उतर जाते हैं और जो सबोंके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकास में सहायक है—और यह भी बतलाया है कि वह सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध और एकत्व-अनेकत्वादि अशेष धर्मोंको अपनाये हुए हैं—, मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे सुव्यवस्थित है और सब दुःखोंका अन्त करनेवाला तथा स्वयं निरन्त है—अविनाशी तथा अखंडनीय है। साथ ही, यह भी घोषित किया है कि जो शासन धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता है—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य होता है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ कसती है; ऐसी हालमें सर्वथा एकान्तशासन 'सर्वोदयतीर्थ' पदके योग्य हो ही नहीं सकता। जैसा कि ग्रंथके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> **सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्प**
> **सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।**
> **सर्वापदामन्तकरं निरन्तं**
> **सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥**

वीरके इस शासनमें बहुत बड़ी खूबी यह है कि 'इस शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी, यदि समदृष्टि हुआ उपपत्ति चक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक समाधानकी दृष्टिसे—वीरशासनका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृंग खंडित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है।' ऐसी इस ग्रंथके निम्न वाक्यमें स्वामी समन्तभद्रने जोरोंके साथ घोषणा की है—

> **कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः**
> **समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।**
> **त्वयि ध्रुवं खण्डित-मान-शृङ्गो**
> **भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥**

इस घोषणामें सत्यका कितना अधिक साक्षात्कार और आत्म-विश्वास संनिहित है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं, जरूरत है यह कहने और बतलाने की कि एक समर्थ आचार्यकी ऐसी प्रबल घोषणाके होते हुए और वीर शासनको 'सर्वोदयतीर्थ' का पद प्राप्त होते हुए भी आज वे लोग क्या कर रहे हैं जो तीर्थके उपासक कहलाते हैं, पण्डे-पुजारी बने हुए हैं और जिनके हाथो यह तीर्थ पड़ा हुआ है। क्या वे इस तीर्थ के सच्चे उपासक हैं? इसकी गुण-गरिमा एवं शक्तिसे भले प्रकार परिचित हैं? और लोकहित-की दृष्टिसे इसे प्रचारमें लाना चाहते है? उत्तरमें यही कहना होगा कि 'नही'। यदि ऐसा न होता तो आज इसके प्रचार और प्रसारकी दिशामें कोई खास प्रयत्न होता हुआ देखनेमें आता, जो नहीं देखा जा रहा है। खेद है कि ऐसे महान प्रभावक ग्रंथोंको हिन्दी आदिके विशिष्ट अनुवादादिके साथ प्रचारमें लानेका कोई खास प्रयत्न भी आजतक नहीं हो सका है, जो वीर-शासनका सिक्का लोक-हृदयोंपर अंकित कर उन्हें सन्मार्गकी ओर लगाने वाले हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ कितना प्रभावशाली और महिमामय है, इसका विशेष अनुभव तो विज्ञपाठक इसके गहरे अध्ययनसे ही कर सकेंगे। यहांपर सिर्फ इतना ही बतला देना उचित जान पड़ता है कि श्रीविद्यानन्द आचार्यने युक्त्यनुशासनका जयघोष करते हुए उसे 'प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तु-तत्त्वम-बाधितं' (१) विशेषणके द्वारा प्रमाण-नयके आधारपर वस्तुतत्वका अबाधित रूपसे निर्णायक बतलाया है। साथ ही, टीकाके अन्तिम पद्यमें यह भी बतलाया है कि 'स्वामी समन्तभद्रने अखिल तत्त्वसमूहकी साक्षात् समीक्षा कर इनकी रचना की है।' और श्रीजिनसेनाचार्यने, अपने हरिवंशपुराणमें, 'कृतयुक्त्यनुशासनं' पदके साथ

'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते' इस वाक्यकी योजना कर यह घोषित किया है कि समन्तभद्रका युक्त्यनुशासन ग्रन्थ वीरभगवानके वचन (आगम) के समान प्रकाशमान् एवं प्रभावादिकसे युक्त है।' और इससे साफ जाना जाता है कि यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक है, आगमकी कोटिमें स्थित है और इसका निर्माण बीजपदों अथवा गम्भीरार्थक और बह्वर्थक सूत्रों द्वारा हुआ है। सचमुच इस ग्रन्थकी कारिकाएँ प्रायः अनेक गद्य सूत्रोंसे निर्मित हुई जान पड़ती हैं, जो बहुत ही गाम्भीर्य तथा अर्थ-गौरवको लिए हुए हैं। उदाहरणके लिये ७वीं कारिका को लीजिये इसमें निम्न चार सूत्रोंका समावेश है—

१ अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वम्।

२ स्वतन्त्राऽन्यतरत्खपुष्पम्।

३ अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः (संसर्गहानिः)।

४ संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः।

इसी तरह दूसरी कारिकाओंका भी हाल है। मैं चाहता था कि कारिकाओंपरसे फलित होने वाले गद्यसूत्रोंकी एक सूची अलगसे दी जाती, परन्तु उसके तैयार करने योग्य मुझे स्वयं अवकाश नहीं मिल सका और दूसरे एक विद्वान्से जो उसके लिए निवेदन किया गया तो उनसे उसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। और इसलिए वह सूची फिर किसी दूसरे संस्करणके अवसरपर ही दी जा सकेगी।

आशा है ग्रन्थके इस संक्षिप्त परिचय और १२ पेजी विषयसूची परसे पाठक ग्रन्थके गौरव और उसकी उपादेयताको समझ कर सविशेषरूपसे इसके अध्ययन और मननमें प्रवृत्त होंगे।

जुगलकिशोर मुख्तार

बुन्देलखण्डके कविवर देवीदास

देश-परिचय

इस भारत-भू पर बुन्देलखण्ड एक सुन्दर सुहावना-सा प्रदेश है। वहाँकी आब-हवा शुष्क होते हुए भी स्वास्थ्य-प्रद और जल मिष्ट, स्वादिष्ट तथा शीतल है। बुन्देलखण्डकी इस भूमि पर अनेक भारतीय प्रसिद्ध-वंशोंके वीर क्षत्रियोंने—कलचुरि, चन्देल, गौड़, ठाकुर और बुन्देला राजपूत आदि वंशोंके वीर पराक्रमी राजाओं-ने-राज्य शासन किया है। वहाँके लोग सीधे-साधे और अपनी बातके धनी होते थे। यद्यपि बुन्देलखण्ड एक निर्धन प्रदेश है, क्योंकि वहाँ आज भी व्यापारके विशेष साधन नहीं है। इस दशामें पहलेसे कुछ सुधार हुआ भी, तो भी उसमें विशेष प्रगति लानेकी आवश्यकता है। वहाँके प्राकृतिक जंगल अनेक फलोंसे परिपूर्ण होते हैं उनसे गरीब जनता अपनी उदर पूर्तिका प्रयत्न करती रहती है। आजकल ये प्राकृतिक जंगल भी राज्य-शासनकी आयके साधन बन रहे हैं। यह हरा-भरा देश कृषि प्रधान है, सभी तरहके अनाज वहाँ पैदा होते हैं। बुन्देलखण्डमें, वेतवा, नर्मदा और धसान आदि अनेक छोटी-बड़ी नदियाँ बहती हैं, वहाँकी जमीन पहाड़ी होनेके कारण प्रायः नहरोंका अभाव है। अतएव वहाँ-का समस्त कृषि वर्षाके ऊपर निर्भर है।

इस देशमें जहाँ अनेक राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार त्यागी-तपस्वी और साधुजन हुए हैं। साथ ही, वहाँ अनेक तीर्थ-क्षेत्र, कला-पूर्ण मन्दिर और सुन्दर कलात्मक प्रशान्त-मूर्तियां भी उस देशकी समृद्धि एवं महत्ताके निदर्शक हैं। वहां अनेक कवि भी हुए हैं जो अपनी कला चातुरीसे अपने हृदय-गत भावोंको व्यक्त करते थे। वे अपनी कलासे केवल जनताका मनोरंजन ही नहीं करते थे, प्रत्युत उस वस्तु-स्थितिका वह दृश्य भी उपस्थित करते थे जिसे यदि जनता अपने हृदय-पट पर अंकित कर लेती थी तो वह उन सांसरिक महा-विपत्तियों-से छुटकारा पानेके लिए उद्यत हो जाती थी, जो उसके आत्महितका प्रधान लक्ष्य है।

बुन्देलखण्डकी अधिकांश जनता आज भी धार्मिक-

की ओर अपना खास ध्यान देती है। यद्यपि कुछ समयसे उसमें शिथिलताका समावेश होने लगा है, जिसका कारण शहरोंमें उस पाश्चात्य सभ्यताका पनपना है, जो आर्य-संस्कृतिकी विघातक है। परन्तु आज भी बुन्देलखन्ड-के लोग उस चारित्रको अपना अंग बनाये हुए हैं। इसी-से वहाँके लोगोंका रहन-सहन, खान-पान सादा होते हुए भी सात्विक वृत्तिको लिए हुए हैं। आज भी बुन्देलखण्डमें अनेक उद्भट विद्वान, कवि और त्यागी-तपस्वी होते हुए भी वहाँ शिक्षाकी कमी है। कुछ स्थान तो ऐसे हैं जहाँ व्यापारके कोई साधन उपलब्ध ही नहीं हैं। इसीसे अनेक ग्राम व नगरोंके लोग अपने अपने स्थान-को छोड़कर समीप-वर्ती शहरोंमें आबाद होते जा रहे हैं। सरकारका कर्तव्य है कि वह बुन्देलखण्डको समुन्नत बनानेके लिए विविध उपायोंको काममें लाय, जिससे वहाँकी जनताके रहन-सहनका स्तर ऊँचा उठे और वहाँ खेती और व्यापारकी सुविधा प्राप्त हो, साथ ही उस देशकी कलात्मक प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन मिले। अस्तु,

बुन्देलखण्डके आज एक ऐसे विद्वान कविका परि-चय पाठकोंको करानेका प्रयत्न कर रहा हूँ, जो अब तक प्रायः अप्रसिद्ध रहा है और जिसकी कृतियोंका प्रचार नगण्य-सा है! उसकी अप्रसिद्धिका एक कारण यह भी रहा है कि वह जैन कुलमें उत्पन्न हुआ था और उसकी प्रायः सारी ही कविता जैनधर्मके मन्तव्योंसे ओत-प्रोत होती हुई भक्ति-रस और आध्यात्मिक रसकी वह सुन्दर एवं हृदय-हारिणी सरिता है जिसमें अवगाहन करना साधारण व्यक्तिका काम नहीं है।

जीवन-परिचय

बुन्देलखण्डमें अनेक जैन कवि हुए हैं। उनमें 'वर्धमान काव्य' के कर्ता कवि नवलशाह भी प्रस्तुत कवि-के समकालीन हैं। जिनका परिचय बादमें दिया जायेगा बुन्देलखण्डके अन्य जैन कवियोंके ज्ञात करनेकी आ-वश्यकता है। जिससे उनका परिचय भी दिया जा सके।

प्रस्तुत कविवर देवीदास 'ओरछा स्टेट' दुगौड़ा ग्राम-के निवासी थे। यह ग्राम मड़ार पेज और बरमा नामक ग्रामके पास है। कविकी जाति 'गोलालारे' और वंश 'खरौआ' था। तथा बैंक सोनविघार और गोत्र 'कासिल्ल' था। इनके पूर्वज भदावर देशके 'केलगवां' ग्रामके निवासी थे। वहाँसे किसी कारण-वश वे दुगौड़ा नामक ग्राममें आ बसे थे।❀ ओरछामें उस समय सावंतसिंह-का राज्य था।

देवीदास प्राकृत-संस्कृत भाषाके साथ हिन्दी भाषा के भी अच्छे विद्वान थे और काव्य-कलामें निष्णात थे। इनका रहन-सहन सीधा-सादा था। जैनधर्ममें इनकी श्रद्धा अडोल थी और वे श्रावकोचित् षट्कर्मोंका पालन सदा किया करते थे। वे लोक व्यवहारमें निपुण थे। और वह स्वभावतः भद्र परिणतिको लिए हुए थे। वे बड़े किफायतसार और व्यापारिक कार्योंमें निपुण थे। इन-के संबन्धमें अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, जिनमें उन के जीवन-सम्बन्धि खास घटनाओंका उल्लेख निहित है और उनसे उनकी जीवन वृत्ति और भद्र परिणतिका सहजही अन्दाज लगाया जा सकता है। कविकी धार्मिक परिणतिके साथ उनकी काव्य-कलाका विकास भी, जिस-का परिचय 'परमानन्द विलास' नामकी संग्रह कृतिमें देखनेको मिलता है। जो कविकी अपूर्व प्रतिभाका द्योतक है। उक्त ग्रन्थमें 'चित्र काव्य-कला' का एक प्रकरण है जिसमें सर्प, पर्वत, कपाट, आदि अनेक विध-चित्रबद्ध पद्य दिये हुए हैं जिनमें से एक-दो का नमूना आगे 'ग्रन्थ-परिचय' नामक शीर्षकमें किया जायेगा।

जहाँ कविका झुकाव भक्ति रसकी ओर था वहाँ उनका मानस आध्यात्मिकरससे सराबोर भी था। उनके आध्यात्मिक पद्योंको देखनेसे यह सहज ही मालूम हो जाता है कि कविकी अन्तरात्माका झुकाव आत्मानुभव-की उस महान् झांकी की ओर झुका हुआ ही नहीं था; किन्तु उसकी अन्तरात्मामें उस आत्मरसका जो स्वाद अनुभवमें आता था, यद्यपि वह वचनातीत था, तो भी वह कविकी परिणतिमें दृढ़ता, भद्रता, सरलता और सत्यताका समिश्रण अभिव्यंजक था, इसी से उनकी दृष्टि निर्मल जान पड़ती थी। जब कभी कविकी दृष्टि अपने साधर्मी भाइयों-की ओर जाती थी तब वह उनकी विपरीत परिणतिको

❀ गोलालारे जानियो वंश खरौआ होत,
सोनविघार सुबैंक तसु पुनि कासिल्ल सुगोत
पुनि कासिल्ल सुगोत्र सीक सिकहाए खेरौ,
देश भदावर मांहि जो सुवरन्यो तिहि केरौ।
केलगमाके बसनहार संतोष सुभारै,
कवि देवी तसु पुत्र दुगौड़े गोलालारै॥

—चतुर्विंशति पूजा

देखकर कुछ समय खेद-खिन्न भी हो जाते थे, बादमें वस्तु-स्वभावका विचार करते हुए 'अवश्यंभाविता भवितव्यता' का स्मरण कर तज्जन्य विकल्पसे अपनेको विमल बनानेका प्रयत्न करते थे। उनकी इस सरलवृत्तिको देखकर लोग उन्हें 'भायजी' के नामसे पुकारते थे—छोटे बड़े सभी लोग उन्हें भायजी कहा करते थे।

आपकी आजीविकाका साधन कपड़ेका व्यापार था आप कपड़ेका व्यापार करते हुए हानि-लाभके अवसरों-पर कभी दिलगीर अथवा दुःखी और हर्षित नहीं होते थे। वे कपड़ा बेचनेके लिये अपने ग्रामसे दूसरे गांवमें जाया करते थे और बेचकर वापिस आ जाते थे और फिर नया माल लाकर पुनः बेचनेका प्रयत्न करते थे

जीवन-घटनाएँ

कविवर देवीदास जी एक समय अपने लघु भ्राता नवलके विवाहकी सामग्री लेनेके लिये उसके साथ ललित-पुर जा रहे थे। कि मार्गमें बीच ही में लघुभ्राता शेरके शिकार होनेसे थोड़ी देर बाद यकायक स्वर्गवासी हो गए। इस अघटित घटनासे कविके हृदयको बड़ा दुःख हुआ, परन्तु वस्तु स्थितिका विचारकर उसका क्रिया कायक किया, और यह विचार भी किया कि जिस निमित्तके लिये मैं सामग्री खरीदने जा रहा था। वह बीचमें ही काल कवलित हो गया, अतः अब विवाहकी सामग्री खरीदने जाना निरर्थक है, यदि विधिको यह मंजूर होता तो वह सब कार्य सानन्द पूरा होता, पर कर्मके उदयका बानक इसी तरह बनना था! अतः अब मैं सीधा लौटकर घर वापिस जाऊँ, जब वे वापिस घर पहुँचे तब उनकी मां ने इन्हें अकेला देखकर पूछा, बेटा! इतनी जल्दी कैसे आगए, तुम तो आठ दिनमें आनेको कह गए थे आज तो ४ था ही दिन है। कविने कहा मां आ गया। मां ने कहा, सामान कहां है और कहा तेरा छोटा भाई नवल है? माताके इन प्रश्नोंको सुनकर कविवर पहले तो असमंजसमें पड़े, पर संभलकर बोले, मां कर्मोंकी गति बड़ी टेढ़ी है वह वचनोंसे नहीं कही जा सकती, सोचा कुछ और ही था, और कार्य कुछ और ही बना है। छोटा भाई रास्तेमें शेरसे घायल होकर बीच में ही चल बसा है!! राम-चन्द्र प्रातः इस भू-तलके चक्रवर्ती राजा होने वाले थे; परन्तु उन्हें बारह वर्षके लिये बनवास जाना पड़ा, रावण-ने यह विचार किया था कि इस युद्धको जीतकर मैं सीता रामचन्द्रको वापिस लौटा दूंगा। परन्तु वह सब विचार यों ही रक्खा रहा, और रावणको मृत्युलोकमें जाना पड़ा। इन्हीं सब विचारोंसे परिपूर्ण कविवरके एक पदके ये निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं, पूरा पद प्राप्त नहीं हुआ।

"बांकरी करम गति जाय न कही। मां बांकरी करम गति जाय न कही। चिन्तत और बनत कछु औरहि, होनहार सो होय सही"

यह जीव कर्मके परवश हुआ वृथा ही अभिमानके द्वारा अपनेको समर्थ और बलवान मानता है। परन्तु वस्तु स्थिति इससे विपरीत है, यह जीव अनीश्वर-असमर्थ है, और अपनी अहंक्रियाके द्वारा अपने मिथ्या-व्यवसायसे पीड़ित होता हुआ जन्म जरा और मरणके अपार दुःखमें सदा उद्विग्न रहता है। मिथ्यावासनासे दूसरोंके सुख दुःखका कर्ता-हर्ता बनता है, परन्तु वह कर्मकी बांकी गतिके रहस्यसे अपरिचित ही रहता है। यही उसकी अज्ञानता है।

भारतके अहिंसक सन्त महामना पूज्य वर्णीजीने अपनी जीवन-गाथामें प्रस्तुतकविके सम्बन्धमें उक्त घटनाके अतिरिक्त अन्य तीन घटनाओंका उल्लेख किया है। जिन्हें क्रमसे नीचे दिया जाता है:—

१

एक बार वे अपना कपड़ा बेचनेके लिए 'बड़ौरा' गए थे, वहाँ वे जिन साधर्मी भाईके मकानमें ठहरते थे। उनके पाँच वर्षका एक छोटासा बालक भी था। वह प्रायः भायजीके पास ही खेलनेके लिए आ जाया करता था। अन्य दिनोंकी तरह उस दिन भी आया और आध घण्टे बाद चला गया। उसकी माँने उसके बदनसे अंगु-लिया उतारी, तो उसके साथ ही उसके हाथका चाँदी का एक चूरा (कड़ा) भी अंगुलियाकी बाँहके साथ निकल गया और वह उसमें ही कहीं अटक गया। जब माँने लड़केका हाथ नंगा देखा तो उसका झट यह विचार हो गया कि चूरा (कड़ा) भायजीने उतार लिया होगा, इसी विचारसे वह झटपट उनके पास गई और बोली भायजी! यहाँ इस बच्चेका चूरा तो नहीं गिर गया? भायजी उसके मनसापापको समझ गए और बोले कि हम कपड़ा बेचकर देखेंगे। चूरा कहीं गिर गया होगा। लड़केकी माँ वापिस चली गई। इधर भायजी-

वे शीघ्र ही सुनारके पास जाकर पाँच ताले चाँदीका कड़ा बनवाकर उस बच्चेकी माँको दे दिया। माँ उस कड़ेको पाकर प्रसन्न हुई और भायजी बाजारमें चले गये। दूसरे दिन माँ जब उस बच्चेको अंगुलिया पुनः पहनाने लगी तो उसमेंसे वह कड़ा निकल पड़ा। बच्चेकी मां मनमें बड़ी शर्मिन्दा हुई और जब बाजारसे भायाजी वापिस आए, तब जाकर कहने लगी कि भायजी! मुझसे बड़ी गलती हुई, व्यर्थ ही मैंने आपको चूरा लेनेका दोष लगाया। भायजीने कहा, कोई हर्ज नहीं, चीज खोजानेपर सन्देह हो ही जाता है, अब इस कड़ेको रहने दो।

२

एक समयकी बात है कि आप ललितपुरसे कपड़ा खरीदकर और घोड़ेपर लादकर घर वापस आ रहे थे कि जंगलके बीचमें सामायिकका समय हो गया। साथियोंने भायजीसे कहा कि अभी एक मील और चलिये। यहां घना जंगल है और चोरोंका डर भी है। भायजीने कहा, आप लोग जाइये हम तो सामायिकके बाद ही यहांसे चलेंगे। और घोड़ेपरसे कपड़ेका गट्ठा उतारकर घोड़ा एक ओर बांध दिया और आप स्वयं सामायिकमें बैठ गए, इतनेमें चोर आये और कपड़ेके गट्ठे लेकर चले गए। थोड़ी दूर जानेपर चोरोंके दिलमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि हम लोग जिसका कपड़ा चुरा कर ले जा रहे हैं वह बेचारा मूर्तिके समान स्थिर बैठा है मानो कोई साधु हो, ऐसे साधु पुरुषकी चोरी करना महा पाप है। इस सब विचारके आते ही बेचारे लौटे और कपड़ेके गट्ठे जहाँसे उठाये थे वहींपर रख दिए, और कहने लगे कि महाराज ये आपके गट्ठे रखे हैं अन्य कोई चोर आपको तंग न करे, इसलिए हम अपना एक आदमी छोड़े जाते हैं। इतना कहकर वे चोर आगे चले और जो भायजीको उस घने भयानक जंगलमें अकेला छोड़कर चले गए थे उन्हें मार-पीट की तथा उनका सब माल असबाब लूट लिया। भायजीके पास जो आदमी बैठा था, उसने उनका ध्यान पूरा होने पर उनसे कहा कि महाराज! अब आप अपना कपड़ा सम्हालो, हम जाते हैं।

३

पं० देवीदास जी यू० पी० प्रान्तमें किसी स्थान पर विद्या अध्ययन करनेके लिए गए। वहाँ आपने एक पैसेकी लकड़ीमें १२ महीने रोटी बनाकर खाई और अंतमें उस पैसे को भी० बचाकर ले आए। वे रोजाना एक पैसेकी लकड़ी मोल लेते थे और रोटी बनानेके बाद उसका कोयला किसी सुनारको एक पैसेमें बेच देते थे। और अगले दिन फिर उसी पैसेकी लकड़ी खरीद लेते थे। इस तरह उन्होंने एक पैसेकी लकड़ीमें ही एक वर्षका भोजन बनाया। इससे उनकी मितव्ययिता करनेकी आदतका पता चलता है।

ये तीनों ही घटनाएँ उक्त कविके जीवनके साथ खास सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक किंवदन्तियाँ कविके सम्बन्धमें उनके निवास स्थान दुगौड़ा ग्राममें प्रचलित हैं पर उन्हें लेख वृद्धिके भयसे यहाँ छोड़ा जाता है।

जिनेंद्र-भक्ति

कविका जीवन जहाँ अध्यात्म शास्त्रोंके अध्ययनमें प्रवृत्त होता था वहां वह भक्तिरसरूप भागीरथीकी निष्काम विमल धाराके प्रवाहमें डुबकियाँ लगाता रहता था। वे जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका चिन्तन एवं भक्ति करते हुए इतने तन्मय अथवा आत्म-विभोर हो जाते थे कि उन्हें उस समय बाहरकी प्रवृत्तिका कुछ भी ध्यान नहीं रहता था—भक्तिरसके अपूर्व उद्रेकमें वे अपना सब कुछ भूल जाते थे—भगवद् भक्ति करते हुए उनकी कोई भी भावना उसके द्वारा धनादिकी प्राप्ति अथवा ऐहिक भोगोपभोगोंकी पूर्ति रूप मनोकामनाको पूर्ण करने की नहीं होती थी, इसीसे उनकी भक्ति निष्काम कही जाती थी। कविकी भक्तिका एक मात्र लक्ष्य सांसारिक 'विकलपता' को मिटाने और आत्म-गुणोंकी प्राप्ति का था। उनकी यह दृढ़ श्रद्धा थी कि उस वीतरागी जिनेंद्रकी दिव्य मूर्तिका दर्शन करनेसे जन्म-जन्मान्तरोंके अशुभ कर्मोंका ऋण (कर्जा) शीघ्र चुक जाता है—वह विनष्ट हो जाता है—और चित्त परम आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता है। यद्यपि जिनेन्द्रका गुणानुवाद अत्यन्त गम्भीर है, वह वचनोंसे नहीं कहा जा सकता, और जिसके सुनने अवधारण करने अथवा श्रद्धा करनेसे यह जीवात्मा कर्मोंके फन्दसे छूट जाता है। कवि स्वयं कहते हैं कि जिनगुण रूप रत्नके सेवनसे अब मेरी वह सांसारिक 'विकलपता' दूर हो गई है। जब तक मुझे जिनगुणोंकी परख (पहिचान) न आई थी तब तक मैं एक कौड़ी

की भाजीके बदले रूंगनमें चला जाता था। कविकी उक्त भावनाका रूप 'परमानन्द विलास' में दिये हुए निम्न पदसे स्पष्ट है :—

मूरति देख सुख पायो,
मैं प्रभु तेरी मूरति देख सुख पायो।
एक हजार आठ गुन सोहत,
लक्षण सहस सुहायो ॥टेक॥
जनम जनमके अशुभ करमकौ,
रिनु सब तुरत चुकायो।
परमानन्द भयो परिपूरित,
ज्ञान घटाघट छायो ॥१॥
अति गंभीर गुणानुवाद तुम,
मुखकरि जात न गायो।
जाके सुनत सरदहे प्राणी,
कर्म-फन्द सुरझायो ॥२॥
विकलपता सुगई अब मेरी,
निज - गुण - रतन भजायो।
जात हतो कोड़ीके बदले,
जब लगि परखि न आयो ॥३॥

कविवरने अन्य दूसरे पदमें जिनेन्द्रके सुयशको सुनकर उनकी शरणमें जानेकी चर्चाको व्यक्त करते हुए अपनी आत्माको राग-द्वेष-शत्रु रूप चोरोंसे छुटकारा दिलाने वाला जिनेन्द्र भगवानके सिवाय अन्य कोई नहीं है, इस तरह अपनी श्रद्धाकी दृढ़ताको व्यक्त किया है। कवि कहते हैं कि अब मेरा मन जिनेन्द्रको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता, मोक्षमार्गमें जाते हुए मुझे अष्ट कर्म रूप वैरी योद्धा रोकते हैं। मैं उस स्थान पर जानेकी बराबर चेष्टा करता हूँ, परन्तु अभी तक नहीं जा सका हूँ। इसीसे हे जिनेन्द्र! मैंने आपकी शरणमें आकर यह पुकार की है कि आप मेरे इन शत्रुओंको दूर कीजिये। इस असार संसारमें मैंने रहकर अनेक घोर कष्ट भोगे हैं जिनकी करुण कहानी कहना अपनी व्यथाको और बढ़ाना है, उन्हें आप स्वयं जानते हैं। पर वे सब दुःख अपने पदको भूल कर और परको अपना मानकर जो भारी अपराध मैंने किया था उसीके फल-स्वरूप वे जन्म-जन्मान्तरोंसे बराबर मेरे साथ चले आ रहे हैं। मेरे उस दोषको दूर कीजिये, जिसके दूर हुए बिना मेरा अब हित होना संभव नहीं है। इन सब दुःखोंका प्रधान कारण अनादि कालसे आपके चरण-शरणकी अप्राप्ति है, इसीसे मुझे भव-वनमें रुलना पड़ा। अब मैंने इस भव-वासके नाशार्थ आपकी दृढ़ शरण ग्रहण की है। अतः हे जिनेन्द्र! मेरा यह भववास विनाश कीजिए, जिससे मुझे स्वपदकी प्राप्ति हो। कविका निम्न पद इसी भावनाका द्योतक है—

सुजस सुनि आयो शरण जिन तेरे।
हमरे वैर परे दोऊ तसकर,
राग - द्वेष गुन तेरे ॥
तुम सम और न दीसत कोई,
जगवासी बहु तेरे।
मो मन और न मानत दूजो,
लीक लगाइ न बैरे॥ १ ॥
मोह जात शिव- मारगके रुख,
कर्म - महारिपु घेरे।
आन पुकार करी तुम सन्मुख,
दूर करो अरि मेरे॥ २ ॥
इस संसार असारविषैं हम,
भुगते दुःख घनेरे।
अब तुम जानि जपो निशि-वासर,
दोष हरचो हम केरे॥ ३ ॥
काल अनादि चरण शरणविन,
भव - वनमांहि परेरे।
देवियदास वास भवनाशन,
काज भए जिन चेरे॥ ४ ॥

इस तरह कविकी जिनेन्द्र भक्ति कितनी सरस और आत्मलाभकी निर्मल दृष्टिको लिए हुए निष्कामा है। इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं पाठक उनकी रचनाओंके अध्ययनसे स्वयं उक्त नतीजेको पा सकते हैं। उसमें अंधश्रद्धा, अंधभक्ति आदि किसी भी सांसारिक कामनाको स्थान प्राप्त नहीं है।

परमानन्द विलास अथवा 'देवीविलास' गत 'पुकार पच्चीसके निम्न पद्योंमें भी किसी कामनाका समावेश नहीं है। अतएव वह भक्ति समीचीन है और परम्परा मुक्तिकी साधक है।

"कर्म अकाज करै हमरौं,
हमकौं चिरकाल करै दुखदाई।

मैं न बिगार कियौ इनको,
बिन कारण पाय भए अरि आई ॥
मात पिता तुम हो जनके,
तुम छांड़ि फिराद करौं कहां जाई ।
बारहिं बार पुकारत हौं,
हमरी विनती सुनिये जिनराई ॥

× × × ×

सो तुमसौं कहि दूरि करयौ प्रभु,
जानत हो तुम पीर पराई ।
मैं इनिकौ परसंग कियौ,
दिनहू दिन आवत मोहि बुराई ॥
ज्ञानमहानिधि लूट लियौ,
इन रंक कियौ हर भांतिहि राई ।
बारहिं बार पुकारत हौं जनकी,
विनती सुनिये जिनराई ॥

अध्यात्म-राग

कविवर अध्यात्म-शास्त्रोंके कोरे पंडित ही न थे किन्तु उन्होंने उन अध्यात्मशास्त्रोंके अध्ययन मनन एवं चिंतनसे जो कुछ भी विवेक ज्ञान प्राप्त किया था, वे उसे दृढ़ श्रद्धामें परिणत करनेके साथ-साथ आंशिकरूपसे अपने जीवनमें तदनुकूल वर्तन करनेका भी प्रयत्न करते थे। चुनांचे उनका जीवन अध्यात्मरससे सराबोर रहता था। वे इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर भी कायरोंकी भांति दिलगीर अथवा दुःखी नहीं होते थे; किन्तु वस्तुस्थितिका बराबर चिन्तन करते हुए कमजोरीसे जो कुछ भी थोड़ेसे समयके लिए दुःख अथवा कष्टका अनुभव होता था वे उसे अपनी कमजोरी समझते थे। और उसे दूर करनेके लिये वस्तुस्वरूपका चिन्तनकर तत्काल उससे मुक्त होनेका प्रयत्न करते थे। इन्हीं सब विचारोंसे उनकी गुणज्ञता और विवेकका परिचय मिलता है। वे आत्म-ध्यानमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें बाहरकी क्रियाओंका कुछ भी पता नहीं चलता था। किसीकी निन्दा और प्रशंसामें वे कभी भाग नहीं लेते थे। यदि दैवयोगसे कोई ऐसा अवसर आ भी जाता था तो बुद्धि-पूर्वक उसमें प्रवृत्त नहीं होते थे। और न अपनी शान्ति-भंग करनेका कोई उपक्रम ही करते थे। वे कर्मोदयजन्य क्रियाओं द्वारा होनेवाले इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंके वियोग संयोगको कर्मोदयका विपाक समझते थे, उसमें अपनी कर्तृत्व बुद्धि और अहंक्रियारूप मिथ्या वासनाको किसी प्रकारका कोई स्थान नहीं देते थे। इसी कारण वे व्यर्थकी अशान्तिसे बच जाते थे। साथ ही असत्व-परिणति और मोह-ममतासे अपनेको बचाये रखनेमें सदा सावधान रहते थे—कभी असावधान अथवा प्रमादी नहीं होते थे। वे स्वयं सोचते और विचारते थे कि हे आत्मन्! जब तेरी अन्तर्दृष्टि जागृत हो जायगी, उस समय काललब्धि, सत्संग निर्विकल्पता, और गुरु उपदेश सभी सुलभ हो जायेंगे। विषय-कषायोंकी ललक मुरझा जावेगी, वह फिर तुझे अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ न हो सकेगी। मनकी गति स्थिर हो जानेसे परिणामोंकी स्थिरता हो जावेगी। तब मोहरूपी अग्नि प्रज्वलित होगी और उसमें विभाव भावरूप वह सब ईंधन भस्म हो जावेगा। तेरे अन्तर्घटमें विवेकज्ञानकी रुचि बढ़ेगी। फिर मन पर-परिणतिमें रागी नहीं होगा और तू सब तरहसे समर्थ होकर अनुभव रूपी रंगमें रंग जायगा। तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगा। और इस तरह तुझे फिर कभी पर ठग न सकेगा। हे देवीदास! अब तू स्वाधीन बन, और निजानन्दरसका पान कर सन्तुष्ट हो। यही आशय निम्न पदमें व्यक्त किया गया है—

जब तेरी अन्तर्दृष्टि जगेगी ॥टेक॥
काललबधि आवत सुनिकट जब,
सत्संगति उपदेश गहेगो ।
अल्पकाल महि निर्विकलप हो,
गुरु उपदेश लगेगो ॥१॥
विषय-कषाय सहज मुरझावत,
थिर होय मनु न ठगेगो ।
होत सुथिर परिनामनिकी गति,
मोह-अनल तब शीघ्र दगेगो ॥
बढ़त विवेक सुरुचि घट अंतर,
पर-परिनति न पगेगो ।
समरथ हो करि है निज कारज,
निज अनुभव रंग रगेगो ॥३॥
दर्शन-ज्ञान-चरन शिव मारग,
जिहिं रस-रीति लगेगो ।
देवियदास कहत तब लगि है,
जिय तुम पर न ठगेगो ॥४॥

वह स्वानुभाव रूप आत्मरस अत्यन्त मधुर और सुखद है, परन्तु उस सहज रसका स्वाद स्याद्वाद रसना-के बिना नहीं हो सकता। जब तक आत्मा अपनी विभाव-रूप सर्वथा एकान्तदृष्टिको छोड़कर अनेकान्तदृष्टिको जीवनमें नहीं अपना लेता, तब तक वह उस स्वानुभव-रूप सुधारसका पान करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। वह स्वानुभव अपूर्व रसायन है, जिसका स्वाद अपूर्व और आश्चर्यजनक है, उसके चखते ही संसारके सभी स्वाद फीके (नीरस) पड़ जाते हैं। जिन्होंने उस निजानन्दरस-का पान कर लिया है उन्हें इन्द्र नरेन्द्रादिके वे पराधीन इन्द्रियजन्य बाधक सुख सुखद प्रतीत नहीं होते—वह जीव सरागअवस्थामें उनका उपभोग करता हुआ भी कभी सुखी नहीं हुआ और न हो सकता है; क्योंकि वह परसे मिश्रित कर्मविपाक रस है, स्वानुभव नहीं, स्वानुभव तो परके मिश्रणसे सर्वथा अतीत है, उस निजानन्द रूप परम सुधारसके अनुभव या स्पर्श होते ही जन्म-जरा-मरण रूप दुःख दूर हो जाते हैं। वह रस सरस होते हुए भी वचनातीत है, परन्तु उसका दर्शन या अनुभव अन्त-र्दृष्टिके जागृत हुए बिना नहीं हो सकता। अतः उसे प्राप्त करना ही हे आत्मन् तेरा परम लक्ष्य है। कविवर कहते हैं:—

आतमरस अति मीठो,
साधो आतम-रस अति मीठो।
स्याद्वाद रसना बिन जाकौ,
मिलत न स्वाद गरीठौ ॥टेक॥
पीवत हो सरस सुख,
सो पुनि बहुरि न उलटि पठीठौ।
अचिरज रूप अनूप अपूरव,
जा सम और न ईठो ॥१।
तिन उत्कृष्ट सुरस चाखत ही,
मिथ्यामत दे पीठो।
तिन्हिकौं इन्द्र नरेन्द्र आदि सुख,
सो सब लगत न सीठौ ॥२॥
आनन्द कन्द सुछन्द होय करि,
भुगतनहार पटीठौ।
परम सुधासु समै इक परसत,
जन्म - जरा दिन चीठौ ॥ ॥
वचन अतीति सुनीति अगोचर,
स्वादत फिर न उबीठौ।
देवियदास निरन्तर स्वारथ,
अन्तरके दृग दीठौ ॥४॥

कविवर कहते हैं कि वह निर्मल निजरस मैंने चख लिया है, अब मुझे किसी भी कार्यके करनेकी अभिलाषा नहीं है। अब मैंने सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण रूप मुक्तिके उस मूल वृक्षका पता लगा लिया है जहां पर राग-द्वेष रूप-पर परिनमन हेय जानकर त्याग दिये जाते हैं—अथवा वे स्वयं छूट जाते हैं। और शुद्ध उपयोगकी वह परम धारा उपादेय हो जाती है। मनकी दौर तो पताकाके समान चंचल और अस्थिर है और उसकी स्थिति समुद्रके मध्य जहाज पर बैठे हुए उस पक्षीके समान है। मैंने जानने योग्यको जान लिया और देखने योग्यको देख लिया। अब उस अन्तिम मंजिल अथवा लक्ष्य पर पहुँचनेकी देर है। जैसा कि कविके निम्न पदसे प्रकट है:—

निज निरमल रस चाखा,
जब वह निज निरमल रस चाखा।
करनेकी सुकछु अब मोकौं,
और नहीं अभिलाषा ॥टेक॥
सूझ परे पर जोग आदि पर,
मन सु अवर तन भाषा।
दर्शन-ज्ञान-चरन समकित जुत,
मूल मुकति-तरु आखा ॥१॥
राग-द्वेष मोहादि परिनमन,
हेय रूपकरि नाखा।
सुथिर शुद्ध उपयोग उपादेय,
परम धरम उर राखा ॥२॥
मनकी दौर अनादि निधन भ्रम,
जैसे अथिर पताखा (का)।
सो जिहाज पंछी समकी थिर,
जिम दरपनमें ताखा ॥३॥
जाननहार हतौ सोई जान्यौ,
देखनहार सु देखा।
देवियदास कहत समय इक हो,
होय चुक्यो सब साका ॥४॥

ग्रन्थ-परिचय

कविवर विद्वान होनेके साथ-साथ आत्म सम्बोधी भी

थे, और वस्तु स्वरूपको सरलतासे समझानेमें कुशल थे। आपकी कविता बड़ीही रसीली, भावपूर्ण संक्षिप्त और वस्तु तत्वकी निदर्शक है। कविने अनेक ग्रन्थोंकी रचनाकी है, जिनमेंसे इस समय मुझे कुल दो रचनाएँही प्राप्त हुई हैं। चतुर्विंशति जिन पूजा और परमानन्द विलास। इनके अतिरिक्त इनकी एक रचना और बतलाई जाती है जिसका नाम 'प्रवचनसार भाषा है जिसमें आचार्य कुन्द-कुन्दके प्रवचनसारका पद्यानुवाद है। यह ग्रन्थ अभी तक अपनेको उपलब्ध नहीं हुआ। वह सम्भवतः उनके निवास-स्थान दुगौड़ा ग्राम या बुन्देलखण्डके अन्य किसी शास्त्र भंडारमें होगा, जिसका अन्वेषण करना आवश्यक है। इन कृतियोंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है:—

१—चतुर्विंशतिजिन पूजा—इसमें जैनियोंके वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंकी चौबीस पूजाएँ दी हुई हैं, जो विविध छन्दोंमें रची गई हैं। रचना सुन्दर और भाव पूर्ण है। इसकी लिखित प्रतियाँ अनेक ग्रन्थभण्डारोंमें उपलब्ध होती हैं। कविने इस कृतिको छिपुरी ललितपुर आदि विभिन्न स्थानोंके उन प्रसिद्ध बृद्ध सज्जनोंकी अनुमतिसे बनाकर समाप्त किया था जैसा कि उस ग्रन्थके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

छिपुरी छगन* ललितपुर लल्ले,
कारीविषैं कमल मनभाएँ।
टिहरी मैं मरजाद तथा पुनि,
गंगाराम वसत बिलगाएँ॥
देवीदास गुपाल दुगौडे,
उद्दै कवित्त कलाके आएँ।
भाषा करी जिनेश्वर पूजा,
छहों औरकी आज्ञा पाएँ॥

कविने इस पूजाका रचनाकाल वि० सं० १८२१ श्रावण सुदी परमा (प्रतिपदा) रविवार दिया है और उसे ओरछा× स्टेटके दुगौडा नामक ग्राममें जहाँ बहुतसे जैनी जन बसते थे, राजा सावंतसिंहके राज्यमें बनाकर समाप्त किया था जैसा कि उस ग्रन्थके निम्न प्रशस्ति पद्य कुण्डलियासे स्पष्ट है:—

संवत् अष्टादश धरौ जा ऊपर इक ईस।
सावनसुदि परमा सु-रवि वासर धरा उगीस।
वासर धरा उगीस ग्राम नाम सुदुगौडौ।
जैनी जन वस वास औडछै सो पुरवोडौ॥
सावंतसिंघ सुराज आज परजा सब थंवतु।
जहँ निरभैकरि रची देवपूजा धरि संवतु॥

उस समय ओरछा स्टेटमें राजा सावंतसिंहका राज्य था, जो राजा पृथ्वीसिंहका पुत्र था। पृथ्वीसिंहने ओरछेमें सन् १७३६से सन् १७५२ तक अर्थात् वि० सं० १७९३से १८०९तक १६वर्ष राज्य किया है। इनके समय राज्यका बहुत कुछ ह्रास हो गया था; क्योंकि उस समय राजपूत राजा और मुगल बादशाह दोनोंही मरहटोंके शिकार हो रहे थे। इस कारण मऊ-रानीपुर बरुआ सागर और झांसी आदि जिले उस समय राज्यसे निकल गए थे। जिससे ओरछा स्टेटकी आमदनी बहुत कम हो गई थी। पृथ्वीसिंहके पुत्र सावंतसिंह सन् १७५२ वि० सं० १८०९में राज्याधिकारी हुए थे। इन्होंने सन् १७५२से सन् १७६५ वि० सं० १८०९से १८२२तक १३वर्ष राज्य किया है।

सन् १७५६में अहमदशाहने भारतपर आक्रमण किया था, उस समय राज्यके अन्य भागोंकेसाथ उक्त रियासतका 'आठगढ़ी' नामक स्थानभी राज्यसे निकल गया। सन् १७६१में जब पानीपतकी तीसरी लड़ाई हुई, उसमें मरहठे कमजोर हो गए। और सन् १७६४में बक्सरकी लड़ाई हुई, जिसमें अंग्रेज भारतमें सबसे अधिक बलिष्ठ माने जाने लगे। रीवांसे वापिस लौटते समय देहलीके बादशाह शाह आलमका सावंतसिंहने बड़ा भारी सन्मान किया। जिसके फलस्वरूप उसे 'महेन्द्र'की पदवी और शाही झंडा मिला। सन् १७६५ (वि० सं० १८२२) में सावंतसिंहका स्वर्गवास हो गया।

दूसरी रचना 'परमानन्द विलास' है जिसे देवी विलास भी कहते हैं। इस संग्रह ग्रन्थमें समय-समयपर रची गई अनेक छोटी बड़ी रचनाएँ दी हुई हैं जिनमेंसे कई रचनाएँ संस्कृत प्राकृत भाषाके ग्रन्थोंके पद्यानुवाद रूपमें प्रस्तुत हैं। और शेष कविके अनुभवसे रची गई हैं। विलासकी रचनाओंमें एक रचनाको छोड़कर शेषमें रचनाकाल नहीं दिया गया, जिससे यह निर्णय करना कठिन है कि वे कब-

---

*पद्यमें उल्लिखित नाम संक्षिप्त और अधूरे जान पड़ते हैं। पूरे नाम छगनमल या छगनलाल आदि होना चाहिये।

× ओरछा राज्यकी नींव मलखानसिंह गढ़कुंडार राजाके ज्येष्ठ पुत्र रुद्रप्रतापने सन् १५०१के करीब डाली थी, जिसने सन् १५३१ तक राज्य किया था।

में कबतक रची गई हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ प्रति भारी अशुद्धियों को लिये हुए है, और देहलीके सेठके कूंचा भण्डारकी है। इस प्रतिका लेखक उस ग्रन्थकी प्रतिलिपिसे प्रायः अपरिचित जान पड़ता है, इसीसे उक्त ग्रन्थमें इतनी अधिक अशुद्धियाँ ज्ञात होती हैं। ग्रन्थमें कितनेक स्थान रिक्त भी छोड़े गए हैं, जो मेरे उक्त विचारोंको पुष्ट करते हैं। ग्रन्थगत रचनाओंके नामादि इस प्रकार हैं.—

पहली रचना 'परमानन्द स्तोत्र भाषा है, जो संस्कृत 'परमानन्द स्तोत्र' का पद्यानुवाद है। दूसरी रचना 'जीव की चतुर्भेदादि बत्तीसी' है। तीसरी रचना 'जिनांतराव' है, जिसमें जिन भगवानोंके अन्तर्कालको सूचित किया गया है। चौथी रचना 'धर्म पच्चीसी' है, पाँचवी रचना 'पंच पद पच्चीसी' है। छठवीं रचना 'दशधासम्यक्त्वोंके स्वरूप बोधक पद्योंको लिये हुए 'सम्यक्त्व बोधक' है। सातवीं रचना 'पुकार पच्चीसी' है। जिसके दो पद्य पहले दिये जा चुके हैं। जिनमें जिनेन्द्रके गुणोंका व्याख्यान करते हुए जीवके चतुर्गति-दुःखों और अष्टकर्मोंके बन्धनसे छुटकारा पानेकी प्रार्थना अथवा पुकार की गई है। आठवीं रचना 'वीतराग पच्चीसी' है, जिसमें जीवके शुभ-अशुभ और शुद्ध रूप त्रिविध परिणामोंका कथन ३१ सा सवैयोंमें दिया हुआ है, जिसके आदि अन्त पद्य नीचे दिये जाते हैं:—

मन वचनन करिके नमों, शुद्ध आतमाराम।
वरनों चेतन दरबके, त्रिविधरूप परिणाम॥
वीतराग पच्चीसिका, पढ़ै मुनै रस पोष।
परमारथ परचै सुनर, पावै अविचल मोष॥२६॥

नौवीं रचना 'दर्शन पच्चीसी' है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्दके 'दंसण पाहुड' नामक प्राकृत ग्रन्थका पद्यानुवाद दिया हुआ है। रचना सरस और भावपूर्ण है। अनुवाद सवैया ३१ सा., २३ सा., छप्पय, गीतिका, तोटक, चौपाई, दोहा, सालिनी, अरिल्ल, कुंडलिया, मरहठा, चर्चरी, वेसरी, पद्धड़ी, नाराच और कवित्तादि विविध छन्दोंमें किया गया है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसके कुछ पद्य मूल गाथाओंके साथ नीचे दिए जाते हैं:—

दंसण मूलो धम्मो, उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे, दंसण हीणो ण वंदिव्वो॥२॥

धरमको मूल जामैं भूल कहूँ कछू नाहि,
दर्शन सुनाम ताहि भगवान भाख्यौ है।
गणधर रच्यौ एसौ गुणको निधान भारी,
जाके कार्य भए सोई सुनि सुनि चाख्यौ है॥
श्रेणिकजू आदि जीव संत सब रुचि मानि,
समझ समझ ताहि घर माँहि राख्यौ है।
दर्शन सुहीन बाल बंदिए न तीन काल,
कारज न होत जिनवानी माँहि नाख्यौ है॥

सम्मत्त सलिल पवहो णिच्चं हियए पवट्टिए जस्स।
कम्मं बालुय वरणं बंधुच्चिय णासिए तस्स॥७॥

समदर्शन नीर प्रमाण कह्यौ,
तिनके घट जासु प्रवाह वह्यौ।
वधु बाल अकर्म अनादि पगे,
तसु फूटत नेकु न वार लगे॥

जह मूलम्मि विणट्ठे, दुमस्स परिवार परिवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा, मूल विणट्ठा ण सिज्झंति॥

जैसैं तरुवर विनस्यौ मूल,
बढ़े न शाखा परिकर फूल।
तैसैं विन दर्शन वर कोइ,
धर्म मूल विन मुकति न होई॥

कविने ग्रन्थके अन्तमें निम्न दोहा देकर इसे पूर्ण किया है:—

कुन्द कुन्द मुनिराज कृत, दर्शन पाहुड मूल।
कीनी जासु परम्परा, भाषा मति सम तूल॥

दशवीं रचना 'बुद्धिबावनी' है, जिसमें ५४ पद्य विविध छन्दोंमें दिये हुए हैं। साथही इस ग्रन्थके अन्तमें उक्त कृतिके रचे जाने और उसके समयादिकाभी निर्देश किया गया है। जिससे स्पष्ट है कि उक्त बुद्धिबावनी सं० १८१२ में, दुगौड़ा ग्राममें चैतसुदि परमागुरुवारके दिन बनाकर समाप्त हुई है। उस समयभी वहाँ सावन्तसिंहका राज्य था। उक्त ग्राममें कविको गंगाराम, गुपालचन्द और कमलापति आदि सज्जन जो कैलगवांके बाद दुगौड़ा ग्रामके निवासी थे, कविको उनसे यथोचित शिक्षा मिलती रहती थी। यथा—

संवतु साल अठारहसै पुनि द्वादश और धरे अधिकार
चैतसुदि परमा गुरुवार कवित्त जबै इकठे करि धार॥
गंगह रूप गुपाल कहे कमलापति मीख सिखावनहारे

कैलगमा पुनि ग्राम दुगौडहु के सब ही वस वासन हारे

ग्यारहवीं रचना 'तीन मूढता आरती' है, जिसमें देव-मूढता, गुरुमूढता और शास्त्रमूढताके भाव, द्रव्य, परोक्ष, प्रत्यक्ष, लोक, क्षेत्र और कालके भेदसे प्रत्येकके सात सात भेद मिला कर मूढताके २१ भेदोंका स्वरूप दिया हुआ है। यथा:—

महावीर गंभीर गुण, वंदौ त्रिविध प्रकार ।
देव-शास्त्र-गुरु मूढ़कौ, करौं प्रगट निरधार ॥
भाव द्रव्य जगमांहि प्रगट, पुनि परोख परितच्छ ।
लोक क्षेत्र अरु काल शठ, लख्यौ सप्त विधि दक्ष ॥

बारहवीं रचना 'शीलांग चतुर्दशी' है, जिसके प्रारम्भमें कविवर द्यानतरायकी देवशास्त्रगुरु भाषा पूजाके पद्योंके अनन्तर शीलके अठारह हजार भेदोंका कथन दिया हुआ है उसके अन्तिम दोहे निम्न प्रकार हैं:—

कहे भाष शीलाँगके, सहस अठारह भेद ।
जे पालैं तिनके हृदय, शिव स्वर्गादि उमेद ॥१३॥
शील सहित सरवंग सुख, शील रहित दुख भौन ।
देवीदास सुशीलकौं, क्यौं न करौ चिन्तौन ॥१४॥

तेरहवीं रचना 'सप्तव्यसन कवित्त' है जिसमें जुआ आदि सप्तव्यसनोंका स्वरूप निर्देश किया गया है। चौदहवीं रचना 'विवेक बत्तीसी' है जिसमें चित्रबद्ध ३३ दोहों द्वारा आत्म विवेकको प्राप्त करनेका उल्लेख किया गया है। जैसा कि उसके अन्तिम दोहोंसे प्रकट है:—

जह निहचल परिनति जगी, भगी सकल विपरीति ।
पगी आपसौं आप जब, निरभय निर्मल रीति ॥३१॥
स्व-पर-हेत उद्यम सु-यहु निज दृग देखि विलोय ।
भव्य पुरुष अवधारियौ, यामैं कष्ट न कोय ॥३२॥
चित्र बंध सब दोहरा, वर विवेककी बात ।
भाषा परगट समझियौ, सुबुद्धिवंत जे तात ॥३३॥

पन्द्रहवीं रचना 'स्व-जोगराछरो' है जिसमें कर्मोदयवश मिथ्यात्वके सम्बन्धसे होने वाली जीवकी भूलको प्रगट किया गया है। सोलहवीं रचना ' 'मालोचभवांतरावली' है, जिसमें तीर्थंकरोंके पूर्वभवान्तरोंका उल्लेख किया गया है।

सत्रहवीं रचना 'पंचवर्ण कवित्त' है। अठारहवीं रचना 'भोगपच्चीसी' है जिसमें चित्रबद्ध अनेक छन्द और अन्तर्लापिका आदि दिये गये हैं। जिनमेंसे यहाँ परवतबंध और कपाटबंध नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं:—

म
न जा की
नि ज ठौ र है
प र स आ त मा रा
म क हि सा धौ जा कौ न हीं
धं

ध	री	ध	दो	द	भी	भा	म	खो	१
र्म	ति	रि	ष	हि	त	ग	द	इ	१
क	जी	क	मो	ल	वी	रा	प	हो	१

उक्त रचनाके अंतर्गत 'जोग पच्चीसी' है जिसमें शुभ-अशुभ और शुद्ध उपयोगका वर्णन दिया हुआ है जो औपदेशिक होते हुए भी सदुपदेशोंमें रोचक है। उसमेंसे कुछ छन्द पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे दिये जाते हैं—

"मन वच तन द्रव्यसौं, कियो बहुत व्योपार ।
पराधीनता करि परयौ, टोटो विविध प्रकार ॥
अरे हंसराज ! तोहि ऐसी कहा सूझि परी,
पूँजी लै पराई वंजु कीनौ महा खोटो है ।
खोटो वंजु कियौ तोहि कैसे कै प्रसिद्ध होहि
नफा मूरतैं जहाँ सिवाय व्याज चोटो है ॥
वेहुरेसौ बंध्यो पराधीन हो जगत्र मांहि,
देह-कोठरीमें तू अनादिकौ अगोटो है ॥
मेरी कही मानु खोजु आपनौ प्रतापु आपु,
तेरी एक समयकी कमाई कौन टोटो है ॥१३॥
दया दान पूजा पुंजी, विषय कषाय निदान ।
ये दोऊ शिवपंथमें, वरनौं एक समान ॥
दया दान पूजा शील पूंजीसौं अजान पनै,
जे तो हंस तू अनंतकालमें कमायगौ ।
तेरी वे विवेककी कमाई या न रहै हाथ,

भेदज्ञान विना एक समैमें गमायगौ ॥
अलख्य अखंडित स्वरूप शुद्ध चिदानन्द,
थंजमांहि एक समय जो रमायगौ ।
मेरी कही मानु यामैं और की न और कर.
एक समयकी कमाई तूं अनंतकाल खायगौ ॥

× × × ×

दया दान पूजा सुफल, पुन्य पाप फल भोग ।
भेद ज्ञान परगट विना, कर्मबन्धकौ जोग ॥
दया-दान पूजा सुपुन्य करिन भवि जानो ।
पुण्यकर्म संजोग होत सासौ पहिचानो ॥
शुभ साता तह विषय भोग परणत जगमाहीं ।
विषय भोग तह पाप बंध, दुविधा कछु नाहीं ।
फल पाप करम दुरगति गमन दुःख दायक अमित ॥
ईह विधि विलोकि निज दृष्टिसौ पाप पुन्य इक खेत नित

कोऊ कहै वितर्कसौ, भलौ पुन्यतैं पाप ।
जासु उदै दुःखसौं भजै, पंच परम पद जाप ॥
पाप कर्मके उदय जीव बहु विधि दुःख पावत ।
दुख मेटनके काज पंच परमेश्वर ध्यावत ॥
पंच परम गुरु जाप मांहि शुभ कर्म विराजत ।
शुभ कर्मनिकौ उदय होत दुर्गति दुख भाजन ॥
दुःख नशत सुखवंत जिय कुगति गमनुतिनि दलमलौ ।
कहि पुन्यकर्मतैं जगत महि, पापकर्म इहि विधि भलौ ॥
कोऊ जन ऐसी कहै, भलौ पापतैं पुन्य ।
उपजै विषय कषाय करि विघन धर्म करि सुन्य ।
पुन्य केजोगसौं भोग मिलै पुनि भोगतैं पापकौ पुन्य भियारे । पापकी नीतिसौं रीत लटी गति नीच परैं मरिकैं सुजियारे ॥ त्यागवो जोग उभय करणी निज पंथ तजै इनिकौ रसियारे । कर्म तो एक स्वरूप सबै रचिकै शुभ लक्खनु कौने जियारे ।

पाप पुन्य परिनमनमें, नहीं भला पनु कोइ ।
शुध उपयोग दशा जगै, सहज भलाई होइ ॥

× × × ×

सात प्रकृतिको बलु घटै, उपजै सम्यक् भाव ।
यही सात मरदे बिना, निरफल कोटि उपाव ॥
सम्यक्‌दृष्टि जगे विनु जीव नहीं,
अपनौ पर पौरुष बूझै ।
सम्यक्‌दृष्टि जगे विनु जीव,
उभै निहचै विवहार न सूझै ॥
सम्यक्‌दृष्टि जगे विन जीव,
सही निजुकै सिव पंथ न गूझै ।
सो समदृष्टि जगै स्वयमेव,
किधौं गुरुकौ उपदेश समूझै ॥

उन्नीसवीं रचना 'द्वादशानुप्रेक्षा' है, जिसमें अनित्यादि द्वादश भावनाओंका स्वरूप निर्देश प्राकृत गाथाओं परसे अनूदितकर ४९ दोहोंमें दिया गया है। दोहा सुन्दर और भाव पूर्ण हैं। अन्तमें कवि अपनी लघुता व्यक्त करते हुए कहते हैं :—

भाषा कवि मतिमंद अति, होत महा असमर्थ ।
बुद्धिवंत धरि लीजियौ, जहं अनर्थ करि अर्थ ॥४६॥
गुरुमुख ग्रन्थ सुन्यौ नहीं, मुन्यौ जथावत जास ।
निरविकलप समभावनौ, निजपद देवियदास ॥४९॥

बीसवीं रचना 'उपदेश पच्चीसी' है। २१वीं रचना 'जिनस्तुति' है। बाईसवीं रचना 'औपदेशिक' और आध्यात्मिक ४६ पदोंका संग्रह है। जिनमें कितनेही पद बड़ेही रोचक और आत्म-बोधक हैं। इन पदोंके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है।

तेईसवीं रचना 'हितोपदेश जकरी' है, जिसमें संसारी जीवको सगुरुके हित उपदेशकी बातें सुझाई गई हैं।

इस तरह कवि देवीदासकी उक्त २४ रचनाएँ भावपूर्ण हैं। इस संक्षिप्त परिचयपरसे पाठक उक्त कविके सम्बन्धमें अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। और बुन्देलखण्डके अन्य कवियोंके सम्बन्धमें जानके लिये प्रोत्साहित होंगे।

ता० १२-१०-५२ (पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

'विश्व एकता और शक्ति'

लेखक—अनन्त प्रसाद जैन, B. Sc. (Eng) 'लोकपाल'

इस अखिल विश्वमें जो भी वस्तुएं हैं वे सभी कंपन-प्रकम्पनसे युक्त हैं सूर्य, चन्द्र, तारे, ग्रह, उपग्रह, पृथ्वी और इनमेंकी हर एक वस्तु भी अलग-अलग कंपन प्रकम्पनसे युक्त हैं । बड़ी-बड़ी वस्तुएं पर्वत वगैरह; छोटी-छोटी वस्तुएं घर मकान इत्यादि या बालूके कण अथवा परम सूक्ष्म "पुद्गल" परमाणु तक इन कम्पन प्रकम्पनोंसे वंचित नहीं हैं । ये कम्पन प्रकम्पन शाश्वत हैं—अनादि कालसे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे । ये बन्द नहीं हो सकते । इनमें कमी वेशी किन्हीं कारणोंसे भलेही होती रहे, पर ये रुक नहीं सकते । यह सोचना भी कि यदि ये क्षण भरको भी बन्द हो जाय तो क्या होगा—मूर्खताकी बात होगी—क्योंकि यह होनाही असम्भव है । यही विश्वका नियम है इसमें व्यतिक्रम या व्यवधान नहीं हो सकता । इसी कम्पन प्रकम्पनके कारणही विश्वमें सदा सर्वदा सृजन, उत्पादन और विनाशका क्रम चलता ही रहता है । पुरानी-का परिवर्तन और नएका जन्म, नएका पुराना होना और पुराना बदलकर कुछ और नया बनना—इनका तार तम्य कभी नहीं टूटता । इसीको समयका प्रवाह या समय चक्र-भी कहते हैं । व्यक्ति, समाज, देश और देशोंके गुटोंकी परिस्थितियोंमेंभी हर समय परिवर्तन होताही रहता है । समय एकसा कभी नहीं रहता । समय गति शील है इसकी गति कभी रुकती नहीं । समयकी गतिके साथही सब कुछ बदलता रहता है । एक-एक क्षण या एक एक क्षणके शतांश, सहस्रांश या लक्षांशमें भी यह तब्दीली, परिवर्तन अथवा क्रमिक विकास या ह्रास इत्यादि स्थगित नहीं होते । स्थिरता कहीं नहीं है . गतिशीलताही जीवन है । स्थिरता-ही विनाश, छिन्न-भिन्नता या भग्नता और सांसारिक भाषामें मृत्यु है । वैज्ञानिकोंने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी ग्रह उपग्रह गतिशील हैं । ग्रह, उपग्रह सभी अपनी कल्पित मध्य धूरीपर घूमते हैं । साथही उपग्रह किसी ग्रह-को केन्द्रित करके उसकी परिक्रमा करते हैं; जबकि ग्रहभी सूर्यकी परिक्रमा करतेही रहते हैं इनकी विभिन्न गतियों-के काल-परिमाणभी विभिन्न हैं । सूर्यमें भी अवश्यही ये गतियां होंगी या हैं ही । अखिल विश्व, ब्रह्माण्ड या आकाशमें हम कहांसे कहां चलते जा रहे हैं कोई नहीं जानता पर यह निश्चित ध्रुव है कि ये गतियां अबाध, निरन्तर और शाश्वत रूपसे होतीही रहती हैं । पृथ्वीके जीव होनेसे इसीके साथ हर तरहके "नाच नाचते" हुए हम (मानव) भी इन गतियोंसे सतत युक्त हैं—भलेही हम इसे जानें, न जानें, समझें या न समझें, पर ये कम्पन, प्रकम्पन और दूसरी गतियां होतीही रहती हैं । हमारे शरीरका हर एक परमाणुभी अलग-अलग इन गतियों और कम्पन प्रकम्पनादिसे युक्त हैं और ये कभीभी एक क्षणके लियेभी, बंद नहीं होते । यही बात हर वस्तु, हर जीव-जन्तु, हर पेड़ पौधे, एवं हर अणु परमाणुके साथ लागू है । हमारा जन्म विकास, परिवर्तन, मृत्यु इत्यादि इन्हीं द्वारा उत्पन्न नियन्त्रित एवं सतत परिचालित होते रहते हैं ।

ये क्यों होती हैं ? संक्षेपमें हम इतना जान लें कि कोईभी परमाणु, वस्तु, व्यक्ति, जीव या ग्रह उपग्रह या कुछभी जो इस विश्वमें (या संसारमें) अपनी अवस्थिति रखता है अकेला नहीं है; हर एक इस महान विश्वका केंद्र-विन्दु कहा जा सकता है और हर तरफ अनन्त तक हर एक तरह-तरहकी इन चीजोंसे घिरा है जो हर ओरसे अपना कम-श प्रभाव डालतीही रहती है । आकर्षण प्रत्याकर्षणके बारेमें तो हम बहुत कुछ सुन या पढ़ चुके हैं और जानते हैं पर इनके अलावे औरभी आश्चर्य जनक प्राकृतिक क्रियाएँ (Natural Phenomena) ऐसी हैं जिनका असर हमेशा एक दूसरेपर क्रियाशीलता या प्रभावकारी रूपसे पड़ताही रहता है । इनमें समय-समय पर कमी-वेशी भलेही हो पर ये बन्द नहीं हो सकते । हर ग्रह या उपग्रह चारों तरफके बाकी दूसरे ग्रहों उपग्रहोंका इकट्ठा प्रभाव इस तरहसे पड़ता है कि फलस्वरूप ये गतियां अपने आपही होती रहती हैं । जब तक ग्रहों उप-ग्रहोंकी अवस्थिति इस विश्वमें है—और सर्वदा रहेगी ही तब तक ये एक दूसरे पर अपना अनुरूप प्रभाव डालतेही रहेंगे और इस कारण इनकी विभिन्न गतियां भी कभी बंद नहीं हो सकतीं । ज्योतिष या आधुनिक ऐस्ट्रो नौमी

(Astronomy) की गणनाएं इस बातका एक बहुत बड़ा सबूत देती हैं। ग्रहों उपग्रहोंका स्थान परिवर्तन इतना व्यवस्थित है कि सैकड़ों वर्षोंके बाद ठीक किस समय कौन-कौन ग्रह कहां-कहां किस स्थितिमें तथा एक दूसरेके ऊपर क्या प्रभाव डालते रहेंगे ज्योतिषी (Astronomens) बड़ी खूबीसे हिसाब करके बतला देते हैं। सूर्य हमारे सूर्य-मण्डलका सबसे बड़ा और सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रह हैं। सूर्य एक जलता हुआ बड़ा भारी गोला है जिससे निकलकर किरणोंके रूपमें करोड़ों मन पुद्गल (Matter) विभिन्न रूपोंमें हमारी पृथ्वीपर एवं सभी ग्रहों उपग्रहोंमें पहुँचतेही रहते हैं। ये ही गर्मी भी देते हैं जो सारे शक्तियोंकी जननी है। सूर्यसे आने वाले इन पुद्गलोंको हम स्वतः महसूस करते हैं। पर सूर्यसे ही नहीं हर ग्रहसे इसी तरहकी पुद्गल वर्गणाएं (Molecules of Matter) हर दूसरे ग्रह तक कम या वेश रफ्तार या तेजीसे जाती हैं और उसी अनुपातमें अपना प्रभावभी एक दूसरेपर पैदा करती हैं। यह हमारी पृथ्वी (Glole orearth) भी यही बात करती रहती है सूर्य इत्यादि सभी दूसरे ग्रहोंका भी असर इस पर पड़ता है और दूसरोंपर यहभी अपना प्रभाव डालती है।

पृथ्वीही नहीं इस पर रहने वाला हर प्राणी हर समय ये पुद्गल वर्गणाएं (Molecules of Matter) अपने हर तरफ अपने इस पुद्गल कृत (Made of Matter) शरीर० विकीर्ण करताही रहता है। दूसरे शरीरों और वस्तुओंसे निकली वर्गणाएं भी हर प्राणीके शरीरपर असर करतीही रहती हैं। सारा वायु मंडल पुद्गल परमाणुओं एवं वर्गणाओंसे भरा हुआ है। हर तरहकी किरणें और धाराएं निकलती एवं प्रवाहित होती ही रहती हैं। ये हर व्यक्तिपर अपना असर डालती रहती हैं। हमारे भोजन पानका असर तो हमारे ऊपर पड़ताही है। हम जो कुछ करते, कहते और सोचते हैं उसकाभी असर हमपर और हमारे चहुँओर पड़ता है। हमारे वस्तु शरीरके प्राथमिक या स्वाभाविक कम्पन प्रकम्पनके अलावे जबभी हम शरीरको हिलाते-डुलाते हैं नई पुद्गल वर्गणाएं धारा प्रवाह रूपसे शरीरसे निकलती हैं और आवृत्त-वातावरणमें उद्वेलन पैदा करती हैं। जिससे दूसरोंपर-भी असर होता है। स्वाभाविक गतियों एवं कम्पन प्रकंपनका तो प्रभाव जो होता रहता है वह तो सर्वदा होताही रहता है पर इन क्रियात्मक गतियों या हिलने डोलनेका भी बड़ा व्यापक प्रभाव इस तरह पुद्गल वर्गणाओंके निस्सरण, अनुसरण और प्रवेशादिसे हर व्यक्ति या वस्तुका हर दूसरे व्यक्ति या वस्तु पर पड़ताही है। सारा शरीरभी तो पुद्गलों (Matter particles) का ही बना हुआ है इससे यही बात उस समयभी होती है जब हमारा मन एकाग्र न होकर विभिन्न बातोंके सोचने, विचारने आदिका विषय बदलता ही रहता है।

मेरे कथनका सारांश संक्षेपमें यह है कि संसार या विश्वमें कोई वस्तु या जीव अकेला नहीं है और हर एक पर सारे विश्वकी वस्तुओं, जीवों और उनकी गतियों एवं हलन-चलनका प्रभाव इसतरह पुद्गल वर्गणाओं या धाराओं और किरणों द्वारा पड़ता ही रहता है। हम इसे नहीं जानते इसी कारण संसारके वैज्ञानिक, विद्वान्, राजनीतिज्ञ और दूसरे लोग यह समझते रहते हैं कि एक देश दूसरे देशसे भिन्न या अलग हैं अमेरिका समझता है कि उसके पास बे-इन्तहा धन और सामान है इससे वह बाकी संसारके दुःखी रहते हुए भी अकेला सुखी है। इंगलैंड चाहता है कि बाकी सारा संसार दुःखी रहे या सुखी उसके पास अधिकाधिक धन कहीं न कहींसे किसी न किसी उपायसे आता रहना चाहिए ताकि सम्पन्न बना रहे। हर व्यक्ति हर देशका यही ख्वाहिश रखता है और वैसा ही बर्तता भी है—कि वह दिन पर दिन अधिकाधिक धन संपत्ति बटोरता और बढ़ाता जाय ताकि दूसरोंसे अधिक प्रभाव-शाली और खुश होता रहे। इसीके लिए एक देश (या एक व्यक्ति) तरह-तरहके उपायोंसे एक-दूसरेको लूटता-खसोटता है और युद्ध हिंसा इत्यादि करते ही रहते हैं। जो प्रभावशाली देश (या व्यक्ति) शक्ति सम्पन्न हैं वे दूसरे अशक्त देशों (या व्यक्तियों) को यथा शक्ति आगे बढ़ने देना या उठने देना नहीं चाहते इस-डरसे कि कहीं उनकी प्रभुता कम न पड़ जाय या बँट न जाय। इत्यादि पर ये लोग सभी अज्ञान और अंधकार में हैं। कारण यह है कि संसारके सभी देशोंमें प्राय: जो शिक्षा दी जाती हैं उनका आधारही गलत और भ्रम-पूर्ण सिद्धान्तों पर क़ायम है। सारा संसार या सारा मानव समाज एक पृथ्वी पर रहने वाला एक कुटुम्बके व्यक्तियोंकी तरह ही एक-दूसरेसे सम्बन्धित और अपना पारस्परिक प्रभाव या असर डालने वाला है वैसा न

समझकर हम अलग-अलग समाज, देश या जाति इत्यादिके रूपमें ही सारी व्यवस्था एवं सामाजिक निर्माण-का आदर्श मान बैठे हैं। यह हमारी भ्रम या गलती हमारे संसारकी है जो अति प्राचीन कालसे भ्रमात्मक-मान्यताओंके व्यापक विस्तारके फल-स्वरूप चलती ही आई है। विज्ञानका विकास तो हुआ पर 'सच्चे ज्ञान' का अभाव ही रहा। इसी कारण आज विज्ञान संरक्षक होनेके बजाय विध्वंसक हो गया है और समझा जाने लगा है। अमेरिका और रूस आज यदि सच्चे दिलसे यह समझलें कि हर मानवका सुख-दुख समान है और एक जगहकी हत्याओंसे उत्पन्न आहों और दुखोंके हल-चलसे व्यथित या विक्षुब्ध वातावरण दूसरेके आकाश मण्डल या वातावरण को भी क्षोभित और व्यथित करता है तो सारा झगड़ा और संसारके विनाशका भय दूर हो जाय। सारा अपराध प्रथमतः धर्मांधताका है और बादमें अहंकारसे उत्पन्न ज़िद का है। धर्मों एव धर्म-सिद्धान्तोंमें बड़ा गोलमाल हर हर जगह फैला रखा है। वैज्ञानिक लोगभी अभी अखिल विश्व रूपमें परमाणुविक प्रभावके सिद्धान्तको नहीं जान पाए हैं। विडम्बना तो यह है कि उनका ध्यान ही अभी तक इधर नहीं गया है। जरूरत है कि विश्वके हितैषी और शान्तिके इच्छुक लोग इन वैज्ञानिकोंका ध्यान इधर आकर्षित करें। अब ये विज्ञानके पण्डित खोज ढूंढ एवं मननके उपरान्त अपने विवेचनात्मक विचार व्यक्त करेंगे। तो संसारकी सरकारोंको चलाने वालोंका ध्यान उधर जायगा। तब व्यवस्था और शिक्षा पद्धतिमें सुधार लाकर राष्ट्रीय भावनाके साथ-साथ मानव मात्रको अपना कुटुम्बी हितैषी, हरएकके पुण्य पापों और हरएकके दुख सुखका साथी एवं हिस्सेदार समझनेकी भावना उत्पन्नकी जा सकेगी तभी संसारसे युद्ध और हिंसाएँ बन्द होंगी। अभी तो जो धनी हैं वे अपने धन और प्रभुताके मदमें इतने मतवाले हैं कि गरीबको मनुष्य ही नहीं गिनते। इस युगको सभ्यताका युग कहते हैं इसलिए कि खुला अत्याचार व्यक्ति द्वारा व्यक्तिपर किया जाना वर्जित समझा जाता है - पहले युद्धोंमें सिपाहियोंके अंग-भंग करनेके जो तरीके थे उन्हें अब 'जंगली' कहा जाता है। अब व्यक्तिको प्रच्छन्न तरीकोंसे अपने वशमें करना और युद्धोंमें बम गिराकर इकट्ठा हजारों लाखोंको जीवनके भार-से छुड़ा देना या छिन्न-भिन्न कर देना ही मानवताका उच्च आदर्श हो गया है। पहले यदि एक युद्धमें दसबीस हजार आदमी मारे जाते थे तो वही अब एक-एक एटमबमसे लाखों व्यक्ति (जवान, बूढ़े बच्चे, मर्द औरत सभी) जो युद्धमें शामिल हैं वे भी जो नहीं हैं वे भी सभी मारे जाते हैं। इसीको "डेमोक्रसी" (Democracy) कहते हैं। इंगलैंड अमेरिकामें धनियों-का राज्य है जबकि रूस चीनमें साराका सारा देश एक बड़े कुटुम्बकी तरह जो कुछ होता बाँटकर खाने और सुख दुखमें समान भाग लेनेकी व्यवस्था है। पूँजीवादी देशोंमें सुख दुखका परिमाण धनी और गरीब होनेकी कमीवेशी पर निर्भर है। जो अधिक हैं वे और अधिक सुखी होना चाहते हैं भले ही उनके सुख या संपत्तिकी वृद्धि के लिए गरीबको और अधिक दुखी या गरीब होना पड़े इसकी उन्हें पर्वा नहीं। गरीब अपने 'दुर्भाग्य' का भोक्ता और धनी अपने सौभाग्यका मालिक है। दोनोंमें संघर्ष बराबर चलता ही रहता है। किसीको चैन नहीं इसे हां यदि लोग सुख मान बैठे हैं तो यह न तो सुख है न शान्ति ही। यह तो शाश्वत अशान्तिका करने वाला और वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्थामें जहाँ धनही सुख, सन्तोष, मान, प्रतिष्ठा प्रभुता और शक्तिको देने और बढ़ाने वाला है। फिर तो धनकी वांछा या तृष्णाका मानवमें होना जरूरी ही है। और उसके बाद तो फल-स्वरूप संघर्ष, हिंसा, असत्याचरण, मक्कारी, छल प्रपंच, शोषण इत्यादि अपने आप आ जाते हैं। यों भी यदि ठीक तौरसे देखा जाय तो धनकी अधिकता सच्चे सुखको नहीं उपजाती! वह तो एक भुलावा या भ्रम है जो आंतरिक अशान्तिका सृजन करती और बढ़ाती ही है। वह तो अवनतिकी ओर ले जाने वाला ही है। लोग अपने अज्ञानमें इसे न समझते हुए दुखसे बिलखाते हुए भी विवश बढ़ते ही जाते है और चूँकि उन्हें दूसरा कोई इससे अच्छा मार्ग या बात मालूम नहीं इससे इसेही पकड़े हुए हैं। हाँ अहङ्कार या निम्न स्वार्थपरतासे उत्पन्न मोहान्धकारके कारण दूसरेको समझनेके बजाय हमेशा गलत मानकर दुश्मनी या विरोध ही करते रहते हैं—इससे संसारमें दुख और अवनति बढ़ती जाती है। विज्ञान जिसे हम विज्ञान कहते हैं वह व्यापक वस्तु ज्ञान भले ही हो पर "सुज्ञान" या सम्यग्ज्ञान (Right.

Knowledge)तो हरगिज नहीं है। इसीके अभावमें हम संसारव्यापीरूपमें "बहके" ही चले जारहे हैं। धर्माधिपतियों या धर्मगुरुओं और धर्मपिताओंने अपनी "रोजी" बनाए रखनेके लिए मिथ्याभावनाओंको विभिन्न समाजोंसे दूर नहीं होने दिया, फिर संघर्ष होता ही रहता है। धर्मोंका व्यापक सुधार पुनर्निर्माण (Reorientation) और एकीकरण संसारमें शान्ति स्थापित करनेके लिए अत्यन्त जरूरी है।

न जाने किस प्राचीन कालसे 'ईश्वरवाद' और 'अनीश्वरवाद'का झगड़ा चला आता है। आज वही झगड़ा पूंजीवाद और साम्यवादमें परिणत हो गया है। इस झगड़ेको किसी 'मध्यमार्ग द्वारा' समझौता करके खतम करना होगा यदि स्थायी शान्ति और सच्चा सुख ही इष्ट हो तो विभिन्न देशोंके लोग जिसे प्रगति और सुख समझे बैठे हैं वह सचमुच मृगतृष्णा या मृगमरीचिका ही है—उससे स्वयं उनका पतन और विनाश ही अवश्यम्भावी है। अपना पतन या विनाशसे बचने और सारे संसारकी रक्षाके लिए भी रूस और अमेरिकाको एक दूसरेसे मित्रता करनी होगी।

आज अमेरिकाके एटमबमोंसे सारा संसार डर रहा है कि कहीं अमेरिकाके लोभी पूंजीपति मालिकोंने साम्यवादको मिटानेकी जिद्में एटमबमोंका व्यापक प्रयोग करनेके लिए यदि युद्ध छेड़ दिया तो क्या हालत होगी? सब कोई मुँह बाए, आँख फैलाए, भयार्त एक दूसरेकी ओर सूना सूना-सा देखते हुए किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। एशियाई देश तो इतने जोरोंमें सहम गए हैं कि जिसकी इन्तहा नहीं। क्या अमेरिकाका इससे भला हो सकता है? यह विचार करनेकी बात है। एशियाके गरीब देशों और गरीब लोगोंके लिए किसी 'वाद' में कोई दिलचस्पी नहीं। उन्हें तो किसी तरह भर पेट खानेको मिलना चाहिए। हो सके तो कुछ पहननेको और एक छप्पर भी धूप पानीसे रक्षाके लिए यदि हो जाय तो काफी है। यह चाहे किसी 'वाद' से मिले। रूस और चीनने थोड़े समयमें ही गरीबोंको ढाढ़स बँधाने वाली व्यवस्था इस तरहकी बनाई जिससे कोई भूखा न रहे। जो कुछ सारे देशमें है या होता है उसे सब कोई 'बाँट चूंट कर' भोगें और सब सबके दुख सुखके साथी हों। इसने एशियाके गरीबोंका ध्यान खींचा। अब यदि अमेरिका या दूसरे पूंजीवादी गुट वाले देश रूस, चीन और साथ ही साथ एशियाको अपने सुख समृद्धिके लिए बर्बाद करना या अपना गुलाम बनाना चाहते हैं तो यह उनका भ्रम और भारी गलती है सारा विश्व एक है दुख सुख एक साथ होता है। यदि एशिया वाले दुखी हैं तो अमेरिका वाले भी उनकी आहोंसे निकले पुद्गलवर्गणाओंकी धारा प्रवाहके वातावरणमें परम अशान्त और विक्षुब्ध हैं। किसी भी अमेरिकनका दिल भीतरसे देखिए वह कितना अशान्त और उद्विग्न है? यह आत्माका हनन करने वाला और भावी संतान (Generation) को डुबा देने वाला है और भी क्या निश्चय है कि एटमबमोंका प्रयोग सफल ही होगा? जर्मनी भी तो सारे रूसको जीत कर सारे युरोप और फिर सारे संसार पर हावी होना चाहता था। पर क्या हुआ? नेपोलियनने भी फ्रान्सकी प्रधानता सबके ऊपर स्थापित करनी चाही थी। क्या हुआ? प्रकृतिने ऐन मौके पर उनकी सारी आशाओं और तैयारियोंको मिट्टीमें मिला दिया। नेपोलियनको भी हार और अन्त होनेमें प्रकृतिका बड़ा गहरा हाथ रहा जिसे इतिहास पढ़ने वाले अच्छी तरह जानते हैं। रूसमें हिटलर और जर्मनीके अत्याचारोंको भी अन्त करनेके लिए उत्तरी बर्फीली हवा ऐसी चली जैसी पहले कभी नहीं चली थी—तीन चौथाई जर्मन फौज उस बर्फमें जम गई और सारी फौजी शृंखला और युद्धकी व्यवस्था टूट कर छिन्न-भिन्न हो गई। जर्मनीके सपनोंका अन्त हो गया। क्या ऐसी ही कोई बात अमेरिकाके एटमबमके प्रयोग करनेके पहले ही नहीं हो सकती है? घमंड बड़ा खराब है। एक बड़ा पुच्छल तारा—धूमकेतु (A big Comet) यदि किसी एटमबमके आगारके स्थानसे टकरावे तो समझ लीजिये कि अमेरिकाका तो खात्मा हो ही जायगा पृथ्वीके बाकी दो तिहाई मानव भी उनके धक्के और विस्फोटसे पैदा होने वाली हलचलोंसे मृत्युको प्राप्त होंगे। संसारमें कुछभी असम्भव नहीं।

यदि मान लें कि धूमकेतु नहीं ही आवे और अमेरिका रूस, चीन या एशियाके किसी बड़े भागको एटमबमोंकी मारसे बर्बाद करदे तो क्या अमेरिकामें ही शान्ति बनी रहेगी? क्या वे इस तरह विनाश पथकी ओर अग्रसर नहीं होंगे? भविष्य कोई नहीं जानता। आगे क्या

होगा कहना कठिन है—पर आज जर्मनीको हरा कर भी सारा युरोप त्रसित, दुखित और अभावोंसे पीड़ित है। अभी तो अमेरिका उनकी मदद कर रहा है पर अब स्वयं अमेरिका युद्धमें पूर्ण रूपसे शामिल हो जायगा तो वहाँ की सम्पत्ति भी तो विध्वंस होगी ही। फिर उसके विरोधी भी तो चुप बैठे नहीं रहेंगे। उनके पास भी तो हो सकता है एटमबम हों दूसरे अस्त्र शस्त्र भी होंगे ही यदि यह भी मान लिया जाय कि अमेरिकाके अस्त्र शस्त्र अधिक संहारकारी हैं और उनके कम होंगे, तब भी अमेरिकाकी लड़ाईकी जीत हार युरोप वालों पर ही निर्भर करती है यह तो निश्चित है कि यदि आगे कहीं युद्ध हुआ तो वह पिछले युद्धसे कई गुना भयानक एवं विध्वंसकारी होगा। फिर उस महा विनाशकारी युद्धमें यही क्या ठीक है कि युरोप वाले बराबर अमेरिकाका साथ ही देते रहेंगे ? विरोधी भी तो कम शक्ति वाला नहीं है और अब 'दूरी' की माप बहुत कम हो गई है एवं समुद्रका व्यवधान भी अब पहलेके शतांश भी बाधक नहीं रहा। रूस, चीन बहुत बड़े देश हैं उन्हें जीतना और फिर जीत कर इस आधुनिक सजग-संज्ञान कालमें वशमें रखना आसान नहीं है। फिर उन्होंने भी अपनी तैयारियाँ कर रखी हैं तब अमेरिका रूसके टक्करमें बाकी पश्चिमी युरोप भी तो बर्बाद हो जायगा। और यदि फ्रान्स, इङ्गलैंड खतम हो जाय तो अकेला अमेरिका क्या कर सकता है ? भले ही अमेरिका बड़े महासागरोंसे अलग होने से बच भी जाय पर युरोपके नष्ट हो जाने पर तो वह जीत कर भी हार जायगा और हार कर तो हारा रहेगा ही। शायद अमेरिकाके राजनीतिज्ञ लोगोंने प्रश्न या मसलेके इस पहलू पर कभी ध्यान नहीं दिया है। यदि यह कहा जाय कि युरोपमें युद्ध न छेड़ कर एशिया-की भूमि पर या केवल चीन पर ही युद्ध होगा तो यह तो मानी हुई बात है कि फिर वह युद्ध एशिया ही तक सीमित कभी भी नहीं रहेगा—वह कमसे कम पश्चिमी युरोपमें तो अवश्य ही तुरन्त फैल जायगा। और उसकी भयंकरताका अन्दाज कोई भी जानकार लगा सकता है। फिर इतनी बड़ी जन संख्याकी हिंसा करके संसारका कोई देश न सुखी हो सकता है न शक्ति ही प्राप्त करा सकता है। सारा विश्व एक है। एक सूत्रमें गुंथा हुआ है। प्रकृतिने सारे संसारको एक बना रखा है। एक जगहकी रेडियोकी बोली सारे संसारके वातावरणमें फैल जाती है। मानवका हृदय और मन बड़ा भारी 'रेडियो'की धाराओंको जन्म देने वाला और फैलाने वाला है। बड़ी बड़ी हत्यायें करके कोई सुखी नहीं हुआ। संसार-का इतिहास यही कहता है। चाहे रूस हो या अमेरिका बड़ा भारी युद्ध करके कोई सुखी नहीं होगा—दोनोंका विनाश किसी न किसी रूपमें हो जायगा।

यदि अमेरिका कहे कि रूसके डरसे वह भयानक बहुव्यापी व्यूह बन्दी सभी जगहोंमें कर रहा है और तैयारियाँ कर रहा है तो यह भी भारी भ्रम और गलती है। जैसा कारण होता है वैसा ही फल भी होता है। घृणाके प्रचार और युद्धकी तैयारीसे शान्ति नहीं हो सकती है। आपसी सुलह मसलहतसे ही या मिलजुल कर किसी मध्य मार्गको ढूढ निकालनेसे ही विरोधके कारणों को दूर कर मनोमालिन्य हटाया और शान्तिका बीज बोया जा सकता है। क्या ही उत्तम होता कि अमेरिकाका पूंजीवादी गुट्ट और रूसका साम्यवादी गुट्ट इन बातोंकी सत्यताको जान जाता और समझकर उचित उपायों द्वारा संसारको और संसारके लोगोंको भयानक डर बलाके भय से छुटकारा दिलवाता। ऐसा करके और आपसमें सुलह और मेल करके ही दोनों प्रतिस्पर्धी स्वयंभी सुखी होंगे और संसारको भी सुखी बनावेंगे। इसीमें स्थाई शान्ति स्थापितकी जा सकेगी। यही करके अमेरिका वगैरह पूंजी-वादी देश नैतिक पतनमें अपने देश वासियोंकी रक्षा करके आखिरी स्वत. (Netural decay, disintegratio and doom) विनाशसे बचावेंगे और रूस, चीनके साम्यवादी देशभी 'आत्मा' (Soul) की महत्ता-को जाननेकी फुर्सत पाकर उच्चत्तम हो सकेंगे। और सभी मिलकर बाकी दूसरे एशियाई देशों और पददलित लोगों-को भी सुखी एवं समृद्धशाली बनाकर स्वयं सचमुच सुखी हो सकेंगे। जबतक सारा संसार सुखी नहीं होगा—उसका एक हिस्सा अपनेको सुखी समझता हुआ भी सच्चे अर्थों-में क्षुभित और अशांतही रहेगा। संसारमें जितने अधिक-से अधिक प्राणी सुखी और निश्चिन्त होते जायेंगे सच्चे सुखकी वृद्धि अपने आप होती जायगी। यही संसार तब स्वर्गसे भी अधिक भव्य सुखी और सुन्दर हो जायगा।

संसारके दो बड़े-बड़े 'गुट्टों'में बंट जानेके कारण भारतकी तटस्थतामई हालत बड़ीही शोचनीय होरही

हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति षड्यन्त्र और भीतरी पुरानापन या कट्टरता इसे आगे बढ़ने नहीं देती। देशमें इतना भीषण सामाजिक और आर्थिक वैषम्य है कि सुधार और उन्नतिकी सारी चेष्टाएँ भ्रष्टाचारका आधार पाकर इस वैषम्यको और अधिकाधिक बढ़ाती ही हैं। जहाँ इतने अधिक लोग गरीब, दुखी, पीड़ित और हाहाकार करते रहेंगे वहाँ सच्चा सुख या शान्ति भला कैसे हो सकती है? अमेरिकामें तो सामाजिक विभिन्नता केवल काले गोरों (Negros & Whites) के बीच ही कुछ है इससे वहां उन्नति शीघ्र हुई यद्यपि वहांके सबसे नीची श्रेणी वाले लोगभी यहांके मध्य वर्गीय लोगोंकी तुलनामें काफी सम्पन्न हैं पर आर्थिक वैषम्यता निम्नवर्ग और उच्चवर्गोंमें बहुत बड़ी है। यह वैषम्यही शोषण, ईर्षा, भ्रष्टाचार, हर तरहके अनाचार और हिंसादिको उत्पन्न करता और बढ़ाता है। आज अमेरिकाका सामाजिक जीवन दिन ब दिन नीचे गिरता जा रहा है युद्ध और युद्धसे उत्पन्न बड़ी-बड़ी आमदनियां मनुष्यको अधिकाधिक लोभी एवं क्रूर बनाती हैं। लूटमें सफलता लूटकी इच्छाएं और तीव्र करती है। संसारमें सिकन्दर और नेपोलियन जैसे बड़े-बड़े लुटेरे और हिंसक एवं तैमूर, नादिर और गजनी जैसे लोग न जाने कितने हुए पर इन देशवासियोंकी हालत आज क्या है? किसी देशके भाग्यमें दो-चार सौ वर्षोंकी अवधि ही यह बतलाती है कि वह सफल रहा या उसका पतन हुआ। बड़ी बड़ी लूटमार और हिंसा करने कराने वालोंका अन्तिम पतन और नाश अवश्यम्भावी है। क्याही अच्छा होता कि इंगलैंड और अमेरिका नागाशाकी और हिरोशिमाकी भयंकर हिंसाओंके बाद अधिक हिंसा नहीं करते कराते। पर कोरियाका विध्वन्स इन लोगोंके पैरोंके नीचे अब भी होरहा है। भलेही भावुकता कहकर बात टालदी जाय पर इन हिंसाओंका अन्तिम फल कभी-भी अच्छा या भला नहीं हो सकता। ये युद्ध होते ही क्यों हैं? अधिक सम्पत्ति और प्रभुता पाने या बढ़ानेके लिए आपसी लागडांटसे। इसका मूल है आर्थिक वैषम्य। भारतसेभी दुख दैन्य दूर करनेके लिए इस व्यापक आर्थिक वैषम्यको और प्रगतिके लिए सामाजिक वैषम्यभी दूर करना जरूरी है। जितना अधिकाधिक ये दूर होंगे उतना ही अधिकाधिक हम उन्नति और सुख-शान्तिकी तरफ बढ़ते एवं शक्तिशाली होते जायेंगे। इससे आत्मविश्वास आत्म निर्भरता एवं आत्मसम्मानकी नागरिकोंमें वृद्धि होती रहती है। आज इंगलैंडमें भी सामाजिक विभेद बहुत बड़े हैं। गो ऐसे नहीं जैसे भारतमें हैं—फिरभी इतनी ही विषमताके कारण इंगलैंडके कारखानोंका उत्पादन फी कर्मचारी (Per Employee) पीछे अमेरिकासे बहुत कम करीब आधीके बराबर है। भारतमें तो दोहरी बंधन या गुलामी और अधिक कड़ी है—फिर हमारी उन्नति बगैर व्यवस्थामें परिवर्तन किए होना सम्भव नहीं। कम्युनिटी प्रोजेक्टभी भलेही गरीबको भी कुछ बेहतर बनावें पर वे उससे कई गुना सम्पन्न धनियोंको बनावेंगे। इस तरह ये विषमताको अधिक बढ़ानेमें ही सहायक होंगे यदि जमीनका समान बटवारा नहीं होता और आर्थिक समानता अधिकसे अधिक—यथासंभव नहींकी जाती है। यही बात पंचायतों द्वारा गाँवोंके नियन्त्रणके साथभी लागू है। दो-चार पन्चायतियां अच्छे पन्चोंके मिल जानेके कारण भलेही सफल हो जांय, पर पंचानवे फीसदी बेईमानीको ही बढ़ाने वाली या शोषणको उत्तेजना देने वालीही सिद्ध होंगी। फिर ऐसी हालतमें हम विश्वशान्तिकी स्थापनामें क्या सक्रिय मदद कर सकते हैं? अपनी शान्ति और विश्वशान्तिके लिएभी हमें अपने तौर-तरीके बदलने होंगे। शिक्षाका 'स्वरूप' भी बदलना होगा। संसारमें 'सच्चे ज्ञान' का विस्तार करना होगा। अमेरिका इंगलैंड और रूस चीनको बतलाना होगा कि उनकी अलग-अलगकी सच्ची भलाईभी बाकी दूसरोंकी भलाईमें ही सन्निहित, गर्भित या शामिल है। वे बजाय युद्ध और युद्धकी तैयारियां करनेके बाद भी यदि वहां उत्पादन और निर्माणात्मक शक्ति पिछड़े, गरीब, दुखी देशोंकी उन्नतिमें लगावें तो अपना भलाभी करेंगे और संसारका भला करनेसे सुख पूर्ण वातावरण जो उसमें पैदा होगा उससे वे भी सचमुच सुखी होंगे और तभी स्थाई शान्तिभी संसारमें हो सकेगी।

पहले अर्थशास्त्री (Economists) कहते थे कि युद्धसे जनसंख्या घटती है। पर अब तो बात ठीक उलटी हो गई है। युद्धकी तैयारियां करने वाले या युद्धमें रत देश हर समय जोरोंसे अपनी जन संख्या तरह-तरहके उपायोंसे बढ़ाते हैं। नतीजा यह होता है कि युद्धमें जितने आदमी मरते हैं उससे कई गुना जन संख्या तब तक विभिन्न देशोंमें बढ़ जाती है। जन संख्या बढ़नेमें बेकारी (unem-

ployment) भी बढ़ती ही है। इस तरह युद्ध और युद्धकी तैयारी हर तरह विश्वका "भार" (burden) बढ़ातीही है—घटाती जराभी नहीं। पाप तो हर तरहके बढ़ते हैं, वे अलग। युद्धसे बेकारीकी समस्या कभी हलभी नहीं हो सकती, वह तो और अधिकाधिक जटिल ही होती जायगी। यह तो केवल शान्ति और विश्वव्यापी निर्माणात्मक कार्योंसे ही हल हो सकती है।

हर एक वस्तुकी जैसे "गति" होना ऊपर बतलाया गया है वैसाही हर एकका "भाग्य" भी हुआ करता है। विश्वका भाग्य; देशका भाग्य; देशके गुट्टोंका भाग्य; किसी जाति, समाज या सम्प्रदायका भाग्य; किसी कुटुम्ब परिवारका भाग्य और व्यक्तिका भाग्य अलग-अलग होते हुए भी और एक दूसरेमें इस तरह गुंथे हुए एवं सम्बन्धित हैं कि एक दूसरेसे अलग नहीं किये जा सकते। हम इन बातोंको ठीक-ठीक नहीं समझते (या एकदम जानतेही नहीं) इसीलिए देशों, व्यक्तियों एवं जातियोंके हितोंकी भिन्नता (differences of interests) की बातें करते और वैसाही व्यवहार करते हैं। वह भाग्य क्या है? पिछले किए गए कर्मोंके समन्वयात्मक एकत्रीकरणसे होने या मिलनेवाले आगामी "फल"। जैसे व्यक्तिके कार्य होते हैं वैसे किसी देशके भी कार्य होते हैं—एक अकेला दूसरा समष्टि रूपमें। कई व्यक्ति मिलकर एक कुटुम्ब बनाते हैं। वैसेही देशको भी हम एक बहुत बड़ा कुटुम्ब यदि मानलें तो भाग्य या भाग्य फलको समझनेमें आसानी होगी। एक कुटुम्बके किसी प्रमुख व्यक्तिके कर्मोंसे उत्पन्न दुख सुख सबको भोगना पड़ता है। व्यक्ति अकेला जो कुछ भोगता है वह तो है ही उसके अलावा भी वह कुटुम्बका प्राणी (भागी-हिस्सेदार) होनेसे कुटुम्ब पर पड़ने वाला दुख सुख भी भोगता ही है। इसी तरह देशकी बात है। जर्मनी या जापान हार गए तो सारे देश वासियोंको उनका फल भुगतना पड़ा। इसी तरह गत महायुद्धसे उत्पन्न हुई मंहगाईने सारे संसारको "मथ" डाला। सारे देशोंके कर्म मिल मिलाकर संयुक्त रूपसे विश्वके भाग्यका निर्माण करते हैं। हां, ग्रहों उपग्रहों वगैरहका प्रभावभी हर एक पर स्वाभाविक रूपसे जो पड़ता रहता है वह तो है ही। मानलें कि यदि पुच्छल तारा "धूम्रकेतु" इस हमारी पृथ्वीसे टक्कर खा जाय तो उसका भोग तो सभीको भोगना होगा। यह है संसारका भाग्य। यदि सूर्य आज ठंडा हो जाय या इसमें कुछ भारी उथल-पुथल हो तो सारे सूर्य मंडल (या हमारे विश्व) पर उसका अनुरूप प्रभाव पड़ेगा—उस समय क्या होगा कहना कठिन है। एक देश या व्यक्ति जो इस पृथ्वी पर है उसके साथ वे बातें होंगी ही। देश या संसार जीवों या व्यक्तियोंका एक बहुत बड़ा घर या समुदाय है। हर व्यक्ति जो कुछ करता है उसका असर इकट्ठा होकर बड़ा महान् हो जाता है। इसे हम चूंकि जानते नहीं या जानना नहीं चाहते इससे अब तक इस विज्ञानसे हम वंचित रहे हैं। हम अपने भाग्यके प्रथमतः स्वयं निर्माण कर्ता हैं—व्यक्ति रूपमें भी और समष्टि रूपसे भी पुनः हम विश्वका एक क्षुद्रतम (बहुत छोटा) "कण या भाग होनेसे उन गतियों और प्रभावोंमें भी सर्वदा प्रभावित होते रहते हैं जो प्राकृतिक एवं विश्वमई हैं। इन प्रभावोंपर हमारा कोई वश नहीं— हम इनके चलाए चलते हैं और इसीको नियति या भवितव्यता भी कहते हैं। इनमें भी हमारे कर्मोंका भाग भी है पर चूंकि सारे विश्वका संचालन समष्टिरूपमें होता है। इससे हमारा अपना कर्म विश्वकी महानताके आगे इतना तुच्छ हो जाता है कि हम उसके आगे विवश रहते हैं। ग्रहों उपग्रहोंके प्रभावको छोड़कर बाकी समष्टिरूप संसारके भाग्यका निर्माण हर देश और हर व्यक्तिके किए कर्मोंके समुच्चय फल स्वरूपही बनता है। और यदि इस तरह एक देश दूसरे देश पर आक्रमण करके उसे तहस-नहस और बर्बाद करदे, वहां हिंसा द्वारा व्यक्तियोंकी एक बहुत बड़ी संख्या मारी जाय—बाकी लोग भी दुख और अभाव में रोते और कलपतेही रहें तो इससे तो संसारका "भाग्य" जो समष्टि रूपमें बनता है वह खराबही होगा। यदि हम संसारको या संसारके किसी भागको घृणामय, हिंसामय और दुखमय बनानेके बजाय प्रेममय और सुखमय बनावें तो संसारका भाग्यभी सुन्दर सुखद और भव्य होगा। इससे भविष्यभी अच्छा, उत्तम और शुभ होगा, एवं वर्तमानभी अशान्तिमय न होकर शान्तिमय होगा। संसारमें इस भव्यताके फलस्वरूप अच्छे-अच्छे काम और घटनाएं होंगी, प्राकृतिक उत्पात कम होंगे और लोग स्वतः स्वाभाविक और परसी उच्चता, महानता, सौम्यता और शुद्धताकी तरफ बढ़ते जायेंगे, प्रेम और सुख दिन ब दिन बढ़ेंगे और लोगोंकी नैतिक प्रगति नीचे न होकर उत्तरोत्तर "ऊर्ध्व" होगी। संसारमें पुनः "सत्ययुग" का आगमन होगा और तभी हम मानवताका उच्चतम ध्येय और आदर्शकी प्राप्ति-

कर सचमुच 'मानव' कहलानेके अधिकारी होंगे, अथवा मानव जन्मको सफल बनाने वाले कहे जायंगे। इसमें हर व्यक्ति हर देशका कर्तव्य है कि वह उच्चध्येय रखे और वैसाही आचरण करे। तभी संसारकाभी भला होगा और व्यक्तिका भी। परिस्थितियोंको हम इकट्ठा अपने कर्मोंसे निर्माण करते या उसमें फेर बदल करते हैं और पुनः व्यक्तियोंके कर्मों या आचरण पर भी कुटुम्ब, देश अथवा संसारकी परिस्थितियों का असर पड़ताही रहता है—हम कर्म करनेको केवल एक सीमित अर्थमें ही स्वतन्त्र हैं अन्यथा हमें समाज और देश या संसारमें रहकर एक व्यवस्था या नियमका पालन करना पड़ता है। इसके अलावा भी अपने चारों तरफके वातावरण और राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियोंके अनुकूल व्यक्तिको अपनी रीति नीति-आचार व्यवहार जरूरत मुताबिक बनाना पड़ता है। इस तरह अखिल मानव-समुदाय एक दूसरेसे विश्वव्यापी रूपमें गुंथा हुआ है। कोई अकेला नहीं है। सब सबसे घिरे हुए हैं। ऐसी हालतमें यदि रूस और अमेरिका अपने अपनेको 'इकला' समझ एक दूसरेकी हानि करें तो यह मूर्खता और स्वयं अपनी हानि करना ही होगा। दोनोंका भला एवं सबका भला केवल सुलह, समझौता, प्रेम और मेलमें ही है और होगा। हमारी तो यही प्रार्थना है कि दोनों अपने विभिन्न 'वादों' (Isms) की विपरीतताका ख्याल न करते हुए 'मानवता' के हित के लिए और उसमें सन्निहित अपने हितके लिए आपसमें सन्धि करलें और संसारसे युद्धकी विभीषिकाको मिटाकर शान्ति स्थापित करें। ॐ शान्तिः

नोटः—यहाँ विश्वका भाग्य या मानव इत्यादिके भाग्यके विषयमें विशेष व्याख्या देना सम्भव नहीं—यहाँ तो संकेतमात्र दिया गया है पाठक इसे ऐसाही समझें—पूर्ण न समझें। लेखमें दीगई बहुतसी बातोंके खुलासाके लिए मेरे २ लेख देखें:—१ अंग्रेजीमें 'Peace, Politics & Ahinsa' जो Voice of Ahinsa नाम पत्रिकाके जुलाई-अगस्त, १९५१ के अंकमें प्रकाशित हुआ है—जैन ट्रैक्ट रूपमें भी छपा है—पत्रिका और ट्रैक्ट-विश्व जैन मिशन अलीगंज, एटा, उत्तर प्रदेशसे मिल सकते हैं; २ हिन्दी में 'जीवन और विश्व के परिवर्तनों का रहस्य' जो 'अनेकान्त'—वर्ष १०—किरण ४-५ में प्रकाशित हुआ है।

गीताका स्वधर्म

(प्रो० देवेन्द्रकुमार जैन एम०ए०)

गीतामें कहा है कि "अपने धर्म पर मर मिटना" बड़े श्रेयकी बात है, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' पर यह अपना धर्म क्या है, और भिन्न २ युगोंमें इसका अर्थ कितना बदला, इसका विचार बहुत कम हो चुका है, सचमुच यह "स्वधर्म" प्रत्येक नवीन-विचारधाराको रोकनेके लिए ढालका काम देता रहा है, इसलिए यहां इस बातकी छान-बीन बहुत आवश्यक है कि गीताका यह "अपना धर्म" क्या है, और आजकी परिस्थिति में अपनानेका क्या हित है।

गीताका दृष्टिकोण

गीता स्वतंत्र विचार प्रधान ग्रंथ न होकर एक धर्म प्रधान है, इसके वक्ता हैं "श्रीकृष्ण" और श्रोता अर्जुन। युद्ध विमुख अर्जुनको युद्धमें लगाना ही इसका मुख्य लक्ष्य है? गीताकारका वर्ण-व्यवस्था, ईश्वर और भक्तिमें पूरा विश्वास है, सृष्टिके विषयमें उसका कहना है कि चाहे उसे सांख्यमूलक मानो, या योगमूलक, दोनोंका अंतिम लक्ष्य है "भगवान्में लय हो जाना"! गीतामें धर्म और कर्म शब्दोंका व्यवहार एक अर्थमें हुआ है, अतएव स्वधर्म या स्वकर्म पर मर मिटना एक ही बात है। अर्जुन स्वजनोंकी हत्या और पापके डरसे युद्धमें भाग नहीं लेना चाहता था, उसने साफ शब्दोंमें गोविंदसे कह दिया था कि मुझे राज्य और भोग नहीं चाहिए। इसका समाधान करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं,—अर्जुन तुम क्षत्रिय हो, लड़ना तुम्हारा

जन्मजात* कर्म या धर्म है, अपने इस धर्म पर मर मिटना ही श्रेयकी बात है, क्योंकि दूसरोंका धर्म भयावह होता है, डरावना। अर्जुन शायद सन्यास ग्रहण करना चाहता था, पर यह तो उसके लिए परधर्म था, क्योंकि संग्राम जैसे धर्म युद्धको छोड़कर क्षत्रियके लिए कल्याणकी दूसरी—बात नहीं हो सकती।

ऐतिहासिक-परिस्थिति

गीताके इस दृष्टिकोणको समझनेके लिए तत्कालीन-परिस्थितिको देखें। गीताकारके समय, भारतीय समाजमें बहुत उथलपुथल हो रही थी, प्रवृत्ति-निवृत्ति, हिंसा-अहिंसाको लेकर तरह २ की विचार धाराएँ चल रही थीं, श्रमण विचारक, वर्ण व्यवस्थाके विरुद्ध क्रांति कर रहे थे, सभी वर्णोंकी जनता मुक्तिके लिए सन्यास मार्गको अपना रही थी, गीताकारके सामने प्रश्न था कि पुरानी वर्ण व्यवस्थाके भीतर नये आचार विचारको कैसे पचाया जाय, इसके लिए उसने सिद्धान्त निकाला "अनासक्त कर्मभोगे। गीताका कहना है कि इसके पालन करनेसे लोकव्यवस्था भी नष्ट नहीं होती और मुक्ति भी मिल जाती है, बीज बना रहता है और मनुष्य जन्म-मृत्युके महान् भयसे मुक्त हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य अपने जन्मजात वर्णके कर्मको करता हुआ भी सिद्धि पा ही लेता है, अनासक्तभावसे जो अपने 'कर्म' को करता है, उसे मैं उसी रूपमें भजता हूँ, अंतमें सबका लय मुझमें ही है×। गीतामें जो फलमें अनासक्त होनेकी बात कही गई है, वह लौकिक फलको लक्ष्यमें रखकर ही। यदि लौकिक फल में हमारी आसक्ति होगी—तो फिर अच्छे फलको आकांक्षाको हम अच्छे वर्णोंके कर्मको अपना सकते हैं, और इससे वर्ण-व्यवस्थाको आघात पहुँच सकता था। इसीलिये गीतामें वर्ण-विभागका आधार गुण और कर्म दोनोंको माना गया है। बुद्ध महावीर वर्ण विरोधी विचारों और विरागमूलक धर्मोंकी छाप अनासक्ति कर्म योग पर अवश्य है।

वर्ण-व्यवस्थाका आधार

शुरूमें वर्ण-व्यवस्था—आर्य-अनार्य या दासोंके मिलनेकी सामाजिक भूमिका थी, आर्योंने अनार्योंको मिलाया तो, पर अलग शूद्र वर्ण देकर, गीतामें भी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंकी गिनती तक समस्त पदमें है "ब्राह्मण क्षत्रिय विशाँ" और शूद्रोंकी अलग "शूद्राणां च पर तपः"। वैदिकयुगमें सम्पूर्ण जनता 'विशः' कहलाती थी, धीरे २ उनमेंसे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य फूटे पर शूद्र उनसे अलग थे, भारतीय साहित्यमें ये कभी दास बने और कभी अन्त्यज। गाँधी युगमें इन्हें 'हरिजन' कहा गया। गीतामें इन्हें आध्यात्मिक मुक्तिका लालच दिया गया है, और वह यह कि अपना कर्म करते हुए भी तुम अन्तमें मुझमे ही लीन हो जाओगे। गीतामें जो विभिन्न विरोधी मतोंका समन्वय मिलता है, वह भी इस लोकव्यवस्थाको बनाये रखनेके लिये? गीता सांख्य-सिद्धांतको मानती है। पर ईश्वरके साथ वैदिकयज्ञोंके स्थानमें वह भागवतको मानती हैं, आचारप्रधान संयम, पर वह जोर देती है, पर देह-योगात्मक तपका वह विरोध करती है। इसका असली प्रयोजन है प्रत्येक वर्ण अपने कर्म-धर्मका आचरण अनासक्त भावसे करे, उसे मुक्तिकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह भगवानके हाथमें है, और भगवानने ही गुण कर्मके आधार पर चारों वर्णोंको बनाया है। यही सृष्टिका बीज है, और जो इस बीजका पालन करता है, वह भगवान्का ही काम करता है। अन्तमें भगवान् उसे अपना ही लेंगे।

एक प्रश्न

'शब्द पुराने और अर्थ नया' भारतीय संस्कृतिकी विशेषता है। 'यज्ञ' शब्द इसका एक उदाहरण है, वैदिक युगमें 'यज्ञ' का कुछ अर्थ था और विनोबा जी के "भूमिदान यज्ञ" का अर्थ कुछ और है। हम लोग पुराने शब्दोंको जल्दी छोड़ना उतना पसन्द नहीं करते जितना उसे नया अर्थ दे देना, पर जब हम गीता प्रवचनमें 'स्वधर्म' का व्यवहार करते हैं तब क्या उसका पुराना अर्थ बदला जा सकता है? तिलकने स्वधर्मका अर्थ किया था 'स्व-विवेक व निश्चित् कर्तव्य'। गाँधीजीने इसी अर्थको मानकर 'अनासक्त कर्मयोग' की कल्पनाकी, गीतासे उसका संबन्ध

* अध्याय १८ श्लोक ४२, × अ० २ श्लोक ४८ अ० ९ श्लोक ११,

नहीं था, पर इससे कहीं अधिक इस शब्दके अर्थका अनर्थ हुआ है। कितनी ही स्त्रियाँ सतीत्वको स्वधर्म समझकर चितामें जल मरी, साम्प्रदायिक-दंगोंमें भी 'इसी स्वधर्म' की दुहाई दी गई? हम यह मान लेते हैं कि विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियोंमें गीताकारने स्वधर्मके नाम पर शूद्रोंको भी आध्यात्मिक मुक्ति देनेका आश्वासन दिया, पर क्या आजकी परिवर्तित परिस्थितिमें सामाजिक एवं—आर्थिक स्वतंत्रताके लिए भी "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" का सहारा लिया जा सकता है? यह बात राजनैतिक दृष्टिसे ही नहीं—सांस्कृतिक दृष्टिसे भी विचारने योग्य है।

नरसिंह बाड़ी अल्मोड़ा } २०-६-५२

विरोध और सामन्जस्य ×

(प्रोफेसर डा० हीरालाल जैन, नागपुर)

विद्वत्समाजमें अब यह बात स्वीकृत हो चुकी है कि भगवान महावीरने कोई नया धर्म स्थापित नहीं किया, किन्तु उन्होंने एक प्राचीन प्रचलित धर्मका पुनः संस्कार किया❀। उस प्राचीन धर्मके अनुयायी 'श्रमण' कहलाते थे। श्रमणोंका एक यति-सम्प्रदाय था जिसका वैदिक सम्प्रदायके 'ब्राह्मणों' से अनेक मौलिक बातोंमें मतभेद था। श्रमण 'चातुर्याम' अर्थात् चार संयमोंका पालन व प्रचार करते थे। ये चार संयम थे—अहिंसा, असृषा, अचौर्य और अबहिस्थादान। जब महावीर इस श्रमण सम्प्रदायमें प्रविष्ट हुए तब उन्होंने देखा कि श्रमणोंका आचरण न तो पूर्णतः परिग्रह रहित है और न आकुलतासे मुक्त। इसलिये उन्होंने चतुर्थ संयम अर्थात् अबहिस्थादान (बहिस्थादानाओ वेरमणं) को दो स्वतन्त्र व्रतोंमें विभाजित कर दिया—एक अमैथुन और दूसरा अपरिग्रह। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि अमैथुन अर्थात् ब्रह्मचर्यका इससे पूर्व श्रमणों द्वारा पालन नहीं किया जाता था। यथार्थतः तो परिस्थिति यह थी कि चारित्रका सारा भार इसी स्त्री-परित्याग रूप अबहिस्थादान पर था। स्त्रीका परित्याग हो जानेपर श्रमणके लिये अन्य परिग्रहोंके सम्बन्धमें उतनी कड़ाई नहीं रहती थी। महावीर स्वामीने जो अमैथुन या ब्रह्मचर्यको एक स्वतंत्र व्रत बतलाया, इससे उनका प्रयोजन यह था कि अमैथुन या स्त्रीपरित्याग मात्रसे ही बहिस्थादान विरम व्रतकी परिपूर्णता नहीं समझना चाहिये, किन्तु इस व्रतका न्यायतः परिपालन तो तभी हो सकता है जबकि बाह्य समस्त परिग्रह, यहां तक कि अल्पसे अल्प वस्त्रका भी पूर्णतः त्याग किया जाय। इसी आदर्शके अनुरूप उन्होंने बाईस परीषहोंका भी सुसंगठन किया जिनका पालनभी श्रमणके लिये अनिवार्य ठहराया गया ÷। इस प्रकार उनके अनुयायी सच्चे 'निर्ग्रन्थ' बन गये, वे 'अचेल' भी कहलाने लगे और वे प्राचीन चातुर्याम श्रमण सम्प्रदायसे पृथक् हो गये।

भगवान महावीरके पट्ट शिष्य गौतम गणधर एक उक्त चातुर्याम सम्प्रदायके नायक श्रमण केशीको यह बात समझानेमें सफल हुए कि महावीरने जो विशेषता उनके धर्ममें उत्पन्न की वह उस प्राचीन सम्प्रदायके न केवल विरुद्ध ही नहीं थी, किन्तु उससे उस प्राचीनधर्मका ही सच्चा मर्म और प्राण प्रकट किया गया है। इस स्पष्टीकरणसे वह चातुर्याम वाला पार्श्व सम्प्रदाय और महावीर भगवानका आचेलक सम्प्रदाय ये दोनों एकत्र हो गये और उन्होंने प्राचीन चार यामोंके स्थान पर पांच व्रतोंको स्वीकारकर लिया ×। इस सम्मेलनमें वस्त्रके सम्बन्धमें जो समझौता हुआ वह जान पड़ता है विकल्पके रूपमें हुआ, क्योंकि

❀Proceedings and Transactions of the 13th All India Oriental Conference 1946 Part II pp. 402 में छपे अंग्रेजी लेखका अनुवाद।

× केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भा० १, पृ १६० आदि।

÷ उत्तराध्ययन सूत्र २

× उत्तराध्ययन सूत्र ११

इसके पश्चात् हमें जिनकल्प अर्थात् अन्तिम जिन महावीर द्वारा उपदिष्ट 'नाग्न्य' और स्थविरकल्प अर्थात् प्राचीन चातुर्याम सम्बन्धी कल्प वस्त्र ग्रहण रूप आचारका प्रादुर्भाव हुआ दिखाई देता है। किन्तु यह समझौता स्वभावतः ही स्थायी नहीं हो सकता था, क्योंकि जो अचेलकत्व व नाग्न्यका कठिन व्रत पालन करते थे और जो इसका पालन नहीं कर सकनेके कारण अचेल तपस्वियों द्वारा हीन समझे जाते थे उन दोनोंके बीच समानताकी भावनाको स्थिर बनाना संभव नहीं था। भगवान् महावीरके पश्चात्की जो पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं उनके अनुसार यह सम्प्रदाय केवल तीन पीढ़ियों तकही सम्मिलित रह सका। इस सम्मिलित सम्प्रदायके नायक 'केवली' कहे गये हैं और वे क्रमशः तीनही हुए—गौतम, सुधर्म और जम्बू। तत्पश्चात् सम्प्रदायका नायकत्व विच्छिन्न हो गया और हमें पट्टावलियोंमें आचार्य परम्पराकी दो विभिन्न धारायें दिखाई देने लगीं। इनमें से एक आचार्य 'नन्दि' से प्रारम्भ होती है और दूसरी 'प्रभव' से। † इनदो शाखाओंके सम्बन्धमें हमें जो कुछ वृत्तान्त प्राप्त होता है उस परसे जाना जाता है कि इनमेंसे प्रथम शाखा 'जिनकल्पी' अर्थात् नग्न निग्रन्थोंकी थी और दूसरी 'स्थविर कल्पी' अर्थात् वस्त्रधारी श्रमणोंकी। किन्तु अभीतक दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंका सुदृढ रूपमें प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, क्योंकि इस समयके वृत्तान्तानुसार एक शाखाको छोड़कर दूसरी शाखामें प्रविष्ट होना कठिन नहीं था।

स्थविरकल्पी शाखाकी अपेक्षा जिनकल्पी शाखामें एक विशेष कठिनाई थी। नाग्न्य परीषहका सहन करना सरल नहीं था, विशेषतः उन श्रमणों द्वारा जो धनी गार्हस्थ जीवनसे आये थे, अथवा जिनके अङ्ग-प्रत्यंगमें कोई विशेष विकृति थी। और स्त्रियाँ तो नाग्न्यका पालन करही नहीं सकतीं। इन कारणोंसे जिनकल्पियोंकी संख्या स्थविर कल्पियोंकी अपेक्षा हीन रहती थी। इस कमीकी पूर्ति आर्य शिवभूतिने की, जिन्होंने, श्वेताम्बर स्थविरावलीके अनुसार, स्थविरकल्पको त्यागकर जिनकल्प ग्रहण किया था, तथा जिनका एकत्व मैंने मूलाराधनाके कर्ता शिवार्यके साथ अनुमान किया है। *

इस ग्रन्थमें मुनियोंके लिये नाग्न्यका नियम (उत्सर्ग) बतलाया गया है, और साथही यह अपवादभी बतलाया गया है कि 'महर्धिक' 'विकृताङ्ग' और 'स्त्रिया' वस्त्रभी धारण कर सकते हैं। इस प्रकार स्वयं जिनकल्पके भीतर भी कुछ विकल्पका व्यवहार होने लगा। *

किन्तु इस विकल्पमें ही पुनः भेदके बीज विद्यमान थे क्योंकि इसके कारण नाग्न्यका नियम न्यायतः स्खलित हो गया। यदि किसीभी कारण कोई विशेष व्यक्ति बिना नाग्न्यका पालन किये निर्ग्रंथताकी पूर्णताको प्राप्त कहे जा सकते थे, तो उसी प्रकार अन्य मुनिभी क्यों न वस्त्र धारण करते हुए पूर्ण श्रमण गिने जांय ? इस विषमताके कारण नाग्न्यके नियमका पालन करनेमें स्वयं जिनकल्पके भीतर शिथिलता आने लगी।

इस प्रकारकी परिस्थितिमें कुन्दकुन्दाचार्यने जिन कल्पका नायकत्व ग्रहण किया❀। उन्होंने उक्त समस्याका अन्तिम निपटारा करनेके लिए अपना ध्यान अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट आचारपर दिया, जिसके अनुसार नाग्न्यका प्राधान्य था। अतएव कुन्दकुन्दाचार्यने यह निर्णय किया कि नाग्न्यका परिपालन संयमीके लिए अनिवार्य और निरपवाद नियम है, तथा जो उसका पालन नहीं कर सकते उन्हें मुनिसंघमें रहनेका कोई अधिकार नहीं।

अब समस्या स्त्रियोंकी उत्पन्न हुई। उन्हें वस्त्रपरित्यागका उपदेश देना असम्भव था। अतएव उन्हें सवस्त्र अवस्थामें रहने दिया गया, किन्तु उनका आध्यात्मिक विकास अर्थात् गुणस्थान आर्यिकाओंमें ऊँचा नहीं माना जा सका। इस प्रकार अब स्त्रियोंके लिए पूर्ण संयमका सर्वथा निषेध कर दिया गया। वस्त्रके परित्यागके बिना संयम हो नहीं सकता × और संयमके बिना मुक्ति प्राप्त

---

† षट्खंडागम, भा० १ पृ० ६५ प्रस्तावना पृ० ३१, कल्पसूत्र स्थविरावली।

* शिवभूति और शिवार्य नागपुर यूनी० जर्नल, हा० ६. पृ० ६२.

* मूलाराधना ७९-८४

❀ जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय।

(A Hidden land mark in the history of gainism) B. C. law valume par II P. 57

× सूत्र पाहुड १०, १९, २०, २१, २७

करना असम्भव है, अतएव, न्यायतः स्त्रियोंमें मुक्तिकी योग्यताका भी निषेध करना पड़ा।

इस व्यवस्थाका परिणाम यह हुआ कि जिन आगमों-में पुरुष और स्त्री दोनोंमें आध्यात्मिक योग्यताका पूर्ण विकास स्वीकार किया गया था वे इस सम्प्रदायमें अमान्य हो गये। मुझे जान पड़ता है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें अंग ग्रन्थोंका सर्वथा लोप माने जानेका यह भी एक कारण है। यही नहीं, किन्तु स्वयं जिनकल्पियों द्वारा निर्मित षट्खंडागम जैसे शास्त्रभी कुन्दकुन्दाचार्यके मूल-संघमें अमान्य सिद्ध हुए।

इस विरोधका सामञ्जस्य प्रबकीवार आचार्य देव-नन्दिने किया, और संभवतः उनके इसी महान् कार्यके लिए वे 'पूज्यपाद'की सन्मान्य उपाधिसे भूषित किये गये। वे इतिहासमें पूज्यपाद नामसेही अधिक प्रसिद्ध हुए। उन्होंने उमास्वातिकृत तत्वार्थसूत्र पर अपनी 'सर्वार्थ-सिद्धि' नामक सुप्रसिद्ध टीकामें भावस्त्री और द्रव्यस्त्रीका भेद करके ✻प्राचीन आगमोंमें विहित मनुष्यनीके चौदहों गुणस्थानों और कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा उपदिष्ट स्त्रीमुक्ति-निषेधके विरोधका परिहार कर दिया।

पूज्यपादके इस सूत्रात्मक परिहारका मथितार्थ यह निकलता है कि एक पुरुष शरीरी मनुष्य भावसे स्त्री भी हो सकता है, और यही वह 'भाव स्त्री' है जिसमें मुक्ति-की योग्यता स्वीकारकी जा सकती है, क्योंकि वह वस्त्र परित्यागरूप संयमका पालन कर सकता है। किन्तु जिसकी अंग रचना स्त्रीरूप है वह 'द्रव्य स्त्री' न उक्त संयमका पालनकर सकती और न परिणामतः मुक्ति प्राप्त कर सकती। इस शोधके आधारपर पूज्यपाद जिनकल्पियों-के बीच विरोधको मिटाकर एकता स्थापित करनेमें सफल हुए। अब जिनकल्प और स्थविरकल्पकी शाखायें दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंके रूपमें दृढ़तासे पृथक् हो गई। दिगम्बर सम्प्रदायमें भावस्त्रीके भेदसे स्त्रीमुक्ति मानी जाने लगी और श्वेताम्बरोंमें बिना ऐसे किसी विकल्पसे।

✻तत्त्वार्थसूत्र १—७ टीका 'मानुषीणां पुन भाववेदनैव'; तथा १०—६ टीका 'त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः।

पूज्यपादके उपर्युक्त भावस्त्री और द्रव्यस्त्री भेदकी व्यवस्था विचारणीय है। मुक्तिकी प्राप्ति कर्म सिद्धान्तकी व्यवस्थानुसार मानी गई है। कर्मसिद्धान्तमें शरीर निर्माण-के जो नियम पाये जाते हैं उनमें उक्त प्रकारसे भावस्त्री और द्रव्यस्त्रीका भेद निर्माण होना सम्भव नहीं है। पूज्यपादके पश्चात् अकलंकदेव × और वीरसेन स्वामी—ने भी उक्त भेदके समर्थनका प्रयत्न किया है, किन्तु उनके प्रयत्नसे उक्त व्यवस्थाकी आंतरिक कचाईही प्रकट होती है ❀।

जैन संघके भीतरकी घटनाओंके इस संक्षिप्त परिचयसे स्पष्ट है कि जैनधर्मके प्राचीनतम ग्रन्थोंमें स्त्रीके चौदहों गुणस्थानों तथा मुक्तिका विधान पाया जाता है। किन्तु इस व्यवस्थाका संयमके लिये नाग्न्यकी अनिवार्यताका विरोध पाया जाता है, क्योंकि स्त्रियोंके लिये नाग्न्यका कहीं उपदेश नहीं है। इस विरोधका परिहार करनेके लिये अनेक प्रयत्न किये गये जिनमें अन्तिम प्रयत्न देवनन्दि पूज्यपादका था। उनके भावस्त्री और द्रव्यस्त्री भेदके द्वारा गत लगभग पन्द्रह शताब्दियों तक दिगम्बर सम्प्र-दायमें एकता बनी रही।

किन्तु कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्थाओंकी कसौटीपर परीक्षा करनेसे पूज्यपाद कृत उक्त भेद सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सिद्धान्तानुसार जीवकी भावात्मक प्रवृत्तियों द्वारा ही उसकी द्रव्यात्मक शरीर रचना होती है, जिसके फलस्वरूप स्त्रीवेदोदयी जीवके पुरुष शरीरकी रचना असम्भव है। इस परीक्षणका तात्पर्य यह निकलता है कि या तो स्त्रियों-में मुक्तिकी योग्यता स्वीकार की जाय, या फिर परम्परा-गत कर्म सिद्धान्तकी व्यवस्थाएं अस्वीकार कर दी जाँय। इस परिस्थितिसे बचनेका अन्य कोई उपाय नहीं ×।

× तत्वार्थ राजवार्तिक ८, ८, ४

— षट्खंडागम १, १, ६३ टीका

❀ 'क्या षट् खंडागम सूत्रकार और उनके टीकाकार वीरसेनाचार्यका अभिप्राय एकही है ?'

जै. सि. भा ११, १, पृ. ११

× सिद्धान्त समीक्षा (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई)

भगवान् पार्श्वनाथका किला

लेखक—श्री पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री

उत्तर प्रदेशके जिला बिजनौरमें नगीना नामका एक कस्बा है। वह उत्तरीय रेलवेकी मुरादाबाद–सहारनपुर लाइन पर स्थित है, रेलवे स्टेशन है और उधरसे आने-जाने वाली प्रत्येक गाड़ी वहाँ रुकती है।

नगीनासे आठ मीलकी दूरी पर एक बढ़ापुर नामका कस्बा है और बढ़ापुर से करीब ३–४ मील पर कासीपुरा या कासीवाला नामका एक गाँव है। नगीनासे २ मील पर मार्गमें खोह नामकी नदी पड़ती है। वहाँ तक पक्की सड़क है। खोह नदी पर पुल नहीं है। इससे बरसातमें इस नदीको पार करना कठिन ही है। दूसरे इस नदीका बहाव बहुत तेज होता है और इसकी तल-भूमि भी इकसार नहीं है अतः निश्चित जलमार्गसे जरा भी इधर-उधर होनेसे इसमें डूब जानेका भय रहता है। तीसरे इस नदीके जलमें पैर रखते हुए चले जानेमें तो कोई भय नहीं है किन्तु थोड़ी भी देर रुकनेसे पैरोंके नीचेसे रेत खिसकने लगता है और मनुष्य गहराईमें जाने लगता है। रास्ता बैल-गाड़ियोंका है। बरसात बीत जाने पर खोह उतर जाती है और तब तांगा और मोटर भी जा सकते हैं।

कासीवाला गाँवमें एक टीला है जो पारसनाथका किला कहलाता है। पहले यह स्थान बीहड़ जंगल था। किन्तु शरणार्थियोंके बस जानेसे वहाँ जङ्गलको काटकर जमीनको खेतीके योग्य बना दिया है और अब बड़े पैमाने पर खेती होती है।

गत वर्ष उक्त किलेसे एक जैन मूर्ति एक शरणार्थी भाईको प्राप्त हुई। जिलेके जैनियोंको पता लगा तो वे भी उसके दर्शनार्थ गये और उन्होंने उसकी कुछ व्यवस्था वगैरह भी की।

मैं भी जिला बिजनौरका निवासी हूँ। अतः अपने जिलेमें पारसनाथके किलेके नामसे प्रसिद्ध स्थान और उससे प्राप्त मूर्तिको देखनेकी उत्कण्ठा होना स्वभाविक ही है। मेरे जन्म स्थान नहटौरसे नगीना शायद ११ मील है। जिला बिजनौरमें नहटौर ही एक ऐसा स्थान है जहाँ जैनियोंकी संख्या जिलेके अन्य स्थानोंकी अपेक्षा सबसे अधिक है। यहाँके जैन भाई भी उत्साही हैं। उन्होंने जिले भरके जैन भाइयोंके सहयोगसे एक जैन हायर सेकेंड्री स्कूल स्थापित किया है, जो नहटौरके तीन स्कूलोंमें सर्वोत्तम माना जाता है। करीब दस हजार रुपया खर्च करके सोनेके कामका एक विशाल गजरथ बनवाया है, जिसकी प्रतिष्ठा जाड़ोंमें होने वाली है। नहटौरके कुछ भाई उक्त मूर्तिके बहुत ही भक्त हैं।

पिछले दिनों भारतीय दि० जैन संघके कार्यालयमें उनका एक पत्र आया, जिससे मालूम हुआ कि सरकार उस मूर्तिको कासीवालासे उठाकर देहली राष्ट्रपति भवन में ले जाना चाहती है। इससे जिला बिजनौरके जैनियोंमें और खास तौरसे नहटौरके कुछ जैन भाइयोंमें बहुत बेचैनी है। मेरे पास भी रजिस्ट्री-पत्र आया। मुझे नहटौर जाना था अतः मैंने एक बार मूर्तिके दर्शन कर लेनेका विचार किया। नहटौर जाने पर मालूम हुआ कि आजकल वहाँ जानेके लायक मार्ग नहीं है। किन्तु वहाँके कुछ भाईयोंका अत्यन्त उत्साह देखकर मैंने भी जानेका संकल्प कर लिया।

नहटौरसे नगीना तक हम लोग तांगोंसे गये और नगीनामें खा-पीकर सुबहके साढ़े नौ बजेके करीब बैलगाड़ीसे रवाना हुए। हम सब स्त्री-पुरुष १२-१४ थे और बैल गाड़ीमें ६–७ का ही स्थान था। अतः उतरते-चढ़ते चले। करीब शामके ३॥ बजे हम लोग कासीवाला पहुँचे। और मूर्तिके दर्शन किये। मूर्ति बहुत ही मनोज्ञ है। एक ही पत्थरमें तीन मूर्तियाँ अंकित हैं। बीचमें पद्मासन मुख्य मूर्ति भगवान महावीरकी है और उनके दोनों ओर भगवान नेमिनाथ और भगवान चन्द्रप्रभकी खड्गासन मूर्तियाँ हैं। तीनों मूर्तियोंके नीचे चिन्ह बने हुए हैं। मूर्ति पर १०६७ सम्वत् खुदा हुआ है जो विक्रम सम्वत् ही होना चाहिये। अतः यह मूर्ति एक हजार वर्ष जितनी प्राचीन है। मुझे तो उस मूर्तिमें वैसा ही आकर्षण प्रतीत हुआ, जैसा आकर्षण श्री महावीरजी (चान्दन गाँव) की मूर्तिमें है।

मूर्तिके दर्शन करनेके बाद हम लोग उस टीलेको

देखने गये जहांसे यह मूर्ति प्राप्त हुई है और जो पारसनाथका किला कहलाता है। किलेके भग्नावशेष बहुत दूर तक फैले हुए हैं। वर्षा ऋतुके कारण झाड़ियोंका झुण्ड उगा होनेसे हम उस स्थानको अच्छी तरहसे नहीं देख सके। फिर भी ऐसा तो प्रतीत होता ही है कि खुदाई होने पर उस स्थानसे अन्य भी जैन अवशेष प्राप्त हो सकते हैं।

कासीवाबाके शरणार्थी भाई भी इस प्रयत्नमें हैं कि वह मूर्ति वहाँसे न जाये। उनसे बात-चीत करनेसे मालूम हुआ कि इस मूर्तिके प्राप्त होनेके बादसे उनकी खेती अच्छी हुई है और जबकि दूसरे लोगोंकी खेतियाँ पानीके बिना सूख गईं उनके खेतोंमें पानीकी कमी नहीं हुई। किन्तु मूर्तिकी व्यवस्था वहाँ ठीक नहीं है। उनके झोंपड़ोंके बीचमें एक ऊँचेसे चबूतरे पर मूर्ति रखी हुई है। पहले उस स्थान पर छप्पर पड़ा हुआ था किन्तु उसमें आग लग गई। सारी बरसात मूर्तिके ऊपर ही बरसी है। जब हम पहुँचे तो मूर्तिके दोनों कोनोंमें दो राखियाँ लटक रही थीं। उन्हें हमने खोलकर अलग किया। उनका रंग मूर्ति पर जमा हुआ था।

मेरे विचारसे उस स्थान पर मूर्तिका रहना या वहीं उसकी व्यवस्था वगैरह करना तो उचित प्रतीत नहीं होता। वहांसे लाकर जिलेके ही किसी मन्दिरमें इस मूर्तिको विराजमान कर दिया जाये तो अच्छा होगा। मेरे मनमें एक प्रश्न बराबर उठता था कि पारसनाथके किलेसे पारसनाथकी मूर्ति निकलनी चाहिये थी, सो क्यों नहीं निकली। किन्तु इस यात्रासे मेरे उस प्रश्नका भी समाधान हो गया। हमारे साथियोंने बतलाया कि बड़ापुरमें एक पेड़के नीचे एक जैन मूर्ति बहुत दिनोंसे पड़ी हुई है। वह मूर्ति भी उसी किलेसे निकली थी।

बड़ापुर पहुंचकर हमने पेड़के नीचे पड़ी हुई उस विशाल काय पद्मासन मूर्तिको देखा। मूर्ति भगवान पार्श्वनाथकी है। किन्तु उसका चेहरा एकदमसे उखाड़ लिया गया है। जैसे ही हम लोग उस मूर्तिके दर्शनार्थ गये, मुहल्लेकी स्त्रियाँ, जो मुसलमान थीं, कहने लगीं, इसे उठाकर ले जाओ। उन्हींकी जबानी मालूम हुआ कि एक आदमी इस मूर्तिको पारसनाथ किलेसे उठवा लाया था। उसने इसका चेहरा तोड़ डाला। उसके घर में १६ प्राणी थे। थोड़े ही दिनोंमें सब चल बसे और अब उसका कोई नाम लेवा भी नहीं रहा। तबसे सब लोग डरने लगे हैं और मूर्ति वैसे ही पड़ी हुई है।

हिमालय पहाड़की उपत्यकामें जंगलके बीचमें स्थित पारसनाथका किला जैनधर्मके प्रसार पर एक ऐतिहासिक प्रकाश डालता है। आवश्यकता है कि पुरातत्वज्ञ विद्वान उस स्थानका निरीक्षण करके अपनी राय दें और उसके पश्चात् उस स्थानकी खुदाई कराई जाये। हम पुरातत्वके प्रेमियों तथा उदार दानियोंका ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं। खास करके दानवीर साहु शान्तिप्रसादजीका ध्यान हम इस ओर विशेषरूपसे आकर्षित करना चाहते हैं क्योंकि आप उसी जिलेके नर रत्न हैं।

(जैन सन्देशसे)

भेलसाका प्राचीन इतिहास

लेखक—राजमल मड़वैया—भेलसा

भेलसाके प्राचीन प्रसिद्ध नाम—भद्दलपुर, भद्रकावती, विदिशा, बैसनगर, आलमगीरपुर, भेलसा।

भद्दलपुरके समय

श्री १००८ दसवें तीर्थंकर श्री शीतलनाथके गर्भ, जन्म, तप, ३ कल्याणक यहाँ पर हुए। इस कारण यह पुण्य भूमि है। श्री रामचन्द्रजीका बनवासके समय शुभागमन। महाराजा विक्रमादित्यके समय कवि कालिदासने उदयगिरि पर गुफाओंमें बैठकर 'मेघदूत' काव्यकी रचना की।

पहाड़ी उदयगिरिका परिचय

पहाड़ पर २० गुफायें हैं। ये गुफायें ४ थी शताब्दी की बनी प्रतीत होती हैं। गुफा नं० १, १८, २० पहाड़की चोटी पर, बाकी उसकी तहमें बनी हुई हैं।

गुफा नं० १, २० दिगम्बर जैन समाजकी हैं। जिनमें

किशोरीलाल घनश्याम मशरूवाला

[ले०—बा० माईदयाल जैन बी. ए., (आनर्स) बी. टी.]

मंगलवार नौ सितम्बरको सायंकाल गांधीवादी नक्षत्र मण्डलका एक चमकता हुआ तारा भारत माताका सपूत, गांधीवादका व्याख्याकार, स्वतन्त्र विचारक, निर्भीक तथा स्पष्ट आलोचक और अंगरेजी, हिन्दी, गुजराती तथा मराठीका लेखक हमसे सदाके लिये विदा हो गया। राष्ट्र आज उसके शोकमें डूबा हुआ है। ये किशोरीलाल घनश्याम मशरूवाला थे।

श्री मशरूवालाजीका जन्म सन् १८९१ ईस्वीमें गुजरातके एक अत्यन्त धर्मपरायण कुटुम्ब में हुआ था, जो कि बादमें अकोलामें रहने लगा था। युवा अवस्थामें विचार संगठनकालमें श्री मशरूवाला पर प्रसिद्ध देशभक्त गोपालकृष्ण गोखले तथा ठोस रचनात्मक कार्यकर्ता ठक्कर बापाके विचारोंका बड़ा प्रभाव पड़ा था। जब उनकी आयु २५ वर्षकी थी तब वे वकालत कर रहे थे, उस समय वे गांधीजीके सम्पर्कमें आये। गांधीजीके विचारों तथा महान व्यक्तित्वसे मशरूवालाजी इतने आकर्षित हुए, कि देशके दूसरे सैकड़ों वकीलों और सरकारी नौकरोंके समान उन्होंने अपनी चलती वकालतको छोड़ दिया और गांधीजीके साथ साबरमती आश्रम चले गये। भारतमाताकी सेवाके लिये यह उनका महान् त्याग और व्रत था।

श्री मशरूवालाजीकी रुचि आरम्भकालसे शिक्षण कार्यकी ओर थी, इसलिए आश्रममें पहुँचकर उन्होंने राष्ट्रीयशालामें पढ़ानेका कार्य अपने ऊपर लिया। इसके पश्चात् गुजरात विद्यापीठके रजिस्ट्रारके पदको स्वीकार करनेकी प्रार्थना गांधीजीने उनसे की। सन् १९२१, ३० और ४२ में मशरूवालाजी अंगरेज सरकार द्वारा जेल भेजे गये। गांधीजीके स्वर्गवासके बाद उनके दोनों साप्ताहिक पत्रों 'हरिजन' अंग्रेजी और 'हरिजन सेवक' हिन्दीको सम्पादित करनेका उत्तरदायित्व मशरूवालाजीने अपने ऊपर लिया। और इस कामको बड़ी अच्छी तरह किया।

महात्माजीने रचनात्मक कार्यके लिए जो भी संस्थायें स्थापितकी मशरूवालाजी उनकी प्रबन्ध समितियोंके मुख्य सदस्योंमें से थे।

गांधीजीने तीन अवसरों पर मशरूवालाजीके सम्बन्धमें अपने 'यंग इण्डिया' और 'हरिजन' पत्रोंमें जो टिप्पणियां लिखीं जिनके कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं। इनसे मालूम होगा कि महात्माजी उनके बारेमें कितनी ऊँची सम्मति रखते थे।

"....वे बहुत पुराने कार्यकर्ता हैं। अभी हाल तक वे गुजरात विद्यापीठके रजिस्ट्रार थे और केवल बीमारीके कारण इन्हें इस पदको छोड़ना पड़ा। भारतवर्ष भरमें हमारे पास जो मूक कार्यकर्ता हैं, उनमें वह अत्यन्त विचारशील हैं। जो भी शब्द वे लिखते या बोलते हैं, उसे पहले तोलते हैं। 'यंगइण्डिया' २६ मई, १९२७।

एक और अवसर पर महात्माजीने २ मार्चके हरिजनमे लिखा था—मशरूवाला हमारे अनूठे कार्यकर्त्ताओंमें से एक हैं। वे अथक परिश्रमी हैं। वे अत्यन्त शुद्धात्मा वाले थे। छोटीसे छोटी बात भी उनकी दृष्टिसे नहीं बचपाती। वह एक दार्शनिक और गुजरातीके सर्व-प्रिय लेखक हैं। वह मराठीके इतने ही अच्छे विद्वान हैं जितने कि गुजरातीके। वह नस्ल, जाति तथा प्रान्तीय घमण्ड या पक्षपातसे विशेषरूपसे खाली हैं। वह एक स्वतन्त्र विचारक और सब धर्मोंके विद्यार्थी हैं। उनमें कट्टरताका निशान भी नहीं हैं, जो कामको अपने हाथमे ले लेनेके पश्चात् उनसे अधिक पारगामितासे करेगा।

श्री मशरूवालाजीके स्वर्गवास पर हमारे राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, श्रीविनोबा भावेजी और अन्य नेताओंने सम्वेदना तथा सहानुभूति-पूर्ण पत्र उनके सम्बन्धियोंको लिखे या वक्तव्य दिये। उनमे सबसे श्रेष्ठ प्रशंसा मुझे प्रधान मन्त्री जवाहरलाल जी और विनोबा भावेजीकी लगी। नेहरूजीने लिखा, 'इन सब कठिन दिनोंमें मशरूवालाजी उस सज्जनसमूहमे रहे,जो सामयिक घटनाओंके प्रवाहमें नहीं बहे बल्कि गांधीजीके संदेश पर सचाईसे डटे रहे।"

श्री विनोबा भावेजीने अपने लम्बे वक्तव्यमें तो मानो मशरूवालाजीके प्रति अपने हृदयकी समस्त सद्भावना और श्रद्धाको उंडेल दिया है। उन्होंने मशरूवालाजीको

आत्मज्ञानी कहा है। और विनोबा भावेजीके अधिक मशरूवालाजीको न कोई जानता था और न कोई इतना उनके सम्पर्क में रहा।

मशरूवालाजी ने कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें—The Purification of Life, The Fundamentals of Education, The Revolution from the Po..., An Epitome of Gandhian-Thoughts, 'अहिंसा' तथा 'महावीर और महात्मा बुद्ध' अधिक प्रसिद्ध हैं।

हमारे राष्ट्रपतिजीने ठीक ही कहा है कि इस क्षति-का पूरा होना कठिन है।

डिप्टीगंज, दिल्ली।

श्री सत्यभक्तजीके खास सन्देश

[ये सन्देश सत्यभक्त पं० दरबारीलालजीकी ५४वीं वर्षगांठ (जयन्ती) के अवसर पर हालमें उनके सत्याश्रमवर्धा २५ अक्टूबरसे प्रकाशित ... पत्रिकाद्वारा प्रचारित किए गये हैं अनेकान्त पाठकोंकी जानकारीके लिये इन्हें पत्रिका के शब्दों में ही यहाँ प्रकाशित किया जाता है— सम्पादक]

इस संसारको स्वर्गोपम (संयममय प्रेममय वैभवमय) तथा संसार बनानेके लिये, मनुष्यमात्रमें कौटुम्बिकता लानेके लिये पू. स्वामी सत्यभक्तजीका जीवन है। स्वामीजीने अपने असाधारण त्याग श्रम विद्वत्ता और प्रतिभासे जीवनके हरएक क्षेत्र (धर्म, समाज, राजनीति, अर्थशास्त्र, भाषाशास्त्र, संस्कृति आदि) में बड़े ही मौलिक सन्देश दिये हैं और योजनाएँ बनाई हैं, पचाससे ऊपर मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं, सर्वस्वका त्यागकर अपनी सम्पत्तिसे सत्याश्रम संस्था खड़ीकी है (जो सोलह वर्षोंसे काम कर रही है) देश विदेशमें हजारों मील भ्रमणकर निर्भयतासे सत्यका प्रचार किया है पैदल भी भ्रमण किया है, मानप्रतिष्ठा लाभकी पर्वाह किये बिना जनकल्याणकारी सत्यका सन्देश दिया है। सन्देशोंको जीवनमें उतारनेके लिये, उसे सामाजिक रूप देनेके लिये, सत्यसमाजकी स्थापना की है जिसकी शाखाएँ भारत और अफ्रिकामें जगह जगह हैं।

विश्वमात्रका कल्याण करने वाली इन योजनाओंको फैलानेके लिये एक निमित्त रूपमें जगह जगह सत्यभक्त जयन्ती प्रतिवर्ष मनाई जाती है। गतवर्ष अयोध्या (उत्तरप्रदेश) चांदा (मध्यप्रदेश) बार्शी (बम्बई प्रान्त) सरधन (मध्यभारत) उदयपुर (राजस्थान) करिया (बिहार) आदि स्थानोंमें सत्यभक्त जयन्ती मनाई गई थी। आप भी अपने यहाँ यह कार्यक्रम रखकर सत्यका प्रचार करें! अथवा यहाँ पधारकर इस प्रचारमें सहयोग दें, और इस अवसर पर जनकल्याणके लिये स्वामीजीको यथाशक्ति भेंट और श्रद्धाञ्जलि समर्पित करें।

स्वामीजीके खास खास सन्देश ये हैं—

१—धर्मोंने अपने युग और अपने क्षेत्रमें मानवताका पाठ पढ़ाया है। आज उनका अमुक अंश युगबाह्य हो सकता है पर उनने जो भलाई की उसकेलिए हमें सब धर्मोंका, उनके पैगम्बरोंका कृतज्ञ रहकर विवेकपूर्ण सर्वधर्म समभावी बनना है।

(इसकेलिये सत्यभक्तजीने सब धर्मोंकी मूर्ति तथा चित्रवाला सर्वधर्म समभावी सत्यमन्दिर सत्याश्रममें स्थापित किया है। सब धर्मोंके देवोंके नाम प्रार्थनाओंमें लिये जाते हैं, धर्मसमभाव जनसाधारणमें उतरे इसलिये अनेक व्यावहारिक योजनाएँ आपनेकी हैं साथही सर्वधर्म समभावका दर्शन और इतिहास भी निर्माण किया है।

२—मनुष्यमात्रकी एक जाति है। खानपान विवाहमें उनके योग्य गुणोंका ही विचार होना चाहिये। जातिपांतिके बन्धन तोड़ देना चाहिये। हरिजन आदि अच्छे नाम रखना भी बेकार है। इनसे जातीयता कायम रहती।

३—अन्धविश्वासों रूढ़ियों अलौकिक चमत्कारों आदिका त्याग करना चाहिये। तर्कपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिये। विश्वकल्याणकी कसौटीपर कसकर किसी बातपर श्रद्धा रखना चाहिये।

४ वैज्ञानिक या भौतिक उन्नतिसे ही मानव जातिका कल्याण न होगा, उसमें संयम ईमानदारी विश्वसनीयता और सहयोगकी भावना होना जरूरी है।

५—नारीत्वके कारण किसीके अधिकार कम न होना चाहिये।

६—श्रमको लघुताका नहीं महत्ताका चिन्ह समझना

चाहिये। और यह श्रम सूत्रभी याद रक्खो कि "श्रमका बदलाही श्रमका विश्राम है।

७—कमसे कम लेकर अधिकसे अधिक देना साधुता है। साधु संस्थाओंका निर्माण इसी कसौटी पर कसकर होना चाहिये और साधुओंको सब तरहकी जनसेवाकी जिम्मेदारी लेना चाहिये।

८—संसारको पतनशील या दुःखमय न मानना चाहिये, उसे उन्नतिशील और सुख स्वरूप मानना चाहिये। अवनति और दुःखको दुनियाकी बीमारी समझकर इलाज करना चाहिये।

(करीब डेढ़ सौ वर्षमें दुनिया कैसी स्वर्गोपम बन जायगी इसका सुन्दर चित्र आपने 'नया संसार'में खींचा है, जो कि सम्भव तथा उपन्याससे भी बढ़कर दिलचस्प है।

९—दानशीलता किसी व्यक्तिके जीवनकी शोभा हो सकती है पर राष्ट्रकी नहीं। राष्ट्रकी शोभा है ऐसी सामाजिक और कानूनी व्यवस्था जिससे हरएक मनुष्य श्रमके अनुरूप जीवन निर्वाहकी काफी सामग्री पा सके, किसीको भिखारी न बनना पड़े।

१०—मनुष्यमात्रकी एक मानवभाषा बनाना जरूरी है। राष्ट्रभेद प्रान्तभेद आदिकी भेदभावनामें भाषाभेदभी जबर्दस्त कारण है। मानवभाषा वैज्ञानिक आधारपर सरल और नियमोंके अपवादोंसे रहित होना चाहिये।

(आपने एक 'मानवभाषा' का निर्माण किया है जिसका पूरा व्याकरण ८-१० दिनमें याद हो सकता है, शब्दकोष धातुकोषभी सरल है। टेलीग्राफी और लिपिका भी अच्छा संशोधन किया है।)

११—हमारा ध्येय एक मानवराष्ट्र या पृथ्वी राष्ट्र है। आजके राष्ट्रोंको प्रान्त बनाना है। ऐसीही उदार मनोवृत्ति और व्यवस्थाका विकास करना है जिससे मानवराष्ट्र बने।

१२—युद्धोंको गैरकानूनी ठहराना है। विश्वभरका एक निष्पक्ष और समर्थ न्यायालय बनाना है।

१३—देशके राजनैतिक दलोंमें प्रतिस्पर्धा भलेही रहे पर उनमें शत्रुता न हो, झूठी निन्दाकी वृत्ति न हो, परस्परमें असभ्य व्यवहार न हो, मतभेदको छोड़कर बाकी बातोंमें तथा देशके संकटके समय परस्पर सहयोग हो।

१४—निरतिवादके स्थानपर समाजवाद और व्यक्तिवाद (पूंजीवाद) के गुणोंका समन्वय करना है। दोनोंमें कुछ-कुछ गुण हैं, कुछ-कुछ दोष हैं। यथा शक्य दोनोंके गुण अपनाना है।

१५—चुनावको न्यायोचित बनाना है। चुनावमें धन और बदमाशीके द्वारा योग्यता गुण सेवा ईमान पराजित न हो ऐसी व्यवस्था करना है। जो विचारधारा देशमें अल्पमतमें है उसको भी उसके अनुरूप प्रतिनिधित्व मिले ऐसी कोशिश करना है।

(तृतीय निर्वाचन प्रणालीके नामसे आपने एक ऐसी प्रणाली बनाई है जिससे छोटेसे छोटे दलके साथभी अन्याय न होगा। आज तो हर एक चुनाव क्षेत्रमें कोई दल चालीस फीसदी हो तो साठ फीसदी वाले दलसे सब जगह हारकर प्रान्तमें इसका प्रतिनिधित्व शून्य फीसदी हो सकता है। आपकी बनाई प्रणालीसे यह अन्धेर दूर हो जाता है।

१६—शासकमण्डल योग्यसे योग्य आदमियोंका बने और उसमें चलतेपुर्जे न घुस जाया करें ऐसी व्यवस्था करना है। इसके लिये संविधानमें काफी संशोधन करना है। मन्त्रिमण्डल निर्माणका तरीका नया बनाना है।

(ये सब बातें लेखों और पुस्तकोंमें बताई हैं)

१७—शासन संस्था ऐसी सात्विक बनाना है कि किसी ईमानदार आदमीको न उससे भय हो न उसका अपमान हो शासक सहयोगी और सेवकके रूपमें देखा जाय। साधारण अजानकारीसे जनताका अपमान न हो।

१८—दुनियामें मनुष्योंकी भीड़ है। पर हर मनुष्य अकेला है, असहाय है, संकटमें उसे किसीका भरोसा नहीं, ऐसी स्थितिसे प्रत्येक मनुष्यका पिंड छुड़ाना है।

१९—अहिंसा सत्य ईमान शील आदि धर्मके रूपोंमें पूर्ण व्यवहारिकता लाना है और उन्हें समाजके अधिकसे अधिक व्यक्तियोंके जीवनमें उतारना है।

२०—'मैं इसी दुनियामें एक ऐसे संसारके दर्शन करना चाहता हूँ जिसमें न साम्राज्यवाद हो न पूंजीवाद, न धर्मके झगड़े हों न जातिके, न धनकी महत्ता हो न पशुबल की, सारी दुनियाका एक राष्ट्र हो, मनुष्यमात्रकी एक जाति हो, नर नारीका अधिकार और सम्मान समान हो, सत्य ही ईश्वर हो विवेक ही शास्त्र हो, विज्ञान और धर्म परस्पर पूरक हों, सदाचार और ईमानदारी लोगोंका स्वभाव हो एकका दुःख सबका दुःख हो, सारे विश्वका एक कुटुम्ब हो, कोई गरीब न हो। सत्य समाजके द्वारा मैं ऐसेही नये संसारकी तरफ इस संसारको ले जाना चाहता हूँ। नये संसारका निर्माणकर सत्य समाजको विलीन हो जाना है।'

स्व-पर गुण पहिचान

(कविवर देवीदास)

स्व-पर गुण पहिचानरे, जिय स्व-पर गुण पहिचान रे।
सत् परम पुरुष महानरे, जिय स्व-पर गुण पहिचान रे॥

तू सुछंद अनिंद्य मन्दिर पद अमूरत वान।
मन वचतन-धनको पसारो, सो सकल पर जान॥१॥

चेतनागुण चिन्ह तेरो, प्रगट दरशन ज्ञान।
जड़ स-परसादिक सुमूरति, पुद्गलोक दुकान॥२॥

नरक-नर-पशु-देव पदवी, धरि सुभरम भुलान।
कर्मकी रचना सबै तू, कर्मको करतान॥३॥

नांहि तेरे क्रोध माया, लोभ-मोह न मान।
नांहि पुन तेरे चतुर्दश, मार्गणा गुणठान॥४॥

पंच दर्व शरीर आदि, सुजड़ अचेत अयान।
तैं समस्त सुतत्त्व ज्ञायक, सहज सुक्ख निधान॥५॥

हौ अजान हो रह्यौ कहा, करि मोह-मदिरा पान।
खोज अंतर्दृष्टिसौं पद, आदि अन्त पुराण॥६॥

आपनौ निरधार करि तू, निज शरीर सुथान।
स्वाद करि अनुभौ महारस, परम अमृत खान॥७॥

सहज शुद्ध स्वभाव तेरौ, मिलै जब तोहि आन।
होय भाग्यवली सु-देवीदास कहत निदान॥८॥

विश्वमें महानतम

(हिन्दुस्तान से)

सबसे ऊँचा पर्वत शिखर—गौरी शङ्कर (२९००२ फुट)

सबसे बड़ा रेगिस्तान - सहारा (३५ लाख वर्गमील)

सबसे ऊँचा भवन—सोवियट पैलेस (१३६५ फुट)

सबसे बड़ा राजभवन — वैटिकन पैलेस (पोप नगरी, रोम)

सबसे बड़ा जहाज—क्वीन एलिजाबेथ (८३७३ टन)

सबसे ऊँची मूर्ति—मुक्ति की मूर्ति न्यूयार्क (१५१ फुट)

सबसे बड़ा हीरा—कुलीलन (६०० कैरेट)

सबसे बड़ा मोती—बैरेस्फोर्ड-होप (१००० ग्राम)

सबसे बड़ा दूरवीक्षक—पालोमर वेधशालामें है, जिसका लेंस २०० इञ्च है।

सबसे लम्बी रेलवे - लाइन—रिगासे ब्लाडिवास्टक तक (६००० मील)

सबसे लम्बा प्लेटफार्म—सोनपुर, बिहार (२४१५ फुट)

सबसे बड़ा रेलवे-स्टेशन—ग्राण्ड सेंट्रल टर्मिनल, न्यूयार्क (४७ प्लेट फार्म)

सबसे बड़ा गुम्बद-गोल गुम्बद, बीजापुर व्यास १४४फुट

सबसे लम्बा दालान—रामेश्वरम मन्दिर ४००० फुट

सबसे बड़ा कार्यालय—पैंटागोन कार्यालय, अमेरिका जिसमें ६० लाख वर्गफुट फर्श है और जहां ३२००० कर्मचारी काम करते हैं। उसके दालानों की लम्बाई ही १७ मील है।

सबसे ऊँचा वृक्ष—जायण्ट सिकोइया (हैम्बोल्ट स्टेट पार्क, केलीफोर्निया), जो ३६४ फुट ऊँचा है और जिसकी लकड़ी का भार ५५॥ हजार मन होनेका अनुमान है।

सबसे वृहद् घण्टा—मास्को का घण्टा, जो १७३३ ई० में ढाला गया था, वह २१ फुट का ही है। उसका भार ५५५५० मन है।

देहलीमें वीर-सेवा-मंदिर ट्रस्टकी मीटिंग

आज ता० २०-१०-१६५२ दोपहरको २ बजे ला० राजकृष्णजी जैनके निवास स्थान नं० २३ दरियागंज, देहलीमें ट्रस्टियान वीर-सेवा-मन्दिरकी एक मीटिंग हुई, जिसमें निम्न-महानुभाव उपस्थित थे।

१—श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ट्रस्टी।
२—बाबू जय भगवान्जी एडवोकेट।
३—ला० जुगलकिशोर जी कागजी।
४—ला० राजकृष्णजी (विशेषरूपसे आमंत्रित)
५—बाबू जिनेन्द्रकिशोरजी (,,)

निम्न प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हुए:—

१—वीर-सेवा-मन्दिरके ट्रस्टियोंकी यह मीटिंग बा० नानकचन्दजी रिटायर्ड एस० डी० ओ० सरसावा, ट्रस्टी वीर-सेवा-मन्दिरके आकस्मिक निधन पर शोक प्रस्ताव करती है तथा उनके कुटुम्बियोंसे उनके इस वियोग जन्य दुःखमें हार्दिक समवेदना प्रकट करती है।

इस प्रस्तावकी एक कापी उनके पुत्र डा० अमरचन्दजी सरसावाके पास भेजी जाय।

२—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि बाबू नानकचन्दजीके रिक्त स्थान पर डा० श्रीचन्दजी जैन संगल एटाको ट्रस्टी चुना जाता है।

३—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टके निम्न तीन व्यक्ति ट्रस्टी चुने गए—ला० राजकृष्ण जी, बा० जिनेन्द्रकिशोर जी देहली और सेठ छदामीलालजी फिरोजाबाद।

४—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि वीर-सेवा-मन्दिरके भावी कार्यक्रमकी रूप-रेखा बा० जय भगवान जी एडवोकेट पानीपत तय्यार करें।

५—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि बा० नेमचन्दजी वकील सहारनपुरका मन्त्रीपदसे स्तीफा पेश हुआ जो सर्वसम्मतिसे पास हुआ और उनके स्थान पर बाबू जय भगवानजी एडवोकेट पानीपत मन्त्री चुने गए।

६—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि लाला राजकृष्णजी वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टके कार्यालयकी व्यवस्था व निरीक्षण करते रहें।

७—ट्रस्टियोंकी यह मीटिंग प्रस्ताव करती है कि वीर-सेवा-मन्दिरको सुव्यवस्थित करने और ट्रस्टके उद्देश्योंकी पूर्ति करनेके लिये रजिस्ट्रेशन सुसाइटीज एक्टके अनुसार रजिष्ट्री कराया जाय, और उसका सब विधान बाबू जय भगवानजी जैन एडवोकेट पानीपत बनाकर तय्यार करेंगे।

८—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि इस संस्थाके काममें वीर निर्वाण संवत्को व्यवहारमें लाया जाय।

९—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि वीर-सेवा-मंदिरका स्थायी दफ्तर देहलीमें रहेगा।

१०—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि इस संस्थाके निम्न कार्योंके लिये यथा साध्य योग्य विद्वानोंकी योजना की जाय।

१—अनेकान्त सम्पादन।
२—जैन ग्रन्थोंका अंग्रेजीमें अनुवाद।
३—पुरातत्वकी खोज और तत्सम्बन्धी साहित्यका प्रकाशन।

११—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि दरियागंज नं० २१ में जो जमीन हालमें बा० छोटेलालजी व नंदलालजी कलकत्ताने अपनी स्वर्गीया माताजीकी ओरसे ४० हजारमें संस्थाको खरीद करवा दी है उसके लिये यह कमेटी उन दोनों सज्जनोंको हार्दिक धन्यवाद प्रदान करती है। और यह आशा करती है कि उनका कमेटीको हार्दिक सहयोग सदा प्राप्त होता रहेगा।

१२—यह कमेटी प्रस्ताव करती है कि वीर-सेवा-मंदिरके दफ्तरके लिये ला० राजकृष्णजी जैन देहलीने एक वर्षके लिये बिना किसी किरायेके जो मकान दिये हैं उनके लिये यह ट्रस्ट कमेटी उन्हें धन्यवाद प्रदान करती है।

—बा० जयभगवानजी एडवोकेट
मन्त्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट

वीरसेवामन्दिरके चौदह रत्न

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से विभूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञसटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य प० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त सजिल्द।

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द।

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित।

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थ-परिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादित-सहित। ... ... ॥।)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। .. ... ।)

(१३) अनित्यभावना—श्रीपद्मनन्दी आचार्यकी महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। ... ... ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त ... ।)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३७॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

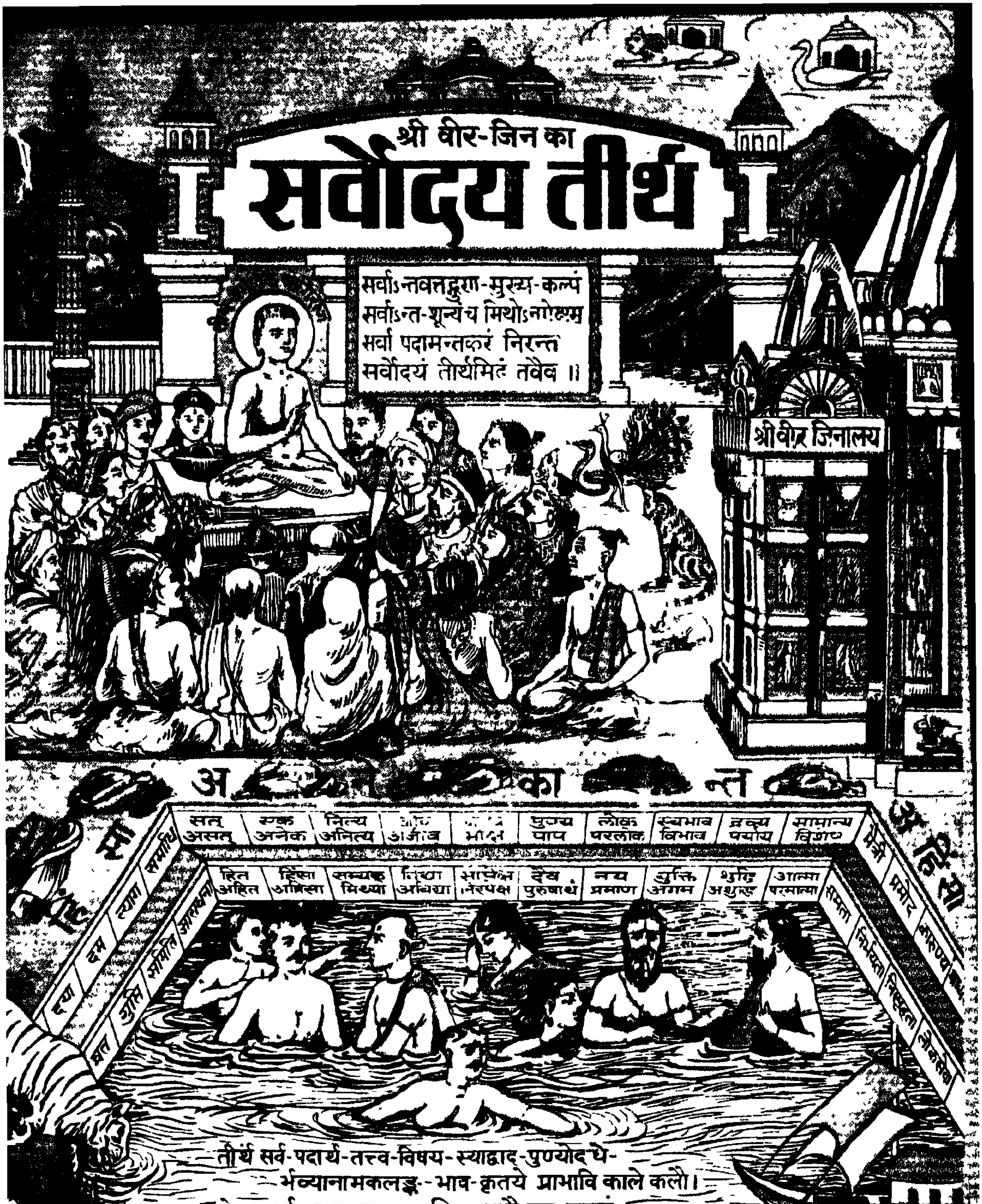
'अनेकान्त' पत्रको स्थायित्व प्रदान करने और सुचारू रूपसे चलानेके लिये कलकत्तामें गत इन्द्रध्वज-विधानके अवसर पर (अक्तूबरमे) संरक्षकों और सहायकोंका एक नया आयोजन हुआ है। उसके अनुसार २५१) या अधिकको सहायता प्रदान करने वाले सज्जन 'संरक्षक' और १०१) या इससे ऊपरकी सहायता प्रदान करने वाले 'सहायक' होते हैं। अब तक 'अनेकान्त' के जो 'संरक्षक' और 'सहायक' बने हैं—उनके शुभ नाम निम्न प्रकार हैं :—

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन ,,
२५१) बा० मोहनलाल जी जैन ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदास जी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द्रजी (V.R.C.) जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) सेठ बल्देवदासजी जैन ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसाद जी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमल जी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्द्र जी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलाल जी जैन, फीरोजाबाद
२५१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली

२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाचकम्पनी, देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, ,,
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्द्रजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी ,,
१०१) बा० काशीनाथ जी, कलकत्ता ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलाल जी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चाँदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री श्रीमाला देवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्र जी जैन 'संगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी ठेकेदार, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

परमानन्द जैन शास्त्री द्वारा धूमीमल धर्मदास, चावड़ी बाजार, देहली। मुद्रक—नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, १० दरियागंज, देहली


श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
हित अहित
हिंसा अहिंसा
नय प्रमाण
आत्मा परमात्मा
दया
दम
त्याग
व्रत
मैत्री
प्रमोद
समता
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

लेखकों और कवियोंसे

जैन समाजके मूलभूत सिद्धान्तोंका व इतिहासका प्रचार करने वाला तथा पुरातत्त्व शिलालेखों आदिका परिचय कराने वाला प्रमुख पत्र 'अनेकान्त' जैन समाजके लेखकों व कहानीकारकों और कवियोंसे अपनी२ रचनाएँ भेजनेके लिये आह्वानन करता है।

अतः लेखक कहानीकार और कवि बन्धु साहित्यिक सैद्धान्तिक, रचनाएँ अनेकान्तमें भेजकर जैनधर्मके प्रचार व प्रसारमें अपना पूर्ण सहयोग देनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—अनेकान्त
१ दरियागंज देहली।

भ्रम निवारण

अनेकान्त वर्ष ११ किरण ७-८ में 'विरोध और सामंजस्य' नामका डा० हीरालालजी नागपुरका जो लेख बिना किसी सम्पादकीय टिप्पणीके छपा है उससे अनेकांत पाठकोंको ऐसा भ्रम हो गया है कि क्या अनेकान्तके संचालक भी उस लेखकके मन्तव्योंसे सहमत हैं? इस विषयमें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अनेकान्तके संचालक उस लेखकके मन्तव्योंसे सहमत नहीं है। जो विद्वान् डा० साहबके लेखका संयत भाषामें प्रामाणिक उत्तर देंगे वह अनेकान्तमें प्रकाशित कर दिया जायगा।

व्यवस्थापक—'अनेकान्त'

वार्षिक मूल्य ५)

विश्वतत्त्व-प्रकाशक

अनेकान्त

वस्तुतत्त्व-संद्योतक

इस किरण का मूल्य ।।)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११ किरण ६	वीरसेवामन्दिर, अहिंसामन्दिर बिल्डिंग १, दरियागंज, देहली ार्गशीर्ष शुक्ल, वीर नि० सं० २४७९, वि० सं० २००९	नवम्बर १९५२

श्रीवर्द्धमान-स्तवनम्

(अज्ञातकर्तृकं)

सजल-जलधि-सेतु-र्दुःखविध्वंसहेतु-र्निहतमकरकेतु-र्वारितानिष्टहेतुः ।
क्वणितसमरहेतु-र्नष्टनिःशेषधातु-र्जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ १ ॥
समयसदनकर्ताऽसारसंसारहर्ता, सकल-भुवनभर्ता भूरिकल्याण-धर्ता ।
परमसुखसमर्ता सर्वसन्देहहर्ता, जयति जगति-चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ २ ॥
कुगतिपथविनेता मोक्षमार्गस्य नेता, प्रकृति-गहन-हन्ता तत्त्वसंघातवेत्ता ।
गगनगमनगन्ता मुक्तिरामाभिकान्तो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ ३ ॥
सजलजलदनादो निर्जिताशेषवादो, यतिवरनुतपादो वस्तुतत्त्वज्ञगादः ।
जपति भविकवृन्दो नष्टकोपाग्निकन्दो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ ४ ॥
प्रबलबलविशालो मुक्तिकान्तारसालो, विमलगुणमरालो नित्यकल्लोलमालः ।
विगतशरणशालो धारितस्वच्छभालो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ ५ ॥
मदनमदविदारी चारुचारित्रधारी, नरकगतिनिवारी स्वर्गमोक्षावतारी ।
विदितभुवनसारी केवलज्ञानधारी, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ ६ ॥
विषय-विष-विनाशो भूरिभाषानिवासो, गतभव-भयपाशो कान्तिवल्लीविकाशः
करणसुखनिवासो वर्णसम्पूरिताशो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ ७ ॥
वचनरचनधीरः पाप-धूली समीरः, कनकनिकरगौरः क्रूरकर्मारिशूरः ।
कलुषदहननीरः पातिताऽनङ्गवीरो, जयति जगति चन्द्रो वर्द्धमानो जिनेन्द्रः ॥ ८ ॥

समन्तभद्र-वचनामृत

(७)

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥६७

'आर्यजन—तीर्थंकर-गणधरादिक उत्तमपुरुष—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण (व्रत) को 'गुणव्रत' कहते हैं; क्योंकि ये गुणोंका अनुबृंहण करते हैं—पूर्वोक्त आठ मूलगुणोंकी वृद्धि करते हुए उनमें उत्कर्षता लाते हैं।'

व्याख्या—यहां 'गुणव्रतानि' पदमें प्रयुक्त हुआ 'गुण' शब्द गुणोंका (शक्तिके अंशोंका) और गौणका वाचक नहीं है, बल्कि गुणकार अथवा वृद्धिका वाचक है, इसी बातको हेतुरूपमें प्रयुक्त हुए 'अनुबृंहनात्' पदके द्वारा सूचित किया गया है।

दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि ।
इति संकल्पोदिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥६८॥

दिग्विलयको—दशों दिशाओंको-मर्यादित करके जो सूक्ष्म पापकी निवृत्तिके अर्थ मरण पर्यंतके लिये यह संकल्प करना है कि 'मैं दिशाओंकी इस मर्यादासे बाहर नहीं जाऊँगा' उसको दिशाओंसे विरतिरूप 'दिग्व्रत' कहते हैं।'

व्याख्या—जिस दिग्वलयको मर्यादित करनेकी बात यहां कही गई है वह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर ऐसे चार दिशाओं तथा अग्नि, नैऋत, वायव्य, ईशान ऐसे चार विदिशाओं और ऊर्ध्व दिशा एवं अधोदिशा-को मिलाकर दश दिशाओंके रूपमें है, जिनकी मर्यादाओंका कुछ सूचन अगली कारिकामें किया गया है। यहां पर इतना और जान लेना चाहिये कि यह मर्यादीकरण किसी अल्पकालकी मर्यादा के लिये नहीं होता, बल्कि यावज्जीवन अथवा मरणपर्यन्तके लिये होता है, इसीसे कारिकामें 'आमृति' पदका प्रयोग किया गया है। और इसका उद्देश्य है अवधिके बाहर स्थित क्षेत्रके सम्बन्धमें अणुपापकी विनिवृत्ति अर्थात् स्थूल पापकी ही नहीं बल्कि सूक्ष्म पापकी भी निवृत्ति। और यह तभी हो सकती है जब उस मर्यादा-बाह्य क्षेत्रमें मनसे वचनसे तथा कायसे गमन नहीं किया जायगा। और इसलिये संकल्प अथवा प्रतिज्ञामें स्थित 'बहिर्न यास्यामि' वाक्य शरीरकी दृष्टिसे ही बाहर न जाने का नहीं बल्कि वचन और मनके द्वारा भी बाहर न जानेका सूचक है, तभी सूक्ष्म-पापकी विनिवृत्ति बन सकती है।

मकराकर-सरिदटवी-गिरि-जनपद-योजनानिमर्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥६९॥

'दशों दिशाओंके प्रतिसंहारमें—उनके मर्यादीकरणरूप दिग्व्रतके ग्रहण करनेमें—प्रसिद्ध समुद्र, नदी, अटवी (वन), पर्वत, देश-नगर और योजनोंकी गणना ये मर्यादाएं कही जाती हैं। अर्थात् दिग्व्रतका सङ्कल्प करते-कराते समय उसमें इन अथवा इन जैसी दूसरी लोकप्रसिद्ध मर्यादाओंमेंसे किसी न किसीका स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिये।'

अवधेर्बहिरणुपाप-प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पंचमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०॥

'दिशाओंके व्रतोंको धारण करने वालोंके अणुव्रत, मर्यादाके बाहिर सूक्ष्म पापोंकी निवृत्ति हो जानेके कारण, पंच महाव्रतोंकी परिणतिको—उतने अंशोंमें महाव्रतों जैसी अवस्थाको—प्राप्त होते हैं।'

व्याख्या—जब दिग्व्रतोंका धारण-पालन करने पर अणुव्रत महाव्रतोंकी परिणतिको प्राप्त होते हैं तब 'दिग्व्रत गुणव्रत हैं' यह बात सहजमें ही स्पष्ट हो जाती है और इसका एक मात्र आधार मर्यादित क्षेत्रके बाहर सूक्ष्म पापसे भी विरक्तिका होना है।

प्रत्याऽख्यान-तनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोह-परिणामाः
सत्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥७१॥

'प्रत्याख्यानके कृश होनेसे—प्रत्याख्यानावरणरूप

द्रव्य क्रोध-मान-माया-लोभ नामक कर्मोंका मंद उदय होनेके कारण—चारित्रमोहके परिणाम—क्रोध-मान-माया-लोभके भाव—बहुत मंद हो जाते हैं। (यहां तक कि) अपने अस्तित्वसे दुरवधार हो जाते हैं—सहजमें लक्षित नहीं किये जा सकते—वे परिणाम महाव्रतके लिये प्रकल्पित किये जाते हैं—उन्हें एक प्रकार अथवा उपचारसे महाव्रत कहा जाता है।'

पंचानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृत-कारिताऽनुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥७२

'हिंसादिक पांच पापोंका—पापोपार्जनके कारणोंका—मनसे, वचनसे, कायसे, कृतद्वारा, कारितद्वारा, और अनुमोदन-द्वारा जो त्याग है—अर्थात् नव प्रकारसे हिंसादिक पापोंके न करनेका जो दृढ सङ्कल्प है—उसका नाम 'महाव्रत' है और वह महात्माओंके—प्रायः प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्त्ति-विशिष्ट आत्माओंके—होता है।'

व्याख्या—यहां पापोंके साथमें 'स्थूल' जैसा कोई विशेषण नहीं लगाया गया, और इसीलिये यहां स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारके सभी पापोंका पूर्ण रूपसे त्याग विवक्षित है।

ऊर्ध्वाऽधस्तात्तिर्यग्व्यतिपात-क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पंच मन्यन्ते॥७३॥

'(अज्ञान या प्रमादसे) ऊपरकी दिशा-मर्यादाका उल्लंघन, नीचेकी दिशामर्यादाका उल्लंघन, दिशाओं विदिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन, क्षेत्रवृद्धि—क्षेत्रकी मर्यादाको बढ़ा लेना—तथा की हुई मर्यादाओंका भूल जाना, ये दिग्व्रतके पांच अतिचार माने जाते हैं।'

व्याख्या—यहां दिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन और क्षेत्रवृद्धिकी जो बात कही गई है वह जान बूझकर की जाने वाली नहीं बल्कि अज्ञान तथा प्रमादसे होनेवाली है; क्योंकि जान बूझकर किये जानेसे तो व्रत भंग होता है—अतिचारकी तब बात नहीं रहती।

अभ्यंतरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराऽग्रण्यः॥७४

'दिशाओंकी मर्यादाके भीतर निष्प्रयोजन पाप-योगोंसे—पापमय मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियोंसे—जो विरक्त होना है उसे व्रतधारियोंमें अग्रणी—तीर्थंकरादिक देव—'अनर्थदण्डव्रत' कहते हैं।

व्याख्या—यहां पापयोगका—अपार्थक (निष्प्रयोजन) विशेषण खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और इस बातको सूचित करता है कि मन-वचन-कायकी जो पापप्रवृत्ति स्थूलत्यागके अनुरूप अपने किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिये की जाती है उसका यहां ग्रहण नहीं है, यहाँ उस पापप्रवृत्तिका ही ग्रहण है जो निरर्थक होती है, जिसे लोकमें 'गुनाह बेलज्जत' भी कहते हैं और जिससे अपना कोई प्रयोजन नहीं सधता, केवल पापही पाप पल्ले पड़ता है। पापयोगका यह 'अपार्थक' विशेषण अनर्थदण्डके उन सभी भेदोंके साथ सम्बद्ध है जिनका उल्लेख अगली कारिकाओंमें किया गया है।

पापोपदेश-हिंसादानाऽपध्यान-दुःश्रुतीः पंच।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः॥७५॥

'पापोदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति (और) प्रमादचर्या, इनको अदण्डधर—मन-वचन कायके अशुभ व्यापारको न धरने वाले गणधरादिकदेव—पांच अनर्थदण्ड बतलाते हैं—इनसे विरक्त होनेके कारण अनर्थदण्ड व्रतके पांच भेद कहे जाते हैं।

तिर्यक्क्लेश-वणिज्या-हिंसारम्भप्रलंभनादीनाम्।
कथा-प्रसंग-प्रसवः स्मर्तव्यः पापउपदेशः॥७६॥

'तिर्यञ्चोंके वाणिज्यकी तथा क्लेशात्मक-वाणिज्यकी या तिर्यञ्चोंकेक्लेशकी तथा क्रय विक्रयादि रूप वाणिज्यकी अथवा तिर्यञ्चोंके लिये जो क्लेश रूप हो ऐसे वाणिज्यकी, हिंसाकी—प्राणियोंके वधकी—, आरम्भकी—कृष्यादिरूप सावद्यकर्मोंकी—, प्रलम्भनकी—प्रवंचना-ठगीकी—, और 'आदि' शब्दसे मनुष्यक्लेशादि विषयोंकी कथाओंके (व्यर्थ) प्रसंग

छेड़नेको 'पापोपदेश' (पापात्मक उपदेश) नामका अनर्थदण्ड जानना चाहिये।'

व्याख्या—यहां जिस प्रकारकी कथाओंके प्रसंग छेड़नेकी बात कही गई है वह यदि सत्य घटनाओंके प्रतिपादनादिरूप ऐतिहासिक दृष्टिको लिये हुए हो, जैसा कि चरित-पुराणादिरूप प्रथमानुयोगके कथानकोंमें कहीं-कहीं पाई जाती है, तो उसे व्यर्थ अपार्थक या निरर्थक नहीं कह सकते, और इसलिये वह इस अनर्थदण्डव्रतकी सीमाके बाहर है। यहां जिस पापोपदेशके लक्षणका निर्देश किया गया है उसके दो एक नमूने इस प्रकार हैं:—

१. 'अमुक देशमें दासी-दास बहुत सुलभ हैं उन्हें अमुक देशमें ले जाकर बेचनेसे भारी अर्थ लाभ होता है,' इस प्रकारके आशयको लिये हुए जो कथा प्रसंग है वह 'क्लेश-वणिज्या' रूप पापोपदेश है।

२. 'अमुक देशसे गाय-भैंस-बैलादिको लेकर दूसरे देशमें उनका व्यापार करनेसे बहुत धनकी प्राप्ति होती है' इस आशयके अभिव्यंजक कथाप्रसंगको 'तिर्यक् वणिज्यात्मक-पापोपदेश' समझना चाहिये।

३. शिकारियों तथा चिड़ीमारों आदिके सामने ऐसी कथा करना जिससे उन्हें यह मालूम हो कि 'अमुक देश या जंगलमें मृग-शूकरादिक तथा नाना प्रकारके पक्षी बहुत हैं,' यह 'हिंसाकथा'के रूपमें पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है।

परशु-कृपाण-खनित्र-ज्वलनायुध-शृङ्गि-शृङ्खलादीनाम्।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवंति बुधाः ॥ ७७ ॥

'फरसा, तलवार, गैंती कुदाली, अग्नि, आयुध (छुरी-कटारी-लाठी-तीर आदि हथियार) 'विष, सांकल इत्यादिक वधके कारणोंका—हिंसाके उपकरणोंका—जो (निरर्थक) दान है उसे ज्ञानीजन—गणधरादिक मुनि—'हिंसादान' नामका अनर्थदण्ड कहते हैं।'

व्याख्या—यहां हिंसाके जिन उपकरणोंका उल्लेख है उनका दान यदि निरर्थक नहीं है—एक गृहस्थ अपनी आरम्भजा तथा विरोधजा हिंसाकी सिद्धिके लिये उन्हें किसीको देता है—तो वह इस व्रतकी कोटिसे निकल जाता है—क्योंकि अनर्थदण्डके लक्षण में पापयोगका जो अपार्थक (निरर्थक) विशेषण दिया गया है उसकी यहां भी अनुवृत्ति है, वह 'दान' पदके पूर्वमें अध्याहृत (गुप्त) रूपसे स्थित है। इसी तरह यदि कोई गृहस्थ हिंसाके ये उपकरण अपने किसी पड़ौसी या इष्ट-मित्रादिकको इसलिये मांग देता है कि उसने भी अपनी आवश्यक्ताके समय उनसे वैसे उपकरणोंको मांग कर लिया है और आगे भी उसके लेनेकी सम्भावना है तो ऐसी हालतमें उसका वह देना निरर्थक या निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता और इसलिये वह भी इस व्रतका व्रती होते हुए व्रतकी कोटिसे निकल जाता है—उसमें भी यह व्रत बाधा नहीं डालता। जहां इन हिंसोपकरणोंके देनेमें कोई प्रयोजनविशेष नहीं है वहीं यह व्रत बाधा डालता है।

वध-बन्ध-च्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥७८

'द्वेषभावसे किसीको मारने-पीटने, बांधने या उसके अंगच्छेदनादिका तथा किसीकी हार (पराजय) का और रागभावसे परस्त्री आदिका—दूसरोंकी पत्नी-पुत्र-धन-धान्यादिका तथा किसीकी जीत (जय) का—जो निरन्तर चिन्तन है—कैसे उनका सम्पादन, विनाश-वियोग, अपहरण अथवा सम्प्रापण हो ऐसा जो व्यर्थका मानसिक व्यापार है—उसे जिन शासनमें निष्णात कुशलबुद्धि आचार्य अथवा गणधरादिक अपध्यान नामका अनर्थदण्ड बतलाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'द्वेषात्' और 'रागात्' ये दोनों पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं, जो कि अपने अपने विषयकी दृष्टिको स्पष्ट करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं। 'द्वेषात्' पदका सम्बंध वध-बन्ध-छेदादिकसे है जिसमें किसीकी हार (पराजय) भी शामिल है और 'रागात्' पदका सम्बन्ध परस्त्री आदिकसे है जिसमें किसीकी जीत (जय) भी शामिल है। वध-बन्ध-च्छेदादिका चिन्तन यदि द्वेषभावसे न होकर सुधार तथा उपकारादिकी दृष्टिसे हो और परस्त्री आदिका चिन्तन कामादि-विषयक अशुभ रागसे

सम्बन्ध न रखकर यदि किसी दूसरी ही सदृष्टिको लिये हुए हो तो वह चिन्तन अपध्यानकी कोटिसे निकल जाता है। अपध्यानके लिये द्वेषभाव तथा अशुभरागमें से किसीका भी होना आवश्यक है।

आरम्भ-संग-साहस-मिथ्यात्व-द्वेष-राग-मद-मदनैः।
चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥७९॥

'(व्यर्थके) आरम्भ (कृष्यादिसावद्यकर्म) परिग्रह, (धन-धान्यादि-स्पृहा), साहस (शक्ति तथा नीतिका विचार न करके एक दम किये जाने वाले भारी असत्कर्म), मिथ्यात्व (एकान्तादिरूप अतत्त्वश्रद्धान), द्वेष, राग, मद, और मदन (रति-काम) के प्रतिपादनादि-द्वारा चित्तको कलुषित-मलिन करने वाले—क्रोध-मान माया-लोभादिकसे अभिभूत अथवा आक्रान्त बनाने वाले—शास्त्रोंका सुनना 'दुःश्रुति' नामका अनर्थ-दण्ड है।'

व्याख्या—जो शास्त्र व्यर्थके आरंभ-परिग्रहादिके प्रोत्तेजन-द्वारा चित्तको कलुषित करनेवाले हैं उनका सुनना-पढ़ना निरर्थक है; क्योंकि चित्तका कलुषित होना प्रकट रूपमें कोई हिंसादिक कार्य न करते हुए भी स्वयं पाप बन्धका कारण है। इसीसे ऐसे शास्त्रोंके सुननेको, जिसमें पढ़नाभी शामिल है, अनर्थदण्डमें परिगणित किया गया है। और इसलिये अनर्थदण्ड व्रतके व्रतीको ऐसे शास्त्रोंके व्यर्थ श्रवणादिकसे दूर रहना चाहिये। हाँ, गुण-दोषका परीक्षक कोई समर्थ पुरुष ऐसे ग्रन्थोंको उनका यथार्थ परिचय तथा हृदय मालूम करने और दूसरोंको उनके विषयकी समुचित चेतावनी देनेके लिये यदि सुनता या पढ़ता है तो वह इस व्रतका व्रती होनेपर भी दोषका भागी नहीं होता। वह अपने चित्तको कलुषित न होने देनेकी भी क्षमता रखता है।

क्षिति-सलिल-दहन-पवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥८०॥

'पृथ्वी, जल, अग्नि तथा पवनके व्यर्थ आरम्भको—बिना ही प्रयोजन पृथ्वीके खोदने-कुरेदनेको, जलके उछालने-छिड़कने पीटने-पटकनेको, अग्निके जलाने-बुझानेको पवनके पंखे आदिसे उत्पन्न करने ताडने रोकनेको—व्यर्थके वनस्पतिच्छेदको, और व्यर्थके पर्यटन-पर्यटनको—बिना प्रयोजन स्वयं घूमने-फिरने तथा दूसरोंके घुमाने-फिरानेको—'प्रमादचर्या' नामका अनर्थदण्ड कहते हैं।

व्याख्या—यहां प्रकट रूपमें आरम्भादिका जो 'विफल' विशेषण दिया गया है वह उसी निरर्थक अर्थका द्योतक है जिसके लिये अनर्थदण्डके लक्षण-प्रतिपादक पद्य (७४) में 'अपार्थक' शब्दका प्रयोग किया गया है और जो पिछले कुछ पद्योंमें अध्याहृत रूपसे चला आता है। इस पद्यमें वह 'अन्तदीपक' के रूपमें स्थित है और पिछले विवक्षित पद्यों पर भी अपना प्रकाश डाल रहा है। साथ ही प्रस्तुत पद्यमें इस बातको स्पष्ट कर रहा है कि उक्त आरम्भ, वनस्पतिच्छेद तथा सरण-सारण (पर्यटन-पर्यटन) जैसे कार्य यदि सार्थक हैं—जैसा कि गृहस्थाश्रमकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये प्रायः किये जाते हैं—तो वे इस व्रतके व्रतीके लिये दोषरूप नहीं हैं।

कंदर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पंच।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोनर्थदंडकृद्विरतेः ॥८१॥

'कन्दर्प—कामविषयक रागकी प्रबलतासे प्रहास मिश्रित (हंसी ठट्ठेको लिये हुए) भण्ड (अशिष्ट) वचन बोलना—, कौत्कुच्य—हँसी-ठट्ठे और भण्ड वचनको साथमें लिये हुए कायकी कुचेष्टा करना, मौखर्य—ढीठपनेकी प्रधानताको लिये हुए बहुत बोलना-बकवाद करना—, अतिप्रसाधन—भोगोपभोगकी सामग्रीका आवश्यकतासे अधिक जुटा लेना—और असमीक्ष्याऽधिकरण—प्रयोजनका विचार न करके कार्यको अधिक रूपमें कर डालना—ये पाँच अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं।'

अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्।
अर्थवतामप्यवधौ राग-रतीनां तनूकृतये ॥८२॥

'रागोद्रेकसे होनेवाली विषयोंमें आसक्तियोंको कृश करने-घटानेके लिये प्रयोजनीय होते हुए भी इंद्रिय-विषयोंकी जो अवधिके अन्तर्गत—परिग्रहपरिमाणव्रत

और दिग्व्रतमें ग्रहण की हुई अवधियोंके भीतर—परिगणना करना है—काल मर्यादाको लिये हुए सेव्या-ऽसेव्यरूपसे उनकी संख्याका निर्धारित करना है—' उसे 'भोगोपभोग' नामका गुण व्रत कहते हैं।

व्याख्या—यहां 'अक्षार्थानां' पदके द्वारा परिग्रहीत इंद्रियविषयोंका अभिप्राय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र इन पांचों इन्द्रियोंके विषयभूत सभी पदार्थोंसे है, जो असंख्य तथा अनन्त हैं। वे सब दो भागोंमें बंटे हुए हैं—एक 'भोगरूप' और दूसरे 'उपभोगरूप,' जिन दोनोंका स्वरूप अगली कारिकामें बतलाया गया है। इन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे जिस जिस प्रकारके जितने जितने पदार्थोंको इस व्रतका व्रती अपने भोगोपभोगके लिये रखता है वे सेव्य रूपमें परिगणित होते हैं, शेष सब पदार्थ उसके लिये असेव्य हो जाते हैं, और इस तरह इस व्रतका व्रती अपने अहिंसादि मूलगुणोंमें बहुत बड़ी वृद्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। उसकी यह परिगणना रागभावोंको घटाने तथा इन्द्रियविषयोंमें आसक्तिको कम करनेके उद्देश्यसे की जाती है। यह उद्देश्य खास तौरसे ध्यानमें रखने योग्य है। जो लोग इस उद्देश्यको लक्ष्यमें न रखकर लोकदिखावा, गतानुगतिकता, पूजा-प्रतिष्ठा, ख्याति, लाभ आदि किसी दूसरी ही दृष्टिसे सेव्यरूपमें पदार्थों की परिगणना करते हैं वे इस व्रतकी कोटिमें नहीं आते।

यहां पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंकी यह परिगणना उन पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं रखती जो परिग्रहपरिमाणव्रत और दिग्व्रतकी ही सीमाओंके बाहर स्थित है—वे पदार्थ तो उन व्रतोंके द्वारा पहले ही एक प्रकारसे त्याज्य तथा असेव्य हो जाते हैं। अतः उक्त व्रतोंकी सीमाओंके भीतर स्थित पदार्थोंमें से कुछ पदार्थोंको अपने भोगोपभोगके लिये चुन लेना ही यहां विवक्षित है—भले हो वे दिग्व्रतमें ग्रहण की हुई क्षेत्र-मर्यादाके बाहर उत्पन्न हुए हों। इसी बातको बतलानेके लिये कारिकामें 'अवधौ' पदका प्रयोग किया गया है।

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियोविषयः॥८३॥

'जो पांचेन्द्रियविषय—पांचों इन्द्रियोंमें से किसीका भी भोग्य पदार्थ—एक बार भोगने पर त्याज्य हो जाता है—पुनः उसका सेवन नहीं किया जाता—वह 'भोग' है; जैसे अशनादिक-भोजन-पान-विलेपनादिक। और जो पांचेन्द्रिय विषय एक बार भोगने पर पुनः (बार-बार) भोगनेके योग्य रहता है—फिर-फिरसे उसका सेवन किया जाता है—उसे 'उपभोग' कहते हैं; जसे वसनादिक—वस्त्र, आभरण, शोभा-सजावटका सामान, सिनेमाके पर्दे, गायनके रिकार्ड आदिक।'

त्रसहति-परिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमाद-परिहृतये
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥८४॥

'जिन्होंने जिन-चरणोंको शरणरूपमें (अपाय-परिरक्षक-रूपमें प्राप्त किया है—जो जिनेन्द्र देवके उपासक बने हैं—उनके द्वारा त्रसजीवोंकी हिंसा टालनेके लिये 'मधु' और 'मांस' तथा प्रमादको—चित्तकी असावधानता-अविवेकताको—दूर करनेके लिये मद्य-मदिरादिक मादकपदार्थ—वर्जनीय हैं—अर्थात् ये तीनों दूषित पदार्थ भोगोपभोगके परिमाण-में ग्राह्य नहीं हैं, श्रावकोंके लिये सर्वथा त्याज्य हैं।'

व्याख्या—यहां 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' पदके द्वारा मांस तथा मधुके त्यागकी और 'प्रमादपरिहृतये' पदके द्वारा मद्यके त्यागकी दृष्टिको स्पष्ट किया गया है। अर्थात् त्रसहिंसाके त्यागकी दृष्टिसे मांस तथा मधुका त्याग विवक्षित है और प्रमादके परिहारकी दृष्टिसे मद्यका परिहार अपेक्षित है, ऐसा घोषित किया गया है। और इसलिए जहां विवक्षित दृष्टि चरितार्थ नहीं होती वहां विवक्षित त्याग भी नहीं बनता। इन पदार्थों-के स्वरूप एवं त्यागादि विषयका कुछ विशेष कथन एवं विवेचन अष्टमूलगुण-विषयककारिका (६६) की व्याख्यामें आगया है अतः उसको फिरसे यहां देनेकी जरूरत नहीं है।

अल्पफल-बहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।
नवनीत-निम्ब-कुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥८५॥

'अल्पफल और बहु विघातके कारण (अप्रासुक) मूलक—मूली आदिक—तथा आर्द्र शृङ्गवेर आदि—

सचित्त अथवा अप्रासुक अदरकादिक, नवनीत—(मर्यादासे बाहरका) मक्खन, नीमके फूल, केतकीके फूल, ये सब और इसी प्रकारकी दूसरी चीजें भी (जिनेन्द्र देवके उपासकोंके लिये त्याज्य हैं—अर्थात् श्रावकोंको भोगोपभोगकी ऐसी सब चीजोंका त्यागही कर देना चाहिये, परिमाण करनेकी जरूरत नहीं—जिनके सेवनसे जिह्वाकी तृप्ति आदि लौकिक लाभ तो बहुत कम मिलता है किन्तु त्रस और स्थावर जीवोंका बहुत घात होनेसे पापसंचय अधिक होकर परलोक बिगड़ जाता है और दुःखपरम्परा बढ़ जाती है।

व्याख्या – यहां 'मूलक' पद मूलमात्रका द्योतक है और उसमें मूली-गाजर-शलजमादिक तथा दूसरी वनस्पतियोंकी जड़ें भी शामिल हैं। 'शृङ्गवेराणि' पदमें अद्रकके सिवा हरिद्रा (हल्दी), सराल, शकरकन्द, जमींकन्दादिक वे दूसरे कन्द भी शामिल हैं जो अपने अंगपर शृङ्गकी तरहका कुछ उभार लिये हुए होते हैं और उपलक्षणसे उसमें ऐसे कन्दोंका भी ग्रहण आ जाता है जो शृङ्गकी तरहका कोई उभार अपने अंगपर लिये हुए न हों, किन्तु अनन्तकाय—अनन्त जीवोंके आश्रयभूत—हों। इस पद तथा 'मूलकं' पदके मध्यमें प्रयुक्त हुआ 'आर्द्राणि' पद यहां अपना खास महत्व रखता है और अपने अस्तित्वसे दोनों ही पदोंको अनुप्राणित करता है। इसका अर्थ आमतौर पर गीले, हरे, रसभरे, अशुष्क-रूपमें लिया जाता है; परन्तु स्पष्टार्थकी दृष्टिसे वह यहां सचित्त (living) तथा अप्रासुक अर्थका वाचक है। टीकामें प्रभाचन्द्राचार्यने इस पदका अर्थ जो 'अपक्वानि' दिया है वह भी इसी अर्थकी दृष्टिको लिये हुए है; क्योंकि जो कन्द-मूल अग्नि आदिके द्वारा पके या अन्य प्रकारसे जीवशून्य नहीं होते वे सचित्त तथा अप्रासुक होते हैं। प्रासुक कन्द-मूलादिक द्रव्य वे कहे जाते हैं जो सूखे होते हैं, अग्न्यादिकमें पके या खूब तपे होते हैं, खटाई तथा लवणसे मिले होते हैं अथवा यन्त्रादिसे छिन्न-भिन्न किये होते हैं; जैसा कि इस विषयकी निम्न प्राचीन प्रसिद्ध गाथासे प्रकट है :—

"सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल-लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेणय छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥"

और 'प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः'—प्रासुक पदार्थके खानेमें कोई पाप नहीं—, इस उक्तिके अनुसार वे ही कन्द-मूल त्याज्य हैं जो प्रासुक तथा अचित नहीं हैं और उन्हींका त्याग यहां 'आर्द्राणि' पदके द्वारा विवक्षित है। नवनीत (मक्खन) में अपनी उत्पत्तिसे अन्तमुहूर्तके बाद ही सम्मूर्च्छन जीवोंका उत्पाद होता है अतः इस काल-मर्यादाके बाहरका नवनीत ही यहां त्याज्य-कोटिमें स्थित है—इससे पूर्वका नहीं; क्योंकि जब उसमें जीव ही नहीं तब उसके भक्षणमें बहुघातकी बात तो दूर रही अल्पघातकी बात भी नहीं बनती। नीमके फूल अनन्तकाय और केतकीके फूल बहु-जन्तुओंके योनिस्थान होते हैं। इसीसे वे त्याज्यकोटिमें स्थित हैं।

यहां पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि 'अल्पफलबहुविघातात्' पदके द्वारा त्यागके हेतुका निर्देश किया गया है, जिसके अल्पफल और बहुविघात ये दो अङ्ग हैं। यदि ये दोनों अङ्ग एक साथ न हों तो विवक्षित त्याग चरितार्थ नहीं होगा, जैसे बहुफल अल्पघात, बहुफल बहुघात और अल्पफल अल्प घातकी हालतों में। इसी तरह प्रासुक अवस्थामें जहां कोई घात ही न बनता हो वहां भी यह त्याग चरितार्थ नहीं होगा।

**यदनिष्टं तदव्रतयेद्यच्चाऽनुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसन्धिकृताविरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति॥८६॥**

'(श्रावकोंको चाहिये कि वे) भोगोपभोगका जो पदार्थ अनिष्ट हो—शरीरमें बाधा उत्पन्न करनेके कारण किसी समय अपनी प्रकृतिके अनुकूल न हो—उसे विरति-निवृत्तिका विषय बनाएँ, छोड़दें—और जो अनुपसेव्य हो—अनिष्ट न होते हुए भी गर्हित हो, देश-राष्ट्र, समाज सम्प्रदाय आदिकी मर्यादाके बाहर हो अथवा सेव्याऽसेव्यकी किसी दूसरी दृष्टिसे सेवन करनेके योग्य न हो—उसको भी छोड़ देना चाहिये। (क्योंकि) योग्य विषयसे भी संकल्पपूर्वक जो विरक्ति होती है वह 'व्रत' होती है—व्रत-चरित्रके फलको फलती है।'

व्याख्या—संकल्पपूर्वक त्याग न करके जो यों

ही अनिष्ट तथा अनुपसेव्य पदार्थोंका सेवन नहीं किया जाता, उस त्यागसे व्रतफलकी कोई सम्प्राप्ति नहीं होती—व्रत-फलकी सम्प्राप्तिके लिये संकल्पपूर्वक अथवा प्रतिज्ञाके साथ त्यागकी जरूरत है, उसके द्वारा उनका वह न सेवन सहजहीमें व्रत-फलको फलता है। इसीसे आचार्यमहोदयने यहां भोगोपभोगपरिमाणके अवसर पर श्रावकोंको अनिष्टादि विषयोंके त्यागका परामर्श दिया है। अनुपसेव्यमें देश, राष्ट्र, समाज, सम्प्रदाय आदिकी दृष्टिसे कितनी ही वस्तुओंका समावेश हो सकता है। उदाहरणके तौर पर स्त्रियोंका ऐसे अति महीन एवं झीने वस्त्रोंका पहनना जिनसे उनके गुह्य अंग तक स्पष्ट दिखाई पड़ते हों भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे गर्हित हैं और इसलिये वे अनुपसेव्य हैं।

नियमः यमश्चविहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्।
नियमो परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥८७॥

भोगोपभोगका परिमाण दो प्रकारका होनेसे नियम और यम ये दो भेद व्यवस्थित हुए हैं। जो परिमाण परमित कालके लिए ग्रहण किया जाता है उसे 'नियम' कहते हैं और जो जीवन पर्यन्तके लिये धारण किया जाता है वह 'यम' कहलाता है।'

भोजन वाहन-शयन-स्नान-पवित्राङ्गराग-कुसुमेषु।
ताम्बूल-वसन-भूषण-मन्मथ-संगीत-गीतेषु ॥८८॥
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा।
इतिकाल-परिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः॥८९

'भोज्य पदार्थों, सवारीकी चीजों, शयनके साधनों, स्नानके प्रकारों, शरीरमें रागवर्धक केसर-चन्दनादिके विलेपनों तथा मिस्सी-अंजनादिके प्रयोगों, फूलोंके उपयोगों, ताम्बूल वगैकी वस्तुओं, वस्त्राभूषणके प्रकारों, काम-क्रीडाओं, संगीतों—नृत्यवादित्रयुक्त गायनों—और गीत मात्रोंमें जो आज अमुक समय तक दिनको, रात्रिको, पक्ष भरके लिये, एक महीने तक, द्विमास अथवा ऋतु विशेष-पर्यन्त, दक्षिणायन, उत्तरायन अथवा छहमास पर्यन्त, इत्यादि रूपसे कालकी मर्यादा करके त्यागका विधान है वह 'नियम' कहलाता है।

व्याख्या—यहां भोग तथा उपभोगमें आनेवाली सामग्रीका अच्छा वर्गीकरण किया गया है और साथ-ही कालकी मर्यादाओंका भी सुन्दर निर्देश है। इन दोनोंसे व्रतको व्यवस्थित करनेमें बड़ी सुविधा हो जाती है। इस व्रतका व्रती अपनी सुविधा एवं आवश्यकताके अनुसार भोगोपभोगके पदार्थोंका और भी विशेष वर्गीकरण तथा कालकी मर्यादाका घड़ी-घंटा आदिके रूपमें निर्धारण कर सकता है। यहां व्यापक-दृष्टिसे स्थूल रूपमें भोगोपभोगके विषयभूत पदार्थोंका वर्गीकरण तथा उनके सेवनकी कालमर्यादाओंका संसूचन किया गया है।

विषयविषतोनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोगपरिमा-व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥९०॥

'विषयरूपी विषसे उपेक्षाका न होना—इन्द्रिय-विषयोंको सेवन कर लेने पर भी आलिंगनादि रूपसे उनमें आसक्तिका बना रहना—, अनुस्मृति—भोगे हुए विषयोंका बार-बार स्मरण करना—, अतिलौल्य—वर्तमान विषयोंमें अति लालसा रखना—, अतितृषा—भावी भोगोंकी अतिगृद्धताके साथ आकांक्षा करना—'अत्यनुभव—नियतकालिक भोगोपभोगोंको भोगते हुए भी अत्यासक्तिसे भोगना, ये भोगोपभोगपरिमाणव्रतके पांच अतिचार कहे जाते हैं।*

— युगवीर

* समीचीनधर्मशास्त्रके अप्रकाशित भाष्य से।

ब्रह्म जिनदासका एक अज्ञात रूपक काव्य

(लेखक—श्री० अगरचंद नाहटा)

दिगम्बर विद्वानोंने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड और तामिल भाषाओंमें प्रचुर साहित्य निर्माण करनेके साथ-साथ हिन्दी भाषामें भी बहुत बड़ा साहित्य निर्माण किया है। पर राजस्थानी एवं गुजराती भाषामें उनकी रचनाएँ बहुत थोड़ी ही मिलती हैं। यद्यपि दिगम्बर समाजके जयपुर, कोटा आदि अनेक केन्द्र स्थान राजस्थान मे ही हैं। और जयपुरके विद्वानोंने ढुँढाड़ी भाषामें कुछ ग्रन्थ लिखे भी हैं, पर उनकी ढुँढाड़ी भाषामें हिन्दीका अधिक प्रभाव लक्षित होता है। गुजराती भाषामें जो थोड़ा* दिगम्बर साहित्य निर्मित हुआ है उसका परिचय मैं जैन-सिद्धान्त भास्कर वर्ष ६ अंक १ में अपने 'दिगम्बर गुजराती, साहित्य शीर्षक लेखमें प्रकाशित कर चुका हूँ। × इसमें मैंने ब्रह्म जिनदासकी रचनाओंका भी उल्लेख किया था। तदनन्तर आपकी रचनाओंकी भाषा हिन्दी है यह बतलाते हुए श्री कस्तूरचन्द कासलीवालने वीरवाणी वर्ष २ अंक २१ में आपके ११ संस्कृत और छ भाषा ग्रन्थोंका परिचय दिया था। उस लेखकी विशेष जानकारीके रूपमें मैंने उसी वीरवाणीके वर्ष ३ अंक ११ में 'ब्रह्म जिनदासकी कतिपय अन्य गुजराती रचनाएँ' नामक लेख प्रकाशित किया था और उसमें कासलीवालजी द्वारा सूचित छ भाषा-ग्रन्थोंके अतिरिक्त १६ अन्य रचनाओंकी सूची दी थी। अतः आपके कुल २५ भाषा-ग्रन्थों का तो अबतक पता चला था। आपका समय सन् १५२० के आसपासका है और उस समय तक राजस्थानी एवं गुजराती भाषामें विशेष अन्तर नहीं था अतः आपके ग्रन्थोंकी भाषाको राजस्थानी भी कहा जा सकता है, पर हिन्दी नहीं। हाल ही में आपका एक अज्ञात शास्त्र प्राप्त हुआ है जिसका परिचय कराना प्रस्तुत लेखमें अभीष्ट है।

गत अगस्त मासमें आबू समितिके संगठनके प्रसङ्गसे राजस्थानके मुख्यमन्त्री श्री टीकारामजी पालीवालके निमन्त्रणसे जयपुर जाना हुआ तो बचे हुए समयमें राजस्थान पुरातत्व मन्दिर और कस्तूरचन्दजीकी तैयार की हुई एक दिगम्बर जैन मन्दिरकी ग्रन्थ-सूचीका अवलोकन करनेके साथ-साथ मुलतान + और डेरागाजी खाँके हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रह (वहाँके पाकिस्तान होजानेसे जयपुर आगये थे और आते समय वहाँका ज्ञान-भण्डार व प्रतिमा अपने साथ ले आये थे उन दोनों) को देखनेका भी सुअवसर प्राप्त आहु। मुलतानके श्वेताम्बर ज्ञान-भण्डारकी प्रतियोंमें तीन अन्यत्र अप्राप्य ग्रन्थोंकी प्रतियाँ देखनेमें आईं, जिनके सम्बन्धमें प्रकाश डालनेके लिये मैं आते समय साथ लेता आया। इनमेंसे बुध रचित 'वर्द्धमान वचनिका' का परिचय वीरवाणीमें प्रकाशनार्थ भेजा जा चुका है। दूसरा ग्रन्थ ब्रह्म जिनदास रचित 'परमहंसरास' है जिसका परिचय प्रस्तुत लेखमें कराया जा रहा है।

प्रस्तुत 'परमहंस रास' के प्र० हि० व अन्तर उसके नामसे ही यह तो जान लिया था कि वह एक रूपक काव्य है; क्योंकि श्वेताम्बर साहित्यमें जयशेखरसूरि रचित 'परम हंस प्रबन्ध' (प्रसिद्ध अपरनाम त्रिभुवन दीपक प्रबन्ध) एवं उसका संस्कृत रूपान्तर खरतरगच्छीय नयरङ्ग रचित 'परमहंस सम्बोधचरित' ÷ ग्रन्थसे मैं पूर्व परिचित था। 'परमहंस सम्बोधचरित' की तो गत जनवरीमें (१-१-५२ को) ही मैंने प्रस्तावना लिखी थी

---

* यद्यपि श्वेताम्बरीय साहित्यकी अपेक्षा दिगम्बर विद्वानोंने गुजराती भाषामें कम साहित्य लिखा है। फिर भी दिगम्बरोंका गुजराती साहित्य जो कुछ भी अबतक परिचयमें आया है उससे वह कई गुणा अधिक शास्त्र-भण्डारोंमें उपलब्ध होता है। उसे उतना ही समझ लेना बड़ी भूल होगी। समाजके विद्वानोंका कर्तव्य है कि वे गुजराती भाषाके अज्ञात दिगम्बर साहित्यका पता लगाकर उसे प्रकाशमें लानेका प्रयत्न करें। —सम्पादक

× इससे पूर्व अनेकान्त वर्ष १ अंक २ में प्रकाशित श्रीपालचरित्र सम्बन्धी ग्रन्थ लेखकी टिप्पणीमें भी ब्रह्म जिनदासकी ज्ञात रचनाओंका उल्लेख किया था।

+ मुलतानके दिगम्बर मन्दिरका ग्रन्थ-भण्डार व प्रतिमा कहाँ विराजमान हैं जानना आवश्यक है।

÷ पं० अमृतलाल मोहनलाल संघवी सम्पादित हरी भाईकी वाड़ी अहमदाबादसे प्रकाशित।

तव प्रबन्ध और चरित्र—इन दोनों ग्रन्थोंके सम्बन्धमें तुलनात्मक प्रकाश डालनेका अवसर मिल चुका था । ब्रह्म जिनदासके नवीन प्राप्त ग्रन्थका नाम 'परमहंस रास' होनेसे सहज ही में उसके विषयका तो आभास हो गया पर यह ग्रन्थ किस प्राचीन ग्रन्थके आधारपर रचा गया है इसका निर्णय आवश्यक था । एक ही विषय पर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों विद्वानोंने रचनाएँ रची हैं तो यह जिज्ञासा स्वाभाविक थी कि दोनोंकी रचनाओंका मूल स्रोत कितना प्राचीन व कौनसा ग्रन्थ है ? कवि ब्रह्म जिनदासके रासको भली भांति देखने पर भी कहीं इसके मूल आधारके सम्बन्धमें निर्देश नहीं पाया गया । कथावस्तु तो दोनोंकी एक-सी ही है पर जयशेखरसूरिका 'परमहंस प्रबन्ध' इससे पूर्ववर्ती है, अतः उसके साथ तुलना करना आवश्यक प्रतीत हुआ और वैसा करनेपर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जिनदासने उल्लेख न भी किया हो तो भी जयशेखरसूरिके उक्त ग्रन्थको सामने रखते हुए भी इसकी रचना की, प्रतीत होती है ।

रूपक कथाओंकी प्राचीन परम्परा—

श्वेताम्बर आचार्य सिद्धर्षिने 'उपमिति भव प्रपंच-कथा' की रचना सं० ९६२ में भीनमालमें की है । रूपक कथा ग्रन्थोंमें यह सबसे बड़ा एवं आदर्श ग्रन्थ है । * ऐसी रूपात्मक स्वतन्त्र रचनाओंका प्रारम्भ ही इसी ग्रन्थ से हुआ है । इसके पश्चात् अनेक जैन-जैनेतर ग्रन्थ रूपक शैलीमें लिखे गये । जिनका कुछ परिचय 'मदन पराजय' की प्रस्तावनामें श्रीयुत राजकुमारजी साहित्याचार्यने और श्री केशवलाल शास्त्रीने प्रबोध बत्तीसीकी प्रस्तावनामें दिया है । इन ग्रन्थोंमें जयशेखरसूरिके 'प्रबोध चिन्तामणि' ग्रन्थका भी महत्वपूर्ण स्थान है । यह ग्रन्थ सं० १०६२ में खम्भातमें रचा गया है । भाषा संस्कृत है और सात अधिकारोंमें पूर्ण हुआ है । इसमें मोह एवं विवेककी उत्पत्ति, उनका परिवार, परस्पर युद्ध और अन्तमें विवेककी विजय और मोहराजकी पराजयका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है । जनसाधारणके सुबोधके लिये आपने तत्कालीन लोक भाषामें अपने संस्कृत ग्रन्थके स्वतन्त्र एवं सारगर्भित अनुवादके रूपमें उपयुक्त 'परमहंस प्रबन्ध' ४३२ पद्यों में बनाया है। इस ग्रन्थका भाषा एवं काव्यकी दृष्टिसे भी बड़ा महत्व है । अतः गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी की ओरसे १५ वीं शताब्दीके प्राचीन गुर्जर काव्योंका संग्रह निकला है उसमें उसे विशिष्ट स्थान दिया गया है । इसके सम्पादक आचार्य ध्रुव एवं अन्य गुजरातके विद्वानोंने इसके महत्त्वकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है । सं०१९७७ में पंडित लालचन्द भगवानदास गांधीने इसका सम्पादन कर स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें भी इसका प्रकाशन किया था । ब्रह्मजिनदासने इस ग्रन्थको पढ़ा होगा और प्रभावित होकर उसके आधारसे प्रस्तुत रासकी रचनाकी है । यह दोनों ग्रन्थोंके शब्द साम्यको देखते हुए स्पष्ट कहा जा सकता है ।

इस रासकी रचना कविने अपने उत्तर जीवनमें की प्रतीत होती है । क्योंकि इस रासके आदि व अन्तमें अपने गुरु सकलकीर्तिके साथ भुवनकीर्ति और अपने शिष्य नेमीदासका भी उल्लेख किया है । इस उल्लेख वाले पद्य नीचे दिये जा रहे हैं:—

प्रारम्भ—

सकल निरंजन सकल निरंजन देव अनन्त
परमानन्द सुहावणा, प्रणमंसु सरसती सार निरमल ।
श्री सकलकीर्तिगुरु मनि धरूं, वलि भुवनकीरति
मुनिसार सोहमल ।
तम्ह प्रसादे रूवडो, परमहंस जयवन्त ।
ब्रह्मजिनदास भणे गाइसूं, सुणो भवियण गुणवन्त ।

भास चौपाईनी—

परमहंस तणोचरित सविसाल,
सुणो भवियण तुम्हें गुणमाल ।
सुणतां हरख आणन्द गुणकन्द,
उपजे समकित निरमलचन्द ॥१॥
त्रिभुवन नयर तणो तेराउ, गुणवन्त दीसै उछाउ ।
नाम लीधे जाइ बहु पाप, दिन दिन वाधे अधिक प्रताप ॥२॥

अन्त—

ते विवेक मुक्त निरमलो, भवि भवि देवु गुणवन्त ।
परमहंस परमातमा, जिम होइ जयवन्त ॥२॥
श्री सकलकीर्ति पाय प्रणमीने, गुरु भुवनकीर्ति भवतार ।
रास कियो मिइ निरमलो, परमहंस तणो सार ।३।
पढ़इ गुणे जेसां भले, मनधरि अविचल भाव ।

---

* मान्यवर पं० नाथूराम प्रेमी एवं मोतीचन्द कापड़ियेने इसकी बहुत ही प्रशंसा की है कि यह साहित्यका अजोड़ ग्रन्थ है ।

तेह नर कर्याइ धरि आंगणि, ब्रह्मजिनदास कहै भाउ ॥७॥
ब्रह्मजिनदास शिष्य निरमला, नेमिदास × सविचार।
पढई पढावो बिस्तरो, परमहंस भवतार ॥८॥
जिन शासन अति निरमलौ, त्रिभुवन माहिं उत्तंग।
जनमि जनमिहूं सेवीसुं, ब्रह्मजिनदास भणै चंग ॥९॥

इति परमहंसको रास समाप्त। एवं श्लोक संख्या ६०० (नवसौ)।

प्रतिपरिचय—साइज ११॥ × ११॥, पत्र २८ प्रति पृष्ठ पंक्ति ११ प्रतिपंक्ति अक्षर ४६, अक्षर बड़े एवं सुवाच्य।

अब जयशेखरसूरिके परमहंसप्रबन्ध और प्रस्तुत परमहंसरासके शब्द साम्यके कुछ उदाहरण उपस्थित किये जारहे हैं:—

प्रबन्ध—
तेजवन्त त्रिहुभवन मझारि, परमहंस नरवर अवधारि।
जेह जपतां नवि लागई पाप, दिनदिन वाधे अधिक प्रताप॥

इस पद्यके समान भाव वाला रासका नम्बर २ वाला पद्य ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, उसमें नीचे वाली पंक्तिका शब्द साम्य विशेष रूपसे उल्लेख योग्य है। प्रबन्धमें 'जेह जपतां नवि लागइ पाप' है तो रासमें 'नाम लीधइ जाइ बहु पाप' है। इसके आगेका वाक्य तो 'दिन दिन वाधे अधिक प्रताप' दोनोंमें एक समान है। अन्य उदाहरण भी देखिये—

प्रबन्ध—
वाचिउ नीठसु त्रिभुवन माइ, नामइउ कुंथुशरीरि समाइ।
दीपलि दिवापर कोडिहि जिसिउ,
जिहांजोउं तिहां देखउं तिसिउ ॥
एक भणेइ पहिल अरिहंत, एरल हरिहर भणइ अनन्तु।

रास—
निश्चय नय त्रिभुवन माहि माइ,
ववहारै कुंथुवा शरीर समाइ।
जिहां जोउं तिहां तेह बिस्तार,
ज्ञान बिना नवि लाभे पार ॥२॥
एक कहे कहजि भगवन्त, ए ब्रह्मा ईश्वर ए सन्त।

× आपके अन्य शिष्य मनोहर, मल्लिदास एवं गुणदासका उल्लेख हरिवंश रास (सं० १५२०) में भी मिलता है।

प्रबन्ध—
काठिमजगु जिम धरणिहि ब्रह्,
कुसुमिहि परिमल गोरसिनेहु।
तिलहिं तेलु जिम तारिक वारि,
तिनमते निवसइ अगम सरीरि ॥

इस पद्यके भावको रासमें निम्नोक्त पद्योंमें शब्द साम्यके साथ अधिक स्पष्ट किया है।

पाषाण माहिं सोनो जिमि होइ, गोरसमाहिं जिमि घृत जोइ
तिल मारे तेल वसे जिम चंग, तिम सरीरि आतमा अभंग।
काष्ठमांहि अगिन जिमि होइ, कुसुम परिमल मांहि मेइ।
नादे सबद सीत जिमि नीर, तेम आतमा वसे अगत सरीर।

प्रबन्ध—
राणी तासु चतुर चेतना, केता गुण बोलउ तेहतणा।
राउ राणी बेमन नहिं भेलि, निरन्त करइ कलोहल केलि।
नव जोवन नवरंगी नारि, साम सणी सहजि सविकारि।

रास—
चेतना राणी तेह तणी जाणि, गुण अनन्ता बहुत बखाणि।
राणी राय ध्यान गुण मेलि, निरन्त करइ कलोहल केलि।
नव जोवन नवरंगी नारि. सामवणी सहजे (स) विकार!

प्रबन्ध—
अमृतकुंड किम विष उछलइ, झरइ सुधाकर किम अंगार।
रवि किम वरसइ घोर अंधार,

रास—
अमृतकुण्ड माहि विष करइ, दिनकर किम अंधार करइ।
अगनी झरै किम चन्द्र तो,

प्रबन्ध—
आमें झोइ भीति जाजरि, बेटी घणि भोजन बाजरी।
हार मेह अस लीजुं मेह, देव दिखावइ अहिलउ छेह।

रास—
आमणो जिमि कायुकिम, तृप्त तणो उद्योत तो।
भीत जाजरि ओछवि बाजरी, अहिलो दिखावइ अन्त तो।
बेटीय घन घरि किम वसे, किम होइ वंस उद्योत तो।
तिम कौने मोह मुझो ए, किम मोरे आवै अन्त तो।

प्रबन्ध—

तह तिणि मांही वसिया सही, काया नगरी नव बारही।
जे हुँतउ जगपति निरदोस, तिणि ते तहं मानिउं संतोस।२७।

रास—

कायाए नगरी चंग, नवबारि अति दवदीए।
जे होतो ए जगपतिराउ, ते तिणे नगरि रह्यो अदीए।

और भी बहुतसे उदाहरण दिए जा सकते हैं, लेख विस्तारके भयसे इतने ही से सन्तोष किया जाता है।

जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है—दोनों ग्रन्थोंमें कथा-वस्तु एक ही है। कहीं कुछ रासमें अधिक जोड़ दिया है। और कुछ वर्णन विस्तारसे कर दिया है, इसीसे इसका परिमाण कुछ बढ़ गया है। फिरभी कविताकी दृष्टिसे प्रबंन्ध ही उत्तम प्रतीत होता है। प्रबंधकी कथाका सारांश पंडित लालचन्द्र भगवानदासने गुजरातीमें अपने संपादित ग्रन्थमें दिया है उसका हिन्दी रूपान्तर आगे दिया जारहा है। यदि किसी दिगम्बर विद्वान्को ऐसी ही कथा वाला कोई अन्य ग्रन्थ दिगम्बर साहित्यमें मिल जावे तो मुझे सूचित करनेका नम्र अनुरोध है। रासकी प्रति अभी मेरे पास है, यदि कोई विद्वान् इसे सम्पादन करना चाहे या कोई संस्था प्रकाशित करना चाहे तो उसकी प्रतिलिपिका प्रबन्ध अभी किया जा सकता है। अभी तक ब्रह्मजिनदास-का 'श्रीपाल रास' ही सूरतसे प्रकाशित मेरे अवलोकनमें आया है। उपर्युक्त २६ ग्रन्थोंके अतिरिक्त कुछ फुटकर स्तवन आदि भी मिलते हैं।

प्रारंभमें कविने परमेश्वरको और योगदृष्टि द्वारा सरस्वती-का स्मरण करके सरस्वतीके आधारसे सुन्दर काव्य रचने-की सूचना दी है फिर आत्मशुद्धिकी आवश्यकता, शान्त-रसकी श्रेष्ठता और आत्मज्ञानका प्रभाव दिखाकर आत्म-विचारको सुननेके लिये श्रोताओंको सावधान किया है।

त्रिभुवनमें अत्यन्त तेजवंत परमहन्स राजाके यहां 'चेतना' नाम की रानी है। ये दोनों इच्छानुसार कुतूहल-केलि किया करते हैं। एकदिन 'माया' नामक रमणीके रूपको देखकर राजा विह्वल होजाता है। यह जानकर रानी अपने पतिको मायाकी संगति नहीं करनेके लिए बहुत समझाती है, परन्तु उसका समझाना निष्फल रहता है। राजाके चित्तमें 'माया' का वास होजानेसे 'चेतना' कहींपर छिपकर रहती है। लोकका संताप बढ़ जानेसे माया विशेष पाँव पसारती है। मायाके वश होजानेसे राजाका त्रिभुव-नाधिपतित्व नाशको प्राप्त होजाता है, तब वह अपने निवा-सके लिये 'काया-नगरी' को बनाकर सन्तोष मान लेता है। अन्तमें ज्ञान-कलाको तिलांजलि देकर अपना समस्त व्यापार 'मन'के अर्पण करदेता है। 'मन' मन्त्री प्रारम्भसे ही मलिन होनेके कारण राजकाजको धूलिमें मिला देता है। वह अपनी चंचलतासे सर्वत्र भ्रमण करता रहता है और 'माया' के साथ गठजोड़ कर राजाको पाप-पाशमें बांधकर स्वयं राज्यका स्वामी बन बैठता है; इससे देना, बरबाद, करना बन्धनमें डालना, बन्धनमुक्त करना, ये समस्त अपनी इच्छानुसार एवं जिस प्रकार उसे रुचिकरहो उस प्रकार करता है। राजा पराभव भूत होकर प ना पेट भरता है।

'मन' के 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' ये दो स्त्रियां हैं। 'प्रवृत्ति' के द्वारा 'मोह' और 'निवृत्ति' के द्वारा 'विवेक' इन दो पुत्रोंकी उत्पत्ति होती है। 'प्रवृत्ति' 'मन' को वशमें कर अपनी सौत निवृत्ति तथा उसके पुत्र 'विवेक'को विदेश-गमन करवा देती है।

मन, प्रवृत्ति और माया—यह त्रिपुटी राजाको बन्धनमे डालकर अपनी समस्त आन्तरिकइच्छाओंकी पूर्ति करते हैं। इस समय राजा अपनी 'चेतना' रानीकी शिक्षाका स्मरण कर रोने लगता है और अपनी करुणाजनक स्थितिका स्पष्ट वर्णन करके 'चेतना' को उसकी सम्हाल करनेके लिये प्रार्थना करता है। "तुमको माया मिलगई है, मेरा क्या काम है? मन मन्त्रीका राज्य है, जिस प्रकार वह तुम्हें विवश करे सहन करो।" इस प्रकार उत्तर देती हुई चेतना अलग्न रहती है।

'निवृत्ति' के चले जानेके बाद 'प्रवृत्ति' 'मन' को समझाकर अपने पुत्रको राज्य दिला देती है। मोहकुमारके राजा होते ही वह जगतमें मोहकी आज्ञा-प्रवर्त कर देता है। मोहराजा निर्लज्जा हृदयस्थानमें 'अविद्या' नामक नगरीकी स्थापना करके राज्य करने लगता है। मोहके दुर्मति नामकी एक रानी है, उसके 'काम' नामका एक बड़ा पुत्र है और राग और द्वेष—ये दो छोटे पुत्र हैं। निद्रा, अधृति और मारि ये तीन पुत्रियां हैं। इसी प्रकार मिथ्या-दर्शन मन्त्री, सप्त व्यसन, सहसंग, निगुणसंगति सभा, नास्तिक बालमित्र, अमर्ष कुग्रभट, आलस्य सेनापति, कुदृम पुरोहित और कुकवि रसोइया इत्यादि ये मोहराजका उद्भट परिवार है।

मोहरायका राज्य होजानेकी बातको सुनकर निवृत्ति बिना विश्राम लिये ही रवाना हो जाती है । आगे आते हुए विप्रपुरी में यज्ञ होते हुए देखती है। जिसमें बलवान बटुकों द्वारा बाँधे हुए बेचारे बकरोंका करुणाजनक दृश्य देख, "मोहकी पुत्री 'मारि' का पदार्पण यहाँ हो जानेसे मेरा यहां रहना नहीं होसकता" इस प्रकार विचारकर निवृत्ति वहांसे प्रयाण करदेती है। नये-नये देशोंमें रहते हुए दृश्योंके अन्दर जीवाजीवकी पहिचानके अभावमें अनेक प्रकारसे होता हुआ जीव-संहार देख अपने रहनेके योग्य स्थानको कहीं न देख वह और आगे गमन करती है । फिरते-फिरते प्रवचनपुरीको प्राप्त करती है। सुन्दर नगर और आत्माराम वनको देख विवेक कुमार की प्रेरणा सेशम-दम नामक वृक्षकी छाया मे बैठ जाती है। वहांपर विमल-बोध कुलपतिको वन्दन करके निवृत्ति विवेककुमारके सुख आदिके सम्बन्धमें प्रश्न करती है। विमलबोधके लक्षणों-को देख वह अत्यानंदित हो जाता है और विवेक कुमारको अपनी सुमति नामकी अपनी पुत्रीके साथ विवाह करके एवं अरिहंत ? के अतिशयोंका वर्णन करके, उनकी तुष्टीको प्राप्त करनेसे कार्य-सिद्धिका सूचन किया गया है ।

निवृत्ति कुलपतिके वचन हृदयमें धारण कर पुत्रवधु सुमतिको साथ ले प्रवचन-नगरीमें जाकर सद्गुरुके आधार पर रहती है । वहां विवेककुमारको अपना बीता पराभव और पुत्रके आश्वासनको दर्शाकर अरिहन्त प्रभुकी आरा-धना करनेके लिए प्रोत्साहित करती है । विवेक कुमार माताकी प्रशंसा करके इस आज्ञाको मान देकर अरिहन्त प्रभुकी सेवामें लग जाता है। अवसर आनेपर मोहरायके द्रोहका वर्णन करती है। अतएव मोहरायसे भयभीत बने हुए जनोंको मुक्ति दुर्गमें बसानेके लिये तथा मार्ग-रक्षक तरीके उनके साथ रहनेके लिए विवेकको आज्ञा करती है। विवेककुमार स्वामीके वचनोंको कार्यमें लाता है, भव्यजन मुक्तिमार्गका अनुसरण करते हैं। विवेकके वीरचरित्रसे प्रसन्न होकर अरिहन्तराय उसको उत्तम जन्म-वाले देशोंमें पुण्यरंगपाटणका राजा बना देते हैं। तत्त्व-चिंतन रूपी पट्टहस्ति ऊपर सवार होकर विवेकराय अलग-अलग सुखासनों पर बैठीं हुईं निवृत्ति और सुमतिको साथ लेकर आडम्बर पूर्वक वहां प्रवेश करता है। विवेककी आज्ञा प्रवृत्त होतेही वांछितके प्राप्त संचित होजाते हैं। ज्ञान-तलारक्षको बुलाकर विवेकराय किसी अपरिचितको प्रवेश नहीं होने देनेकी आज्ञा करता है।

उस ओर मोहराय अपने राज्यकी सार संम्हाला कर रहा है। विवेककी याद आतेही उसको अतिक्षोभ उत्पन्न होता है। विवेकके कार्यकलापोंको जाननेके लिये दंभ, कदागम, (कंजूसी ?) पाखंड आदि दूतोंको भेजता है। विवेककी सुधि प्राप्त कर वे लोग पुण्यरंगपाटणको जाते हैं, किन्तु ज्ञानतलारक्षके निग्रहसे प्रवेश नहीं होनेसे दंभके अतिरिक्त सभी वापिस लौट जाते हैं। दंभ फिर वेष बदलकर वहांका वृत्तान्त प्राप्तकर मोहरायको जानता है। जिसमें विवेककी नगरी और उसके परिवारका विस्तारसे वर्णन करनेके बाद मोहरायको जीतनेके लिए विवेककी उसके मन्त्रीके साथ हुई बातचीत, मन्त्रीके बुलानेपर गुरु जोशीके द्वारा प्रवचनपुरीके राय अरिहन्तके सांपत सदुप-देशकी स्त्री श्रद्धाकी पुत्री संयमश्रीका विवाह कर देनसे शत्रु वंशके विनाशका विवेकको दर्शाया हुआ उपाय, दो स्त्रियोंके पतिको होने वाले दुखका विवेकका मन्त्रीके साथ किया हुआ विचार, सुमतिके द्वारा कुलीन और अकु-लीन स्त्रियोंका भेद दर्शाया जाकर पतिको की हुई प्रेरणा, राजाकी आज्ञासे मन्त्रीने जिनराजके पास संयमश्री की मंगनी करनेके लिए भेजे हुये शुभाध्यवसाय विशिष्ट— ये समस्त समाचार सुनाकर दंभ मोहरायसे समाधान करता है। मोहरायको चिंतातुर देख उसका बड़ा पुत्र कामकुमार अपना शौर्य दिखाकर युद्धके लिये आज्ञा मंगता है। मोहराय उसको शिक्षा देकर आज्ञा देता है।

कामकुमार अपने परिवारके साथ प्रयाण करता है। वह त्रिलोकीमें सर्वत्र विजय प्राप्त करता है। ब्रह्मलोकमें ब्रह्मा-को सावित्रीको स्वीकार कराके, वैकुण्ठपुरीके नायक विष्णुको गोपियों द्वारा वश कराकर, कैलाशपति शंकरको पार्वतीके साथ जोड़कर, गौतम आदि ऋषियोंको एक-एक स्त्री अंगीकार कराकर मोहरायकी आज्ञाको आरोपित करता है। कामकुमार वहांसे पुण्यरंगपाटणको उद्देश्य बनाकर प्रयाण करता है। पाटणमें खबर पहुँचतेही विवेक उससमय युद्ध न कर, संयमश्रीके साथ विवाह करनेके बाद अव-सरोचित युद्ध करने के लिए अपने इच्छा-मित्र विचारको बनाता है। इसी अवसरपर अरिहन्तरायकी ओर भेजे हुए विशिष्ट (शुभाध्यवसाय) आकर विवेकको वहाँ पहुँचनेके लिये कहता है विवेकराय अपने मित्र विचारको प्रजाकी सम्हाल करने तथा अपने पीछे लेआने की सिखावन देकर

प्रवचन-नगरीको जाता है। पीछेसे नगर लोगोंको साथमें लेकर विचार भी गमन कर देता है। शत्रु दल यह सुनकर जिनेश्वर मोहरायके दलका नाश करनेके लिए विलंब नहीं करनेकी विवेकको सूचना करते हैं तथा संयमश्री की श्रेष्ठता और दुष्प्राप्यताको समझाकर और चरित्र प्रकट करनेके लिये उसकी प्राप्तिका वर्णन करते हैं। विवेक-कुमारकी प्रेरणासे राजा सभा भरकर कुमारीको वहां उपस्थित करते हैं। विवेक कुमार भरसभामें अद्भुतसिद्ध दमन, अग्निज्वालाका पान आदि करता है और राधावेधको साधता है। यह देखकर संयमश्री कन्या विवेक कुमारके गलेमें वरमाला डालती है। विवेककुमारके साथ संयमश्रीका बड़े उत्सवके साथ विवाह होता है। विवाहके बाद मोहरायको जीतनेके लिए सेना तथा तपास्त्र धारण की हुई संयमश्री को साथ लेकर विवेक वहांसे प्रयाण करता है। दूसरे लोगोंको आश्वासन देकर विवेक शत्रुंजय पहुँचता है। इन द्वारा हकीकत सुन मोहराय अपशकुन होते हुए और मन्त्री आदिके निषेध करने परभी असंख्य सेना साथ लेकर सामने आता है। विवेक अपनी सेनाको प्रोत्साहन देकर अपने परिवारके पराक्रम और अस्त्रशस्त्रोंकी देखभाल करता है। फिर युद्धके लिये समस्त सेना तैयार हो जाती है। यह जानकर मोहराय भी अपनी सेनाको ललकारता है। वीर प्रतिवीर सन्मुख उपस्थित होते हैं। विशेषज्ञ सन्धिके लिए फिरते हैं परन्तु सन्धि होती नहीं। क्षपकश्रेणी क्षेत्रमें मोह और विवेकका यह युद्ध प्रारम्भ होता है। वीरगण परस्पर पराक्रम दिखाते हैं फिरभी विवेकके वीरसुभट मोहकी सेनामें भगदड़ मचा देते हैं। जिससे मोह स्वयं रणमें आकर भँसाडोह (मल्लयुद्ध ?) नामक युद्ध करता है। मोहरायके द्वारा अपनी सेनामें भगदड़ देख विवेकराय उसके सन्मुख आता है। मोहराय अपने पराक्रमका वर्णन करके उसको युद्ध क्षेत्रसे भागजाने को कहता है। विवेक उसके मिथ्याभिमानको धिक्कारते हुए युद्ध करनेके लिये आमन्त्रित करता है। युद्धमें विवेक ब्रह्मायुध द्वारा मोहका हनन करता है। उस समय आकाशमें दुंदुभि बजते हैं। पंचवर्ण चीर फहराते हैं। देवता लोग जय-जय उच्चारण करके पुष्पवृष्टि करते हैं। निवृत्तिको बुलाकर रणभूमिमें रास खेला जाता है। इस अवसर पर सुश्रुत भट्ट विवेकरायकी महिमामें छन्दोच्चारण करता है।

मोह जब परलोकमें पहुँचता है उस समय प्रवृत्ति अति शोकमें पड़ जाती है, मन-मन्त्री बहुत ही विलाप करता है। विवेक उसको समझाकर शान्त करता है। मन विवेककी राज्य-स्थापना करता है, फिर भी चिर-परिचयके कारण उसे मोह बारबार याद आता है। विवेक मनको फिर शिक्षा करता है—

'मोहके शोकको छोड़कर परमेश्वरका अनुसरण करो, समस्तमें समताका आदर करो, ममता दूर करो, चार कषायोंका हनन करो, पाँचों इन्द्रियोंको जीत करके समरसके प्रवाहमें रमण करो, अक्षर ओंकारमें स्थिर होकर परमानन्दको प्राप्त करो।'

इस शिक्षाके अनुसार मन अनुसरण करता है, किन्तु मोह फिर भी याद आ जाता है, इससे विवेकको कहकर मन आठ कर्मोंके साथ ध्यानाग्निमें प्रज्वलित हो जाता है।

इस अवसर पर चेतना रानी परमहंस राजाके पास आकर कहती है कि—'स्वामी! मायाने जो-कुछ किया उसका आपने अनुभव किया। लेकिन जो हुआ सो हुआ, उसको अब क्या याद करना? आपने जिस कायापुरीकी रचना की है, वह तो अशुचि और कीचड़से भरी हुई है। १०८ चोरोंकी वस्तीवाली नगरीमें आपका निवास उचित नहीं। स्वामी! आप स्वयं विचार करें और उठकर उसमें आत्मशास्त्रका प्रकाश करिये। आज जो आप सचेत हो जायंगे तो शीघ्र ही इस राज्यको प्राप्त करेंगे। अब मायाका लगाव मिट गया है। मन-मन्त्री अग्निमें प्रज्वलित हो गया है और मोह अपने कुटुम्बके साथ रणमें विनाशको प्राप्त होगया है। अतः स्वामी! शीघ्र प्रकाशित होइये, विलम्ब नहीं करिये।'' राणीके संकेतको पाकर परमहंस सचेत होते हैं, जिससे परमज्योति प्रकाशित होती है, इससे पाप-पाश अपने आप टूट जाती है। परमहंस चेतना राणीके कथानुसार कायाको त्याग कर मुक्त हो जाता है। ''मनकी संतति अच्छी नहीं होती'' ऐसा समझकर विवेकको भी अपनेसे अलग कर स्वयं त्रिभुवनका स्वामी बन जाता है। फाल्गुन बीतनेके बाद आम मुकुलित होता है, ग्रीष्म ऋतु बीतने पर नदियोंमें पूर आता है, कृष्णपक्ष बीतने पर चन्द्रकी वृद्धि होती है, सागरमें अपचढ़के बाद ज्वार आता है, गेंद गिरकर फिर ऊपर उठती है। कपूर उड़करके भी फिर कपूर बनकर उसी पात्रमें गिरता है, इसी प्रकार पुण्यप्रसादसे राजाने लगाव जालको तोड़कर पुनः राज्य प्राप्त किया।

महाकवि रइधू

(ले० पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

(गत किरणसे आगे)

कविवर रइधू द्वारा स्मृत विद्वान।

महाकवि रइधूने अपने 'हरिवंश पुराण' मेघेश्वरचरित और सम्मति जिनचरिउ' नामक ग्रन्थोंमें पूर्ववर्ती कुछ साहित्यिक विद्वानोंका स्मरण किया है, जिनके नाम हैं— १ देवनन्दी, २ रविषेण, ३ चउमुँह (चतुर्मुख), ४ द्रोण, ५ स्वयम्भूदेव, ६ वीर, ७ वज्रसेन, ८ जिनसेन, ९ देवसेन, १० और पुष्पदन्त। इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है:—

१ देवनन्दी—इनका दूसरा नाम पूज्यपाद है + यह विविध विषयोंके प्रौढ विद्वान आचार्य थे। इनकी प्रायः सभी कृतियाँ बड़ीही सुन्दर संक्षिप्त और अर्थ गौरवको लिये हुये हैं। यह लक्षण शास्त्रके विशेष विद्वान थे। गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वाति) के प्रसिद्ध तत्वार्थसूत्र पर आपकी 'तत्वार्थवृत्ति' नामकी एक टीका है जिसे 'सर्वार्थसिद्धि' भी कहते हैं, और जो अपने ढंगकी महत्वपूर्ण, संक्षिप्त एवं अर्थ बहुल गम्भीर व्याख्या है। इसके अतिरिक्त 'समाधितन्त्र' और इष्टोपदेश अध्यात्मके प्रतिपादक सरस एवं सरल ग्रन्थ हैं जो वस्तु तत्त्वके निर्देशक हैं, पढ़नेमें अत्यन्त रुचिकर और शान्ति प्रदान करने वाले हैं। इसी तरह इनकी सिद्धभक्ति' आदि संस्कृत भक्तियाँ भी प्रौढता-को लिये हुए हैं। जैनेन्द्रव्याकरणतो इनका प्रसिद्ध व्याकरणका ग्रन्थ है। जो बड़ा ही महत्वपूर्ण है इस पर अनेक विद्वानोंने टीकाएँ लिखी हैं। इनके सिवाय 'सारसंग्रह' ❀ छन्दशास्त्र और वैद्यक ग्रन्थोंके भी उल्लेख मिलते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश वे ग्रन्थ वर्तमानमें उपलब्ध नहीं हैं।

इनके एक शिष्य 'वज्रनन्दी'ने वि० सं० ५२६ में 'द्राविड संघ' की स्थापनाकी थी। × यह आचार्य कर्नाटक प्रान्तके निवासी थे और गंगवंशी राजा दुर्विनीतके शिक्षा गुरु थे, जिसका राज्यकाल सन् ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है। इन्हें हेब्बुर आदिके अनेक शिलालेखों (ताम्र पत्रादिकों) में शब्दावतारके कर्तारूपसे दुर्विनीत राजाका गुरु सूचित किया है ❀ इनका जीवन बड़ा ही प्रभावशाली रहा है और तपोनिष्ठाके कारण मनुष्योंके अतिरिक्त देवताओंसे भी पूजित हुए हैं।

यह पुष्पदन्त भूतबलिके षट्खण्डागम, कुन्दकुन्द और समन्तभद्राचार्यके ग्रन्थोंसे खूब परिचित थे। इनका समय ईसाकी ५ वीं और विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्द्ध है। इनका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये वीरसेवा-मन्दिरसे प्रकाशित 'समाधितन्त्र' तथा 'पुरातन जैन वाक्यसूची' ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाको देखना चाहिए।

२ रविषेण—अर्हंमुनिके प्रशिष्य और लक्ष्मणसेनके शिष्य थे। अर्हंमुनि दिवाकर यतिके शिष्य बतलाए गए हैं। इस गुरु परम्परामें संघ और गण गच्छादिका कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु 'रविषेण' यह नाम सेन परम्पराका जान पड़ता है। इस परम्परामें अनेक प्रौढ विद्वान आचार्य हुए हैं। आचार्य रविषेणकी एकमात्र कृति 'पद्मचरित' इस समय उपलब्ध है। इस ग्रन्थकी रचना कविने भगवान महावीरके निर्वाणसे १२०३ वर्ष बाद अर्थात् वि० सं० ७३३ में की है। ग्रन्थ सरस एवं सरल है और उसका कथा भाग बड़ाही रोचक है। अन्य जितने भी पद्मपुराण या तद्विषयक चरित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं वे सब उक्त चरित ग्रन्थके बादकी रचनाएँ हैं।

श्वेताम्बरीय विद्वान उद्योतन सूरिने अपनी 'कुवलयमाला' में रविषेणके—पद्मचरित और जटिल कविके वरांगचरित' का—उल्लेख किया है; ×

३ चउमुह—यह अपभ्रंश भाषाके प्रसिद्ध कवि थे और उक्त भाषाके स्वयंभूदेव तथा पुष्पदन्त नामके कवियों

+ देखो, नन्दिसंघ पट्टावली। ❀ देखो धवला। खं० १

× देखो, दर्शनसार गाथा २४–२८।

❀ देखो, कुर्ग इन्स्क्रिप्सन्स भू० मैसूर एण्ड कुर्ग जि० १ पृष्ठ ३७३; कर्णाटक भाषा भूषणम् भू० पृ० १२; हिस्टरी आफ कनाडी लिटरेचर पृ० २५; और कर्णाटक कविचरिते।

× जेहिं कए रमणिज्जे वरंग—पउमाण चरितवित्थारे।
कहवण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय रविसेणो॥

से पूर्ववर्ती थे। इनकी अपभ्रंश भाषामें तीन कृतियोंके रचे जानेका उल्लेख स्वयंभूदेवके ग्रन्थोंमें ※ उपलब्ध होता है, वे हैं हरिवंश पुराण, पउमचरिउ और पंचमीचरिउ। परन्तु खेद है कि इनमेंसे एकभी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।

४ द्रोण—यह भी एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। इनका स्मरण कितने ही कवियोंने किया है। परन्तु इनके सम्बन्धमें विशेष कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

५ स्वयंभूदेव—यह अपभ्रंश भाषाके महाकवि थे। इनके पिताका नाम मारुतदेव था, जो काव्य-शास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान थे। इनकी माताका नाम पद्मनी था। कविवर शरीरसे अत्यन्त दुबले पतले तथा उन्नत थे और उनकी नाक चपटी तथा दांत विरल थे—घने नहीं थे। इनकी तीन पत्नियाँ थीं, आइचाम्बा, सामिअब्बा और तीसरी 'सुअब्बा'। इनमें से प्रथम दो की सन्तानोंका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। किन्तु सुअब्बाके पवित्र गर्भसे त्रिभुवन-स्वयंभू' का जन्म हुआ था। कविका अपभ्रंश भाषा पर असाधारण अधिकार था। इनकी जो भी कृतियाँ हैं वे सब प्रायः अपभ्रंश भाषामें ही निबद्ध हुई हैं। इस समय इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं। पउमचरिउ, हरिवंश-चरिउ और स्वयंभूछन्द। इनके सिवाय 'पंचमीचरिउ' और स्वयंभू व्याकरण ये दोनों अनुपलब्ध हैं। स्वयंभूदेवने जब पउमचरिउ रचा उस समय वे धनंजयके आश्रित थे। और हरिवंशपुराणकी रचना करते समय उन्हें बंदइयाका आश्रय प्राप्त था। इनके ग्रंथोंके अन्तिम भागको इनके पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भूने पल्लवित किया था। यह विक्रमककी प्रायः ६ वीं शताब्दीके विद्वान हैं।

६ कविवीर—यह अपभ्रंश भाषा और संस्कृत भाषाके अच्छे विद्वान थे। इनके पिता देवदत्त काव्यशास्त्रके विद्वान कवि थे, जिन्होंने पद्धडिया छन्दमें 'वरांगचरित्र' की रचना की थी, शान्तिनाथचरित तथा अम्बादेवीका रास भी बनाया था; परन्तु ये तीनों ही रचनाएँ आज अनुपलब्ध हैं। इन सब रचनाओंका समुल्लेख इनके पुत्र वीरकविकी रचना 'जंबू स्वामीचरित' में पाया जाता है जिसका रचनाकाल सं० १०७६ है। इनकी माताका नाम 'संतुआ' या शान्तिदेवी था, जो शीलादि गुणोंसे अलंकृत थी। कविके तीन सहोदर (सगे) भाई थे, जो सीहल्ल लक्खण और जम्हर (यशोधर) नामसे लोकमें विख्यात थे। कविकी चार पत्नियाँ थीं जिनमती, पद्मावती, लीलावाती और जयादेवी। और नेमिचन्द नामका एकपुत्र भी था।

वीरकविने मालवदेशकी सिन्धुपुरी नामकी नगरीके मधुसूदन श्रेष्ठीके सुपुत्र 'तक्खडु,' श्रेष्ठीकी प्रेरणासे उक्त जंबूस्वामी चरित्रकी रचनाकी है। जिसकी रचनामें कविको पूरा एक वर्षका समय लगा था। साथही, महावन नामक उद्यानमें भगवान महावीरका पाषाण मय एक विशाल मन्दिर भी बनवाया था और उसमें भगवान महावीरकी मूर्तिकी भी प्रतिष्ठा कराई थी। उक्त ग्रंथ महाकाव्यके सभी लक्षणोंसे परिपूर्ण है ※

७ वज्रसेन—इन्होंने षट् दर्शनोंके सम्बंधमें कोई प्रामाणिक ग्रंथ रचा था, जो आज अनुपलब्ध है। इस उल्लेखसे वे एक दार्शनिक विद्वान जान पड़ते हैं। उनका वह दार्शनिक ग्रंथ विद्वानोंमें बहुत प्रसिद्ध रहा है।

८ जिनसेन—यह पुन्नाटसंघके विद्वान थे। इनके गुरुका नाम कीर्तिषेण था। इन्होंने अपना हरिवंशपुराण शक संवत् ७०५ (वि० सं० ८४०) में वर्द्धमानपुर के नन्नराज के बनवाए हुए पार्श्वनाथके जिन मंदिरमें उस समय बनाकर समाप्त किया था जबकि उत्तर दिशाकी इंद्रायुधनामका राजा, दक्षिण दिशा की कृष्णका पुत्र श्री वल्लभ, पूर्वदिशाकी अवन्तिभूपाल वत्सराज और पश्चिमकी सौरोंके अधिमण्डल या सौराष्ट्रकी वीर जयवराह रक्षा करता था × अतः इनका समय विक्रमकी ७वीं शताब्दीका पूर्वार्ध सुनिश्चित है।

※ देखो, स्वयंभूछन्द, ४-२, ७१, ८२ ८६, ११२। ये सब पद्य रामकथा सम्बन्धी हैं।

※ विशेष परिचय के लिये देखो, 'प्रेमीअभिनन्दन ग्रंथ' में प्रकाशित 'अपभ्रंश भाषाका जंबूस्वामी चरित्र' और महाकवि वीर, नामका मेरा लेख।

× शाकेस्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां।
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणां।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृतनृपे वत्साधिराजेऽपरो।
सौर्याणामधिमण्डले जययुते वीरे वराहे ऽवति॥

—हरिवंशपुराण प्रशस्ति

इस ग्रन्थके शुरूमें कविने अपनेसे पूर्ववर्ती अनेक आचार्योंका उनकी कृतियोंके नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है। ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्ति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है यदि उसके मध्यके कुछ विद्वानोंका उल्लेख और उपलब्ध हो जाय तो फिर भगवान महावीरसे उक्त ग्रन्थकर्ता जिनसेनाचार्य तककी एक अविच्छिन्न गुरु परम्पराका भी संकलन हो सकता है, जो ऐतिहासिक विद्वानोंके लिये एक गौरवकी वस्तु होगी।

६ देवसेन—यह निंबडिदेवके प्रशिष्य और विमलसेन गणधरके शिष्य थे तथा 'मलधारी देव, के नामसे लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त थे। मदन विजयी, तपस्वी, धर्मके उपदेशक, संयमके परिपालक और भव्यजन रूप कमलोंको विकसित करनेके लिये सूर्यके समान थे।

आपने 'सुलोचनाचरित्र' की अन्तिम प्रशस्ति में अपनी गुरु परम्पराका जो उल्लेख किया है उसमें आपने संघ और गण-गच्छादिका कोई उल्लेख नहीं है, जिससे देवसेन नामके अन्य विद्वानोंसे आपका पार्थक्य सिद्ध करनेमें सुविधा होती।

भावसंग्रह प्राकृत और आराधनासार आदि ग्रंथोंके रचयिता देवसेन भी विमलसेन गणधरके शिष्य बतलाये गए हैं। उन्होंने भी अपने ग्रंथोंके अन्तमें अपने संघ और गण गच्छादिका कोई उल्लेख नहीं किया। और न गुरुपरम्पराके साथ अपने गुरुकी किसी उपाधि विशेषका ही संकेत किया है, जिससे उनकी पृथकताका सहज बोध हो सकता। प्रस्तुत सुलोचनाचरितमें आपने अपने गुरुकी उपाधि मलधारी बतलाई है जबकि भावसंग्रहादिके कर्ता देवसेनने उसका कोई उल्लेख नहीं किया। इससे दोनों विमलसेनों की भिन्नता तो जान पड़ती है, पर उससे उनके संघ और गणगच्छादिकी भिन्नताका कोई संकेत नहीं मिलता।

सं० ११४२ के 'दूबकुण्ड' वाले शिलालेख में × देवसेनका उल्लेख निहित है। उसमें भी विमलसेन गणधर और उनके संघादिका कोई उल्लेख अंकित नहीं है जिससे स्पष्ट है कि सुलोचना चरितके कर्ता देवसेन उससे भिन्न हैं।

हां, उसी 'दूबकुण्ड' के एक 'जैन स्तूप'* पर तीन पंक्तियोंका एक दूसरा लेख भी अंकित किया हुआ मिला है जो सं. ११५२ की वैशाख शुक्ला पंचमीको उत्कीर्ण किया गया है। उसी स्तम्भके नीचेके भागमें एक नग्न मूर्ति भी है जिसपर 'श्री देवसेन' लिखा हुआ है। वह लेख इस प्रकार है:—

"१ सं० ११५२ वैशाखसुदि पंचम्यां
२ श्री काष्ठासंघ महाचार्य वर्य श्री देव
३ सेन पादुका युगलम्।"

इस लेखसे स्पष्ट है कि उक्त स्तूपवाले देवसेन काष्ठासंघके आचार्य थे। अब देखना यह है कि क्या इन देवसेनके साथ सुलोचना चरितके कर्ताका सामंजस्य ठीक बैठ सकता है पिटर्सन साहबकी रिपोर्टमें 'दर्शनसारके कर्ता देवसेनको रामसेनका शिष्य सूचित किया गया है। इसका उनके पास क्या आधार था, इस सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नहीं हो सका। पर इतना सुनिश्चित है कि दर्शनसारके कर्ता देवसेन सुलोचना चरितके कर्तासे पूर्ववर्ती विद्वान हैं। हो सकता है कि प्रशस्तिमें संघका उल्लेख न किया जासका हो।

प्रस्तुत देवसेनने अपने ग्रंथमें अपनेसे पूर्ववर्ती जिन विद्वानोंका उल्लेख किया है, उनमें अपभ्रंश भाषाके महाकवि पुष्पदन्त ही सबसे बादके विद्वान ज्ञात होते हैं। इनका समय विक्रमकी १०वीं ११वीं शताब्दी है। देवसेनने सुलोचनाचरितको राक्षस संवत्सरमें श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुधवारको बनाकर समाप्त किया है जैसाकि उनकी प्रशस्तिके निम्न पद्यसे स्पष्ट है:—

रक्खस संवच्छर बुहदिवसए, सुक्कचउद्दसिसावणमासए।
चरिउ सुलोयणाहि णिप्पणउ, सद्द-अत्थ-वण्णणसंपुण्णउ।

ज्योतिषकी गणनाके अनुसार साठ संवत्सरोंमें राक्षस संवत्सर ४९वां है। जो दो उल्लेखोंमें मिलता है। प्रथम राक्षस सवत्सर सन १०७५ (वि० सं० ११३२) २९ जुलाईका श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुधवार पड़ता है। और दूसरा सन् १३१५ वि० सं० १३७२ को १६ जुलाईके दिन बुधवार और उक्त चतुर्दशीका दिन पड़ता है। अतः इन दोनोंमें से पहला संवत्सर उपयुक्त जान पड़ता है। उससे स्पष्ट हो जाता है। कि सुलोचनाचरितके कर्ता देवसेन काष्ठा संघके विद्वान थे। उन्होंने आचार्य कुन्द-

× Edigraphica Indca Y.L.11.P. 237-248
* See Archaelogical survey of India Y. L. 20 P 102

कुन्दके प्राकृत गाथा बद्ध सुलोचनाचरितको × पद्धडिया छंदमें बनाकर समाप्त कियाहै, जिसका रचनाकाल सं.११३२ है। इससे दूबकुण्डका वह स्तूप लेख २० वर्ष बाद लिखा गया है। परन्तु स्तूपमें उल्लिखित देवसेनकी गुरु परंपराका भी यदि प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध होजाय तो उससे दोनों देवसेनोंके व्यक्तित्वका ठीक-ठीक पता चल सकता है।

१० महाकवि पुष्पदन्त—यह अपने समयके प्रसिद्ध विद्वान कवि थे। इनके पिताका नाम केशव भट्ट और माताका नाम मुग्धादेवी था। यह कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनका शरीर अत्यन्त कृश (दुबला-पतला) और वर्ण सांवला था। यह पहले शैव मतानुयायी थे, परन्तु बादको किसी दिगम्बर विद्वानके सांनिध्यसे जैनधर्मका पालन करने लगे थे। वे जैनधर्मके बड़े श्रद्धालु और अपनी काव्य-कलासे भव्योंके चित्तको अनुरंजित एवं मुग्ध करने वाले थे, तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश भाषाके महा पंडित थे। इनका अपभ्रंश भाषा पर असाधारण अधिकार था, उनकी कृतियाँ उनके विशिष्ट विद्वान होनेकी स्पष्ट सूचना करती हैं। कविवर बड़े ही स्वाभिमानी और उग्र प्रकृतिके धारक थे, इस कारण वे 'अभिमानमेरु' कहलाते थे। अभिमानमेरु, अभिमान चिह्न, काव्यरत्नाकर, कवि-कुल तिलक और सरस्वति निलय आदि उनकी उपाधियाँ थीं, जिनका उपयोग उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें स्वयं किया है। इससे उनके व्यक्तित्व और प्रतिष्ठाका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वे सरस्वतिके विलासी और स्वाभाविक काव्य-कलाके प्रेमी थे। इनकी काव्य-शक्ति अपूर्व और आश्चर्यजनक थी। प्रेम उनके जीवनका खास अंग था। वे धनादि वैभवसे अत्यन्त निस्पृह और जैनधर्मके अटल श्रद्धानी थे। उन्हें दर्शनशास्त्रों और जैनधर्मके सिद्धान्तोंका अच्छा परिज्ञान था। वे राष्ट्रकूट राजाओंके अन्तिम सम्राट् कृष्ण तृतीयके महामात्य भरतके द्वारा सम्मानित थे। इतनाही नहीं किन्तु भरतके समुदार प्रेम-मय पुनीत व्यवहारसे वे उनके महलोंमें निवास करते रहे, यह सब उस धर्मवत्सलताका ही प्रभावहै है जो भरतमंत्री उक्त कविवरसे महापुराण जैसे महान ग्रंथका निर्माण कराने में समर्थ हो सके। उत्तरपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिमें ⊛ कविने अपना जो कुछ भी संक्षिप्त परिचय अंकित किया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कविवर बड़े ही निःसंग और अलिप्त थे और देहभोगोंसे सदा उदासीन रहते थे। उत्तरपुराणके उस संक्षिप्त परिचय परसे कविके उच्चतम जीवन-कणोंमें उनकी निर्मल भद्रप्रकृति, निस्संगता और अलिप्तताका वह चित्रपट पाठकके हृदय-पटल पर अंकित हुए बिना नहीं रहता। उनकी अकिंचनवृत्तिका इससे और भी अधिक प्रभाव ज्ञात होता है, जब वे राष्ट्रकूट राजाओंके बहुत बड़े साम्राज्यके सेनानायक और महामात्य द्वारा सम्मानित एवं संसेवित होने पर भी अभिमानसे सर्वथा अछूते, निरीह एवं निस्पृह रहे है। देह-भोगोंसे उनकी अलिप्तता ही उनके जीवनकी महत्ताका सबसे बड़ा सबूत है। यद्यपि वे साधु नहीं थे, परन्तु उनकी वह निरीह भावना इस बातकी संद्योतक है कि उनका जीवन एक साधुसे कमभी नहीं था। वे स्पष्टवादी थे और अहंकारकी उस भीषणतासे सदा दूर रहते थे; परन्तु स्वाभिमानका परित्याग करना उन्हें किसी तरह भी इष्ट नहीं था. इतना ही नहीं किंतु वे अपमानसे मृत्युको अधिक श्रेष्ठ समझते थे।

कविकी इस समय तीन कृतियां समुपलब्ध हैं—महापुराण, नागकुमार चरित्र और यशोधरचरित्र जो मुद्रित है। ये सभी रचनाएँ सुन्दर अर्थ गौरव और भाषा सौष्ठवताको लिए हुए हैं। इनकी रचनाओंमें स्वभाविक माधुर्य और पदलालित्य होते हुए भी शब्द काठिन्य अधिक पाया जाता है, वे भाषा रस और अलंकारकी दिव्य छटाको लिए हुए हैं। कविका इस पर असाधारण अधिकार था। ग्रँथका अनुधावन करते हुए कविकी प्रतिभा तथा उनके भावुक स्वभावका पद-पद पर अनुभव होता है।

महापुराण दो खण्डों में विभाजित है, आदिपुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराणमें भगवान ऋषभदेवका-चरित्र वर्णित है और उत्तरपुराणमें अवशिष्ट तेईस

× जं गाहाबन्धं आसि उत्तु, सिरिकुन्दकुन्द गणिणा णिरुत्तु
तं एत्थहिं पद्धडियहिं करेमि, परि किंपि न गूढउ अत्थु देमि।
ते णवि कविणउ संखालहंति, जे अत्थुदेवि वसणहि (वि) पंति
—सुलोचना चरित्र प्रशस्ति

⊛ इसके लिए पाठक उत्तरपुराणकी प्रशस्तिका वह अन्तिम अंश देखें। ग्रंथ माणिकचन्द्र ग्रंथमालामें मुद्रित हो गया है।

तीर्थंकरों और १२ चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंका कथानक दिया दिया हुआ है । जिनमें महाभारत और रामायणकी कथाएँ भी संक्षिप्त रूपसे आजाती है । आदिपुराण में ३७ और उत्तरपुराण मे ६५ संधियां हैं । और इन दोनोंकी श्लोक संख्या बीस हजारसे कम नहीं जान पड़ती । कविने अपना यह ग्रंथ क्रोधन संवत्सरकी आषाढ शुक्ला दशमी अर्थात् शक सं० ८८७ (वि० सं० १०२२) मे बनाकर समाप्त किया है । इस ग्रंथका सम्पादन डा०पी. एल. वैद्यने किया है, जो माणिकचन्द ग्रंथमाला बंबईकी ओरसे प्रकाशित भी हो चुका है ।

दूसरा ग्रंथ नागकुमारचरित है । यह एक छोटासा खंड काव्य है । इसमें पंचमी व्रतके फलको व्यक्त करनेवाला एक सुन्दर कथानक दिया हुआ है जिसमें ९ सन्धियों द्वारा नागकुमारके चरित्रका अच्छा चित्रण किया गया है । रचना बड़ी सुन्दर सरस और चित्ताकर्षक है । इस ग्रंथकी रचना भरत मन्त्रीके पुत्र नन्नकी प्रेरणासे हुई है और इसीलिये यह ग्रंथ उन्हींके नामांकित किया गया है । इस ग्रंथका सम्पादन डा० हीरालालजी एम. ए. अमरावतीने किया है और वह कारंजा सीरीजसे प्रकाशित हो चुका है ।

यशोधरचरित्र—इस ग्रंथमे चार संधियां हैं । जिनमे राजा यशोधर और उनकी माता चंद्रमतीका कथानक दिया हुआ है, जो बड़ाही सुन्दर और हृदय-द्रावक है और उसे कविने चित्रितकर कंठका भूषण बना दिया है । राजा यशोधरका यह चरित इतना लोकप्रिय रहा है कि उसपर अनेक विद्वानोंने संस्कृत और अपभ्रंश भाषामें अनेक ग्रंथ लिखे है । सोमदेव, वादिराज, वासवसेन, सकलकीर्ति श्रुतसागर पद्मनाभ माणिक्यदेव, पूर्णदेव, कविरइधू, सोमकीर्ति, विश्वभूषण और क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर विद्वानोंने अनेक ग्रंथ लिखे है ।

ग्रन्थोंकी भाषा

कविवर रइधूके ग्रन्थोंकी भाषा १५ वीं शताब्दीकी प्राकृत अपभ्रंश है । उस समय हिन्दी भाषाका भी बहुत कुछ विकास हो चुका था । इनके विविध ग्रन्थोंको देखने तथा मनन करनेसे मालूम होता है कि उस समय बोलचालकी भाषामें हिन्दीका विकसित रूप आ गया था और इसीलिये कवि रइधूके ग्रन्थोंकी भाषा बहुत कुछ सरल तथा सहज ही अर्थबोधक है उसमें देशी भाषाके शब्दोंकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है । चूंकि रइधू कविके प्रायः सभी ग्रंथ ग्वालियर और उसके आस-पास प्रदेशों अथवा नगरोंमे रचे गए हैं, इसलिए उस पर शौरसेनी प्राकृत भाषाका प्रभाव स्पष्ट ही है । भाषा साहित्यकी दृष्टिसे जो शब्द काठिन्य अर्थ गौरव और अलङ्कारिकता पुष्पदन्तादि महाकवियोंके ग्रन्थोंमे दृष्टिगत होती है वैसी कवि रइधूके ग्रन्थोंमें नहीं है, उनकी भाषा अपेक्षाकृत बहुत ही सरल और सुबोध है, चरित तथा पुराण ग्रन्थोंमे कविने प्रकृत कथा वस्तुको ही सीधे सादे शब्दोंमे रखनेका प्रयत्न किया है और यथावश्यक संक्षिप्त रूपसे जैन सिद्धान्तकी मान्यताओंका भी यथा स्थान समावेश कर दिया है ।

कविवर रइधूने चरित, पुराण, पूजा, कथा और सैद्धान्तिक विषयों पर ग्रन्थ लिखे है । और वे सभी ग्रन्थ विभिन्न वंशों, जातियों एवं स्थानोंके धर्मात्मा श्रीमन्त व्यक्तियोंके अनुरोध पर रचे गए है, जो तत्कालिक भट्टारकोंके शिष्य थे—उन्हें गुरु रूपसे मानते थे, और उनकी प्रेरणासे प्रेरित होकर उनके द्वारा अनेक जैन मन्दिरों, मूर्तियोंका निर्माण और प्रतिष्ठादि कार्य भी सम्पन्न हुए है ।

रइधू कविके ग्रन्थोंमे चौपई, पद्धडी, घत्ता, गाहा, दोहा, दुवई, छप्पय, मदनावतार और भुजङ्गप्रयात आदि अनेक छन्दोंका प्रयोग हुआ है । किन्तु इन सब छन्दोंमे सबसे अधिक पद्धडी छन्दका ही उपयोग हुआ मिलता है । अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थोंमे यह खास विशेषता पाई जाती है कि उनमें सर्ग, अंक, अध्यायकी जगह सर्वत्र 'परिच्छेद' और 'सन्धि' शब्दका प्रयोग हुआ देखनेमे आता है । प्रत्येक सन्धि या परिच्छेदमें अनेक कडवक होते है और एक कडवक आठ आठ यमकोंका होता और दो पदोंका एक यमक होता है पद्धडी छन्दमें एक पदमे १६ मात्राएँ होती है; जैसा कि महाकवि स्वयंभूके 'स्वयंभूछन्द' विषयक ग्रंथके अन्तिम अध्यायके निम्न पद्योंसे प्रकट हैः—

पद्धडिया पुण जेइ करन्ति, ते सोडह मत्तउ पउ धरन्ति ।
विहिपअहि जयउ तेणिम्म अंति, कडवउ अट्ठहिं जमअहिरअन्ति॥
आइहिपुण् चत्त समा मणन्ति, जम अवसणि छड्डणि भणन्ति।
संखाणिबद्ध कडवेति संधि, इह विविह पयारहिं तुहुं विबन्धि ॥

ग्रन्थोंमें प्रयुक्त हुए सभी छन्दोंका यदि परिचय कराया जाय तो लेख बहुत बढ जायगा । अतः कुछ छन्दोंके नाममात्रका उल्लेख करके यहां सिर्फ पद्धडी छन्दका ही नमूना प्रस्तुत किया गया है ।

रचना-काल

कविवर रइधूने अपनी कृतियाँ प्रायः ग्वालियरके तम्बर या तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह और उनके पुत्र कीर्तिसिंहके राज्यकालमें ही अग्रवाल आदि जातियोंके स्थानीय तथा विभिन्न नगरोंके निवासी श्रेष्ठि-पुरुषोंकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे रची हैं। इसीसे ग्रन्थकर्ताने उन ग्रन्थ की आदि अन्त प्रशस्तियोंमें ग्रंथनिर्माणमें प्रेरक भव्य पुरुषोंके कुटुम्बादिका विस्तृत परिचय दिया है। जिससे उस समयके लोगोंकी परिणति, धार्मिक उत्साह और उदारता आदिका कितना ही परिचय मिल जाता है। साथ ही उस समयकी अनेक धार्मिक घटनाओंका—मन्दिर, मूर्ति-निर्माण तथा उनकी प्रतिष्ठा विधि-महोत्सव, तीर्थयात्रा संघ गमन, और ग्रन्थ निर्माण एवं उनकी प्रतिलिपियाँ कराकर दान देने आदिकी ऐतिहासिक घटनाओंका—समुल्लेख भी उपलब्ध हो जाता है। कविने जिन जिन श्रेष्ठी या श्रावकोंके आग्रहसे ग्रन्थ रचे हैं। उन उन पुरुषोंकी ओरसे कविका यथोचित् सम्मान भी किया गया है और अर्थादिके साहाय्यके साथ साथ वस्त्राभूषण आदिकी भेंट ✽ द्वारा उन्हें संतोषित भी किया गया है। इसीसे कविने भी प्रत्येक ग्रन्थकी संधियोंके शुरूमें संस्कृत पद्योंमें उन भव्य पुरुषोंके गुणोंका आख्यान करते हुए उनकी मंगल-कामना की है और वह ग्रन्थ भी इच्छानुसार उन्हींके नामांकित किया गया है।

सम्मत्त गुणनिधान और सुकौशलचरित नामके ग्रन्थोंमें उल्लिखित रचनाकालको छोड़कर शेष ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें उनका रचना समय दिया हुआ नहीं है जिससे यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है कि कवि रइधूने सबसे प्रथम किस ग्रन्थकी रचना की थी। सम्मत्तगुणनिधानकी रचना विक्रम संवत् १४९२ की भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा मंगलवारके दिन की गई है जैसा कि उसके निम्न प्रशस्ति वाक्यसे प्रकट है:—

चउदहसय वाणव उत्तरालि, वरिसइ गय विक्कमराय कालि।
वक्खेयत्त जि जिणवय-समक्खि, भद्दव मासम्मि स-सेयपक्खि
पुण्णमिदिणि कुजवारे समोइं, सुहयारें सुहणामें जणेइं।
तिहुमासयरतिं पुण्णहूउ, सम्मत्तगुणाहि णिहाण धूउ।

सुकौशल चरितकी रचना इससे चार वर्ष बाद विक्रम संवत् १४९६ माघ कृष्णा दशमीको अनुराधा नक्षत्रमें पूर्ण की गई है, जैसाकि उसके निम्न प्रशस्ति वाक्यसे स्पष्ट है:—

सिरि विक्कम समयंतरालि, वट्टंतइ इंदु सम विसमकालि।
चउदहसय संवच्छरइ अण्ण, छण्णउ अहिपुणु जाय पुण्ण।
माहदु जि किण्हदहमीदिणम्मि, अणुराहुरिक्ख पयडियसकम्मि

सम्मत्तगुणनिधानमें किसी ग्रंथके रचे जानेका कोई उल्लेख नहीं है हां, सुकौशलचरितमें पार्श्वनाथ पुराण, हरिवंश पुराण और बलभद्र चरित (पद्म पुराण) इन तीन ग्रंथोंका × नामोल्लेख किया गया है। जिससे यह स्पष्ट है, कि उक्त तीनों ग्रंथ और उनसे उल्लिखित सभी ग्रंथ संवत् १४९६ से पूर्व रचेगए हैं। पद्मपुराण या बलभद्र चरितमें सिर्फ नेमिनाथ पुराणका उल्लेख है ✽ हरिवंश पुराणमें त्रिषष्ठि शलाकापुरुष चरित (महापुराण) मेघेश्वर चरित, यशोधर चरित, वृत्तसार, जीवंधर चरित और पार्श्व चरित, इन छह ग्रंथोंके × रचे जानेका उल्लेख है। इससे ये सब ग्रंथ सं० १४९६ से पूर्व रचे गए हैं। और सम्मइ-जिनचरित' नामक ग्रंथमें, पार्श्वपुराण, मेघेश्वरचरित, त्रिषष्ठिशलाका चरित रत्नाकर (महापुराण) बलभद्र चरित, सिद्धिचक्र विधि, सुदर्शन चरित धन्यकुमार चरित नामक सात ग्रंथोंका उल्लेख किया गया है, जिसमें अंतके तीन ग्रन्थोंके नाम नये है।

✽ संपुण्ण करेप्पिणु पयडु अत्थु, खेऊँ साहुहु अप्पियउ सत्थु
बहुविणएं गिण्हियउ तेण, तक्खणि आणंदिउ णिय मणेण।
दीवंतर-आगय-विविह-वत्थ, पहिराविवि अइ सोहा पसत्थ।
आहरणहिं मंडिउ पुणु पवित्तु, इच्छादाणें रंजियउ चित्तु।
संतुट्ठउ पंडिय णिय मणंमि, आसीवाउवि दिण्णउ खणम्मि।
—पार्श्व पुराण प्रशस्ति

× जह पइणेमि जिणिंदह केरउ, चरिउ रइउ बहु-सुक्ख जणेरउ
अण्णु वि पासहु चरिउ पयासिउ, खेऊसाहू णिमित्त सुहासिउ
बलहद्दहु पुराण पुणु तीयउ, णियमण अणुराएं पइं कीअउ।
—सुकौशल चरित प्रशस्ति

✽ सोढलणिमित्त णेमिहु पुराणु, विरयउ जइ कइजण विहयमाणु
—बलभद्र चरित प्रशिस्ति

× सिरितिसट्ठि पुरिसगुण मन्दिरु, रइउ महापुराण जयचंदिरू।
तह भरहहु सेणावइ—चरियउ, को सुहकहपबन्धु गुणभरियउ
जसहरचरिउ जीवदय—पोसणु, वित्तसार सिद्धंत पयासणु।
जीवधरहु वि पासहचरियउ, विरइवि भुवणत्तउ जसभरियउ।
—हरिवंसपुराण प्रशस्ति

इनके अतिरिक्त करकण्डुचरित, सम्यक्त्वकौमुदी, आत्मसंबोध, अणथमी कथा, पुण्याश्रवकथा, सिद्धांतार्थसार, दशलक्षणजयमाला, और षोडशकारण जयमाला, भी हैं। इन आठ ग्रन्थोंमें से सम्यक्त्व कौमुदी और पुण्यास्रवकथा इनदो ग्रन्थोंको छोड़कर शेष ग्रन्थ कब और कहाँ रचे गए यह कुछ ज्ञात नहीं होता। इनके अतिरिक्त उपदेशरत्नमाला, सुदंशण चरित, और त्रिषष्ठि शलाका, पुरुषचरित (महापुराण) नामकी रचनाएँ मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हो सकीं, जिनकी खोज जारी है, मिलने पर उनके सम्बन्धमें भी प्रकाश डालनेका यत्न किया जायगा।

मैं पहले यह बतला आया हूँ कि कविवर रइधू प्रतिष्ठाचार्य थे। उनके द्वारा प्रतिष्ठित सं० १४९७ की आदिनाथकी मूर्तिका उल्लेखभी किया था। उन्होंने अनेक मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा की है। उनका जीवन सं० १५२५ से भी बादमें रहा है, क्योंकि उनके द्वारा सं० १५२५ में चैत्र सुदि ७ बुधवारके दिन ग्वालियरमें तोमर वंशी राजा कीर्तिसिंहके राज्यमें प्रतिष्ठाचार्य रइधूकी पाद सेवामें अग्रवाल वंशी संघाधिपति आमल्ह भव्य हेमराजके लिये निर्मित आदिनाथकी मूर्तिकी प्रतिष्ठाकी गई है। इससे स्पष्ट है कि कविवर इससे बादमें भी जीवित रहे हैं। पर कितने समय रहे यह बतलाना कठिन है। उनका समय विक्रमकी १५वीं शताब्दी का अन्तिम चरण है। अर्थात् वे १५वी १६वीं सदीके विद्वान थे।

ग्रन्थ-परिचय

कविके द्वारा रचित २३ ग्रन्थोंमेंसे २० ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

१ सम्मत्तगुण निधान—प्रस्तुत ग्रन्थमें सम्यक्त्व स्वरूप और उसके निःशंकितादि गुणोंका परिचय चार संधियों द्वारा कराया गया है, जिनमें उन आठ अंगोंमें प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले पुरुषोंके कथानकभी दिये हुए हैं। इस ग्रन्थमें कुल १०८ कडवक दिए हुए हैं जिनकी आनुमानिक श्लोक संख्या तेरहसौ पचहत्तरके करीब है। यह ग्रन्थ गोपाचल वासी साहू खेमसिंहके पुत्र कमलसिंहके अनुरोधसे बनाया गया है और उन्हींके नामांकित किया गया है। और गून्थकी आद्यन्त प्रशस्तियोंमें साहू कमलसिंहके कुटुम्बका विस्तृत परिचय दिया हुआ है। गून्थ गत कथाओंका आधार यशस्तिलकचम्पूके छटवें आश्वासके समान है। इस गू'थकी रचना वि० सं० १४९२ की माघ शुक्ला दशमी मंगलवारके दिन पूर्ण हुई है। इस ग्रंथको कविने तीन महीनेमें बनाकर समाप्त किया है। ग्रंथकी भाषा सरल और सुगम है।

२ सुकौशलचरित—इस ग्रंथमें राजा सुकौशलका पावन चरित वर्णित है। यह ग्रंथ भी चार संधियोंमें समाप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथका निर्माण वि० सं० १४९६ में ग्वालियर निवासी, अग्रवाल कुलावतंश साहू आसाके पुत्र रणमलसाहूकी प्रेरणा एवं आग्रहसे हुआ है। प्रशस्तिमें उनके वंशका परिचय भी दिया हुआ है।

३ बलहद्दचरित—(पद्मचरित) इसमें रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता आदिके चरित्रका अच्छा चित्रण किया गया है। यह ग्रंथ ग्यारह संधियोंमें समाप्त हुआ है, जिसकी श्लोक संख्या तीन हजार छहसौके करीब है। ग्रंथका कथानक बड़ा ही रोचक और हृदयग्राही है। यह अपभ्रंश भाषाकी १५ वीं शताब्दीकी जैन रामायण है। यह ग्रंथ भी ग्वालियर निवासी अग्रवाल कुलावतंश साहू बाटूके सुपुत्र हरसीसाहूकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे रचा गया है। साहू हरसी जिन शासनके भक्त और कषायोंको क्षीण करने वाले थे। आगम और पुराण ग्रंथोंके पठन-पाठनमें समर्थ, जिन पूजा और सुपात्रदानमें अनुरक्त, तथा रात्रि और दिनमें कायोत्सर्गमें स्थित होकर आत्मध्यान द्वारा स्व-परके भेदज्ञानका विचार-विमर्श एवं अनुभव करने वाले तथा तपश्चरण द्वारा शरीरको क्षीण करने वाले धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। ग्रंथकी आद्यंत प्रशस्तिमें हरसी साहूके कुटुम्बका विस्तृत परिचय कराया गया है। रामका चरित लोकमें बड़ा ही पावन रहा है, उस पर प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषामें अनेक जैन ग्रंथ रचे गये हैं।

४ नेमिनाथ जिन चरित—(हरिवंशपुराण) इस ग्रंथ में जैनियोंके २२वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथका पावन-चरित दिया हुआ है। उक्त ग्रंथ १४ संधियोंमें समाप्त हुआ है। इस ग्रंथकी रचना योगिनीपुर (देहली) से उत्तर दिशाकी ओर किसी समीपवर्ती नगरके निवासीकी प्रेरणासे हुई है, जिसका नाम पाठकी अशुद्धिके कारण स्पष्ट नहीं पढ़ा जासका। अग्रवाल कुलावतंश गोयल गोत्री महाभव्य साहू लाहाके पुत्र संघाधिप लोणा साहूकी प्रेरणासे हुई है। ग्रंथकी आद्यंतप्रशस्तिमें साहू लाहाके परिवारका यथेष्ट परिचय कराया गया है। इस ग्रंथकी प्रशस्तिमें 'खेल्हा' नामक

ब्रह्मचारीका उल्लेख किया गया है और इस ग्रंथकी आद्य-रचनासे पूर्व कुछ ग्रंथोंके रचे जानेका उल्लेख भी किया है। ग्रंथ प्रस्तिमें सोनागिरिके भट्टारकीय पट्टका उल्लेख है और कमलकीर्तिके उस पट्ट पर शुभचंद्रके बैठनेका भी ऐतिहासिक उल्लेख अंकित है जिसकी सूचना पूर्व की जा चुकी है।

५ पार्श्वपुराण—इस ग्रन्थमें जैनियोंके २३ वे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथका जीवन परिचय अंकित है। यद्यपि भगवान पार्श्वनाथके जीवन सम्बन्धमें प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषामें अनेक ग्रन्थ अनेक विद्वानो द्वारा लिखे गये हैं, जो अपनी अपनी विशेषताको लिये हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ सात संधियोंमें पूर्ण हुआ है इस ग्रन्थका निर्माण भी अग्रवाल वंशी साहूपजणके सुपुत्र साहूखेऊं या खेमचन्दके अनुरोधसे हुआ है। यह जोइणीपुर (दिल्ली) के निवासी थे। इनका गोत्र एेंडिल था। खेमचन्दकी माताका नाम वील्हादेवी और धर्मपत्नीका नाम धनदेवी था और उससे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, सहसराज, पहराज, रघुपति और हालिवम्म। इनमेंसे साहू संघाधिप सहसराजने गिरनारकी यात्राका संघ चलाया था। खेऊ साहू सप्त व्यसनसे रहित और देव-शास्त्र-गुरुके भक्त थे। ग्रन्थ बन जाने पर साहू खेमचन्दने कविवर रइधूका वस्त्राभूषण आदिसे खूब सत्कार किया था। इस तरह ग्रन्थ-प्रशस्तिमें खेऊं साहूके परिवारका विस्तृत परिचय कराया गया है। ग्रन्थकी आद्य प्रशस्तिमें ग्वालियरका भी परिचय दिया हुआ है। जिससे वहांकी उस समयकी परिस्थितिका बहुत कुछ पता चल जाता है।

६ मेघेश्वर-चरित—इस ग्रन्थमें भगवान आदिनाथ के सुपुत्र भरत चक्रवर्ती, जिनके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष विश्रुत हुआ है उनके प्रधान सेनापति जयकुमार का जिन्हे मेघेश्वर भी कहते थे, चरित वर्णन किया गया है। और समकालीन श्रीपाल चक्रवर्तीके हरण और निर्वाण प्राप्तिका कथानक भी दिया हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थमें १३ संधियां या परिच्छेद हैं जिनमें २८४ कडवक हैं और जिनकी आनुमानिक श्लोक संख्या तीन हजारसे कुछ ऊपर है। इस ग्रन्थकी रचना ग्वालियर वासी अग्रवाल वंशी साहू खेमचन्दकी प्रेरणासे की गई है। ग्रन्थकी संधियोंके अंतमें खेमचन्दकी प्रशंसा-सूचक संस्कृत पद्य भी दिए हुए हैं, जिनमें उनकी मंगल कामना की गई है। साथ ही ग्रन्थकी आद्यन्त प्रशस्तिमें इनके वंशका विस्तृत परिचय दिया हुआ है। ग्रन्थका कथा भाग भी सुन्दर है। इस ग्रन्थमें कविने अपनेसे पूर्ववर्ती निम्न ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है। कवि धीरसेन, देवनन्दी (पूज्यपाद) जैनेन्द्र व्याकरण, वज्रसेन और उनका षट्दर्शनप्रमाण नामका न्याय ग्रन्थ, रविषेण और उनका पद्मचरित, जिनसेनका हरिवंश पुराण, मेघेश्वर चरित, (सुलोचना चरित) देवसेन, अनंगचरित दिनकरसेन, महाकवि स्वयंभु, चतुर्मुख तथा पुष्पदन्त। प्रस्तुत ग्रन्थ ग्वालियरके तोमरवंशी राजा डूंगरसिंहके राज्यकालमें रचा गया है।

७ यशोधर चरित—इस ग्रन्थमें राजा और यशरोध चन्द्रमतीका जीवन परिचय दिया हुआ है। ग्रन्थका कथानक सुन्दर तथा हृदयग्राही है, और वह जीवदयाकी पोषक वार्ताओंसे ओत-प्रोत है। यद्यपि यशोधरके सम्बन्धमें संस्कृत भाषामें अनेक चरित-ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें आचार्य सोमदेवका 'यशस्तिलक चम्पू' सबमें उच्च कोटिका महा काव्य-ग्रन्थ है। परन्तु अपभ्रंश भाषाका यह दूसरा ही ग्रन्थ है। प्रथम ग्रन्थ महाकवि पुष्पदन्तका है। प्रस्तुत ग्रन्थ चार संधियोंमें समाप्त हुआ है जिसमें १०४ कडवक हैं और जिसकी पद्य संख्या आठसौ श्लोक जितनी है। इस ग्रन्थकी रचना भट्टारक कमलकीर्तिके अनुरोधसे तथा अग्रवालवंशी साहू कमलसिंहके पुत्र हेमराजकी प्रेरणा एवं अनुरोध पर की गई है, अतएव यह ग्रंथ भी हेमराजके नामांकित किया गया है। ग्रंथकी आद्यंत प्रशस्तिमें साहू-कमलसिंहके कुटुम्बका विस्तृत परिचय कराया गया है। कवि रइधूने इस ग्रंथको 'जोधा' साहूके सुंदर विहारमें बैठ कर बनाया है। और इसे स्वयं कविने 'दयारस भर गुण पवित्त' वाक्य द्वारा—पवित्र दयागुणरूपी रससे भरपूर बतलाया है।

८ धन्यकुमार चरित—इस ग्रंथमें धन्यकुमारका जीवन परिचय दिया हुआ है। यह ग्रंथ भी चार संधियोंमें पूर्ण हुआ है और उसका प्रमाण ६०० सौ अनुष्टुप् श्लोकों जितना है। इस ग्रंथकी रचना आरौन जिला ग्वालियर निवासी जैसवाल वंशीय साहू पुण्यपालके सुपुत्र साहू भुलणकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे हुई है।

९ पुण्याश्रवकथा—इस ग्रंथमें पुण्यका आस्रव करने वाली कथाओंका संकलन किया गया है। ये कथाएँ बड़ी ही रोचक और शिक्षाप्रद है, इस ग्रन्थका निर्माण

साहू नेमीदासकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे हुआ है, इसीसे कविवरने नेमीदासका और उनके कुटुम्बका विस्तृत परिचय दिया है। आद्यन्त प्रशस्तिमें साहू नेमीदास जोइणिपुर (दिल्ली) निवासी साहू तोमउके चार पुत्रोंमें से प्रथम थे। कविवरके प्रशस्ति गत कथनसे साहू नेमीदासकी धार्मिकता, उदारता और सुजनतादिका सहज ही आभास होजाता है, और उनके द्वारा अगनित मूर्तियोंके निर्माण कराये जाने तथा मंदिर एवं प्रतिष्ठा महोत्सव आदि किये जानेका परिचय भी मिल जाता है, नेमिदास चंदवाडके राजा प्रताप रुद्रसे सम्मानित थे, जो चौहान वंशी राजा रामचन्द्रके, जिनका राज्य वि० सं० १४६८ में विद्यमान था, पुत्र थे। इनका विशेष परिचय फिर कभी कराया जावेगा।

१० सम्मइजिनचरित—इसमें जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर या वर्धमानका जीवन परिचय दिया हुआ है। यद्यपि उसमें कवि असगके महावीरचरितसे कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं हुई; किन्तु फिर भी अपभ्रंश भाषाका यह चरित ग्रंथ पद्धडिया आदि विविध छंदोंमें रचा गया है। कविवरकी रचना-शैली सरल होनेसे रुचिकर भी है। यह ग्रंथ दस संधियोंमें समाप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ हिसार निवासी अग्रवाल कुलावतंश गोयल गोत्रीय साहू सहजपालके पुत्र और संघाधिप सहदेवके लघु भ्राता साहू तोमउकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे बनाया गया है। इस ग्रंथकी आद्यन्त प्रशस्तिमें साहू तोमउके वंशका विस्तृत परिचय दिया हुआ है और उनके द्वारा सम्पन्न होने वाले धार्मिक कार्योंका समुल्लेख भी किया गया है। साथ ही खेल्हा ब्रह्मचारी और ग्वालियरसे उनके द्वारा निर्मित चंद्रप्रभु भगवानकी विशाल मूर्तिकाभी उल्लेख किया है, जिनका परिचय 'प्रशस्तियोंके महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उल्लेख' शीर्षकके नीचे कराया गया है। इस ग्रन्थकी आद्य प्रशस्तिमें इससे पूर्व बने हुए कुछ ग्रन्थोंका भी उल्लेख दिया हुआ है। जिनका नामोल्लेख 'रचनाकाल' शीर्षकके नीचे किया गया है।

११ सिद्धचक्रविधि—इस ग्रन्थका नाम सिद्धचक्रविधि (श्रीपाल चरित) है इस ग्रन्थमें श्रीपाल नामके राजा और उनके पाँचसौ साथियोंका सिद्धचक्रव्रत (अष्टान्हिका व्रत) के प्रभावसे कुष्टरोग दूर होजाने आदिकी कथाका चित्रण किया गया है। और सिद्धचक्रव्रतका महात्म्य ख्यापित करते हुए उसके अनुष्ठानकी प्रेरणाकी गई है। ग्रंथका कथा भाग बड़ा ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है और भाषा भी सरल तथा सुबोध है। ग्रन्थका यह कथाभाग दश संधियोंमें समाप्त हुआ है जिसकी आनुमानिक श्लोक संख्या दो हजार दो सौ बतलाई गई है। यद्यपि श्रीपालके जीवन परिचय और सिद्धचक्रव्रतके महत्वको चित्रित करने वाले संस्कृत, हिंदी और गुजराती भाषामें अनेक ग्रंथ विद्यमान हैं; परन्तु अपभ्रंश भाषाका यह दूसरा ही ग्रंथ है। प्रथम ग्रंथ पंडित नरसेनका है।

१२ वृत्तसार—यह कविवरकी सैद्धांतिक कृति है। इस ग्रन्थमें सम्यक् चरित्रकी प्रधानतासे कथन किया गया है। ग्रन्थ छह अंकों अथवा अध्यायोंमें विभक्त है। जिनमें सम्यग्दर्शन, गुणस्थान, कर्म, अनुप्रेक्षा, धर्म और ध्यानरूप छह प्रमेयोंका विवेचन किया गया है। कुछ 'उक्तं च' पद्योंको छोड़ कर मूल ग्रन्थकी गाथा संख्या आठसौ सत्ताईस है, जिसकी आनुमानिक श्लोक संख्या एक सहस्रके लगभग होगी। इस ग्रंथकी रचना कविने अग्रवाल वंशी साहू हालूके सुपुत्र आढ़ साहूकी प्रेरणासे कीगई है, अतएव यह ग्रन्थ उन्हींके नामांकित किया गया है। कविवरकी कथन शैली संक्षिप्त और सरल है। ग्रन्थका अंतिम पत्र उपलब्ध न होनेसे यह ज्ञात नहीं हो सका कि ग्रन्थ निर्माणमें प्रेरक साहू आढ़ कहांके निवासी थे।

१३ अणथमी कथा—इस कथामें रात्रिभोजनके दोषों और उससे होने वाली व्याधियोंका उल्लेख करते हुए लिखा है कि दो घड़ी दिनके रहने पर श्रावक लोग भोजन करें, क्योंकि सूर्यके तेज मंद होने पर हृदय कमल संकुचित हो जाता है, अतः रात्रि भोजनके त्यागका विधान धार्मिक तथा शारीरिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे किया गया है जैसा कि उसके निम्न दो पद्योंसे प्रकट है:—

जि रोय दलद्दिय दीणअणाह,
 जि कुट्ठ गलियकर करण सवाह।
दुहग्गु जि परियणु वग्गु अणेहु,
 सुरयणिहि भोयणु फलु जि मुणेहु।
घडी दुइ वासरु थक्कइ जाम,
 सुभोयण सावय भुंजहि ताम।
दिवायरु तेउ जि मंदउ होइ,
 सकुच्चइ चित्तहु कमलु जि सोइ॥

ब्रह्मचारीका उल्लेख किया गया है और इस ग्रंथकी आद्य-रचनासे पूर्व कुछ ग्रंथोंके रचे जानेका उल्लेख भी किया है। ग्रंथ प्रशस्तिमें सोनागिरिके भट्टारकीय पट्टका उल्लेख है और कमलकीर्तिके उस पट्ट पर शुभचंद्रके बैठनेका भी ऐतिहासिक उल्लेख अंकित है जिसकी सूचना पूर्व की जा चुकी है।

५ पार्श्वपुराण — इस ग्रन्थमें जैनियोंके २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथका जीवन परिचय अंकित है। यद्यपि भगवान पार्श्वनाथके जीवन सम्बन्धमें प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषामें अनेक ग्रन्थ अनेक विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं, जो अपनी अपनी विशेषताको लिये हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ सात संधियोंमें पूर्ण हुआ है इस ग्रन्थका निर्माण भी अग्रवाल वंशी साहू पजणके सुपुत्र साहूखेऊ या खेमचन्दके अनुरोधसे हुआ है। यह जोइणीपुर (दिल्ली) के निवासी थे। इनका गोत्र एंडिल था। खेमचन्दकी माताका नाम वील्हादेवी और धर्मपत्नीका नाम धनदेवी था और उससे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, सहसराज, पहराज, रघुपति और होलिवम्म। इनमेंसे साहू संघाधिप सहसराजने गिरनारकी यात्राका संघ चलाया था। खेऊ साहू सप्त व्यसनसे रहित और देव-शास्त्र-गुरुके भक्त थे। ग्रन्थ बन जाने पर साहू खेमचन्दने कविवर रइधूका वस्त्राभूषण आदिसे खूब सत्कार किया था। इस तरह ग्रन्थ-प्रशस्तिमें खेऊ साहूके परिवारका विस्तृत परिचय कराया गया है। ग्रन्थकी आद्य प्रशस्तिमें ग्वालियरका भी परिचय दिया हुआ है। जिससे वहांकी उस समयकी परिस्थितिका बहुत कुछ पता चल जाता है।

६ मेघेश्वर-चरित — इस ग्रन्थमें भगवान आदिनाथ के सुपुत्र भरत चक्रवर्ती, जिनके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है उनके प्रधान सेनापति जयकुमार का जिन्हें मेघेश्वर भी कहते थे, चरित वर्णन किया गया है। और समकालीन श्रीपाल चक्रवर्तीके हरण और निर्वाण प्राप्तिका कथानक भी दिया हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थमें १३ संधियाँ या परिच्छेद हैं जिनमें ३८४ कडवक हैं और जिनकी आनुमानिक श्लोक संख्या तीन हजारसे कुछ ऊपर है। इस ग्रन्थकी रचना ग्वालियर वासी अग्रवाल वंशी साहू खेमचन्दकी प्रेरणासे की गई है। ग्रन्थकी संधियोंके अंतमें खेमचन्दकी प्रशंसा-सूचक संस्कृत पद्य भी दिए हुए हैं, जिनमें उनकी मंगल कामना की गई है। साथ ही ग्रन्थकी आद्यन्त प्रशस्तिमें इनके वंशका विस्तृत परिचय दिया हुआ है। ग्रन्थका कथा भाग भी सुन्दर है। इस ग्रन्थमें कविने अपनेसे पूर्ववर्ती निम्न ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है। कवि धीरसेन, देवनन्दी (पूज्यपाद) जैनेन्द्र व्याकरण, वज्रसेन और उनका षट्दर्शनप्रमाण नामका न्याय ग्रन्थ, रविषेण और उनका पद्मचरित, जिनसेनका हरिवंश पुराण, मेघेश्वर चरित, (सुलोचना चरित) देवसेन, अनंगचरित दिनकरसेन, महाकवि स्वयंभू, चतुर्मुख तथा पुष्पदन्त। प्रस्तुत ग्रन्थ ग्वालियरके तोमरवंशी राजा डूंगरसिंहके राज्यकालमें रचा गया है।

७ यशोधर चरित — इस ग्रन्थमें राजा और यशरोध चन्द्रमतीका जीवन परिचय दिया हुआ है। ग्रन्थका कथानक सुन्दर तथा हृदयग्राही है, और वह जीवदयाकी पोषक वार्ताओंसे ओत-प्रोत है। यद्यपि यशोधरके सम्बन्धमें संस्कृत भाषामें अनेक चरित-ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें आचार्य सोमदेवका 'यशस्तिलक चम्पू' सबसे उच्च कोटिका महा काव्य-ग्रन्थ है। परन्तु अपभ्रंश भाषाका यह दूसरा ही ग्रन्थ है। प्रथम ग्रंथ महाकवि पुष्पदन्तका है। प्रस्तुत ग्रन्थ चार संधियोंमें समाप्त हुआ है जिसमें १०४ कडवक हैं और जिसकी पद्य संख्या आठसौ श्लोक जितनी है। इस ग्रन्थकी रचना भट्टारक कमलकीर्तिके अनुरोधसे तथा अग्रवालवंशी साहू कमलसिंहके पुत्र हेमराजकी प्रेरणा एवं अनुरोध पर की गई है, अतएव यह ग्रंथ भी हेमराजके नामांकित किया गया है। ग्रंथकी आद्यंत प्रशस्तिमें साहू-कमलसिंहके कुटुम्बका विस्तृत परिचय कराया गया है। कवि रइधूने इस ग्रंथको 'जोधा' साहूके सुंदर विहारमें बैठ कर बनाया है। और इसे स्वयं कविने 'दयारस भर गुण पवित्त' वाक्य द्वारा—पवित्र दयागुणरूपी रससे भरपूर बतलाया है।

८ धन्यकुमार चरित — इस ग्रंथमें धन्यकुमारका जीवन परिचय दिया हुआ है। यह ग्रंथ भी चार संधियों-में पूर्ण हुआ है और उसका प्रमाण ९०० सौ अनुष्टुप् श्लोकों जितना है। इस ग्रंथकी रचना आरौन जिला ग्वालियर निवासी जैसवाल वंशीय साहू पुण्यपालके सुपुत्र साहू भुल्लणकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे हुई है।

९ पुण्याश्रवकथा — इस ग्रंथमें पुण्यका आस्रव करने वाली कथाओंका संकलन किया गया है। ये कथाएँ बड़ी ही रोचक और शिक्षाप्रद हैं, इस ग्रन्थका निर्माण

साहू नेमीदासकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे हुआ है, इसीसे कविवरने नेमीदासका और उनके कुटुम्बका विस्तृत परिचय दिया है। आद्यन्त प्रशस्तिमें साहू नेमीदास जोइणिपुर (दिल्ली) निवासी साहू तोसउके चार पुत्रोंमें से प्रथम थे। कविवरके प्रशस्ति गत कथनसे साहू नेमीदासकी धार्मिकता, उदारता और सुजनतादिका सहज ही आभास होजाता है, और उनके द्वारा अगनित मूर्तियोंके निर्माण कराये जाने तथा मंदिर एवं प्रतिष्ठा महोत्सव आदि किये जानेका परिचय भी मिल जाता है, नेमिदास चंदवाड़के राजा प्रताप रुद्रसे सम्मानित थे, जो चौहान वंशी राजा रामचन्द्रके, जिनका राज्य वि० सं० १४६८ में विद्यमान था, पुत्र थे। इनका विशेष परिचय फिर कभी कराया जावेगा।

१० सम्मइजिनचरित —इसमें जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर या वर्धमानका जीवन परिचय दिया हुआ है। यद्यपि उसमें कवि असगके महावीरचरितसे कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं हुई; किंतु फिर भी अपभ्रंश भाषाका यह चरित ग्रंथ पद्धडिया आदि विविध छंदोंमे रचा गया है। कविवरकी रचना-शैली सरल होनेसे रुचिकर भी है। यह ग्रंथ दस संधियोंमे समाप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ हिसार निवासी अग्रवाल कुलावतंश गोयल गोत्रीय साहू सहजपालके पुत्र और संघाधिप सहदेवके लघु भ्राता साहू तोसउकी प्रेरणा एवं अनुरोधसे बनाया गया है। इस ग्रंथकी आद्यन्त प्रशस्तिमें साहू तोसउके वंशका विस्तृत परिचय दिया हुआ है और उनके द्वारा सम्पन्न होने वाले धार्मिक कार्योंका समुल्लेख भी किया गया है। साथ ही खेल्हा ब्रह्मचारी और ग्वालियरमें उनके द्वारा निर्मित चंद्रप्रभु भगवानकी विशाल मूर्तिकाभी उल्लेख किया है, जिनका परिचय 'प्रशस्तियोंके महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उल्लेख' शीर्षकके नीचे कराया गया है। इस ग्रन्थ की आद्य प्रशस्तिमें इससे पूर्व बने हुए कुछ ग्रन्थोंका भी उल्लेख दिया हुआ है। जिनका नामोल्लेख 'रचनाकाल' शीर्षकके नीचे किया गया है।

११ सिद्धचक्रविधि–इस ग्रन्थका नाम सिद्धचक्रविधि (श्रीपाल चरित) है इस ग्रन्थमें श्रीपाल नामके राजा और उनके पाँचसौ साथियोंका सिद्धचक्रव्रत (अष्टान्हिका व्रत) के प्रभावसे कुष्टरोग दूर होजाने आदिकी कथाका चित्रण किया गया है। और सिद्धचक्रव्रतका महात्म्य ख्यापित करते हुए उसके अनुष्ठानकी प्रेरणाकी गई है। ग्रंथका कथा भाग बड़ा ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है और भाषा भी सरल तथा सुबोध है। ग्रन्थका यह कथाभाग दश संधियोंमे समाप्त हुआ है जिसकी आनुमानिक श्लोक संख्या दो हजार दो सौ बतलाई गई है। यद्यपि श्रीपालके जीवन परिचय और सिद्धचक्रव्रतके महत्वको चित्रित करने वाले संस्कृत, हिंदी और गुजराती भाषामे अनेक ग्रंथ विद्यमान है; परन्तु अपभ्रंश भाषाका यह दूसरा ही ग्रंथ है। प्रथम ग्रंथ पंडित नरसेनका है।

१२ वृत्तसार—यह कविवरकी सैद्धांतिक कृति है। इस ग्रन्थमे सम्यक् चरित्रकी प्रधानतासे कथन किया गया है। ग्रन्थ छह अंकों अथवा अध्यायोंमें विभक्त है। जिनमे सम्यग्दर्शन, गुणस्थान, कर्म, अनुप्रेक्षा, धर्म और ध्यानरूप छह प्रमेयोंका विवेचन किया गया है। कुछ 'उक्तं च' पद्योंको छोड़ कर मूल ग्रन्थकी गाथा संख्या आठसौ सत्ताईस है, जिसकी आनुमानिक श्लोक संख्या एक सहस्रके लगभग होगी। इस ग्रंथकी रचना कविने अग्रवाल वंशी साहू हालुके सुपुत्र आढ़ साहूकी प्रेरणासे कीगई है, अतएव यह ग्रन्थ उन्हींके नामांकित किया गया है। कविवरकी कथन शैली संक्षिप्त और सरल है। ग्रन्थका अंतिम पत्र उपलब्ध न होनेसे यह ज्ञात नहीं हो सका कि ग्रन्थ निर्माणमे प्रेरक साहू आढ़ कहांके निवासी थे।

१३ अणथमी कथा—इस कथामें रात्रिभोजनके दोषों और उससे होने वाली व्याधियोंका उल्लेख करते हुए लिखा है कि दो घड़ी दिनके रहने पर श्रावक लोग भोजन करें, क्योंकि सूर्यके तेज मंद होने पर हृदय कमल संकुचित हो जाता है, अतः रात्रि भोजनके त्यागका विधान धार्मिक तथा शारीरिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे किया गया है जैसा कि उसके निम्न दो पद्योंसे प्रकट है:—

जि रोय दलद्दिय दीणअणाह,
जि कुट्ठ गलियकर करण सवाह।
दुहग्गु जि परियणु वग्गु अणेहु,
सुरयणिहि भोयणु फलु जि मुणेहु।
घडी दुइ वासरु थक्कइ जाम,
सुभोयण सावय भुंजहि ताम।
दिवायरु तेउ जि मंदउ होइ,
सकुच्चइ चित्तहु कमलु जि सोइ॥

१४ सिद्धान्तार्थ सार—इस ग्रन्थका विषयभी सैद्धांतिक है और गाथा छंदमें रचा गया है। यह ग्रन्थ वाणिक्वर श्रेष्ठी खेमसी साहूके निमित्त बनाया गया है। इस ग्रन्थमें सम्यग्दर्शन, जीवस्वरूप, गुणस्थान, व्रत समिति, इंद्रिय निरोध आदि आवश्यक क्रियाओंका स्वरूप, अट्ठाईस मूल गुण, अष्टकर्म, द्वादशांगश्रुत, लब्धि स्वरूप, द्वादश अनुपेक्षा, दश लक्षणधर्म और ध्यानोंके स्वरूपका कथन किया गया है। परंतु उपलब्ध ग्रन्थका अंतिम भागखंडित है, लेखकने कुछ जगह छोड़कर लेखक पुष्पिकाकी प्रतिलिपि कर दी है। ग्रन्थके शुरूमें कविने लिखा है कि यदि मैं उक्त सभी विषयोंके निरूपणमें स्खलित होजाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना चाहिये।

१५ सम्यक्त्व कौमुदी—इसमें सम्यक्त्वकी उत्पादक कथाओंका बड़ाही रोचक वर्णन दिया हुआ है, यह ग्रन्थभी रइधूने राजा कीर्तिसिंहके राज्य कालमें रचा है इसकी आदि अंत प्रशस्तिसे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ गोपाचलके वासी गोलाराडीय जातिके भूषण सेउ साहूकी प्रेरणासे निर्मित हुआ है, यह ग्रन्थ नागौरके ज्ञानभंडारमें मौजूद है, जब मैं वहांके भंडार खुलनेके अवसर पर नागौर गया था तब वहां छोटे ७१ पत्रात्मक इस ग्रन्थकी एक प्रति देखी थी और उसकी आदि अंत प्रशस्तिभी नोट करनी चाही, परंतु वहांके भट्टारक और प्रधान श्रीमानोंके सर्वथा रोक देनेके कारण मैं ऐसा न कर सका, जिसका मुझे भारी खेद है। यदि इस ग्रन्थका उद्धार न किया गया तो वह शीघ्र ही समाप्त हो जायगा। आशा है वहांके भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिजी उसे शीघ्र ही प्रकाशमें लानेका कष्ट करेंगे, चूँकि अब वहां ग्रन्थ-सूचीका कार्यभी शुरू होगया है। अतः इस ग्रन्थका प्रकाशनभी होजाना चाहिये।

१६ षोडश कारण जयमाला—इसमें दर्शन विशुद्धि, विनयसम्पन्नता आदि सोलह भावनाओंका विवेचन किया गया है, जो तीर्थंकर प्रकृतिके बंधका कारण हैं, इसमें प्रथम भावना दर्शनविशुद्धि सम्यक्त्वके २५ दोषोंसे रहित तीर्थंकर प्रकृतिकी बंधक है, शेष १५ भावनाएँ न भी हों, तोभी तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो सकता है; किंतु दर्शन विशुद्धिके अभावमें वे कार्य कारी नहीं हैं। अतः दर्शन विशुद्धिको प्राप्त करना श्रेयस्कर है।

१७ दशलक्षण जयमाला—यह ग्रन्थ जैनियोंके धार्मिक पूजन-पाठमें प्रचलित है। इसमें उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग अकिंचन और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंका स्वरूप विशदरीतिसे बतलाया गया है। जैनियोंके पर्यूषण पर्वमें इसके पढ़े जानेका आम रिवाज है। यह ग्रन्थ हिंदी अनुवादके साथ प्रकाशित हो चुका है। किंतु वृत्तसार नामके ग्रन्थमें उक्त दशधर्मोंके स्वरूपका गाथा छंदमें विशद रूपसे विचार किया किया गया है।

१८ जीवंधर चरित—इस ग्रन्थमें दर्शन विशुद्धयादि षोडश कारण भावनाओंके फलका वर्णन किया गया है और उसके फल प्राप्त करने वाले जीमंधर या जीवंधर तीर्थंकरकी कथा दी गई है। यह जीमंधर स्वामी पूर्व विदेहक्षेत्रके अमरावती देश स्थित गंधर्व राउ (राज) नगरके राजा सीमंधर और उनकी पट्ट महिषी महादेवीके पुत्र थे। इन्होंने दर्शनविशुद्धयादि षोडश भावनोंका भक्तिभावसे चिंतन किया था जिसके फल स्वरूप वे धर्मतीर्थके प्रवर्तक हुए। इस ग्रन्थमें तेरह संधियां या परिच्छेद हैं। ग्रन्थका कथाभाग सुन्दर है। परंतु यह ग्रन्थ प्रति अत्यंत अशुद्ध रूपमें लिखी गई है, उससे यह सहजही ज्ञात होजाता है कि लेखक पुरानी लिपीका अभ्यासी नहीं था और प्रति लिखवाकर पुनः जांच भी नहीं की गई है।

१९ करकण्डु चरित—इस ग्रन्थमें राजा करकण्डुके चरितका चित्रण किया गया है। कथानक सुंदर और ऐतिहासिक दृष्टिसे भी महत्वपूर्ण है। उसमें तेरापुरकी गुफाओंका भी वर्णन दिया हुआ है। ग्रन्थकी यह प्रति आदि अंत भागसे रहित है। और देहलीके मंदिर धर्मपुराके शास्त्र-भण्डार की है। पूर्ण प्रतिके उपलब्ध न होनेसे उसके निर्माण आदिके सम्बंधमें विचार करना संभव नहीं है।

२० आत्म-संबोध काव्य—यह छोटासा काव्य ग्रन्थ है जिसे कविने आत्मसम्बोधनार्थ बनाया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ आत्महितकी दृष्टिको सामने लक्षित करके हिंसादि पंच पापों और सप्तव्यसनादिके परित्यागकी अच्छी शिक्षा दी गई है। और आत्माको अपने कर्तव्यकी ओर लक्ष्य रखनेका प्रयत्न भी किया गया है।

संस्कृतका अध्ययन जातीय चेतनाके लिए आवश्यक

संस्कृत विश्वपरिषद् बनारसमें राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादका उद्घाटन भाषण

"वास्तवमें यह अत्यन्त खेद और लज्जाकी बात है कि इस विषयमें हमारे देशमें लेशमात्रभी सन्देह या शंका हो कि संस्कृतका अध्ययन आवश्यक भी है क्या? विदेशी विद्वानों और शासकों तकने सांस्कृतिक-दृष्टिसे संस्कृत अध्ययनके महत्वके बारेमें किसी प्रकारकी शंका कभी नहीं की। हमारी संस्कृति, हमारा साहित्य, हमारी प्रादेशिक भाषाएं, हमारी कलाएं, हमारे मत मतान्तर, हमारा इतिहास अथवा हमारा सम्पूर्ण जीवन संस्कृत ज्ञानके बिना हमारे लिए अनबूझी और अनजानी पहेलीही बना रहेगा। यह हर्षकी बात है कि इस दिशामें पहला पग कृष्णकी लीला भूमि सौराष्ट्रमें उठाया गया था और इसका अगला कदम भगवान शिवकी इस पुनीत और ऐतिहासिक नगरीमें उठाया जायेगा। मुझे विश्वास है कि इन दो महाविभूतियों की ऐतिहासिक छायामें आरम्भ होने वाला यह कार्य फलेगा और फूलेगा।" संस्कृत विश्व परिषद्के द्वितीय अधिवेशनका आज उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसादने उक्त विचार प्रकट किये।

डा. राजेन्द्रप्रसादने कहा कि जिस प्रकार आज अनेक देशोंके विद्यार्थी शिक्षाके लिए यूरुप या अमरीका जाते है लगभग उसी प्रकार सहस्त्राब्दियों तक अन्य देशोंसे विद्या जिज्ञासु संस्कृत और उसका वांगमय पढ़नेके लिए हमारे देशमें आते थे उन युगोंमें सभ्यताके रहस्योंको पानेकी संस्कृत एक कुञ्जी मानी जाती थी। आजकल भी यूरुप, जापान, और अमरीकामें सस्कृतके अध्ययनके लिये विशेष प्रबन्ध हैं और उसकी शिक्षा पर वहां पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। यह सब इसलिए ही न कि सस्कृत अध्ययनसे मानव जातिके अतीतके बहुत धुंधले पृष्ठोंको ठीक-ठीक समझनेमें भारी सहायता मिलती है, उसके और दर्शनसे मनुष्यको गहरा आनन्द और सूक्ष्म विचार-शक्ति प्राप्त होती है। पर विदेशियोंसे कहीं अधिक हमें इसकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये।

जातीय चेतनाका पहचानना

मेरा यह विचार केवल इसलिए ही नहीं है कि मुझे भारतके अतीतसे प्रेम है और मैं उसकी ऐतिहासिक ज्ञाननिधि और जातीय अनुभूतिको मिट्टीकी ठीकरी या कूड़ा समझ कर नहीं फेंक देना चाहता। मैं मानता हूं और मेरा विश्वास है—कि कोईभी विचारशील व्यक्ति इस बातसे इन्कार नहीं करेगा कि—कोई जाति या राष्ट्र तब तक सफलतासे आगे नहीं बढ़ सकता जब तक उसे अपनी ऐतिहासिक चेतनाका अपनी मानसिक प्रवृत्तियों, शक्ति और साधनोंका यथाविद् ज्ञान न हो, क्योंकि ऐसी जातिके व्यक्तियोंमें किसीभी कार्यक्रमके लिए वह मनैक्य और वह उत्साह नहीं हो सकता जो तब होता जब जातीय चेतनाके मनोनुकूल और कोई कार्यक्रम हाथमें लिया जाता है। जातीय चेतनासे सर्वथा अनभिज्ञ जननायक जन शक्तिको प्रगतिके लिए प्रयोगमें लानेमें वैसे ही असमर्थ होगा जैसे कि जलशास्त्रसे सर्वथा अपरिचित कोई व्यक्ति नदीको बांधकर उसे रचनात्मक कार्योंके लिए प्रयोग करनेमें असमर्थ होता है। महात्माजी ने इस सत्यको खूब पहचाना था और उन्होंने भारतमें राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक क्रांतिका जो कार्यक्रम बनाया था वह हमारी ऐतिहासिक जातीय चेतनाके ठीक ठीक ज्ञान पर ही आश्रित था और इसी हेतु उस कार्यक्रमको यहांकी साधारण जनताका सहजमें ही उत्साहप्रद समर्थन और सहयोग मिल गया था। अतः मेरा यह आग्रह है कि भारतके सुन्दर भविष्यके लिए, उसकी आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगतिके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम अपनी जातीय चेतनाको पहचाननेका यथोचित प्रबन्ध करें। इस प्रबन्धका एक प्रमुख अंग संस्कृत अध्ययनके लिए प्रबन्ध करना है क्योंकि संस्कृतमें ही तो अधिकतर वह सामग्री है जिसके आधार पर हम अपने जातीय स्वरूपको यथाविद् पहचान और जान सकते हैं।

शोचनीय दशा

मुझे इस बातका खेद है कि इस दिशामें जैसी व्यवस्था होनी चाहिये, जितना धन, समय और शक्ति लगनी चाहिये वैसी न तो व्यवस्था है और न उतना धन समय और शक्ति हम लगा रहे हैं। एक समय था जब राज्य और समाज दोनोंही संस्कृतके अध्ययनका पोषण करते थे। अंग्रेजी राज्यकालमें शिक्षाकी कुछ ऐसी व्यवस्था हुई कि हमारे देशमें यह भावना घर करने लगी कि हमारी अपनी ऐतिहासिक परम्परामें, संस्कार, रीति रिवाज सब व्यर्थ और हानिकर हैं और इसलिए उनको छोड़कर विदेशी सभ्यताको अपनानेमें ही हमारा कल्याण है। इस परिवर्तनका ज्वलन्त उदाहरण यही है कि इस युगमें देशकी आंखें काशीकी ओर न रहकर कलकत्तेकी ओर लग गई। किन्तु इस उपेक्षा और उपहासके युगमें भी संस्कृत बनी रही और संस्कृतके विद्वान बने रहे। वह इसीलिये सम्भव हुआ; क्योंकि संस्कृत और संस्कृतके विद्वान्ने कभी लक्ष्मीकी दासता स्वीकार न की थी। किन्तु अपने धर्म निबाहनेके साथ-साथ उनके मनमें यह विश्वास भी था कि उनके कभी न कभी जमाना करवट बदलेगा और इस देशके इसकी जनता के, इसके पण्डितो और आचार्योंके भाग्य फिर जगेंगे मैं नहीं कह सकता कि स्वतन्त्र भारतमें उन्होंने अपने इस विश्वास, इस स्वप्न, इन आशाओंकी पूर्तिकी झलक देखी है या नहीं। किन्तु मुझे कभी-कभी यह भय होने लगता है कि सम्भवतः स्वतन्त्र भारतमें संस्कृत अध्ययनकी यह परम्परा कहीं समाप्त न हो जाये। आज संस्कृत विद्वानोंकी जो अवस्था है वह वास्तवमें शोचनीय है। अभी राज्यने संस्कृत अध्ययनको प्रश्रय देनेका भार अपने सर पर नहीं लिया है। यह ठीक है कि विद्यालयोंमें संस्कृतके अध्ययनके लिए कुछ प्रबन्ध है किन्तु वह ऐसा नहीं है। जिसे गिनतीमें सम्मिलित किया जा सके। संस्कृतकी जो पाठशालाएँ और विद्यालय आजतक चल रहे हैं और जिनके द्वाराही संस्कृत अध्ययनकी परम्परा अब तक बनी रही है उनकी अवस्था आजकल शोचनीय होती जा रही है। वहांसे निकले विद्यार्थियोंका हमारे आधुनिक जीवनमें लगभग न कुछके बराबर स्थान है और फल यह है कि आज संस्कृतके आचार्य नौकरी करनेका तैयार मिलते हैं और फिरभी नौकरी नहीं मिलती। सहायताकी पुरानी परम्पराओंके लुप्त होनेका फल यह हो रहा है कि संस्कृतके शिक्षकों और विद्यार्थियों दोनों की ही दुर्दशा हो रही है। दूसरे शब्दोंमें आज समाजसे आने वाली दान-सरिता लगभग सूख गई है। अतः इन परिस्थितियोंमें यदि संस्कृत अध्ययनकी परम्परा खत्म हो गई तो चाहे वह आश्चर्यकी बात न हो किंतु वह स्वतन्त्र भारतके लिये लज्जाकी बात तो अवश्य होगी। विदेशोंमें संस्कृत अध्ययनका विकास हो और स्वयं भारतमें वह खत्म हो जाय यह घटना यद्यपि अकल्पनीय अवश्य है किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि हम उसके निकट पहुँचते जा रहे हैं। इसलिये हमें जहां एक ओर संस्कृतको जीवकोपयोगी विद्या बनाना है वहां इसे भी भूलना नहीं चाहिये कि इसको आज तक जीवित रखने वाले वही धन्य पुरुष हुए हैं जो इसे केवल अर्थोपार्जनका साधन नहीं मानते थे। समाजको भी अपनी ऐसी भूमिका बनानी है जिसमें मान मर्यादा प्रतिष्ठा सरकार सभी लक्ष्मीके अनुगामी न बनकर सरस्वतीके लिये सुरक्षित रहें और लक्ष्मीके लिए धन जनित शान शौकत और लाभ कार्य छोड़ रखा जाय।

सरकारी सहायता

डा. राजेन्द्रप्रसादने आगे कहा कि अतः हम सबको इस बात पर बड़े धैर्यसे विचार करना है कि हम क्या उपाय करें, जिनसे संस्कृतका अध्ययन घटनेके बजाय देशमें और अधिक प्रसार हो। सर्वप्रथम तो हमारे सामने यह प्रश्न है कि भविष्यमें संस्कृत पाठशालाओं और विद्यालयोंके लिये वित्तका कैसे प्रबन्ध हो। यह प्रत्यक्ष है कि आजके समाजसे अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह उन पाठशालाओंका भी भार संभाले जो आज वर्तमान है, नई पाठशालाओंका भी भार संभाले जो आज वर्तमान हैं, नई पाठशालाओंके खोलने और चलानेका तो प्रश्न पैदा होता ही नहीं। सच तो यह है कि आज राज्यने इतने अधिक मात्रामें सामाजिक सूत्र अपने हाथमें ले लिये हैं कि यदि राज्यने संस्कृत अध्ययनके वित्तभारको अपने कंधे पर न लिया तो वह संभवतः आगे न चल सकेगा। मैं

समझता हूँ कि इस दिशामें राज्य सरकारें पहला काम कर सकती हैं अब समय आ गया है कि वे संस्कृत अध्ययनके लिये आवश्यक वित्तिक प्रबन्ध करें। जब समाजके सब सम्पत्ति साधनोंको वे अपने हाथोंमें ले रहे हैं तो कोई कारण नहीं कि वे समाजके उत्तरदायित्वोंको अपने सिर पर क्यों न लें। भारतीय समाजका ढांचा एक विशिष्ट प्रकारकी सहकारिता पर निर्भर करता था। विद्वानका भार गृहस्थ पर और गृहस्थके मार्गदर्शनका भार विद्वान पर था। भारतीय समाजके हर क्षेत्रमें इसी प्रकारकी परम्परागत सहकारिता थी। जब हमने उस परम्परागत सहकारितासे हट कर जीवनका नियन्त्रण राज्यके हाथम अधिकाधिक कर लेनेकी ओर रुख किया है तब राज्यका यह धम है कि वह इन उत्तरदायित्वोंको भी अपने हाथमें लें मेरा विचार है कि भारतकी राज्य सरकारोंका अब यह धर्म है कि वे अपने कोषसे संस्कृत अध्ययनके लिये पर्याप्त सहायता देना प्रारम्भ करें।

धनिकोंका कर्त्तव्य

साथ ही यहां उद्योगपतियोंको भी अपना यह धर्म मानना चाहिये कि अपने दानका एक अंश विश्वविद्यालयोंमें संस्कृत अध्ययनके लिये विशिष्ट पीठियोंकी स्थापनाके लिये लगायें। इंगलैंड और अमरीकामें वहांकी भाषाओंके प्रमुख कलाकारों और साहित्यकोंकी कृतियों और जीवनके अध्ययनके लिये वहांके धनिकोंने वहांकी विश्वविद्यालयोंमें विशिष्ट पीठियोंकी स्थापनाके लिये पर्याप्त दान दिया है। मैं समझता हूँ कि हमारे यहांके धनिकवर्गको ऐसा ही करना चाहिये।

समन्वयका सूत्र

इसके अतिरिक्त संस्कृत ज्ञाताके लिये हमें आर्थिक क्षेत्रमें भी स्थान बनानेका प्रबन्ध करना चाहिये। मेरा विचार है कि आज संस्कृत अध्ययनकी जो परिपाटी और व्यवस्था है उसके कारण भी संस्कृत पढ़ने वालोंको आर्थिक क्षेत्रमें कोई स्थान नहीं मिलता। यह आवश्यक है कि संस्कृत पाठशालाओंमें संस्कृतके अभ्यासके साथ ही साथ आर्थिक दृष्टिसे उपयोगी और आधुनिक जगतसे परिचय कराने वाले विषयोंका भी अध्ययन अनिवार्य कर दिया जाय। आज संस्कृत न तो राजकर्मकी ही भाषा है, न कला की, न विज्ञान की, और न वाणिज्य और उद्योग की। किन्तु इस बातका यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृत पढ़नेका कोई मूल्य नहीं। मूल्य तो है और सर्वदा रहेगा। सभ्यताके संरक्षणके लिये, स्वयं मानव जातिके अस्तित्वके लिये इस बातकी आवश्यकता है कि आध्यात्मिक और शैलिक शिक्षामें समन्वय हो। मेरा विचार है कि इस समन्वयके लिये संस्कृत अध्ययनके समान और कोई प्रभावी साधन नहीं हो सकता।

आदर्श

डा. राजेन्द्रप्रसादने कहा कि मेरे विचारमें सहस्त्राब्दियोंसे संस्कृतका आधार-तल और पृष्ठभूमि वह अध्यात्मवाद रहा है जो भारतकी मानवताको देन है सहस्त्राब्दियां व्यतीत हो गई जब भारतमें प्रथम बार इस विश्वासका जन्म हुआ। कि इस जगतकी हर प्रकारकी विपत्ति, बाधाओं, कमियों और कठिनाइयोंसे मानव तब तक मुक्ति नहीं पा सकता, जब तक कि उसका जीवन शक्तिकी उपासना, सेवाका अटल व्रत, न्यायकी अविचल निष्ठा नहीं बन जाता। अपने इस आदर्शको उन्होंने कृष्णार्पणका नाम दिया अथात् व्यक्ति जो कुछ भी करे वह इस श्रद्धासे और इच्छासे करे कि वह यह समस्त विश्व और उससे भी परे विश्वात्माकी प्रसन्नताके लिये कर रहा है केवल अपनी इन्द्रियोंके सन्तोषके लिए नहीं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि व्यक्ति अपने सांसारिक कर्त्तव्यको परित्याग करके किसी जंगलमें जा बैठे। इसका केवल यही अर्थ था कि वह अपना कोई भी सांसारिक काम अपनी स्वार्थबुद्धिसे न करे, वरन् इस विचारसे करे कि यही विश्वात्माकी इच्छाके अनुकूल है और वैसा ही करके वह अपने अहंकी कैदसे छूटकर अपने सच्चे विश्वस्वरूपको पहचान सकता है। सम्पूर्ण संस्कृत वाङमयका प्राण और प्रेरणाका यही आदर्श है। संस्कृत नाटक, संस्कृत आख्यान और कथाएँ, संस्कृत महाकाव्य, संस्कृत शास्त्र, संस्कृत विज्ञान सर्वत्र ही इसका साम्राज्य है। अतः यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्यका विद्यार्थी इस आदर्शसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। मेरा विचार है कि जगतको हम जो सबसे

बड़ी देन दे सकते हैं वह यही आदर्श है और यह देन हम तब ही दे पायेंगे जब न केवल हमारी भूमि और हमारे औद्योगिक यन्त्र विशाल धन धान्यकी सरिताके ही स्रोत बन गये होंगे वरन् उनमें कार्य करने वाले श्रमिक और कृषक भी इसी आदर्शसे प्रेरित होंगे। उस स्वर्णिम युगकी स्थापनाके लिये हमें अनथक परिश्रम करना है, और अनेक प्रकारके आयोजन करने हैं। किन्तु इन सब प्रयासों और आयोजनोंकी शर्त यह है कि शिल्पिक शिक्षा और आध्यात्मिक शिक्षाकी खाई पट जाये। संस्कृत वह सेतु है जो इस खाईको पटाता है और इसी दृष्टिसे आधुनिक जगतमें उसकी शिक्षा दीक्षाका आपको प्रबन्ध करना है।

यह हर्षकी बात है कि इस दिशामें पहला पग कृष्णकी लीलाभूमि सौराष्ट्रमें उठाया गया था और इसका अगला कदम भगवान शिवकी इस पुनीत और ऐतिहासिक नगरीमें उठाया जायेगा। मुझे विश्वास है कि इन दो महाविभूतियोंकी ऐतिहासिक छायामें आरम्भ होने वाला यह कार्य फलेगा और फूलेगा।

—नवभारत टाइम्ससे

वीरसेवा-मन्दिरको प्राप्त सहायता

हालमें वीरसेवा-मन्दिरको उस बड़ी सहायताके अलावा जो बाबू छोटेलालजी और बाबू नन्दलालजीने अपनी स्वर्गीया माता श्रीमती मानकँवरजीकी ओरसे देहलीमें वीरसेवा-मन्दिरकी बिल्डिंगके लिये ज़मीन खरीदने के वास्ते भिजवाई है, दूसरी जो खास सहायताएँ (अनेकान्त सहायताके अतिरिक्त) प्राप्त हुई हैं वे इस प्रकार हैं :—

१००१) सेठ भगवानदास जी जैन बीड़ी वाले सागर (वर्णीश्री गणेशप्रसाद जीकी जयन्तीके अवसर पर)।

१०००) सिंघई कुन्दनलालजी जैन सागर (वर्णी श्री गणेशप्रसादजीकी ७६ वीं वर्षगांठके अवसर पर)।

१००१) सेठ छदामीलालजी जैन फीरोजाबाद (चि० पुत्र विमलकुमारके विवाहकी खुशीमें)।

५१) ला० सुमेरचन्दजी जैन, दरियागंज देहली (गृह प्रवेशकी खुशी में)

अधिष्ठाता 'वीरसेवा-मन्दिर'

संरक्षकों और सहायकोंसे प्राप्त सहायता

अनेकान्तके संरक्षकों और सहायकोंसे प्राप्त सहायताका जो विवरण गत किरण नं० ४-५ में प्रकाशित किया गया था और जिसका योग ५२२४) था, उसके बाद जो और सहायता प्राप्त हुई हैं उसकी तफ़सील इस प्रकार है—

१०००) बाबू नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता
२५१) बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता
२५१) सेठ मांगीलाल पांड्या कलकत्ता
१५०) बाबू ऋषभचन्दजी जैन (B. R. C.) कलकत्ता
१०१) ला० रतनलालजी जैन मादीपुरिया देहली
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदासजी सरावगी कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी कलकत्ता
१०१) बा० धनंजयकुमारजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन न्यू देहली
१०१) ला० मक्खनलालजी मोतीलाल जैन ठेकेदार देहली
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी जैन सहारनपुर
योग २६६२)
पूर्णयोग ७८८६)

अधिष्ठाता 'वीरसेवा-मन्दिर'

सेवाएँ समर्पित कीं

जबसे वीरसेवा-मन्दिरका आफिस सरसावासे देहली आया है तभीसे वीरसेवा-मन्दिरने अपना प्रचार विभाग व खोज-विभागको दृढ़ बनाने का निश्चय किया है।

इस दृष्टिसे हमने जैन समाजके प्रसिद्ध २ विद्वानोंसे सम्पर्क स्थापित किया है। हमें प्रसन्नता है कि हमारे निवेदन करने पर प्रचार विभागकी दृढ़ताके हेतु श्री पं० बाबूलालजी जैन जमादारने अपनी सेवाएँ 'वीरसेवामंदिर' को समर्पित कर दीं। और आपने प्रचार विभागका कार्य प्रारम्भ कर दिया।

राजकृष्ण जैन
व्यवस्थापक—वीरसेवा-मन्दिर

ब्रह्म जिनदास

(ले० परमानन्द जैन शास्त्री)

ब्रह्मजिनदास कुन्दकुन्दान्वय सरस्वति गच्छके भट्टारक सकलकीर्तिके कनिष्ट भ्राता और शिष्य थे। ये मदनरूपी शत्रुको जीतने वाले ब्रह्मचारी, क्षमानिधि, षष्टमादितपके विधाता और अनेक परीषहोंके विजेता थे। इन्होंने अनेक देशोंमें विहार करके जनताका कल्याण किया था—उन्हें सन्मार्ग दिखलाया था। ये जिनेन्द्रके चरणकमलोंके चंचरीक, देव-शास्त्र-गुरुकी भक्तिमें तत्पर, अत्यन्त दयालु तथा सार्थक जिनदास नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त थे और प्राकृत, संस्कृत, गुजराती तथा हिन्दी भाषाके अच्छे विद्वान एवं कवि भी थे। इनके गुरु भट्टारक सकलकीर्ति प्रसिद्ध विद्वान थे जिनका संस्कृत भाषा पर अच्छा अधिकार था, तात्कालिक भट्टारकोंमें उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। इन्होंने अपने समयमें अनेक मन्दिर बनवाए, सैकड़ों मूर्तियोंका निर्माण कराया और उनके प्रतिष्ठादि महोत्सव कार्य भी सम्पन्न किये हैं। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियोंके कितने ही अभिलेख सं० १४८० से १४९२ तकके मेरी नोट बुकमें दर्ज हैं। इनके अतिरिक्त अनेक मूर्तियां और उनके अभिलेख और भी नोट किये जानेको हैं। जिन सबके संकलित होने पर तत्कालीन ऐतिहासिक नामोंके अन्वेषणमें बहुत कुछ सुविधा प्राप्त हो सकती है।

भ० सकलकीर्तिने सं० १४८१ में संघसहित बडाली * में चातुर्मास किया था और वहांके अमीझरा पार्श्वनाथ चैत्यालयमें बैठकर 'मूलाचार प्रदीप' नामका एक संस्कृत-ग्रन्थ सं० १४८१ की श्रावण शुक्ला पूर्णिमाको अपने कनिष्ट भ्राता जिनदासके अनुग्रहसे पूरा किया था। जिसका उल्लेख गुजराती कविताके निम्न उपयोगी अंशसे जाना जा सकता है:—

तिहि अवसरे गुरु आविया, बडाली नगर मझाररे।
चातुर्मास तिहाँ करी शोभनो, श्रावक कीधा हर्ष अपाररे।
अमीझरे दधरावियां बधाई गावे नर नाररे।
सकलसंघ मिलि वंदियों पाम्या जय जयकाररे।

× × × ×

संवत् चौदहसौ इक्यासी भला श्रावणमास लसंतरे।
पूर्णिमा दिवसे पूरणकर्यों, मूलाचार महन्तरे॥

× × × ×

भ्राताना अनुग्रह थकी कीधा ग्रन्थ महानरे॥

यद्यपि सकलकीर्तिने अपने किसी भी ग्रन्थमें उसका रचनाकाल नहीं दिया, फिर भी अन्य साधनोंसे—मूर्तिलेखादिके द्वारा—उनका समय विक्रमकी १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सुनिश्चित है। भट्टारक सकलकीर्ति ईडर गद्दीके भट्टारक थे और भ० पद्मनन्दीके पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। कहा जाता है कि वे सं० १४४४ में उक्त गद्दी पर आसीन हुए थे और सं० १४९९के पूष मासमें उनकी मृत्यु महसाना (गुजरात) में हुई थी। महसानामें उनका समाधि स्थान भी बना हुआ है। भ० सकलकीर्तिद्वारा रचित ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं। जिनसे उनकी विद्वत्ता और साहित्य-सेवाका अनुमान किया जा सकता है:—

१. पुराणसार, २. सिद्धान्तसारदीपक, ३. मल्लिनाथ चरित्र, ४. यशोधर चरित्र, ५. वृषभचरित (आदिनाथ पुराण), ६. सुदर्शनचरित, ७. सुकमालचरित, ८. वर्धमानचरित, ९. पार्श्वनाथपुराण, १०. मूलाचारप्रदीप, ११. सारचतुर्विंशतिका, १२. धर्मप्रश्नोत्तरश्रावकाचार, १३. सद्भाषितावली, १४. धन्यकुमारचरित्र, १५. कर्मविपाक, १६. जम्बूस्वामीचरित्र, १७. श्रीपालचरित्र आदि।

ब्रह्मजिनदासने भी अनेक ग्रन्थोंकी रचनाकी हैं जिनमें भ० सकलकीर्तिका बड़े गौरवके साथ स्मरण किया है। इनके अनेक शिष्य थे जिनमेंसे कुछका इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है। चूंकि जिनदास सकलकीर्तिके कनिष्ट भ्राता थे। इसलिये इनका समय भी विक्रमकी

* विक्रमकी १५ वीं शताब्दीमें बडाली जन धनसे सम्पन्न नगर था, उस समय वहां हूमड दिगम्बर जैन श्रावकोंकी वस्ती थी। वहांका अमीझरा पार्श्वनाथका मन्दिर बहुत प्रसिद्ध था। उस समय देवसी नामके एक वीसा हूमडने केशरियाजीकी यात्राका संघ भी निकाला था और सकलकीर्ति उस समयके प्रसिद्ध विद्वान भट्टारक थे। बागड़ और गुजरातमें उनका अच्छा प्रभाव था वे अपने शिष्य प्रशिष्यादि सहित उक्त प्रान्तमें विहार करते हुए जैन धर्मका उद्योत कर रहे थे।

१५वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और १६वी शताब्दीका पूर्वार्ध अंजान पड़ता है; सं० १४८१में इन्हींके अनुरोधसे सकलकीर्तिने मूलाचार प्रदीपके रचे जानेका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। और सं० १६२०में इन्होंने गुजराती भाषामें 'हरिवंस रास'की रचनाकी हैं, आपकी रचनाओंमें जम्बू स्वामी चरित्र हरिवंशपुराण और रामचरित (पद्मपुराण) में तीन ग्रन्थ तो संस्कृत भाषामें रचे गए हैं। जम्बूस्वामीचरित की रचनामें इनके शिष्य ब्रह्मचारी धर्मदासके मित्र द्विजवंशरत्न कवि महादेवने सहायता दी थी।' धर्मपंच 'विंशतिका' अथवा 'धर्मविलास' नामकी छोटीसी प्राकृत रचना भी इन्हीं ब्रह्मजिनदासकी कृति है। इनके अतिरिक्त ब्रह्मजिन-दास रचित शेष ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैः—

१. यशोधररास, २. आदिनाथरास, ३. श्रेणिकरास, ४. समकितरास, ५. करकंडुरास, ६. कर्मविपाकरास, ७. श्रीपालरास, ८. प्रद्युम्नरास, ९. धनपालरास, १०. हनुमच्चरित, ११. और व्रतकथा कोश ×—जिसमें दशलक्षण व्रतकथा, सोलहकारणव्रतकथा वाहणषष्ठी व्रतकथा, मोक्षसप्तमीक था, निर्दोषसप्तमी कथा, आकाश पञ्चमी व्रतकथा और पञ्चपरमेष्ठी गुणानुवर्णन आदि रचनाओंका संग्रह एक गुटकेमें पाया जाता है। ये सब रचनाएँ प्रायः गुजराती भाषामें की गई हैं परन्तु इनमें हिन्दी और राजस्थानी भाषाके शब्दोंका बाहुल्य पाया जाता है। इनके सिवाय निम्न ग्रन्थ पूजा-पाठ-विषयक भी हैं और जिनकी संख्या इस समय तक सात ही ज्ञात हो सकी हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. जम्बूद्वीप पूजा २. अनन्तव्रत पूजा ३. सार्द्धद्वय द्वीप पूजा ४. चतुर्विंशत्युद्यापन पूजा ५. मेघमालोद्यापन पूजा ६. चतुस्त्रिंशदुत्तर द्वादशशतोद्यापन ७. बृहत्सिद्धचक्र पूजा।

इस तरह ब्रह्मजिनदासकी संस्कृत प्राकृत और गुजराती भाषाकी सब मिलाकर लगभग ३० कृतियोंका अब तक पता चलसका है। इन सब ग्रंथोंका परिचय प्रस्तावना की कलेवर वृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है। इनकी अन्य कितनी ही रचनाएँ यत्र तत्र ग्रन्थ भण्डारोंमें गुटकोंमें उल्लिखित मिलती हैं पर वे सब इन्हींकी कृति हैं या अन्य किसी जिनदास की। इस बातका निर्णय बिना आद्योपान्त अवलोकन किये नहीं हो सकता, समय मिलनेपर उनके सम्बन्धमें विचार किया जायगा।

× इनमेंसे नं० ९ और ११ के ग्रन्थ आमेरके भट्टारकीय भण्डारमें पाये जाते हैं। शेष रासोंमें अधिकांश रासे और कुछ पूजाएँ, जो गुटकोंमें सन्निहित हैं। देहलीके पंचायती मन्दिरके शास्त्र-भण्डारमें उपलब्ध होते हैं।

⊛ वीर सेवामन्दिरसे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह प्रथम भागकी प्रस्तावनाका एक अंश।

साहित्य परिचय और समालोचन

१ पंचाध्यायी—पं० राजमल्ल, टीकाकार स्वर्गीय पं० देवकीनन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, सम्पादक पं० फूलचंद जी सिद्धान्त शास्त्री, बनारस, प्रकाशक गणेशवर्णी दि० जैन ग्रंथमाला, २/३८ बनारस, पृष्ठ संख्या ३३६, मूल्य सजिल्द प्रतिका ६) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथको कविने पांच अध्यायोंमें बनानेका संकल्प किया था, जिसे 'पञ्चाऽध्यायावयवं' वाक्यके द्वारा उसका उल्लेख भी किया है। परन्तु कविवर अपने उस ग्रंथको पूरा नहीं कर सके, यह दुःखकी बात है। वह ग्रंथ इस समय ११०९ श्लोकोंकी संख्याको लिए हुए हैं, जो दो अध्यायोंमें विभाजित है। यदि इस ग्रंथकी रचना किसी तरह पूरी हो पाती तो इस ग्रंथका परिमाण अत्यन्त विशाल होता। परन्तु वह जितना भी बन सका है। जहां उसमें कविकी आंतरिक निर्मलता और सर्वोपकारिणी बुद्धिका व्यापार अन्तर्निहित है वहां कविके विशिष्ट अभ्यास, मनन, चिन्तन एवं दीर्घ कालीन अनुभवका पक्व परिणाम है जिसे कविने पचाकर आत्मसात् किया, ग्रंथकी कथनशैली अत्यन्त ही परिमर्जित, तर्कपूर्ण और वस्तुस्थितिका दिग्दर्शन कराने वाली है ग्रंथमें कविके तलस्पर्शी पाण्डित्यका पद-पद पर अनुभव होता है, ग्रंथकारने जिस प्रकरणको कहनेकी चेष्टाकी है वह उसमें पूर्ण सफल हुआ है उसकी इस सफलताका कारण कविकी वह आन्तरिक

विशुद्धिकी ही है। कविका अन्तिम लक्ष्य आत्म-स्वतंत्रताकी प्राप्ति है जिसका उन्होंने विवेचन करते हुए अपनी तात्विक-बुद्धिका परिचय दिया है।

प्रस्तुत ग्रंथका अनुवाद स्पष्ट और वस्तु तत्त्वका विवेचक है, और वह अपने पिछले संस्करणोंमें होने वाली अशुद्धियोंसे रहित है। सम्पादकजीने इस पर काफी परिश्रम किया है और उसे सब प्रकारसे प्रामाणिक एवं रुचिकर बनानेका प्रयत्न किया है। अनुवादकी भाषा भी परिमार्जित और सरल है। इतना ही नहीं, किंतु ग्रंथकी ४२ पृष्ठोंकी महत्वपूर्ण प्रस्तावनामें सम्पादकजीने ग्रंथगत विषयोंकी चर्चा करते हुए उसके विषयको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। और आत्मस्वतंत्रताके अंतिम लक्ष्यको मोक्षपुरुषार्थके प्रधान साधक चारित्रके सम्बन्धमें भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रस्तावनामें निश्चयनय व्यवहार-नयका खुलाशा करते हुए आचार्य कुंदकुंदके प्रवचनसार-के ज्ञेय अधिकारके कथनके साथ प्रस्तुत कविके मंतव्योंकी तुलनाभी की है।

साथ ही लाटी संहिताके समान ही ग्रंथके बननेमें निमित्त भूत साहू फामनकी इस पंचाध्यायी ग्रंथके निर्माणमें भी प्रेरक निमत्त होनेका अनुमान किया है, जो ग्रंथ वाक्योंको देखते हुए ठीक ही जान पड़ता है। साम्प्रदायिकताके प्रभावके साथ द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रभाव भी ग्रंथकार पर पड़ा है। इस तरह ग्रंथका यह संस्करण स्वाध्याय प्रेमियोंके लिए बहुत ही उपयोगी और संग्रहणीय है। आशा है स्वध्याय प्रेमी इस ग्रंथको मंगाकर अपनी ज्ञान वृद्धिमें सहायक होंगे।

२ वृहत्कथाकोश—भाग १ अनुवादक, पं० राजकुमार जी जैन साहित्याचार्य प्रकाशक, भा० दि० जैन संघ, चौरासी मथुरा। पृष्ठ संख्या २३६ मूल्द सजिल्द प्रतिका २॥) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ पुन्नाटसंघीय आचार्य हरिषेणके 'संस्कृत-कथाकोश' की कथाओंका हिन्दी अनुवाद है। इस संस्करणमें ४२ कथाएँ दी हुई हैं। ये कथाएँ जैन धर्मका पालन अथवा व्रतोंका अनुष्ठान कर, फल प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के परिचयको लिये हुए हैं। कथाओंका विषय रोचक है। ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

३ वृहत्कथाकोश भाग २ अनुवादक पं० राजकुमारजी जैन साहित्याचार्य प्रकाशक, भा० दि० जैन संघ, चौरासी मथुरा। पृष्ठ संख्या २६२, मूल्य सजिल्द प्रतिका २॥) रुपया।

इस भागमें भी उक्त कथाकोशकी १८ कथाओंका अनुवाद दिया गया है। ये पौराणिक कथाएँ जैनधर्म और जैन संस्कृतिकी महत्तासे सम्बन्ध रखती हैं। कथाएँ रोचक और सुन्दर हैं।

४ सर्वोदय यात्रा—लेखक, आचार्य विनोवाभावे। प्रकाशक, भारत जैन महामंडल, वर्धा सी० पी०। पृष्ठ संख्या २४०। मूल्य सवा रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक हैदराबादके सर्वोदय सम्मेलनमें पैदल यात्रासे चलते हुये विनावाजीने जो जगह २ भाषण दिये, और वहांके लोगोंकी जो परिस्थितियाँ देखीं, उन्हीं सबका वर्णन इस पुस्तकमें किया गया है। पुस्तककी भाषा सरल है। यद्यपि 'सर्वोदय' तीर्थ शब्दका प्रयोग करने वाले आचार्य समस्त भद्र हैं, जो विक्रमकी दूसरी शताब्दीके तेजस्वी आचार्य थे। परंतु गांधीजी द्वारा प्रयुक्त 'सर्वोदय' को महत्ता प्रदान करनेके लिए आचार्य विनोबा भावेका यह प्रयत्न अभिनंदनीय है। इस पुस्तकमें यात्रा करते समय विविधचर्चाओं पर विचार किया गया है। पुस्तक उपयोगी है।

परमानन्दजी जैन शास्त्री—

❋ आदर्श-विवाह ❋



देहली के सुप्रसिद्ध स्वर्गीय रायबहादुर ला० नन्दकिशोरजी सुपरिन्टेण्डिंग इंजीनियरकी पौत्री तथा श्रीजिनेन्द्रकिशोरजी जैनजौहरीकी सुपुत्रीआयुष्मती चि. उर्मिलारानीका शुभ विवाह फिरोजाबादके सुप्रसिद्ध उद्योग-पति दानवीर सेठ छदामी लालजी जैनके सुपुत्र चिरंजीव कुंवर विमलकुमार जीके साथ बड़ी धूमधाम से ता० १६-११-५२ मार्गशीर्ष शुक्ला २ को सानन्द सम्पन्न हुआ।

दोनों पक्ष धार्मिक परिवार हैं इसी लिये भारतके आध्यात्मिक संत न्यायाचार्य पूज्य क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णीका शुभ आशीर्वाद वर-कन्याको प्राप्त हुआ, साथही मनोज्ञ १० शिक्षाएँ आपने भिजवाईं, जिससे गृहस्थाश्रमका जीवन धार्मिक और सुखमय व्यतीत हो।

यह विवाह संस्कार जैन विवाह विधिसे ला० राज-कृष्ण जी और पं० सुमेरचंद जी शास्त्रीने सम्पन्न कराया। इसमें स्थानीय और बाहरसे आये हुए विद्वानोंकी संख्या एक दर्जन थी, और अनेक प्रतिष्ठित श्रीमान् भी बारात में बाहरसे पधारे थे। जिन्होंने वरवधू को बड़े ही मधुर शब्दोंमें आशीर्वाद दिया। अनेक महानुभावोंने मंगल कामना सूचक संदेश भी भेजे थे। बारात में जुलूस दर्शनीय था, जिसने राजधानीकी जनताके मनको आकर्षित कर दिया।

वर चांदीके सुन्दर हंस निर्मित सिंहासन पर आसीन था। जुलूस फतहपुरी चांदनी चौक और दरीबा होता हुआ स्वागत स्थल पर पहुँचा।

जुलूसका अनेक स्थानों पर स्वागत किया गया। दरीबा कलां कांग्रेस कमेटी ने भी स्वागत किया। विवाह-के सानन्द सम्पन्न होने के हर्षोपलक्षयलक्षमें सेठ छदामी-लालजी ने ५१००) रु० का दान किया जिसकी दान-सूची नीचे प्रकाशित है। स्थानीय मंदिरोंको चांदी और सिलवर-के बर्तन भेंट किए गए तथा दो सुन्दर मनोज्ञ पांडुक शिलायें लाल मंदिर और सेठके कूचेके मंदिरों को प्रदान की गईं।

१००१) वीरसेवामंदिर, दरियागंज दिल्ली
५०१) स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारस
५०१) वर्णी विद्यालय सागर
२५१) श्री समन्तभद्र विद्यालय दिल्ली
२५१) जैन अनाथाश्रम दिल्ली
२५१) जैन औषधालय सेठका कूचा, दिल्ली
२५१) टी. बी. कमेटी दिल्ली
२५१ उत्तर प्रांतीय गुरुकुल हस्तिनागपुर
२५१) पन्नालाल जैन विद्यालय फिरोज़ाबाद
२५१) कन्या पाठशाला फिरोज़ाबाद
१०१) जैन बाला विश्राम आरा
१०१) अखिल विश्व जैन मिशन अलीगंज
१०१) जैन मंदिर चिराग़ देहली
१०१) पार्श्वनाथ क़िला बढापुर तहसील नगीना (बिजनौर)
५१) वीर सभा दिल्ली
५१) वर्णी जैन विद्यालय मलहरा
५१) सम्मेद शिखर जी
५१) श्री महावीर स्वामी जी

निम्न संस्थाओं और पत्रों को २१-२१) रु० दिया गया है

वर्द्धमान लायब्रेरी दिल्ली, अनेकांत मासिक जैन, मित्र, जैन संदेश, वीर, जैन प्रचारक, वाइस आफ़ अहिंसा, जैन गजट हिंदी, जैन गजट अंग्रेजी, जैन दर्शन मोरेना, वीर शासन कटनी, सलघरा महिलाश्रम देहली, ब्रह्मचर्याश्रम मथुरा, श्री हस्तनागपुर क्षेत्र, चम्पापुर जी, गिरनार जी, राजगृहजी, पावापुर जी, अहिच्छेत्र, जम्बूस्वामी जी, शौरीपुर, कम्पिला जी, कोसाम्बी जी, वैशालीतीर्थ क्षेत्र, सोनागिर जी, अहारक्षेत्र, देवगढ जी, पपौरा जी, थूवोन, बाहुबलिजी श्रवणबेलगोला, ८६ पोस्टेज आदि।

परमानन्द जैन शास्त्री—

वीरसेवामन्दिरके चौदह रत्न

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए., डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से विभूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञसटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द।

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द।

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित।

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ...

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थ परिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥।)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आपद्मनन्दी आचार्यकी महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। ... ... ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त ... ।)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालों को ३७॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
अहिंसा मन्दिर बिल्डिंग १, दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

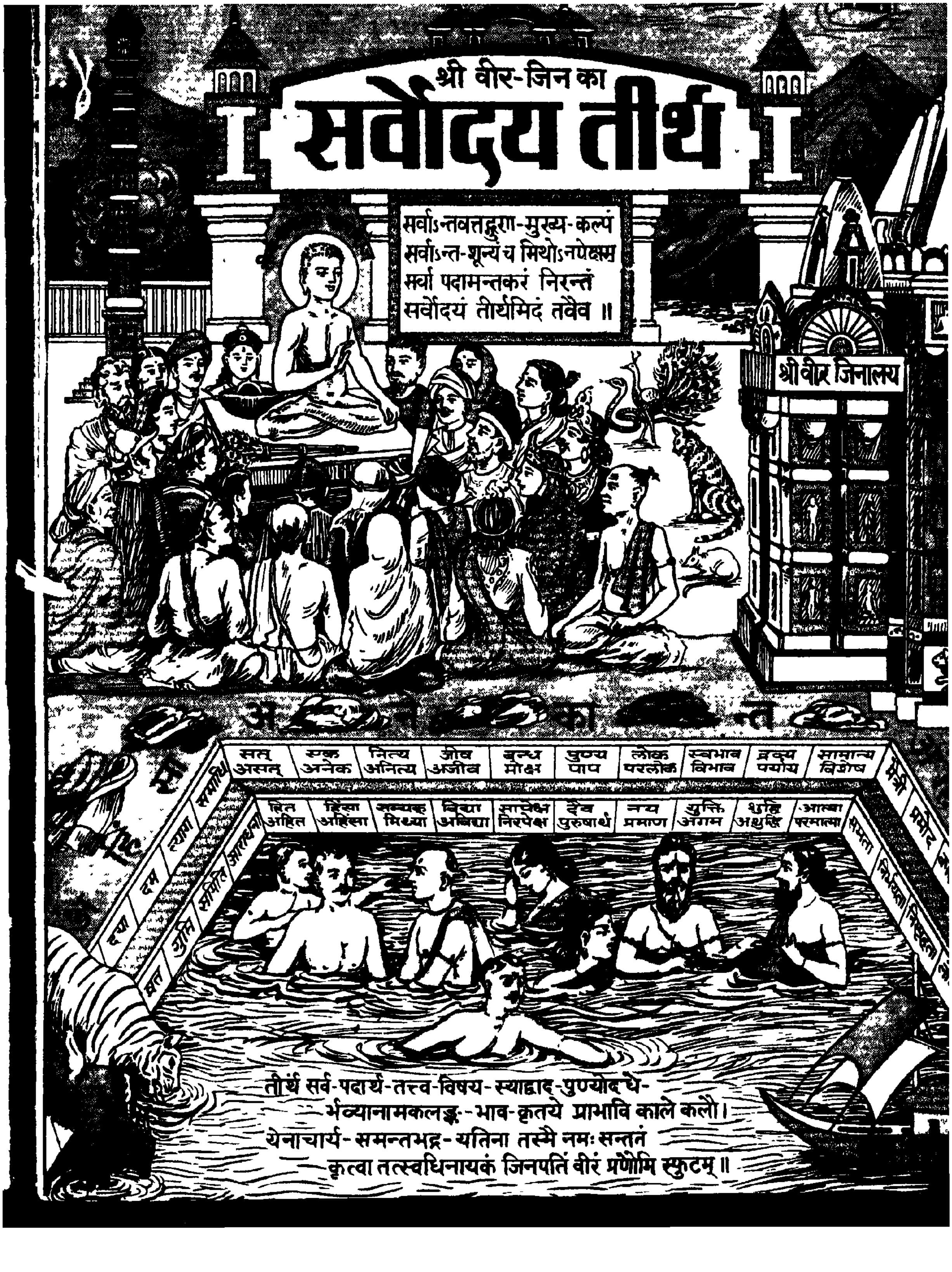
१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी देहली

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० केदारनाथ बद्रीप्रसादजी सरावगी,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार मेरठ
१०१) श्री श्रीमाला देवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्रजी जैन 'संगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदासजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

परमानन्दजी जैन शास्त्री C/o अहिंसा मन्दिर १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस दरियागंज, देहली


श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
दया
दम
त्याग
समाधि
व्रत
गुप्ति
समिति
आराधना
मैत्री
प्रमोद
समता
निर्भयता
निश्छलता
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

वीरसेवा-मन्दिर भी गोम्मटस्वामीजोकी यात्राको

श्रीमान् ला० राजकृष्णजी व्यवस्थापक 'वीरसेवा-मन्दिर' का अपनी मोटर द्वारा सपरिवार गोम्मटस्वामीजीकी यात्राका निश्चय होजाने पर वीरसेवा-मन्दिरके अधिष्ठाता श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने भी आश्रमके कुछ विद्वानोंके साथ गोम्मटस्वामीजीकी यात्रा मोटर द्वारा करनेका विचार स्थिर किया है। ता० २६ जनवरी सन् १९५३ को सबका एकसाथ प्रस्थान होगा।

मुख्तार श्री की इच्छा है कि वे इस यात्रामें कुछ खास खास शास्त्रभंडारोंका भी अवलोकन करें। अतः जहां कुछ प्राचीन शास्त्रभंडार हों या किसी शास्त्रभंडारमें कोई प्राचीन शास्त्र या गुटके आदि सुरक्षित हों तो वहांके सज्जन उन्हें दिखलाने के लिये भण्डारोंकी सूची सहित तय्यार रखनेकी कृपा करें। यात्राका मोटा प्रोग्राम प्रायः निम्न प्रकार है– जिसमें यथावश्यक परिवर्तन हो सकेगा।

यात्राका प्रोग्राम

देहलीसे मथुरा, महावीरजी, जयपुर, पदमपुरी, अजमेर, ब्यावर, नाथद्वारा, उदयपुर, केशरियाजी–डूंगरपुर, ईडर, अहमदाबाद, बदवान, राजकोट, जूनागढ़ (गिरिनारजी) सोनगढ़, पालीताना, भावनगर, घोघा, तारंगा, बड़ौदा, पावागढ़, मांगीतुंगी, गजपंथा (नासिक), एलोरा, अजन्ता, बम्बई पूना, सितारा, कोल्हापुर, बेलगांव, स्तवनिधि, सिमोगा, मूडबिद्री, कारकल, वेणूर, हलेविड, श्रवणबेल्गोला, मैसूर, बंगलोर, हैदराबाद, शोलापुर, बारसी, कुंथलगिरि, नागपुर, रामटेक, अमरावती, मुक्तागिरि, इन्दौर, सनावद, बडवानी, सिद्धवरकूट, ऊन, जबलपुर, कुंडलपुर, दमोह, सागर, नैनागिरि, द्रोणगिरि, छतरपुर, खजराहा, अहार, टीकमगढ़, पपौरा, ललितपुर, देवगढ़, चन्देरी, पवा, झांसी, सोनागिरि, ग्वालियर, आगरा।

निवेदक
परमानन्द जैन

ॐ अर्हम्

विश्वतत्त्व-प्रकाशक

अनेकान्त

वस्तुतत्त्व-संघोतक

वार्षिक मूल्य ५)

इस किरण का मूल्य ।)

नीतिविरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११ किरण १०	वीरसेवामन्दिर, अहिंसामन्दिर-बिल्डिंग १ दरियागंज, देहली मार्गशीर्ष शुक्ल, वीर नि० सं० २४७६, वि० सं० २००६	दिसम्बर १९५२

दो स्तवन

[जिन दो स्तवनोंको आज यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है उनमेंसे पहला पञ्चपरमेष्ठि-मंत्र-स्तवन है, । फरवरी सन् १९४७में मुझे कानपुरके बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुए एक जीर्ण-शीर्ण ड़े गुटके परसे उपलब्ध हुआ था। बादको अपने पूर्वसंग्रहमें भी इसकी एक सुरक्षित प्रति मिल गई, जिसमें न्तिम पद्य नहीं है। यह जिस मन्त्रराजका स्तोत्र है वह सुप्रसिद्ध णमोकार मन्त्र है। उसीके महात्म्यको इसमें रवपूर्ण शब्दों-द्वारा ख्यापित किया गया है। स्तवनके अन्तमें इसे 'उमास्वातिविरचित' लिखा है। ये मास्वाति कौन हैं, यह अभी सुनिश्चित नहीं हैं। दूसरा 'सरस्वतीस्तवन' है, जिसके कर्त्ता ज्ञानभूषण मुनि हैं ो विक्रमकी १६वीं शताब्दीके विद्वान तथा भट्टारक भुवनकीर्तिके पट्टधर शिष्य थे। यह जिनवाणीरूप रस्वतीका बड़ा ही सुन्दर भावपूर्ण एवं हृदयग्राही स्तोत्र है। इसके प्रायः प्रत्येक पद्यके चतुर्थ चरणमें अपने लये चिदुलब्धिके विस्तारकी सार्थक प्रार्थना एवं भावना की गई है। —सम्पादक]

पञ्चपरमेष्ठि-मन्त्र-स्तवनम्

विश्लिष्यन् घनकर्मराशिमशनिः संसारभूमीभृतः। स्वर्निर्वाणपुरप्रवेशगमने निःप्रत्यवायः सताम्।
मोहाऽन्धाऽवटसंकटे निपततां हस्तावलंबोऽर्हतां पायान्नः सचराऽचरस्य जगतः संजीवनं मंत्रराट् ॥१॥

एकत्र पंच गुरुमंत्रपदाऽक्षराणि विश्वत्रयं पुनरनन्तगुणं परत्र।
यो धारयेत्खलु तुलानुगतं तथापि वन्दे महागुरुतरं परमेष्ठिमन्त्रम् ॥२॥

ये केचनापि सुषुमा-दुषमाद्यनन्ता उत्सर्पिणिप्रभृतयः प्रययुर्विवर्ताः।
तेऽप्ययं परतरः प्रथितः पुरापि लब्ध्वैनमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः ॥३॥

उत्तिष्ठन्निपतत्स्खलन्नपि धरापीठे लुठन्नास्पदे जाग्रद्वा प्रहसन् स्वपन्नपि वने बिभ्यंश्च खेदन्नपि।
गच्छन् वर्त्मनि वै स्मरेत्प्रतिदिनं कर्म प्रकुर्वन्नमुं यः पंचप्रभुमंत्रमेकमनिशं किं तस्य नो वांछितम् ॥४॥

संग्राम-सागर-करीन्द्र-भुजंग-सिंह-दुर्व्याधि-वन्हि-रिपु-बन्धन-संभवानि ।
चौर-ग्रह-भ्रम-निशाचर-शाकिनीनां नश्यन्ति पंच परमेष्ठिपदैः भयानि ॥५॥
योऽलक्ष्यं जिनलक्षबद्धहृदयः सुव्यक्तवर्णक्रमः श्रद्धावान् विजितेन्द्रियो भवहरं मंत्रं जपेन्मानवः ।
पुष्पैः श्वेतसुगंधिभिः सुविधिना लक्षप्रमाणैरमुं यः सपूजयते सविश्वमहितस्तीर्थाधिनाथो भवेत् ॥६॥
इन्दुर्दिवाकरतया रविरिन्दुरूपं पातालमंबरमिला सुरलोक एव ।
किं जल्पितेन बहुना भुवनत्रयेपि यन्नाम तन्न विषमं च समं च तस्मात् ॥७॥
जग्मुर्जिनास्तदपवर्गपदं यदैव विश्वं वराकमिदमत्र कथं च न स्यात् ।
तत्सर्वलोकभवनोद्धरणाय धीरैर्म्मंत्रात्मकं जिनवपुर्निहितं तदाऽत्र ॥८॥
हिंसावानऽनृतगीप्रियः परधनाऽऽहर्ता परस्त्रीरतः किं चान्येष्वपि लोकगर्हितमतिः पापेषु गाढोद्यतः ।
मंत्रेशं स यदा स्मरेच्च सततं प्राणात्यये सर्वदा दुःकर्म्माहितदुर्गति क्षणगतः स्वर्गी भवेन्मानवः ॥९॥
अयं धर्म्मः श्रेयानयमपि च देवो जिनपतिः व्रतं चैतच्छ्रेयस्त्विदमपि तपः सर्वफलदम् ।
किमन्यैर्व्वाग्जालै र्बहुभिरपि संसारजलधौ नमस्कारस्तत्किं यदिह तरि-रूपो न भवति ॥१०॥
सुखे दुःखे भयस्थाने संग्रामे शत्रुसंकटे । श्रीपंचगुरुमंत्रस्य पाठः कार्यः पदे पदे ॥११॥

इति उमास्वाति-विरचितं पंचपरमेष्ठि [मंत्र] स्तवनं समाप्तम् ।

सरस्वती-स्तवनम्

(द्रुतविलम्बितं)—त्रिजगदीश-जिनेन्द्रमुखोद्भवा त्रिजगती-जनजात-हितंकरा
त्रिभुवनेश-नुता हि सरस्वती चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ १ ॥
अखिल-नाक-शिवाऽध्वनि दीपिका नव-नयेषु विरोध-विनाशिनी ।
मुनि-मनोम्बुज-मोदन-भानुभा चिदु-लब्धिमियं वितनोतु मे ॥ २ ॥
यतिजनाचरणादिनिरूपणाद् द्विदशभेदगता गत-दूषणा ।
भव-भयाऽऽतप-नाशन-चन्द्रिका चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ ३ ॥
गुणसमुद्र-विशुद्ध परात्मनः प्रकटनैककथा सुपटीयसी ।
जित-सुधा निजभक्त-शिवप्रदा चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ ४ ॥
विविध-दुःख-जले भवसागरे गद-जरादिक-मान-समाकुले ।
असुभृतां किल तारण-नौ-समा चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ ५ ॥
गगन-पुद्गल-धर्म-तदन्यकः सह सदा सगुणौ चिदनेहसौ ।
कलयता ह नरो यदनुग्रहात् चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ ६ ॥
गुरुरयं हितवाक्यमिदं गुरोः सुभमिदं (?) जगतामथवा शुभम् ।
इति जनो हि यतोऽत्र विलोकयते चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ ७ ॥
त्यजति दुर्म्मतिमेव शुभे मति प्रतिदिनं कुरुते च गुणे रतिम् ।
जड-नरोऽपि यथाऽर्पित-धीधनश्चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ ८ ॥
खलु नरस्य मनो रमणीजने न रमते रमते परमात्मनि ।
यदनुभूतिपरस्य नरस्य वै चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ ९ ॥
विविध-काव्य-कृते मति-संभवे भवति चाऽपि तदर्थ-विचारणे ।
पद-विभक्ति-भरान्वित-मानवे चिदुपलब्धिमियं वितनोतु मे ॥ १० ॥
(वसन्ततिलका)—योऽहर्निशं पठित-मानस-मुक्त-मारः स्यादेव तस्य भव-नीर-समूह-पारः ।
मुक्ते जिनेन्द्रवचसो हृदये च हारः स ज्ञानभूषणमुनिः स्तवनं चकार ॥११॥

इति ज्ञानभूषणमुनि-विरचितं सरस्वती-स्तवनम् ।

समन्तभद्र-वचनामृत

(८)

देशावकाशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैय्यावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥९१॥

'देशावकाशिक, सामयिक, प्रोषधोपवास तथा वैयावृत्त्य, ये चार शिक्षाव्रत (व्रतधराग्रणीयों-द्वारा) बतलाए गए हैं।'

देशावकाशिकं स्यात्काल-परिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥९२॥

'(दिग्व्रतमें ग्रहण किए हुए) विशाल देशका—विस्तृत क्षेत्र-मर्यादाका—कालकी मर्यादाको लिए हुए जो प्रतिदिन संकोच करना-घटाना है वह अणुव्रतधारी श्रावकोंका देशावकाशिक—देश निवृत्तिपरक-व्रत है।'

व्याख्या—इस व्रतमें दो बातें खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं—एक तो यह कि यह व्रत कालकी मर्यादाको लिए हुए प्रतिदिन ग्रहण किया जाता है अथवा इसमें प्रतिदिन नयापन लाया जाता है; जबकि दिग्व्रत एक बार ग्रहण किया जाता है और वह ज्योंका त्यों जीवन पर्यन्तके लिए होता है। दूसरे यह कि दिग्व्रतमें ग्रहण किए हुए विशाल देशका—उसकी क्षेत्रावधिका—इस व्रतमें उपसंहार (अल्पीकरण) किया जाता है और वह उपसंहार उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है—देशव्रतमें भी उपसंहारका अवकाश बना रहता है। अर्थात् पहले दिन उपसंहार करके जितने देशकी मर्यादा की गई हो, अगले दिन उसमें भी कमी की जा सकती है—भले ही पहले दिन ग्रहण की हुई देशकी मर्यादा कुछ अधिक समयके लिए ली गई हो, अगले दिन वह समय भी कम किया जा सकता है; जबकि दिग्व्रतमें ऐसा कुछ नहीं होता और यही सब इन दोनों व्रतोंमें परस्पर अन्तर है।

गृह-हारि-ग्रामाणां क्षेत्र-नदी-दाव-योजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरंति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥९३॥

'गृह, हारि (रम्य उपवनादि प्रदेश), ग्राम, क्षेत्र (खेत), नदी, वन और योजन इनको तथा (चकार या उपलक्षणसे) इन्हीं जैसी दूसरी स्थान निर्देशात्मक वस्तुओंको तपोवृद्ध मुनीश्वर (गणधरादिक पुरातनाचार्य) देशावकाशिकव्रतकी सीमाएँ—क्षेत्र-विषयक मर्यादाएं—बतलाते हैं।'

संवत्सरमृतुमयनं मास-चतुर्मास-पक्षमृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालाऽवधिं प्राज्ञाः ॥९४॥

'वर्ष, ऋतु, अयन, मास, चतुर्मास पक्ष, नक्षत्र, इन्हें तथा (चकार या उपलक्षण से) इन्हीं जैसे दूसरे दिन, रात, अर्ध-दिन-रात, घड़ी घंटादिसमय-निर्देशात्मक परिमाणोंको विज्ञजन (गणधरादिक महामुनीश्वर) देशावकाशिकव्रतकी काल-विषयक मर्यादाएँ कहते हैं।'

सीमान्तानां परतः स्थूलेतर-पंचपाप-संत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥९५॥

'मर्यादाके बाहर स्थूल तथा सूक्ष्म पंच पापोंका भले प्रकार त्याग होनेसे देशावकाशिकव्रतके द्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं।'

व्याख्या—यहां महाव्रतोंकी जिस साधनाका उल्लेख है वह नियत समयके भीतर देशावकाशिक व्रतकी सीमाके बाहरके क्षेत्रसे सम्बन्ध रखती है। उस बाहरके क्षेत्रमें स्थित सभी जीवोंके साथ उतने समयके लिए हिंसादि पांचों प्रकारके पापोंका मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदनाके रूपमें कोई सम्बन्ध न रखनेसे उस देशस्थ सभी प्राणियोंकी अपेक्षा अहिंसादि महाव्रतोंकी प्रसाधना बनती है। और इससे यह बात फलित होती है कि इस व्रतके व्रतीको अपनी व्रतमर्यादाके बाहर स्थित देशोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध ही न रखना चाहिए और यदि किसी कारणवश कोई सम्बन्ध रखना पड़े तो वहांके त्रस-स्थावर सभी जीवोंके साथ महाव्रती मुनिकी तरहसे आचरण करना चाहिये।

प्रेषण-शब्दाऽऽनयनं रूपाऽभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पंच ॥९६॥

'(देशावकाशिकव्रतमें स्वीकृत देश तथा कालकी मर्यादाके बाहर स्वयं न जाकर) प्रेषणकार्य करना—व्यापारादिके लिए किसी व्यक्ति, वस्तु, पत्र या संदेशको वहां भेजना—, आनयन कार्य करना—सीमा-बाह्य देशसे किसी व्यक्तिको बुलाना या कोई चीज अथवा पत्रादिक मंगाना, (बाह्य देशमें स्थित प्राणियोंको अपने किसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए) शब्द सुनाना—उच्चस्वरसे बोलना, टेलीफोन या तारसे बातचीत करना अथवा लाउडस्पीकर (ध्वनि-प्रचारक यन्त्र) का प्रयोग करना, अपना रूप दिखाना, तथा पुद्गल द्रव्यके क्षेपण (पातनादि) द्वारा कोई प्रकारका संकेत करना, ये देशावकाशिकव्रतके पांच अतीचार कहे जाते हैं।

व्याख्या—इन अतीचारोंके द्वारा देशावकाशिकव्रतकी सीमाके बाह्यस्थित देशोंसे सम्बन्ध-विच्छेदकी बात को—उसके प्रकारोंको—स्पष्ट करते हुए अन्तिम सीमाके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है। यदि कोई दूसरा मानव इस व्रतके व्रतीकी इच्छा तथा प्रेरणाके बिना ही उसकी किसी चीजको, उसके कारखानेके लेबिल लगे मालको, उसके शब्दोंको (रिकार्ड रूपमें) अथवा उसके किसी चित्र या आकृति-विशेषको-व्रतसीमाके बाह्यस्थित देशको भेजता है तो उससे इस व्रतका व्रती किसी दोषका भागी नहीं होता। इसी तरह सीमाबाह्य स्थित देशका कोई पदार्थ यदि इस व्रतीकी इच्छा तथा प्रेरणाके बिना ही स्वतन्त्र रूपमें वहांसे लाया जाकर इस व्रतीको अपनी क्षेत्रमर्यादाके भीतर प्राप्त होता है तो उससे भी व्रतको दोष नहीं लगता। हां, जानबूझ कर वह ऐसे चित्रपटों, सिनेमाके पर्दों तथा चलचित्रोंको नहीं देखेगा और न ऐसे गायनों आदिके ब्राडकास्टों तथा रिकार्डोंको ही रेडियो आदि द्वारा सुनेगा जो उसकी क्षेत्रमर्यादासे बाहरके चेतन प्राणियोंसे सीधा सम्बन्ध रखते हों और जिससे उनके प्रति रागद्वेषकी उत्पत्ति तथा हिंसादिककी प्रवृत्तिका सम्भव हो सके।

आसमयमुक्ति मुक्तं पंचाऽघानामशेषभावेन।
सर्वत्र च सामयिकाःसामयिकं नाम शंसन्ति ॥९७॥

'(विवक्षित) समयकी—केशबन्धादि रूपसे गृहीत आचार की—मुक्तिपर्यन्त—उसे तोड़नेकी अवधि तक—जो हिंसादि पांच पापोंका पूर्णरूपसे सर्वत्र—देशावकाशिक व्रतकी क्षेत्र मर्यादाके भीतर और बाहर सब क्षेत्रोंकी अपेक्षा—त्याग करना है उसका नाम आगमके ज्ञाता 'सामयिक' बतलाते हैं'

व्याख्या—यहां जिस समयकी बात कही गई है उसका सूचनात्मक स्वरूप अगली कारिकामें दिया है। उस समय अथवा आचारविशेषकी अवधिपर्यन्त हिंसादिक पांचों पापोंका पूर्णरूपसे त्याग इस व्रतके लिये विवक्षित है और उसमें पापोंके स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार आजाते हैं। यह त्याग क्षेत्रकी दृष्टिसे देशावकाशिक व्रतकी सीमाके भीतर और बाहर सारे ही क्षेत्रसे सम्बन्ध रखता है।

मूर्ध्वरुह-मुष्टि-वासो-बन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेषनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः॥९८॥

'केशबन्धन, मुष्टिबन्धन, वस्त्रबन्धन पर्यङ्कबंधन—पद्मासनादि मांड़ना—और स्थान—खड़े होकर कायोत्सर्ग करना—तथा उपवेशन—बैठकर कायोत्सर्ग करना या साधारण रूपसे बैठना, इनको आगमके ज्ञाता अथवा सामायिक सिद्धान्तके जानकार पुरुष (सामायिकका) समय—आचार—जानते हैं। अर्थात् यह सामायिक व्रतके अनुष्ठानका बाह्याचार है।

व्याख्या—'समय' शब्द शपथ, आचार, सिद्धान्त, काल, नियम, अवसर आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है*। यहाँ वह 'आचार' जैसे अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस कारिकामें जिन आचारोंका उल्लेख है उनमेंसे किसी प्रकारके आचारका अथवा 'वा' शब्दसे उनसे मिलते-जुलते किसी दूसरे आचारका नियम लेकर जब तक उसे स्वेच्छासे या नियमानुसार छोड़ा नहीं जावे तब तकके समय (काल) के लिये पंच पापोंका जो पूर्णरूपसे—मन, वचन, काय और कृत-कारित-अनुमोदनाके द्वारा—सर्वथा त्याग है वही पूर्वकारिकामें वर्णित सामायिककी कालमर्यादाके प्रकारोंका सूचक है; जैसे पद्मासन लगा कर बैठना जब तक असह्य (आकुलताजनक) न हो जाय तब तक उसे नहीं छोड़ा जायगा और इसलिये असह्यादि होने पर जब उसे छोड़ा

* 'समयः शपथे भाषासम्पदोः कालसंविदोः।
सिद्धान्ताऽऽचार-संकेत-नियमावसरेषु च॥
क्रियाधिकारे निर्देशे च।'—इति रभसः

जायगा तब तककी उस सामायिक व्रतकी कालमर्यादा हुई। इसी तरह दूसरे प्रकारोंका हाल है और ये सब घड़ी-घंटा आदिकी परतंत्रतासे रहित सामायिककारकी स्वतन्त्रताके द्योतक अतिप्राचीन प्रयोग हैं जिनकी पूरी रूप-रेखा आज बहुत कुछ अज्ञात है।

एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥९९॥

'वनोंमें, मकानोंमें तथा चैत्यालयोंमें अथवा ('अपि' शब्दसे) अन्य गिरि गुहादिकोंमें जो निरुपद्रव-निराकुल एकान्त स्थान हो उसमें प्रसन्नचित्तसे स्थिर होकर सामायिकको बढ़ाना चाहिये—पंच पापोंके त्यागमें अधिकाधिक रूपसे दृढ़ता लाना चाहिये।

व्याख्या—यहाँ 'एकान्ते' और 'निर्व्याक्षेपे' ये दो पद खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं और वे इस बातको सूचित करते हैं कि सामायिकके लिये वन, घर या चैत्यालयादिका जो भी स्थान चुना जाय वह जनसाधारणके आवागमनादि सम्पर्कसे रहित अलग-थलग हो और साथ ही चींटी, डांस मच्छरादिके उपद्रवों तथा बाहरके कोलाहलों एवं शोरोगुलसे रहित हो, जिससे सामायिकका कार्य निराकुलताके साथ सध सके—उसमें कोई प्रकारका विक्षेप न पड़े। एक तीसरा महत्वपूर्ण पद यहाँ और भी है और वह है 'प्रसन्नधिया', जो इस बातको सूचित करता है कि सामायिकका यह कार्य प्रसन्नचित्त होकर बड़े उत्साहके साथ करना चाहिये—ऐसा नहीं कि गिरे मनसे मात्र नियम पूरा करनेकी दृष्टिको लेकर उसे किया जाय, उससे कोई लाभ नहीं होगा, उल्टा अनादरका दोष लग जायगा।

व्यापार-वैमनस्याद्विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१००॥

'उपवास तथा एकाशनके दिन व्यापार और वैमनस्यसे विनिवृत्ति धारण कर—आरम्भादिजन्य शरीरादिकी चेष्टा और मनकी व्यग्रताको दूर करके—अन्तर्जल्पादि रूप संकल्प-विकल्पके त्याग-द्वारा सामायिकको दृढ़ करना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ सामायिककी दृढ़ताके कारणोंको स्पष्ट किया गया है। सामायिकमें दृढ़ता तभी लाई जा सकती है जब काय तथा वचनका व्यापार बन्द हो, चित्तकी व्यग्रता-कलुषता मिटे और अन्तरात्मामें अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प उठकर जो अन्तर्जल्प होता रहता है—भीतर ही भीतर कुछ बातचीत चला करती है—वह दूर होवे। अतः इस सब साधन-सामग्रीको जुटानेका पूरा यत्न होना चाहिये। इसके लिये उपवासका दिन ज्यादा अच्छा है और दूसरे स्थान पर एक बार भोजनका दिन है।

सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम्।
व्रतपंचक-परिपूरण-कारणमवधान युक्तेन ॥१०१॥

(न केवल उपवासादि पर्वके दिन ही, किन्तु) प्रतिदिन भी निरालसी और एकाग्रचित्त गृहस्थ श्रावकोंको चाहिए कि वह यथाविधि सामायिकको बढ़ावें; क्योंकि यह सामायिक अहिंसादि पंचव्रतोंके परिपूरणका—उन्हें अणुव्रतसे महाव्रतत्व प्राप्त करानेका—कारण है।

व्याख्या—यहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि सामायिक, उपवास तथा एक भुक्तके दिन ही नहीं, बल्कि प्रतिदिन भी की जाती है और करनी चाहिए; क्योंकि उससे अधूरे अहिंसादिक व्रत पूर्णताको प्राप्त होते हैं। उसे प्रतिदिन करनेके लिये निरालस और एकाग्रचित्त होना बहुत ज़रूरी है। इसकी ओर पूरा ध्यान रखना चाहिये।

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२॥

'सामायिकमें कृष्यादि आरम्भोंके साथ साथ सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर परिग्रहोंका अभाव होता है इसलिये सामायिक की अवस्थामें गृहस्थ श्रावककी दशा चेलोपसृष्ट मुनि-जैसी होती है। वह उस दिगम्बर मुनिके समान मुनि होता है जिसको किसी भोले भाईने दयाका दुरुपयोग करके वस्त्र ओढ़ा दिया हो और वह मुनि उस वस्त्रको अपने व्रत और पदके विरुद्ध देख उपसर्ग समझ रहा हो।

व्याख्या—यहाँ सामायिकमें स्थित गृहस्थकी दशा बिल्कुल मुनि-जैसी है, इसे भले प्रकार स्पष्ट किया गया है और इसलिए इस व्रतके व्रती श्रावकको कितना महत्व प्राप्त है यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अतः श्रावकोंको इस व्रतका यथा विधि आचरण बड़ी ही सावधानी एवं तत्परताके साथ करना चाहिये और उसके लिये अगली कारिकाओंमें सुझाई हुई बातों पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये।

साथ ही यह खूब समझ लेना चाहिये कि सामायिक केवल जाप जपना नहीं है—जैसा कि बहुधा समझा जाता है—दोनोंमें अन्तर है और वह सामायिक तथा प्रतिक्रमण—पाठों में पाए जाने वाले सामायिक व्रतके इस लक्षणपद्यसे और भी स्पष्ट हो जाता है :—

"समता सर्वभूतेषु संयमः शुभ-भावना ।
आर्त-रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥"

इसमें सामायिकव्रत उसे बतलाया गया है जिसके आधारमें सब प्राणियों पर समता-भाव हो—किसीके प्रति राग-द्वेषका वैषम्य न रहे—,इन्द्रिय संयम तथा प्राणिसंयम-के रूपमें संयमका पूरा पालन हो, सदा शुभ भावनाएँ बनी रहें—अशुभ भावनाको जरा भी अवसर न मिले—और आर्त्त तथा रौद्र नामके दोनों खोटे ध्यानोंका परित्याग हो। इस आधारको लिये हुए यदि जाप जपा जाता है और विकसित आत्माओंके स्मरणोंसे अपनेको विकासोन्मुख बनाया जाता है तो वह भी सामायिकमें परिगणित है।

शीतोष्ण-दंशमशकं परीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः॥१०३॥

'सामायिकको प्राप्त हुए—सामायिक मांडकर स्थित हुए—गृहस्थोंको चाहिए कि वे (सामायिक-कालमें) सर्दी-गर्मी डांस-मच्छर आदिके रूपमें जो भी परीषह उपस्थित हो उसको, तथा जो उपसर्ग आए उसको भी अचलयोग होकर—अपने मन-वचन-कायको डांवाडोल न करके—मौनपूर्वक अपने अधिकारमें करें—खुशीसे सहन करें, पीड़ाके होते हुए भी घबराहट-बेचैनी या दीनतासूचक कोई शब्द मुखसे न निकालें।'

व्याख्या—यहाँ मौनपूर्वक सामायिकमें स्थित होकर सामायिक-कालमें आए हुए उपसर्गों तथा परीषहोंको समता-भावसे सहन करते हुए जिस अचलयोग-साधनाका गृहस्थों-के लिये उपदेश है वह सब मुनियों-जैसी चर्या है और इसलिए आरम्भ तथा परिग्रहसे विरक्त ऐसे गृहस्थ साधकों-को उस समय मुनि कहना—चेलोपसृष्ट मुनिकी उपमा देना—उपयुक्त ही है।

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ।१०४।

'सामायिकमें स्थित सभी श्रावक इस प्रकारका ध्यान करें—चिन्तन करें—कि 'मैं चतुर्गति भ्रमणरूपी जिस संसारमें बस रहा हूँ वह अशरण है—उसमें अपायपरिरक्षक (विनाशसे रक्षा करने वाला) कोई नहीं है, (अशुभ-कारण-जन्य और अशुभ कार्यका कारण होनेसे) अशुभ है, अनित्य है, दुःखरूप है और आत्मस्वरूपसे भिन्न है, तथा मोक्ष उससे विपरीतस्वरूपवाला है—वह शरणरूप, शुभरूप, नित्यरूप सुखस्वरूप और आत्म-स्वरूप है।'

व्याख्या—यहां सामायिकमें स्थित होकर जिस प्रकार-के ध्यानकी बात कही गई है उससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि सामायिक कोरा जाप जपना नहीं है। और इसलिये अरहंतादिका नाम वा किसी मन्त्रकी जाप जपनेमें ही सामायिक की इति-श्री मान लेना बहुत बड़ी भूल है, उसे जितना भी शीघ्र हो सके दूर करना चाहिये।

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामयिकस्याऽतिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥१०५

'वचनका दुःप्रणिधान (दुष्ट असत् या अन्यथा प्रयोग अथवा परिणमन), कायका दुःप्रणिधान, मनका दुःप्रणि-धान, अनादर (अनुत्साह) और अस्मरण (अनैकाग्रता), ये वस्तुतः अथवा परमार्थसे सामायिकव्रतके पांच अतीचार हैं।'

'*व्याख्या*—सामायिकव्रतका अनुष्ठान मन-वचनकायको ठीक वशमें रखकर बड़ी सावधानीके साथ उत्साह तथा एकाग्रतापूर्वक किया जाता है, फिर भी दैवयोगसे क्रोधादि किसी कषायके आवेश-वश यदि मन-वचन-कायमें-से किसीका भी खोटा अनुचित या अन्यथा प्रयोग बन जाय अथवा वैसा परिणमन हो जाय, उत्साह गिर जाय या अपने विषयमें एकाग्रता स्थिर न रह सके तो वही इस व्रतके लिये दोषरूप हो जायगा। उदाहरणके तौर पर एक मनुष्य मौनसे सामायिकमें स्थित है, उसके सामने एकदम कोई भयानक जन्तु सांप, बिच्छू व्याघ्रादि आजाए और उसे देखतेही उसके मुँहसे कोई शब्द निकल पड़े-शरीरके रोंगटे खड़े हो जांय, आसन डोल जाय, मनमें भयका संचार होने लगे और उस जन्तुके प्रतिद्वेषकी कुछ भावना जागृत हो उठे अथवा अनिष्टसंयोगज नामका आर्त-ध्यान कुछ क्षणके लिये अपना आसन जमा बैठे तो यह सब उस व्रतीके लिये दोषरूप होगा।

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदिच्छाभिः॥१०६

'चतुर्दशी और अष्टमीके दिन चार अभ्यवहार्यों-का—अन्न, पान (पेय), खाद्य और लेह्यरूपसे चार प्रकारके आहारोंका जो सत् इच्छाओंसे—शुभसंकल्पोंके साथ त्याग है—उनका सेवन न करना है—उसको 'प्रोषधोपवास' व्रत जानना चाहिये ।

व्याख्या—'पर्वणी' शब्द यद्यपि आमतौर पर पूर्णिमा-का वाचक है परन्तु वह यहाँ चतुर्दशीके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि जैनाम्नायकी दृष्टिसे प्रत्येक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ऐसे चार दिन आमतौर पर पर्वके माने जाते हैं, जैसाकि आगे प्रोषधोपवास नामक श्रावकपद (प्रतिमा) के लक्षणमें प्रयुक्त हुए 'पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे' इन पदोंसे भी जाना जाता है। पर्वणीको पूर्णिमा माननेपर पर्व दिन तीन ही रह जाते हैं—दो अष्टमी और एक पूर्णिमा। यहां पर्वणी शब्दसे अष्टमीकी तरह दोनों पक्षोंकी दो चतुर्दशी निर्वाचित हैं। प्रभाचन्द्राचार्यने भी अपनी टीकामें 'पर्वणि' पदका अर्थ 'चतुर्दश्यां' दिया है। 'चतुरभ्यवहार्याणां' पदका जो अर्थ अन्न, पान, खाद्य, और लेह्य किया गया है वह छठे श्रावकपदके लक्षणमें प्रयुक्त हुए 'अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभा-वर्याम्' इस वाक्य पर आधार रखता है।

यहां इस व्रतके लक्षणमें एक बात खास तौरसे ध्यान-में रखने योग्य है और वह है 'सदिच्छाभिः' पदका प्रयोग, जो इस बातको सूचित करता है कि यह उपवास शुभे-च्छाओं अथवा सत्संकल्पोंको लेकर किया जाना चाहिये—किसी बुरी भावना, लोकदिखावा अथवा दम्भादिकके असदुद्देश्यको लेकर नहीं, जिसमें किसी पर अनुचित दबाव डालना भी शामिल है।

पंचानां पापानामलंक्रियाऽऽरम्भ-गन्ध-पुष्पाणाम् ।
स्नानाऽञ्जन-नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥१०७

'उपवासके दिन हिंसादिक पांच पापोंका, अलंक्रियाका—वस्त्रालंकारोंसे शरीरकी सजावटका—' कृष्यादि आरम्भोंका, चन्दन इत्र फुलेल आदि गन्ध द्रव्योंके लेपनादिका, पुष्पोंके (सूँघने-धारणादिरूप) सेवनका, स्नानका, आँखोंमें अञ्जन आँजनेका और नाकमें दवाई डालकर नस्य लेने अथवा सूँघनेका त्याग करना चाहिये।'

व्याख्या—इस कारिकामें उपवासके दिन अथवा समयमें 'क्या नहीं करना' और अगली कारिकामें 'क्या करना' चाहिये इन दोनोंके द्वारा उपवासकी दृष्टि तथा उसकी चर्याको स्पष्ट किया गया है और उनसे यह साफ़ जाना जाता है कि प्रस्तुत उपवास धार्मिकदृष्टिको लिए हुए है। इसीसे इस कारिकामें पञ्च पापोंके त्यागका प्रमुख उल्लेख है, उसे पहला स्थान दिया गया है और अगली कारिकामें धर्मामृतको बड़ी उत्सुकताके साथ पीने-पिलाने-की बातको प्रधानता दी गई है। और इसलिये जो उप-वास इस दृष्टिसे न किये जाकर किसी दूसरी लौकिक दृष्टिको लेकर किए जाते हैं—जैसे स्वास्थ्यके लिये लंघनादिक अथवा अपनी बातको किसी दूसरेसे मनवानेके लिये सत्या-ग्रहके रूपमें प्रचलित अनशनादिक—वे इस उपवासकी कोटिमें नहीं आते।

धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञान-ध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८

'उपवास करनेवालेको चाहिए कि वह उपवासके दिन निद्रा तथा आलस्यसे रहित हुआ अति-उत्कण्ठाके साथ—मात्र दूसरोंके अनुरोधवश नहीं—तथा दूसरोंको—जो धर्मके स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं या धर्मकी ठीक जानकारी नहीं रखते उन्हें—धर्मामृत पिलावे—धर्मचर्चा या शास्त्र सुनावे तथा ज्ञान और ध्यानमें तत्पर होवे—शास्त्रस्वाध्याय-द्वारा ज्ञानार्जनमें मनको लगावे अथवा द्वादशानुप्रेक्षाके चिन्तनमें उपयोगको रमावे और धर्मध्यान नामके अभ्यन्तर तपश्चरणमें लीन रहे।'

ग्रहण-विसर्गाऽऽस्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादराऽस्मरणे
यत्प्रोषधोपवास-व्यतिलंघन-पंचकं तदिदम् ।११०

'(उपवासके दिन भूख-प्याससे पीड़ित होकर शीघ्रतादि-वश) जीव-जन्तुओंकी देख-भाल किये बिना और बिना योग्य रीतिसे झाड़े पोंछे जो किसी चीजका ग्रहण करना—उठाना-पकड़ना है, छोड़ना-धरना है, आसन-बिछौना करना है तथा उपवास-सम्बन्धी क्रियाओंके अनुष्ठानमें अनादर करना है और एकाग्रताका न होना अथवा उपवासविधिको ठीक याद न रखना है, यह

सब प्रोषधोपवासका अतीचार-पंचक है—इस व्रतके पांच अतीचारोंका रूप है।

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥ १११॥
व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२

'सम्यग्दर्शनादि गुणोंके निधि गृहत्यागी तपस्वीको बदलेमें किसी उपचार और उपकारकी अपेक्षा न रखकर जो धर्मके निमित्त यथाविभव—विधिद्रव्यादिकी अपनी शक्ति-सम्पत्तिके अनुरूप–दान देना है उसका नाम 'वैयावृत्य' है।'

('केवल दान ही नहीं किन्तु) गुणानुरागसे संयमियोंकी आपत्तियोंको जो दूर करना है, उनके चरणों को दबाना है तथा और भी उनका जो कुछ उपग्रह है—उपकार, साहाय्य सहयोग अथवा उनके अनुकूल वर्तन है–वह सब भी 'वैयावृत्य' कहा जाता

व्याख्या—यहां जिनके प्रति दानादिके व्यवहारको 'वैयावृत्य' कहा गया है वे प्रधानतः सम्यग्दर्शनादि गुणोंके निधिस्वरूप वे सकलसंयमी, अगृही तपस्वी हैं जो विषय-वासना तथा आशा-तृष्णाके चक्करमें न फँसकर इन्द्रिय-विषयोंकी वांछा तकके वशवर्ती नहीं होते, आरम्भ तथा परिग्रहसे विरक्त रहते हैं और सदा ज्ञान-ध्यान एवं तपमें लीन रहा करते हैं, जैसा कि इसी शास्त्रकी १०वीं कारिकामें दिए तपस्वीके लक्षणसे प्रकट है। और गौणतासे उनमें उन तपस्वियोंका भी समावेश है जो भले ही पूर्णतः गृहत्यागी न हों किन्तु गृहवाससे उदास रहते हों, भले ही आरम्भ-परिग्रहसे पूरे विरक्त न हों किन्तु कृषि-वाणिज्य तथा मिलोंके संचालनादि-जैसा कोई बड़ा आरम्भ तथा ऐसे आरम्भोंमें नौकरीका कार्य न करते हों और प्रायः आवश्यकताकी पूर्ति-जितना परिग्रह रखते हों। साथ ही, विषयोंमें आसक्त न होकर जो संयमके साथ सादा जीवन व्यतीत करते हुए ज्ञानकी अराधना, शुभभावोंकी साधना और निःस्वार्थभावसे लोकहितकी दृष्टिको लिये हुए धार्मिक साहित्यकी रचनादिरूप तपश्चर्यामें दिनरात लीन रहते हों। इसीसे प्रभाचन्द्राचार्यने भी अपनी टीकामें 'संयमिनां' पदका अर्थ 'देश-सकल-यतीनां' करते हुए उसमें सकलसंयमी और देशसंयमी दोनों प्रकारके यतियों-का ग्रहण किया है।

इन कारिकाओंमें प्रयुक्त हुए 'धर्माय', अनपेक्षितोप-चारोपक्रियं', 'गुणरागात्' और' यावानुपग्रहः' पद अपना खास महत्व रखते हैं। 'यावानुपग्रहः' पदमें दूसरा सब प्रकारका उपकार, सहयोग, साहाय्य तथा अनुकूलवर्तनादि आजाता है जिसका इन दोनों कारिकाओंमें स्पष्ट रूपसे उल्लेख नहीं है। उदाहरणके लिये एक संयमी किसी ग्रन्थका निर्माण करना चाहता है उसके लिये आवश्यक विषयोंके ग्रन्थोंको जुटाना, ग्रन्थोंमेंसे अभिलषित विषयोंको खोज निकालने आदिके लिये विद्वानोंकी योजना करना, प्रति-लिपि आदिके लिये लेखकों (क्लर्कों) की नियुक्ति करना और ग्रन्थके लिखे जाने पर उसके प्रचारादिकी योग्य व्यवस्था करना, यह सब उस संयमीका आहार-औषधादिके दानसे भिन्न दूसरा उपग्रह है, जैसा कि महाराज अमोघ-वर्षने आचार्य वीरसेन-जिनसेनके लिये और महाराज कुमारपालने हेमचन्द्राचार्यके लिये किया था। इसी तरह दूसरे सद्गृहस्थों-द्वारा किया हुआ दूसरे विद्वानों एवं साहित्य-तपस्वियोंका अनेक प्रकारका उपग्रह है।

'धर्माय' पद दानादिकमें धार्मिकदृष्टिका सूचक है और इस बातको बतलाता है कि दानादिकका जो कार्य जिस संयमीके प्रति किया जाय वह उसके धर्मकी रक्षार्थ तथा उसके द्वारा अपने धर्मकी रक्षार्थ होना चाहिये—केवल अपना कोई लौकिक प्रयोजन साधने अथवा उसकी सिद्धिकी आशासे नहीं। इसी तरह 'गुणानुरागात्' पद भी लौकिक-दृष्टिका प्रतिषेधक है और इस बातको सूचित करता है कि वह दान तथा उपग्रह-उपकारादिका अन्य कार्य किसी लौकिक लाभादिकी दृष्टिको लक्ष्यमें लेकर अथवा किसीके दबाव या आदेशादिकी मजबूरीके वश होकर न होना चाहिये—वैसा होनेसे वह वैयावृत्यकी कोटिसे निकल जायगा। वैयावृत्यकी साधनाके लिये पात्रके गुणोंमें शुद्ध अनुरागका होना आवश्यक है। रहा 'अनपेक्षितोपचारो-पक्रियं' नामका पद, जो कि दानके विशेषणरूपमें प्रयुक्त हुआ है, इस व्रतकी-आत्मा पर और भी विशद प्रकाश डालता है और इस बातको स्पष्ट घोषित करता है कि इस वैयावृत्य व्रतके व्रती-द्वारा दानादिके रूपमें जो भी सेवाकार्य किया जाय उसके बदलेमें अपने किसी लौकिक उपकार या उपचारकी कोई अपेक्षा न रखनी चाहिये—वैसी

अपेक्षा रख कर किया गया सेवा-कार्य वैयावृत्यमें परिगणित नहीं होगा।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि ग्रन्थकारमहोदयने चतुर्थशिक्षाव्रतको मात्र 'अतिथिसंविभाग'-के रूपमें न रख कर जो उसे 'वैयावृत्य' का रूप दिया है वह अपना खास महत्व रखता है और उसमें कितनी ही ऐसी विशेषताओंका समावेश हो जाता है जिनका ग्रहणमात्र अतिथिसंविभाग नामके अन्तर्गत नहीं बनता; जैसा कि इस विषयकी दूसरी लक्षणात्मिका कारिका (११२) से प्रकट है, जिसमें दानके अतिरिक्त दूसरे सब प्रकारके उपग्रह—उपकारादिको समाविष्ट किया गया है और इसीसे उसमें देवाधिदेवके उस पूजनका भी समावेश हो जाता है जो दानके कथनानन्तर इस ग्रन्थमें आगे निर्दिष्ट हुआ है और जो इस व्रतका 'अतिथिसंविभाग' नामकरण करने वाले दूसरे ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता।

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुण-समाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥

'(दातारके) सप्तगुणोंसे युक्त तथा (बाह्य) शुद्धिसे सम्पन्न गृहस्थके द्वारा नवपुण्यों—पुण्यकारणोंके साथ जो सूनाओं तथा आरम्भोंसे रहित साधुजनोंकी प्रतिपत्ति है—उनके प्रति आदर-सत्कार-पूर्वक आहारादिके विनियोगका व्यवहार है—वह दान माना जाता है।'

व्याख्या—जिस दानको १११ वीं कारिकामें वैयावृत्य बतलाया है उसके स्वामी, साधनों तथा पात्रोंका इस कारिकामें कुछ विशेष रूपसे निर्देश किया है। दानके स्वामी दातारके विषयमें लिखा है कि वह सप्तगुणोंसे युक्त होना चाहिए। दातारके सात गुण श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञानता, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति हैं, ऐसा दूसरे ग्रन्थोंसे जाना जाता है *। इन गुणोंसे दातारकी अन्तःशुद्धि होती है और इसलिये दूसरे 'शुद्धेन' पदसे बाह्यशुद्धिका अभिप्राय है, जो हस्तपादादि तथा वस्त्रादिकी शुद्धि जान पड़ती है। दानके साधनों—विधिविधानोंके रूपमें जिन नव पुण्योंका—पुण्योपार्जनके हेतुओंका—यहाँ उल्लेख है वे १ प्रतिग्रहण, २ उच्चस्थापन, ३ पादप्रक्षालन, ४ अर्चन, ५ प्रणाम, ६ मनःशुद्धि, ७ वचनशुद्धि, ८ कायशुद्धि और एषण (भोजन) शुद्धिके नामसे अन्यत्र उल्लिखित मिलते हैं ×।

दानके पात्रोंके विषयमें यह खास तौरसे उल्लेख किया गया है कि वे सूनाओं तथा आरम्भोंसे रहित होने चाहियें। आरम्भोंमें सेवा, कृषि, वाणिज्यादि शामिल हैं, जैसा कि इसी ग्रन्थकी 'सेवा-कृषि-वाणिज्य-प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति' इत्यादि कारिका नं० १४४ से प्रकट है। और 'सूना' वधके स्थानों—ठिकानोंका नाम है और वे खंडिनी (ओखली), पेषिणी (चक्की), चुल्ली (चौका चूल्हा), उदकुंभी (जलघटी) तथा प्रमार्जनी (बोहारिका) के नामसे पांच प्रसिद्ध हैं +। इससे स्पष्ट है कि वे पात्र सेवा-कृषि-वाणिज्यादि कार्योंसे ही रहित न होने चाहियें बल्कि ओखली, चक्की, चूल्ही, पानी भर कर रखना तथा बुहारी देने-जैसे कामोंको करनेवाले भी न होने चाहियें। ऐसे पात्र *प्रायः मुनि तथा ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक* क्षुल्लक—ऐलक हो सकते हैं।

गृहकर्मणापि निचितं कर्मविमार्ष्टि खलुगृहविमुक्तानाम्
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥११४

'जैसे जल रुधिरको धो डालता है वैसे ही गृहत्यागी अतिथियों (साधुजनों) की दानादिरूपसे की हुई पूजा-भक्ति भी घरके पंचसूनादि सावद्य-कार्योंके द्वारा संचित एवं पुष्ट हुए पापकर्मको निश्चयसे दूर कर देती है।'

व्याख्या—यहाँ 'गृहविमुक्तानां अतिथीनां' पदोंके द्वारा वे ही गृहत्यागी साधुजन विवक्षित हैं जो पिछली कारिकाओंके अनुसार 'तपोधन' हैं—तपस्वीके उस लक्षणसे युक्त हैं जिसे १० वीं कारिकामें निर्दिष्ट किया गया है, 'गुणनिधि' हैं—सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी खान हैं—संयमी हैं—इन्द्रियसंयम-प्राणिसंयमसे सम्पन्न एवं कषायोंका दमन

---

* श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥
—टीकामें प्रभाचन्द्र-द्वारा उद्धृत

× पडिगहणमुच्चठाणं पादोदकमच्चणं च पणामं च।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविहं पुण्णं॥
—टीकामें प्रभाचन्द्र-द्वारा उद्धृत

+ खंडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति॥
—टीकामें प्रभाचन्द्र-द्वारा उद्धृत

किए हुए हैं और पंचसूना तथा आरम्भसे विमुक्त है। ऐसे सन्तजनोंकी शुद्ध वैयावृत्ति निःसन्देह गृहस्थोंके पुंजीभूत पाप-मलको भी डालनेमें समर्थ है। प्रत्युत इसके, जो साधु इन गुणोंसे रहित हैं, कषायोंसे पीड़ित हैं और दम्भादिक-से युक्त हैं उनकी वैय्यावृत्ति अथवा भक्ति ऐसे फलको नहीं फलती। वे तो पत्थरकी नौकाके समान होते हैं—आप डूबते और साथमें दूसरोंको भी ले डूबते हैं।

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु॥ १५

'सच्चे तपोनिधि साधुओंमें प्रणामके व्यवहारसे उच्चगोत्रक', दानके विनियोगसे इन्द्रिय-भोगकी, उपासनाकी योजनासे पूजा-प्रतिष्ठाकी, भक्तिके प्रयोग-से सुन्दर रूपकी और स्तुतिकी सृष्टिसे यश. कीर्तिकी सम्प्राप्ति होती है।

व्याख्या यहाँ 'तपोनिधिषु' पदके द्वारा भी उन्हीं सच्चे तपस्वियोंका ग्रहण है जिनका उल्लेख पिछली कारि-काकी व्याख्यामें किया गया है और जिनके लिये चौथी कारिकामें 'परमार्थ' विशेषण भी लगाया गया है। अतः इस कारिकामें वर्णित फल उन्हींके प्रणामादिकसे सम्बन्ध रखता है—दूसरे तपस्वियोंके नहीं।

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्॥ ११६

'सत्पात्रको दिया हुआ देहधारियोंका थोड़ा भी दान, सुक्षेत्रमें बोए हुए वटबीजके समान, उन्हें समय पर (भोगोपभोगादिकी प्रचुर सामग्रीरूप) छाया-विभवको लिये हुए बहुत इष्ट फलको फलता है।'

व्याख्या—यहां प्रणामादि जैसे छोटेसे भी कार्यका बहुत बड़ा फल कैसे होता है उसे बड़के बीजके उदाहरण द्वारा स्पष्ट करके बतलाया गया है। और इसलिए पिछली कारिकामें जिसकार्यका जो फल निर्दिष्ट हुआ है उसमें सन्देहके लिए अवकाश नहीं। सत्पात्र-गत होने पर उन कार्योंमें वैसे ही फलकी शक्ति है।

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्त्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः॥११७॥

'आहार, औषध, उपकरण (पीछी, कमंडलु, शास्त्रादि) और आवास (वस्तिकादि) इन चार प्रकारके दानोंसे वैयावृत्त्य को विज्ञजन चार प्रकारका बतलाते हैं। अर्थात् आहारदान, औषधिदान, उपकरणदान और आवासदान, ये वैय्यावृत्यके मुख्य चार भेद हैं।'

व्याख्या—लोकमें यद्यपि आहारदान, औषधदान, विद्यादान और अभयदान, ऐसे चार दान अधिक प्रसिद्ध हैं; परन्तु जिन तपस्वियोंको मुख्यतः लक्ष्य करके यहां वैय्या-वृत्यके रूपमें दानकी व्यवस्था की गई है उनके लिए ये ही चार दान उपयुक्त हैं। उपकरणदानमें शास्त्रका दान आजानेसे विद्यादान सहज ही बनजाता है और भय को वे पहलेसे ही जीते हुए होते हैं, उसमें जो कुछ कसर रहती है वह प्रायः आवासदानसे पूरी हो जाती है।

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःख-निर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतोनित्यम्॥११८

'(वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रतका अनुष्ठान करने वाले श्रावकको) देवाधिदेव (श्री अर्हन्तदेव) के चरणोंमें, जो कि वांछित फलको देनेवाले और काम (इच्छा तथा मदन) को भस्म करनेवाले हैं, नित्य ही आदर-सत्कारके साथ पूजा-परिचर्याको वृद्धिंगत करना चाहिये, जो कि सब दुखोंको हरने वाली है।

व्याख्या—यहां वैयावृत्य नामके शिक्षाव्रतमें देवाधि-देव श्री अर्हन्तदेवकी नित्य पूजा-सेवाका भी समावेश किया गया है। और उसे सब दुःखोंकी हरनेवाली बतलाया गया है। उसके लिए शर्त यह है कि वह आदरके साथ (पूर्णतः भक्तिभाव पूर्वक) चरणोंमें अर्पितचित्त हो कर की जानी चाहिए—ऐसा नहीं कि बिना आदर-उत्साहके मात्र नियमपूर्तिके रूपमें, लोकाचारकी दृष्टिसे, मजबूरी से अथवा आजीविकाके साधनरूपमें उसे किया जाय। तभी वह उक्त फलको फलती है।

वैय्यावृत्यके, दानकी दृष्टिसे, जो चार भेद किये गये हैं उनमें इस पूजा-परिचर्याका समावेश नहीं होता। दान और पूजन दो विषय ही अलग-अलग हैं—गृहस्थों की षडावश्यक क्रियाओंमें भी वे अलग-अलग रूपसे वर्णित हैं। इसीसे आचार्य प्रभाचन्द्रने टीकामें दानके प्रकरण-को समाप्त करते हुए प्रस्तुत कारिकाके पूर्वमें जो निम्न प्रस्तावना-वाक्य दिया है उसमें यह स्पष्ट बतलाया है कि 'वैय्यावृत्यका अनुष्ठान करते हुए जैसे चार प्रकारका दान देना चाहिए वैसे पूजाविधान भी करना चाहिए'—

"यथा वैयावृत्यं विदधता चतुर्विधं दानं दातव्यं तथा पूजाविधानमपि कर्तव्यमित्याह"

अर्हन्तदेव क्षुधा, तृषा तथा रोग-शोकादिकसे विमुक्त होते हैं—भोजनादिक नहीं लेते, इससे उनके प्रति आहारादिके दानका व्यवहार बनता भी नहीं * । और इसलिए देवाधिदेवके पूजनको दान समझना समुचित प्रतीत नहीं होता।

यहां पूजाके किसी रूपविशेषका निर्देश नहीं किया गया। पूजाका सर्वथा कोई एक रूप बनता भी नहीं। पूजा पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिका नाम है और आदर-सत्कारको अपनी अपनी रुचि, शक्ति, भक्ति एवं परिस्थितिके अनुसार अनेक प्रकारसे व्यक्त किया जाता है, इसीसे पूजाका कोई सर्वथा एक रूप नहीं रहता। पूजाका सबसे अच्छा एवं श्रेष्ठरूप पूज्यके अनुकूल वर्तन है—उसके गुणोंका अनुसरण है। इसीको पहला स्थान प्राप्त है।

दूसरा स्थान तदनुकूलवर्तनकी ओर लेजानेवाले स्तवनादिकका है, जिनके द्वारा पूज्यके पुण्यगुणोंका स्मरण करते हुए अपनेको पापोंसे सुरक्षित रखकर पवित्र किया जाता है और इस तरह पूज्यके साक्षात् सामने विद्यमान न होते हुए भी अपना श्रेयोमार्ग सुलभ किया जाता है ×। पूजाके ये ही दो रूप ग्रंथकार महोदय स्वामी समन्तभद्रको सबसे अधिक इष्ट रहे हैं। उन्होंने अपनेको अर्हन्तोंके अनुकूल वर्तनके साँचेमें ढाला है और स्तुति-स्तवनादिके वे बड़े ही प्रेमी थे, उसे आत्मविकासके मार्गमें सहायक समझते थे और इसी दृष्टिसे उसमें संलग्न रहा करते थे—न कि किसीकी प्रसन्नता सम्पादन करने तथा उसके द्वारा अपना कोई लौकिक कार्य साधनेके लिये। वे जल-चन्दन-अक्षतादिसे पूजा न करते हुए भी पूजक थे, उनकी द्रव्यपूजा अपने वचन तथा कायको अन्य व्यापारोंसे हटाकर पूज्यके प्रति प्रणामाञ्जलि तथा स्तुति-पाठादिके रूपमें एकाग्र करनेमें संनिहित थी। यही प्रायः पुरातनों—अतिप्राचीनों—द्वारा की जानेवाली 'द्रव्य-पूजा' का उस समय रूप था; जैसा कि अमितगति आचार्यके निम्न वाक्यसे भी जाना जाता है:—

वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः॥
—उपासकाचार

ऐसी हालतमें स्वामी समन्तभद्रने 'परिचरण' शब्दका जो प्रस्तुत-कारिकामें प्रयोग किया है उसका आशय अधिकांशमें अनुकूल वर्तनके साथ-साथ देवाधिदेवके गुणस्मरण-को लिये हुए उनके स्तवनका ही जान पड़ता है। साथ ही इतना जान लेना चाहिये कि देवाधिदेवकी पूजा-सेवामें उनके शासनकी भी पूजा-सेवा सम्मिलित हैं।

हरित-पिधान-निधाने ह्यनादराऽस्मरण-मत्सरत्वानि
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥१२१॥

हरितपिधान—हरे (सचित्त, अप्रासुक) पत्र-पुष्पादिसे ढकी आहारादि देय वस्तु देना—, हरितनिधान—हरे (अप्रासुक-सचित्त) पत्रादिक पर रक्खी हुई देय वस्तु देना—, अनादरत्व—दानादिकमें अनादरका भाव होना अस्मरणत्व—दानादिकी विधिमें भूलका हो जाना, और मत्सरत्व—अन्य दातारों तथा पूजकादिकी प्रशंसाको सहन न करते हुए ईर्षाभावसे दानका देना तथा पूजनादिका करना—, ये निश्चयसे वैयावृत्त्यके पाँच अतिचार (दोष) कहे जाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'हरितपिधाननिधाने' पदमें प्रयुक्त हुआ 'हरित' शब्द सचित्त (सजीव) अर्थका वाचक है—मात्र हरियाई अथवा हरे रंगके पदार्थका वाचक वह नहीं

---

* नाऽर्थ क्षुत्तृड्विनाशाद्विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या नास्पृष्टेर्गन्धमाल्यैर्न हि मृदुशयनैर्ग्लानिनिद्राद्यभावात्।
आतंकार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजानर्थ्यतावद्।
दीपाऽनर्थक्यवद्वा व्यपगततिमिरे दृश्यमाने समस्ते।
—पूज्यपादाचार्यः

× जैसा कि स्वयम्भूस्तोत्रके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातिचित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्यः॥
स्तुतिःस्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम्॥

यहाँ पहले पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'पूजा' शब्द निन्दाका प्रतिपक्षी होनेसे 'स्तुति' का वाचक है और दूसरे पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'स्तुयात्' पद 'अभिपूज्यं' पदके साथमें रहनेसे 'पूजा' अर्थका द्योतक है।

है, और इसलिये इस पदके द्वारा जब सचित्त वस्तुसे ढके हुए तथा सचित्त वस्तुपर रक्खे हुए अचित्त पदार्थके दान-को दोषरूप बतलाया है तब इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अनगार मुनियों तथा अन्य सचित्तत्यागी संयमियों-को आहारादिकके दानमें सचित्त वस्तुओंका देना निषिद्ध है, न कि अचित्त वस्तुओंका—भले ही वे संस्कार-द्वारा अचित्त क्यों न हुई हों; जैसे हरी तोरीका शाक और गन्ने या सन्तरेका रस। *

—युगवीर

* समीचीन धर्मशास्त्रके अप्रकाशित भाष्यसे।

हेमराज गोदीका और प्रवचनसारका पद्यानुवाद

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

हिन्दी जैन साहित्यके कवियोंका अभी तक जो इति-वृत्त संकलित हुआ है उसमें बहुतसे कवियोंका इतिवृत्त संकलित नहीं हो सका। उसका प्रधान कारण तद्विषयक अन्वेषणकी कमी है। अन्य भाषाओंकी तरह हिन्दी भाषामें जैनियोंका बहुत साहित्य रचा गया है, जिस पर अनेक तुलनात्मक और समालोचनात्मक निबन्धोंके लिखे जानेकी आवश्यकता है। अस्तु, आज हिन्दी जैन साहित्यके एक ऐसे अपरिचित कविका परिचय देनेका उपक्रम कर रहा हूँ जिसके नाम और कृतिसे अधिकांश लोग अपरिचित ही हैं। उनका नाम हेमराज, जाति खंडेलवाल और गोत्र भाँवसा है, परन्तु उनका व्यंक 'गोदीका' कहा जाता है। यह पहले सांगानेर (जयपुर) के रहने वाले थे, उस समय वहाँ राजा सवाई जयसिंह राज्य करते थे। बादमें वे कारणवश सांगानेरसे कामा चले गये थे, जो कि भरतपुर स्टेटका एक कस्बा है। कामामें उस समय कायस्थ जातिके गजसिंह नामक एक सज्जन दीवान थे, जो बड़े ही चतुर और राज-नीतिमें दक्ष थे। उन दिनों कामामें अध्यात्मप्रेमी सज्जनों की एक सभा अथवा शैली थी, जिसमें स्थानीय अनेक सज्जन भाग लेते थे। इस शैलीका प्रधान लक्ष्य अध्यात्म-ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना और तत्त्वचर्चा-द्वारा उलझी हुई गुत्थियोंको सुलझा कर जैनधर्मके प्रचारके साथ आत्म-उन्नति करना था। उस समय भारतमें जहाँ तहाँ इस प्रकारकी अध्यात्मशैलियाँ विद्यमान थीं जिनसे जनता आत्मबोध प्राप्त करनेका प्रयत्न करती थी। इनके प्रभाव एवं प्रयत्नसे जहाँ लोकहृदयोंमें जैन धर्मके प्रति आस्था और प्रेम उत्पन्न होता था वहाँ अनेकोंका स्थितिकरण भी होता था—उनकी चल श्रद्धामें सुदृढ़ता आजाती थी। उस समय जयपुर, देहली, और आगरामें ऐसी शैलियाँ अपना अपना कार्य सुचारु रूपसे सम्पन्न कर रही थीं, इससे जहाँ स्थानीय लोगोंका जैनधर्मके प्रति प्रेम होता था वहाँ बाहरसे आगन्तुक सज्जनोंको धर्मोपदेशका यथेष्ट लाभ भी मिलता था। इन शैलियोंके प्रभावसे अनेक जैनेतर व्यक्ति भी जैन धर्मकी शरणमें प्राप्त हुए थे। इन शैलियोंके सभी सदस्य धार्मिक और वात्सल्य गुणसे युक्त होते थे। उनका दूसरोंके प्रति आदर और प्रेम भाव रहा करता था, जो जनताको अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ होता था।

उन दिनों कामाकी उस शैलीके कविवर हेमराज भी एक सदस्य थे, जो निरन्तर सैद्धान्तिक ग्रन्थोंका पठन-पाठन करते हुए तत्त्वचर्चाके रसमें निमग्न रहते थे। कामाकी इस शैलीमें जिन दिनों आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारका वाचन हो रहा था उन दिनों आचार्य अमृतचन्द्रकी संस्कृत टीकाके अनुसार पांडे हेमराजकी बनाई हुई हिन्दी टीका-का काफी प्रचार था *। जैसाकि कविके निम्न पद्योंसे स्पष्ट है:—

> अध्यातम शैली सहित बनी सभा सहधर्म।
> चरचा प्रवचन सारकी करैं सबै लहि मर्म॥
> अरचा अरहंत देवकी सेवा गुरु निरग्रन्थ।
> दया धर्म उर आचरैं, पंचमगतिको पन्थ॥
> ऐसी सभा जुरै दिन राती, अध्यातम चर्चा रस पाती।
> जब उपदेश सबनिकौ लीयो, प्रवचन कवित बंध तब कीयो॥
> छप्पय—कुन्दकुन्द मुनिराज प्रथम गाथा बंध कीनो।
> गरभित अरथ अपार नाम प्रवचन तिन्ह दीनो।
> अमृतचन्द पुनि भये ग्यानगुन अधिक विराजत।

* पांडे हेमराजने प्रवचनसारकी यह टीका आगरामें शाहजहांके राज्यकालमें विक्रम संवत् १७०९ को माघ शुक्ला पंचमी शनिवारके दिन समाप्त की थी।

गाथा गूढ़ विचार संस्कृत टीका साजित।
टीका मांहि जो अरथ भनि विना विबुध को ना लहै।
तब हेमराज भाषा वचन रचित बालबुधि सरदहै।
पांडे हेमराज कृत टीका, पढ़त बढ़त सबका हित नीका।
गोपिअरथ परगट करि दीन्हों, सरलवचनिका रचि सुखलीन्हों

प्रवचनसारके पठन-पाठनसे शैलीके लोगोंकी यह भावना हुई कि इसका पद्यानुवाद हो जाय तो लोग इसको सहज ही याद कर सकेंगे। इसी प्रकारका भाव कविके हृदयमें भी जागृत हुआ। फलतः प्रवचनसारका पद्यानुवाद कविने करना शुरू किया और उसे संवत् १७२४ में बना कर समाप्त किया। जैसा कि ग्रन्थ प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

आषाढमास दुतिया धवल पुष्य नक्षत्र गुरुवार धुव।
× × × ×
सत्रहसौ चौवीस संवत शुभ दिन अरु शुभ घड़ी।
कीनो ग्रन्थ सुधीस दोष देखि कीजहु खिमा॥

प्रवचनसारकी इस टीकामें कविने, कवित्त, अरिल्लछंद, वेसरी, पद्धरी, रोडक, चौपई, दोहा, गीता, कुंडलिया, मरहठा, छप्पय, और सवैया तेईसा आदि छन्दोंका प्रयोग किया है जिनके कुल पद्योंकी संख्या ७२५ है। जिनका ब्यौरा कविके शब्दोंमें निम्न प्रकार है:—

कवित्त—
उनसठ कवित्त, अरिल्ल बत्तीस सुबेसरि छंद निवै अर तीन।
दस पद्धरी चारि रोडक मानि, सब चारीस चौपई कीन।
दोहा छन्द तीनसै साठा तामें एक कीजिये हीन।
गीता सात आठ कुंडलिया एक मरहठा मिनहु प्रवीन॥
छप्पय—बाईसा भनि चारि पांचसौ चौईसा कहिये।
एकतीसा बत्तीसा एक पचीसौं लहिये।
छप्पय गनि तेईस छंद फुनि साम विलंवित।
जानहु दस अर सात सकल तेईसा परमित॥
सोरठा—छंद तेतीस सब सात शतक पचवीस हुव।

प्रवचनसार एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ है जिसमें जैनाचारके साथ तत्वज्ञानका अच्छा विवेचन किया गया है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्दकी दार्शनिक दृष्टिका दर्शन होता है। इसका दूसरा अधिकार 'ज्ञेयाधिकार' नामका है, जिसमें ज्ञेयतत्वोंका सुन्दर विवेचन किया गया है। कथन-शैली बड़ी ही प्रौढ़ तथा गम्भीर एवं संक्षिप्त है। ऐसे कठिन ग्रन्थका कविने जो पद्यानुवाद करनेका प्रयत्न किया है वह उसमें कहाँ तक सफल हो सका है उसीके सम्बन्धमें कुछ दिग्दर्शन करना इष्ट है। यहाँ पाठकोंकी जिज्ञासापूर्तिके लिये कुछ गाथाओंका पद्यानुवाद नीचे दिया जाता है, जिससे पाठक कविकी कविता और उसके प्रयत्नकी सफलताका विचार करनेमें समर्थ हो सकें।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्ध-संपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाण-सुहं सुहोवजुत्तो व सग्ग-सुहं॥११॥

इस गाथामें बतलाया गया है कि जब धर्मस्वरूप परिणत यह आत्मा शुद्ध उपयोगसे युक्त होता है तब मोक्ष सुख प्राप्त करता है। किन्तु जब वह धर्मपरिणतिके साथ शुभोपयोगमें विचरण करता है—रागवर्द्धक दान, पूजा, व्रत, संयमादि रूप भावोंमें प्रवृत्त होता है तब उसके फल-स्वरूप वह स्वर्गादिक सुखोंका पात्र बनता है—वह विषय-कषाय रूप सराग भावोंमें प्रवृत्त होनेके कारण, अग्निसे तपे हुए घीसे शरीर सिंचन करनेसे समुत्पन्न देह-दाहके समान इन्द्रिय-सुखोंको प्राप्त करता है। यही सब भाव टीकाकारने अपने पद्योंमें व्यक्त किया है।

दोहा—शुद्ध स्वरूपाचरणतैं, पावत सुख निरवान।
शुभोपयोगी आतमा, स्वर्गादिक फल जान॥
वेसरिछंद—विषयकषायीजीवसरागी, कर्मबन्धकीपरिणतिजागी
तहाँशुद्धउपयोगविदारी, तातैंविविधभांतिसंसारी
तपत घीव सींचत नर कोई, उपजत दाह शान्ति नहि होई।
त्योंही शुभउपयोग दुख मानैं, देव-विभूति तनक सुखमानैं॥
सुभोपयोगी सकति मुनिराई, इंद्रियाधीन स्वर्ग सुखदाई।
छिनमें होई जाय छिनमाहैं, शुद्धाचरण पुरुष क्यों चाहैं॥

अइसयमाद समुत्थं विषयातीदं अणोवम मणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं॥१२॥

इस गाथामें शुद्धोपयोगका फल निर्दिष्ट करते हुए बतलाया गया है कि परमवीतराग रूप सम्यक्चरित्रसे निष्पन्न अरहन्त सिद्धोंको जो सुख प्राप्त है वह इन्द्रादिके इन्द्रियजन्य सुखोंसे अपूर्व आश्चर्यकारक, पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे रहित, अनुपम, आत्मोत्थ, अनन्त (अविनाशी) अव्युच्छिन्न (बाधारहित) है—उस सुखामृतके सामने संसारके सभी सुख हेय एवं दुःखद प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे सुखाभास हैं। इसी भावको कविने निम्न पद्योंमें अंकित किया है:—

सबहीं सुखतैं अधिक सुख, है आतम आधीन।
विषयातीत बाधा रहित, शुद्ध चरण शिव कीन ॥
शुद्धाचरण विभूति शिव अतुल अखण्ड प्रकाश।
सदा उदै नये करम लिये दरसन ज्ञान विलास ॥

वेसरी—जो परमातम शुद्धोपयोगी, विषय-कषायरहितउरजोगी
करै न नऊतम पूरबभानै, सहज मोक्षको उद्यम ठानै ॥
इन्द्रिय निस्यंद पुण्य-सुख, सबै इन्द्रियाधीन।
शुद्धाचरण अखण्ड रस, उद्यम रहित प्रवीन ॥

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दु-पदेसादित्त मणुहवदि ॥७१॥

इस गाथामें परमाणुरूप द्रव्यसे स्कंध पर्याय कैसे बनती है? इस सन्देहको दूर करते हुए लिखा है कि पुद्गलका सूक्ष्म अविभागीपरमाणु अप्रदेशी है—दो आदि प्रदेशोंसे रहित है। वह एक प्रदेशमात्र है और स्वयं अशब्द है—अनेक परमाणु रूप द्रव्यात्मक शब्द पर्यायसे रहित है—अतएव वह परमाणु स्निग्ध और रूक्ष रूप परिणामवाला होनेके कारण दो प्रदेशोंको आदि लेकर अनेक प्रदेश रूप हो जाता है। इसी भावको निम्न पद्योंमें अंकित किया गया है:—

वेसरिछंद—सूक्षमअविभागीपरमाणू,एकप्रदेशअशब्दसुजाणू।
चिक्कणरूक्षसहितगुणलहिये, पुद्गलअणुशुद्ध सो कहिये ॥

दोहा—चिक्कण सूक्ष्म संयोगतैं, अणू मिलाप कराय।
दोय आदि परदेश मिलि, होत बंध परयाय ॥

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥७२॥

इस गाथामें परमाणुओंके स्निग्ध रूक्ष गुणका उल्लेख करते हुए बतलाया है कि परमाणुके स्निग्ध रूक्ष गुणमें अनेक प्रकारकी परिणमन शक्ति होनेसे एकसे लेकर एक-एककी वृद्धिको प्राप्त हुई स्निग्धता और चिक्कणता उनमें जब तक पाई जाती है जब तक वह अनन्त भेदोंको नहीं प्राप्त हो जाता है। इसी भावका संद्योतक पद्य निम्न प्रकार है:—

एक अणु मधि पाइये चिक्कण रूक्ष स्वभाव।
अंश एक सौं एक बढ़ि, बधत अनंत फलाव ॥
चीकणादि परिणामकी, धरत अणू बढ़ि-चारि।
एक अंशकौं आदि दे, अंश अनंत विचारि ॥

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदि परिहीणा ॥७३॥

इस गाथामें परमाणु किस तरहके स्निग्ध (चिकने) रूक्ष (रूखे) गुणोंसे बंध कर पिण्ड रूप हो जाते हैं, यह व्यक्त करते हुए लिखा है कि परमाणुके पर्याय भेद स्निग्ध व रूक्ष हों, किंतु वे दो चार-छह आदि अंशोंकी समानता अथवा तीन पाँच सात आदि अंशोंकी विषमता युक्त हों; परन्तु जघन्य अंशसे रहित गणनाकी समानतासे दो अंश अधिक होने पर ही परस्परमें बंधको—स्कंध रूप पिण्ड,पर्यायको—प्राप्त होते हैं। अन्य रूपोंसे नहीं। निम्न पद्य इसी भावको व्यक्त करते हैं:—

रूक्ष तथा चिक्कण परमाणू, द्वै द्वै अंश बढत जहँ जांणू।
दो दो अंश अधिक गुण होई ,अणू परस्पर बन्धत सोई ॥

विषय अवस्था भेदभनि, बन्ध दोय परकारि।
एक अंशकी अधिकता, अणू अबन्ध विचारि ॥

विषमबंध—तीन पांच अरु सातलों, नव ग्यारा इहिभांति।
द्वै द्वै अधिक अनन्त लग, विषमबंधकी मानि ॥

सम बंध—दोय चार षट् अष्टदश यों अनन्त परकारि।
द्वै द्वै अधिक मिलापसौं, बंध समान विचारि ॥
अणू अणूसौं अधिकता द्वै द्वै अंश बखानि।
रूक्षरुचिक्कण परिणमन, अणूबंध परमानि ॥

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा। २-९९

इस गाथामें शुद्ध नयसे शुद्ध आत्माको लाभ बतलाया गया है और यह लिखा है कि मैं शरीरादि परद्रव्योंका नहीं हूँ। और न शरीरादिक परद्रव्य मेरे हैं। किन्तु मैं सकल विभावभावोंसे रहित एक ज्ञानस्वरूप ही हूँ। इस प्रकार भेद विज्ञानी जीव चित्तकी एकग्रता रूप ध्यानमें समस्त ममत्व भावोंसे रहित होता हुआ अपने चैतन्य आत्माका ध्यान करता है। वही पुरुष आत्मध्यानी कहलाता है।

इसी भावको निम्न पद्यमें अनूदित किया गया है:—

मैं न शरीर शरीर न मेरो, हौं एकरूप चेतना केरो।
जो यह ध्यान धारना धारै, भेदज्ञान बलकरि बिस्तारै।
सो परमातम ध्यानी कहियै, ताकी दशा ज्ञानमें लहिये।
तजि अशुद्ध नय शुद्ध प्रकाशै, ता प्रसादतैं मोहविनाशै।

तातैं तजि व्यवहार नय, गहि निहचैं परवान ।
तिन्हके बलसौं पाइये, परमातम गुन ध्यान ॥
जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा ।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोह दुग्गंठिं ॥२-१२॥

इस गाथामें शुद्धात्माकी प्राप्तिसे क्या लाभ होता है यह बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि जो सागार अथवा अनागार अविनाशी आत्मस्वरूपका चिन्तन करता है, उसी शुद्धात्माका ध्यान करता है वह संसार बंधनकी करने वाली उस सुदृढ मोह-ग्रन्थिका नाश करता है। यही भाव निम्न पद्यमें अंकित है:—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं सम-सुह-दुक्खो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥
जो श्रावक मुनि यौं ध्यावैं, निर्मल शुद्धातम पद पावैं ।
सो ही मोहगंठिको खोलैं, भव-सागरमें बहुरि न डोलैं ॥

इस गाथामें बतलाया गया है कि जो पुरुष मोहगांठका भेदन करता है वह यति अवस्थामें होनेवाले राग-द्वेष रूप विभाव-भावोंको विनष्ट करके सुख-दुःखमें समदृष्टि होता हुआ अक्षय सुखको प्राप्त करता है। यही भाव निम्न पद्यमें कविने निहित किया है।

जब जिय मोह गांठि उरभानी, राग-दोष तजि समता आनी।
ममता जहाँ न सुख-दुख व्यापै, तहां न बन्ध पुण्य अरु पापै ॥
सो मुनिराज निराकुल कहिये, सहज आतमीक सुख लहिये।
तातैं मोहगांठि मुनि खोलैं भुंजत शिव-सुख अधिक अतोलैं ॥
जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे अप्पाणं हवदि झादा ॥२१०४

इस पद्यमें बतलाया गया है कि जो पुरुष मोहरूपी मैलको क्षय करता है, पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हुआ बीच विषयोंसे समुद्रमें स्थित जहाज पर बैठे हुए अन्य आश्रय हीन पक्षीके समान मनकी चंचलताको रोक कर अपने स्वकीय सहज परमानन्द स्वभावमें निश्चय भावसे स्थापित करता है वही पुरुष अपने शुद्ध स्वरूपका ध्याता है। मूलगाथाके इसी भावको कवि हेमराजने निम्न पद्योंमें कितने अच्छे ढंगसे अनूदित किया है:—

पद्धरी—मोह मैल जब कियोदूरि, विषय ममत्व न रह्यौ भूरि
मनकी पुनि चंचलता मिटीवानि, समतापद थिर ह्वै रह्यौ आनि
सोई परमातम ध्यान धार, जर मरन छंडि सो गयो पार।
तातैं परमातम ध्यान जानि, एक परम शुद्धकारण बखानि ॥
जैसैं जलधि मांहिप्रोहनकौं उडि-उडि खग बैठत नहि ठौर।
चहुँदिशि सलिल ब्यंट नहि दीसत तिहिंथिररूप भयो निरदौर।
त्योंहीमनि जब तज्यो विषय-सुख गहि समता नर महि कहुँ और
तातैं जो समता पद धारक सो मुनि सदाजगत शिरमौर।

ऊपर दिये हुए मूल गाथाओंके पद्यानुवादसे पाठक कविकी कविताका आस्वादन कर यह निश्चय कर सकते हैं कि कविने क्या कुछ परिश्रम किया है। यद्यपि कविता साधारण है उसमें भावों एवं पदोंका लालित्य और अलंकारिकता का वह चमत्कारी रूप नहीं है, फिरभी कविता ग्रन्थगत भावोंको स्फुट करनेमें समर्थ है, और वह सरल भी है। कवि की सबसे बड़ी मजबूरी यह थी कि उसे ग्रंथके अनुसार अपने भावोंको व्यक्त करनेके साथ छन्दरूपमें परिणत करना पड़ा है। यह ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। क्या कोई जैन साहित्यका भक्त इसकृतिको प्रकट करानेमें अपना आर्थिक सहयोग देकर जगतकी ज्ञान पियासाको दूर करने का यत्न करेगा।

—वीर सेवामन्दिर ता०—२१-१२-५२

कुछ अज्ञात जैन ग्रन्थ

(पं० हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री)

महा कवि पं० आशाधरजीने जिन अनेकों ग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें एक जिनसहस्रनाम स्तवन भी है। उस पर भी उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थोंके समान स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है, जोकि अभी तक अनुपलब्ध थी। हालहीमें मुझे पुराने ग्रन्थोंकी खोज करते हुए उसकी एक प्रति मिली है। पं० आशाधरजीके सहस्रनाम पर श्रुतसागरसूरिने भी एक टीका लिखी है, जो अनेकों भंडारोंमें पाई जाती है। मैंने जब दोनों टीकाओंको सामने रखकर उनका मिलान किया, तो पता चला कि आशाधरकी स्वोपज्ञवृत्तिको ही आधार बनाकर श्रुतसागरने अपनी टीकाका निर्माण किया है। जहां आशाधरजीने किसी एक नाम पर २-३ ही अर्थ किये हैं। वहां श्रुतसागरने १०-११ तक अर्थ करके अपने श्रुतसागर नामको चरितार्थ किया है।

श्रुतसागरने अपनी उक्त टीकामें लगभग ३२ आचार्यों-

के नामों और उनके ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। जिनमें कई आचार्योंके नाम या ग्रन्थ एकदम अश्रुतपूर्व हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिए यहां उनका उल्लेख मय उद्धरणके किया जाता है :—

(१) 'द' शब्द किन किन अर्थोंका वाचक है, इसे बतलाते हुए वे लिखते हैं—तथा चोक्तं–विश्वशंम्भुमुनि-प्रणीतायामेकाक्षरनाममालायाम्—

दो दाने पूजने क्षीणे दानशौंडे च पालके।
देवे दीप्तौ दुराधर्षे दो भुजे दीर्घदेशके ॥१॥
दयायां दमने दीने दंदशूकेऽपि दः स्मृतः।
बद्धे च बन्धने बोधे बाले बीजे बलोदिते ॥२॥
बिदोषेऽपि पुमाने ष चालने चीवरे वरे।

इस उल्लेखसे पता चलता है कि विश्वशम्भुमुनिने एकाक्षर-नाममाला नामक ग्रन्थ रचा था, जो कि एक-एक अक्षरके अनेकों अर्थोंका प्रतिपादक था। विभिन्न स्थलों पर इस ग्रन्थके अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

(२) दुर्गसिंह नामके किसी कवि द्वारा रचित सरस्वती स्तोत्रका एक पद्य उद्धृत करते हुए श्रुतसागरसूरि लिखते हैं:–उक्तं च महत्वं सरस्वत्या दुर्गसिंहेन कविना-

शब्दात्मिकाया त्रिजगद्विभर्ति स्फुरद्विचित्रार्थसुधास्रवंति।
या बुद्धिरीड्या विदुषां हृदब्जेमुखे च सा मे वशमस्तु नित्यम्

इस उद्धरणको देखते हुए सहजमें ही अनुमान होता है कि यह एक उत्तम सरस्वतीस्तोत्र रहा होगा। श्रुतसागर-ने एक अन्य स्थल पर दुर्गसिंहके नामसे एक और भी श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें बताया गया है कि कौन-कौनसे शब्द पुल्लिंग हैं। इस श्लोकको उद्धृत करते हुए श्रुतसागर लिखते हैं:—विशेषेण वज्रनाम्नः पुंस्त्वं। तथा चोक्तं दुर्गसिंहेन—

स्वर्ग-दिनमान-संवत्सर-नर-यज्ञ-कुचकेशमासस्तुः।
अरि-गिरि-जलदजलधिविषसुरास्यात्मभुजभुजगा ॥
शरनखकपोलकदन्तपकगुल्मोष्ठकठरश्मानीलाः।
एषां संज्ञा धान्यान्युक्तो नाडीव्रणः पंढः ॥१॥

इस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि ये दुर्गसिंह काव्य और व्याकरण शास्त्रके अच्छे विद्वान् रहे हैं और उन्होंने दोनों विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है।

(३) एक स्थल पर अतीन्द्रिय ज्ञानकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागर लिखते हैं:—उक्तं च खंडेन महाकविना—

सव्वण्हु अणिंदिउ णाणमउो जो मयमूढु न पत्तियइ।
सो णिंदिउ पचिंदिय णिरउ वइतरणिहि पाणिउ पियइ ॥१

इस रचनाको देखनेसे ज्ञात होता है कि खंडमहाकविने अपभ्रंशमें किसी महाकाव्यकी रचनाकी है जिससे कि श्रुतसागरने उन्हें महाकविके नामसे उल्लेख किया है। अपभ्रंश भाषाके जितने कवि और उनके द्वारा रचित ग्रन्थ अभी तक सामने आये हैं, उनमें खंडमहाकविका नाम एक विशिष्ट एवं अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिए। यही पद्य अन्यत्र श्रुतसागरने 'उक्तं च काव्यपिशाचेन' कहकर भी उद्धृत किया है।

(४) एक स्थल पर योगकी व्याख्या करते हुए पद्मनन्दि-रचित सद्बोधचन्द्रोदय नामके एक ग्रन्थका उल्लेख कर उसके एक श्लोकको उद्धृत किया है। यथा—

उक्तं च पद्मनन्दिना सद्बोधचन्द्रोदये—

योगतो हि लभते विबन्धनं योगतोऽपि खलु मुच्यते नरः।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥१॥

पद्मनन्दि नामके अनेक आचार्योंसे पाठक परिचित हैं, पर यह सद्बोधचन्द्रोदय नाम प्रथम बार ही परिचयमें आरहा है।

(५) एक प्रकरणमें रात्रिभोजनके दोषोंको बतलाते हुए लिखा है :—उक्तं च प्रभाचन्द्रगणिना—

विरूपो विकलांगः स्यादल्पायुः रोगपीडितः।
दुर्भगो दुःकुलश्चैव नक्तभोजी सदा नरः ॥ ॥

इस उद्धरणके आगे रात्रिभोजन त्यागका फल बतलाते हुए एक और श्लोक उद्धृत किया है, जो संभवतः उन्हीं प्रभाचन्द्रगणिका ही प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—

निजकुलैकमंडनं त्रिजगदीशसम्पदं।
भजति यः स्वभावतस्त्यजति नक्तभोजनम् ॥२॥

प्रभाचन्द्र नामके अनेक विद्वान एवं आचार्य परिचयमें आये हैं, प्रभाचन्द्र गणीके नामसे संभवतः यह पहला ही उल्लेख प्राप्त हुआ है।

(६) इसी जिनसहस्रनामकी टीकामें श्रुतसागरने धर्मचक्रका स्वरूप कहते हुए श्री देवनन्दिके नामसे एक श्लोक उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है:—

उक्तं च धर्मचक्रलक्षणं श्रीदेवनन्दिना —
स्फुरदरसहस्ररुचिरं विमलमहारत्नकिरण निकरपरीतम्।
प्रहसितमहस्रकिरण द्युति मंडलमग्रगामि धर्मसुचक्रम् ॥१

श्री देवनन्दिके नामसे उपलब्ध रचनाओंमें उक्त श्लोक अनुपलब्ध है, जिससे ज्ञात होता है कि श्री देवनन्दिने कोई पद्यमय ग्रन्थकी रचनाकी है, जिसमेंसे कि उक्त श्लोक उद्धृत किया गया है।

पूज्यपादके नामसे कई श्लोक उद्धृत हैं, जो कि उनके द्वारा रचित ....में पाये जाते हैं। पर एक स्थल पर जो केवलज्ञानके स्वरूपका वर्णन करने वाला श्लोक उद्धृत किया गया है, वह पूज्यपाद-रचित उपलब्ध ग्रंथोंमें अभी तक देखनेमें नहीं आया है। वह इस प्रकार है:—

उक्तं च पूज्यपादेन—
ज्ञायक्रमेकमनन्त त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम्।
सकलसुखधाम सततं वंदेऽहं केवलज्ञानम् ॥१॥

पूज्यपादके उपलब्ध ग्रन्थोंसे यह अवश्य ही कोई भिन्न ग्रन्थ रहा है, जो कि आज अनुपलब्ध है।

(७) गौतम महर्षिके नामसे कई श्लोक उद्धृत हैं, जो कि सामायिकपाठमें उपलब्ध होते हैं। 'अर्हत्' नामकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागर लिखते हैं कि :—

तदुक्तं श्री गौतमेन महर्षिणा—
१— मोहादिसर्वदोषारिघातकेभ्यः सदाहतरजोभ्यः।
विरहितरहस्कृतेभ्यः पूजार्हेभ्यो नमोऽर्हद्भ्यः ॥१।

एक स्थल पर भगवान्‌के रूपका वर्णन करते हुए लिखा है :—
२—"दिवाकरसहस्रभासुरमपीक्षणानां प्रियम्"
इति गौतमस्वामिना—जिनरूप वर्णनत्वात्।
३—अताम्र नयनोत्पलं सकलकोपवन्हेर्जयात्
कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारितोद्रेकतः।
विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा
मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम् ॥
इत्यादि गौतमेन भगवता जिनरूप वर्णनात्।

उपर्युक्त तीनों उल्लेखोंमें गौतम नामके साथ जो महर्षि, स्वामी और भगवत् विशेषण दिये गये हैं, उनसे यही ध्वनित होता है कि ये सब श्लोक भगवान् महावीरके प्रमुख गणधर गौतम-रचित ही हैं।

इसके अतिरिक्त वाग्भट, धन्वन्तरि, कालिदास, शाकटायन, अमरसिंहके नामोल्लेख पूर्वक अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी समन्तभद्र, पात्रकेसरी, अकलंक, कुमुदचन्द्र, प्रभाचन्द्र, पूज्यपाद, जिनसेन, सोमदेव, गुणभद्र, नेमिचन्द्र आदि अनेक प्रसिद्ध आचार्योंके लगभग तीनसौसे भी ऊपर अवतरण श्रुतसागर-सूरिने अपनी इस टीकामें दिये हैं। अनेक दृष्टियोंसे यह टीका बहुत महत्वपूर्ण है। इसे शीघ्र प्रकाशमें लानेकी आवश्यकता है।

गौ रक्षा, कृषि और वैश्य समाज

(श्री दौलतराम 'मित्र')

श्री वंकिमचन्द्र अपने 'धर्मतत्त्व' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं कि—"पशुओंमें गौ हिन्दुओंकी विशेष प्रीतिकी पात्र है। गाय बैलके समान हिन्दुओंका परम उपकारी और कोई नहीं है। गायका दूध हिन्दुओंके दूसरे जीवनके तुल्य है। हिन्दू मांस नहीं खाते। जो अन्न हम लोग खाते हैं उसमें पुष्टिकर पदार्थ बहुत कम होता है। गायका दूध न मिलनेसे वह अभाव पूरा नहीं होता। हम केवल गायका दूध पीकर ही नहीं पलते हैं, बल्कि जिस अन्न पर हमारा जीवन है उसकी खेती बैलसे होती है। अतः बैल भी हमारे अन्नदाता हैं। बैल केवल अन्न उपजाकर ही अलग नहीं हो जाते, वे उसे खलिहानसे घर और बाजार तक पहुँचा देते हैं। भारतवर्षमें लदुएका सब काम बैल ही करते हैं। गाय बैल मरने पर भी दधीचिकी तरह हड्डी सींग और चमड़ेसे उपकार करते हैं। मूर्ख लोग कहते हैं कि गाय बैल हिन्दुओंके देवता हैं। देवता नहीं, किन्तु देवताके समान उपकार करते हैं। वृष्टि देवता इन्द्र हमारा जितना उपकार करते हैं, गाय बैल उससे अधिक उपकार करते हैं। यदि इन्द्र पूजनीय है तो गाय बैल भी हैं। यदि किसी कारण वश भारत वर्षसे अचानक गोवंशका लोप होजाय तो निःसन्देह हिन्दू जातिका भी लोप होजायगा।

यदि हिन्दू मुसलमानोंकी देखा-देखी गो मांस खाना सीखते तो इतने दिनमें हिन्दु नामका लोप होगया होता, या हिन्दू बड़ीही दुर्दशामें होते। हिन्दुओंके अहिंसा धर्मने ही हिन्दुओंकी रक्षाकी है।"

बात बिलकुल ठीक है। यद्यपि आज हम गो मांस नहीं खाते हैं, फिर भी गोवंशके प्रति हमारा वैश्योंका जो कर्तव्य है उसका पालन नहीं करनेसे आज हम और गोवंश दुर्दशामें है। वैश्यका बेटा आज जितना सस्ता है वैसा दूसरा कोई नहीं। और गोवंश तो आज लाखोंकी संख्यामें प्रतिवर्ष जीवित कत्ल किया जाता है। जीवित कत्ल होनेका पाप उन धनियोंके सिर पर है जिन्हें कॉफ-लेदर गोवत्स-चमड़ेका सामान चाहिये। अन्यथा जीवित गोवंश महंगा पड़नेके कारण कभी कत्ल नहीं होता।

हमारे पूर्व पितामहोंने जिस समय वर्ण (वृत्ति-क) व्यवस्था बांधी थी उस समय कृषि और गोपालन-कर्म हम वैश्योंकी तरफ रखा था। शूद्रोंसे सेवा लेकर दोनों कर्म हम वैश्य लोग बराबर करते थे। उस जमानेमें गोवंशही धन गिना जाता था। वास्तवमें है भी ऐसा ही। परन्तु जबसे हमने विलायती तालीम ली हमारी मति भ्रष्ट हुई, हम गोवंशको धन न समझकर चांदी सोनेको धन समझने लगे। परिणाम यह हुआ कि हम दोनों तरफसे कोरे होगये। उधर तो गोवंश छोड़ बैठे और इधर जो चांदी सोना इकट्ठा किया था वह सात समुद्र पार चला गया। यह तो वही मसल हुई कि—

"न खुदा ही मिला न विसाले सनम।
न इधरके रहे न उधरके रहे॥१।

कृषि और गोपालन छोड़कर हमने गांवड़े बर्बाद किए और शहर आबाद किए। भीमकाय राक्षस-जैसे यांत्रिक कारखाने खोले। श्रम कर्म त्याग कर दूसरोंके कंधों पर चढ़ बैठे। करोड़ोंको बेकार और गरीब बना डाला, गृहोद्योग नष्ट होगया। अब गौ-रक्षा कौन करे?— शहरोंमें गऊकी रक्षामें कठिनाइयां अधिक। दूसरोंके कंधों पर बैठने वाले हम कठिनाइयोंमें क्यों पड़ने लगे? बच्चों के लिए दूध भी विलायती (डिब्बे का) वर्तना स्वीकार कर लिया। अब बाकी क्या रहा? सारी संस्कृतिका सफाया हो गया। एक कविने हमारे इस नाशकारी जीवनका दो लकीरोंमें फोटो खींचा है। वह कहता है—

'तिफ्ल में बू आये क्या, माँ-बापके अतवार की।
दूध तो डिब्बेका है, तालीम है सरकारकी।' (अकबर)

यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि अहिंसा धर्मके हिमायती किंतु जीवन-रहस्यसे अनजान कतिपय जैन विद्वानोंने अपने उपदेशोंके द्वारा जैन वैश्योंको कृषि और गोपालन कर्मसे उदासीन करनेका प्रयत्न किया यद्यपि पूर्वके जैन विद्वानोंका ऐसा मत नहीं रहा है; जैसाकि जैन शास्त्रोंके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"अध्नन्नपि भवेत्पापी, निघ्नन्नपि न पापभाक्।
अभिध्यान-विशेषेण, यथा धीवर-कर्षकौ॥"
(यश० चम्पू)

"आरम्भेऽपि सदा हिंसा, सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत्।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः, पापोऽघ्नन्नपि धीवरः॥"
(सागर ध० २—८२)

अर्थात्—जीवोंका घात न करता हुआ भी पापी होता है और घात करता हुआ भी पापी नहीं होता है, यह केवल संकल्पका फल है। जैसे धीवर और किसान। धीवर जालमें मछली नहीं आने पर भी पापी होता है, और किसान खेतीमें हिंसा करता हुआ भी पापी नहीं है।

इस परसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—खेतीमें होने वाली हिंसा संकल्पी हिंसा नहीं है। जैनोंके पुराण-पुरुषोंके कथानकसे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। जैनोंके आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवने लोगोंको अपने-अपने कर्मोंकी व्यावहारिक शिक्षा दी थी*। जैन मान्यताके अनुसार श्रीकृष्ण और उनके बड़े भाई श्री बलभद्रकी गिनती महापुरुषोंमें है। ये दोनों भाई खास गोपालक और कृषक थे। खेतीका प्रसिद्ध औजार "हल" को तो बलभद्रने अपना खास शस्त्र भी बना रखा था, युद्धमें वे उसीसे काम लेते थे और इसलिये उनका नाम ही "हलधर" पड़ गया था। इसी तरह श्रीकृष्णकी तरफ गोपालनका काम था, अतएव वे भी "गोपाल" कह-

* "प्रावर्तयज्जनहितं खलु कर्मभूमौ
षट्कर्मणा गृहिवृषं परिवर्त्य युक्त्या।
निर्वाणमार्गमनवद्य मजः स्वयम्भूः
श्री नाभिसूनुजिनपो जयतात् स पूज्यः॥"
(पद्मनंदि आचार्य)

लाते थे। कहा जाता है कि एक बार श्रीकृष्णने यह कहा था कि—"जब कोई मुझको गोपाल कह कर पुकारता है तो मैं सोचने लगता हूँ कि वह मुझे जानता है—पहिचानता है।"

महात्मा गांधीने खेती और अहिंसाके विषयमें जैन-सिद्धान्तसे मेल खाता हुआ अच्छा विवेचन किया है। महात्माजीने उसमें खेती-विरोधी जैन विद्वानोंके द्वारा फैलाये गये भ्रमोंका पूर्ण तौर पर निराकरण कर दिया है।

म० गांधी लिखते हैं कि—

"जिस खेतीके बिना मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता, वह खेती अहिंसा धर्म-पालन करनेवालेको, उसीपर जीवित रहते हुए भी त्याग ही देना चाहिये—ऐसी स्थिति अतिशय पराधीनताकी और करुणाजनक प्रतीत होती है। खेती करने वाले असंख्य मनुष्य अहिंसा धर्मसे विमुख रहें, और न करनेवाले मुट्ठी भर मनुष्य ही अहिंसा धर्म सिद्ध कर सकें, ऐसी स्थिति अहिंसा परमधर्मको शोभा देने वाली अथवा उसे सिद्ध करने वाली नहीं मालूम होती। प्रतीत तो यह होता है कि सुज्ञ मनुष्य जब तक खेतीका सर्वव्यापक उद्योग न करें तब तक वे नाममात्रके ही सुज्ञ हैं। वे अहिंसाकी शक्तिका नाम निकालनेमें असमर्थ हैं। खेती जैसे व्यापक उद्योगमें लगे हुए असंख्य मनुष्योंको धर्मकी राह पर लगानेके वे लायक नहीं है। यदि यह बात सचमुचमें सिद्धान्तमें गिने जाने वाली वस्तु हो तो इस विषयमें अहिंसाके उपासकका कर्तव्य है कि वह बार-बार विचार करे। खेतीके दृष्टान्तको जरा विस्तारसे विचार करें तो हास्यजनक परिणाम आता है। सांपको मारे बिना, चोरको सजा दिये बिना, और अपनी रक्षामें रहे हुए बालक-बालाओंका जुल्मी मनुष्योंसे रक्षण किये बिना चल नहीं सकता हो—अनिवार्य हो—तो क्या उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार यह काम दूसरोंसे करवाना चाहिये, और इस अहिंसा धर्मका अनुपालन करना चाहिये ?—यह धर्म नहीं है अधर्म है। अहिंसा नहीं हिंसा है। ज्ञान नहीं मोह है। जो सांपकी, चोरकी, जुल्मगारकी, प्रत्यक्ष भेंट न कर सके तब तक वह भय मुक्त होनेका नहीं, और जबतक भय मुक्त न हो तब तक अहिंसा धर्मका पालन वन्ध्या पुत्रके अस्तित्व जैसा ही रहेगा। और अहिंसाधर्मका जो एक महान परिणाम आना चाहिये वह तो कभी आ ही नहीं सकता। अहिंसाके विषयमें शास्त्रोंकी शिक्षा तो यह है कि उसके सांनिध्यमें हिंसक हिंसा, चोर चोरी, और जुलमगार जुल्म छोड़ेगा।"

खेतीका काम आजकल प्रायः शूद्र, कुछ ब्राह्मण और कुछ क्षत्रिय ही कर रहे हैं, वैश्य तो नाम मात्र। खेतीका प्रसिद्ध औजार 'हल' जिसके चलानेमें बैलोंकी जरूरत पड़ती है उसकी जगह अब यान्त्रिक हलोंके प्रचार करनेकी बातें सोची जा रही हैं। सोचने वाले कौन ? व्यापारी वैश्य लोग ? शर्मकी बात है इस तरह हम गोवंशकी जरूरत कम कर रहे हैं, उसे बेजरूरतकी चीज बना रहे हैं।

शासकोंकी नियतमें भी फ़र्क पड़ रहा है। उन्होंने गोवंशके चरनेके स्थान संकुचित कर दिये हैं, और ऊपरसे भारी टैक्स और लगा दिये हैं फल यह हुआ कि अब गांवके गरीब कृषक लोगोंके पास जो गोवंश था उसे पालनेमें वे असमर्थ हो गये हैं। अतएव वे बेचारे शहरों में आकर गोवंश बेचने लगे हैं। लेने वाले कौन ? कसाई लोग ? गोवंश घटता जा रहा है, एक परिणाम तो बड़ा ही भयंकर हुआ है। वह है खेतोंको खाद न मिलनेसे वे अपनी उपजाऊ शक्ति खो बैठे हैं।

अगर हम लम्बा पुराण-काल नहीं, सिर्फ श्री महावीर और बुद्ध तक का ही इतिहास देखें तो यदि हम सहृदय होंगे तो रो पड़ेंगे। उस समय भारतमें गोवंश अरबोंकी संख्यामें था। ऐसे-ऐसे वैश्य सेठ थे जो लाखों गोवंशका पालन करते थे। एक सेठने तो अस्सी हजार गोवंश लड़कीको दहेज में दिया था। और आज ? आज तो सारे भारतमें करीब आठ करोड़ गोवंश होगा। और पालक तो कोई हजार पाँच सौ गायें रखने वाले सेठ गावों में मिलें तो मिलें अन्यथा शहरों में तो करोड़पतिके यहां भले ही दस बीस गायें नजर आवेंगी।

अब भी समय है, कोई पहाड़ नही उठाना पड़ेगा। सिर्फ मनोवृत्ति—दृष्टिबिंदु—पलट डालनेकी जरूरत है। नक़ली धन चांदी सोनेकी तरफसे मुँह मोड़ कर असली धन गोवंशके तरफ मुँह फेरलें। यांत्रिक कारखानोंको बन्द करके उसमें लगे हुए लोगोंको गोपालन और खेतीके काममें लगावें। गृहोद्योगको उत्तेजन दें। खेती और दूसरे भार बहन करनेके काममें बैलोंके उपयोग करने

की व्यवस्था करें। गरीब किसानों और बेकार हरिजनोंको सौ-सौ पचास-पचास गोवंश खरीद कर दे दें। दान करदें तो अत्युत्तम अन्यथा उनके नामे बिना ब्याज उधारी रुपए मांडकर उनकी सुविधाके अनुसार उनसे वसूल कर लेवें। शासकोंको समझा कर उनसे गायोंके चरनेके स्थान विस्तृत करवावें और टैक्स छुड़वा दें। विलायती दूध मक्खन खाना छोड़ें। जीवित पशुका चमड़ा वर्तना त्यागकरें और जीवित पशु कत्ल न करनेका कानून बनावें इत्यादि तरीकोंसे गोरक्षा और जमीन-रक्षा दोनों होगी। थोड़े ही दिनोंमें हम देखेंगे कि जमीन अनाप-सनाप माल पैदा कर रही है, और हमारा भारत हरा-भरा फूला-फला हो रहा है।

बस यह गोवंशके प्रति वैश्योंका कर्तव्य है। अगर वे इसका पालन नहीं करेंगे तो श्री बंकिमचन्द्रके कथनानुसार गोवंशका और उसके साथ ही हमारी हिन्दू जातिका लोप होजाना निश्चित है। आशा है हम इस कलंकके भागी नहीं बननेका भरसक प्रयत्न करेंगे और अपने कर्तव्यका पालन करेंगे।

इलायची

(ला० जुगलकिशोरजी)

इलायची खानेमें बड़ी स्वादिष्ट और गुणोंमें परिपूर्ण होती है, प्रायः किसी भी दशामें और किसी समय हानिकारक प्रतीत नहीं होती। जिह्वा (जीभ) के बिगड़े हुए स्वादको वह तुरन्त ही स्वादिष्ट एवं सुगन्धित बना देती है। इलायची देखनेमें छोटी और भद्दी सी जान पड़ती है, अन्दरसे काले काले छोटे छोटे दानोंको लिये हुए होती है। खानेमें हल्की और अत्यन्त रुचिकर होती है। जो मनुष्य इसके रहस्यको नहीं जानता वह इसका मूल्य किसी प्रकार भी नहीं आंक सकता। इस छोटी सी इलायचीमें ऐसी कौनसी करामात भरी हुई है जिससे उसे सब लोग चाहते हैं, इलायचीके ऊपर सबसे पहले छिलका देखनेमें आता है वह पतला है और खानेमें कुछ स्वादिष्ट प्रतीत नहीं होता, परन्तु वह भीतरके बीज पदार्थकी रक्षा करनेमें समर्थ है। इलायचीके बीजोंमें जो तरावट व सुगन्धि होती है वह उस छिलके द्वारा ही रक्षित रहती है, छिलका हटा कर मुखके द्वारा उसका चर्वण करनेसे रसास्वाद खानेवालेके चित्तको प्रसन्न कर देता है, यह उस छिलकेका ही प्रभाव है या इलायचीके बीजों का? यह बात यहाँ विचारणीय है।

छिलका पहले बना या बीज, बीजसे छिलका बना या छिलकेसे बीज ? दो वस्तुएँ एक साथ उत्पन्न होती हुई भी अनुभवमें नहीं आ रही हैं, न छिलका पहले बना और न पहले बीज ही बना, न बीजसे छिलका और न छिलकेसे बीज; किन्तु बीजसे बीज बना और छिलकेसे छिलका, यदि ऐसा मान लिया जाय तो कोई हानि देखनेमें नहीं आती, छिलका और बीज दोनों ही पदार्थ अपनी अपनी स्वतन्त्र-सत्ताको लिये हुए हैं और दोनों अनादि हैं, दोनों एक ही स्थानमें उत्पन्न हुए हैं, पर अपने अपने भिन्न गुण और स्वभावको लिये हुए होनेके कारण दोनों ही जुदे जुदे पदार्थ हैं, और दोनोंमें ही परस्पर निमित्त, नैमित्तिक भाव पाया जाता है।

संगतिका प्रभाव

इलायचीका छिलका और बीज दो पृथक् पृथक् नाम हैं—यह दो पदार्थ हैं, दोनों एक दूसरेसे भिन्न करने पर भिन्न हो जाते हैं। छिलका पृथक् होने पर इलायचीका छिलका, और बीज पृथक् होने पर इलायचीका बीज, ऐसा कहा जाता है, इलायची शब्द एक, पदार्थ दो एक साथ उत्पन्न हों, एक ही समयमें उत्पन्न हों, और एक ही समयमें एक दूसरेसे भिन्न हो जावें, फिर भी अपने अपने साथ पूर्व शब्दसे अलंकृत रहें—यह भी एक अनोखी ही बात है। छिलकेके गुण अन्य, बीजोंके गुण अन्य—एक दूसरेके साथ उत्पन्न होने पर भी बीज अपने गुण छिलकेको नहीं देता, और न बीज ही वैसा करनेमें समर्थ होता है। यह कैसी मित्रता है? बीजके साथ जब तक छिलका एक साथ रहता है तब तक उस छिलकेकी तरी बनी रहती है, छिलका अलग हो जाने पर जरा सी देरमें वह अपनी स्निग्धताको त्याग कर रूक्ष हो जाता है—रूखेपनमें बदल जाता है—सार-रहित होकर घृणाका पात्र बन जाता है।

संसारमें विभिन्न दो पदार्थोंका संयोग अनेक गुणोंका समुत्पादक है उनकी संगति अथवा समागम हर्ष और रोष-का कारण है। यद्यपि ये दोनों पदार्थ अपने अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको लिये हुए हैं। वे कभी एक नहीं हो सकते। उदाहरणके लिये उसी इलायचीके स्वरूप पर दृष्टि डालिए।

छिलका जिसका मूल्य बीजोंके साथ रहने पर बीजोंके साथ तोला जाता था वह ही छिलका बीजोंसे पृथक् होने पर मूल्य रहित जान कर इधर उधर फेंक दिया जाता है, यह कैसी माया है? छिलकेमें और बीजमें इतना अन्तर क्यों? जब एक ही वस्तुको अभेद दशामें देखा गया तो दोनोंका मूल्य एक सा–और एक साथ एक वस्तुमें दो भेद करने पर मूल्यमें इतना अन्तर क्यों? एककी रक्षा, दूसरेकी अरक्षा, एकका सम्मान दूसरेका अपमान, एकको गुण और दूसरेको अवगुण, एकको उपादेय दूसरेको हेय, एकमें रुचि दूसरेमें अरुचि, एकमें गुरुता दूसरेमें लघुता, एकमें सार दूसरेमें निस्सार, एकमें स्वभाव दूसरेमें विभाव, आदि अनेक स्वरूप प्रकट हो रहे हैं।

यही बात आत्मा और शरीरके स्वरूप चिन्तनमें लक्षित है, शरीर पर, जड़स्वरूप है, और आत्मा चैतन्यस्व-रूप होकर भी अनंत गुणोंका पिण्ड है। आत्माकी वजहसे शरीरकी भी प्रतिष्ठा होती है, और उसके अभावमें उसे अग्निमें जला दिया जाता है। जब दोनों साथ रहते हैं तब दोनों ही एक दूसरेके कार्योंमें सहयोगी बने रहते हैं। कभी आत्माको शरीरके अनुकूल क्रिया करनी पड़ती है, और कभी शरीरको आत्माके अनुकूल चलना पड़ता है। एकके कष्टमें दूसरेको भी कष्टका अनुभव एवं दुख उठाना, और अपमानका घूंट पीना पड़ता है। उनमें एक उपादेय और दूसरा घृणाका पात्र और हेय है। दोनों ही एक दूसरेके विभाव-स्वभावमें निमित्त नैमित्तिक बन रहे हैं। फिर भी दोनोंका अवस्थान एक जगहमें देखा जाता है पर वे एक नहीं हो सकते। अपने-अपने लक्षणोंसे जुदे जुदे प्रतीत होते हैं।

इलायचीमें अनेक गुण हैं जहाँ वह मिष्ट और शीतल है वहाँ वह भोजनको पचानेमें भी समर्थ है। उसका दवा-इयोंमें भी उपयोग किया जाता है। गर्मीमें शान्ति प्रदान करती है। और जी मिचलाने पर मुखके विकृत जायके (स्वाद) को दूर करती है।

इसी कारण संसारमें इलायचीको इतना बड़ा महत्त्व एवं सम्मान प्राप्त है कि समस्त शुभ अवसरों पर अथवा अपने गृह पर आए हुए बड़े से बड़े और महान्से महान् व्यक्तिका आदर इन इलायचियोंके पेश करने पर समझा जाता है, इलायची देने वालेका हृदय इलाचियोंको दोनों हाथमें लेकर बड़ा ही विनम्र प्रतीत होता है, बड़े ही प्रसन्न चित्त और समादरणीय भावसे भरी हुई इलाचियों-की तश्तरी उस आगन्तुक व्यक्तिके अन्तर मानसमें आदर, स्नेह, निर्मलता, कोमलता, मित्रता, एकता, निरहंकारता और निःस्वार्थता आदि गुणोंको स्वयं ही व्यक्त कर देती है। और मानवीय आन्तरिक भद्रताको भी किंचित् प्रकट करनेमें समर्थ हो जाती है। उसका उपयोग करने वाले व्यक्तिका हृदय भी फूल जाता है। वह केवल एक ही इलायची उठा कर सन्तुष्ट हो जाता है, अपने हृदयमें उसी मैत्रीभाव और एकता आदि सद्गुणोंको स्थान देता है।

जिस समय दो मित्र बांधव इस प्रकारकी आदर व सत्कारकी क्रियामें प्रवृत्त होते हैं तो उस समय उन दोनों-का हृदय इतना सन्तुष्ट और सरल क्यों हो जाता है–देने वाला तो थाल भर कर देता है और लेने वाला केवल एक ही इलायची लेकर सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर भी दोनोंका मन प्रसन्न ही रहता है।

संसारमें पदार्थोंकी विभिन्न जातियां हैं—उनकी किस्में अनेक होते हुए भी उनके गुणों—(रूप-रस) में भेद पाया जाता है। फिर भी उनमें अच्छा और बुरापन नहीं पाया जाता; किन्तु यह मोही जीव उनमें दो प्रकारकी कल्पना करता है इष्ट और अनिष्ट, अपनी इच्छानुकूल परिणामको इष्ट कहते हैं और उससे विपरीतको अनिष्ट। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि पदार्थोंमें इष्ट अनिष्टता नहीं है। अपनी बौद्धिक कल्पनामें ही इष्टता और अनिष्टता है और वह रुचि विभिन्नताका परिणाम जान पड़ता है। यदि उक्त कल्पना न होती तो जो पदार्थ हमें अनिष्ट होता है वही पदार्थ दूसरेको इष्ट क्यों लगता है? और जो हमें इष्ट जान पड़ता है वह दूसरेको अनिष्ट क्यों मालूम देता है, इससे स्पष्ट है कि यह कल्पना केवल हमारी मान्यताका परिणाम है, पदार्थ जैसाका तैसा है, उसमें हमारी राग-द्वेषरूप परिणति ही इष्ट अनिष्ट कल्पनाकी जनक है। पदार्थ तो अपने स्वरूपमें ही रहता है उसमें उस प्रकार का राग-द्वेष भाव नहीं होता। हां, एकही

पदार्थ एक समयमें इष्ट जान पड़ता है और वही पदार्थ दूसरे समयमें अनिष्ट प्रतीत होता है जिस तरह धूप और वर्षामें छतरी आवश्यक और इष्ट मालूम होती है; किन्तु धूप आदिके अभावमें वही बोझरूप प्रतीत होती है। इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि यह कल्पना मनुष्यकी स्वार्थ बुद्धिका परिणाम मात्र है, यह उस वस्तुकी विशेषता नहीं। यदि इसे वस्तुकी विशेषता माना जाय तो फिर मनुष्यकी स्वार्थ कल्पनाका क्या होगा?

इलायचीका उपयोग भोजनके साथ भला क्यों प्रतीत नहीं होता? भोजनके बाद ही आगन्तुक महाशयको क्यों दी जाती है? क्या यह इलायचीकी ही विशेषता है, जो भोजन के साथ उसका उपयोग इष्ट नहीं प्रतीत होता, वास्तवमें इलायचीमें भी अच्छा या बुरापन नहीं है। इलायची तो अपने गुणोंसे जैसीकी तैसी है। भोजनके पश्चात् हम अपने स्वादको सुगन्धित और स्वादिष्ट बनानेका अनुभव करते हैं इसीसे हम उसे उपादेय समझते हैं; क्योंकि वह हमारे अभिलषित स्वादको सुगन्धित, शीतल और मधुर बनानेमें निमित्त है इसी कारण वह हमें प्रिय मालूम देती है। किन्तु यदि वही इलायची किसी पित्तज्वर वाले रोगी को दी जाती है। तो वह कड़ुवी और बेस्वाद प्रतीत होती है। यद्यपि उस इलायचीमें स्वाभाविक परिवर्तनको छोड़कर कोई विशेषता या भेद नहीं हुआ है; किन्तु उस रोगी मनुष्यके स्वादमें अवश्य परिवर्तन हुआ है—पित्तज्वरके उदयने उसके स्वादमें विपरीतता ला दी है—वह अपने स्वभावसे विकृत हो गया है, इसी कारण उस रोगीको वह इलायची अरुचि कारक एवं कडुवी प्रतीत हुई है यही रुचिभेद उसकी विशेषताका कारण है।

संसारके पर-पदार्थोंमें मोही जीवकी भी यही दशा है वह भ्रमवश पर-पदार्थको इष्ट अनिष्ट कल्पनाका जनक जान कर उनमें रागद्वेष स्वयं करता रहता है और उससे उसकी संसार-परम्परा बरावर बढ़ती रहती है। वह अपनी विभिन्न कल्पनाओंद्वारा अपनेको सुखी-दुखी अनुभव करता अथवा मानने लगता है। पर मोहके उदयमें उसे अपनी उस विपरीत कल्पना अथवा परिणतिका कोई अनुभव या पता नहीं हो पाता, यही उसकी कमजोरी है। साथ ही, पदार्थोंके उपभोगकी आकांक्षा प्रत्येक समय उसके मन वचन और काममें बराबर उत्कंठा उत्पन्न करती रहती है। वह उस उत्कंठाकी पूर्तिके अभावमें अथवा उस वस्तुकी अप्राप्तिमें बेचैन रहता है। जब तक यह अभिलषित पदार्थोंका उपयोग नहीं कर लेता तब तक उसके चित्तमें विकलता और घबराहट अपना स्थान बराबर बनाये रहती है। इन्द्रिय-विषयोंमें से कदाचित् उसे किसी एक विषयकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर अन्य पदार्थकी इच्छा उसे विकलता या दाह उत्पन्न करने लगती है। इस तरह यह जीव अपने ही स्वरूपको भूलकर परमें आत्म-कल्पना वश दुःखका पात्र बनता है, और आगामी अनन्त दुःखोंका कारणभूत कर्मोंका संचय करता रहता है। इस कारण उसे उनसे छुटकारा नहीं मिलता, वह उस घटी यन्त्रके समान बराबर चक्कर लगाता ही रहता है।

इलायची मनुष्यको एक सुन्दर पाठकी और भी शिक्षा देती है और वह यह कि संसारके सभी विषय उस छिलके के समान नीरस और घृणाके पात्र हैं। जिस तरह इलायचीसे छिलकेको निकालकर उसे नीरस और अप्रिय समझकर फेंक दिया जाता है। यदि इलायचीके बीजोंसे छिलकेको अलग करने पर भी वह अपने रूपादि गुणोंके साथ स्वादमें विभिन्न और अरुचि कारक नहीं होता तो वह बीजोंकी तरह ग्राह्य क्यों नहीं होता? ठीक उसी प्रकार इन्द्रिय विषय भी भोगनेके बाद अरुचिकारक और अनिष्ट प्रतीत होते हैं, तब यह जीव उन्हें छोड़ना चाहता है—उनसे दूर होना चाहता है, परन्तु अपनी अशक्ति अथवा कमजोरीसे उनका परित्याग नहीं कर पाता। जो विषय आज इष्ट प्रतीत होते हैं वही कल अनिष्टकर हो जाते हैं। यह उन्हें चाहता है पर वे उसे छोड़कर चले जाते हैं, यह उनकी अप्राप्तिमें दुखका पात्र बनता है। अथवा उन्हें अयोग्य, नीरस या दुख कारक समझकर उनका स्वयं परित्याग कर देता है। वह छिलका अपने समान इन्द्रिय विषयोंको नीरस, दुखद, पराधीन और घृणाका पात्र प्रकट करता है। इलायचीके समान संसारके अन्यपदार्थोंका स्वरूप भी हमें अपने आत्मस्वरूप चिन्तनकी ओर ले जाता है। पर हम अज्ञानताके कारण उनके मूल्यको नहीं आंकते। ये सब पदार्थ हमारे विवेक अथवा ज्ञानकी पुष्टि ही नहीं करते प्रत्युत हमें वस्तु स्थितिका यथार्थ दर्शन कराकर हमारी वे सभी आपत्तियोंका निरसन करनेमें समर्थ होते हैं। मनुष्यको सद्दृष्टि प्राप्त होनी चाहिये, उसीके आधारपर वह अनेक पदार्थोंसे अच्छे पाठ ग्रहण कर सकता है।

विजोलियाके शिलालेख

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

विजोलिया बूंदीके एक कोने पर बसा हुआ है, जो उदयपुरसे उत्तर-पूर्व ११२ मील है, तथा कोटासे पश्चिम ३२ मील है। इसका प्राचीन नाम विन्ध्यावली था, इस नगरके शासक 'राव' या 'रावल' कहलाते थे, उन्हें 'सवाई' की उपाधि भी प्राप्त थी। विजोलियाके यह राव मालवाके परमार राजाओंके वंशधर हैं जिनकी राजधानी कभी उज्जैन और कभी धार रही है। दिल्लीके सुलतान मुहम्मद तुगलकके समय मालवाका प्रायः सभी प्रदेश मुसलमानोंके अधिकारमें चला गया था, इस कारण परमारोंके कुछ वंशधर अजमेरमें और कुछ दक्षिणादि प्रान्तोंमें चले गये थे। यह सन् १६१० में मेवाड़से यहां आये थे। इस ग्राममें ७०० घर हैं उनमें दि० जैनियोंके भी ४६ गृह हैं जिनकी जनसंख्या १८६ के करीब है। बस्तीमें राजमहलके पास एक दि० जैन मन्दिर है जिसमें एक फुट अवगाहनाकी स्फटिक मणिकी एक मूर्ति पद्मासन विराजमान है जिसकी प्रतिष्ठा पानीपतवासी सिकरचन्द बगड़ा बघेरवालने कराई थी इसके सिवाय तीन प्रतिमाएँ, ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और महावीर भगवानकी चार फुट अवगाहनाकी और भी पद्मासन विराजमान हैं। यहां अनेक प्राचीन मन्दिर थे जिनके गिर जानेसे उनके पाषाण उक्त कस्बेके किलेमें लगा दिये गए थे। फिर भी जो मन्दिर इस समय विद्यमान हैं वे भी अपनी प्राचीनतामें कम महत्वके नहीं हैं। विजोलियाके पूर्वमें कोटके समीप तीन शिव मन्दिर हैं, जिनमें एक मन्दिर हजारेश्वर (सहस्रलिंग) महादेवका है, और दूसरा मन्दिर महाकालका तथा तीसरा मन्दिर बैजनाथका, जिसमें खुदाईका काम बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

विजोलिया कस्बेसे अग्निकोणमें एक मीलके करीब एक दि० जैन मन्दिर है जिसके चारों कोनों पर चार छोटे-छोटे मन्दिर और भी बने हुए हैं। इन मन्दिरोंको 'पंचायतन' कहा जाता है। ये पांचों ही मन्दिर एक कोटसे घिरे हुए हैं। इनमें मध्यका मुख्य मन्दिर जैनियोंके तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथका है। दरवाजेके सामनेमें शिखरबन्द मन्दिर है जिसके मध्यमें एक ताक है जिसकी महराव पर २३ प्रतिमाएँ अंकित हैं, परन्तु ताक खाली ही है इस शिखरके पीछे वेदीका आकार बना हुआ है जिसमें मूर्ति स्थापित होनेके निशान पाये जाते हैं। चारों तरफ दीवार पर मुनियों (भट्टारकों) की मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। और एक लाइनमें कुछ लिखा हुआ भी है, परन्तु वह पढ़ा नहीं जाता। मन्दिरसे सभामण्डप सटा हुआ है जिसकी लम्बाई चौड़ाई ३६ × २५ फुट हैं। इसमें १४ खम्भे लगे हुए हैं। मण्डपके देखनेसे वह प्राचीन जान पड़ता है। मन्दिरकी चौखटमें दाहिनी बाजू पर सं० १२२६ की निम्न पंक्ति अंकित है—"साधु महीधर पुत्र मेवारत्रो प्रणमंति नित्यं सम्वत १२२६ वैशाख कृष्णा ११।" मुख्य मन्दिरके चारों तरफ दुहरी गुम्बजदार चार गुमठियाँ बनी हुई हैं जिनकी भीतों पर मुनियोंकी मूर्तियोंके अंकित होनेके निशान पाये जाते हैं। मन्दिरके सामने दो मानस्तम्भ हैं। पहला मानस्तम्भ दाहिनी ओर जमीनसे बाहर ६ फुट ऊँचा है। ऊपरके भागमें चार तीर्थंकरोंकी खड्गासन प्रतिमा विराजमान हैं, चन्द्रप्रभु, नेमिनाथ, वर्द्धमान और पार्श्वनाथ। इनमेंसे भगवान पार्श्वनाथकी मूर्तिके नीचे दो मुनियोंकी मूर्तियाँ अंकित हैं जिनके मध्यमें शास्त्र रखकर पढ़नेकी रिहल (चौकी) का आकार भी बना हुआ है। पहले स्तम्भमें भट्टारक पद्मनंदिदेव और दूसरेमें भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवका नाम उत्कीर्ण है और दोनोंके मध्यमें दो कमंडलु बने हुए हैं और उनके नीचे उनके चरण खुदे हुए हैं। अवशिष्ट तीनों ओर ३ मुनियोंकी खड्गासन मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं उनके चरणोंके नीचे एक लेख संस्कृत भाषामें १५वीं शताब्दीका खुदा हुआ है जिसका कुछ भाग जमीनके अन्दर दबा हुआ है। वह जिस रूपमें मुझे उपलब्ध हुआ है वह आगे दिया जाएगा। यह लेख सम्वत् १४८३ फाल्गुन सुदि ३ गुरुवारका है जिसमें मूल संघ सरस्वतिगच्छ बलात्कारगण कुन्दकुन्दान्व के भट्टारक श्री वसन्तकीर्तिदेव, विशालकीर्तिदेव, दमनकीर्तिदेव, धर्मचन्द्रदेव, रत्नकीर्तिदेव, प्रभाचंद्रदेव, पद्मनन्दि और शुभचंद्रदेवके नाम अंकित हैं। यह निषेधिका आर्यिका आगमश्री की स्मृतिमें बनाई गई है।

दूसरा मानस्तम्भ जमीनसे ५ फुट ऊँचाहै जिसमें

निम्न चार तीर्थंकरोंकी मूर्तियां अंकित हैं—पार्श्वनाथ, वर्धमान स्वामी, नेमीनाथ और सम्भवनाथ। इनके चिन्ह कुछ अस्पष्टसे प्रतीत होते हैं। इन प्रतिबिम्बोंके नीचे चारों तरफ मुनियोंकी मूर्तियाँ उकेरी हुई हैं। यह निषेधिका भट्टारक शुभचन्द्रके शिष्य हेमकीर्तिकी है, जो सं० १४६५ फाल्गुन सुदि ५ बुधवारके दिन उत्कीर्ण की गई है। यह लेख भी आगे दिया जायगा।

इन देवालयोंसे थोड़ी दूरपर जीर्ण-शीर्ण दशामें 'रेवतीकुण्ड' नामका एक कुण्ड है जो अपनी महत्ता और अतिशयके लिये प्रसिद्ध था। और उसमें स्नान करने वाले ब्राह्मण क्षत्री वैश्य और शूद्र आरोग्यादिका लाभ करते थे। समीपमें छोटा सा बाग भी था।

मुख्य पार्श्वनाथके मन्दिरमें सरोवरके उत्तर की ओर भीतके पास महुआ-वृक्षके नीचे एक वृहत्शिलापर बड़ा-भारी लेख अंकित है। और दूसरीपर दूसरा उन्नति शिखर-पुराण नामका एक काव्य ग्रन्थ है, जो अभीतक अप्रकाशित है। ये दोनों ही लेख वि० सं० १२२६ के उत्कीर्ण किये हुए हैं। जिन्हें लोलाक श्रेष्ठीने उत्कीर्ण कराया था। इनमेंसे प्रथम लेख ३० पंक्तियोंमें लिखा गया है। इस लेखको किसीने नष्ट करनेका विचारकर सुरंग लगाई थी, परन्तु मधुमक्खियोंके उपद्रवसे वह नष्ट नहीं हो सका, किन्तु उसे काफी क्षति पहुँची है। अब इन दोनों लेखोंपर छतरी बन गई है जिससे वर्षा आदिसे उनकी सुरक्षा हो गई है। इनमेंसे प्रथम लेखकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि श्रेष्ठी लोलाकने इस शिलालेखमें सांभर और अजमेरके चौहान वंशी राजाओंकी जो वंशावली दी है तथा उनमेंसे किसी-किसीका कुछ परिचय भी दिया है। वह वंशावली शुद्ध और प्रामाणिक है। इसकी प्रामाणिकता-को महमना स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझाने अपने राजपूतानेके इतिहासमें स्वयं स्वीकार किया है, क्योंकि शेखावटी गत हर्षनाथके मन्दिरमें उत्कीर्ण वि० सं० १०३० की चौहान राजा सिंहराजके पुत्र विग्रहराजके समयकी प्रशस्तिमें उल्लिखित नामोंसे, और जोधपुरके कनसरिया नामक गांवसे सांभरके चौहान राजा दुर्लभसेनके सम्वत् १०५६ के शिलालेख, तथा 'पृथ्वीराज विजय' नामक महाकाव्यमें उल्लिखित नामोंसे वे यथार्थ रूपमें मिल जाते हैं। इस वंशावलीके अन्तिम दो राजाओंने—पृथ्वीराज द्वितीय और सोमेश्वरने—दो गांव दानमें दिये थे। जिनमेंसे पृथ्वीराजने 'मोराकरी' गांव और सोमेश्वरने 'रेवणा' नामके गांव उक्त दि० जैन पार्श्वनाथ मन्दिरको दिये थे। चौहान वंशकी उक्त वंशावली निम्न प्रकार है:—

१ चाहुमान
|
२ विष्णु (वासुदेव)
|
३ सामन्तदेव
|
४ पुरन्टला
|
५ जयराज पुत्र सामन्तदेव)
|
६ विग्रहनृप (विग्रहराज (प्रथम)
|
७ चन्द्रराज (प्रथम)
|
८ गोपेन्द्रक (गोपेन्द्रराज)
|
९ दुर्लभराज प्रथम)
१० गूवक (प्रथम) गोविन्दराज (पुत्र दुर्लभराज) वि० सं० ८१३ (756 A. D.)
|
११ चन्द्रराज (द्वितीय) पुत्र गोविन्दराज
|
१२ गूवक (द्वितीय)
|
१३ चन्दनराज (पुत्र गूवक द्वितीय)
|
१४ वाक्पतिराज (पुत्र चन्दनराज)
|
१५ विन्ध्य नृपति
|
१६ सिंहराज (ज्येष्ठ पुत्र वाक्पतिराज) इसने वि० सं० १०१३ (956 A. D.) में हर्षनाथका मन्दिर बनवा कर उस पर सुवर्ण कलश चढ़वाया और उसके निर्वाहार्थ ४ गांव दान दिये थे। इसने मुसलमानोंसे अनेक युद्ध कर उन्हें विजित कर उनके हाथी छीन लिये थे।

१७ विग्रहराज (द्वितीय)

१८ दुर्लभराज (द्वितीय) यह सिंहराजका पुत्र और अपने बड़े भाई विग्रहराज द्वितीयका उत्तराधिकारी था।

१९ गोविन्द (= गोविन्दराज)

२० वाक्पति नृप २१ वीर्यराय २२ चामुण्डराय

२३ सिंहट २४ दूसल- (दुर्लभराज तृतीय)

२५ वीसल (धर्मपत्नी राजलदेवी) जो मालवेके राजा परमारकी पुत्री थी।

२६ पृथ्वीराज (प्रथम) (धर्मपत्नी रासल्लदेवी)

२७ अजयदेव (धर्मपत्नी सोमलदेवी)

२८ अर्णोराज

२९ विग्रहराज (चतुर्थ) इनका नाम वीसलदेव था यह बड़ा प्रतापी था, और विग्रहराज चतुर्थ कहलाता था इसने तोमरवंशियोंसे दिल्ली सं०१ २०७ या उसके आस पास किसी समय ली थी। और उसे अजमेरका सूबा बनाया था। बिजोलियाके इस लेखमें लिखा है कि— 'दिल्ली लेनेसे श्रान्त (थके हुए) और आशिका (हांसी) के लाभसे लाभान्वित हुए विग्रहराजने अपने यशको प्रतोली और बलभीमें विश्रान्ति दी—वहां उसे स्थिर किया।

३० पृथ्वीराज (द्वितीय) (यह अर्णोराजके ज्येष्ठ पुत्र जगदेवका पुत्र था।)

३१ सोमेश्वर (सं० १२२६ में मौजूद था।)

इस प्रशस्तिकी दूसरी विशेषता यह है कि श्रेष्ठी लोलाकके वंशपरिचयके साथ उनके कार्योंका भी सम्मुल्लेख किया गया है। जिससे लोलाकके पूर्वजोंकी धर्मनिष्ठता सहज ही ज्ञात हो जाती है। श्रेष्ठी लोलाकके पिता सीयक श्रेष्ठी थे, जो प्राग्वाट या पोरवाड वंशके भूषण थे। सीयकके पिताका नाम देसल था। सीयकके ५ भाई और भी थे, दुद्दकनाथक, मोसल, वीगड, देवस्पर्श और राहक। ये छहों भ्राता जिननिष्ठ और राज्यमान्य थे। इन्होंने अजयमेरु पर वर्द्धमानका मन्दिर बनवाया था। इनमें सीयक सबसे अधिक पुण्यात्मा और लोकमान्य था उसने मंडलाकारक एक विशाल किला और भगवान नेमिनाथका एक सुन्दर मंदिर बनवाया था। श्रेष्ठी सीयककी दो धर्मपत्नियां थीं, नागश्री और ममता। जिनमें नागश्रीसे तीन पुत्र और ममतासे दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। नागदेव, लोलाक और उज्ज्वल। महीधर और देवधर। इनमें उज्ज्वलके दो पुत्र हुए, दुर्लभ और लक्ष्मण। इनमें लक्ष्मण ब्रह्मचारी था ये दोनों ही धर्मात्मा और यशस्वी थे। इनमें लोलाक सबसे अधिक पुण्यशाली और गुणज्ञ था, वह जिनभक्त परायण श्रावक था। इसकी तीन धर्मपत्नियां थीं, ललिता, कमला और लक्ष्मी। इनमें ललिता सबसे अधिक जिनधर्म भक्ता थी। श्रेष्ठी लोलाकने ललिताकी प्रेरणा तथा स्वप्नकी स्मृतिसे एक मन्दिरका समुद्धार किया। पार्श्वनाथका विशाल मन्दिर बनवाया, और अन्य पांच मन्दिर और भी बनवाए। माथुर संघके विद्वान भ० गुणभद्रसे इस प्रशस्तिको बनवाया, जिसे नैगमान्वयकायस्थ छीतिमके पुत्र केशवने लिखा। इतना ही नहीं, किन्तु उन्नतिशिखर पुराण, नामका एक काव्य-ग्रन्थ भी लोलाक श्रेष्ठीने उत्कीर्ण कराया। चूंकि यह प्रशस्ति सं० १२२६ की उत्कीर्ण की हुई है। अतः यही समय लोलाक और गुणभद्र मुनिका है। इसमें जिनचन्द्रसूरिका भी उल्लेख है जो उस समयके प्रसिद्ध विद्वान् थे।

प्रथम शिलालेख

(१) सिद्धम् ॥ॐ नमो वीतरागाय॥ चिद्रूपं सहजोदितं निरवधि ज्ञानैकनिष्ठार्पितं। नित्योन्मीलितमुल्लसत्परकलं स्यात्कारविस्फारितं (तम्) [।] सुव्यक्तं परमाद्भुतं शिवसुखानन्दास्पदं शास्व (श्व) तं। नौमि स्तौमि जपामि यामि शरणं तज्ज्योतिरात्मो[त्थि] तं (तम्) ॥ १ ॥ नास्तं गतः कुग्रहसंग्रहो न। नो तीव्र तेजा………

(२) ⏑ ⏑ — — ⏑ —[व] : । — — ⏑ — नैव सुदुष्टदेहोऽपूर्व्वो रवि स्तात्समुदेवृषो वः ॥ २ ॥ [स] भूयाच्छ्रीशांतिः शुभविभवभंगीभवभृतां । विभोर्यस्याभाति स्फुरितनखरोचिः करयुगं (गम्) । विनम्रणामेषामखिलकृतिनां मंगलमयीं । स्थिरीकर्तुं लक्ष्मीमुपरचितरज्जु व्रजमिव ॥ ३ ॥ नाशा (सा) स्वा (श्वा) सेन येन प्रबलबलभृता पूरितः पांचजन्यः

(३)— — —⏑ — —वरदलमलि [नी पाद] पद्माग्रदेशैः । हस्तांगुष्ठेन शार्ंगं (शार्ङ्ग) घ (ध) नुरतुलव (ब) लं कृष्टमरोप्य विष्णो । रंगुल्यां दोलितोयं हल भृदवनितं तस्य नेमेस्तनोमि ॥ ४ ॥ प्रांशुप्रकारकांता त्रिदश परिवृढव्यूह (रु) रुद्धावकाशां । वाचालां केतुकोटि [क्व] णदनणुमणीकिंकिणीभिः समंतात् । यस्य व्याख्यानभूमी महह किमिदमित्याकुलाः कौतुकेन प्रेक्षंते प्राणभाजः

(४) [स भु] [वि] विजयतां तीर्थकृत्पार्श्व (र्श्व) नाथः ॥ ५ ॥ वर्द्धतां वर्द्धमानस्य वर्द्धमान महोदयः । वर्द्धतां वर्द्धमानस्य वर्द्धमान [मह] ोदयः ॥ ६ ॥ सारदां सारदां स्तौमि सारदानविसारदां (दाम्) । भारतीं भारतीं भक्तभुक्ति मुक्ति विशारदां (दाम्) ॥ ७ ॥ निः प्रत्यूहमुपास्महे जिनपतीनन्यानपि स्वामिनः । श्रीनाभेय पुरस्सरान् पर कृपापीयूषपाथोनिधीन् । ये ज्ज्यो (ज्यो) तिः परभाग भाज—

(५) न तथा मुक्तात्मतामा [श्रि] ताः श्रीमन्मुक्तिनितंवि (बि) नीस्तनतटे हारश्रियं वि (बि) भ्रति ॥८॥ भव्यानां हृदयाभिरामवसतिः सद्धर्म्म [म] [र्म्म] स्थितिः कर्म्मोन्मूलनसंगतिः सु (शु) भततिः निर्व्वा (र्व्वा) धवो (बो) धोद्धृतिः [।] जीवानामुपकारकारणरतिः श्रेयः श्रियां संसृतिः देयाम्मेभवसंभृतिः शिव [म] तिं जैने चतुर्विंस (श) तिः ॥ ६ ॥ श्री चाहमानक्षितिराजवंशः पौर्व्वोप्यपूर्वो नि (न) जडावनद्धः । भिन्नो न चां—

(६) [गो] [न च] रंध्रयुक्तो नो निः फलः सारयुतो नतो नो ॥ १० ॥ लावण्यनिर्म्मलमहोज्व (ज्ज्व) लितांगयष्टिरच्छोच्छलच्छुचि पयः परिधान धा [श्री] [। उत्तुं] ग पर्व्वतपयोधरभारभुग्ना शाकंभ [रा] जनि जनीव ततोपि विष्णोः ॥ ११ ॥ विप्रः श्रीवत्सगोत्रेभूदहिच्छ [त्र] पुरे पुरा । सामंतोमंतसामन्तः पूर्णतल्ले (ल्लो) नृपस्ततः ॥ १२ ॥ तस्माच्छ्रीजयराज विग्रहनृपौ श्रीचन्द्रगोपेन्द्रकौ तस्माद्दु [र्ल्ल] भगूवकौ शशि—

(७) नृपो गूवाक सच्चंदनौ [।] श्री मद्वप्पयराज विंध्यनृपती श्रीसिंहराद्वि (द्वि) ग्रहौ । श्रीमद्दुर्लभ गुंदुवाक्पतिनृपाः श्रीवीर्यरामोऽनुजः ॥ १३ ॥ [चामुंड] ोऽवनिपे (पो) ऽति (थ) श्च राणकवरः श्रीसिंघटो दूसलस्तभ्राताथ ततोपि वीसलनृपः श्री राजदेवी प्रियः [।] पृथ्वीराजनृपोथ तत्तनुभू (भ) वो रासल्लदेवीविभुस्तत्पुत्रो जयदेव इत्यवनिपः सोमल्लदेवीपतिः ॥ १४ ॥ हत्वा चच्चिगसिंधलाभिधयसो (शो) राजादि वीरत्रयं ।

८) क्षिप्रं क्रूरकृतांतवक्त्रकुहरे श्रीनागंदुर्हा (र्हां) न्वितं (तम्) । श्रीमन्मो [ल्ह] ण दण्डनायकवरः संग्रामरंगांगणे जीर्वंने (वन्ने) व नियंत्रितः करभके येन ⏑ — — [क्षि] सात् ॥ १५ ॥ अर्णोराजोस्य सूनुर्दूष्टतहृदय हरिः सत्ववांशि (वाञ्छि) ष्ट सीमो गांभीर्यौदार्यव (व) र्यः समभवद [चि] रालब्ध (लब्ध) मध्यो न दीनः । तच्चित्रं जं न (यन्न) जाड्य (ड्य) स्थितिरवृत महापंकहेतुर्न्न मध्या न श्रीमुक्तो न दोषाकररचितरतिर्न्न द्विजह्वाधिसंध्यः ॥ १६ ॥ यद्राज्यं ।

(९) यद्राज्यं कुशवारणं प्रतिकृतं राजांकुशेन स्वयं । येनात्रैव नु चित्रमेतत्पुनर्म्मन्यामहे तं प्रति । तच्चित्रं प्रतिभासते सुकृतिना निर्व्वाणनारायणन्यक्काराचरणेन भंगकरणं श्रीदेवराजं प्रति ॥ १७ ॥ कुवलय विकासकर्ता विग्रहराजोजनि (नी) [स्तु (ति)] नो चित्रं (त्रम्) तत्तनयस्तच्चित्रं य [न्न] जडस्रीण सकलंकः ॥ १८ ॥ भादानस्वं चक्रे भादानपतेः परस्य भादानः [।] यस्य दधत्करवालः करतलाकलितः ।

१०) करतलाकलितः ॥ १६ ॥ कृतांतपथ सज्जोभूत्सज्जनो सज्जनो भुवः । वैकुंतं कुंतपालोगा [द्यत] वै कुं [त] पालकः ॥ २० ॥ जावालिपुरं ज्वाला [पु] रं कृता पल्लिकापि पल्लीव । नद्व (ड्व) लतुल्यं रोषान्नड् (ड्व) लं येन सौ (शौ) र्येण ॥ २१ ॥ प्रतोल्यां च बलभ्यां च येन विश्रामितं यशः । ढिल्लिकाग्रहणश्रांत माशिकालाभ लंभितं (तम्) ॥ २२ ॥ तज्ज्येष्ठ भ्रातृपुत्रोऽभूत्पृथ्वीराजः पृथूपमः । तस्मादर्ज्जितहेमांगो हेमपर्व्वतदानतः ॥ २३ ॥ अतिधर्म्मरतेना—

(११ पि पार्श्वनाथ स्वयंभुवे । दत्तं मोराकरी ग्रामं भुक्तिमुक्तिश्च हेतुना ॥ २४ ॥ स्वर्णादिदानमिवहैर्दधभिर्म्महद्भिस्तोद्धानरैर्म्मंगरदानचयैश्च विप्राः । येनाञ्चिता—

श्वशुरभूपतिवस्तुपोलमाक्रम्य चात्मनसिद्धिकरी गृहीतः ॥ २५ ॥ सोमेश्वराल्लब्ध (ब्ध) राज्यस्ततः सोमेस्व (श्व) रो नृपः [।] सोमेस्व (श्व) र नतो यस्माज्जनः सोमेस्व (श्व) रो भवत् ॥ २६ ॥ प्रतापलंकेस्व (श्व) र इत्यभिख्यां यः प्राप्तवान् प्रौढ पृथु प्रतापः [।] यस्याभिमुख्ये वरवैरिमुख्याः केचिन्मता केचिदभिद्रुताश्च ॥ २७ ॥ येन श्री—

(१२) पार्श्वनाथाय रेवातीरे स्वयंभुवे । सा (शा) सने रेवणाग्रामं दत्तं स्वर्ग्गाय कांक्षया ॥२८॥छ॥ अथ कारापक वंशानुक्रमः ॥ तीर्थे श्रीनेमिनाथश्च राज्ये नारायणस्य च । अंभोधिमथनादेव व (ब) लिभिर्व्व (र्ब्ब) लशालिभि॥२९॥ निर्ग्गतः प्रवरो वंशर्दे (दे) व वृंदैः समाश्रितः । श्रीमालपत्तने स्थाने स्थापितः शतमन्युना ॥३०॥ श्रीमालशैलप्रवरावचूलः प (पू) र्व्वोत्तरस्सत्वगुरुः सुवृत्त (त्तः) । प्राग्वाट वंशोऽस्ति व(ब)भूव तस्मिन्मुक्तोपमो वैश्रवणाभिधानः॥३१॥ तडागपत्तने येन कारितं

(१३) जिनमंदिरं (रम्) । [तीर्त्वा] भ्रांत्वा यस (श) स्तत्वमेकत्र स्थिरतां गतां (तम्) ॥३२॥ योऽचीकरच्चं द्रसु (शु) रि (चि) प्रभाणि व्याघ्ररकादौ जिनमंदिराणि । कीर्तिद्रुमारामसमृद्धिहेतोर्विभांतिकंदाइव यान्यमंदाः ॥३३॥ कल्लोलमांसलितकीर्ति शुद्धा (धा) समुद्रः । सद्द (द्वि) द्विवं (वं) धुरवधूधु (ध) रणेध [री (रे) शः ।] [भू] [त] पोकार करण प्रगुणांतरात्मा श्री चच्चुलस्वतनयः [⏑ ⏑ —] पदेऽभूत् ॥३४॥ शुभंकरस्तस्य सुतोजनिष्ट शिष्टैर्म्महिष्टैः परिकीर्त्यकीर्त्तिः ॥ (।) श्रीजासटोसूत तदग्रजन्मा यदंगजन्मा खलु पुण्यरासि (शि) ॥ : ॥३५॥मंदिरं वर्द्ध—

(१४) मानस्य श्रीनाराणकसंस्थितं (तम्) भाति यत्कारितंस्वीयपुण्यस्कंधमिवोज्व (ज्ज्व) लं (लम्) ॥३६॥ चत्वारश्चतुराचाराः पुत्राः पात्रं शुभश्रियः । अमुष्यामुष्यधर्म्माणोर्व्व (र्ब) भूवुर्भार्ज्ज (र्य्या) योर्द्वयोः ॥३७॥ एकस्यां द्वावजायेतां श्रीमदाम्बटपद्मटौ । अपरस्यां [सु] [तौ जातौ] [श्री मल्ल] स्मटदेसलौ ॥३८॥ पाकाणां नरवरे वीरवेश्मकारणपाटवं (वम्) । प्रकटितं स्वीयवित्तेन धा (धा) नु (तु) नेव महीतलं (लम्) ॥३९॥ पुत्रौ पवित्रौ गुणरत्नपात्रौ विशुद्धगात्रौ समसी (श्री) ल सत्यौ (त्यौ) [।] व (ब) भूवतुर्ल्लक्ष्मटकस्य जैत्रौ मुनींदुरामेंद्रमिधौ (धौ) प्रस (श) स्तौ (स्तौ) ॥४०॥

(१५) षट्वं (ट्खं) डागमवद्ध सौहृदभराःषड्जीवरक्षेश्वराः षट्भे (इमे) र्दृंद्रियवस्य (श्य) तापरिकराःषट्कर्म्मक्रु (कृत्) ल्लादराः [।] षट्षं (ट्खं) डावनिकीर्तिपालनपराः ष (षा) ट्गु (ड्गु) ण्यचिंताकराः षट्ट (ड्ड) व्व्यं वु (बु) ज भास्करा [।] समभवः षट्दे (ड् दे) शलस्यांगजाः ॥४१॥ श्रेष्टी (ष्ठी) दुधकनायकः प्रथमकः श्री मोसलो वीगडिर्देवस्पर्श इतोपि सीयकवरः श्रीराहको नामतः एते तु क्रमतो जिनक्रमयुगांभोजैकभृंगोपमा मान्या राजशतैर्व्वदान्यमतयोः राजंति जंबू बू) त्सवाः ॥४२॥ हर्म्यं श्री वर्द्धमानस्याजयमेरोर्विभूषणं (णम्) [।] कारितं यैर्म्महाभागैर्वि—

(१६ मानमिव नाकिनां (नाम्) ॥४३॥ तेषामंतः श्रियः पात्रं [सीय] कः श्रेष्टि (ष्ठि) भूषणं (णम् । मंडलकर महादुर्गं भूषयामास भूतिना ॥४४॥ यो न्यायांकुरसेचनैकजलदः कीर्त्ति (र्त्ते) निधानं परं । सौजन्यांबु (बु) जिनोविकासनरविः पापाद्रि भेदे पविः [।] कारुण्यामृत वारिधेर्व्विलसने राकाश [सं] (शां) को [प] मो नित्यं साधुजनोपकारकरणव्यापार व (ब) द्धादरः ॥४५॥ येनाकारि जितारिनेमि भवनं देवद्रिश्रंगोद्धुरं चंचत्कांचनचारुदंडकलसश्रेणीप्रभाभास्वरं (रम्) । खेलत्खेचर सुन्दरीभ्रमभरं भंजद्भुजोद्वीजनैर्द्दत्तेष्टापदशैलस्(श्रं) गजिनभृत्प्रोद्दामसद्मश्रियं (यम्) ॥४६॥ श्री सीयकस्यभार्ये द्वे ।

(१७) स्तौ नागश्रीमामटाभिवे (धे) । आद्यायास्तुत्र (त्र) यः पुत्रा द्वितीयायाःसुतद्वयं (यम्) ॥ ४७ ॥ पंचाचारपरायणात्ममतयः । पंचांग मंत्रोज्व (ज्ज्व) लाः । पंचज्ञानविचारणा सुचतुराः । पंचेंद्रियार्थोजयाः । श्रीमत्पंचगुरुप्रणाममनसः पंचाणुशुद्धव्रताः पंचैते तनयाः गृह [ी तवि] नयाः श्रीसीयकश्रे ष्ठिनः ॥ ४८ ॥ आद्य [:] श्रीनागदेवोऽभूल्लोलाकश्चोज्व (ज्ज्व) लस्तथा । महीधरो देवधरो द्वावेतान्य मातृजौ ॥ ४९ ॥ उज्व (ज्ज्व) लस्यांग जन्मानौ श्रीम [हु] र्ल्लभलक्ष्मणौ । अभूतां भुवनोल्लासियसो (शो) दुर्ल्लभ लक्ष्मणौ ॥ ५० ॥ गांभीर्यं जलधेःस्थिरत्व मचलात्तेज—

(१८) स्विता (तां) भास्वतः । सौम्यं चंद्रमसःसु (शु) चित्वममरस्रो (स्त्रो) तस्विनीतः परं (रम्) [।] एकैकं परिगृह्य विस्व (श्व) विदि [तो] यो वेधसा सादरं मन्ये वी (बी) ज कृते कृतः सुकृतिना सः लोलकश्रेष्टि (ष्ठि) नः ॥ ५१ ॥ अथागमन्मं [दिरमै] यकीर्तैः श्री विं [ध्यव] ल्लीं धनधान्यव (ब) ल्लीं (ल्लीम्) । तत्राशु [लोचे-] द्धभि] [तल्प सुप्तः] कंचिन्नरेसं (शं) पुरतः स्थितं सः

॥ ४२ ॥ उवाच कस्त्वं किमिहाभ्युपेतः कुतः स तं प्राह फणीस्व (श्व) रोहं (हम्)। पातालमूलात्तव देशनाय [श्री] पार्श्वनाथ स्वयमेष्यतीह ॥४३॥ प्रातस्तेन समुत्थाय न कं (किं) चन विवेचितं (तम्)। स्वप्नस्यांतम्मनोभावा यतो वातादि दूषिताः ॥४४॥ लोला–

(१६) क [स्य] प्रियास्तिओ (स्त्रो) व (य) भूवुर्म्मनसः प्रियाः ॥ (।) ललिता कमलश्रीश्च लक्ष्मी स्स्वर्मी सना-भयः ॥ ४५ ॥ ततः स भक्तां ललितां व (ब) भाषे गत्वा प्रियां तस्य निसि (शि) प्रसुप्तां (ताम्) [।] श्रणुष्वभद्रे धरणोहमेहि श्री [पार्श्वनाथ] [खलु द] र्शयामि ॥४६॥ तया स चोक्तो [म] ⏑ — ⏑ — — — — ⏑ य [त्व (त्वं) ञ (न) हि] सत्यमेतत् । श्री पार्श्वनाथस्य समु दृश्ति स प्रासादमर्च्चां च करिष्यतीह ॥ ४७ ॥ गत्वा पुनस्त्तौलिक मेवमूचे भो भक्त शक्तानुगतातिरक्त । देवे धवै धर्म्मविधौ जिनोद्धौ श्रीरेवतीतीरमिहाप पार्श्वः ॥ ४८ ॥ समुद्धरेनं कुर (रु) धर्म्मकार्यं त्वं कारय श्रीजिनचै—

(२०) त्य गेहं । येनाप्स्यसि श्रीकुलकीर्तिपुत्रपौत्रोरु-संतानसुखादिवृद्धिं (द्धिम्) ॥ ४६ ॥ त [दे] [तन्नी] मार्घ्यं ब (व) न मिह निवासो जिनपतेस्त एते ग्रावाणः (णः) शठकमठमुक्ता गगनतः । सधा (दा) रा [मः] [शश्वत्स] दुपचयतः कुंडसरित (तो) स्तदत्रैतत् स्थानं ⏑ ⏑ ⏑ [नि] गमं प्राय परमं (मम्) ॥ ६० ॥ अत्रास्त्युत्तम मुत्तमादि (द्रि) सिष (शिख) रं सार्द्धं (धि) ष्ठ मंचोच्छ्रितं । तीर्थं श्रीवरलाइकात्र परमं देवोति मुक्ता भिधः । सत्यश्चात्र घटेस्व (श्व) रः सुरनतो देवः कुमारे स्व (श्व) रः सौभाग्येस्व (श्व) रदसिमोस्व (श्व) र सुरो मार्कंडरिच्छे स्व (श्व) रौ ॥ ६१ ॥ सत्योंबरेस्व (श्व)-रौ देवी ब्रह्ममह्यं स्व (श्व) रा वपि । कुटि–

(२१) लेशः कर्क रेशो यत्रास्ति कपिलेस्व (श्व) रः ॥ ६२ ॥ महानाल महाका [लभ] रथेस्व (श्व) रसंज्ञकाः । श्री त्रिपुष्करतां प्राप्ता [: संति] त्रिभुवनार्च्चिताः ॥६३॥ क (की) र्तिनाथं (थ) च (श्च) [के] [दारः]......... ....मिस्वामिनः [।] संगमीसः (मेशः) पुटीस (श) श्च मुखेस्व (श्व) र [वटे] स्व (श्व) राः । [। ६४ ॥ नित्यप्रमोदितो देवो सिद्धे स्व (श्व) र गया (ये) शु (श्व) राः [।] गंगाभेद श्च] सोमी (मे) शः गङ्ग (ङ्गा) नाथ त्रिपुरांतकाः ॥ ६४ (६५) ॥ संस्नात्री कोटिलिंगानां यत्रास्ति कुटिला ना (न) दी । स्वर्णजालेस्व (श्व) री देवः सर्म कपिल धारयाः ॥ ६५ (६६) ॥ नाल्प मृत्युर्न्न वा रोगा न दुर्भिक्षमवर्षणं (णम्) । यत्रदेव प्रभावेन कलि–

(२२) पंक प्रघर्षणं (णम्) ॥ ६६ (६७) ॥ षण्मासे जायते यत्र शिवलिंगं स्वयंभुवं (वम्) । तत्र कोटीस्व-(श्व) रे तीर्थे का श्लाघा क्रियते मया ॥ ६७ (६८) ॥ इत्येवं ज ⏑ — ⏑ — ⏑ ⏑ ⏑ — — — ⏑ —, — — — ⏑ ⏑ — ⏑ — ⏑ ⏑ ⏑ —: कृत्वा वतारक्रियां (याम्) । कर्त्ता पार्श्वजिनेस्व (श्व) रोत्र कृपया सोथाद्य वासः पतेः शक्त्यैँ (त्र्वैं) क्रिथिक [:] श्रियस्त्रिभुवनप्राप्ति प्रबोधं प्रभुः ॥ ६८ (६६) ॥ इत्याकर्ण्य वचो विभाव्य मनसा तस्योरगस्वामिनः स प्रातः प्रतिबु (बु) ध्य पार्स्व (श्वं) मभितः क्षोणीं विदार्य क्षणात् तावत्तत्र विभुं ददर्श सहसा निःप्राकृताकारिणं कुंडाभ्यर्ण्णांत एव धाम दधतं स्वायंभुवं श्रीश्रितं (तम्) ॥६६ (७०) ॥

(२३) नाशी (सी) यत्र जिनेन्द्रपादनमनं नो धर्म्म-कर्म्मार्ज्जनं [न] [स्नानं] न विलेपनं न च तपो ध्यानं न दानार्च्चनं (नम्) नो वा सन्मुनिदर्शनं [न] [⏑ ⏑ — — — ⏑ — - ⏑ —] [यत्रेतत्त्विखिलं बभूव सदनं] — — ⏑ — — ⏑ —[॥ ७० (७१)] ॥ तत्कुंड मध्यादथ निजग्राम श्रीसीयकस्यागमनेन पश्चा । श्री चैत्रपालस्तदथांवि (वि) का च [श्री ज्वा] लिनी श्रीधरणोरगेंद्रः ॥ ७१ (७२) ॥ यदा वतारमकार्षीदत्र पार्श्व-जिनेस्व (श्व) रः [।] तदा नागहृदे यत्तगिरिस्तंवः (वः) प्रपात सः ॥ ७२ (७३) ॥ यत्तोपि दत्तवान् स्वप्नं लक्ष्मणः ब्र (ब्र) ह्मचारिणः । तत्राहमपि यास्यामि यत्र पार्श्वविभु-र्म्मम ॥७३ (७४) ॥ रेवतीकुंड–

(२४) नीरेण या नारी स्नानमाचरेत् [।] सा पुत्र भर्तृ सौभाग्यं [ल] क्ष्मी च] लभते स्थिरं (रम्) ॥७४ (७५) ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि [वै] श्यो वा शूद्र एव वा । रेव] ती स्नानकर्त्ता [यः] स प्राप्नोत्युत्तमां गतीं (तिम्) ॥ ७५ (७६) ॥ ध[नं] धा [नं (न्यं) ध [रां धाम धैर्यं धौरेयतां धियं–(यम्) । धराधिपति सन्मानं लक्ष्मीं चाप्नोति पुष्कलां (लाम्) ॥ ७६ (७७) ॥ तीर्थाश्रयंमिदं जनेन विदितं यद्गीयते सांप्रतं कुस्त (ष्ठ) प्रेत-पिशाचकुज्वररुजाहीनांगगंडापहं [हम्] । संन्यासं च चकार निर्गतभयं घूकस्रगालीद्वयं काकी नाकमवाप देवकलया किं-किं न संपद्यते ॥ ७७ [७८] श्लाघ्यं जन्म कृतं धनं च सफलं नीता प्रसिद्धिं मतिः ।

(२५) सद्धर्म्मोपि च दर्शितस्तनुरुहस्वप्नोर्प्पित [:] सत्यता (ताम्) । — — — रहष्टिदूषितमनाः सद (द) ष्टिमार्गे कृतो जै [ने] — ⏑ ⏑ — ⏑ — [सुकृति] ना श्री लोलकश्चे ष्ठिनः ॥ ७८ (७६ ॥ किं मेरोः शृङ्गमेतत् किमुत हिमगिरेः कूटकोटिप्रकांडं किं वा कैलासकूटं किमथ सुरपते स्वर्व्विमानं विमानं (नम्) [।] इत्थं यत्तर्क्यते स्म प्रतिदिनममरैम (र्म) त्यराजो-रकरैर्व्वा मन्येर्श्री लोलकस्य त्रिभुवन भरणादुच्छ्रितं कीर्ति-पुन्जं (जम्) ॥ ७६ ८०) ॥ पवनधुतपत (ता) कापाणि रो भव्य मुद्भ्राम् पटुपटहनिनाददा ह्वयत्येव जैनः। कलिकलुषमथांच्चैद्दूरमुत्सारयेद्वात्रिभुवन वि—

(२६) [भु] [ला] भान्नृत्यतीवालयोयं (यम्) ॥ ८० (८१) ॥ [काश्च [स्था] नक माधरंति दधते काश्चिच्च गीतोत्सवं काश्चिद्व (द्वि) भ्रति ता-लवं (कं) स (सु) ललितं कुर्व्वंति नृत्यं च काः । काश्चिद्राद्यमुपानयंति निभृतं । वीणास्वरं काश्चन यत्रोच्चै-र्ध्वज किंकिणीयुवतयः केषां मुदे नाभवन् ॥ ८१ (८२) ॥ यः सद्वृत्तयुतः सुदीप्तिकलितश्वासादिदोषोज्झितश्चिंता-ख्यातपदार्थदानचतुरश्चिंतामणेः सोदरः । सोभूच्छ्रीजिन-चन्द्रसूरि सुगुरुस्तत्पादपंकेरुहे यो भृङ्गायत एवलोलक-वरस्तीर्थं चकारैष सः ॥ ८२ (८३) ॥ रेवत्याः सरितस्तटे-तरुवरा यत्राह्वयंते भृशं ॥

(२७) शाखावा (बा) हुलतोत्करैर्न्न [रसु] रान्पुं-स्कोकिलानां रुतैः । मत्पुष्पोच्चयपत्रसत्फलचयैरानि [र्म्म] [लै] र्व्वारिभिर्भो भोभ्यर्च्चयता भिषकयत वा श्रीपार्श्व-नाथं विभुं (भुम्) ॥ ८३ (८४) ॥ यावत्पुष्करतीर्थसैकत-कुलं यावच्च गंगाजलं यावत्तारक चन्द्रभास्करकर (रा) यावच्चदिक्कुंजराः । यावच्छ्रीजिनचन्द्रशासन मदं यावन्म-[हें] द्रं पदं तावत्तिव्य (ष्ठ) तु यः प्रशस्ति सस्ति सहितं जैनं-स्थिरं मन्दिरं (रम्) ॥ ८४ (८५) ॥ पूर्व्वतो रेवती-सिंधुद्देवस्यापि पुरं तथा । दक्षिणस्यां मठस्थानमुदीच्यां कुण्डमुत्तमं (मम्) ॥ ८५ (८६) ॥ दक्षिणोत्तरतो वाटी नाना वृक्षैरलंकृता । कारितं

(२८) लोलिकेनैतत् सप्तायतन संयुतं (तम्) ॥ ८६-(८७) ॥ श्री मन्मा (न्मा) [थु] रसिं (सं) घेभू-द्गुणभद्रेण महामुनि [:] कृता प्रस (श) स्तिरेषाश्च (च) कवि [कं] ठ [वि] भूषणा (णम्) ॥८७(८८ ॥ नैगमान्वय कायस्थ छीतगस्य च सूनुना । लिखिता केस (श) वेनेदं (यं) मुक्ताफलमिव (वो) ज्व (ज्ज्व) ला ॥ ८८ ८६) ॥ हरसिग सूत्रधाराय तत्पुत्रो पाल्हणो भुवि । तदंगजेमाहडेनापि निर्म्मापित जिनमंदिरं (रम्) ॥ ८६ (६०) ॥ नानिगः (ग) पुत्र गोविंद पाल्हणसुत-देल्हणौ । उत्कीर्णाप्रस (श) स्तिरेषा च कीर्तिस्तंभं (भः) प्रतिष्ठितं (तः) ॥ ६० (६१) ॥ प्रसिद्धि मगमद्देवः काले विक्रमभास्वतः । षड्विं (ड्वि) स (श) द्वादशशते फाल्गुने कृष्ण पक्षके ॥ ६१ (६२) ॥

(२६) [तृ]तीयायां तिथौ वारे गुरु (रौ) स्ता (ता) रे च हस्तके । धृतिनामनि योगे च करणे तैतिले तथा ॥६ [२] (६३) ॥ [सं] वत् १२२६ फाल्गुन वदि ३ [।] कांवरेवणाग्रामयोरतंराले गुहिल पुं (पु) त्र रा० दाधर-महं घणसी (सिं) हाभ्यां दत्त (त्ता) क्षेत्र डोहली १ [। खडुंवराग्राम वास्तव्य-गौड सोनिगवासुदेवाभ्यांदत्त (त्ता) डोहलिका १ [।] आंतरी प्रतिगणके रायताग्रामीय महं (ह) त्तमलींबडिपोपलिभ्यां दत्त (त्ता) क्षेत्र डोहलिका १ [।] बडौवा ग्रामवास्तव्य पारिग्रही आल्हणेन दत्त (त्ता) क्षेत्र डोहलिका [।] लघुवीकोलीग्रामसंगुहिलपुत्र रा० व्याहरूमहं (ह) त्तममाहवा—

(३०) [भ्यां द] त्त (त्ता) क्षे [त्र] डोहलिका १ [।] व (ब) हुभिर्व्वसुधा (धा) भुक्ता राजभिर्भरतादय (दिभिः) । यस्य यस्य [य] दा भूमी तस्य तस्य तदा फलं (लम्) ॥छ॥ एपिग्राफिका इंडिका भाग २६, पृ० १०२)

दूसरा शिला लेख

श्री गुरुभ्यो नमः । श्रीमत्परमगंभीरं स्याद्वादमोघ-लांछनं । जीयात्त्रैलोक्य नाथस्य शासनं जिनशासनं ॥ १ ॥ श्रीबलात्कारगणे । सरस्वतीगच्छे श्री महि (मूल) संघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीवसंतकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीविशालकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीदमनकीर्ति देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीधर्मचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री रत्नकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीप्रभाचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवाः कस्य तीर्थंकरस्येव महिमाभुवनातिगः । रत्नकीर्तियति स्तुत्यः स न केषाम्······॥ १ ॥ अहंकार स्फारो भवदमित वे······विबुधोलसत्क्रांत श्रेणी क्षपण निधनोक्ति थु ति-चुरः अधीती जैनेन्द्रे जनि रजनिनाथ प्रतिनिधिः प्रभाचन्द्रः सांद्रोदयशमिततापा व्यतिकराः ॥ २ ॥ श्रीमत्प्रभाचन्द्र

मुनीन्द्र पट्टे लब्ध प्रतिष्ठा प्रतिभागरिष्ठः विशुद्ध सिद्धांत-रहस्य रत्न रत्नाकरो नंदतु पद्मनंदि ॥३॥ पद्मनंदि मुने पट्टे शुभचन्द्रो यशोश्वरः। तर्कादिक वियासु [पदं] धारोस्ति साम्प्रतं॥४॥ पट्टे श्री यति पद्मनंदि विदुषश्च चारित्रचूडामणिः स गास्या'''कैरव कुलं तुष्टिं परां नीतिवान्। व.णी लब्ध''' वः प्रसादमहिमा श्रीमच्छुभे दुगु'णो मिथ्याध्वांतं विनाश-नैक सुकरः सः'''च चिन्तामणिः ॥'''॥ आर्या बाई लोक-सिरी, विनयसिरि तस्याः शिष्यणी बाई चारित्रसिरि। बाई चारित्रकी शिष्यणी बाई आगमसिरि बाईश्चरि''''''''' तस्या इयं निषेधिका आचन्द्र तारकाक्षयं॥संवत १४८३ वर्षे फाल्गुन सुदि ३ गुरौ। निषेधिका जैन आर्या बाई आगम श्री शुभमस्तु।

तीसरा शिलालेख

ॐ अर्हद्भ्यो नमः। स्वायंभुवं चिदानन्दं स्वभावे शाश्वतोदयम्। धामध्वस्ततमस्तोम ममेयं महिम स्तुमः ॥ १ ॥ ध्रौव्यांपेतमपि व्ययोदययुतं स्वात्म क्रम''''''''' लोक व्यापि परं यदेकमपि चानेकं च सूक्ष्मं महत्। श्री चन्द्रामृतपूर पूर्णमपि यच्छून्यं स्वसंवेदनम्। ज्ञानाद्गम्य-मगम्यमप्यभिमत प्राप्त्यै स्तुवे ब्रह्मतात् ॥२॥ त्वमर्क सोमो-वृत [भूत] लेस्मिन् घनान मूर्तिः किमु विश्वरूपः। स्रष्टा विशिष्टार्थं विभेद दक्षः स पार्श्वनाथस्तनुतां श्रियं वः ॥३॥ श्रीपार्श्वनाथ क्रियतां श्रियं वो जगत्त्रयी नन्दितपादपद्मः। विलोकिता येन पदार्थ सार्थः निजेन सज्ञान विलोचनेन ॥४॥ सद्वृत्ताः खलु यत्र लोकमहिता मुक्ता भवन्ति श्रियोः रत्नानामधि भद्रये सुकृजिनो यं सर्वदोपासते। सद्धर्मामृत-पूर पुष्टसुमनस्याह्लादचन्द्रोदयाः कांक्षी सोऽसनातनो विजयते श्रीमूलसंघोदधिः ॥ ५ ॥ श्रीगौतमस्यादि गणीश वंशे श्री कुन्दकुन्दोहि मुनि र्बभूव। पदेष्वेनकेषु गतेषु तस्माच्छ्री धर्मचन्द्रो गणिषु प्रसिद्धः ॥ ६ ॥ भवोद्भवपरिश्रम प्रशम-केलि कौतूहली। सुधारस समः सदा जयति यद्वचः प्रक्रमः स मे मुनिमतल्लिका''''''''''''''

विकच मल्लिकाजित्वर, प्रसृत्वर यशोभरो भवतु रत्न-कीर्तिर्मुदे ॥ ७ ॥ प्रसर्प्यद्वेध्वन्ति प्रशमनपटुः सौगतशिरः करोटीकुट्टाककषितखरघावनिकरः। अहंकारःस्मेरः स्मर-दमन दीक्षापरिकरः। प्रभाचन्द्रोजीयाज्जिनपतिमतांभोनिधि-विधुः ॥ ८ ॥ श्रीपद्मनन्दिविद्वन् विख्याता त्रिभुवनेऽपि कीर्तिस्ते। हारति हीरति हसति हरोपांस मनुहरति ॥ ९ ॥ एके तर्कवितर्ककर्कशधियः केचित्परं सादसा अन्ये लक्षण लक्षण। परम्'''''''''धौरेय सारः परे। सर्वग्रन्थरहस्य-धौतधिषणो विज्ञानवाचस्पतिः, क्षोणीमण्डल मण्डनं भवति ही श्रीपद्मनन्दिगुरुः ॥ १० ॥ श्री मत्प्रभे-न्दुपट्टेस्मिन्पद्मनन्दी यतीश्वरः। तत्पट्टाम्बुधि सेवीव शुभचन्द्रो विराजते ॥ ११ ॥ गंभीरध्वनि सुन्दरे समकरे चारित्र्यलक्ष्म्याकरे कारुण्यामृत दैवतै गुणग-णश्रेणी मणि दुस्तरे। स'''''''''तमुल्लसत्'''''''''''' मचिला कुले सागरे; पट्टे श्रीमुनि पद्मनंदि''''''प्रभेन्दुर्गणी। ॥१२॥ महाव्रतैः योऽत्र विभूषितोऽपि संसक्तचेताः समितौ गरिष्ठः। तथा हि कीर्त्या समलिंगकश्च श्रीहेमकीर्तिरभव-द्यतीन्द्रः ॥ १३ ॥ शिष्योऽयं शुभचन्द्रस्य हेमकीर्तिर्महा-न्सुधीः येन वाक्यामृते नापि पोषिता भव्यपादपाः ॥१४॥ नि''''''''''धिकेय''''''''''''''सकला'''''''''''''''''' विशुद्धा श्री हेमकीर्तियतिनः सुसिद्धः आस्तां च तावज्जगती तलेऽस्मिन् यावत्'''स्थिरौ'''चन्द्रदिवाकरौ च ॥ १५ ॥

सं० १४६५ वर्षे फाल्गुन सुदि २ बुधौ

पंचकल्याणक जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा उत्सव

'मोदी नगर उत्तर प्रदेश' में नव निर्मित श्री शांति-नाथ दिगम्बर जैन मन्दिरको प्रतिष्ठा और श्रीजिनबिम्ब-प्रतिष्ठा, मिती माघ शुक्ला पंचमी तारीख १६ जनवरीसे माघ शुक्ला पूर्णिमा तारीख २६ जनवरी तक होनी निश्चित हुई है। प्रतिष्ठाके लिए आने वाली प्रतिमाजी सांगोपांग शास्त्रोक्त एवं भव्य होनी आवश्यक है और समयानुसार पाषाण की १ फुटसे कम ऊँचाईकी प्रतिमाएँ तथा चांदी सोनेकी कोई प्रतिमाएँ नहीं भेजनी चाहिए।'

विनीत—प्रेमचन्द जैन

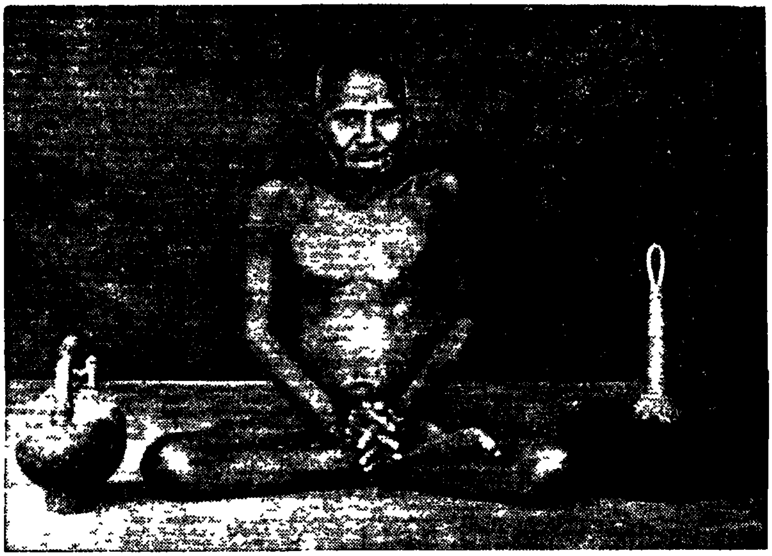
संशोधन

समन्तभद्र-वचनामृत के १०८वें पद्यके अनुवादकी तीसरी पंक्ति (पृ० ३४३) में डैश '(—)'के अनन्तर और 'तथा' शब्दके पूर्व निम्न शब्द छपनेसे छूट गये हैं अतः पाठक उन्हें अपनी-अपनी प्रतिमें यथास्थान बना लेने की कृपा करें:—

धर्मामृतको कानोंसे पीवें—धर्मके विशेषज्ञोंसे धर्म-को सुनें—

—प्रकाशक

आचार्य श्री नमिसागरजी



प्रसिद्ध तपस्वी आचार्य श्री नमिसागरजी हिसारके चतुर्मासके बाद ७० वर्षकी इस वृद्धावस्थामें विहार करते और शीतादिकी अनेक परीषहोंको समभावसे सहन करते हुए, भारतकी राजधानी देहली में पुनः पधारे हैं।

卐 卐 卐 卐 卐 卐 卐

संग्रहीत जैन इतिहासकी आवश्यकता

जैन पुरातत्वके स्कॉलरोंके लिए एक ऐसी पुस्तककी आवश्यकता है कि जिसमें समय-क्रमसे जैनधर्म और संस्कृतिका प्रमाणिक इतिहास हो। ऐतिहासिक अन्वेषण का कार्य यद्यपि कई कारणोंसे अभी तक अधूरा ही है, फिर भी जितना कुछ हो चुका है वह अनेक साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक आदि पत्रोंमें अथवा ग्रन्थोंकी भूमिका आदिमें समय-समय पर खंड रूपसे प्रकाशित हुआ है और बादकी शोध खोजके कारण यह भी संभव है कि किसी-किसी विषयमें विद्वान अपना मत बदल चुके हों। किसी विद्यार्थीके लिये खंड-खंड सामग्रीका जुटाना और उसको विषय-क्रमसे अथवा समय-क्रमसे अध्ययन करना अत्यन्त कठिन होता है। पत्रोंमें से कुछ लेख पुस्तक रूपमें प्रकाशित हुए हैं वे भी समय क्रमसे नहीं हैं तथा बादकी शोध-खोजका परिणाम उन परसे भी अज्ञात रहता है। अब प्रायः सभी उल्लेखनीय महापुरुषों और उनकी कृतियोंका समय प्रायः निर्णीत हो चुका है, एतएव ईसा पूर्वके उस समयसे, जबसे कि जैन इतिहास पर प्रामाणिक प्रकाश पड सका है, ई०सन १७५० तकका इतिहास अब तक की प्रकाशित सामग्रीके ऊपरसे संकलित करके समय या शताब्दी-क्रमके अनुसार शीघ्र प्रकाशित होनेकी योजना होनी चाहिए। विषयक्रमकी सूची अन्तमें रहे।

साथ ही, जैन पुरातत्वके जानकार विद्वान और अन्वेषक महानुभावोंको कृपया यह बता देना चाहिए कि एपिग्राफिका इंडिका, गजेटियर, भ्रमणवृत्तान्त, जनरल आदि आदरभूत सामग्रीका किस जिल्द, अंक या समय तकका पाठ वे कर चुके हैं। उससे भिन्न या आगेका पाठ करके विचारणीय विषय प्रस्तुत करनेमें विद्यार्थीगणोंका परिश्रम लाभप्रद हो सकेगा। —एन. सी. वाकलीवाल

आदर्श-विवाह



हांसी निवासी श्री बलवन्त-सिंहजीके सुपुत्र श्रीव्रजभूषणजी का पाणिग्रहण संस्कार देहली निवासी श्री मुरलीधरजी डालमियाकी सुपुत्री श्री लीलावती जी के साथ जैन विधिसे सानन्द सम्पन्न हुआ। वधूने पर्दा नहीं किया और अपने सप्त वचन स्वयं कह कर स्वीकार किये। विवाह करनेवाले विद्वान श्री ला० राजकृष्णजी, पं० परमानन्दजी शास्त्री पं० चन्द्रमौलिजी शास्त्री और बाघूलाल जी जमादार थे। संस्कार सम्बन्धी प्रत्येक बातको विद्वान समझाते जाते थे। इस विधिको देखनेके लिए देहली प्रांतके शिक्षा मन्त्री किदवई, श्री देवदासगांधी, व अन्य २ प्रसिद्ध सज्जन पधारे थे। दान-दहेजका भरपाया नहीं था। वीरसेवामन्दिरको १०१) रु० श्री. बा० बलवंत सिंह जीने प्रदान किये।

—सम्वाददाता

वीरसेवामन्दिरके चौदह रत्न

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द।

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द।

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित।

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... १॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थ परिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादित-सहित। ... ... ॥।)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्यों के १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—श्री पद्मनन्दी आचार्यकी महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। ... ... ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३७॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
अहिंसा मन्दिर बिल्डिंग १, दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

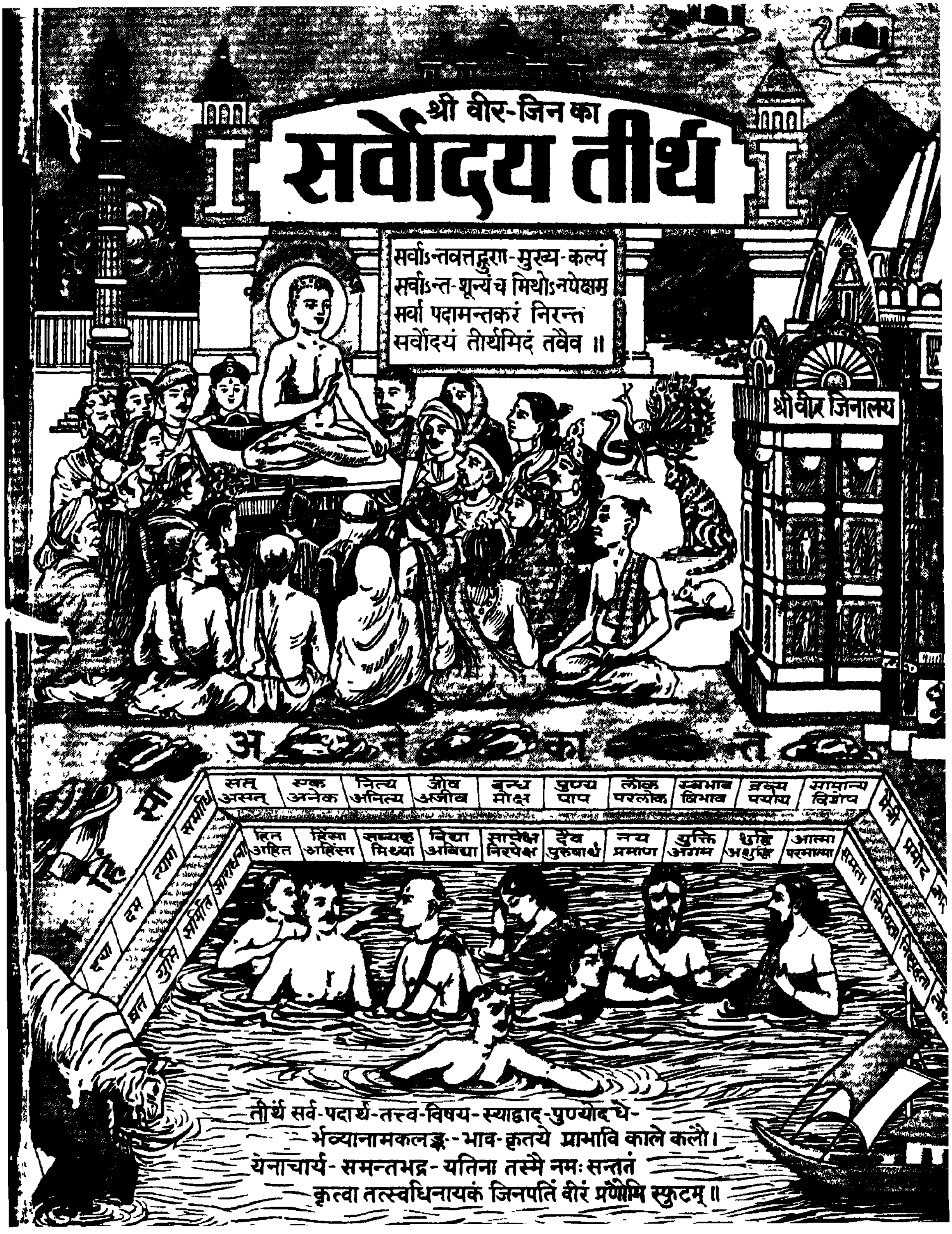
१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० मोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी देहली

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० केदारनाथ बद्रीप्रसादजी सरावगी,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार मेरठ
१०१) श्री श्रीमाला देवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्रजी जैन 'सगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदासजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी हांसी
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी हांसी

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

परमानन्दजी जैन शास्त्री C/o अहिंसा मन्दिर १, दरियागंज देहली । मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस दरियागंज, देहली


श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

❋ सूचना ❋

अनेकान्तके ग्राहकों और प्रेमी-पाठकोंसे निवेदन है कि वीर सेवा मन्दिर परिवार 'श्रवणबेल्गोल' की और अन्य तीर्थ क्षेत्रोंकी यात्रार्थ २६ जनवरीका जा रहा है। अतः इस वर्षकी १२ वें किरण यात्रासे वापिस आनेके बाद अप्रलमें प्रकाशित होगी। और नये वर्ष (१२वीं) की प्रथम किरण जूनमें 'यात्रांक' नामसे विशेषांकरूपमें प्रकाशित होगी। सूचनार्थ निवेदन है।

—प्रकाशक

वण बेल्गोलमें वीरसेवामन्दिरका नैमित्तिक अधिवेशन

श्रवणबेल्गोलमें श्री बाहूबलीके मस्तकाभिषेकके शुभ अवसरपर वीरसेवामन्दिरका एक नैमित्तिक अधिवेशन होगा। जिसमें संस्थाके भावी कार्य-क्रमके सम्बन्धमें विचार किया जावेगा। अधिवेशनकी तारीखें बादको समाचार पत्रों द्वारा प्रकाशित कर दी जावेंगी।

—व्यवस्थापक
राजकृष्ण जैन

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक'-तथा 'सहायक' बनना और बनाना।
(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।
(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।
(४) अपनी ओरसे दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।
(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५) की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।
(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।
(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पताः—
मैनेजर—'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, अहिंसा मन्दिर बिल्डिंग
१, दरियागंज, देहली

ॐ अर्हम्



वार्षिक मूल्य ५)

इस किरण का मूल्य ।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११	वीरसेवामन्दिर, अहिंसामन्दिर-बिल्डिंग १ दरियागंज, देहली	जनवरी
किरण ११	पौष शुक्ल, वीर निं० सं० २४७६, वि० सं० २००६	१९५३

सरस्वती-स्तवनम्

(श्रीविजयकीर्ति-शिष्य-मलयकीर्तिकृत)

जलजनंदन-चन्दन-चन्द्रमा-सदृश-मूर्तिरियं परमेश्वरी ।
निखिल जाड्य-जठाग्र-कुठारिका दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥ १ ॥

वरद-दक्षिण-बाहु-धृताक्षका विशद-वाम-करार्पित-पुस्तिका ।
उभय-पाणि-पयोज-धृताम्बुजा दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥ २ ॥

विशद-पक्ष-विहंगम-गामिनी विशद-पक्ष-मृगांक-महोज्वला ।
विशद-पक्ष-विनेय-जनार्चिता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥ ३ ॥

मुकुट-रत्न-मरीचिभिरूर्ध्वगैर्वदतया परमां गतिमात्मनी ।
भव-समुद्र-तरी तु नृणां सदा दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥ ४ ॥

परमहंस हिमाचल-निर्गता सकल-पातक-पंक-विवर्जिता ।
अमृत-बोध-पयः परिपूरिता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥ ५ ॥

परमहंस-निवास-समुज्वलं कमलयाकृतवाससमुत्तमं ।
वहत (ति) या वदनांबुरुहं सदा दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥ ६ ॥

सकल-वाङ्मय-मूर्तिधरा परा सकल-सत्त्वहितैकपरायणा ।
सकल-नारद-तुंबर-सेविता दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥ ७ ॥

मलय-चन्दन-चन्द्र रज-कण-प्रकर-शुभ्र दुकूल पटव्रता ।
विशद-हंसकहारि-विभूषितां दिशतु मेऽभिमतानि सरस्वती ॥ ८ ॥

मलयकीर्तिकृता मति संस्तुतिं पठति यः सततां मतिमान्नरः ।
विजयकीर्तिगुरोः कृतसादरां स मतिकल्पलताफलमश्नुते ॥ ९ ॥

इति सरस्वती-स्तवनं समाप्तम् ।

कुछ नई खोजें

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

१ मुनिपद्मनन्दी—जैन-साहित्यमें पद्मनन्दी नामके अनेक आचार्य और विद्वान भट्टारक होगये हैं। उनमें प्रस्तुत पद्मनन्दी भट्टारक प्रभाचन्द्रके पट्टधर हैं—शिष्य हैं, जो देहली-की भट्टारकीय गद्दी पर आसीन थे और भट्टारक रत्नकीर्तिके पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। भ० पद्मनन्दी अपने समयके बहुत ही प्रभावशाली और विद्वान भट्टारक थे। ये भट्टारक पद्मनन्दी वही हैं जिनकी प्रतिकृति विजोलियाके मानस्तम्भोंके पाषाणोंमें अंकित है। इनके अनेक शिष्य थे, उनमें भट्टारक शुभचन्द्र इनके पट्टधर शिष्य थे। और दूसरे शिष्य भ० सकलकीर्ति थे, जिनसे ईडरकी भट्टारकीय गद्दीकी परम्परा चली है। यह अपने समयके बहुत ही प्रभावक विद्वान और तपस्वी थे, इनके शिष्योंमें मतभेद होजानेके कारण भट्टारकीय गद्दीकी दो परम्परा चालू हुई हैं, एक भ० सकलकीर्तिकी, और दूसरी देवेन्द्रकीर्तिकी इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचनाकी है। इनका समय भी विक्रमकी १५ वीं शताब्दीका मध्य और कुछ अन्तिम भाग रहा है।

भट्टारक पद्मनन्दीका निम्न ग्रंथ उपलब्ध हुआ है जिसका नाम 'श्रावकाचार सारोद्धार' है। इस ग्रन्थमें तीन परिच्छेद हैं जिनमें गृहस्थ-विषयक आचारका प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थमें रचनाकाल दिया हुआ नहीं है जिससे यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है कि यह ग्रन्थ कब रचा गया है, ग्रन्थकी यह प्रति वि० सं० १५१४ की लिखी हुई है। जिससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि मुनि पद्मनन्दी सं० १५१४ से पूर्ववर्ती हैं, कितने पूर्ववर्ती हैं यह नीचेके विचारोंसे स्पष्ट होगा।

'भगवती आराधनाकी पंजिका ※ टीका जो संवत् १४१६ में चैत्रसुदी पंचमीके दिन देहलीके बादशाह पेरोजशाहके राज्य कालमें × लिखी गई है। उसकी लेखक प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि उस समय भ० रत्नकीर्तिके पट्ट पर भ० प्रभाचन्द्र प्रतिष्ठित हुए थे। तब उक्त भ० प्रभाचन्द्रके शिष्य ब्रह्म-नाथूरामने उक्त आराधना ग्रन्थकी पंजिका टीका आत्म-पाठनार्थ लिखाई थी। इससे भट्टारक प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी १५ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध जान पड़ता है और उनके पट्टधर मुनि पद्मनन्दीका समय कमसे कम २५ वर्ष बादका समझना चाहिये। इस तरह उक्त मुनि पद्मनन्दी विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके मध्य कालके विद्वान निश्चित होते हैं।

मुनि पद्मनन्दीने अपने श्रावकाचारकी प्रशस्तिमें भट्टारक रत्नकीर्तिका भी आदर पूर्वक उल्लेख किया है। प्रशस्ति-में उक्त श्रावकाचारके निर्माणमें प्रेरक लंबकंचुक (लमेचू) कुलान्वयी साहू वासाधरके वंशका परिचय भी दिया हुआ है। साहू वासाधरके पितामह 'गोकर्ण' थे, जिन्होंने 'सूपकारसार' नामके एक ग्रन्थकी रचना भी की थी † इन्हीं गोकर्णके पुत्र सोमदेव हुए। इनकी धर्मपत्नीका नाम 'प्रेमा था उससे सात पुत्र उत्पन्न हुए थे। वासाधर, हरिराज, प्रह्लाद, महाराज, भवराज, रतन और सतनाख्य। इनमें साहू वासाधरकी प्रार्थनासे ही उक्त ग्रन्थ रचा गया है।

प्रस्तुत पद्मनन्दीने इस श्रावकाचारके अतिरिक्त और किन किन ग्रन्थोंकी रचनाकी है यह विषय ग्रन्थ भंडारोंके

※ "संवत् १४१६ वर्षे चैत्रसुदि पंचम्यां सोमवासरे सकलराजशिरोमुकुटमाणिक्यमरीचि पिंजरीकृतचरणकमल पादपीठस्य श्रीपेरोजसाहेः सकलसाम्राज्यधुरीविभ्राणस्य समये श्री दिल्ल्यां श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे भट्टारक श्री रत्नकीर्तिदेवपट्टोदयाद्रितरुण-तरणित्वमुर्वीकुर्वाणः भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेव तत्शिष्याणां ब्रह्मनाथूराम इत्याराधना पंजिकायां (?) ग्रन्थ आत्मपठ-नार्थं लिखापितम्।"

× पेरोजशाह तुगलक सन् १३५१ मे दिल्लीके तख्त पर बैठा था, उसने सन् १३५१ से सन् १३८८ तक अर्थात वि० संवत् १४०८ से संवत् १४४५ तक राज्य किया है। संवत् १४४५ में उसकी मृत्यु हुई थी। इससे स्पष्ट है कि भट्टारक प्रभाचन्द्र रत्नकीर्तिके पट्ट पर सं० १४०८ के बाद ही किसी समय प्रतिष्ठित हुए थे।

† 'सूपकारसार' नामका यह ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसका अन्वेषण होना चाहिये। संभव है वह किसी ग्रन्थभंडारकी काल कोठरीमें अपने शेष जीवन-की घड़ियां बिता रहा हो, और खोज करनेसे वह प्राप्त हो जाय।

अन्वेषणसे सम्बन्ध रखता है, इस सम्बन्धमें मेरा अन्वेषण कार्य चालू है। अभी हालमें अनेकान्तकी वर्ष ११ किरण ७-८ में प्रभाचन्द्रके शिष्य पद्मनन्दीकी 'भावनापद्धति' जिसका दूसरा नाम भवना-चतुस्त्रिंशतिका' है। पद्मनन्दि मुनि द्वारा रचित एक 'वर्द्धमान चरित्र' नामका एक संस्कृत ग्रन्थ जो सं० १५२२ फाल्गुण वदि ७ मी का लिखा हुआ है गोपीपुरा सूरतके शास्त्रभंडार और ईडरके शास्त्र-भंडारमें विद्यमान है, बहुत संभव है कि वह इन्हीं पद्मनन्दीके द्वारा रचा गया हो। ग्रन्थ प्राप्त होने पर उसके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डालनेका यत्न किया जायगा।

२. ललितकीर्ति—यह भट्टारक ललितकीर्ति काष्ठा-संघ माथुरगच्छ और पुष्करगणके भट्टारक श्री जगत-कीर्तिके शिष्य थे। जो दिल्लीकी भट्टारकीय गद्दीके पट्टधर थे। यह बड़े विद्वान और वक्ता थे। मंत्र-तंत्रादि कार्योंमें भी निपुण थे। भ० ललितकीर्तिके समयमें देहलीकी भट्टारकीय गद्दीका महत्व लोकमें स्थापित था। आपके पास देहलीके बादशाह अलाउद्दीन खिलजी द्वारा प्रदत्त वे बत्तीस फर्मान और फीरोजशाह तुगलक द्वारा प्रदत्त भट्टारकोंकी ३२ उपा-धियाँ सुरक्षित थीं। परन्तु खेद है कि आज उनका पता भी नहीं चल रहा है, वे कहां और किसके पास हैं? भट्टारक ललितकीर्ति देहलीसे कभी कभी फतेहपुर भी आया जाया करते थे और वहां महीनों ठहरते थे। वहां भी आपके अनेक शिष्य थे। सम्यक्त्वकौमुदी संस्कृत की १ प्रति सं० १८८१ में भ० ललितकीर्तिके पठनार्थ जेठ वदी १२ को फरुखनगरके जैन मन्दिरमें साहबरामने लिखी थी।

आचार्य जिनसेनके महापुराणकी संस्कृतटीका इन्हीं भट्टारक ललितकीर्तिके द्वारा बनाई गई है जिसे उन्होंने तीन भागोंमें बांटा है। जिनमें प्रथम भाग ४२ पर्वोंका है जिसे उन्होंने सं० १८८४ के मगशिर शुक्ला प्रतिपदा रविवारके दिन समाप्त किया था। और ४३वें पर्वसे ४७वें पर्व तक ग्रन्थकी टीकाका दूसरा भाग है। जिसे उन्होंने सं० १८८५ में पूर्ण किया है। इसके बाद उत्तरपुराणकी टीका बनाई गई है। महापुराण की इस टीकाके अतिरिक्त भट्टारक ललितकीर्तिने अन्य किन किन ग्रन्थोंकी रचनाकी है यह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता। हां, ललितकीर्तिके नामसे अङ्कित निम्न ग्रंथ ग्रंथ-भण्डारोंमें पाये जाते हैं, वे इन्हीं की रचना हैं या अन्य किसी ललितकीर्ति की, यह ग्रन्थोंका अनुधावन किये बिना निर्णय नहीं हो सकता, उन ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं।

१ सिद्धचक्रपाठ, २ नन्दीश्वरव्रतकथा, ३ अनन्तव्रतकथा, ४ सुगन्धदशमी कथा, ५ षोडशकारणकथा, ६ रत्नत्रयव्रत-कथा, ७ आकाशपंचमी कथा, ८ रोहिणीव्रतकथा, ९ धन-कलशकथा, १० निर्दोषसप्तमी कथा, ११ लब्धिविधान-कथा, १२ पुरन्दरविधानकथा, १३ कर्मनिर्जर चतुर्दशीव्रत-कथा, १४ मुकुट सप्तमी कथा, १५ दशलाक्षिणीव्रतकथा, १६ पुष्पांजलिव्रतकथा, १७ ज्येष्टजिनवरकथा, १८ अक्षय-निधि दशमीव्रतकथा, १९ निःशल्याष्टमी विधान कथा, २० रत्नविधान कथा, २१ श्रुतस्कन्ध कथा, २२ कंजिका-व्रतकथा, २३ सप्तपरमस्थान कथा, २४ षट्रसकथा।

ऊपरके कथनसे भट्टारक ललितकीर्तिका समय विक्रमकी १९ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध है।

३ पंडित जगन्नाथ—इनका वंश खण्डेलवाल था और यह पोमराज श्रेष्ठीके लघुपुत्र थे। इनके ज्येष्ठभ्राता वादिराज थे, जो संस्कृतभाषाके प्रौढ़ विद्वान और कवि थे। इन्होंने संवत् १७२९में वाग्भट्टालंकारकी 'कविचन्द्रिका' नामकी एक टीका बनाई थी, जो अभी तक अप्रकाशित है। इनका बनाया हुआ 'ज्ञानलोचन' नामका एक स्तोत्र भी है जो माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुका है। यह तक्षक (वर्तमान टोडा) नामक नगरके निवासी थे। पं० दीपचन्द्रजी पाण्ड्या केकड़ीके पास एक गुटका है जिसके अन्तकी संवत् १७५१ की मगशिर वदी ५ की लिपि प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि साह पोमराज श्रेष्ठीका गोत्र सोगानी था और इनके पुत्र वादिराजके भी चार पुत्र थे, जिनके नाम रामचन्द्र, लालजी, नेमीदास, और विमलदास थे। विमलदासके उक्त समयमें टोडामें उपद्रव हुआ और उसमें वह गुटका भी लुट गया था, बादमें उसे छुड़ाकर लाये जो फट गया था उसे संवारकर ठीक किया गया। ×वादिराज राजा जयसिंहके सेवक थे—अर्थात् वे जयपुर राज्यके किसी ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित थे।

× प्रस्तुत गुटकेकी प्रथम प्रति सं० १६१० की लिखी हुई थी उसी परसे दूसरी कापी सं० १७५१ में की गई है:—

संवत् १७५१ मगसिर वदी ५ तक्षक नगरे खंडेलवा लान्वये सोगानीगोत्रे साहपोमराज तत्पुत्र साह वादिराज तत्पुत्र चत्वारः प्रथमपुत्र रामचन्द्र द्वितीय लालजी तृतीय

कवि जगन्नाथ भी संस्कृत भाषाके प्रौढ़ विद्वान थे। और भ० नरेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। इनकी इस समय तीन कृतियाँ समुपलब्ध हैं जो मेरे अवलोकनमें आई हैं। इनमें सबसे पहली कृति 'चतुर्विंशतिसंधान' है। इस ग्रन्थके एक ही पद्यको २४ जगह लिखकर उसकी स्वोपज्ञ टीका लिखी है जिसमें उस एक ही पद्यके चौबीस अर्थ किये गये हैं। यह ग्रन्थ टीकासहित मुद्रित हो गया है। इसका रचनाकाल वि० सं० १६९९ है। दूसरी कृति 'सुखनिधान' है। इसकी रचना कवि जगन्नाथने 'तमालपुर' में की थी। इस ग्रन्थमें कविने अपनी एक और कृतिका उल्लेख "अन्यच्च—अस्माभिरुक्तं शृंगार समुद्र काव्ये" वाक्य के साथ किया है। तीसरी कृति 'श्वेताम्बर पराजय' है जिसमें श्वेताम्बर सम्मत केवलिभुक्तिका सयुक्तिक निराकरण किया गया है। इस ग्रन्थमें भी एक और अन्य कृतिका समुल्लेख किया है और उसे स्वोपज्ञ टीकासे युक्त बतलाया है। 'तदुक्तं—नेमिनरेन्द्रस्तोत्रे स्वोपज्ञे' इससे नेमिनरेन्द्रस्तोत्र नामकी स्वोपज्ञकृतिका और भी पता चलता है जिसका एक पद्य भी उद्धृत किया गया है जो इस प्रकार है:—

'यदुत तव न भुक्तिर्न्नष्टदुःखोदयत्वाद्-
बलनमपि न चांगे वीतरागत्वतश्च।
इति निरुपमहेतूनूह्य सिद्धायसिद्धौ,
विशद-विशददृष्टीनां हृदि ल (?) मुमुक्षये।'

इनकी एक और अन्य रचना 'सुषेणचरित्र' है जिसकी पत्र संख्या ४९ है और जो सं० १८४२ की लिखी हुई है। यह ग्रन्थ भट्टारक महेन्द्रकीर्ति आमेरके शास्त्रभण्डार-में सुरक्षित है।

इस तरह कवि जगन्नाथकी छह कृतियोंका पता चल जाता है। इनकी अन्य क्या क्या रचनाएँ हैं यह अन्वेषणीय है। इनकी मृत्यु कब और कहां हुई। इसके जानने-का कोई साधन इस समय उपलब्ध नहीं है। पर इनकी रचनाओंके अवलोकनसे यह १७ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १८ वीं शताब्दीके पूर्वार्धके सुयोग्य विद्वान जान पड़ते हैं।

नेमिदास चतुर्थ विमलदास टोडामें विषो हुवो, जब याह पोथी लुटी महां थे छुवाइ फाटी-तुटी सवारि सुधारि आछी करी ज्ञानवरण कर्म क्षयार्थं पुत्रादि पठनार्थं। शुभं भवतु।

—गुटका प्रशस्ति

४ भट्टारक सुमतिकीर्ति—यह मूलसंघमें स्थित नन्दि-संघ बलात्कारगण और सरस्वतिगच्छके भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे। लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्र नामके भट्टारक भी इन्हींके समसामयिक थे। भ० ज्ञानभूषण इन्हींके अन्वयमें हुए हैं। भट्टारक ज्ञानभूषणने अपना 'तत्त्वज्ञान-तरंगिणी' नामका ग्रन्थ संवत् १५६० में बनाकर समाप्त किया है। इनकी अन्य भी कई रचनाएँ उपलब्ध हैं।

सुमतिकीर्ति ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इन्होंने प्राकृत पंचसंग्रहकी संस्कृत टीका ईलाव (ईडर) के ऋषभ-देवके मन्दिरमें वि० सं० १६२० में भाद्रपद शुक्ला दशमीके दिन समाप्तकी थी। इस ग्रन्थका उपदेश उन्हे 'हंश' नामके वर्णीसे प्राप्त हुआ था। इस टीकाका संशो-धन भी ज्ञानभूषणने किया था। कर्मकाण्ड टीका (१६० गाथात्मक कर्मप्रकृति टीका) को भी भट्टारक सुमतिकीर्तिने ज्ञानभूषणके साथ बनाया था और उसे ज्ञानभूषणके ही नामांकित भी किया था।

इनके अतिरिक्त 'धर्मपरीक्षाराम' नामका एक ग्रन्थ और भी मेरे देखने में आया है, जिसकी पत्र संख्या ८३ है, जो गुजराती भाषामें पद्यबद्ध है और जिसकी रचना हांसोट नगरमें वि० सं० १६२५ में बनकर समाप्त हुई है। इसके सिवाय, ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वति भवन बम्बईकी सूचीमें 'उत्तरछत्तीसी' नामका एक संस्कृत ग्रन्थ गणित विषयपर लिखा गया है और उसके कर्ता भी भ० सुमतिकीर्ति बतलाये जाते हैं। संभव है यह भी उनकी कृति हो। और भी उनकी रचनाएँ होंगी, पर वे सामने न होनेसे उनके सम्बन्धमें विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता। भ० सुमतिकीर्तिके उपदेशसे अनेक मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा कीगई है जिनका उल्लेख सूरत आदिके मूर्ति लेखोंसे पता चलता है। ये स्वयं प्रतिष्ठाचार्य भी थे और इन्होंने अनेक मूर्तियों-की प्रतिष्ठा कराई थी। इनका समय विक्रमकी १७वीं शताब्दीका मध्य भाग है।

५ पंडित शिवाभिराम—इन्होंने अपनी कृतियोंमें अपना कोई परिचय नहीं दिया; किन्तु एक ग्रन्थमें उसका रचना-काल दिया हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि वे विक्रमकी १७वीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान हैं। उनकी इस समय दो कृतियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं जिनमें एकका नाम 'षट्च-तुर्थ-वर्तमान जिनार्चन' है और दूसरीका नाम 'अष्टम जिन-

पुराण संग्रह'(चन्द्रप्रभ पुराण) है। प्रथम ग्रन्थ कविने मालव नामक देशमें स्थित विजयसारके दिविजनामक दुर्गमें स्थित देवालयमें हुई है। उस समय दुर्गमें अरिकुलशत्रु सामन्तसेन हरितनुका पुत्र अनुरुद्ध पृथ्वीका पालन करता था, जिसके राज्यका प्रधान सहायक रघुपति नामका एक महात्मा था उसका पुत्र धनराज ग्रन्थकर्ताका परमभक्त था उसीकी सहायतासे इस ग्रंथकी रचना सं० १६१२ में हुई है।

दूसरे ग्रन्थमें जैनियोंके ८वें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ भगवान का जीवन परिचय दिया हुआ है। इस ग्रन्थमें ग्रन्थकर्ताने अपनेसे पूर्ववर्ती भद्रबाहु, समन्तभद्र, अकलंकदेव, जिनसेन, गुणभद्र और पद्मनन्दी नामके आचार्योंका स्मरण किया है। यह ग्रंथ २७ सर्गोंमें समाप्त हुआ है।

गुर्जरवन्शका भूषण राजा ताराचन्द्र था, जो कुम्भनगरका निवासी था और दिल्लीके बादशाह द्वारा सम्मानित था। उसके पदपर सामन्तसिंह हुआ जिसे दिगम्बराचार्यके उपदेशसे जैनधर्मका लाभ हुआ था। उसका पुत्र पद्मसिंह हुआ जो राजनीतिमें कुशल था, उसकी धर्मपत्नीका नाम "वीणा" देवी था, जो शीलादि सद्‌गुणोंसे विभूषित थी, उसीके उपदेश एवं अनुरोधसे उक्त चरित ग्रन्थकी रचना हुई है। प्रशस्तिमें रचनाकाल दिया हुआ नहीं है, इस लिए यह बतलाना सम्भव नहीं है कि यह ग्रन्थ किस सम्वत्‌में बना है।

६. भट्टारक चन्द्रकीर्ति—यह काष्ठासंघ नन्दितटगच्छके भट्टारक विद्याभूषणके प्रशिष्य और भट्टारक श्रीभूषणके शिष्य एवं पट्टधर थे। यह ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे, और ईडर की गद्दी के पट्टस्थान उस समय सूरत, डूंगरपुर, सोजित्रा, खेर और कल्लोल आदि प्रधान नगरों एवं कस्बोंमें थे। इन स्थानोंमेंसे भ० चन्द्रकीर्तिजी किस स्थानके पट्टधर थे यह निश्चितरूपसे मालूम नहीं हो सका, पर जान पड़ता है कि वे इडरके समीपवर्ती किसी स्थानके पट्टधर रहे हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें अपनी पूर्व गुरुपरम्परा भट्टारक रामसेनसे बतलाई है। इनकी इस समय तीन रचनाएँ मेरे देखनेमें आई हैं, और वे तीनों ही पुराण ग्रन्थ हैं, और उनके नाम पार्श्वपुराण, वृषभदेवपुराण और पद्मपुराण हैं।

इनमेंसे 'पार्श्वपुराण' १५ सर्गोंमें विभक्त है, जिसकी श्लोक संख्या २७१५ है और वह देवगिरि नामक मनोहर नगरके पार्श्वनाथ जिनालयमें वि० संवत् १६५४ की वैशाख शुक्ला सप्तमी गुरुवारको समाप्त किया गया है। दूसरी कृति 'वृषभदेव पुराण' है जो २५ सर्गों अथवा अध्यायोंमें पूर्ण किया गया है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें ग्रन्थका रचनाकाल दिया हुआ नहीं है। तीसरी कृति 'पद्मपुराण' है जिसकी पत्र संख्या ४१२ है। यह ग्रन्थ आमेर भंडारमें सुरक्षित है। इस ग्रन्थमें भी रचनाकाल दिया हुआ नही है। इस कारण यह निश्चय करना कठिन है कि उक्त तीनों ग्रन्थोंमें से पहले किसकी रचना हुई है। इनके अतिरिक्त भ० चन्द्रकीर्तिने और भी अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। उनके कुछ नाम इस प्रकार हैं:—पंचमेरू पूजा, अनंतव्रतपूजा, और नन्दीश्वरविधान आदि। चूंकि ये तीनों ही ग्रन्थ सामने नहीं हैं। अतः इनके सम्बन्धमें कोई यथेष्ट सूचना इस समय नहीं की जा सकती।

७. गुणभद्र—इस नामके अनेक विद्वान आचार्य और भट्टारक हो गए हैं, उनमें आचार्य जिनसेनके शिष्य गुणभद्राचार्य प्रमुख हैं। जिनका समय विक्रमकी नौमी शताब्दी का अन्तिम भाग और दशमी शताब्दीका प्रारम्भिक भाग है। यहाँ उन सब गुणभद्रोंको छोड़ कर मुनि माणिक्यसेनके प्रशिष्य और नेमिसेनके शिष्य गुणभद्रका उल्लेख करना इष्ट है। अतः उन्हींके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेका विचार है।

प्रस्तुत गुणभद्र सैद्धान्तिक विद्वान थे, वे मिथ्यात्व तथा कामके विनाशक और स्याद्वादरूपी रत्नभूषणके धारक थे। इन्होंने राजा परमार्दिके राज्यकालमें विलासपुरके जैनमन्दिरमें रह कर लंबकंचुक (लमेचू) वंशके महामना साहू शुभचन्द्रके पुत्र वल्हणके धर्मानुरागसे 'धन्यकुमारचरित' की रचना की है। ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें कर्ताने अपना कोई परिचय नहीं दिया और न गण गच्छादिका ही कोई उल्लेख किया, जिससे ग्रन्थके समयादिका परिचय दिया जाता। प्रशस्तिमें उल्लिखित राजा परमार्दि किस वंशका राजा था यह कुछ मालूम नहीं होता, ग्रन्थकी यह प्रति संवत् १५०१ की लिखी हुई है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त ग्रन्थ संवत् १५०१ से पूर्व रचा गया है, परन्तु कितने पूर्व यह कुछ ज्ञात नहीं होता।

इतिहासमें अन्वेषण करने पर हमें परमादि नामके दो राजाओंका उल्लेख मिलता है, जिनमें एक कल्याणके हैहयवंशी राजाओंमें जोगमका पुत्र पेमादि या परमार्दि था

❀ जो शक संवत् १०२१ (वि० सं० ११८६) में विद्यमान था। यह पश्चिमी सोलंकी राजा सोमेश्वर तृतीयका सामन्त था। तर्दवाडी जिला बीजापुरके निकटका स्थान उसके आधीन था। इसके पुत्रका नाम विज्जलदेव था। संभव है इसके राज्यका विस्तार विलासपुर तक रहा हो।

दूसरे परमार्दि, परमल या परमार्द्दिदेव वे हैं जिनका राज्य जेजासकृती महोवामें था। और जिनकी राजधानी खजुराहामें थी। ९ वीं सदीमें वहाँ चन्देलवंशी राजाओंका बल बढ़ा, उसका प्रथम राजा नानकदेव था और आठवां राजा धंगराज। जैसा कि ईस्वी सन् ९५४के लेखसे × प्रकट है। इनमें एक राजा परमल या परमार्द्दिदेव नामका हो गया है जिसके यहाँ प्रसिद्ध आल्हा (आला) ऊदल नौकर थे और जो पृथ्वीराज चौहानके युद्धमें पराजित हुए थे। यह हमला पृथ्वीराज चौहानने, जो पृथ्वीराज तृतीयके नामसे प्रसिद्ध है, सोमेश्वरका पुत्र और उत्तराधिकारी था। इसके पिता सोमेश्वरकी मृत्यु वि० सं० १२३६ में हुई थी। पृथ्वीराज बड़ा प्रतापी और वीर था। इसने गुजरातके राजाको पराजित किया था, और सन् ११८२ वि० संवत् १२३९ में महोवाके चंदेलवंशी राजा परमार्दिदेव पर किया था। उस युद्धमें राजा परिमल हार गया था जिसका उल्लेख ललितपुरके पास 'मदनपुर' के एक लेखमें ❀ मिलता है। बहुत सम्भव है कि इसका राज्य विलासपुरमें रहा हो; क्योंकि इसके वहाँ राज्य होनेकी अधिक संभावना है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो प्रस्तुत 'धन्यकुमार चरित' का रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दी हो सकता है।

❀ देखो, भारतके प्राचीन राज्यवंश प्रथम भाग पृ० ६१

× देखो इंडियन एण्टीक्वेरी भाग।

❀ मदनपुरके जैनमन्दिरमें एक बारादरी है, जो खुली हुई ६ सम चौरस खंभोंसे रचित है। इसके खंभों पर बहुत ही मूल्यवान एवं उपयोगी लेख अंकित हैं। इनमें दो छोटे लेख चौहान राजा पृथ्वीराजके राज्य समयके हैं। जिनमें उक्त राजा परमादिको व उसके देश 'जेजासकृती' को सं० १२३९ या 11 82 A.D. में विजित करनेका उल्लेख है। इस मदनपुरको चंदेलवंशी प्रसिद्ध राजा मदनवर्माने बसाया था। इसीसे इसका नाम मदनपुर आजतक प्रसिद्धिमें आ रहा है।

❀ प्रशस्ति संग्रह प्रथमभागकी प्रस्तावनाका अप्रकाशित अंश।

सरस्वती भवनोंके लिये व्यावहारिक योजना

[श्री एन० सी० वाकलीवाल]

(१) रक्षा और निर्माणके सिद्धान्तोंको प्रधानता दी जाय।

(२) देश भरके सभी स्थानोंके उपलब्ध उत्कीर्ण तथा हस्तलिखित ग्रन्थों व मन्दिरादिमें संग्रहीत अन्य पुरातत्व सामग्री की सूची और विवरण प्राप्तकर सम्मिलित सूची तैयार कराई जाय।

(३) सम्मिलित सूचीके अनुसार जहां जहां जो सामग्री बिना प्रयोजन पड़ी हो या भली भांति रक्षित न हो उसे अधिक सुरक्षित और आवश्यकताके स्थानों पर रखने की व्यवस्था की जाय।

(४) हस्त लिपिका अभ्यास बना रखने और ग्रन्थोंकी नाना स्थानों पर विपुलता और उपयोगिता बढ़ानेके साथ साथ सुरक्षाकी दृष्टिसे हस्तलिखित ग्रन्थों परसे पठन पाठन करनेकी प्रथाको पुनर्जीवित किया जाय और उसके लिये बदला, मूल्य या उधारकी सुवधाओंका प्रचार और प्रसार किया जाय।

(५) अनुपलब्ध पुरातत्व की ३ अवस्थायें हो सकती है (१) देशके बाहर गया हुआ अथवा देशमें ही किसी अन्य समाज या सरकारी पुस्तकालयों आदिमें अज्ञात अवस्थामें पड़ा हुआ, (२) भूगर्भ या अज्ञात स्थानोंमें छुपा हुआ, (३) समाजके व्यक्तियों द्वारा छुपाया हुआ अथवा प्रतिबन्धमें रखा हुआ।

इनमेंसे प्रथम अवस्थाके लिये दस हजार पौंड या एक लाख रुपयेका पुरस्कार उस तमाम साहित्यके लिये घोषित किया जाय जोकि ज्ञानमें लाया जा सके। और ऐसे साहित्यकी सूची और परिचयका कार्य अविलम्ब पूरा किया जाय।

दूसरी अवस्थाके लिये कमसे कम सरकारी और अन्य सभी ऐतिहासिक, पुरातत्व तथा खुदाईके प्रतिष्ठानोंके साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया जाय, खुदाई व प्राचीनता अन्वेषक विद्वानोंको, चाहे वे किसी भी धर्म या समाजके हों, जैन संस्कृतिका परिचय देकर उनको जैन पुरातत्वका बारीकीसे अन्वेषण परीक्षण करनेके लिये उत्साहित किया जाय और जैन विद्वानोंको उनके सम्पर्कमें रहनेके लिये नियुक्त या प्रोत्साहित किया जाय।

तीसरी अवस्थाके लिये अनवरत प्रचार और प्रेरणा की जाय।

(६) विज्ञान समस्त सभी आधुनिक उपायों और यन्त्रोंका प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों व अन्य साहित्यक वस्तुओं की रक्षा और उनको दीर्घ काल तक स्थायी रखनेके लिये भवनोंमें चालू किया जाय। तथा सभी शास्त्रभण्डारोंको *वह प्रणाली काममें लानेकी प्रेरणा की जाय।*

(७) प्रतिलिपिमें समय न गंवाकर माइक्रो फिल्म और अन्य फोटो प्रणाली द्वारा अत्यन्त प्राचीन, अद्वितीय, कठिनतासे प्राप्त और कनड़ी आदि दाक्षिणात्य साहित्य की हूबहू नक़ल अविलम्ब लेली जाय व दक्षिणी भाषाके विद्वानों को हिन्दी लिपिमें अनुवाद व प्रतिलिपि करने योग्य बनानेके लिये स्कालरशिप व प्रोत्साहन दिया जाय।

(८) एक प्रति परसे एक नक़ल की प्राचीन लेखन-प्रथाके बदले स्टेन्सिल प्रथासे डुप्लीकेटर द्वारा एक साथ १००-५० प्रति निकाली जांय। स्टेन्सिल कापीका मूल प्रति परसे तत्काल मिलान करके ही डुप्लीकेट निकाली जाय। (इस प्रथासे अनेक लाभ होंगे। बादमें संशोधन-की आवश्यकता नहीं रहेगी, पूरी प्रति खास खास स्थानोंमें भेज दी जानेसे प्रशस्ति संग्रह आदिका काम कम हो जायगा, प्रकाशन कार्यमें सुविधा और शीघ्रता होगी तथा लेखकोंका अभाव नहीं खटकेगा।)

(९) प्रत्येक सरस्वती भवनमें एक रजिस्ट्रेशन आफिस रहे जहां धार्मिक और सामाजिक प्रतिदिनकी महत्वपूर्ण घटनाओंको व्यवस्थित रूपसे डायरी तथा रजिस्टरोंमें दर्ज किया जाय और निर्धारित समय पर उनकी संख्या या सार भाग प्रकाशित किया जाय। वर्त्तमान परिचय व सूचीके फार्मोंको सुव्यवस्थित और सुरक्षित रखा जाय। ऐतिहासिक अनुसंधान, अन्वेषण और पुरातत्व-सम्बन्धी शोध खोज पर अंग्रेज़ीके दर्जनों मासिक त्रैमासिक पत्रोंमें तथा अन्य भाषाओंके भी पत्रोंमें व रिपोर्ट आदिमें महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते रहते हैं, उनमेंसे जो जैनधर्म और जैन संस्कृत पर हों अथवा जिनसे जैनधर्म और संस्कृति पर महत्व पूर्ण प्रकाश पड़ने की आशा हो, उनको नियमित रूपसे नोट करके प्रकाशित किया जाय ताकि कोई महत्व-पूर्ण बात छूटने न पावे, तत्सम्बन्धी समर्थन या खण्डनका प्रमाण जो भवनमें मौजूद हो, उसकी सूचना जैन विद्वानों-को यथा समय दी जाय, तद्विषयक आवश्यक प्रमाण या साहित्य प्राप्त करनेकी उनको सुविधा दी जाय अथवा मार्ग प्रदर्शन किया जाय।

धर्म और समाजकी उन्नतिका कोई ठोस कार्य उपरोक्त प्राथमिक उपायोंका अवलम्बन किये विना कदापि नहीं हो सकता है।

किसी दूसरी संस्थाकी अपेक्षा सरस्वती भवन ही इन कार्योंके लिये सर्वाधिक क्षमताशील साधन और उपयुक्त क्षेत्र हैं जहां कि किसी भी मत-भेदसे ऊपर उठकर कार्य संचालन हो सकता है।

ऊपर जिन कार्योंकी ओर संकेत है, वे बुनियादी और अनिवार्य आवश्यकतायें हैं और इनकी उपयोगिता प्रत्यक्ष व निर्विवाद है।

ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनके सभापति महोदय "इसकी सम्पूर्ण शक्तियोंका उपयोग ग्रन्थ संशोधन, नवीन अनुसंधान तथा अन्यान्य साहित्यके निर्माणके कार्योंमें" करना चाहते हैं वह ठीक है परन्तु इन कार्योंके लिये उप-रोक्त योजनाको कार्य रूपमें परिणत किये बिना कोई वास्तविक सफलता की आशा आकाश पुष्पवत् है। इस योजनाके अनुसार काम होने लगे तभी अन्यान्य साहित्यके निर्माणका सच्चा मार्ग खुल सकता है।

इस योजनाको व्यवस्थित रीतिसे सरलता पूर्वक चलानेके लिये झालरापाटन, ब्यावर और बम्बईके अति-रिक्त और भी केन्द्र हों तो अच्छा हो ताकि महत्वपूर्ण प्रान्तोंका सम्बन्ध उनके साथ अधिक सुविधाकी दृष्टिसे जोड़ा जा सके तथा बांटने योग्य विषय प्रत्येक केन्द्रमें बांटे जा सकें। अतः आरा स्थित जैनसिद्धान्त भवनको भी इस योजनासे संबद्ध होने की आवश्यकता है।

यदि सरस्वती भवनको अपना लें तो धर्म और समाजके एक बड़े अभावकी पूर्ति सहज और शीघ्र हो सकती है।

सूतक-पातक-विचार

(लेखक—रतनचन्द जैन मुख्तार सहारनपुर)

तीन या चार माह हुए जैन मित्रमें पं० लक्ष्मीचन्द विशारद कैराना निवासीकी, और ४ दिसम्बर सन् १९५२ के जैन-संदेशमें सेठ माणिकचन्द अजमेर निवासीकी सूतक व पातकके विषयमें शङ्का प्रकाशित हुई थी। मैं भी इस विषयमें कुछ निश्चय नहीं कर सका तथापि जो प्रमाण मुझको मिले हैं उनको मैं इस लेखमें दे रहा हूँ जिससे इस विषय पर विशेष ऊहापोह हो सके।

सूदी सूंडी रोगी मदय णपुंसय पिसायणग्गोय।
उच्चार पडिवदत रुहिर-वेसी समणी अंगमक्खीया ॥४९॥

—मूलाचार पिंडशुद्ध्यधिकार ६

श्री वसुनंदिश्रमणविरचितया टीका—सूतिः या बालं प्रसाधयति। सूंडी—मद्यपान लम्पटः। रोगी—व्याधि-ग्रस्तः। मदय—मृतकं श्मशाने—परिक्षिप्यागतो यःस मृतक इत्युच्यते। मृतक सूतकेन यो जुष्टा सोऽपि मृतक इत्युच्यते। नपुंसक—न स्त्री न पुमान नपुंसकमिति जानीहि। पिशाचो—वाताद्युपहतः। नग्न;—पटाद्यावरण रहितो गृहस्थः। उच्चारं—मूत्रादीन् कृत्वा य आगतः। स उच्चार इत्युच्यते पतितो मूर्छा गतः। वान्तश्छर्दि कृत्वा य आगतः। रुधिरं रुधिर सहितः। वेश्या दासी। श्रमणिकाऽऽर्यिका अथवा पंच श्रमणिका रक्त पटिकादयः। अंगम्रक्षिका अंगाभ्यंगकारिणी ॥ ४९ ॥

ववहार सोहणाए परमट्ठाए तहा परिहरउ।
दुविहा चावि दुगंछा लोइय लोगुत्तरा चेव ॥ ५२ ॥

—मूलाचार समयसाराधिकारः १०

टीका—जुगुप्सा गर्हा द्विविधा द्वि प्रकारा लौकिकी लोकोत्तरा च। लोकव्यवहार सौधनार्थं सूतकादि—निवारणाय लौकिकी जुगुप्सा परिहरणीया तथा परमार्थाय रत्नत्रय शुद्ध्यर्थं लोकोत्तरा च कार्येति ॥५२॥

मलिनीगर्भिणीलिङ्गिन्यादिनार्या नरेण च।
शवादिनापि क्लीवेन दत्तं दायक दोषभाक् ॥३४॥

पं० आशाधर विरचितं अनगार धर्मामृते पञ्चमोऽध्याय स्वोपज्ञटीका—भवति। किं तत्? अन्नादि किं विशिष्टम्? दायक दोषभाक्। दायकाश्रयं दोषं भजत्या—श्रयति यत्तदेवम्। किं विशिष्टं सत्? दत्तम्। कया? मलिनी गर्भिणी लिङ्गि-न्यादिनार्या। न केवलं, नरेण च किं विशिष्टेन? शवादिना। न केवलं क्लीवेनापि नपुंसकेन। मलिनी रजस्वला। गर्भिणी गुरुभारा। शवो मृतकं श्मशाने प्रक्षिप्यागतो मृतक सूतक युक्तो वा। आदि शब्दाद्व्याधितादिः॥ ३४ ॥

इन उपर्युक्त श्लोकोंका सारांश यह है कि जो मनुष्य मृतकको श्मशान भूमिमें छोड़कर आया है अथवा जिसको मृतक सूतक है, लोक व्यवहार शुद्धिके कारण मुनि उसके हाथसे दान नहीं लेते। इससे यह तो विदित हो ही जाता है कि सूतकके कारण मनुष्यमें अपवित्रता आती है जिसके कारण वह मुनियोंको आहारदान देनेका अधिकारी नहीं रहता।

यहां पर जनमके समय भी सूतक होता है या नहीं इसका तो कथन ही नहीं है। मरण सूतकके विषयमें भी यह प्रश्न होते हैं कि किसके मरण सूतक होता है और सूतक-सम्बन्धि अपवित्रता कितने समय तक रहती है और उस अपवित्रताके कालमें कौन कौन लौकिक व धार्मिक कार्य नहीं करने चाहिये। इन विषयोंका विशद वर्णन-श्रावका-चारोंमें होना चाहिये था; क्योंकि गृहस्थिके षट् आवश्यकोंमें एक आवश्यक दान भी है परन्तु श्रावकाचार इस विषयमें मौन है। स्वयं पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृत और उसकी टीका रची परन्तु उसमें सूतकके विषयमें एक शब्द भी नहीं लिखा। यह बात विचारणीय है कि श्रावकाचारों-में सूतकके विषयमें क्यों कथन नहीं किया गया।

प्रायश्चित ग्रन्थोंमें कुछ विशेष कथन है जो इस प्रकार है :—

खत्तिय-बंभण-वइसा सुद्दा विय सूत गम्मि जायम्मि।
पण दस बारसपण्णरसेहि दिवसेहिं सुज्झंति ॥१५२॥

छाया—क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्याः शूद्रा अपि च सूतकं जाते।

पंचदश द्वादश पंचदशभिः दिवसै शुद्धयति ॥३५२॥

बालसण-सूरत्तण-जलणादिपवेस दिक्खंतेहिं ।
अणसण परदेसेसु य मुदाण खलु सूतगं णत्थि ॥३५३॥

छाया—बालत्वं शूरत्वं ज्वलनादि प्रवेश दीक्षितैः सद्भिः ।
अनशन परदेशेषु च मृतानां खलु मूतकं नास्ति ॥३५३।

प्रायश्चित्तसंग्रहे छेदपिण्डम् (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला)

लोइय सूरत्तविही जलाइपरवेस बाल-सण्णासे ।
मरिदे खणेण सोही वदसहिदे चेव सागारे ॥ ८६ ॥

छाया—लौकिक शूरत्व विधिना जलादि प्रवेश बालसंन्यासेन ।
मृते क्षणे न शुद्धि व्रतसहिते चैव सागारे ॥ ८६ ॥

अस्य अर्थः—लौकिक शौर्येण मृते, पानीये नावादि प्रविष्टेन मृते, प्रवासेन मृते, बालमरणेन मृते, संन्यासेन मृते, व्रत सहिते श्रावके मृते सूतकं नेति ॥ ८६ ॥

पण-दस-वारस णियमा पण्णरस एहि तत्थ दिवसेहिं ।
खत्तिय-बंभण-वइसा सुद्दाइ कमेण सुज्झंति ॥८७॥

पंचभिःदशभिः द्वादशभिः नियमात पंचदशभिःतत्र दिवसैः ।
क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्याः शूद्रा च क्रमेण शुद्धयन्ति ॥ ८७ ॥

प्रायश्चित्त संग्रहे छेदशास्त्रम्

जलाऽनलप्रवेशेन भृगुपाताच्छिशावपि ।
बालसंन्यासतः प्रेते सद्यः शौचं गृहिव्रते ॥१५॥

टीका—जलानलप्रवेशेन ज्वलनप्रवेशेन पानीय प्रवेशं विधाय प्रेते सति अनल प्रवेशेन अग्नि प्रवेशेन च प्रेते भृगु-पातात्—पतनात हेतुभूतात् । शिशावपि—बाले च प्रेते । बाल संन्यासतः-बाल संन्यासात् मिथ्यादृष्टि संन्यासेन च कृत्वा प्रेते—स्वजने मृते । सद्यः झटिति । शौचं—शुद्धिर्भवति-सूतकं नास्ति । गृहिव्रते श्रावके च एतस्मिन् सति तत्क्षणादेव शुद्धिर्भवति ॥ १५२ ॥

ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा दिनैः शुद्धयन्ति पंचभिः ।
दश द्वादशभिः पक्षाद्यथासंख्य प्रयोगतः ॥ १५३ ॥

टीका—ब्राह्मण विप्रा, क्षत्रियः क्षत्रियाः, विशो वैश्याः शूद्रा-आभीर कुंभकार तक्षकादयः । दिनै-दिवसैः । शुद्धयन्ति सूत्रक रहिता भवन्ति । पंचभिः (दशभिः) ब्राह्मणा । पंचभि-र्दिवसैः क्षत्रियाः शुद्धयन्ति । द्वादशभिः दिवसैः वैश्या शुद्धयन्ति । पक्षात-पंचदशभि र्दिवसैः शूद्रा संशुद्धयन्ति यथासंख्यप्रयोगतः-यथाक्रमयुक्तया ॥१५३॥ प्रायश्चित चूलिका ।

इन श्लोकोंसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि मरणका सूतक क्षत्रिको ५ दिन, ब्रह्मणको १० दिन वैश्यको १२ दिन और शूद्र को १५ दिनका होता है किन्तु जल या अग्निमें मरनेसे या पहाड़से गिरकर मरनेसे, प्रवास या परदेशमें मरनेसे, संन्यास सहित मरणसे स्वजनके मरनेका सूतक नहीं लगता । परिजन अर्थात् परिवारके मरणका सूतक तो उपर्युक्त श्लोकोंमें नहीं कहा है । अब प्रश्न यह होता है कि स्वजन शब्दमे किस किसका ग्रहण किया जावे । जन्मके सूतकका यहां पर भी कथन नहीं किया और नहीं यह कथन किया कि सूतककी अशुद्धिके कालमें मनुष्य किस किस धार्मिक और लौकिक क्रियाओंसे वंचित रहता है ।

भिन्न भिन्न नगरोंमें, सूतकके विषयमें, पृथक् पृथक् रूढी हैं ।

यदि इस विषयमें कोई एक निर्णय हो जावे तो सूतक रूढी न रहकर श्रावकधर्ममें गर्भित हो जावे । आशा है कि विद्वान इस विषय पर सप्रमाण विशेष विचारनेकी कृपा करेंगे ।

दक्षिण भारतमें जैनधर्मको राजाश्रय और उसका अभ्युदय

(श्री टी० एन० रामचन्द्रन एम० ए०)

दक्षिण भारतमें जैनधर्मका स्वर्णयुग साधारणतया और कर्नाटकमें विशेषतया गंगवंशके शासकोंके समयमें था, जिन्होंने जैनधर्मको राष्ट्र-धर्मके रूपमे अंगीकार किया था। महान् जैनाचार्य सिंहनन्दी गंगराष्ट्रकी नीव डालनेके ही निमित्त न थे, बल्कि गंगराष्ट्रके प्रथम नरेश कोंगुणिवर्मनके परामर्शदाता भी थे। माधव (द्वितीय) ने दिगम्बर जैनोंको दानपत्र दिये। इनका राज्यकाल ईसाके ४४०-४६५ रहा है। दुर्विनीतको वन्दनीय पूज्यपादाचार्यके चरणोंमें बैठनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। इनका राज्यकाल ई. ६०५ से ६५० रहा है। ई. ६५० में दुर्विनीतके पुत्र मुशकाराने जैन-धर्मको राष्ट्र-धर्म घोषित किया। बादके गंग-शासक जैनधर्मके कट्टर संरक्षक रहे हैं। गंगनरेश मारसिंह (तृतीय) के समयमें उनके सेनापति चामुण्डरायने श्रवणबलगोलमें बिन्ध्यगिरि पर्वत पर गोम्मटेश्वरकी विशाल मूर्तिका निर्माण कराया। जो कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवकी रानी सुनंदाके पुत्र बाहुबलीकी मूर्ति है। मारसिंहका राज्यकाल ईसा से ६६१-६७४ रहा है। जैनधर्ममें जो अपूर्व त्याग कहा जाता है, मारसिंहने उस सल्लेखना द्वारा देहोत्सर्ग करके अपने जीवनको अमर किया। राजमल्ल (प्रथम) ने मद्रास राज्यान्तर्गत उत्तरी आरकोट जिलेमें जैन गुफाएं बनवाईं। इनका राज्यकाल ई. ८१७-८२८ रहा है। इनका पुत्र नीतिमार्ग एक अच्छा जैन था।

बाहुबलीके त्याग और गहन तपश्चर्याकी कथाको गुणग्राही जैनोंने बड़ा महत्व दिया है और एक महान् प्रस्तर खंडकी विशाल मूर्ति बनाकर उनके सिद्धांतोंका प्रचार किया है, जो इस बातका द्योतक है कि बाहुबलीकी उक्त मूर्ति त्याग, भक्ति, अहिंसा और परम आनन्दकी प्रतीक है। उस मूर्तिकी अग्रभूमि काल, अन्तर, भक्ति और नित्यता की उद्बोधक है। यद्यपि दक्षिण भारतमें कारकल और वेणूरमें भी बहुबलीकी विशाल मूर्तियां एक ही पाषाणमें उत्कीर्ण की हुई हैं, तथापि श्रवणबलगोल की यह मूर्ति सबसे अधिक आकर्षक होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ है। बाहुबलीकी मूर्तिका इतिवृत्त हमें दक्षिणभारतके जैनधर्मके रोचक इतिहासकी ओर ले जाता है। श्रवणबेल्गोलमें उत्कीर्ण शिलालेखोंके आधार पर इस बातका पता लगता है कि मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु १२००० जैन श्रमणोंका संघ लेकर उत्तरापथसे दक्षिणापथको गये थे। उसके साथ चन्द्रगुप्त भी थे। प्रोफेसर जेकोबीका अनुमान है कि यह देशाटन ईसासे २९७ वर्षसे कुछ पूर्व हुआ था। भद्रबाहुने अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचनेसे पूर्वही मार्गमें चन्द्रगिरि पर्वत पर समाधिमरणपूर्वक देहका विसर्जन किया। इस देशाटनकी महत्ता इस बातकी सूचक है कि दक्षिण भारतमें जैनधर्मका प्रारम्भ इसी समयसे हुआ है। इसी देशाटनके समयसे जैन श्रमण संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर दो भागोंमें विभक्त हुआ है। भद्रबाहुके संघ गमनको देखकर कालिकाचार्य और विशाखाचार्यके संघने भी उन्हींका अनुसरण किया। विशाखाचार्य दिगम्बर सम्प्रदायके महान् आचार्य थे जो दक्षिण भारतके चोल और पाण्ड्य देशमें गये। महान्आर्य कुन्दकुन्दके समयमें तामिलदेशमें जैनधर्मकी ख्यातिमें और भी वृद्धि हुई। कुन्दकुन्दाचार्य द्राविड़ थे और स्पष्टतया दक्षिण भारतके जैनाचार्योंमें प्रथम थे। कांचीपुर और मदुराके राजदरबार तामिलदेशमें जैनधर्मके प्रचारमें विशेष सहायक थे। जब चीनी यात्री युवान चुवांग ईसाकी ७वीं शताब्दीमें इन दोनों नगरोंमें गया तो उसने कांचीमें अधिकतर दिगम्बर जैनमन्दिर और मदुरामें दिगम्बरजैन धर्मावलम्बी पाये।

इतिहासज्ञ इस बातको स्वीकार करते हैं कि ईसासे ११वीं शताब्दी तक दक्षिण भारतमें सबसे अधिक शक्तिशाली, आकर्षक और स्वीकार्य धर्म था। उसी समय वैष्णव आचार्य रामानुजने विष्णुवर्द्धनको जैनधर्मका परित्याग कराकर वैष्णव बनाया था।

कांचीपुरके एक पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मन (प्रथम) राज्यकाल ६०० से ६३० ई., पांड्य, पश्चिमी चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट, कालचूरी और होय्सल वंशके बहुतसे राजा जैन थे। महेन्द्रवर्मनके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि वह पहले जैन थे, किन्तु धर्मसेन मुनि जब जैनधर्मको त्याग

कर शैव हो गए तो उनके साथ महेन्द्रवर्मन भी शैव हो गया। शैव होने पर धर्मसेनने अपना नाम अप्पड़ रखा।

आठवीं शताब्दीका एक पांड्य नरेश नदुमारन अपर-नाम कुणपांड्य जैनधर्मावलम्बी था और तामिल भाषाके शैव ग्रन्थोंके अनुसार शैवाचार्य सम्बन्धने उससे जैन धर्म छुड़वाया।

कर्नाटकमें बनवासीके कदम्ब शासकोंमें काकुस्थवर्मन (४३० से ४५० ई.) मृगेश वर्मन (४७५ से ४६० ई.) रविवर्मन (४६७ से ५३७) और हरिवर्मन (५३७ से ५४७) यद्यपि हिन्दू थे तथापि उनकी बहुत-सी प्रजाके जैन होनेके कारण वे भी यथाक्रम जैनधर्मके अनुकूल थे। काकुस्थवर्मनने अपने एक लेखके अन्तमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको नमस्कार किया है। उसके पोते मृगेशवर्माने वैजयन्तिमें अर्हंतोंके अर्थ बहुतसी भूमि प्रदान की। अन्य और समयमें कालवंग ग्रामको तीन भागोंमें विभक्त किया। पहला भाग उसने जिनेन्द्र भगवानको अर्पण किया, दूसरा भाग श्वेतपथवालों और तीसरा भाग निर्ग्रन्थोंको। पला-सिका (हालसी) में रविवर्माने एक ग्राम इसलिए दानमें दिया कि उनकी आमदनीसे हर वर्ष जिनेन्द्र भगवानका उत्सव मनाया जाय। हरिवर्माने भी जैनियोंको बहुत दान-पत्र दिये हैं।

पश्चिमी चालुक्य वंशके शासक जैनधर्मकी संरक्षकता-के लिए प्रख्यात थे। महाराज जयसिंह (प्रथम) ने दिगम्बर जैनाचार्य गुणचन्द्र, वासुचन्द्र और वादिराजको अपनाया। पुलकेशी (प्रथम) ५५२ ई० और उसके पुत्र कीर्तिवर्मा (प्रथम) राज्यकाल (५६६ से ६७) ई० ने जैनमन्दिरोंको कई दानपत्र दिये। कीर्तिवर्माका पुत्र पुलकेशी (द्वितीय) राज्यकाल (६०९ से ६४२) ई० प्रख्यात जैन कवि रविकीर्ति-का उपासक था, जिन्होंने एहोल नामक ग्रन्थ रचा। इसमें रविकीर्तिको कविताचातुर्यके लिए कालिदास और भैरविसे उपमा दी। एहोल ग्रन्थके कथनानुसार रविकीर्तिने जिनेन्द्र भगवान्‌का एक पाषाणका मन्दिर भी बनवाया। रविकीर्ति-को सत्याश्रय (पुलकेशी) का बहुत संरक्षण था और सत्याश्रयके राज्यकी सीमा तीन समुद्रों तक थी। पूज्य-पादके शिष्य निरवद्य पंडित (उदयदेव) जयसिंह (द्वितीय) के राज्यगुरु थे और विनयादित्य (६८० से ६९७ ई०) और उनके पुत्र विजयादित्य (६९६ से ७३३ ई०) ने निरवद्य पंडितको जैन-मन्दिरकी रक्षाके लिए एक ग्राम दिया। उसके पुत्र विक्रमादित्य (द्वितीय) ने राज्यकाल (७३३ से ७४७) ई० एक जैन मन्दिरकी भली प्रकार मरम्मत कराई और एक दूसरे जैन साधु विजय पंडितको इस मन्दिरकी रक्षाके लिए कुछ दान दिया। किन्तु वास्तवमें जैनधर्मका स्वर्णयुग गंग-राष्ट्रके शासकोंके समयमें था और यह पहले ही बताया जा चुका है कि श्रवणबेल्गोलमें मारसिंह (तृतीय) के सेनापति चामुण्डरायने बाहुबली-की अविनश्वर मूर्ति बनवाई। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि गंगराष्ट्रके शासक कट्टर जैन थे।

राष्ट्रकूट वंशके शासक भी जैनधर्मके महान संरक्षक रहे हैं। गोविन्द (तृतीय) राज्यकाल (७६८ से ८१५) ई० महान जैनाचार्य अरिकीर्तिका संरक्षक था। उसके पुत्र अमोघवर्ष (प्रथम) राज्यकाल ८१४ से ८७८ ई० को जिनसेनाचार्यके चरणोंमें बैठनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आचार्य जिनसेन गुणभद्रके गुरु थे। इन्होंने सन् (७८३-८४) में गोविन्द (तृतीय) के समयमें आदिपुराणके प्रथम भागकी रचनाकी और उसका उत्तरार्द्ध गुणभद्राचार्यने सन् ८९७ में अमोघवर्षके उत्तराधिकारी कृष्ण (द्वितीय) के राज्यकाल ८८० से ९१२ में पूर्ण किया। अमोघवर्ष प्रथमके समयमें राष्ट्रकूटकी राजधानीमें 'हरिवंश पुराण' 'आदिपुराण' और 'उत्तर पुराण' अकलंकचरित, जय-धवला टीका आदि ग्रन्थोंकी रचना हुई है। जयधवला-टीका दिगम्बर जैन सिद्धान्तका एक महान् ग्रन्थ है। यहीं पर वीराचार्यने गणित-शास्त्रका 'सार-संग्रह' नामका एक ग्रन्थ रचा। अमोघवर्षने स्वयं नीतिशास्त्र पर एक 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' बनाई। संक्षेपमें अमोघवर्ष प्रथमके समयमें यह कहा जाता है कि उसने दिगम्बर जैनधर्म स्वीकार किया था और वह अपने समयमें दिगम्बर जैनधर्मका सर्वश्रेष्ठ संरक्षक था। कृष्ण (द्वितीय) के राज्यकालमें उसकी प्रजा और सरदारोंने या तो स्वयं मन्दिर बनवाये, या बने हुए मन्दिरोंको दान दिया। शक संवत् ८२० में गुणभद्राचार्यके शिष्य लोकसेनने महापुराणकी पूजा की।

यद्यपि कल्याणीके चालुक्य जैन नहीं थे तथापि हमारे पास सोमेश्वर (प्रथम) (१०४२ से १०६८ ई०) का उत्तम उदाहरण है, जिन्होंने श्रवणबेल्गोलके शिलालेखानुसार एक जैनाचार्यको 'शब्द चतुर्मुख' की उपाधिसे विभूषित

किया था। इस शिलालेखमें सोमेश्वरको 'आहवमल्ल' कहा है।

तामिल देशके चोल राजाओंके सम्बन्धमें यह धारणा निराधार है कि जिन्होंने जैनधर्मका विरोध किया। जिन कांचीके शिलालेखोंसे यह बात भली प्रकार विदित होती है कि उन्होंने आचार्य चन्द्रकीर्ति और अनवर्स्यवीर्यवमन-की रचनाओंकी प्रशंसा की। चोल राजाओं द्वारा जिन-कांचीके मन्दिरोंको पर्याप्त सहायता मिलती रही है।

कलचूरि वंशके संस्थापक त्रिभुवनमल्ल विज्जल राज्य-काल (११५६ से ११६७ ई०) के तमाम दान-पत्रोंमें एक जैनतीर्थंकरका चित्र अंकित था। वह स्वयं जैन था। अनन्तर वह अपने मन्त्री वासवके दुष्प्रयत्नसे मारा गया; क्योंकि उसने वासवके कहनेसे जैनियों को सन्ताप देनेसे इन्कार कर दिया था। वासव लिंगायत सम्प्रदायका संस्था-पक था।

मैसूरके होयसल शासक जैन रहे हैं। विनयादित्य (द्वितीय राज्यकाल (१०४७ से ११०० ई०) तक इस वंशका ऐतिहासिक व्यक्ति रहा है। जैनाचार्य शांतिदेव-ने उसकी बहुत सहायता की थी। विष्णुवर्द्धनकी रानी शान्तलादेवी जैनाचार्य प्रभाचन्द्रकी शिष्या थी और विष्णुवर्द्धनके मन्त्री गंगराज और हुलाने जैनधर्मका बहुत प्रचार किया। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पहलेके होय्यसल नरेश जैन थे। विष्णुवर्द्धन अपरनाम 'बिट्टी' रामानुजाचार्यके प्रभावमें आकर वैष्णव हो गये। बिट्टी वैष्णव होनेसे पहले कट्टर जैन था और वैष्णव शास्त्रोंमें उसका वैष्णव हो जाना एक आश्चर्यजनक घटना कही जाती है। इस कहावत पर विश्वास नहीं किया जाता कि उसने रामानुजकी आज्ञासे जैनोंको सन्ताप दिया; क्योंकि उसकी रानी शान्तलादेवी जैन रही और विष्णुवर्द्धनकी अनुमतिसे जैनमन्दिरोंको दान देती रही। विष्णुवर्द्धनके मन्त्री गंग-राजकी सेवायें जैनधर्मके लिए प्रख्यात हैं विष्णुवर्द्धनने वैष्णव हो जानेके पश्चात् स्वयं जैनमन्दिरोंको दान दिया, उनकी मरम्मत कराई और उनकी मूर्तियों और पुजारियों-की रक्षा की। विष्णुवर्द्धनके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि उस समय प्रजाको धर्मसेवनकी स्वतन्त्रता थी।

विष्णुवर्द्धनके उत्तराधिकारी यद्यपि वैष्णव थे तो भी उन्होंने जैनमन्दिर बनवाये और जैनाचार्योंकी रक्षा की। उदाहरणके तौर पर नरसिंह (प्रथम) राज्यकाल (११४३ से ११७३) वीरवल्लभ (द्वितीय) राज्यकाल (११७३ से १२२०) और नरसिंह (तृतीय) राज्यकाल (१२५४ से १२९१) के नाम उल्लेखनीय हैं।

विजयनगरके राजाओंकी जैनधर्मके प्रति भारी सहि-ष्णुता रही है। अतः वे भी जैनधर्मके संरक्षक थे। बुक्का (प्रथम) राज्यकाल (१३५७ से १७७८) ने अपने समयमें जैनों और वैष्णवोंका समझौता कराया। इससे यह सिद्ध है कि विजयनगरके राजाओंकी जैनधर्म पर अनुकम्पा रही है। देवराय प्रथमकी रानी बिम्मादेवी जैनाचार्य अभिनव-चारुकीर्ति पंडिताचार्यकी शिष्या रही है और उसीने श्रवणबेल्गोलमें शांतिनाथकी मूर्ति स्थापित कराई।

बुक्का (द्वितीय) राज्यकाल (१३८५ से १४०६) के सेना-पति इरुगुप्पाने एक सांचीके शिलालेखानुसार सन् १३८५ ईस्वीमें जिन कांचीमें १७ वें तीर्थंकर भगवान् कुन्थनाथका मन्दिर और संगीतालय बनवाया। इसी मन्दिरके दूसरे शिलालेखके अनुसार विजयनगरके नरेश कृष्णदेवराय सन् (१५१० से १५२९) की जैनधर्मके प्रति सहिष्णुता रही और उसने जैन मन्दिरोंको दान दिया। विजयनगरके रामराय तक सभी शासकोंने जैन मन्दिरोंको दान दिये और उनकी जैनधर्मके प्रति आस्था रही।

विजयनगरके शासकोंका और उनके अधीन सरदारोंका और मैसूर राज्यका आजतक जैनधर्मके प्रति यही दृष्टि-कोण रहा है। कारकलके शासक गेरसोप्पा और भैरव भी जैनधर्मानुयायी थे और उन्होंने भी जैन-कलाको प्रदर्शित करने वाले अनेक कार्य किये।

अब प्रश्न यह है कि जैनधर्मकी देशना क्या है? अथवा श्रवणबेल्गोल और अन्य स्थानोंकी बाहुबलीकी विशाल मूर्तियों एवं अन्य चौबीस तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ संसारको क्या सन्देश देती हैं?

जिन शब्दका अर्थ विकारोंको जीतना है। जैनधर्म-के प्रवर्त्तकोंने मनुष्यको सम्यक् श्रद्धा, सम्यक्बोध, सम्यक्-ज्ञान और निर्दोष चरित्रके द्वारा परमात्मा बननेका आदर्श उपस्थित किया है। जैनधर्मका ईश्वरमें पूर्ण विश्वास है और जैनधर्मके अनुष्ठान द्वारा अनेक जीव परमात्मा बने हैं। जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके धर्म-का २५०० वर्षोंका एक लम्बा इतिहास है। यह धर्म

भारतमें एक कोनेसे दूसरे कोने तक रहा है। आज भी गुजरात, मथुरा, राजस्थान, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण, मैसूर और दक्षिण भारत इसके प्रचारके केन्द्र हैं। इस धर्मके साधु और विद्वानोंने इस धर्मको समुज्ज्वल किया और जैन व्यापारियोंने भारतमें सर्वत्र सहस्रों मन्दिर बनवाये, जो आज भारतकी धार्मिक पुरातत्त्वकलाकी अनुपम शोभा हैं।

भगवान् महावीर और उनसे पूर्वके तीर्थंकरोंने बुद्धकी तरह बताया कि मोक्षका मार्ग कोरे क्रियाकाण्डमें नहीं है, बल्कि वह प्रेम और विवेक पर निर्धारित है। महावीर और बुद्धका अवतार एक ऐसे समयमें हुआ है जब भारतमें भारी राजनैतिक उथल-पुथल हो रही थी। महावीरने एक ऐसी साधु-संस्थाका निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर निर्धारित थी। उनका 'अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धान्त सारे संसारमें २५०० वर्षों तक अग्निकी तरह व्याप्त हो गया। अन्तमें इसने नवभारतके पिता महात्मा-गांधीको अपनी ओर आकर्षित किया। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कि अहिंसाके सिद्धांत पर ही महात्मा गांधीने नवीन भारतका निर्माण किया है।❀

❀ इस लेखके लेखक पुरातत्त्वविभाग दिल्लीके डिप्टी-डाइरेक्टर जनरल हैं। उनके हालमें १५ जनवरी १९५३ को लिखे गये एक अंग्रेजी भूमिका-लेख (Preface) परसे अनुवादित।

—राजकृष्ण जैन

वीरसेवामन्दिरका संक्षिप्त परिचय

'वीरसेवामन्दि' जैन-साहित्य इतिहास और तत्त्वविषयक शोध-खोजके लिए सुप्रसिद्ध जैन-समाजकी एक खास अन्वेषिका संस्था (रिसर्च इन्स्टिट्यूट) है, जिसका प्रधान लक्ष्य लोक-सेवा है।

संस्थाकी स्थापना और ट्रस्टकी योजना

लोक-सेवाके अनेक सदुद्देश्योंको लेकर स्थापित इस संस्थाका संस्थापक हूं इन पंक्तियोंका लेखक जुगलकिशोर मुख्तार (युगवीर), जिसने अपनी जन्मभूमि सरसावा (जिला सहारनपुर) में ग्रॉंड ट्रंक रोड पर, निजी खर्चसे विशाल बिल्डिंगका निर्माण कराकर उसमें वैशाख सुदि तीज (अक्षयतृतीया) सम्वत् १९९३ ता० २४ अप्रैल सन् १९३६ को इस संस्थाकी स्थापना की थी। संस्थाके उद्घाटनकी रस्म बड़े उत्सवके साथ श्रीवीर भगवान्की रथयात्रा निकालकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी के द्वारा सम्पन्न हुई थी और वीरसेवामन्दिरकी बिल्डिग पर पहला झंडा बाबू सुमेरचन्द्रजी जैन एडवोकेट सहारनपुरने लहराया था, जिनके विशेष परामर्शसे संस्थाकी अन्यत्र स्थापना न करके उसे सरसावामें ही स्थापित किया गया था। संस्थाके इस जन्मके पीछे संस्थापकका लोकहितकी दृष्टिको लेकर वर्षोंका गहरा अनुचिन्तन एवं सेवाभाव लगा हुआ है।

उद्घाटनकी रस्मके बादसे इस आश्रममें पब्लिक लायब्रेरी, कन्याविद्यालय, धर्मार्थ औषधालय, अनुसन्धान (Research), अनुवाद, सम्पादन, प्राची-ग्रंथसंग्रह, ग्रंथनिर्माण, ग्रंथप्रकाशन और 'अनेकान्त' पत्रका प्रकाशनादि जैसे लोक-सेवाके काम होते आये हैं—कन्याविद्यालय और औषधालयको छोड़कर शेष कार्य इस वक्त भी बराबर हो रहे हैं। अनेक विद्वान् एवं पंडित तथा दूसरे सज्जन इसके कामोंमें लगे हैं और संस्थापकतो, ७५ वर्षकी इस वृद्धावस्थामें भी, बिना किसीकी प्रेरणाके दिन-रात सेवाकार्य किया करता है।

संस्थापकने सन् १९४२ में अपना 'वसीयतनामा' लिखकर उसकी रजिस्टरी करा दी थी, जिसमें अपने द्वारा संस्थापित 'वीरसेवामन्दिर' के लिये ट्रस्टकी भी एक योजना की गई थी। यह योजना उसके देहावसानके बाद ही कार्यमें परिणत होती। परन्तु उसने उचित समझकर अब अपने जीवनमें ही 'वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट' की स्थापना करके उसे पब्लिक ट्रस्टका रूप दे दिया है। ट्रस्टकी रजिस्टरी ता० २ मई सन् १९५१ को करा दी है और अपनी सम्पत्ति ट्रस्टियोंके सुपुर्द कर दी है। उसके ट्रस्टनामा (Deed of Trust) की, जिसे उसने स्वयं अपने हाथसे हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपिमें लिखा है, पूरी

नकल 'अनेकान्त' वर्ष ११ के "सर्वोदय-तीर्थाङ्क" नामक विशेषांकमें प्रकाशित हो चुकी है।

वीरसेवामन्दिर ट्रस्टके वर्तमान ट्रस्टियों एवं पदाधिकारियोंके नाम इस प्रकार हैं:—

१. बाबू छोटेलालजी कलकत्ता (प्रधान), २. बाबू जयभगवानजी एडवोकेट पानीपत (मंत्री), ३. ला० कपूरचन्दजी कानपुर (कोषाध्यक्ष), ४. जुगलकिशोर मुख्तार सरसावा (अधिष्ठाता), ५. ला० राजकृष्णजी जैन देहली (व्यवस्थापक), ६. ला० जुगलकिशोरजी कागजी देहली, ७. ला० जिनेन्द्रकिशोरजी जौहरी देहली, ८. सेठ छदामीलालजी फीरोजाबाद, ९. बाबू नेमचन्दजी वकील सहारनपुर, १० डा० श्रीचन्द्रजी संगल एटा, ११. श्री० जयवंती जी नानौता, १२. ला० नत्थूमलजी बरनावा।

वीरसेवामन्दिरके उद्देश्य और ध्येय

ट्रस्टके अनुसार वीरसेवामन्दिरके उद्देश्य और ध्येय (Aims and Objects) निम्न प्रकार हैं, जो सब जैनधर्म और तदाम्नायकी उन्नति एवं पुष्टिके द्वारा लोककी सच्ची सेवाके निमित्त निर्धारित किये गये हैं—

(क) जैन संस्कृति और उसके साहित्य तथा इतिहाससे सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न ग्रन्थों, शिला-लेखों, प्रशस्तियों, उल्लेख-वाक्यों, सिक्कों, मूर्तियों, स्थापत्य व चित्रकलाके नमूनों आदि सामग्रीका लायब्रेरी व म्यूजियम (Library and Museum) आदिके रूपमें अच्छा संग्रह करना और दूसरे ग्रन्थोंकी भी ऐसी लायब्रेरी प्रस्तुत करना जो धर्मादि-विषयक खोजके कामोंमें अच्छी मदद दे सके।

(ख) उक्त सामग्री परसे अनुसंधान-कार्य चलाना और उसके द्वारा लुप्तप्राय प्राचीन जैन साहित्य, इतिहास व तत्त्वज्ञानका पता लगाना और जैनसंस्कृतिको उसके असली तथा मूलरूपमें खोज निकालना।

(ग) अनुसंधान व खोजके आधार पर नये मौलिक साहित्यका निर्माण कराना और लोक-हितकी दृष्टिसे उसे प्रकाशित कराना; जैसे जैन-संस्कृतिका इतिहास, जैनधर्मका इतिहास, जैन-साहित्यका इतिहास, भगवान् महावीरका इतिहास, प्रधान-प्रधान जैनाचार्योंका इतिहास, जातिगोत्रोंका इतिहास, ऐतिहासिक जैनव्यक्तिकोष, जैनलक्षणावली, जैन-पारिभाषिक-शब्दकोष, जैनग्रन्थोंकी सूची, जैन-मन्दिर-मूर्तियोंकी सूची और किसी तत्त्वका नई शैलीसे विवेचन या रहस्यादि तैयार कराकर प्रकाशित करना।

(घ) उपयोगी प्राचीन जैनग्रन्थों तथा महत्वके नवीन ग्रन्थों एवं लेखोंका भी विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं में नई शैलीसे अनुवाद तथा सम्पादन कराकर अथवा मूल रूपमें ही प्रकाशन करना। प्रशस्तियों और शिला-लेखों आदिके संग्रहभी पृथक रूपसे सानुवाद तथा विना अनुवाद के ही प्रकाशित करना।

(ङ) जैन-संस्कृतिके प्रचार और पब्लिकके आचार-विचारको ऊंचा उठानेके लिये योग्य व्यवस्था करना। वर्तमानमें प्रकाशित 'अनेकान्त' पत्रको चालू रखकर उसे और उन्नत तथा लोकप्रिय बनाना। साथ ही, सार्वजनिक उपयोगके पैम्फलेट व ट्रैक्ट (लघु-पत्र-पुस्तिकाएं) प्रकाशित करना और प्रचारक घुमाना।

(च) जैन-साहित्य, इतिहास और संस्कृतिकी सेवा तथा तत्सम्बन्धी अनुसंधान व नई पद्धतिसे ग्रन्थनिर्माणके कामोंमें दिलचस्पी पैदा करने और यथावश्यकता शिक्षण (ट्रेनिंग) दिलानेके लिये योग्य विद्वानोंको स्कालर्शिप (वृत्तियां-वज़ीफे) देना।

(छ) योग्य विद्वानोंको उनकी साहित्यिक सेवाओं तथा इतिहासादि-विषयक विशिष्ट खोजोंके लिये पुरस्कार या उपहार देना। और जो सज्जन निःस्वार्थभावसे अपनेको जैनधर्म तथा समाजकी सेवाके लिये अर्पण कर देवें उनके भोजनादि-खर्चमें सहायता पहुँचाना।

(ज) 'कर्मयोगी जैनमण्डल' अथवा 'वीर समन्तभद्र-गुरुकुल' की स्थापना करके उसे चलाना।

वीरसेवामन्दिरके अबतकके कार्य

अपने इस बाल्यकालमें वीरसेवामन्दिरने कितने सेवाकार्य किये, कितने साहित्यकी सृष्टि की, कितनी विचार-जागृति उत्पन्न की, कितनी नई खोजें साहित्यादि-विषयोंकी सामने रक्खीं और कितनी उलझनें सुलझाईं, इन सबका विस्तृत अथवा पूर्ण परिचय तो किसी बड़ी रिपोर्टका विषय है। यहां संक्षेपमें उन लोगोंकी जानकारीके लिये कुछ थोड़ासा परिचय दिया जाता है जो वीरसेवामन्दिर

तथा उसके कार्योंके सम्पर्कमें नहीं रहे अथवा कम सम्पर्कमें रहे हैं, जिससे उन्हें भी मोटे रूपमें इस संस्थाकी सेवाओं-का कुछ आभास मिल सकेः—

(१) संस्थाकी स्थापनाके अनन्तर संस्थापक (जुगलकिशोर मुख्तार) की लायब्रेरीको मन्दिरमें इस तरहसे व्यवस्थित करनेके बाद कि जिससे वह भले प्रकार पब्लिकके उपयोगमें लाई जासके, पहला काम जो वीरसेवा-मन्दिरने किया वह 'वीर-शासन-जयन्ती' जैसे पावन पर्वका उद्धार है; जिसकी स्मृति तकको जनता बहुत कालसे भुलाये हुए थी। धवलादि ग्रन्थोंके प्राचीन उल्लेखोंपरसे इस पर्वका पता लगाकर सर्वप्रथम वीरसेवामन्दिरमें इसके उत्सवका सूत्रपात किया गया और ता० ५ जुलाई सन् १९३६ को यह उत्सव न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द्रजीके सभापतित्वमें आनन्दके साथ मनाया गया। इसके उपलक्षमें उसी दिन मन्दिरकी लायब्रेरीको भी पब्लिकके लिये खोल दिया गया। श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाकी इस पुण्यतिथि-सम्बन्धी खोजोंको लिये हुए कितना ही साहित्य पत्रोंमें प्रकाशित किया गया। और यह हर्षका विषय है कि इस खोजका सर्वत्र अभिनन्दन हुआ है और यह पर्व बराबर विद्वज्जन-मान्य होता चला गया है। वीरसेवा-मन्दिरके अतिरिक्त सैकड़ों स्थानोंपर यह, अब खुशीसे मनाया जाता है। सम्वत् २००१ (सन् १९४४) में बा० छोटेलालजी कलकत्ताके सभापतित्वमें पास हुए वीरसेवा-मन्दिरके एक प्रस्तावके अनुसार इस उत्सवका एक विशाल आयोजन सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सवके रूपमें राजगृहके उसी विपुलाचल स्थान पर किया गया था जहाँसे वीर-शासनकी सर्वोदय तीर्थ-धारा प्रवाहित हुई थी और वहाँ यह सर्व तीर्थ-प्रवर्तनके ठीक समयपर मनाया गया था। अन्तको इस महोत्सवकी परिसमाप्ति कलकत्ताके कार्तिकी उत्सव पर हुई थी, जहाँ दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सारे ही जैन समाजने इसे भारी उत्साहके साथ मनाया था। वीरके शासनतीर्थको प्रवर्तित हुए ढाई हज़ार वर्ष हो जानेके उपलक्षमें विपुलाचलपर, उत्सवके समय, एक कीर्त्ति-स्तम्भ कायम करनेकी भी बुनियाद रखी गई थी। बा. छोटेलाल जी की अस्वस्थताके कारण वह कीर्ति-स्तम्भ अभी तक बन नहीं पाया है।

(२) लायब्रेरीको शोधखोज (रिसर्च) के कामोंके लिये सुव्यवस्थित करनेका काम बराबर चालू रहा। इस वक्त तक संस्थापककी उक्त विशाल लायब्रेरीमें करीब तीन-चार हजार रुपयेके नये उपयोगी ग्रन्थोंकी वृद्धि हुई है। हस्तलिखित ग्रन्थोंकी बात इससे अलग है। कितने ही ग्रन्थ संस्थामें निजके उपयोगके लिये लिखाये गये अथवा संस्थाके विद्वानोंने उन्हें स्वयं लिखा; जैसे लोक-विभाग संस्कृत, प्राकृत पंचसंग्रह और उसकी प्राकृत चूर्णि, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कर्मप्रकृति संस्कृत, क्रियासार प्राकृत, आत्मसंबोध, छन्दोविद्या, तत्त्वार्थाधिगम-टिप्पण, स्याद्वादसिद्धि, आयसद्भाव, अनेकार्थ-नाममाला, सीतासतु वृत्तसार प्रा०, अध्यात्मतरंगिणीटीका विषापहार तथा एकीभावकी सं० टीकाएं, सिद्धिप्रियस्तोत्र-टीका, पंचबालयति-पाठ, विभिन्न स्तोत्र आदि। और पचासों हस्तलिखित ग्रन्थ खरीदे गये जिनमेंसे कुछ प्रमुख ग्रन्थोंके नाम हैं:—धवला टीका, न्यायविनिश्चय-विवरण, तत्त्वार्थराजवार्तिक, श्रुतसागरी, सिद्धचक्रपाठ, जैनेन्द्रमहावृत्ति, न्यायदीपिका, स्वयम्भूस्तोत्र-टीका, प्रद्युम्नचरित्र, भविष्यदत्तचरित्र श्वे) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, षडावश्यकसूत्रकी बाल बोधटीका, पार्श्वनाथचरित्र (भावदेव), उपासकदशा, जम्बूचरित्र प्रा०, विपाकसूत्र, भक्तामरस्तोत्र-टीका, दशवैकालिकयोग-शास्त्र, योगचिन्तामणि, पिंगलशास्त्र (कुंवर भवानीदास) ताजिकसार, ताजिकभूषण, हरिवंशपुराण-पद्यानुवाद (शालिवाहन) धर्मपरीक्षा आदि। इनमें धवलाटीकाकी वह आद्यप्रति पं सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई है जिसके आधार पर दूसरी अनेक प्रतियां होकर जगह-जगह पहुँची हैं। कितने ही हस्तलिखित ग्रन्थ संस्थापकने वैसे ही बिना मूल्य प्राप्त किये हैं जिनकी सूची इस समय सामने नहीं है। वीरसेवा-मन्दिरकी इस ग्रन्थराशिसे बहुतोंने लाभ उठाया है और अनेक ग्रन्थ बाहर भी गये हैं।

(३) सरसावा नगरमें वर्षोंसे कन्याओंकी शिक्षाका कोई साधन न होनेके कारण शिक्षाकी भारी आवश्यकता-को महसूस करते हुए १६ जुलाई सन् १९३६ से इस सेवामन्दिरमें एक कन्याविद्यालय जारी किया गया, जिसमें जैन-अजैन कन्याओंकी संख्या ५० के लगभग पहुँच गई और परीक्षा फल हर साल इतना उत्तम रहा कि अन्तको पंजाबकी 'हिन्दी रत्न' की परीक्षामें जब तीन छात्रायें बैठीं तो वे तीनों ही उत्तीर्ण हो गईं। इस विद्यालयने स्त्रियोंमें भी ज्ञान-पिपासाको जागृत किया, उनके लिये कुछ समय तक एक जुदी कक्षा खोलनी पड़ी और साथ ही सेवामंदिर-

में उनकी एक साप्ताहिक सभा भी कायम हो गई, जिसमें स्त्रियां और कन्याएँ भाषण देतीं तथा भाषण देनेका अभ्यास करती थीं। चार साल तक यह विद्यालय बदस्तूर जारी रहा। बादको आर्थिक सहयोग न मिलनेके कारण इसे एक साल तक बन्द रखना पड़ा और अब यह स्थानीय जनताके आधीन हुआ उसके तथा सरकारके सहयोग पर चल रहा है।

(४) वीरसेवामंदिरके सेवाकार्यको साधारणसे साधारण जनता तक पहुँचानेके लिये जुलाई सन् १९३७ में एक धर्मार्थ औषधालय खोला गया और उसके लिये वयोवृद्ध हकीम उल्फतराय जी जैन रुड़कीकी ऑनरेरी सेवाएं प्राप्त की गई। हकीमजीके अनुभवों तथा प्रेममय व्यवहारके कारण थोड़े ही दिनोंमें औषधालयकी अच्छी ख्याति हो गई और स्थानीय तथा देहाती जनताने उससे खूब लाभ उठाया। दुर्भाग्यसे हकीमजीका देहावसान श्री सम्मेद-शिखरजीकी दूसरी यात्रा करते हुए हो गया। उनके स्थान पर एक आयुर्वेदाचार्यकी योजनाकी गई; परन्तु वह बात प्राप्त न हुई। इधर कुछ आर्थिक संकट भी उपस्थित होता हुआ नजर आया, इसलिये औषधालयको दो वर्षके करीब चलाकर बन्द ही कर देना पड़ा।

(५) वीरसेवामन्दिरका प्रधान लक्ष्य शुरूसे ही अनुसन्धान, निर्माण, अनुवाद, सम्पादन और प्रकाशन जैसे ठोस कार्योंकी ओर रहा है। इस दिशामें अथवा इन पांचों विभागोंमें जो काम अब तक हो पाया है उसका दिग्दर्शन आगे विभाग-क्रमसे कराया जाता है।

अनुसन्धान-कार्य

(६) वीरसेवामन्दिरका अनुसन्धान-कार्य प्रायः (क) साहित्यिक, (ख) ऐतिहासिक और (ग) तात्त्विक ऐसे तीन भागोंमें विभक्त रहा है। इन सभी अनुसन्धान योग्य विषयोंके लिये वीरसेवामन्दिरकी अधिकांश ग्रन्थराशिके अतिरिक्त दिल्ली, जयपुर, आमेर, अजमेर, नागौर, कानपुर, सहारनपुर, एटा, इटावा, आरा, कांधला, कैराना, हांसी, हिसार, रोहतक, फरुखनगर, शाहगढ़, सागर और कौडियागंज आदिके अनेकानेक शास्त्रभण्डारोंको देखा गया, हजारों ग्रन्थों पर दृष्टि डाली गई और सैकड़ों ग्रन्थों परसे नोट्स लिये गये, जिनका उपयोग कितने ही विषयोंके निर्णयमें हुआ है और आगे होने वाला है।

(क) साहित्यिक अनुसन्धान-द्वारा सैकड़ों ऐसे ग्रन्थोंका नया पता चला है, जिनका पहलेसे कोई परिचय नहीं था और जिनसे इतिहासके विषयों पर भी कितनाही प्रकाश पड़ा है।। उनमें बहुतसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए, उनके लिये खोज जारी है। खोज द्वारा उपलब्ध हुए ग्रन्थोंमेंसे कुछके नाम इस प्रकार हैं, जिनमेंसे अधिकांशका निश्चित समय भी साथमें उपलब्ध हो गया है:—

संस्कृत ग्रन्थ—१क्षपणासार गद्य, २ पदार्थदीपिका-३ अध्यात्मतरंगिणी टीका, ४ आदिपुराण टीका (ललितकीर्ति), ५ पंचमनस्कारमन्त्र (आ० सिंहनन्दी), ६—७ पद्मपुराण तथा हरवंशपुराण (ललितकीर्ति-शिष्य धर्मकीर्ति), ८ मूलाचार प्रदीप (सकलकीर्ति), ९ धर्मरत्नाकर, १० समवसरणपाठ (पांडे रूपचन्द्र), ११—१३ यशोधरचरित्र, सप्तव्यसनकथासमुच्चय तथा प्रद्युम्नचरित्र (सोमकीर्ति), १४ प्राकृत पंचसंग्रहटीका (सुमतिकीर्ति), १५ तत्त्वार्थटिप्पण (हेमकीर्ति शिष्य प्रभाचन्द्र), १६—१७—१८ शान्तिनाथपुराण, पाण्डवपुराण तथा अनन्तव्रतपूजा (विद्याभूषण शिष्य श्रीभूषण) १९—२५ भविष्यदत्तकथा, हनुमानकथा, नेमीश्वररास, प्रद्युम्नचरित्र, सुदर्शनरास तथा श्रीपालरास (ब्रह्म रायमल्ल), २६ त्रिपंचाशतक्रियाव्रतोद्यापन (देवेन्द्रकीर्ति) इत्यादि जिनका निर्माण-काल साथमें उपलब्ध है और जिनका निर्माणकाल साथमें उपलब्ध नहीं है उन संस्कृत ग्रन्थोंके कुछ नाम इस प्रकार हैं:—२७ धर्मपरीक्षा (मुनि रामचन्द्र), २८ देवताकल्प (गुणसेनशिष्य अरिष्टनेमि), २९ षड्दर्शन-प्रमाण-प्रमेय-संग्रह (शुभचन्द्र), ३० यशोधरमहाकाव्यपंजिका (श्रीदेव), ३१ द्रौपदिप्रबन्ध (जिनसेन), ३२ तत्त्वसारटीका (कमलकीर्ति), ३३ शृंगारमंजरी (अजितसेन), ३४ त्रिलोकसारटीका (सहस्रकीर्ति), ३५ चन्द्रप्रभचरित्र (शुभचन्द्र), ३६ परमार्थोपदेश (ज्ञानभूषण), ३६ A आयसद्भाव (मल्लिषेण), ३६ B कर्मप्रकृति इत्यादि।

अपभ्रंश ग्रन्थ—३७ पार्श्वपुराण (पद्मकीर्ति), ३८ जम्बूस्वामिचरित्र (कवि वीर), जिनदत्त चरित्र (पं० लाखू) ४० पार्श्वपुराण (विबुध श्रीधर), ४१ सुदर्शनचरित्र (नयनन्दी), ४२ रत्नकरण्डश्रावकाचार (पं० श्रीचन्द्र), ४३ षट्कर्मोपदेश (अमरकीर्ति), ४४ बाहुबलिचरित्र (धनपाल),

४५-४६ पांडवपुराण, हरिवंशपुराण (यशःकीर्ति), ४७-४८ हरिवंशपुराण तथा परमेष्ठिप्रकाशसार (श्रुतकीर्ति), ४६-५० सम्यक्त्वगुणनिधान तथा सुकौशलचरित्र (कविरइधू), ५१ भविष्य माधवदत्तकथा (श्रीधर) ५२-५३ नागकुमारचरित तथा अमरसेनचरित (कवि माणिक्यराज , ५४ मृगांकलेखाचरित (कवि भगवतीदास), ५५ शांतिनाथचरित इल्लराजसुत महाचन्द्र) इत्यादि, जिनका रचना समय साथमें लगा हुआ है। और जिनका रचना समय साथमें उपलब्ध नहीं है उनके कुछ नाम इस प्रकार हैं :—५६ सुलोचनाचरित (गणिदेवसेन), ५७ प्रद्युम्नचरित्र (कवि सिंह), ५८ पुरंदरविधानकथा (अमरकीर्ति) ५६ चन्द्रप्रभचरित्र (यशःकीर्ति) ६० पार्श्वनाथ चरित्र (कवि देवचन्द्र), ६१ नेमिनाथचरित्र (कवि लक्ष्मण) ६२ सुकुमालचरित्र (मुनि पूर्णभद्र), ६३ श्रीपालचरित्र (नरसेन), ६४ मल्लिनाथचरित्र (जयमित्रहल अथवा हरिचन्द), ६५-६७ चूनडी, निर्भर पंचमीकथा तथा पंचकल्याणक (विनयचन्द्र), ६८ निर्वाणभक्ति मुनि उदयकीर्ति), ६६ सुगंधदसमीकथा कवि देवदत्त) ७० अणथमी कथा (कवि हरिचन्द्र अग्रवाल), ७१-८६ पद्मपुराण, धन्यकुमारचरित्र, श्रीपालचरित्र, मेघेश्वरचरित्र, यशोधरचरित्र आत्मसंबोधकाव्य, वृत्तसार, सिद्धान्तार्थसार, जीवंधरचरित्र, नेमिनाथजिनचरित्र, पुण्यास्त्रवकथाकोश, अणथमी कथा, सन्मतिजिनचरित्र नेमिनाथजिनचरित्र, पार्श्वपुराण तथा करकंडुचरित्र, ८७-१०० भ० गुणभद्रकृत अणथमी कथा, पासयइकथा, आकाशपंचमीकथा, चान्द्रायण कथा चन्दनषष्ठीकथा, दुद्धारसकथा निर्दु खसप्तमी कथा, मकुटसप्तमी रत्नत्रयकथा, दशलाक्षण कथा अनन्तकथा, सुगंधदशमीकथा और लब्धिविधानकथा, १०१ आदित्यवारकथा (कवि नेमिचन्द्र), १०२ निर्दु खसप्तमीकथा (बालचन्द), १०३ सोखवइविधानकथा (विमलकीर्ति), १०४ ज्ञानपिण्डकी पाथडी, (कविवीर) १०५ संभवनाथचरित्र (कवि तेजपाल) सकल विधिविधान (नयनंदि) इत्यादि।

प्राकृत ग्रन्थ—१०६ अर्धकांड (दुर्गदेव), १०७ चरणसार (ब्र० सोभारण) १०८ क्रियासार (गोतम)।

हिन्दी-ग्रन्थ—१०६ आगमशतक (पं० द्यानतराय) ११० प्रवचनसारका पद्यानुवाद पं० हेमराजगोदीका), १११-११२ दर्शनपाहुड तथा प्रवचनसारका पद्यानुवाद (कवि देवीदास), ११३ नेमिनाथरासा (पाण्डे रूपचन्द), ११४-११५ अनेकार्थनाममाला तथा सीतासतु (पं० भगवतीदास) ११६-११६ पंचमगतिकी बेल, श्रावकाचारबत्तीसी, आत्मपच्चीसी तथा सीखपच्चीसी (भ० हर्षकीर्ति) १२० त्रेपनक्रिया (ब्रह्मगुलाल), १२१ सोलहकारणरासा (भ० सकलकीर्ति) १२२ मनकरहा (ब्रह्मदीपचन्द) १२३ प्रद्युम्नप्रबन्ध (भ० देवेन्द्रकीति), १२४ अध्यात्मबारहखड़ी (पं० दौलतराम)।

मिश्रित-भाषा-ग्रन्थ—१६५ छन्दोविद्या (कवि राजमल्ल)

अनुपलब्ध ग्रन्थ—जिन ग्रन्थोंके निर्माणादिका दूसरे ग्रन्थोंसे पता चला है और जो अभी तक उपलब्ध नहीं ऐसे ग्रन्थ भी बहुत हैं। यहां उनमेंसे थोड़ेसे संस्कृत ग्रंथोंके नाम नमूनेके तौर पर दिये जाते हैं—१ अष्टांग वैद्यक (समन्तभद्र २-३ विषग्रहशमनविधि तथा नीतिसारपुराण (सिद्धसेन) ४-६ नेमिनरेन्द्रस्तोत्र स्वोपज्ञटीकासहित, शृंगारसमुद्रकाव्य तथा सुषेणचरित्र (पं० जगन्नाथ) ७ आत्मसम्बोधन (भ० ज्ञानभूषण), ऋषभदेव महाकाव्य (नेमिकुमारसुत वाग्भट)। इनके अलावा कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनकी अनुपलब्धिका पता इन पंक्तियोंके लेखकको वीर-सेवामन्दिरकी स्थापनासे पहलेही लग गया था और जिन्हें समन्तभद्राश्रम विज्ञप्ति नं० ४ में परिचय तथा पारितोषिककी योजनाके साथ प्रकाशित किया गया था और जिन २७ ग्रन्थोंमेंसे अभी तक प्रायः तीन चार ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सके हैं।

(ख) ऐतिहासिक अनुसन्धान-द्वारा इतिहास-विषयकी सैकड़ों बातोंका पता चलाया गया, कितनी ही अश्रुतपूर्व घटनाओंका सामने लाया गया, अनेक आचार्यों तथा दूसरे विद्वानोंके समयादिककी खोजकी गई और उनकी कितनी ही कृतियोंका ठीक रचनाकाल मालूम किया गया। साथही, कुछ आचार्योंके समय-सम्बन्धी उलझनोंको सुलझाकर उनका निश्चित समय स्थिर किया गया—जैसे समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र और अमृतचन्द्रादिका समय। दूसरी भी कुछ विवादापन्न बातोंका निर्णय किया गया। धनपाल चतुर्थ और वाग्भट्ट चतुर्थका उनकी कृतियों-सहित नया पता लगाया गया। श्रीधर तथा विबुधश्रीधरमें भेदकी घोषणा की गई। इनके सिवाय और भी बहुत-सी बातें हैं जिन्हें खोजद्वारा निर्णीत किया गया है और जिन सबका परिचय देना यहां अशक्य

है। ऐतिहासिक खोजोंका ठीक परिचय प्राप्त करनेके लिये 'अनेकान्त' में प्रकाशित उन लेखोंको देखना चाहिए जिनकी सूची निर्माणकार्यके अन्तर्गत आगे दी गई है और उन ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंको भी देखना चाहिए जो वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हुए हैं और जिनकी भी एक सूची आगे दी गई है। यहां उदाहरणके तौर पर अथवा संकेतरूपमें कुछ थोड़ी-सी खोज-सम्बन्धी बातोंको ही नीचे नोट किया जाता है:—

१. स्वामी समन्तभद्रके एक और परिचय पद्यकी देहली-पंचायती मन्दिरके एक पुराने जीर्ण-शीर्ण गुटके परसे खोज, जिसमें समन्तभद्रके दस विशेषणोंका उल्लेख है। उनमेंसे आचार्यादि चार विशेषणोंके अतिरिक्त दैवज्ञ, भिषक्, मांत्रिक, तांत्रिक, आज्ञासिद्ध और सिद्धसारस्वत ये छह विशेषण नये ही प्रकाशमें आए हैं।

२. 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' देवागमआदिग्रन्थोंके कर्ता स्वामी समन्तभद्रकी कृति है, ऐसा अनुसन्धान-प्रधान पुष्ट प्रमाणोंके आधार पर सुदृढ़ निर्णय करके विवादको शान्त किया गया।

३. प्रचलित गोम्मटसार-कर्मकाण्डका प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार त्रुटिपूर्ण है। उसमें प्राकृतके कुछ गद्यसूत्र छूटे हुए हैं जो कि मूडबद्रीकी ताडपत्रीय प्रतिमें पाये जाते हैं, न कि 'कर्मप्रकृति' वाली कुछ गाथाएँ छूटी हुई हैं। गद्य-सूत्रोंकी खोज-द्वारा त्रुटिपूर्ति होकर तद्विषयक विवाद की शान्ति हुई।

४. गहरे अनुसन्धान—द्वारा यह प्रमाणित किया गया कि 'सन्मतिसूत्र' के कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर थे तथा सन्मतिसूत्र, न्यायावतार और द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता एक ही सिद्धसेन नहीं, तीन या तीनसे अधिक हैं। साथ ही उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाओंके कर्त्ता भी एक ही सिद्धसेन नहीं।

५. कल्याणमन्दिरके कर्त्ता सिद्धसेन दिवाकर नहीं और न वह श्वेताम्बरकृति है।

६. उपलब्ध 'तिलोयपण्णत्ती' यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न नहीं और न वह धवलादिके बादकी कृति है।

७. 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि पद्य तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है।

८. देहलीके तोमर-वंशी तृतीय अनंगपालकी खोजके, द्वारा अन्य तोमर-वंशी राजाओं और चौहान वंशी राजाओं की वंशावली तथा समयका सम्बन्ध ठीक घटित हो जाता है और इतिहासकी कितनी ही भूल-भ्रांतियां दूर हो जाती हैं।

(ग) तात्त्विक अनुसन्धान द्वारा तत्त्वविषयकी सैकड़ों बातों पर नया प्रकाश डाला गया है। इसमें दर्शन, ज्ञान और चरित्र तीनों विषयकी बातोंका समावेश है। इस अनुसन्धान कार्यका पूरा परिचय प्राप्त करनेके लिये उन तात्त्विक लेखोंको देखना होगा जो आगे निर्माणकार्यके अन्तर्गत दी हुई लेख-सूचीमें समाविष्ट हैं और 'अनेकान्त' में प्रकाशित हो चुके हैं; जैसे सेवाधर्मदिग्दर्शन, सकाम-धर्मसाधन, स्व-पर-वैरी कौन? वीतरागकी पूजा क्यों? पुण्य-पाप-व्यवस्था, भक्तियोगरहस्य, अनेकान्तरसलहरी, श्रीवीरका सर्वोदय तीर्थ और वीरशासनके कुछ मूलसूत्र इत्यादिक। साथ ही स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, आप्त-परीक्षा और समीचीनधर्म-शास्त्रादि तात्त्विक ग्रन्थोंके अनुवादों और उन सानुवाद ग्रन्थोंकी अधिकांश प्रस्तावनाओं-को भी देखना होगा जिनका निर्माण वीरसेवामन्दिरमें हुआ है। ऐसा होने पर ही मन्दिरके तात्त्विक अनुसंधानों-का यथेष्ट एवं ठीक पता चल सकेगा। यहाँ विवेचनको साथमें लिये बिना चलते रूपमें कुछ लिख देना ठीक नहीं होगा।

निर्माण-कार्य

७. निर्माणकार्यमें, अनुवादकार्यको छोड़कर जिसे अलगसे ग्रहण किया गया है, ग्रन्थों, लेखों तथा कविताओं-का रचनाकार्य, सामग्रीका संकलन और ग्रन्थोंकी प्रस्ता-वनाओं, परिशिष्टों, विषयसूचियों तथा प्रकाशकीय वक्तव्यों आदिकी सृष्टिका कार्य शामिल है। इस दिशामें वीरसेवा-मन्दिरमें जो कार्य हुआ है उसकी रूपरेखा इस प्रकार है:—

१. समीचीनधर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) का प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत करनेके लिए उसके सम्पूर्ण शब्दोंकी एक ऐसी सूची तैय्यार की गई जिससे यह मालूम हो सके कि उन शब्दोंका समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंमें कहां पर किस अर्थको लेकर प्रयोग हुआ है।

२. स्वामी समन्तभद्रके उपलब्ध सभी ग्रन्थोंका अकारादिक्रमसे एक शब्दसंग्रह 'समन्तभद्र-भारती-कोश' के

नामसे तैय्यार कराया गया, जो अनुसन्धान, अनुवाद तथा निर्माण-कार्योंमें सहायक हो सके और जिसे 'समन्त-भद्र-भारती' नामसे प्रस्तुत किये जाने वाले महान् ग्रन्थके साथ देनेका विचार है।

३. त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, प्राकृत पंचसंग्रह और न्यायविनिश्चय आदि कितने ही ग्रन्थोंकी अलग-अलग पद्यानुक्रमणिकाएं तैय्यार कराई गईं।

४. प्रायः २०० दिगम्बर और २०० श्वेताम्बर ग्रंथोंसे पदार्थोंके लक्षणस्वरूपादिका एक अभूतपूर्व विशाल संग्रह अकारादिक्रमसे प्रस्तुत किया गया, जो अनेक विद्वानोंके कई वर्षके परिश्रमका फल है। यह संग्रह, सम्पादन एवं एक-एक विषयके अनेक लक्षणोंके कालक्रमसे क्रमीकरणके अनन्तर, 'जैनलक्षणावली' अर्थात् लक्षणात्मक जैन-पारिभाषिक-शब्दकोषके नामसे पांच-छह बड़े-बड़े खण्डोंमें प्रकाशित होगा। साथमें हिन्दी लक्षणोंका भी आयोजन रहेगा। और इसलिए यह महान् ग्रन्थ सभी स्वाध्याय-प्रेमियों, ग्रन्थादि-लेखकों, शोध-खोज तथा किसी विषयके निर्णयका काम करने वालोंके लिये बड़े ही कामकी चीज होगा।

५ विविध जैनग्रन्थोंसे आदि-अन्तभागादिके रूपमें प्रशस्तियोंका संग्रह करके उन्हें 'जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह के नामसे फिलहाल दो बड़े भागोंमें विभक्त किया गया है। पहले भागमें उन संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंका संग्रह किया गया जो अभी तक प्रायः अप्रकाशित हैं या प्रकाशित होकर भी अन्तिम प्रशस्तिभागसे शून्य हैं अथवा किसी प्रशस्तिमें कुछ गलतीको लिये हुए हैं। दूसरे भागमें अपभ्रंश भाषाके ऐसे ही ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंका संग्रह है जो प्रायः अप्रकाशित हैं। पहला भाग छप रहा है और दूसरा भाग प्रेसको जानेकी तैयारीमें है। इन दोनों प्रशस्तिसंग्रहोंमें इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है।

६ दिगम्बर जैनग्रन्थोंकी एक मुकम्मल सूची भी कुछ अर्सेसे वीरसेवामन्दिरमें तय्यार हो रही है, जिससे दिगम्बर साहित्यका ठीक अन्दाज़ा लगाया जा सकेगा और हर जैनीको अपने घरकी इस साहित्य-पूँजीका पता चल सकेगा। इस दिशामें अब तक जो काम हुआ है उसके फलस्वरूप कई हज़ार ग्रन्थोंकी सूची 'अनेकान्त' में प्रकाशित की जा चुकी है। दूसरे ग्रन्थोंकी सूचीका पता लगाया जा रहा है और शास्त्रभण्डारोंकी सूचियोंमें जो गलतियाँ हैं उनके संशोधनका कार्य भी हो रहा है।

७ 'पुरातन-जैन वाक्य-सूची' के रूपमें प्राकृत भाषाके ६४ दिगम्बर जैनग्रन्थोंकी अकारादि क्रमसे एक जनरल पद्यानुक्रमणी तय्यार कराई गई और उसके साथमें ४८ टीकादि ग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे प्राकृत पद्योंकी भी अनुक्रमणी तय्यार करा कर लगाई गई। और भी कुछ उपयोगी परिशिष्टोंकी योजना की गई। साथ ही ग्रन्थ-ग्रन्थकारादि-विषयक गवेषणाओंसे परिपूर्ण १७० पृष्ठकी महती प्रस्तावना भी लिखकर लगाई गई और प्रस्तावनाकी उपयोगिताको बढ़ानेके लिये उसकी ६ पृष्ठकी नामसूची भी तय्यार करा कर लगानी पड़ी। इस तरह ग्रन्थकी तय्यारीमें ही नहीं किन्तु छपाईके प्रूफरीडिंग जैसे काममें भी मन्दिरके कई विद्वानोंको भारी परिश्रम उठाना पड़ा है, तब यह महान् मौलिक ग्रन्थ विद्वानोंके हाथोंमें दिया जा सका है।

(८) वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित जिन दूसरे ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंके निर्माणका कार्य मन्दिरमें हुआ है उनके नाम कुछ प्रस्तावनाओंके (ब्रेकटमें) पृष्ठांक सहित इस प्रकार हैं:—

१ समाधितन्त्र (२१), २ अध्यात्मकमलमार्तण्ड (७८) ३ आप्तपरीक्षा (४४), ४ स्वयम्भूस्तोत्र (१०६), ५ युक्त्यनुशासन (३६), ६ स्तुतिविद्या (३१), ७ उमास्वामिश्रा० परीक्षा (१४), ८ श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र (१६), ९ शासनचतुस्त्रिंशिका (१३), १० सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ, ११ प्रभाचन्द्रीय तत्त्वार्थसूत्र (८), १२ अनित्यभावना, १३ न्यायदीपिका (१०१), १४ बनारसीनाममाला शब्दकोश-सहित (१२+४४)। इनके अतिरिक्त जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह (प्रथम भाग) जो अभी अप्रकाशित है उसकी प्रस्तावना लिखी जा चुकी है और वह करीब १२० पृष्ठकी होगी।

ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंसे भी बड़ा निर्माण-कार्य जो वीरसेवामन्दिरमें हुआ है वह उन लेखोंका रचनाकार्य है जो समय-समय पर मन्दिरके विद्वानों द्वारा खोजके साथ लिखे जाकर 'अनेकान्त' मासिकमें प्रकाशित हुए हैं और जिनसे कितने ही महत्वपूर्ण साहित्यकी नई सृष्टि हुई है।

ये लेख दो भागोंमें विभक्त हैं—(क) एकमें स्वयं सम्पादक अनेकान्त अर्थात् संस्थापक व अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर (जुगलकिशोर मुख्तार) द्वारा लिखे गये लेख और (ख) दूसरेमें मन्दिरके अन्य विद्वानों द्वारा लिखे गये लेख शामिल हैं, जिनमें पं० परमानन्दशास्त्री, पं० दरबारीलाल न्यायाचार्य, बा० सूरजभान वकील, बा० जयभगवान वकील, पं० ताराचन्द दर्शनशास्त्री, पं० दीपचन्द पांड्या, बा० बालचन्द एम. ए. और बा० ज्योतिप्रसाद एम. ए. के नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। दोनों विभागोंके प्रायः खास लेख इस प्रकार हैं:—

(क) मन्दिरके अधिष्ठाता-द्वारा लिखे गये लेख—

१ श्री कुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन ?, २ सेवा-धर्म-दिग्दर्शन, ३ भगवती आराधनाकी दूसरी प्राचीन टीका-टिप्पणियां, ४ ऊँच गोत्रका व्यवहार कहां ?, ५ आर्य और म्लेच्छ, ६ समाज-धर्म-साधन, ७ 'गोत्र-सबंधी विचार' पर सम्पादकीय नोट, ८ गोत्रकर्म पर शास्त्रीजीका उत्तर लेख, ९ अन्तरद्वीपज मनुष्य, १० श्री पूज्यपाद और उनकी रचनायें, ११ हेमचन्द्राचार्य-जैन-ज्ञानमन्दिर, १२ योनिप्राभृत और जगत्सुन्दरी-योगमाला, १३ स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द (परिशिष्ट), १४ 'जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला' पर सम्पादकीय नोट, १५ जगत्सुन्दरी प्रयोगमाला की पूर्णता, १६ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति, १७ धवलादि श्रुत-परिचय, १८ जैनलक्षणावली, १९ 'तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक' पर सम्पादकीय विचारणा, २० होलीका त्यौहार, २१ प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थ सूत्र, २२ प्रो. जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा, २३ चित्रमय जैनी नीति, २४–२६ समन्तभद्र विचारमाला—(क) स्व-पर-वैरी कौन ?, (ख) वीतरागकी पूजा क्यों ?, (ग) पुण्य-पाप-व्यवस्था, २७ 'सिद्ध प्राभृत' पर सम्पादकीय नोट, २८ भक्तियोग-रहस्य, २९ कवि राजमल्ल और राजा भारमल्ल, ३० वीरनिर्वाण-सम्वत्की समालोचना पर विचार, ३१ परिग्रहका प्रायश्चित्त, ३२ महत्वकी प्रश्नोत्तरी, ३३ श्वेताम्बर तत्त्वार्थ सूत्र और उसके भाष्यकी जांच, ३४ अनेकान्तके मुख पृष्ठका चित्र, ३५ 'सर्वार्थसिद्धि' पर समन्तभद्रका प्रभाव, ३६ समन्तभद्रका एक और परिचय-पद्य, ३७ अनेकान्त-रस-लहरी, ३८ वीर-शासनकी उत्पत्तिका समय और स्थान, ३९ स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनों थे, ४० समीचीन-धर्मशास्त्र और उसका हिन्दी भाष्य, ४१ ऐतिहासिक घटनाओंका एक संग्रह, ४२ गोम्मटसार और नेमिचन्द्र, ४३ मूलाचार और कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४ भट्टारकीय मनोवृत्तिका एक नमूना, ४५ 'वानर महाद्वीप' पर सम्पादकीय नोट, ४६ जीवस्वरूप-जिज्ञासा (प्रश्नावली), ४७ श्री अकलंकदेव और विद्यानन्दकी राजवार्तिकादि कृतियों पर पं० सुखलालजीके गवेषणापूर्ण विचार, ४८ पं० महेन्द्रकुमारजीका लेख, ४९, गदरसे पूर्व लिखी हुई ५३ वर्षकी 'जन्त्री खास', ५० रद्दी में प्राप्त हस्तलिखित जैन-अजैन ग्रन्थ, ५१ ऐलक-पदकल्पना (संशोधित और परिवर्धित-संस्करण), ५२ रत्नकरण्डके कर्तृत्व विषयमें मेरा विचार और निर्णय, ५३ सन्मति-सूत्र और सिद्धसेन, ५४ समवसरणमें शूद्रोंका प्रवेश, ५५ जैन कॉलोनी और मेरा विचार-पत्र, ५६ सन्मति-विद्याविनोद, ५७ अष्टसहस्रीकी एक प्रशस्ति, ५८ 'जैनागम और यज्ञोपवीत' पर सम्पादकीय विचारणा, ५९ एक प्राचीन ताम्रशासन, ६० गलती और गलत फ़हमी, ६१ विपुलाचल पर वीर शासन-जयन्तीका अपूर्व दृश्य, ६२ कलकत्तामें वीर शासनका सफल महोत्सव, ६३ संस्कृत 'कर्मप्रकृति', ६४ भारतकी स्वतन्त्रता, उसका झण्डा और कर्तव्य, ६५ वीर-तीर्थावतार, ६६ श्रीवीरका सर्वोदय-तीर्थ ६७ वीर-शासनके कुछ मूल सूत्र।

[इनके अतिरिक्त कितने ही सम्पादकीय वक्तव्य, वियोगादि-विषयक सामयिक लेख, साहित्य-समालोचन, टीका-टिप्पणी, आचार्यों आदिके स्मरण, अनेक शास्त्र-भण्डारोंके परिचय लेख और बीसियों ऐसे स्तुति-स्तोत्रों आदिके परिचय-लेख भी लिखे जाकर अनेकान्तमें प्रकाशित हुए हैं जो प्रायः नई खोजोंसे सम्बन्ध रखते हैं। इसी तरह कुछ कवितायें भी लिखी जाकर प्रकाशित हुई हैं; जैसे मानवधर्म परमउपास्य कौन ?, जैन गुण-दर्पण (जैनी कौन ?), हृदय है बना हुआ फुटबाल होली है ?! इत्यादिक। साथ ही कुछ लेख वीर, जैनसिद्धान्त-भास्कर तथा जैनमित्रादि पत्रोंको और स्मृति-अभिनन्दन-ग्रन्थोंको भी लिख कर भेजे गये हैं।]

(ख) मन्दिरके दूसरे विद्वानों द्वारा लिखे गये लेख

पं० परमानन्द शास्त्री—१ अपराजितसूरि और विजयोदया, २ प्रमाण-नयतत्त्वालोकालंकारकी आधारभूमि ३ भगवती आराधना और शिवकोटि, ४ मूलाचार संग्रह-

ग्रन्थ है, ५ श्रावण कृष्ण-प्रतिपदाकी स्मरणीय तिथि, ६ शिक्षाका महत्व, ७ अतिप्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह, ८ गोम्मटसार संग्रह-ग्रन्थ है, ६ अहिंसातत्त्व, १० श्वेताम्बर कर्मसाहित्य और दिगम्बर पंचसंग्रह, ११ अर्थप्रकाशिका और पं० सदासुखजी, १२ गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति, १३ सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक, १४ गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिके विचार पर प्रकाश, १५ कर्मबन्ध और मोक्ष १६ तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज १७ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें उपलब्ध ऋषभदेवचरित्र, १८ बनारसीनाममाला, १६ श्वेताम्बरोंमें भी भगवान महावीरके अविवाहित होनेकी मान्यता, २० वरांग चरित दिगम्बर है या श्वेताम्बर ? २१ अपभ्रंश भाषाका शांतिनाथचरित्र, २२ अपभ्रंश भाषाके प्रसिद्ध कवि रइधू २३ कविवर भगवतीदास और उनकी रचनाएं, २४ पउमचरिउका अन्तःपरीक्षण, २५ बाबा भागीरथजी वर्णी, २६ समर्थन २७ मुद्रित श्लोकवार्तिककी त्रुटिपूर्ति, २८ जयपुरमें एक महीना २६ धनपाल नामके चार विद्वान ३० भगवतीदास नामके चार विद्वान, ३१ शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार, ३२ सुलोचनाचरित और देवसेन, ३३ श्रीचन्द्र नामके तीन विद्वान ३४ अतिशय क्षेत्र चन्दवाड, ३५ अमृतचन्द्रसूरिका समय ३६ दिल्ली और दिल्लीकी राजावली, ३७ अपभ्रंश भाषाका जैन कथा साहित्य, ३८ कविवर लक्ष्मण और जिनदत्त चरित्र ३६ धर्मरत्नाकर और जयसेन नामके आचार्य, ४० भगवान् महावीर ४१ महाकवि सिंह और प्रद्युम्नचरित, ४२ श्रीधर या विबुध-श्रीधर नामके विद्वान, ४३ चतुर्थ वाग्भट्ट और उनकी कृतियां ४४ ब्रह्म श्रुतसागरका समय और साहित्य, ४५ अपभ्रंश भाषाके दो महाकाव्य और नयनन्दी, ४६ ग्वालियर-किलेका इतिहास, ४७ पं० दौलतराम और उनकी रचनाएं, ४८ पं० सदासुखदासजी, ४६ आचार्य-कल्प पं० टोडरमलजी, ५० पांडे रूपचन्द्रजी और उनका साहित्य, ५१ महाकवि रइधू, ५२ यशोधरचरित्रके कर्त्ता पद्मनाभ कायस्थ, ५३ सोलहवीं शताब्दीके दो अपभ्रंश काव्य, ५४ भगवान् महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, ५५ कविवर पं० दौलतराम,५६ आमेर भंडारका प्रशस्ति-संग्रह, ५७ कविवर द्यानतराय, ५८ कविवर भगवतीदास प्रथम और उनकी रचनायें, ५६ अपभ्रंश भाषाका पासचरिउ और कविवर देवचन्द, ६० आचार्य कुन्दकुन्द, ६१ बुन्देलखण्डके कविवर देवीदास, ६२ ब्रह्म जिनदास, ६३ कविवर बुधजन और उनकी रचनाएं, ६४ हेमराज गोदीका और प्रवचनसारका पद्यानुवाद, ६५ विजोलियाके शिलालेख, ६६ क्या मूलाचारके कर्ता कुन्दकुन्द हैं ? ६७ साहित्य-परिचय और समालोचन।

पं० दरबारीलाल न्या०—१ परीक्षामुख और उसका उद्गम, २ वीर-शासन और उसका महत्व, ३ समन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन ? ४ तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण (दो लेख), ५ भगवान् महावीर और उनका अहिंसा सिद्धान्त, ६ क्या नियुक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ? ७ क्या रत्नकाण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है ? ८ नागार्जुन और समन्तभद्र ६ साहित्य परिचय और समालोचन, १०आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चय टीका, ११ आचार्य विद्यानन्दका समय और स्वामी वीरसेन, १२ आचार्य माणिक्यनन्दिके समय पर अभिनव प्रकाश, १३ आचार्य विद्यानन्दके समय पर नवीन प्रकाश, १४ क्या भद्रबाहु स्वामी और नियुक्तिकार एक हैं ? १५ गुणचन्द्र मुनि कौन हैं ? १६ गजपन्थ क्षेत्रका अति प्राचीन उल्लेख, १७ क्या वर्तनाका अर्थ गलत है ? १८ कौन सा कुंडलगिरि सिद्धक्षेत्र है, १६ रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक कर्तृत्व प्रमाणसिद्ध है, २० रत्नकरण्ड-टीका और प्रभाचन्द्रका समय, २१ वीरसेनस्वामीके स्वर्गारोहण-समय पर एक दृष्टि, २२ 'संजद' पदके सम्बन्धमें अकलंकदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत, २३ वादीभसिंहसूरिकी एक अधूरी अपूर्व कृति, २४ समन्तभद्र भाष्य, २५ संजयबेलट्टि पुत्र और स्याद्वाद।

बाबू सूरजभान वकील—१ अदृष्ट शक्तियां और पुरुषार्थ, २ गोत्रकर्माश्रित ऊँचता-नीचता, ३ गोत्र-लक्षणोंकी सदोषता, ४ जातिमद सम्यक्त्वका बाधक है, ५ धार्मिक वार्तालाप, ६ भगवान् महावीरके बादका इतिहास, ७ भाग्य और पुरुषार्थ, ८ वीर प्रभुके धर्ममें जातिभेदको स्थान नहीं, ६ वीर भगवान्का वैज्ञानिक धर्म, १० हरी साग-सब्जीका त्याग, ११ वीतराग प्रतिमाओंकी अजीब प्रतिष्ठा-विधि, १२ जैनधर्मकी विशेषताएँ, १३ हम और हमारा यह सारा संसार, १४ धर्माचरणमें सुधार, १५ भगवान् महावीर और उनका उपदेश।

पं० दीपचन्द पांड्या—१ चूनड़ी, २ यशस्तिलकका संशोधन, ३ वरदत्तकी निर्वाणभूमि और वरांगके निर्वाण पर विचार।

पं० ताराचन्द्र दर्शनशास्त्री—१ दर्शनोंकी स्थूल रूपरेखा, २ दर्शनोंकी आस्तिकता नास्तिकताका आधार।

बाबू जयभगवानवकील—१ जैनकला और उसका महत्व, २ भगवान महावीरकी झांकी।

[वीरसेवामन्दिरमें न रहनेके बाद भी आपके द्वारा कई लेख मन्दिरकी खास प्रेरणाको पाकर लिखे गये हैं। जैसे—१ भारतीय इतिहासमें महावीरका स्थान, २ मोहन जोदड़ोकालीन श्रमण-संस्कृति, ३ भारत कीअहिंसा संस्कृति ४ भारतमें आत्मविद्याकी अटूट धारा।]

बाबू ज्योतिप्रसाद एम० ए०—१ साहित्यका महत्त्व, २ एक अन्तःसाम्प्रदायिक निर्णय, ३ जैन वाङ्मयका प्रथमानुयोग, ४ जैन सरस्वती, ५ जैन स्थापत्यकी कुछ अद्वितीय विशेषताएं, ६ तेरह काठिया, ७ धर्म और नारी ८ धवला-प्रशस्तिके राष्ट्रकूट नरेश, ९ प्राचीन जैन मन्दिरोंके ध्वंससे मस्जिदें, १० बंगालके कुछ प्राचीन जैनस्थल, ११ बौद्धाचार्य बुद्धघोष और महावीरकालीन जैन।

बाबू बालचन्द एम० ए० द्वारा—१ मौर्य समाट्का संक्षिप्त इतिहास, २ जैन गुहामन्दिर, ३ ऐतिहासिक भारत की आद्य मूर्त्तियां, ४ पुरातनजैनशिल्प-कलाका संक्षिप्त परिचय, ५ सोनागिरिकी वर्त्तमान भट्टारक गद्दीका इतिहास।

इन सब लेखों तथा ग्रन्थ-प्रस्तावनाओंको लिखनेके लिये कितना अनुसन्धान किया गया, अनुसन्धानके पीछे कितने ग्रन्थोंको देखा गया, कितने अधिक नोट्स लिये गये—और इन सबके साथ कितना परिश्रम उठाना पड़ा, इसका कोई अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता और न सूची ही दी जा सकती है। हाँ शोध-खोज एवं विवेचनासे सम्बन्ध रखने वाले उन लेखों तथा प्रस्तावनाओं परसे उसका कुछ आभास जरूर मिल सकता है। शोध-खोजका काम निस्सन्देह बड़ा ही विकट एवं श्रमसाध्य है।—'खोदा पहाड़ और निकली चूहिया' की कहावतको चरितार्थ करता है। कभी-कभी तो पहाड़ खोदने पर चूहिया भी नहीं निकलती, ऐसी इस अनुसन्धानकी हालत है। अतः ऐसे अनुसन्धान-प्रधान निर्माणकार्योंका ठीक मूल्यांकन प्रायः वे ही लोग कर सकते हैं जो स्वयं ऐसे कार्योंको करनेमें संलग्न रहते हैं अथवा उस विषयका विशेष अनुभव रखते हैं।

अनुवाद-कार्य

(१०) वीरसेवामन्दिरमें जिन ग्रन्थों आदिका हिन्दीमें अनुवाद हुआ है उनकी सूची इस प्रकार है:—

१. स्वयम्भू-स्तोत्र, २. युक्त्यनुशासन, ३. समीचीन-धर्मशास्त्र, (रत्नकरंड), ४. न्यायदीपिका, ५. आप्तपरीक्षा सटीक, ६. अध्यात्मकमलमार्तण्ड, ७. श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र, ८. शासनचतुस्त्रिंशिका, ९. प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र, १० सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ, जिसमें 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र' भी शामिल है, ११. अपराध क्षमापणस्तोत्र, १२ अर्हन्महानदस्तोत्र, १३. प्राकृत पंचसंग्रह, १४. इष्टोपदेश, १५. कर्मप्रकृति प्राकृत, १६. अनित्यभावना, १७. श्री भद्रबाहुस्वामी (गुजराती), १८. गोम्मट (अंग्रेजी), १९. गोम्मटसार जीवकांडकी टीका, उसका कर्तृत्व और समय (अंग्रेजी), २०. पंडित गुण (कविनल्दु), २१. देवागम (अपूर्ण), २२. संस्कृतके बहुतसे प्रकीर्णक पद्य जो अनेकांत में अनेक रूपसे प्रकाशित होते रहे हैं।

इनके अलावा 'स्तुति-विद्या' और 'मरुदेवी-स्वप्नावली' का अनुवाद साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी सागरसे कराया गया है।

सम्पादन-कार्य

(११) सम्पादनमें ग्रन्थों, लेखों तथा कविताओंको संशोधन, संस्करण, उपयुक्त टिप्पण अथवा संसूचनके द्वारा उपयोगी प्रकाशनके योग्य बनाया जाता है। इस दृष्टिसे वीरसेवामन्दिरमें १०—११ वर्ष तक 'अनेकान्त' मासिकका सम्पादन-कार्य हुआ है और साथ ही उन सब ग्रन्थोंका सम्पादन-कार्य हुआ है जो वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हुए हैं और जिन प्रकाशनोंकी एक सूची आगे दी गई है। इन ग्रन्थोंके अलावा बीसियों स्तुति-स्तोत्रादि ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो अलगसे प्रकाशित नहीं हुए हैं किन्तु उन पर सम्पादन कार्य हुआ है और वे 'अनेकान्त' में प्रकाशित किये गये हैं।

प्रकाशन-कार्य

(१२) प्रकाशन-कार्यमें प्रेसादिकी योजनाओंके साथ, ग्रन्थों तथा लेखोंकी प्रेस-कापियों और प्रूफरीडिंगका बहुत

बड़ा काम शामिल है प्रूफको बड़े सावधानीके साथ प्रायः तीन-तीन बार देखकर ठीक किया जाता है, तभी शुद्ध छपाई बन सकती है। इस दृष्टिको सदा ध्यानमें रखते हुए 'अनेकान्त' मासिक तथा ग्रन्थोंका प्रकाशन-कार्य किया गया है। और प्रकाशनके लिये अच्छे लेखोंके साथ बहु-उपयोगी एवं महत्वके ग्रन्थोंको चुना गया है। जिन ग्रन्थोंका प्रकाशन संस्थासे हुआ है उनकी एक सूची, संक्षिप्त परिचयके साथ नीचे दी जाती है। इनके अलावा 'जैनग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह', नामका ग्रन्थ अभी प्रेसमें चल रहा है और उसके करीब २०० पेज छप चुके हैं।

वीरसेवामन्दिरके प्रकाशन

यह सब वीरसेवामन्दिरके बाल्यकालके कार्यकलापका संक्षिप्त परिचय है, जो समाजके सहयोगके अनुरूप ही नहीं बल्कि उससे कहीं अधिक है, क्योंकि संस्थापकने वर्षों तक अल्पवेतनके विद्वानोंके साथमें स्वयं लगकर उनसे अधिक काम निकाला है और निजी रूपमें सम्पादन-संशोधन, अनुसंधान, अनुवाद तथा निर्माणादिका जितना कार्य किया है वह कार्योंको देखने तथा उनके उक्त परिचयसे भी भली प्रकार जाना तथा अनुभवमें लाया जा सकता है। संस्थाकी व्यवस्थाके अलावा हिसाब-लेखन, पत्रव्यवहार और प्रूफरीडिंगका भी कितना ही भारी काम उसे साथमें करना पड़ा है।

संस्थाके खास सहयोगी

इस अर्सेमें संस्थाको जिन सज्जनोंका सहयोग प्राप्त हुआ है उनमें कलकत्ताके बाबू छोटेलालजी, बाबू नन्दलालजी और साहू शान्तिप्रसादजी के नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। साहूजीने दस हजारसे ऊपरकी सहायता प्रदान की है और एक ग्रन्थके लिये पांच हजारकी सहायताका वचन उनसे और भी प्राप्त है। बाबू नन्दलालजीने सोलह हजारसे ऊपरकी सहायता प्रदानकी है और एक बड़ी सहायताका वचन उनके पास और भी धरोहर रूपमें है। आप हर तरहसे संस्थाकी उन्नतिके इच्छुक हैं और उसे दूसरोंसे भी सहायता दिलाते रहते हैं। बा० छोटेलालजी से यद्यपि आर्थिक सहायता अभी तक आठ हजारसे कुछ ऊपर ही प्राप्त हुई है परन्तु आप संस्थाके प्रधान हैं प्राण हैं और आपका सबसे बड़ा हाथ इस संस्थाके संचालनमें रहा है। संस्थापक सदा ही आपके सत्परामर्शोंकी अपेक्षा रखता आया है। संस्थाको कितनीही आर्थिक सहायता आपके निमित्तसे तथा आपकी प्रेरणाओंको पाकर प्राप्त हुई है। आप सच्चे सक्रिय सहयोगी हैं और संस्थाके विषयमें आपके बड़े ही ऊँचे विचार हैं। हालमें आपने और आपके छोटे भाई बा. नंदलालजी ने अपनी स्वर्गीया माताजीकी ओरसे वीरसेवामन्दिर को ४० हज़ारमें एक ज़मीन दरियागंज देहलीमें अन्सारी रोड पर खरीद करवा दी है, जिस पर बिल्डिंग बननेके लिये समाजका सहयोग खास तौरसे वांछनीय है। ये तीनों महानुभाव 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला' के संरक्षक हैं, जिसके संरक्षक प्रायः वे ही होते हैं जो पांच हज़ार या इससे ऊपरकी सहयता उसे प्रदान करते हैं। इससे कमकी सहायता प्रदान करने वाले सज्जन 'सहायक' श्रेणियोंमें स्थान पाते हैं। ऐसे जिन सज्जनोंने ग्रन्थमालामें प्रकाशित होने वाले किसी खास ग्रन्थके लिये कोई सहायता प्रदान की है उनके नाम उस-उस ग्रन्थमें धन्यवादके साथ प्रकाशित होते रहे हैं, वे संस्थाकी बड़ी रिपोर्टसे जाने जा सकेंगे। उसीसे दूसरे सहायकोंके नाम भी मालूम हो सकेंगे जिन्होंने संस्थाको अनेक रूपमें आर्थिक सहायता प्रदान की है। यहां मैं सिर्फ दो ऐसे सज्जनोंका नाम और उल्लेखित कर देना चाहता हूँ जिन्होंने निःस्वार्थभावसे संस्थामें रहकर उसे दूसरे ही प्रकारका सहयोग प्रदान किया है—वे हैं स्व० हकीम उल्फतरायजी रुड़की और सुप्रसिद्ध समाजसेवी स्व० बा० सूरजभानजी वकील। बाबू सूरजभान जी ने दो ढाई वर्ष तक लगातार साहित्यके निर्माणका कार्य ही नहीं किया बल्कि अपने अनुभवोंसे संस्थाके विद्वानोंको भारी लाभ पहुँचाया है। और हकीमजी ने बड़े ही प्रेमपूर्ण सेवाभावसे सबकी चिकित्सा ही नहीं की बल्कि एक जैनबन्धुके इकलौते पुत्रको, उसकी अनुपस्थितिमें, मृत्युके मुखमें से जाते-जाते बचाया है।

वीरसेवामन्दिरका प्रधान कार्यालय उसके जन्मकालसे ही सरसावा जि० सहारनपुरमें रहा है। यह दूसरी बात है कि कुछ समयके लिये उसका एक आफिस ग्रन्थोंके प्रकाशनार्थ देहलीमें भी रहा है। परन्तु गत दीपमालिकाके बादसे उसका प्रधान कार्यालय (हेड आफिस) स्थायी रूपमें देहलीमें कायम हो गया है और उसे एक जिन्दादिल युवकहृदय सज्जन ला० राजकृष्ण जी जैनका भी सहयोग प्राप्त हो गया है, जिन्होंने आफिसकी व्यवस्थाका सारा कार्यभार अपने ऊपर ले लिया है और जो इस समय बड़े

उत्साहके साथ संस्थाके कार्यमें लगे हुए हैं। अतः वीर-नि० संवत् २४७६ के प्रारंभके साथ-साथ इस संस्थाके यौवनकालका भी प्रारम्भ समझिये। आशा है अपने इस यौवनकालमें संस्था सविशेष रूपसे अपने उद्देश्योंको पूरा करनेमें समर्थ होगी। उसे दिल्ली जैसे केन्द्र-स्थानमें अनेक सहयोगी सज्जन प्राप्त होंगे और वह समाजकी एक आदर्श संस्था बन कर रहेगी।

वीरसेवामन्दिरके भावी कार्यक्रमकी रूपरेखा

वीरसेवामन्दिरके सामने 'अनेकान्त' को अधिक समुन्नत एवं लोकप्रिय बनानेके अलावा जो खास-खास काम करनेको पड़े हुए हैं और समाजके सहयोगकी अपेक्षा रखते हैं उनकी संक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार है :—

(१) उस ज़मीन पर बिल्डिंगके निर्माणका कार्य जो अभी खरीदी गई है। विना बिल्डिंगके संस्थाकी लायब्रेरी-को सरसावासे दिल्ली नहीं लाया जा सकता और बिना लायब्रेरीके शोध-खोज तथा निर्माण आदिका यथेष्ट काम नहीं बन सकता। अभी ला० राजकृष्णजीने अपनी धर्मशाला के दो-तीन कमरे कामचलाऊ रूपमें एक सालके लिये दिये हैं, जिनमें लायब्रेरीके लिये पूरा स्थान नहीं है, अतः एक सालके भीतर अपनी बिल्डिंग बन जानी चाहिए, तभी प्रधान कार्यालय दिल्लीमें पूर्ण रूपसे व्यवस्थित हो सकेगा। इसके लिये फिलहाल ६० हज़ार रुपयेकी ज़रूरत है, जिसे समाजके हितैषी एवं गण्यमान्य सज्जनोंको शीघ्रही पूरा करके राजधानी में अपनी एक आदर्श संस्थाको स्थायी कर देना चाहिए।

(२) 'जैनग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह' (प्रथम भाग) तथा समाधितंत्र और 'इष्टोपदेश' नामके जो दो ग्रन्थ प्रेसमें हैं और आधे-आधेके करीब छप गये हैं उन्हें शीघ्र प्रकाशमें लाना। साथही निम्न ग्रंथोंका जो करीब-करीब तैयार है, यथासाध्य शीघ्र प्रेसमें जानेके योग्य बनाना और उनके छपनेका आयोजन करना :—

१. समन्तभद्र का 'समीचीन-धर्मशास्त्र' (हिंदी-भाषा-सहित)।

२. लोकविजययंत्र (हिंदी टीकादि सहित), जो कि प्राकृत भाषाका अपूर्व प्राचीन ग्रंथ है और देश विदेशके भविष्यको जाननेका अच्छा सुन्दर साधन है। ३. जैन-साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश (ऐतिहासिक निबन्धोंका संग्रह), जैनग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह द्वितीय भाग, जिसमें अपभ्रंश भाषाके प्रायः अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका बड़ा संग्रह है, ५. युगवीरनिबन्धावली।

(३) जो कार्य परिचयमें अधूरे दिखलाये गये हैं:— जैसे 'जैन लक्षणावली', 'जैनग्रन्थसूची' आदि—उन्हें पूरे कराकर प्रेसमें जानेके योग्य बनाना और फिर प्रकाशमें लाना।

(४) उपयोगी तथा आवश्यक ग्रंथोंसे लायब्रेरीकी वृद्धि करना, जिसमें बड़े पैमानेपर शोध-खोजका कार्य सम्पन्न हो सके।

(५) 'जैनतीर्थ-चित्रावली' नामकी एक ऐसी पुस्तक तैयार कराकर प्रकाशमें लाना जिसमें जैनतीर्थोंके प्रामाणिक इतिहासके साथ मुख्य-मुख्य मंदिर-मूर्तियों, चरणपादुकाओं तथा अन्य किसी स्थान या वस्तुविशेषके चित्रोंका सुन्दर संकलन रहे।

(६) संस्थाकी एक बड़ी पूरी रिपोर्ट तय्यार करके उसे शीघ्र प्रकाशित करना।

(७) साहित्यिक अनुसंधानके लिये निजी स्टेशन वैगन-का प्रबन्ध करके सारे भारतवर्षका भ्रमण (दौरा) करना और उसके द्वारा समस्त शास्त्र-भंडारोंका निरीक्षण करके अनुपलब्ध ग्रंथोंका पता लगाना तथा यह मालूम करना कि किस ग्रंथकी अति प्राचीन एवं सुन्दर शुद्ध प्रति कहां पर है और ऐसी अनुपलब्धादि ग्रंथ प्रतियोंका फोटो लेना। साथही, एक सर्वाङ्गपूर्ण मुकम्मल जैनग्रंथ-सूची तय्यार करना। इस कामके लिये वर्षके प्रायः तीन महीने रक्खे जायेंगे, और चार वर्षमें यह काम पूरा हो सकेगा। इस भ्रमणमें कमसे कम तीन विद्वान्, एक फोटोग्राफर, एक रसोइया और एक नौकर तथा दूसरा ड्राइवर ऐसे सात आदमी होंगे। इस भ्रमणके द्वारा संस्थामें प्रकाशित साहित्यकी बिक्री (सेल) भी हो सकेगी, प्रचार भी हो सकेगा और कितनीही ऐतिहासिक बातों तथा अनुश्रुतियों-का पताभी चल सकेगा। खर्चका अन्दाज़ा ४ वर्षका ५० हज़ार होगा, जिसमें पहले वर्ष २५ हज़ारके लगभग आएगा। क्योंकि उत्तम स्टेशन वैगन खरीदनी होगी और उसे अपने उपयोगके अनुकूल व्यवस्थित करना होगा। किसी दानी महानुभावसे २०-२५ हज़ारकी सहायता प्राप्त होतेही यह कार्य प्रारम्भ कर दिया जावेगा। समाजके उत्थान, अवस्थान एवं सम्मानके साथ जीवनके लिये ऐसे कार्योंकी बड़ी आवश्यकता है।

आशा है समाजके धनी-मानी, सेवाभावी और धर्म-प्रेमी सज्जन अपनी शक्ति और श्रद्धाके अनुसार संस्थाके इन सभी कार्योंमें अपना हाथ बटा कर यशके भागी होंगे।

—जुगलकिशोर मुख्तार

वीरसेवामन्दिरके चौदह रत्न

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति,आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द।

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द।

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित।

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थ परिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादित-सहित। ... ... ॥।)

(१० सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्यों के १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—श्री पद्मनन्दी आचार्यकी महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। ... ... ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३७॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

अहिंसा मन्दिर बिल्डिंग १, दरियागंज, देहली

Regd. No D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

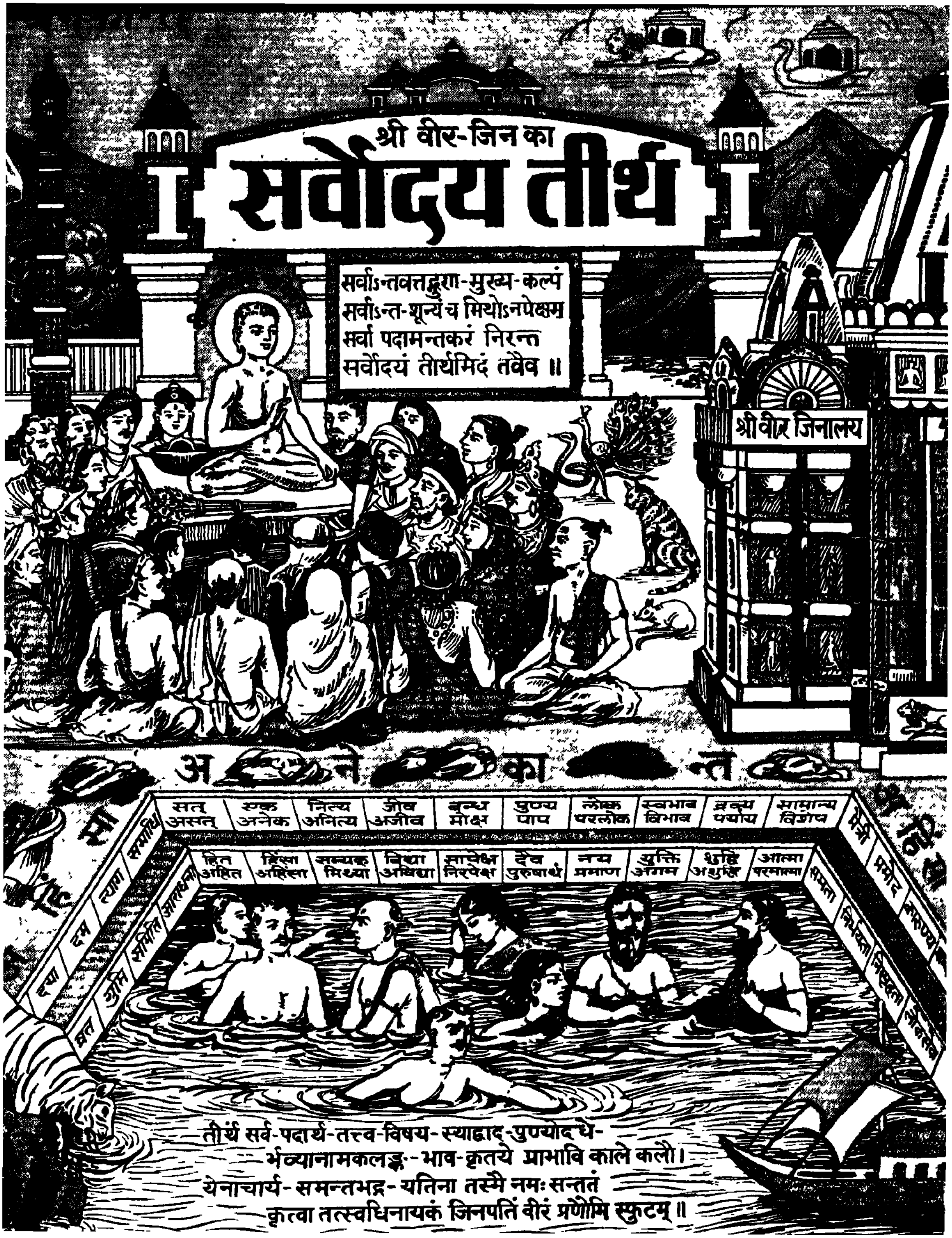
१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी देहली

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० केदारनाथ बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार मेरठ
१०१) श्री श्रीमाला देवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्दजी जैन 'संगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदासजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी हांसी
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी हांसी

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

परमानन्दजी जैन शास्त्री C/o अहिंसा मन्दिर १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस दरियागंज, देहली


श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
अनेकान्त
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
दया
दम
त्याग
समाधि
व्रत
गुप्ति
समिति
आराधना
मैत्री
प्रमोद
समता
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

ग्राहकोंसे आवश्यक निवेदन

अनेकान्तकी इस किरणके साथ ११ वां वर्ष समाप्त हो रहा है और उसके साथ ही प्रायः सभी ग्राहकोंका मूल्य भी। सब चीजोंकी महँगाईको देखते हुए अगले वर्षके लिये मूल्य छः रुपये रखनेका विचार हुआ था, परन्तु यह देखकर कि उत्तम साहित्यको पढ़नेकी सदरुचिका अभी समाजमें बहुत कुछ अभाव है, पहला मूल्य ५) रु० वार्षिक ही बदस्तूर रहने दिया गया है। अतः ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे इस किरणके पहुँचते ही अगले वर्षका अपना अपना चन्दा शीघ्र ही मनीआर्डरसे भेज देने की कृपा करें: क्योंकि वी० पी० से मंगानेमें अब बड़ी झंझटें खड़ी होगई हैं—एक तो रजिस्टरी तथा वी० पी० का चार्ज बढ़ जानेसे उन्हें आठ आने अधिक व्यर्थ देने होंगे—५) के स्थान पर ५॥) खर्च करने होंगे। दूसरे डाकखाने वाले एक दिनमें बहुत कम वी० पी० स्वीकार करते है, इससे पत्र के समय पर पहुँचनेमें बहुत देर हो जाती है—उसके कारण पाठकोंको कितना ही प्रतीक्षा जन्य कष्ट उठाना पड़ेगा। तीसरे अनेकान्त-कार्यालयके व्यर्थ कष्टको ध्यान में लेकर शीघ्र ही ५) रु० मनीआर्डर से भेजकर हमें अनुगृहीत करेंगे और कुछ नये ग्राहक बनाकर उनका भी चन्दा भिजवानेका कष्ट उठायेंगे। जो सज्जन किसी कारण वश अगले वर्ष ग्राहक न रहना चाहें वे तुरन्त ही उससे सूचित करने की कृपा करें, जिससे कार्यालयको वी० पी० करके व्यर्थ की हानि न उठानी पड़े। जिन ग्राहकोंसे मूल्य अथवा कोई पत्र प्राप्त न होगा उनके विषयमें यह समझा जायगा कि वे वी० पी० से ही पत्र मंगाने के इच्छुक हैं।

मैनेजर—'अनेकान्त'

१, दरियागंज, देहली

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरण का मूल्य ।।)



सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष ११ किरण १२ | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली | मई
द्वितीय वैशाख वीरनि० संवत् २४७९, वि० संवत् २०१० | १९५३

श्रीगोम्मटेश्वर-बाहुबलिजिन-पूजा

(संयोजक—'युगवीर')

जीत भरतचक्रीशको, लिया परम वैराग ।

उन श्रीबाहुबलीशको, जजूँ धार अनुराग ॥ १ ॥

(पूजाष्टक)

जल मल-धावन विख्यात, अन्तर्मल न हरै ; दो वह समता-जल नाथ ! कर्म-कलंक धुलै ।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा; जय गोम्मट-ईश्वर देव, भवदधि पार लहा ॥ (जलक्षेपण)
चन्दन शीतल, पर नाहिं अन्तर्दाह हरै; दो निज अकषाय-स्वभाव, भव-आताप टरै ।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा; जय गोम्मट-ईश्वर देव भव-दधि पार लहा ॥ (चन्दनक्षे०)
अक्षत सेवत दिन रात, अक्षय गुण न करै; दो अक्षय-रसायन देव ! अक्षय-पद प्रगटै ।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा; जय गोम्मट-ईश्वर देव, भवदधि पार लहा ॥ (अक्षतक्षे०)
प्रभु, कुसुम-शरोंकी मार, मनको व्यथित करै; दो अनुभव-शक्ति महान, मन्मथ दूर भगै ।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा; जय गोम्मट-ईश्वर देव, भवदधि पार लहा ॥ (पुष्पक्षे०)
नाना विध खाद्य पदार्थ, खाते हम हारे; नहिं क्षुधा हुई निर्मूल, आए तुम द्वारे ।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा; जय गोम्मट-ईश्वर देव, भवदधि पार लहा ॥ (नैवेद्यक्षे०)
दीपक तमहर सुप्रसिद्ध, अन्तर्तम न हरै; मैं खोजूँ आत्मस्वरूप, ज्ञान-शिखा प्रगटै ।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा; जयगोम्मट-ईश्वर देव, भवदधि पार लहा ॥ (दीपक्षे०)

अग्नीन्धन धूप अनूप, नहिं निजकाज सरै; कर्मेन्धन-दाहन-हेत, योगाऽनल प्रजरै ।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा; जय गोम्मट-ईश्वर देव, भवदधि पार लहा ।। (धूपञ्चे०)
फल पाये भोगे खूब, पर परतन्त्र रहे; दो शिव-फल हे शिव-भूप (रूप), निज-स्वातन्त्र्य लहैं ।।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा; जय गोम्मट-ईश्वर देव, भवदधि पार लहा ।। (फलञ्चे०)
इन जल-फलादिसे नाथ ! पूजत युग बीते, नहिं हुए विगतमल 'वीर', अब तुम ढिंग आए ।
श्रीबाहुबली अति धीर, वीर तपस्विमहा, जय गोम्मट-ईश्वर देव, भवदधि पार लहा ।। अर्घञ्चे०)

(अभिनन्दन-जयमाल)

ऋषभदेवके पुत्र, सुनन्दाके प्रिय नन्दन ।
बाहुबली जिनराज, करैं मिल सब अभिनन्दन ।।

हे नरवर ! अवतार लिया तुम पूज्य ठिकाने, अवसर्पिणि-युग-आदि, नाभिसुत-वृषभ-घराने ।
पाले पोषे गये रहे सत्संस्कारोंमें, आत्मज्ञान-रत सदा रहे दृढ अधिकारोंमें ।। १ ।।

हे नृपवर ! तुम राज-पाट निज पितुसे पाया, तृषा-रहित हो न्याय-नीतिसे उसे चलाया ।
अबलोंका ले पक्ष दुर्बलोंको न सताया, सर्व-प्रजाका प्रेम प्राप्त कर यश उपजाया ।। २ ।।

पोदन-मंडल-भूमि तुम्हारी राज्य-मही थी, जहाँ प्रकृतिश्री पूर्णरूपसे राज रही थी ।
भरत तुम्हारे ज्येष्ठ भ्रात थे, गुण-अगियारे, प्रवर-अयोध्या-राज्य-रमाके भोगनहारे ।। ३ ।।

उन्हें महत्वाकांक्षाने धर आन दबाया, छहों खण्डको जीत राज्यका भाव समाया ।
चक्ररत्न ले हाथ विजयको निकल पड़े थे, देश-देशके नृपति भेंट ले पाँव पड़े थे ।। ४ ।।

जब वे कर दिग्विजय देशको लौट रहे थे, सर्वप्रजामें आनँदका रस घोल रहे थे ।
चक्ररत्न आ रुका राजधानीके द्वारे, कर नहिं सका प्रवेश, यत्न कर बुधजन हारे ।। ५ ।।

चिन्तातुर थे भरत, मंत्रियोंने बतलाया—बाहुबली महाराज-राज नहीं हाथों आया ।
जब तक वे आधीन्य नहीं स्वीकार करेंगे, चक्रसहित सुप्रवेश देश हम कर न सकेंगे ।। ६ ।।

तभी भरतने दूत-हाथ सन्देश पठाया, जो कर शीघ्र प्रयाण आपके सम्मुख आया ।
'करो सभेंट प्रणाम, शीघ्र या लड़ने आओ, समर-भूमिमें स्वबल दिखा वैशिष्ट्य बताओ' ।। ७ ।।

सुन कर यह सन्देश आगसी तनमें लागी, स्वाभिमानको चोट लगी, युद्धेच्छा जागी ।
फलतः दोनों ओर युद्धके साज सजे थे, योद्धागण सब भिड़नेको तय्यार खड़े थे ।। ८ ।।

उसी समय, आदेश सैनिकोंने यह पाया—सुलह-सन्धिका रूप अनोखा सम्मुख आया ।
'सैनिक-दल अब नहीं लड़ेंगे, नहीं कटेंगे, दोनों भाई स्वयं आय, निःशस्त्र लड़ेंगे ।। ९ ।।

दृष्टि-मल्ल-जल-युद्ध, इन्हें जो जीत सकेगा—वही सकल—साम्राज्य-भूमि स्वाधीन करेगा ।
उद्घोषित सम्राट बनेगा वह ही जगमें, वही करेगा राज्य विश्वके इस प्रांगणमें ।। १० ।।

अहो वीरवर ! दृष्टियुद्ध सम्मुख जब आया—तब तुमने नृपराज भरतको खूब छकाया ।
आखिर मानी हार, थकी जब उनकी ग्रीवा; हुई सहायक तुम्हें तुम्हारी ऊँची काया ।। ११ ।।

इसी तरह जलयुद्ध-विजयको तुमने पाया, जल-क्षेपणमें भरतराजको अन्त हराया ।
अपमानित थे भरत, लाजने उन्हें सताया, मल्लयुद्धमें जीत-प्राप्तिका भाव बढ़ाया । १२ ।।

मल्लयुद्धके लिये अखाड़ा खूब सजा था, युद्ध देखने जनसमूह सब उमड़ पड़ा था ।
चर्चा थी सब ओर—युद्धश्री कौन वरेगा ? कौन करेगा राज्य, मुकट निज सीस धरेगा ।। १३ ।।

इसी बीचमें युद्ध सामने सबके आया, दाव-पेंच औ, युद्धकलाका रङ्ग दिखाया।
एक तरफ थे आप, उधर भरतेश खड़े थे, अपनी अपनी विजय-प्राप्तिके लिये अड़े थे ॥ १४ ॥

इतने में ही एक सपाटा तुमने मारा, हाथों लिया उठाय भरतको कन्धे धारा।
पटक भूमि पर दिया नहीं, यह भाव विचारा—आखिर तो है पूज्य पितासम भ्रात हमारा ॥ १५ ॥

उधर क्रोध भरतेश हृदयमें पूरा छाया, सह न सका अपमान घोर, सब न्याय भुलाया।
चक्ररत्नको याद किया, वह करमें आया, निर्दय होकर उसे आप पर तुरत चलाया ॥ १६ ॥

हहाकार मच गया, चक्र नभमें गुर्राया, शंकित थे सब हृदय, सोच अनहोनी माया।
पर वह बनकर सौम्य तुम्हारे सम्मुख आया, परिक्रमा द तीन तुम्हें निज सीस झुकाया ॥ १७ ॥

निष्फल लौटा देख, भरत दुखपूर हुआ था, उसका सारा गर्व आज चकचूर हुआ था।
होकरके असहाय, पुकारा—'हारा भाई!' तब तुम भूमि उतार उसे धिक्कार बताई ॥ १८ ॥

विजय-प्राप्ति पर भरत-राज्यश्री सन्मुख धाई, वरमाला ले तुम्हें शीघ्र वह वरने आई।
तब तुमने हो निर्ममत्व दुतकार बताई; जग-लीला लख पूर्ण विरक्ती तुम पर छाई ॥ १९ ॥

'वेश्या-सम इस राज्य-रमाको मैं नहिं भोगूँ, अपना भी सब राजपाट मैं इस दम त्यागूँ।
पिता-मार्ग पर चलूँ, निजात्माको आराधूँ, नहीं किसीसे द्वेष-राग रख संयम साधूँ,' ॥ २० ॥

ये थे तव उद्गार, जिन्हें सुन रोना आया, भरतराजका निठुर हृदय भी था पिघलाया।
निज-करणीका ध्यान आन वह बहु पछताया, गद्गद होकर तुम्हें खूब रोका समझाया ॥ २१ ॥

पर तुम पर कुछ असर न था रोने-धोनेका, समझ लिया था मर्म विश्व-कोने-कोनेका।
आत्म-सुरस लौ लगी, और कुछ तुम्हें न भाया, अनुनय-विनय किसीका भी कुछ काम न आया ॥२२॥

अहो त्यागिवर! त्याग चले सब जगकी माया, वस्त्राभूषण फेंक दिये, जब रस नहिं आया।
निर्जन वनमें पहुँच खड़े सद्ध्यान लगाया, प्रकृति हुई सब मुग्ध देख तव निर्मम काया ॥ २३ ॥

नहीं खांस-खंकार, नहिं कुछ खाना-पीना, नहीं शयन-मल-मूत्र, नहीं कुछ न्हाना-धोना।
नहीं बोल-बतलाव, नहीं कहिं जाना-आना, खड़े अटल नासाऽग्र-दृष्टि धर दिक्पट-बाना, ॥ २४ ॥

बँबी बना कर चरण-पासमें नाग बसे थे, क्रूर-जन्तु आ पास, क्रूरता भाव तजें थे।
बेल-लताएँ इधर-उधरसे खिँच आई थीं, अगोंसे तव लिपट, खूब सुख-सरसाई थीं ॥ २५ ॥

तुम थे अन्तर्दृष्टि, देखते कर्म-गणोंको—योगाऽनलमें भस्म, विकसते स्वात्म-गुणोंको।
इस ही से आनन्द-मग्न थे, गुण-अनुरागी, बहि-चिन्तासे मुक्त, मोह-ममताके त्यागी ॥ २६ ॥

हे योगीश्वर! योग-साधना देख तुम्हारी, चकित हुए सब देवि-देवता औ' नर-नारी।
एक वर्ष तुम खड़े रहे निश्चल-अविकारी, भूख-प्यास औ' शीत-घाम-बाधा सब टारी ॥ २७ ॥

योग-कीर्ति भरतेश सुनी, तब दौड़े आए, चरणोंमें पड़, सीस नमा, तव गुण बहु गाए।
उसी समय अवशिष्ट मोह सब नष्ट हुआ था, शेष घातिया कर्मपटल भी ध्वस्त हुआ था ॥२८॥

केवल-रवि तव आत्म-धाममें उदित हुआ था, विश्व चराचर ज्ञान-मुकुरमें झलक रहा था।
दर्शन-सुख औ' वीर्य-शक्तिका पार नहीं था, जीवन्मुक्त स्वरूप आपका प्रकट हुआ था ॥ २९ ॥

लखकर यह सब दृश्य, देव-गण पूजन आए, हर्षित हो अतिसुरभि पुष्प नभसे बरसाए।
दुन्दुभि बाजे बजे, शोर सुन सब जन धाए, पूजाकर, निज सीस नमाकर, अति हर्षाए ॥ ३० ॥

गन्ध-कुटी तब रची गई देवोंके द्वारा, जिसमें वही अटूट भवद्वचनाऽमृत - धारा ।
पीकर आत्म-विकास मार्गको सबने जाना, जिनका था भव निकट, योग-व्रत उनने ठाना ॥ ३१ ॥
अन्त समय कैलाश-शिखरसे निर्वृति पाई, जहाँ पिता आदीश राजते थे सुखदाई ।
आवागमन-विमुक्त हुए, भव-बाधा टाली, शाश्वत-सुखमें मग्न हुए, निजश्री सब पाली ॥ ३२ ॥
इस युगके हो प्रथम सिद्ध भगवान हमारे, ऋषभदेव से पूर्व, परम शिवधाम पधारे ।
निजाऽऽदर्श रख गये जगतके सन्मुख ऐसा, बनें भव्य 'युगवीर' त्याग सब कौड़ी-पैसा ॥ ३३ ॥

(आशीर्वाद)

बाहुबली जिनराजका, जो ध्यावैं धर ध्यान ।
सब दुख-दंगल दूर कर, लहें परम कल्याण ॥

इति श्रीबाहुबलिजिन-पूजा

नोट—श्रीगोम्मटेश्वरकी यात्राके उपलक्षमें मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-द्वारा लिखी गई इस नई भावभरी पूजाको कुछ मोटे टाइपमें अलगसे उत्तम कागजपर पुस्तकाकार छपाने का विचार है, जिसके साथमें बाहुबलीजीका नया सुन्दर चित्र भी रहेगा। जिन सज्जनोंको अपने कुटुम्ब-परिवारके लिये बाँटनेके लिये अथवा बेचनेके लिये जितनी प्रतियोंकी जरूरत हो उन्हें वे शीघ्र रिजर्व करालेवें; क्योंकि प्रायः मांगके अनुसार ही प्रतियाँ छपाई जावेंगी। लागत मूल्य प्रायः ढाई आने होगा। बाँटने आदिके लिये अधिक प्रतियाँ लेने वालोंको लागतसे भी कम मूल्यमें दी जावेंगी। इससे कम प्रतियां रिजर्व नहीं की जाएँगी। जो सज्जन बाँटनेके लिये २०० या इससे ऊपर प्रतियाँ चाहेंगे उनके नाम पुस्तकमें दिये जावेंगे, और उन प्रतियोंको बिना मूल्य रक्खा जायेगा।

—प्रकाशनविभाग वीरसेवामन्दिर।

जिन-धुनि महिमा

धन्य धन्य है घड़ी आजकी जिन-धुनि श्रवन परी ।
तत्व-प्रतीति भई अब मेरे, मिथ्यादृष्टि टरी ॥
जड़से भिन्न लखी चिन्मूरति, चेतन स्वरस भरी ।
अहङ्कार ममकार बुद्धि पुनि परमें सब प्रहरी ॥ धन्य० ॥ १ ॥
पाप-पुन्य विधि बंध-अवस्था, भासी दुखभरी ।
वीतराग-विज्ञान-भावमय, परिनत निज निखरी ॥ धन्य० ॥ २ ॥
चाह-दाह विनसी बरसी पुनि, समता मेघ-झरी ।
बाढ़ी प्रीति निराकुल-पदसों 'भागचन्द' हमरी ॥ धन्य० ॥ ३ ॥

पं० भागचन्द

समन्तभद्र-वचनामृत

[६]

(सल्लेखना)

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ।१२२।

'प्रतीकार (उपाय-उपचार)-रहित असाध्यदशाको प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (बुढापा) तथा रोगकी हालतमें और (चकार से) ऐसे ही दूसरे किसी कारणके उपस्थित होनेपर* जो धर्मार्थ—अपने रत्नत्रयरूप धर्मकी रक्षा-पालनाके लिये—देहका संत्याग है—विधिपूर्वक छोड़ना है—उसे आर्य—गणधरदेव—'सल्लेखना'—'समाधिमरण'—कहते हैं।'

व्याख्या—जिस देहत्याग (तनुविमोचन) को यहाँ सल्लेखना कहा गया है उसीको अगली कारिकामें 'अन्त-क्रिया' तथा 'समाधिमरण' के नामसे भी उल्लेखित किया है। मरणका 'समाधि' विशेषण होनेसे वह उस मरणसे भिन्न हो जाता है जो साधारण तौरपर आयुका अन्त आनेपर प्रायः सभी संसारी जीवोंके साथ घटित होता है अथवा आयुका अन्त न आनेपर भी क्रोधादिकके आवेशमें या मोहसे पागल होकर 'अपघात' (खुदकुशी, Suicide) के रूपमें प्रस्तुत किया जाता है, और जिसमें आत्माकी कोई सावधानी एवं स्वरूप-स्थिति नहीं रहती। समाधि-पूर्वक मरणमें आत्माकी प्रायः पूरी सावधानी रहती है और मोह तथा क्रोधादिकषायोंके आवेशवश कुछ नहीं किया जाता, प्रत्युत उन्हें जीता जाता है तथा चित्तकी शुद्धिको स्थिर किया जाता है और इसलिये सल्लेखना कोई अपराध, अपघात या खुदकुशी (Suicide) नहीं है। उसका 'अन्तक्रिया' नाम इस बातको सूचित करता है कि वह जीवनके प्रायः अन्तिम भागमें की जाने वाली समीचीन क्रिया है और सम्यक् चारित्रके अन्तमें उसका निर्देश होनेसे इस बातकी भी सूचना मिलती है कि वह सम्यक् चारित्रकी चूलिका—चोटीके रूपमें स्थित एक धार्मिक अनुष्ठान—है। इसीसे इस क्रिया-द्वारा जो देहका त्याग होता है वह आत्म-विकासमें सहायक अर्हदादि पंचपरमेष्ठिका ध्यान करते हुए बड़े यत्नके साथ होता है, जैसाकि कारिका नं० १२८ से जाना जाता है—यों ही विष खाकर, कूपादिमें डूबकर, गोली मारकर या अन्य अस्त्र-शस्त्रादिकसे आघात पहुँचाकर सम्पन्न नहीं किया जाता।

'सम्' और 'लेखना' इन दो शब्दोंसे 'सल्लेखना' पद बना है। 'सत्' प्रशंसनीयको कहते हैं और 'लेखना' कृशी-करण क्रियाका नाम है। सल्लेखनाके द्वारा जिन्हें कृश अथवा क्षीण किया जाता है वे हैं काय और कषाय। इसीसे सल्लेखनाके कायसल्लेखना और कषायसल्लेखना ऐसे दो भेद आगममें कहे जाते हैं। यहाँ अन्तः शुद्धिके रूपमें कषाय-सल्लेखनाको साथमें लिये हुए मुख्यतासे काय-सल्लेखनाका निर्देश है, जैसाकि यहाँ 'तनुविमोचन' पदसे और आगे 'तनुं त्यजेत्' (१२८) जैसे पदोंके प्रयोगके साथ आहारको क्रमशः घटानेके उल्लेखसे जाना जाता है।

इस कारिकामें 'निःप्रतीकारे' और 'धर्माय' ये दो पद खासतौरसे ध्यान देने योग्य हैं। निःप्रतीकार विशेषण उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, रोग इन चारोंके साथ—तथा चकारसे जिस दूसरे सदृश कारणका ग्रहण किया जाय उसके भी साथ—सम्बद्ध है और इस बातको सूचित करता है कि अपने ऊपर आए हुए चेतन-अचेतन-कृत उपसर्ग तथा दुर्भिक्षादिकको दूर करनेका यदि कोई उपाय नहीं बन सकता तो उसके निमित्तको पाकर एक मनुष्य सल्ले-खनाका अधिकारी तथा पात्र है, अन्यथा—उपायके संभव और सशक्य होनेपर—वह उसका अधिकारी तथा पात्र नहीं है।

'धर्माय' पद दो दृष्टियोंको लिये हुए है—एक अपने स्वीकृत समीचीन धर्मकी रक्षा-पालनाकी और दूसरी आत्मीय धर्मकी यथाशक्य साधना आराधनाकी। धर्मकी रक्षादिके अर्थ शरीरके त्यागकी बात सामान्यरूपसे कुछ अटपटी-सी जान पड़ती है; क्योंकि आमतौरपर 'धर्मार्थ-काममोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्' इस वाक्यके अनुसार शरीर धर्मका साधन माना जाता है, और यह बात एक

---

* अण्णं पि चापि एदारिसम्मि आगाढकारणे जादे।
—भगवती आराधना

प्रकारसे ठीक ही है; परन्तु शरीर धर्मका सर्वथा अथवा अनन्यतम साधन नहीं है, वह साधक होनेके स्थानपर कभी कभी बाधक भी हो जाता है। जब शरीरको कायम रखने अथवा उसके अस्तित्वसे धर्मके पालनमें बाधाका पड़ना अनिवार्य हो जाता है तब धर्मकी रक्षार्थ उसका त्याग ही श्रेयस्कर होता है। यही पहली दृष्टि है जिसका यहाँ प्रधानतासे उल्लेख है। विदेशियों तथा विधर्मियोंके आक्रमणादि-द्वारा ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब मनुष्य शरीर रहते धर्मको छोड़नेके लिये मजबूर किया जाता है अथवा मजबूर होता है। अतः धर्मप्राण मानव ऐसे अनिवार्य उपसर्गादिका समय रहते विचारकर धर्म भ्रष्टतासे पहले ही बड़ी खुशी एवं सावधानीसे उस धर्मको साथ लिये देहका त्याग करते हैं जो देहसे अधिक प्रिय होता है।

दूसरी दृष्टिके अनुसार जब मानव रोगादिकी असाध्यावस्था होते हुए या अन्य प्रकारसे मरणका होना अनिवार्य समझ लेता है तब वह शीघ्रताके साथ धर्मकी विशेष साधना-आराधनाके लिये प्रयत्नशील होता है, किये हुए पापोंकी आलोचना करता हुआ महाव्रतों तकको धारण करता है और अपने पास कुछ ऐसे साधर्मीजनोंकी योजना करता है जो उसे सदा धर्ममें सावधान रक्खें, धर्मोपदेश सुनावें और दुःख तथा कष्टके अवसरोंपर कायर न होने देवें। वह मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठता है, उसे बुलानेकी शीघ्रता नहीं करता और न यही चाहता है कि उसका जीवन कुछ और बढ़ जाय। ये दोनों बातें उसके लिये दोषरूप होती हैं जैसाकि आगे इस व्रतके अतिचारोंकी कारिकामें प्रयुक्त हुए 'जीवित-मरणाऽऽशंसे' पदसे जाना जाता है।

आगे इस सल्लेखना अथवा समाधिपूर्वक मरणकी महत्ता एवं आवश्यकता को बतलाते हुए स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं:—

अन्त-क्रियाऽधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभव समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ १२३ ॥

'(चूँकि) तपका—अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतादिरूप तपश्चर्याका—फल अन्तक्रियाके—सल्लेखना, सन्यास अथवा समाधिपूर्वक मरणके—आधार पर अवलम्बित—समाश्रित—है ऐसा सर्वदर्शी सर्वज्ञदेव ख्यापित करते हैं इसलिये यथाशक्ति समाधिपूर्वक मरणका प्रयत्न करना चाहिये।'

व्याख्या—इस कारिकाका पूर्वार्ध और उसमें भी 'अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं' यह सूत्रवाक्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसमें बतलाया है कि 'तपका फल अन्तक्रिया (सल्लेखना) पर अपना आधार रखता है। अर्थात् अन्तक्रिया यदि सुघटित होती है—ठीक समाधिपूर्वक मरण बनता है—तो किये हुये तपका फल भी सुघटित होता है, अन्यथा उसका फल नहीं भी मिलता। अन्तक्रियासे पूर्वका वह तप कौनसा है जिसके फलकी बातको यहाँ उठाया गया है? वह तप अणुव्रत-गुणव्रत और शिक्षाव्रतात्मक चारित्र है जिसके अनुष्ठानका विधान ग्रन्थमें इससे पहले किया गया है। सम्यक् चारित्रके अनुष्ठानमें जो उद्योग किया जाता है और उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' कहलाता है*। इस तपका परलोक-सम्बन्धी यथेष्ठ फल प्रायः तभी प्राप्त होता है जब समाधिपूर्वक मरण होता है; क्योंकि मरणके समय यदि धर्मानुष्ठानरूप परिणाम न होकर धर्मकी विराधना हो जाती है तो उससे दुर्गतिमें जाना पड़ता है और वहाँ उन पूर्वोपार्जित शुभकर्मोंके फलको भोगनेका कोई अवसर ही नहीं मिलता—निमित्तके अभावमें वे शुभकर्म बिना रस दिये ही खिर जाते हैं। एक बार दुर्गतिमें पड़ जानेसे अक्सर दुर्गतिकी परम्परा बढ़ जाती है और पुनः धर्मको प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसीसे शिवार्य जी अपनी भगवती आराधनामें लिखते हैं कि 'दर्शनज्ञानचारित्ररूप धर्ममें चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करनेवाला मनुष्य भी यदि मरण समय उस धर्मकी विराधना कर बैठता है तो वह अनन्त संसारी तक हो जाता है':—

सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते ।
मरणे विराधयित्ता अनंतसंसारिओ दिट्ठो ॥ १५ ॥

इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि अन्तसमयमें धर्म-परिणामोंकी सावधानी न रखनेसे यदि मरण बिगड़ जाता है तो प्रायः सारे ही किये कराये पर पानी फिर जाता है।

---

* जैसा कि भगवती आराधनाकी निम्न गाथासे प्रकट है:—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥१०॥

इसीसे अन्तसमयमें परिणामोंको सँभालनेके लिये बहुत बड़ी सावधानी रखने की जरूरत है और इसीसे प्रस्तुत कारिकामें इस बात पर जोर दिया गया है कि जितनी भी अपनी शक्ति हो उसके अनुसार समाधिपूर्वक मरणका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

इन्हीं सब बातोंको लेकर जैन समाजमें समाधिपूर्वक मरणको विशेष महत्व प्राप्त है। उसकी नित्यकी पूजाओं-प्रार्थनाओं आदिमें 'दुक्खखओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो वि' जैसे वाक्यों द्वारा समाधि मरणकी बराबर भावना की जाती है और भगवती आराधना जैसे कितनेही ग्रन्थ उस विषयकी महती चर्चाओं एवं मरण-समय-सम्बन्धी सावधानताकी प्रक्रियाओंसे भरे पड़े हैं। लोकमें भी 'अन्त समा सो समा' 'अन्त मता सो मता' और 'अन्त भला सो भला' जैसे वाक्योंके द्वारा इसी अन्तक्रिया-के महत्वको ख्यापित किया जाता है। यह क्रिया गृहस्थ तथा मुनि दोनोंके ही लिये विहित है।

स्नेहं वैरं सगं परिग्रहं चाऽपहाय शुद्धमना.।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः।१२४।
आलोच्य सर्वमेनः कृति-कारितमनुमतं च निर्व्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥ १२५ ॥

'(समाधि मरणका प्रयत्न करने वाले सल्लेखना-व्रतीको चाहिये कि वह) स्नेह (प्रीति, रागभाव) वैर (द्वेषभाव), संग (सम्बन्ध, रिश्ता नाता) और परि-ग्रह (धनधान्यादि बाह्य वस्तुओंमें ममत्वपरिणाम) को छोड़ कर शुद्ध चित्त हुआ प्रियवचनोंसे स्वजनों तथा परिजनोंको (स्वयं) क्षमाकरके उनसे अपनेको क्षमा करावे। और साथ ही स्वयं किये-कराये तथा अपनी अनुमोदनाको प्राप्त हुए संपूर्ण पापकर्मको निश्छल-निर्दोष आलोचना करके पूर्ण महाव्रतको—पाँचों महाव्रतोंको—मरणपर्यन्तके लिये धारण करे।'

व्याख्या—इन दो कारिकाओं तथा अगली दो कारि-काओंमें भी समाधिमरणके लिये उद्यमी सल्लेखनानुष्ठाता-के त्यागक्रम और चर्याक्रमका निर्देश किया गया है। यहाँ वह राग-द्वेषादिके त्यागरूपमें कषायसल्लेखना करता हुआ अपने मनको शुद्ध करके प्रिय वचनों द्वारा स्वजन-परिजनोंको उनके अपराधोंके लिये क्षमा प्रदान करता है और अपने अपराधोंके लिये उनसे क्षमा की याचना करता हुआ उसे प्राप्त करता है। साथ ही, स्वयं करे-कराये तथा अपनी अनुमोदना में आये सारे पापोंकी बिना किसी छल-छिद्रके आलोचना करके पूर्ण महाव्रतोंको मरणपर्यन्तके लिये धारण करता है और इस तरह समाधिमरणकी पूरी तय्यारी करता है।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥ १२६ ॥

'(महाव्रतोंके धारण करनेके बाद) सल्लेखनाके अनुष्ठाताको चाहिये कि वह शोक, भय, विषाद, क्लेश, कलुषता और अरतिको भी छोड़ कर तथा बल और उत्साहको उदयमें—लाकर बढ़ाकर—अमृतोपम आगम-वाक्योंके (स्मरण-श्रवण-चिन्तनादि-) द्वारा चित्त-को (बराबर) प्रसन्न रक्खे—उसमें लेशमात्र भी अप्रस-न्नता न आने दे।'

व्याख्या—यहाँ सल्लेखना व्रतीके उस कर्तव्यका निर्देश है जिसे महाव्रतोंके धारण करनेके बाद उसे पूर्ण प्रयत्नसे पूरा करना चाहिये और वह है चित्तको प्रसन्न रखना। चित्तको प्रसन्न रक्खे बिना सल्लेखनाव्रतका ठीक अनुष्ठान बनता ही नहीं। चित्तको प्रसन्न रखनेके लिये प्रथम तो शोक, भय, विषाद, क्लेश, कलुषता और अरति-के प्रसंगोंको अपने से दूर रखना होगा—उन्हें चित्तमें भी स्थान देना नहीं होगा। दूसरे सत्तामें स्थित अपने बल तथा उत्साहको उदयमें लाकर अपने भीतर बल तथा उत्साहका यथेष्ठ संचार करना होगा। साथ ही ऐसा प्रसंग जोड़ना होगा, जिससे अमृतोपम शास्त्र-वचनोंका श्रवण स्मरण तथा चिंतनादिक बराबर होता रहे; क्योंकि वे ही चित्तको प्रसन्न रखनेमें परम सहायक होते हैं।

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥१२७॥
खरपान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥ १२८ ॥

'(साथ ही समाधिमरणका इच्छुक श्रावक) क्रमशः अहारको—कवलाहाररूपभोजनको—घटाकर (दुग्धादि-रूप) स्निग्धपानको बढ़ावे, फिर स्निग्धपानको भी घटाकर क्रमशः खरपानको—शुद्ध कांजी तथा उष्ण जलादिको—बढ़ावे। और इसके बाद खरपानको भी

घटाकर तथा शक्तिके अनुसार उपवास करके पंच-नमस्कारमें - अर्हदादि पंचपरमेष्ठिके ध्यानमें—मनको लगाता हुआ पूर्ण यत्नसे—व्रतोंके परिपालनमें पूरी सावधानी एवं तत्परताके साथ—शरीरको त्यागे ।'

व्याख्या—कषायसंलेखनाके अनन्तर काय-सल्लेखनाकी विधि-व्यवस्था करते हुए यहाँ जो आहारादिको क्रमशः घटाने तथा स्निग्ध पानादिको क्रमशः बढ़ानेकी बात कही गई है वह बड़े ही अनुभूत प्रयोगको लिये हुए है। उससे कायके कृश होते हुए भी परिणामोंकी सावधानी बनी रहती है। और देहका समाधि-पूर्वक त्याग सुघटित हो जाता है। यहाँ पंचनमस्कारके स्मरणरूपमें पंचपरमेष्ठिका—अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधु-सन्तोंका—ध्यान करते हुए जो पूर्ण सावधानीके साथ देहके त्यागकी बात कही गई है वह बड़े महत्वकी है और इस अन्तक्रियाके भवन पर कलश चढ़ानेका काम करती है। अन्त उपवासकी बात शक्तिके ऊपर निर्भर है यदि शक्ति न हो तो उसे न करनेसे कोई हानि नहीं।

जीवित-मरणाऽऽशंसे भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः ।
सल्लेखनाऽतिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२६॥

जीनेकी अभिलाषा, (जल्दी) मरनेकी अभिलाषा, (लोक-परलोक-सम्बन्धी) भय, मित्रोंकी (उपलक्षणसे स्त्री पुत्रादिकी भी) स्मृति (याद) और भावी भोगादिकी अभिलाषा रूप निदान, ये सल्लेखना व्रतके पाँच अतीचार (दोष) जिनेन्द्रोंने—जैन तीर्थंकरोंने—(आगममें) बतलाये हैं।'

व्याख्या जो लोग सल्लेखनाव्रतको अंगीकार कर पीछे अपनी कुछ इच्छाओंकी पूर्तिके लिये अधिक जीना चाहते हैं, या उपसर्गादिकी वेदनाओंको समभावसे सहनेमें कायर होकर जल्दी मरना चाहते हैं वे अपने सल्लेखनाव्रतको दोष लगाते हैं। इसी तरह वे भी अपने उस व्रतको दूषित करते हैं जो किसी प्रकारके भय तथा मित्रादिका स्मरणकर अपने चित्तमें उद्वेग लाते हैं अथवा अपने इस व्रतादिके फलरूप में कोई प्रकारका निदान बाँधते है। अतः सल्लेखनाके उन फलोंको प्राप्त करनेके लिये जिनका आगे निर्देश किया गया है इन पाँचों दोषोंमेंसे किसी भी दोषको अपने पास फटकने देना नहीं चाहिये।

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाऽम्बुनिधिम् ।
निष्पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ १३० ॥

'जिसने धर्म (अमृत) का पान किया है सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्रका सल्लेखनासहित भले प्रकार अनुष्ठान किया है—वह सब दुःखोंसे रहित होता हुआ उस निःश्रेयसरूप सुख-समुद्रका अनुभव करता है जिसका तीर नहीं—तट नहीं, पार नहीं और इसलिये जो अनन्त है, (अनन्तकाल तक रहनेवाला है)—तथा उस अभ्युदयरूप सुखसमुद्रका भी अनुभव करता है जो दुस्तर है—जिसको तिरना, उल्लंघन करना कठिन है, और इसलिये जो प्राप्त करके सहजमें ही छोड़ा नहीं जा सकता।'

व्याख्या—यहाँ सल्लेखना - सहित धर्मानुष्ठानके फलका निर्देश करते हुए उसे द्विविधरूपमें निर्दिष्ट किया है—एक फल निःश्रेयसके रूपमें है, दूसरा अभ्युदयके रूपमें। दोनोंको यद्यपि सुख-समुद्र बतलाया है परन्तु दोनों सुख-समुद्रोंमें अन्तर है और वह अन्तर अगली कारिकाओंमें दिये हुए उनके स्वरूपादिकसे भले प्रकार जाना तथा अनुभवमें लाया जा सकता है। अगली कारिकामें निःश्रेयसको 'निर्वाण' तथा 'शुद्धसुख' के रूपमें उल्लेखित किया है, साथही 'नित्य' भी लिखा है और इससे यह स्पष्ट है कि अभ्युदयरूप जो सुख-समुद्र है वह पारमार्थिक न होकर सांसारिक है-ऊंचेसे ऊँचे दर्जेका लौकिक सुख उसमें शामिल है—परन्तु निराकुलता-लक्षण सुखकी दृष्टिसे वह असली खालिस स्वाश्रित एवं शुद्ध सुख न होकर नकली मिलावटी पराश्रित एवं अशुद्ध सुखके रूपमें स्थित है और सदा स्थिर भी रहने वाला नहीं है; जबकि निःश्रेयस सुख सदा ज्योंका त्यों स्थिर रहने वाला है—उसमें विकारके हेतुका मूलतः विनाश हो जानेके कारण कभी किसी विकारकी संभावना तक नहीं है। इसीसे निःश्रेयस सुखको प्रधानता प्राप्त है और उसका कारिकामें पहले निर्देश किया गया है। अभ्युदय सुखका जो स्वरूप १३५ वीं कारिकामें दिया है उससे वह यथेष्ट पूजा, धन, आज्ञा बल, परिजन, काम और भोगके अभावमें होने वाले दुःखोंके अभावका सूचक है, उन्हीं सब दुःखोंका अभाव उसके स्वामीके लिये 'सर्वैर्दुःखैरनालीढः' इस वाक्यके द्वारा विहित एवं विवक्षित है। वह अगली

कारिकामें दिये हुए जन्म-जरा-रोग और मरणके दुःखोंसे, इष्ट वियोगादि जन्य शोकोंसे और अपनेको तथा अपने परिवारादिको हानि पहुँचनेके भयोंसे परिमुक्त नहीं होता; जब कि निःश्रेयस सुखके स्वामीके इन सब दुःखोंकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती और वह पूर्णतः सर्व प्रकारके दुःखोंसे अनालीढ एवं अस्पृष्ट होता है। ये दोनों फल परिणामोंकी गति अथवा प्रस्तुत रागादिपरिणतिकी विशिष्टताके आश्रित हैं।

प्रस्तुत कारिकामें दोनों सुख- समुद्रोंके जो दो अलग अलग विशेषण क्रमशः 'निस्तीर' और 'दुस्तर' दिये हैं वे अपना खास महत्व रखते हैं। जो निस्तीर हैं उस निःश्रेयस सुख-समुद्रको तर कर पार जानेकी तो कोई भावना ही नहीं बनती—वह अपनेमें पूर्ण तथा अनन्त है। दूसरा अभ्युदय सुख-समुद्र सतीर होनेसे ससीम है, उसके पार जाकर निःश्रेयस सुखको प्राप्त करनेकी भावना जरूर होती है परन्तु वह इतना दुस्तर है कि उसमें पड़कर अथवा विषय-भोगकी दलदलमें फँसकर निकलना बहुत ही कठिन हो जाता है—विरले मनुष्य ही उसे पार कर पाते हैं।

जन्म-जरा-ऽऽमय-मरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥ १३१ ॥

'जो जन्म (देहान्तर प्राप्ति), जरा, रोग, मरण (देहान्तर प्राप्तिके लिये वर्तमान देहका त्याग), शोक, दुःख, भय और (चकार या उपलक्षणसे) राग-द्वेष-काम क्रोधादिकसे रहित, सदा स्थिर रहने वाला शुद्धसुखस्वरूप निर्वाण है—सकल विभाव-भावके अभावको लिये हुए बाधारहित परम निराकुलतामय स्वाधीन सहजानन्दरूप मोक्ष है—उसे निःश्रेयस कहते हैं।

विद्या-दर्शन-शक्ति-स्वास्थ्य-प्रह्लाद-तृप्ति-शुद्धि - युजः।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम्॥१३२॥

'जो विद्या—'केवलज्ञान, दर्शन—केवल दर्शन, शक्ति अनन्तवीर्य—स्वास्थ्य—स्वात्मस्थितिरूप परमौदासीन्य (उपेक्षा), प्रह्लाद—अनन्तसुख, तृप्ति—विषयाऽकांक्षा,—और शुद्धि—द्रव्य-भावादि कर्ममल रहितता, इन गुणोंसे युक्त है, साथही निरतिशय हैं विद्यादि गुणोंमें हीनाधिकताके भावसे रहित हैं, और निरवधि हैं—नियत कालकी मर्यादासे शून्य हुए सदा अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेवाले हैं, वे (ऐसे सिद्ध जीव) निःश्रेयस सुखोंमें पूर्णतया निवास करते हैं।

व्याख्या—यहाँ निःश्रेयस सुखको प्राप्त होनेवाले सिद्धोंकी अवस्था-विशेषका कुछ निर्देश किया गया है, जिसमें उनके निरतिशय और निरवधि होने की बात खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और वह इस रहस्यको सूचित करती है कि निःश्रेयस सुखको प्राप्त होने वाले सब सिद्ध विद्यागुणोंकी दृष्टिसे परस्पर समान हैं—उनमें हीनाधिक्यका कोई भाव नहीं है—और वे सबही सदा अपने गुणोंमें स्थिर रहनेवाले हैं—उनके सिद्धत्व अथवा निःश्रेयसत्वकी कोई सीमा नहीं है।

काले कल्पशतेऽपिच गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोक-संभ्रान्ति-करण-पटुः॥१३३

'सैकड़ों कल्पकाल बीत जाने पर भी सिद्धोंके विक्रिया नहीं देखी जाती उनका स्वरूप कभी भी विकार भाव अथवा वैभाविक परिणतिको प्राप्त नहीं होता। यदि त्रिलोकका संभ्रान्ति कारक—उसे एकदम उलट पलट कर देने वाला—कोई महान असाधारण उत्पात भी हो तबभी उनके विक्रियाका होना सम्भव नहीं है—वे बराबर अपने स्वरूपमें सदा कालके लिये स्थिर रहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ एक ऐसे महान् एवं असाधारण उत्पातकी कल्पनाकी गई है जिससे तीनलोककी सारी रचना उलट-पलट हो जाय और तीनों लोकोंको पहचाननेमें भारी भ्रम उत्पन्न होने लगे। साथ ही लिखा है कि सैकड़ों कल्पकाल बीत जाने पर ही नहीं बल्कि यदि कोई ऐसा उत्पात भी उपस्थित हो तो उसके अवसर पर भी निःश्रेयस सुखको प्राप्त हुए सिद्धोंमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होगा—वे अपने स्वरूपमें ज्योंके त्यों अटल और अडोल बने रहेंगे। कारण इसका यही है कि उनके आत्मासे विकृत होनेका कारण सदाके लिये समूल नष्ट हो जाता है।

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते।
निष्किट्टिकालिकाच्छवि-चामीकर-भासुरात्मानः॥१३४॥

'जो निःश्रेयसको—निर्वाणको—प्राप्त होते हैं वे कीट और कालिमासे रहित छवि वाले सुवर्णके समान

देदीप्यमान आत्मा होते हुए तीन लोकके चूड़ामणि जैसी शोभाको धारण करते हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार खानके भीतर सुवर्ण पाषाणमें स्थित सुवर्ण कीट और कालिमासे युक्त हुआ-सा निस्तेज बना रहता है। जब अग्नि आदिके प्रयोग-द्वारा उसका वह सारा मल छँट जाता है तब वह शुद्ध होकर देदीप्यमान हो उठता है। उसी प्रकार संसारमें स्थित यह जीवात्मा भी द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मके मलसे मलिन हुआ अपने स्वरूपको खोए हुए-सा निस्तेज बना रहता है। जब सद्व्रतों और सल्लेखनाके अनुष्ठानादिरूप तपश्चरणकी अग्निमें उसका वह सब कर्ममल जलकर अलग हो जाता है तब वह भी अपने स्वरूपका पूर्ण लाभकर देदीप्यमान हो उठता है, इतना ही नहीं बल्कि त्रैलोक्य चूडामणिकी शोभाको धारण करता है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त करता है।

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलि-परिजन-काम-भोग-भूयिष्टैः।
अतिशयति भुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥१३५॥

'सल्लेखनाके अनुष्ठानसे युक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप समीचनधर्म जिस 'अभ्युदय' फलको फलता है वह पूजा, धन तथा आज्ञाके ऐश्वर्य (स्वामित्व) से युक्त हुआ बल, परिजन, काम तथा भोगकी प्रचुरताके साथ लोकमें अतीव उत्कृष्ट और आश्चर्यकारी होता है।

व्याख्या—यहाँ समीचीन धर्मके अभ्युदय फलका सांकेतिक रूपमें कुछ दिग्दर्शन कराया गया है। अभ्युदय फल लौकिक उत्कर्षकी बातोंको लिए हुए है, लौकिकजनोंकी प्राय: साक्षात् अनुभूतिका विषय है और इसलिये उसके विषयमें अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं है, फिर भी 'भूयिष्टैः' 'अतिशय भुवनं' और 'अद्भुतं' पदोंके द्वारा उसके विषयमें कितनी ही सूचनाएँ कर दी गई हैं और अनेक सूचनाएँ सम्यग्दर्शनके महात्म्य वर्णनमें पहले आ चुकी हैं।

—युगवीर

फतेहपुर (शेखावाटी) के जैन मूर्ति-लेख

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

फतेहपुर राजपूताना प्रान्तके अन्तर्गत जयपुरके शेखावाटी जिलेका पुराना शहर है। इसे हिसारके नवाब फतहखाँने सं० १५०८ में बसाया था और उसे अपने नामसे प्रसिद्ध किया था।

फतेहपुर रेगिस्तानके उस बालुकामय प्रदेशमें बसा हुआ है, जहाँ रेतके बड़े-बड़े टीले मीलों तक चारों ओर दिखाई देते हैं। दूरसे वे पहाड़ सदृश प्रतीत होते हैं; परन्तु वे पहाड़ नहीं हैं। हां, उनमें चमकीले बालूकण अथवा अभ्रकके टुकड़े आगन्तुक व्यक्तिको अवश्य सम्भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। वहाँ अन्य जंगलोंके समान सघन एवं छायादार वृक्ष तो कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते, पर अनेक झाड़ी, जांट, खैर केकड़ा और कीकर वगैरहके वृक्षोंका समूह अवश्य दिखाई देता है, जो प्रकृतिकी शोभाको धारण करते हुए अपनी साधारण छायामें पथिकोंके दिनकर जनित संतापको कम करनेका प्रयत्न करते हैं। हाँ, शहर और गांवोंके आस-पास छायादार नीमके वृक्ष भी राजपूतानामें देखनेमें आते हैं। वे प्रायः घरोंके सामनेभी लगे हुए दिखाई देते हे। और बड़-पीपल आदिके वृक्ष केवल धर्मायतनोंमें ही पाये जाते हैं। वहाँ अनेक कुआ-बावड़ी हैं इसलिये पानीकी कमी तो नहीं है, परन्तु कुए अधिक गहरे है, और उनका पानी स्वच्छ एवं मीठा है और वह स्वास्थ्यवर्धक भी है फिर भी जनता उनसे अपना निर्वाह कर लेती है।

फतेहपुरमें गर्मीके दिनोंमें अधिक गर्मी पड़ती है—दिन भर लू चला करती है, और जाड़ेके दिनोंमें शीत भी अधिक पाया जाता है। वहां १५-१६ इंचसे अधिक वारिस नहीं होती। सिंचाईका वहाँ कोई साधन नहीं है, नदी भी कोई ऐसी नहीं है जिससे सिंचाईकी व्यवस्था हो सके, अतएव यहांकी खेती

केवल वारिस पर ही निर्भर है, इसीसे यहां केवल एक ही फसल बरसातमें गवार, मोठ, मूँग और चोआ आदिकी होती है। खेती की जमीन बैलों और ऊँटों-के द्वारा जोती जाती है। मूली, गाजार, बैंगन, तोरई कांदा लहसुन टमाटर धनिया, पौदीना और पालक आदि शाक-सब्जीकी खेती भी होती है। चौमासेमें मतीरा (तरबूज) और कंकड़ी अधिक होती है, गाँवके आस-पासके लोग मतीरा और कंकड़ी बेचने आया करते हैं।

फतेहपुरके मतीरे अधिक प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि नवाब अलिफखाँ (सं० १६६६) के समयमें सम्राट् जहांगीरने शेखावाटीके मतीरोंकी प्रशंसा सुनकर फतेहपुरसे एक मतीरा अपने दरबारमें मंगाया था जिसका वजन ३३॥ सेर था।

फतेहपुरके नवाब—

फतेहपुरके वे सभी नवाब जिन्होंने वि० सं० १५०८ से सं० १७८७ तक २७६ वर्ष झुँझनूं और फतेहपुरमें राज्यशासन किया है। उनकी कुल संख्या १२ है और जिनके नाम इसप्रकार हैं:—

फतहखाँ, जलालखाँ, दौलतखाँ, ...हरखाँ, फदनखाँ, ताजखाँ, अलिफखाँ, दौलतखाँ, सरदारखाँ (१) दीनदारखाँ, सरदारखाँ (२) और कामयाबखाँ। इनके बाद फतेहपुर और झुँझनूमें शेखावत राजपूतोंका शासन रहा है।

फतहखाँ हिसारके नवाब थे। इनके पिताका नाम ताजखाँ और पितामहका नाम कायमखाँ था, जो ददरेरागाँवके चौहान राजा मोटेरावका पुत्रथा, और जिसका नाम कर्मसिंह था। सं० १४४० में दिल्लीके बादशाह फीरोजशाह तुगलककी आज्ञासे हिसारके फौजदार सैयद नासिरने ददरेरा पर हमला किया था, उसमें मोटेरावका उक्तलड़का उसके हाथ लगा। लड़का होशयार और चतुर था, इसीसे सैयद नासिरने उसे मुसलमान बनाकर अपने पास रख लिया और उसका नाम कायमखाँ रक्खा गया। बादमें उसके दानों भाइयोंको भी मुसलमान बना लिया गया। सं० १४४१में सैयद नासिरकी मृत्यु होगई। तब फीरोजशाह तुगलकने कायमखाँको हिसारका नवाब बनादिया। नवाबी प्राप्त होनेके बाद कायमखाँका प्रताप एवं प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता गया। बादशाही दरबारमें भी उसका प्रभाव अंकित हो गया और उससे प्रायःलोग डरने लगे। कायमखाँको खानखानाकी उपाधि भी प्राप्त थी, इसकी ७ स्त्रियाँ थीं, जिनसे छह पुत्र पैदा हुए थे।

फीरोजशाह तुगलककी सं० १४७५में मृत्यु होगई, तब दिल्लीकी बादशाहत बड़ी अस्त-व्यस्त दशामें होगई थी, उसका कारण आपसी फूट और परस्परका अविश्वास था। यही वजह है कि २६ वर्षके अल्प-समयमें दिल्लीमें फीरोजशाहके बाद ८वाँ बादशाह सैयद खिजरखाँ था। खिजरखाँ नवाब कायमखाँके प्रतापको सह न सका और उसका विक्रम देखकर वह भयभीत रहने लगा। उसने अवसर पाते ही कायमखाँको अपने बेटे अहमदखाँ के साथ किलेकी बुर्जसे नीचे जमनामें ढकेल दिया, जिससे वे डूब कर मर गये। और ताजखाँ तथा मुहम्मदखाँको हिसारसे निकाल दिया गया। खिजरखाँके मरनेके बाद वे दोनों पुनः हिसारमें आकर राज्य करने लगे। ताजखाँ और फतहखाँके ३१ वर्ष राज्य करनेके बाद वे लोग हिसार छोड़ कर चले गये। और अपने द्वारा मरूभूमिमें दो नूतन शहर बसा कर राज्य करने लगे।

फतहखाँ ने सं० १५०६ में फतेहपुरमें किला बनवाना प्रारंभ किया था जो दो वर्षमें बनकर पूरा हो गया। तब उसने सं० १५०८में किलेमें रहना प्रारंभ कर दिया।

सेठ तोणमल या तोहनमल्ल

जिस समय फतेहखाँ हिसारसे फतहपुर आया उसी समय उनके साथ वहाँ के निवासी सेठ हेमराजके सुपुत्र सेठ तोहनमल्ल, जो फतहखाँ के मुसाहिब थे आये। वे अग्रवाल वंशी और दि०जैनधर्मके अनुयायी थे। फतहखाँके साथ इनकी घनिष्ट मित्रता थी। फतहखाँ उनकी सलाह लिये बिना कोई काम नहीं करता था, सेठ तोणमल या तोहनमल्ल भी राजनीतिमें दक्ष थे और राज्यकार्यमें अपना पूरा योग देते थे। वे भी अपने परिवारके साथ फतहपुर आगए। वे बड़े निरभिमानी थे, इनके तीन भाई और थे, जिनका नाम क्रमशः टीलणदास, रूपचन्द और पद्मराज था, सेठजी

अपने साथ हिसारसे दो पुरानी मूर्तियाँ भी लाये थे। जिनमें एक प्रतिमा सप्तधातु की थी जिसमें चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ अंकित थीं, और जो, सं० १०६६ माघ सुदि ११ को मूलसंघी आचार्य पद्मनन्दि के द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी। इसका चित्र अन्यत्र दिया हुआ है। दूसरी मूर्ति चन्द्रप्रभ भगवान की है, जो काले पाषाणपर उत्कीर्ण की हुई है, वह सं० १११३ में वैसाख सुदि ११ को प्रतिष्ठित हुई थी। इन दोनों मूर्तियोंका ईश्वरदास नामके भोजक अपने साथ लाये थे।

इन दोनों मूर्तियों के कारण सेठजीने सं० १५०८ में दिल्ली पट्टके भ० जिनचन्द्रजीके उपदेशसे दिगम्दर जैन मन्दिरका शिलान्यास फाल्गुन सुदि २ को किया, और मन्दिर तय्यार होने पर उक्त मूर्तियाँ बड़े भारी महोत्सवके साथ बिराजमान कर दीं।

सं० १७७० में चौधरी रूपचन्दजीने उक्त दिल्ली पट्टके भट्टारक श्रीदेवेन्द्र कीर्तिकी आज्ञासे मन्दिर-का जीर्णोद्धार किया। और सं० १८६१ में जब भ० ललितकीर्ति फतेहपुर आये, तब वहाँ की समाजने उनका उचित समादर किया। जैनियोंका वह मन्दिर उस समय पृथ्वीमें धँस गया था, अतः भट्टारक जी-के अनुरोधसे समाजने उसका जीर्णोद्धार करवा दिया और उसीके ऊपर एक नये विशाल मन्दिरका निर्माण भी करवा दिया। ये दोनों ही मन्दिर अब तक बराबर बने हुए हैं। ऊपरका मन्दिर तय्यार हो जाने-के कारण नीचेके मन्दिरकी सभी मूर्तियाँ ऊपरकी वेदीमें विराजमान करदी गईं, जबसे उनका वहीं पर बराबर पूजन होने लगा। यह नया मन्दिर पहले मन्दिरसे दूने सु० स्थान पर संगमरमरके पत्थरका बना हुआ है, उसमें अन्दर सुवर्णका कामभी किया गया है। अनेक संस्कृत पद्य भी सुवर्णाक्षरोंमें अंकित किये गए हैं, जिनसे मन्दिरकी शोभा दुगुणित हो गई है। मन्दिरमें दो शिलालेख और अनेक प्राचीन यन्त्र हैं जिनसे इतिहास-विषयक कुछ सामग्री प्राप्त हो जाती है। यन्त्रोंमें सबसे पुराना यन्त्र सम्यग्दर्शनका है, जो सं० १५४३में मगसिर वदी १२ गुरुवारके दिन उत्कीर्ण किया गया है। दूसरा यन्त्र सोलह कारणका है जो सं० १५४६में उत्कीर्ण कराया था। तीसरा यन्त्र स० १५७३का है और चौथा सं० १५७६ का।

भ० ललित कीर्तिके प्रशिष्य और पांडे रूपचन्दजी के शिष्य पं० जीवनराम थे, जिनके हाथका लिखा हुआ एक गुटका वहां सुरक्षित है, जो एक लाख श्लोक प्रमाण बतलाया जाता है! उस गुटके को देखनेसे इस बातका पता चल सकेगा कि उसमें किन किन ग्रंथों का संग्रह एवं संकलन किया गया है, और वे कितने पुराने एवं महत्व के हैं। उन्होंने अपनी मृत्युसे पहले अपनी एक छतरीभी बनवाईथी जो अबभी मौजूद है। इनके पश्चात् अन्य लोग पट्ट पर बैठे पर बादमें वह चला नहीं। उक्त सेठ तोहनमल्लजीके माता पिता भी हिसारसे बादमें आकर फतेहपुर ही रहने लगे थे। वर्तमानमें फतेहपुर और आस-पासके गांवोंमें जो भी अग्रवाल जैनी हैं वे सब इन्हीं सेठजीके वंशज कहे जाते हैं।

हिसारके एक सेठ हेमराजका उल्लेख भ० यशःकीर्तिने अपने 'पाण्डव पुराण' में किया है, जिसमें वे

१ ईश्वरदास शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनका वंश भोजक कहलाता है। इनके वंशज फतेहपुरमें अबभी मौजूद हैं। जैन मन्दिरमें भजनादि करनेके कारण जैनियोंके साथ इनका प्रेम सम्बंध चला जाता है। जैनमन्दिरोंमें यह सेवा कार्य करते हैं। अब यह परम्परा नहींके बराबर है।

२ यह भट्टारक जिनचन्द वे ही हैं जो भट्टारक पद्मनन्दिके प्रशिष्य और भ० शुभचन्दके पट्टधर थे। यह मूलसंघस्थित नन्दीसंघ, बलात्कारगण और सारस्वतिगच्छके विद्वान थे और दिल्ली पट्टके पट्टधर थे। यह बड़े प्रभावी थे। संवत् १५०७ में पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे, सं० १५४८ में इन्होंने जीवराज पापड़ीवालके सहयोगसे सहस्त्रों मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा कराई थी। इनके अनेक विद्वान शिष्य थे। भ० रत्नकीर्ति और पं० मेधावी उनमें प्रधान थे, जिन्होंने 'धर्मसंग्रह श्रावकाचारकी रचना हिसारमें प्रारम्भ करके सं० १५४१ में कुतुबखानके राज्यकालमें समाप्त किया था। इनके दो शिष्य और भी थे, ब्रह्म नरसिंह और ब्रह्म तिहुणा। ब्रह्म तिहुणाने सं० १५१८ में पं० मेधावीके उपदेशसे पंचसंग्रह और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति लिखाकर उन्हींको प्रदान किया था इनका बनाया हुआ एक चतुर्विंशति जिन स्तोत्र भी है। जो 'अनेकान्त' वर्ष ११ किरण ३ में छप चुका है।

देहलीके बादशाह मुबारिकशाहके मन्त्री बतलाये गये हैं, वे भी अग्रवाल थे। परन्तु उस ग्रंथमें कुलादि परिचय-विषयक जो नामादि दिये हैं, उनमें कुछ भिन्नता दिखाई देती है दूसरे अपने मन्त्रित्वकालमें वे देहली रहे हैं, परन्तु विशेष सामग्रीके अभावमें अभी प्रामाणिक रूपसे यह बतलाना कठिन है कि प्रस्तुत दोनों हेमराज एक ही व्यक्ति हैं, या भिन्न-भिन्न। इसमें सन्देह नहीं कि, दोनोंका नाम एक है। पाण्डवपुराणमें उनके ज्येष्ट पुत्रका नाम 'मोल्हण' बतलाया गया है जबकि 'फतेहपुर परिचय' नामक पुस्तकमें उनका नाम तोणमल्ल मिलता है, यह सभावना जरूर है कि दोनों व्यक्ति हिसार निवासी हैं, पर पर्याप्त सामग्रीके अभावमें अभी उन्हें एक बतलाना संगत नहीं जंचता।

इस तरह फतेहपुर समुन्नत शहर है, वहाँ अनेक कवि और सुन्दरदासजी जैसे वेदांती संत हुए हैं। और अनेक धनीमानी सज्जन भी हुए हैं। उनमें सेठ सुखानन्दजीका नाम तो खास तौरसे उल्लेखनीय है जो फतेहपुरके निवासी थे। और जिन्होंने अपने जीवनमें अनेक धार्मिककार्य सम्पन्न किये हैं। बम्बईकी विशाल धर्मशालाभी उन्हींकी बनाई हुई है।

फतेहपुरके सज्जन बा. गिन्नीलालजीने मेरी प्रेरणासे निम्न मूर्तिलेख और 'परिचय' पुस्तक भिजवाई थी, जिसे मैं अनकाशवश अनेकान्तमें न दे सका था, वे अब दिये जारहे हैं। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। आशा है दूसरे सज्जनोंको भी इससे प्रेरणा मिलेगी कि वे भी अपने-अपने स्थानोंके मूर्तिलेख उतरवाकर अनेकान्तमें प्रकाशनार्थ भेजें।

श्रीपार्श्वनाथ दि० जैनमंदिरके शिलालेख

संवत् १५०८ मिती फागुन सुदि २ साह श्रावक तोहण देवराकी नीव डलवाई। संवत १७७० मिती फागुन सुदि २ भट्टारक श्री खेमकीर्ती तत्पट्टे भट्टारक सहस कीर्ती तत्पट्टे भट्टारक महीचन्द्र तत्पट्टे भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्ती तत आम्नाय चौधरी सषमल तस्य पुत्र चौधरी रुपचंद वा सकल पंच श्रावक मिलकर देहराकी मरम्मत कराई।

श्री पार्श्वनाथ दि० जैनमंदिरके कुवेका लेख

यह स्वर्गीय सेठ गुरमुखरायजीकी धर्मपत्नी सेठ सुखानंद निहालचंदकी माताने बनवाया।

दि० जैनियोंके कुवेका लेख

श्री भगवतजी सत्य सं० १७११ वर्षे मिति जेष्ठ सुदि ३ राज्य श्री दिवान दीनदारखाँ गुरु श्री १०८ श्री भट्टारक श्री महीरचन्द्रजी व सकल श्रावक फतेहपुरका पुन्य निमित्त जल थानक करायो सर्वको शुभकारक भवत।

(२)

ॐ नमः सिद्धेभ्य विदितहो कि यह स्थान कूप पूर्व १०८ श्री महीश्चन्द्रजीके समयमें सकल पंचाश्रावकान करायो थो पुनः जीर्णोद्धार वा नवीन तिवारो सं० १६२६ भादवा सुदि ५ को तैयार हुआ। महाराव राजाजी श्री माधोसिंहजी बहादुरके समय श्रावक रामसामल गुरमुखराय अग्रणी होकर तैयार कराओ सर्वको शुभकारक भवतुः।

पा० श्री दि० जैन मन्दिरके मूर्ति-लेख

नोट :—इन लेखोंमें भाषा सम्बन्धि अनेक अशुद्धियाँ हैं जिन्हें मौलिकताकी दृष्टिसे सुधारा नहीं गया है।

(१) १०६६ माघ सुदि ११ गुरौ श्री मूलसंघे पद्मनन्दिदेवा माथुर वंशे साः पद्मनिमिदास ५६ रा० ? राजा नवाब प्रतिष्ठाया माप्ति।
प्रतिमा—सप्तधातुकी २४ तीर्थङ्करोंकी इन्द्र बाई तरफका खंडित (हिसारसे श्री तोणमलजी साथ लाये थे)। १५ × ६॥

(२) १११३ वैसाख सुदि ६ आगेके अक्षर पढ़े नहीं गये। काली··· ··· ···पुर··· ··· ···पाटण।
प्रतिमा—चन्द्रप्रभुकी काले पाषाणकी (हिसार से तोणमलजी साथ लाये।)। ६ × ४॥

(३) १५५५ भादो ······ आगे के अक्षर सब घिस गये। प्रतिमा पार्श्वनाथकी सप्तधातुकी ।३॥१॥

(४) १५२५ मूलसंघे सा० बि० प० धराभान न सुतनुरगो ? प्रतिमा पार्श्वनाथ धातु की। ३ × १॥

(५) १५३५ श्री मूलसंघे भट्टारक श्रीभुवनकीर्ती तत्पट्टे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण उपदेशात्। प्रतिमाके लेखके ऊपर से. ठाकरसी लिखा हुआ है प्रतिमा ३ शामिल हैं खड्गासन धातुकी। ३॥ × २।

(६) १५४५ बा० श्री पुत्र शाहन पा० पुजा प्रतिमा पार्श्वनाथ, सप्तधातु की। ३॥ × २।

(७) १५४८ बैशाख सुदि ३ श्री मूलसंघे भ० श्री जिनचन्द्र देवा साहु जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमति सौख्यं शहर मुड़ासा श्री राजा स्योसिंध रावल, प्रतिमा पार्श्वनाथ, धातुकी। २। × १॥

(८) १५४८ लेख ऊपर मुजब।

प्रतिमा पार्श्वनाथकी श्वेत पाषाणकी १४॥ × ९ यह प्रतिमा मूलनायक प्रतिमा श्री पार्श्वनाथकी खंडित हो जानेसे पटनासे मंगाई गई। खंडित प्रतिमाका लेख इस मुजब था 'सं० १८६१ जेठ सुदि ५ भ० सुरेंद्रकीर्ती उपदेशेन रामचंद दीवान प्रतिष्ठा कराई।'

(९) १५४८ लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी श्वेत पाषाण की। १७ × १४

(१०) ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा शांतिनाथकी श्वेत पाषाणकी। १७ × १४

(११) ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा पार्श्वनाथकी काले पाषाणकी। ७ × ४॥

(१२) ,, वैशाख सुदि ३ भ० सुरेन्द्रकीर्ती प्रतिष्ठा करीत, सा० पापड़ीवाल सरमदास।
प्रतिमा = मल्लिनाथ श्वेत पाषाणकी १४ × ९

(१३) ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा मल्लिनाथ श्वेत पाषाणकी। १० × ॥।८

(१४) ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा अरिहंत, श्वेत पाषाणकी खड्गासन। १५ × ६

(१५) ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा अरिहंत, श्वेत पाषाणकी खड्गासन। १५ × ६

(१६) ,, वैशाख सुदि ५ बु० श्री मूलसंघे भ. श्री जनचन्द्रदेवा तदाम्नाये खंडयाला साह तंगज भार्या सीता सुत मधान भार्या महणसिरि। प्रतिमा—चौवीस तीर्थङ्करोंकी सप्तधातुकी। ७ × ४।

(१७) ,, वैशाख सुदि ५ काष्ठासंघे भ० गुणभद्रदेव सा लूणा सुत तिहुणा। प्रतिमा २४ तिर्थङ्करोंके सप्तधातुकी। ५॥ × ३॥

(१८) १५०० माह सुदि १५ आगेके अक्षर घस गये तथा संवत्के अंकभी घिस गये।) प्रतिमा-पार्श्वनाथ, धातुकी। २। × १॥

(१९) १५५२ जेठ सुदि १२ वैं० स० बु० भ० जिनचन्द्राय त्रिवेदी सामदेवा० द० रा० लोसायस २ प्रतिलनेचषु? प्रतिमा-३ भगवान का सामिल सप्तधातुकी खङ्गासन, चिन्ह नहीं। ३॥ × २।

(२०) १६८९ कातिक सुदि १५ परतू कासलीवाल प्रतिमा—पार्श्वनाथकी सप्तधातुकी २। × १॥।

(२१) १७०३ बैशाख सुदि ३ श्री मूलसंघे भ. जगतकीर्ती श्री खंडेला विभवर्गे श्री मोहनदास भैसा नित्यं प्रणमति। प्रतिमा - चौबीस तीर्थङ्करोंकी सप्तधातुकी ४ × २।

(२२) १७११ मगसरवदि ११ शुक्रवार प्रतिष्ठायां साहु माधौ प्रतिमा—पार्श्वनाथकी सप्तधातुकी ३। × २॥

(२३) १७१५ फागन सुदि ३ श्री काष्ठासंघे भ. श्री भुवनकीर्ती प्र. सा. केवल ना। प्रतिमा पार्श्वनाथकी धातु की ३। × १॥

(२४) १७२२ पं. चतुर्भुज नित्यं प्रणमति। प्रतिमा पार्श्वनाथकी धातुकी २॥ × २

(२५) शके १५८८ माह वदि ६ नाव प्रतिष्ठा भेषदयासु। प्रतिमा पार्श्वनाथकी सप्तधातुकी दो यंत्र सुधा ३॥ × २॥

(२६) १७७७ कातिक सुदि ३ भ. देवेन्द्रकीर्ती प्रतिष्ठापितं। प्रतिमा-चन्द्रप्रभुकी श्वेत पाषाणकी ८॥। × ७

(२७) ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी श्वेत पाषाणकी ८॥ × ७

(२८) ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा आदिनाथकी श्वेत पाषाणकी ८॥ × ७

२९ ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा मुनिसुव्रतकी श्वेत पाषाणकी ८॥ × ७

३० १८२९ कातिक सुदि ६ भट्टारक राजेन्द्रकीर्ती। प्र. आदिनाथकी श्वेत पाषाणकी १०॥ × ९

३१ ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी श्वेत पाषाणकी १० × ८।

३२ ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा शांतिनाथकी श्वेत पाषाणकी १० × ८।

३३ १९२३ ॐ मिती द्वितीय जेठ सुदि १० लोहाचार्याम्नाये भ. राजेन्द्रकीर्तीदेवा तत् आम्नाये अग्रोतकान्वये वासल गोत्रे साहु जिनवरदास भार्या मिश्री कुवंर भगवानदासेन सार्द्धं श्री जिन प्रतिष्ठा करापिता। प्रतिमा—पार्श्वनाथकी सप्तधातुकी १० × ५॥

३४ १८२६ वैशाख सुदि ४ पद्मावतीकी सप्तधातुकी

३५ १९४८ चैतसुदि ५ श्री कुन्द कुन्दाचार्य परम दिगम्बर गुरु उपदेशात् जिन बिंब नवानगरे प्रतिष्ठितं। गुरुमुखराय सुखानंद निहालचंद प्रतिमा श्री नेमिनाथकी काले पाषाणकी २४ × १८

३६ १९७२ द्वि. वैशाख सुदि ५ श्री कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर गुरु उपदेशात् बड़नगरे प्रतिष्ठापितं। दिगम्बर शुद्धाम्नाय। प्र. चन्द्रप्रभुकी श्वेत पाषाण की ११ × ८॥

३७ ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी स्फटिकमणिकी ६॥ × ५॥

३८ १९७९ वैशाख सुदि २ प्रतिष्ठितं। प्रतिमा सिद्ध भगवानकी धातुकी १०॥ × ६।

३९ १९८० फागन सुदि २ श्री कुन्दकुन्दाचार्य उपदेशात् रेवाड़ी नगरे प्रतिष्ठापितं। प्रतिमा महावीरप्रभुकी धातुकी ५ × ४।

४० १९८१ फागन सुदि ५ नवानगरे कुन्दकुन्दाम्नाये प्रतिष्ठापितं प्रतिमा—शांतिनाथकी चांदीकी ६ × ४॥=

(४१) वि० सं० १९८४ माघसुदि १२ गुरुवार श्रीमूलसंघे तदाम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये श्री दि० जैन गुरु उपदेशात् फतेहपुर नगरे जिनबिंब प्रतिष्ठापितं। (सुखानन्द)

प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी श्वेत पाषाणकी २३ × १६

(४२-४३) प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी नग २ चांदीकी २॥+२।

(४४)	नमिनाथकी	" १	"	"
(४५)	आदिनाथकी	" १ धातुकी		"
(४६)	महावीरकी	" १	"	५ × ४
(४७)	२४ तीर्थङ्करोंकी	" १ चांदीकी		७॥ × ४॥

(सुखानन्द)

(४८) महावीरकी नग १ धातुकी ५ × ३॥=

(४९) " " " ", ९॥ × ७।=

(सदाराम गंगाबक्स)

(५०) शीतलनाथकी नग १ धातुकी ६॥ × ५

(५१) नेमनाथकी " १ कालापाषाण २०-६ खड्गासन (सुखानन्द)

(५२) महावीरकी नग १ पीले पाषाणकी २५-१४ (सुखानन्द)

नोटः—इन सब मूर्तिलेखोंके लेख नं० ४१ के समान हैं।

[५३] संवत् १९२९ बैसाखसुदि ३ भ० राजेन्द्रकीर्ती तदाम्नाये अग्रोतकान्वये साहु मूभीलाल भार्या श्रेयांशकुमारी तया प्रतिष्ठा करापितं। प्रतिमा नेमनाथकी सप्तधातुकी ६॥ × ३॥।

(५४) संवत् १९२१ बैसाखसुदि ३ भ० राजेन्द्रकीर्ती तत् श्रेयांशकारक भवतु प्रतिमा सुपार्श्वनाथकी सप्तधातुकी खड्गासन ४॥ × १।

(५५) संवत् १९२९ बैसाखसुदि ३ काष्ठा०। प्रतिमा—नेमनाथकी सप्तधातुकी खड्गासन ४॥ × १।

(५६) संवत् १७४४ वैसाखसुदि १३ सावंतलि प्रणमति। प्रतिमा = चौवीस तीर्थङ्करोंकी सप्तधातुकी ४ × २।=

(५७) पार्श्वनाथकी सप्तधातुकी। लेखादि कुछ नहीं ३। × ३

(५८) श्री मूलसंघ श्रावक साधू आदिनाथ प्रष्ठितं चिन्ह संवत् कुछ नहीं, प्रतिमा सप्तधातुकी २॥= × २॥

(५९) लेख संवत् कुछ नहीं। प्रतिमा—पार्श्वनाथकी सप्तधातुकी ४॥ × २॥

(६०) " " " २॥ × १॥=

(७७१६।३५।८७६७७६८०।)

(६१) चौमुखी प्रतिमा सप्तधातुकी ३॥ × १॥

(६२) पार्श्वनाथकी प्रतिमा सप्तधातुकी २॥ × १॥।

(६३) लेख चिन्ह वगैरह कुछ नहीं। प्रतिमा सप्तधातुकी १॥। × १।

(६४) संवत् मिती लेख इस मुजबहै :—शांतिनाथ बि रा फां० ६० षा० रा श्री ॥ मृततमैई प्रतिमा पार्श्वनाथकी सप्तधातुकी २॥ × २॥ लेख अशुद्ध है।

(६५) मूल संघ। लेख संवतादि कुछ नहीं। प्रतिमा पार्श्वनाकी सप्तधातुकी १॥। × १।

(६६–६७) " २ छोटी सप्त धातुकी १ × ॥ १ × ॥

(६८) चरण पादुका सप्त धातुकी २ × १॥

(६९) लेख वगैरह सब घिस गये। प्रतिमा श्वेत-पाषाणकी ३॥×३॥

(७०) चौमुखी काले पाषाणकी लेख चिन्ह वगैरह कुछ नहीं ८॥।×७

७०

६२ सप्तधातुकी	चाँदीकी	श्वेत पाषाणकी
३९	५	१८
६ काले पषाणकी	पीलेपाषाणकी	स्फटिकमणिकी
४	१	१
२ पद्मावतीकी	चरणपादुका	सप्तधातुकी
१	१	

७०

नोट—जहाँ आसन न लिखा हो वहां पद्मासन समझना।

वीर संवत् २४५४ वि० सं० १९८४ में फतेहपुरमें प्रतिष्ठा शिवचन्द्रायके पुत्र सूरजमल पहाड्या ने पं० सुन्दरलाल बेसवेवालासे कराई थी।

ताम्रयन्त्र अभिलेख

१ सम्यग्दर्शनयन्त्र—सं० १५४३ मगसर वदि १३ गुरुवार श्री मूलसंघे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री-पद्मनन्दि देवात्पट्टे भ०श्रीशुभचन्द्र देवात्पट्टे भ०श्री जिनचन्द्रदेवा तद् आम्नाये सेतवालान्वये चौधरी बलीराज तत्पुत्र चौधरी पुरजनशाहजुके लूण नामातस्से-तुमध्ये नवग्रामपुर वासतव्य चौधरी सुरजन तत् भार्या सीलवती सती रीतीयो पुत्र भूहराज, यशोधर एतत्सुमध्ये चौधरी सुरजनने श्री सम्यग्दर्शन यन्त्र करापितं प्रतिष्ठापितं।

२ सोलहकारणयंत्र—सं० १५४८ वैशाख सुदि ३ सोमवासरे रोहण्यं मूलसंघे सरस्वति गच्छे श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये भट्टारक जिनचन्द्रदेवा तद् शिष्य रत्नकीर्ती पं० मीहाख्य तदाम्नाये खंडेलवालान्वये भेसा गोत्रे सा० पासू तद्भार्या साध्वी रोहिणी तद पुत्र अद्धुसा पोल्हण सा० होलाहा तदनन्दना स्तः हालू यहिराज भूग्र यान मा संज्ञा एतद्या पूजयंति।

३ दशलक्षणयंत्र—सं० १५७३ फाल्गुन वदि ३ ई मूलसंघे कुन्दकुन्दाचार्यन्वये भ० जिनचंद्रदेवा पत्पट्ट भ० श्रीप्रभाचन्द्रदेवा तदाम्नाये खंडेवालान्वये ठंल्या गोत्रे पं० मूना भार्या सामू तत्पुत्र सेठ होलासि एवोपति राजा होला भा होलाश्री तत् पुत्र कुल्हा पासू तेजपाल स्योपति भा० षिगसीरी तद् पुत्र कुता कुल्हा भा. देवू तद पुत्र करमाठा सूसीहा सोनपाल जावड पोल्ह नित्यं प्रणमति।

४ जलयंत्र—सं० १५७१ मगसर मासे शुक्ले पक्षे १० शुक्रवारे श्रीमूलसंघे महरीषभसेन गणधरान्वये पुष्कर गच्छे सेनगणे भट्टारक श्री गुणभद्रोपदेशात् हुबंड ज्ञातीये साह वदा भार्या रीगादं सुत पं० श्रीचन्द्र सारग जलयात्रा यंत्र प्रतिष्ठाय नित्यं प्रणमंति शुभं भवतु।

५ दशलक्षणयंत्र—सं० १६३९ वैशाख वदि ८ चन्द्रवासरे श्री कष्ठासंघे माथुरगच्छे पुस्करगणे भ० श्री कमलकीर्ती देवा तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द्र देवा तत्पट्टे भट्टारक यशः सेन देवा तदाम्नाये पद्मावतीपुरवालान्वये साः वहांरंगू तत्पुत्र साः दिनकरभादिवो तयो पुत्र त्रयं सा० हविंशा परिमल दोत्री पुत्र डूगरसी भा० पुत्र चिः नथमल एतेषां मध्ये सा० दिनकर इदं यंत्र करापितं।

६ दशलक्षणयंत्र—सं० १६८५ माह सुदि ५ गुरूवारे श्री काष्ठासंघे माथुर गच्छे पुष्कर गणे लोहाचार्याम्नाये भट्टारक श्री यशःकीर्ती तत्पट्टे भ०श्री क्षेमकीर्ती तत्पट्टे भट्टारक श्री त्रिभुवनकीर्ती तत्पट्टे भ० सहस्रकीर्ति शिष्य जयकीर्ति तदाम्नाये पातिसाह श्री सांहजांह खूरम दिल्ली राज्ये क्यामखां वंशे फतेहपुरे दिवान अलीखां तत्पुत्र दिवान श्रीदौलतखां राज्ये गर्गगोत्र साः सांतू तत्पुत्र साः आल्हा ता पुत्र माला तस्य भार्या जरामा पुत्र तेजपाल भट्टारक श्री सहस्रकीर्ती उपदेशे साः माला दशलक्षणी यंत्र प्रतिष्ठापितं फतेहपुर मध्ये।

७ सम्यग्दर्शनयंत्र— सं० १६८५ माहसुदि ५ गुरुवासरे श्री लोहाचार्याम्नाये माथुरगच्छे पुष्करगणे भ० यशः कीर्ती तत्पट्टे खेमकीर्ती तत्पट्टे त्रिभुवनकीर्ती तत्पट्टे सहस्रकीर्ती शिष्य जयकीर्ती तदाम्नाये पातिशाह श्री साहजाह (जहां) खूरम राज्ये क्यामखाँ वंशे दिवान श्री दौलतखां राज्ये गर्ग गोत्रे सा० सांतू तत्पुत्र सा० भैरव तत्पुत्र सा० सोनपाल भार्या गुरुदासी पुत्र केसा. वीभूता. भगता. नेता एतां मध्ये सा० सोनपाल सम्यग्दर्शन यंत्र प्रतिष्ठा करापितं ।

(कांसेका यंत्र)

८ ऋषीमंडलयंत्र—सं० १७५५ फाल्गुण सुदि १२ वृहस्पतिवारे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुस्करगणे लोहाचार्याम्नाये भ० श्रीयशःकीर्ती देवा तत्पट्टे भ. खेमकीर्ती तत्पट्टे भ० त्रिभुवनकीर्ती तत्पट्टे भ० सहस्रकीर्ती तत् शिष्य दीपचन्द तदाम्नाये अग्रोकार (अग्रोतान्वये) पंचे हिसार वास्तव्य साह श्री गिरधरदास तद् भार्या दतरणी तत्पुत्र वीरभाण तद्भार्या भगोतो तत्पुत्राः प्रथम गुलाबराय द्वितीय पुत्र उत्तमचन्द तद भार्या संतोषी तृतीय पुत्र शोभाचन्द तद भार्या अनन्तो तत्पुत्र सुखदेव वीरभाण चतुर्थ पुत्र गुलाबचंद एतेषां मध्ये वीरभाण श्री ऋषीमंडल यंत्र करापितं। (यंत्र-के किनारे की कोर फूटी हुई है]

(पीतलके यंत्र)

९ दशलक्षण यंत्र—सं: १८६१ शक सं० १७२६ मिती वैशाख सुदी ३ शनिवार श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भट्टारक श्री यशकीर्ती तत्पट्टे भ० श्री खेमकीर्ती तत्पट्टे भ० श्रीभुवनकीर्ती तत्पट्टे भ० सहस्रकीर्ती तत्पट्टे भ० महीचंद तत्पट्टे भ० देवेन्द्रकीर्ती तत्पट्टे भ० जगत्कीर्ती तत्पट्टे भ० ललितकीर्ती तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे साहजी जठमलजी तत्भार्या कृषा तत्पुत्र लछमण १ नुंदराम २ ज्ञानीराम ३ हरभगत ४ केशारीमल ५ यंत्र जठमल पुत्र ज्ञानीराम तत्पुत्र महानंद डूंगरसी सीवलाल तत माता हरंचदी श्री बृहत् दशलक्षण यंत्रं करापितं उद्यापितं फतेहपुर मध्ये जती हरजीमल श्रीरस्तु सेखावत लछमणसिहजी राज्ये श्री कल्याण मस्तु भवतु ;

१० रत्नत्रय यंत्र—सं: १९०८ शक १७७३ भाद्रमासे शुक्ल पक्षे १२ तिथौ रविवासरे श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे श्री लोहाचार्यान्वये भ० ललितकीर्ती तत्पट्टे भ० श्री राजेन्द्रकीर्ती तत्र परयति अग्रवालान्वये गर्ग गोत्रे साह ज्ञानीराम तद् पुत्र महानन्द डूंगरसी तत्पुत्र चिः हरकिशन श्री रत्नत्रय यंत्र करापितं उद्यापितं श्री फतेहपुर मध्ये लिखी(खि)तं पं० चिमनं ।

११ दशलक्षणयंत्र—सं: १९१३ शके १७७८ प्रवर्तमान मासोतम मासे भाद्रपद मासे शुक्लपक्षे १४ तिथौ शनिवासरे श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्याम्नाये भट्टारक श्री यशः कीर्तीदेवा तत्पट्टे भ० खेमकीर्तीदेवा तत्पट्टे भ० त्रिभुवनकीर्तीदेवा तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्तीदेवा तत्पट्टे श्री महीचंद्र तत्पट्टे श्री देवेन्द्र-कीर्तीदेवा तत्पट्टे श्री जगतकीर्तीदेवा तत्पट्टे श्री ललित-कीर्तीदेवा तत्पट्टे श्री राजेन्द्रकीर्तीदेवा तदाम्नाये अग्र-वाल गर्ग गोत्रे साहजी जठमल जी तत्भार्या रूपा तत्पुत्र ज्ञानीराम तत्भार्या हरचंदी तत्पुत्र महानंद-राय तत्भार्या हृय । वृहत् केसरी, लघुवरजी तन्मध्ये केशरी पुत्र रामदयाल तत्भार्या नारायणी तत्पुत्र मोहनराम इदं बृहत् दशलक्षण यंत्र चिः रामदयाल दशलक्षणी व्रत उद्यापनार्थे करापितं पं० रूपराम जी तत्शिष्य पं जीवनराम जी यंत्र लिखापितं सखावत श्री मैलूसिंहजी राज्ये फतेहपुर मध्ये श्रीरस्तु ।

१२ दशसलक्षणयंत्र—सं: १९१४ मासानामासोतममासे शुक्ल पक्षे पुण्यतिथौ १४ गुरुवारे काष्ठासंघे माथुर-गच्छे पुष्करगणे श्रीलोहाचार्याम्नाये भट्टारक श्री जगतकीर्तीदेवा तत्पट्टे श्री ललितकीर्ती देवा तत्पट्टे श्री राजेन्द्रकीर्ती देवा तदाम्नाये अग्रवाल गर्गगोत्रे श्रावक संकरलाल तत्पुत्र लखमीचन्द तद्भार्या कस्तूरी तद् पुत्र मिरजामल दशलक्षण यंत्र करापितं, शिवं भूयात् ।

१३ रत्नत्रय यंत्र--संवत् १९१४ मासानामासोतम मासे भद्रपदमासे शुक्लपक्षे पुण्यतिथौ १४ गुरुवारे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे श्री लोहाचार्या-म्नाये भट्टारक जगतकीर्ती देवा तत्पट्टे श्रीललितकीर्ती

देवा तत्पट्टे श्री राजेन्द्रकीर्तिदेवा तदाम्नाये अग्रवाल गर्ग गोत्रे श्रावक संकरलाल तत्पुत्र लखमीचन्द तद् भार्या कस्तूरी तद् पुत्र मिरजामल तस्य भार्या रामा श्री रत्नत्रयव्रत उद्यापनार्थं ज्ञानावर्णी क्षयार्थं च इदं यंत्र करापितं।

(तामेका यंत्र)

१४ अनन्तव्रतयंत्र—सं: १६२० शाके १७८५ मासानामासोतम मासे भाद्रपद मासे शुभ शुक्ल पक्षे पुण्य तिथौ १४ शनिवासरे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्या म्नाये भट्टारक श्री राजेन्द्र कीर्ती तदाम्नाय अग्रवालान्वये गर्गगोत्रेषु पुण्य प्रभावक देवशास्त्र गुरु भक्ति कारक श्रावक विनोदीराम जी तद् भार्या कसूम्भा तत्पुत्र जीवनराम तस्य भार्या धोटी तत्पुत्र बलदेव तेन अनन्त व्रत उद्यानाय अष्टकर्म क्षयार्थे इदं यंत्र करापितं पं० रूपराम जी तद् शिष्य पं जीवनरामेण लिपिकृतं राज्य श्री मेरूसिंह जी राज्ये फतेहपुर नगरे श्री जिनालयस्थं।

(पीतलके यंत्र)

१५ रत्नत्रय यंत्र—सं: १६२० मासाना मासोत्तम मासे भाद्रपद मासे शुक्ल पक्षे पुण्य तिथौ १४ शनिवारे काष्ठा संघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्नाये-श्री राजेन्द्र कीर्ती तद्म्नाये पं जीवनराम जी इदं यंत्र कृतं सुश्रावक पुण्य प्रभावक धर्मज्ञ रामनारायण जी तत्पुत्र बालचंद तद्भार्या हरसुखी तद् पुत्र अनन्तराम तद् भार्या स्योबाई तेभ्यः रत्नत्रय व्रत उद्यापनार्थ इदं यंत्र करापितं फतेहपुर नगरे जिन मंदिरं।

१६ रत्नत्रय यंत्र—सं: १६२१ भादवा सुदि १४ अग्रवाल गर्ग गोत्र श्रावक लखमीचन्द तत्पुत्र मोहनलाल रत्नत्रयव्रत उद्यापनार्थ इदं यंत्र करापितं पं जीवनरामेण कृतं फतेहपुर नगरे जिन मंदिरं।

१७ दशलक्षण यंत्र—सं: १६२१ भाद्रपद सुदि १४ अग्रवाल गर्गगोत्रे श्रावक मूलचन्द तत्पुत्र दानमल दशलक्षणव्रत उद्यापनार्थं यंत्र करापितं भट्टारक श्री जगतकीर्ती तत्पट्टे भट्टारक श्री ललितकीर्ती तत्पट्टे भ० राजेन्द्रकीर्ती तदम्नाये इदं यंत्र करापितं फतेहपुर नगरे।

१८ दशलक्षण यंत्र—सं: १६२४ शाके १७९ भाद्रपद मासे शुक्ल पक्षे १४ गुरुवासरे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्कर गणे लोहाचार्याम्नाये भ० श्री सहस्रकीर्ती तत्पट्टे श्री महीचंददेवा तत्पट्टे श्री देवेन्द्रकीर्ती तत्पट्टे जगत कीर्ती तत्पट्टे श्री ललितकीर्ती तत्पट्टे श्रीराजेन्द्र कीर्ती तदाम्नाय अग्रवाल गर्गगोत्रे साहजी सुन्दराम जी तत्पुत्र शिवनारायण जी तत्पुत्र दयाचंद तत् भार्या पार्वती तत्पुत्र धनराज तद भार्या स्योकोरी तत्पुत्र श्रीधर इदं बृहत् दशलक्षण यन्त्र करापितं पं० रूपरामजी तद शिष्य जयकरनदास तत शिष्य पं. खेमचन्द यंत्र लिखापितं सेखावत श्री माधोसिंहजी राज्य मध्ये श्रीरस्तु।

१९ विनायक यंत्र – लेख कुछ नहीं।

नये दि० जैन मन्दिरकी प्रतिमाओंके लेख।

१ १९५७ माघ सुदि १५ खूर्जा नगरे प्रतिष्ठितं प्रतिमा सिद्ध भगवान की सप्तधातु ८॥ × ४॥

२ ,, लेख उपर मुजब। प्रतिमा सिद्ध भगवानकी सप्तधातु की ७ × ४

३ ,, ,, ,, ,, ,, चन्द्रप्रभु की श्वेतपाषाण की १८॥ × ६

४ ,, फागन सुदि ३ हर्ष ग्रामे प्रतिष्ठतं प्रतिमा श्वेतपाषाणकी शान्तिनाथ की १२। × १०

५ ,, लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा चौबीसी पट सप्तधातु की ११ × ६

६ ,, ,, ,, ,, ,, शंभवनाथ की ६॥ × ४॥

७ १९६७ फागन सुदि ३ श्री कुन्दकुन्दाचार्या गुरुपदेशात् राणोली नगरे प्रतिष्ठितं प्रतिमा श्वेत पाषाणकी २०॥ × १६॥

८ ,, प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी स्फटिकमणि की चि: मगर ५ × ४

९ १९६९ माघ सुदि १३ श्री कुन्दकुन्दादि गुरुपदेशात् प्रतिष्ठितं सेडमल गोपीराम प्रणमिति फतेहपुर रामचन्दर की मा चढाई प्रतिमा शान्तिनाथ श्वेत पाषाणकी १२ × १०॥

(यह प्रतिष्ठा सेडमल भरामल लीला रामगढ़में कराई प्रतिष्ठाचार्य पं० पन्नालाल न्यायदिवाकर)

१० १९७१ वैशाख सुदि २ प्रतिष्ठितं। प्रतिमा शान्तिनाथ की सप्तधातु की ६॥। × ५॥

११	१६७६	वैशाख सुदि २ प्रतिष्ठितं। प्रतिमा आदिनाथकी सप्तधातुकी ८ × ६।
१२	,,	वैशाख सुदि २ प्रतिष्ठितं । प्रतिमा आदिनाथकी सप्तधातुकी ११॥ × ६
१३		माघ सुदी १२ गुरुवार फतेहपुर नगरे श्री मूलसंघे नंदिआम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुंद कुंदाचार्यान्वे श्रीजैन दिगम्बर गुरु उपदेशात् श्रीमान् सेठ शिवचंसी खंडेलवाल वंशोत्पादक पाहाड्या गोत्रे तत्पुत्र सुरजमल तत्पुत्र बसंतलाल जिन प्रतिष्ठा करापितं । प्र० चन्द्रप्रभुकी श्वेत पाषाणकी २१×१६
१४	,,	लेख ऊपर मुजब। प्रतिमा पार्श्वनाथकी श्वेत पाषाणकी १६ × १३
१५	,,	लेख ऊपर मुजब । प्रतिमा महावीर की सप्तधातुकी १० × ७॥

१५ स्फटिकमणिकी धातुकी श्वेत पाषाणकी
१ ८ ६

वेदीका लेख

बेदी बनवाई स्योचंद्राम सुरजमल पंहाड्या फतेहपुरका दस्कत स्योचंद्रायका बाच जन जै श्री जी की मिती कातिक सुदी १४ दितवार, सं० १६७५ ।

नये दि० जैन मन्दिरके तामेके यत्रोंके लेख

१ गणधर बलय यंत्र		गोल	८॥।
२ निर्वाण संप्तकर यंत्र			
३ कल्याण त्रिलोकसार	,,	,,	५॥
४ मान्त्रिका	,,	चौकोर	७। × ७।
५ सम्यग्दर्शन	,,	गोल	६
६ मोक्षमार्ग	,,	,,	७॥
७ सम्यग्चारित्र	,,	,,	६॥
८ नंद्यावत	गोल	चौकोर	७ × ७
९ वर्द्धमान चक्र	,,	गोल	७॥
१० यंत्र	,,	,,	५॥
११ नवेन्मिलन	,,	,,	६
१२ सम्यग्ज्ञान	,,	,,	५॥
१३ पुजय	,,	,,	५॥
१४ शांति	,,	,,	७'॥
१५ सुरेन्द्रचक्र	,,	,,	७॥
१६ जिन मान्त्रिका	,,	,,	७॥

१७ सम्यग्दर्शन यंत्र—१६८५ माहसुदि ५ गुरुवासरे काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भ० यश कीर्ती तत्पट्टे खेमकीर्ती तत्पट्टे त्रिभुवनकीर्ती तत्पट्टे सहस्रकीर्ती शिष्य जयकीर्ती पातिशाह श्री शाहजहां खुरम राज्ये क्यामखाँ वंशे दिवान श्री दौलतखाँ राज्ये फतेहपुर मध्ये गर्ग गोत्रे सां सांतु तत्पुत्र माः आल्हा तत्पुत्र साहमाला भार्या जराना पुत्र तेजपाल श्री सहस्रकीर्ती उपदेशेन साहमाला सम्यग्दर्शनयंत्र करापितं । यंत्र तामंका चौकोर ७ × ७

८ षोडशकारण यंत्र—१६७५ पोह सुदि ३ भौमे श्री मूलसंघे भ० ललितकीर्ती तत्पट्टे मंडलाचार्य श्रीरत्नकीर्ती तत्पट्टे आचार्य श्री चन्द्रकीर्ती उपदेशात् साहु रूपा भार्या पता तयो सुत मोदी अस्य भार्या हेभि पुत्र वेनि भार्या मोदनी पुत्र भीवा तिहि रामनिधि तिहि मोदी भार्या सूवा तत पुत्र कमल भार्या तुलसीपुत्र चतुरभुज प्रणमति । यंत्र तामेका गोल ६॥

वीरसेवामन्दिरके नैमित्तिक अधिवेशनके सभापति

श्री मिश्रीलालजी कालाका भाषण

मुझे परम हर्ष है कि वीरसेवामन्दिर जैसी साहित्यिक संस्थाके नैमित्तिक अधिवेशनका कार्य मुझे सौंपा गया है। मुख्तार साहबकी तपस्या, साहित्य-साधना और वीरसेवा मन्दिरके अब तकके कार्यने मुझे बाध्य किया कि मैं आपकी आज्ञाका उल्लंघन न करूँ।

'वीर-सेवा-मन्दिरका संक्षिप्त परिचय' नामकी पुस्तक आप लोगोंको भेंट स्वरूप देदी गई है उससे आपको वीरसेवामंदिर-द्वारा अबतक होने वाले कार्योंका परिचय मिल गया होगा और यह भी मालूम हो गया होगा कि वीरसेवामन्दिरने जैन संस्कृति, उसके साहित्य तथा इतिहासके संरक्षणमें कितना प्रशस्त कार्य किया है, और जैन संस्कृति पर होने वाले आरोपोंका उत्तर देकर उसकी उज्ज्वल गुणगरिमाको व्यक्त किया है। इस संस्थाने साहित्यिक और ऐतिहासिक अनुसन्धान द्वारा अनेक ग्रन्थों और उनके कर्ता आचार्योंका केवल पता ही नहीं लगाया है बल्कि उनके समयादि-निर्णय-द्वारा उलझी हुई अनेक ऐतिहासिक गुत्थियोंको सुलझाया है। यही कारण है कि आज विद्वत्समाजकी दृष्टिमें यदि किसी संस्थाने ठोस सेवाकार्य किया है तो वह वीरसेवा मन्दिर ही है।

हमें हर्ष है कि श्रीगोम्टेश्वरकी छत्रछायामें श्रवणबेलगोल जैसे पवित्रस्थान पर नैमित्तिक अधिवेशन करनेके लिए हम आज यहां एकत्रित हुए हैं।

उपलब्ध साहित्यमें दक्षिण भारतके जैनाचार्योंका यह गौरव पूर्ण स्थान रहा है। उन्होंने ग्रंथरचना, घोर तपश्चर्या और कठोर आत्म-साधना-द्वारा आत्मलाभ करते हुए जैनधर्मके प्रचार-प्रसार एवं संरक्षणमें जो महत्वपूर्ण योग दिया है वह उनकी महत्वपूर्ण देनहै, उसे भुलाया नहीं जाकता। यह उन्हींकी तपश्चर्या एवं आत्मसाधनाका बल था जो अनेक राजवंशोंमें जैनधर्मकी केवल आस्था ही नहीं रही किन्तु जैनधर्मकी ममता उनके हृदयोंमें सैकड़ों वर्षों तक उनकी श्रद्धाको ज्यों का त्यों अडोल बनाये रखनेमें समर्थ रही है, इसीसे प्रेरित हो उन्होंने उसे राष्ट्रधर्म बनाया था। इस कारण यहां जैनधर्मका गौरवपूर्ण स्थान रहा है, यह कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। अनेक राजवंश उसके संचालकही नहीं रहे हैं, किन्तु उन्होंने उसके संरक्षणमें अपनी शक्तिको लगाकर अपनी कीर्तिको दिगन्त व्यापी बनाया है। उनका नाम आज भी इतिहासमें सुरक्षित है। इस देशमें ही भारतके वे महान योगी आचार्य हुए हैं, उनमें कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, स्वामी समंतभद्र, पूज्यपाद, पात्रकेशरी अकलंकदेव, विद्यानंद, सिंहनन्दी, अजितसेन और नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती आदि आचार्योंके नाम खासतौरसे उल्लेखनीय हैं। इस लोक प्रसिद्ध गोम्मटेश्वर मूर्तिके निर्माता, राजा राचमल्ल तृतीयके प्रधानमन्त्री और सेनापति वीरमार्तंड राजा चामुण्डरायके नामसे आप परिचित ही हैं।

भारतीय साहित्यमें जैन साहित्यका महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु मुझे खेद है कि हमारे पूर्वजोंने अपने प्रयत्न-द्वारा जिन कृतियोका निर्माण किया था और जिस निधिको वे हमारे लिए छोड़ गये हैं हम उनका अधिकांश भाग संरक्षित नहीं रख सके हैं। जो कुछ ग्रन्थ राजकीय उपद्रवोंसे किसी तरह बचा सके उन्हें भी पूर्णतः प्रकाशमें नहीं लासके। आज भी अनेक महत्वपूर्ण अप्रकाशित ग्रंथ ग्रंथभण्डारोंमें पड़े हुए हैं, जिनकी एक मात्रही प्रति अवशिष्ट है और जो दूसरे स्थानोंपर उपलब्ध भी नहीं होते, वे भण्डारोंमें अपने जीवनकी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। उन्हें दीमक खाये जारही है। यदि समाजने उनके प्रकाशनका समुचित प्रबन्ध नहीं किया, तो वे महत्वपूर्ण ग्रंथ फिर हमारी आँखोंसे सर्वथा ओझल हो जाएँगे। नवीन मन्दिरोंका निर्माण किया जा सकता है, नवीन मूर्तियां भी प्रतिष्ठित की जासकती है. प्रचार द्वारा जैनियोंकी संख्यामें भी वृद्धि भी की जा सकती हैं, परन्तु ये अपूर्व ग्रंथरत्न यदि हमारी थोड़ी सी लापरवाहीसे नष्ट हो गये तो फिर वे किसी तरह भी प्राप्त नहीं हो सकते।

तीर्थक्षेत्रोंकी दशा भी अत्यन्त शोचनीय है। अनेकतीर्थक्षेत्र तो अभी भी हमारी आंखोंसे ओझल

हो रहे हैं। यद्यपि तीर्थक्षेत्र-सम्बन्धी छोटी-मोटी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु इन तीर्थक्षेत्रों-का ऐतिहासिक परिचय, उनकी स्थापनाका काल और तीर्थक्षेत्र-सम्बन्धी दानपत्र तथा तत्सम्बन्धी आवश्यक अनुसन्धान इस विषयमें कुछ भी नहीं किया गया है, जिसके किये जानेकी खास आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि वीरसेवामन्दिर-द्वारा मुख्तार साहबकी देख-रेखमें इस प्रकारकी महत्वपूर्ण पुस्तक तैयार हो जिसमें तीर्थक्षेत्रोंका प्रामाणिक इतिहास निहित हो।

जैन समाजकी दानशीलता भारतमें प्रख्यात है लेकिन उनका दृष्टिकोण नवीन मन्दिरोंका निर्माण तथा बाह्य क्रियाकाण्डों आदिमें रुपया खर्च करनेका रहता है। जितना रुपया समाजका अनेक छोटे मोटे कार्योंमें खर्च होता है यदि उसका चोथाई भाग भी साहित्य-निर्माण एव प्रकाशनमें लगाया जाय, तो जैन समाजका मस्तक सदैवके लिए ऊँचा हो सकता है।

जिस अहिंसा तत्त्वकी जैन तीर्थ-करोंने पूर्ण प्रतिष्ठा की है और उसकी आदर्शताका समुज्वल रूप सामने रक्खा है, जैनाचार्योंने जिसके प्रचार एवं प्रसारमें अपने जीवनको लगाया है, महात्मा गांधीने उसकी केवल आभासमात्रसे भारतको पराधीनतासे छुड़ाकर स्वतन्त्र किया है। यदि उस अहिंसा तत्त्वका प्रचार सारे संसारमें किया जाय तो उससे संसारकी यह सब अशान्ति दूर हो सकती है जो हमें हर समय अशान्त एवं व्याकुल बना रही है। आज सारा संसार भौतिक अस्त्र-शस्त्रोंकी चकाचौंध और उनसे होने वाले अवश्यम्भावी विनाशके परिणामसे शंकित है और अपनी रक्षाके लिए निरन्तर चिन्तित है। अहिंसा ही एक ऐसी शक्ति है जिसका जीवनमें आचरण करने पर वह धधकती हुई भौतिक हथियारोंकी अग्नि शांत हो सकता है, अहिंसाके प्रचार द्वारा संसारके उस गन्दे वातावरणको बदला जा सकता है जो अशान्ति और बर्बरताका प्रतीक है और जनता तीसरे महा युद्धसे होने वाली उस भीषण बिभीषिकाके भयसे सर्वथा छूट सकती है। इस समय विश्वका तमाम वातावरण अशान्त और क्षुब्ध हो रहा है। इस अशान्तिसे छुटकारा दिलाने वाले अहिंसा और अपरिग्रहवादके सिद्धान्त हैं, जिनका प्रचार आजसे ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीरने किया था। जिनपर अमल करनेसे हम शान्तिका लाभ लेनेमें समर्थ हो सकते हैं। भगवान् महावीरने इन्हींका अपने जीवनमें आदर्श उपस्थित किया था। अतः हम सबका कर्तव्य है कि हम भगवान् महावीरकी उस अहिंसाका स्वयं आचरण करते हुए देश विदेशोंमें उसका प्रचार करनेका प्रयत्न करें।

वीरसेवामन्दिरका अबतकका सेवा-कार्य मुख्तार साहबके स्वनिर्मित भवन सरसावा जि० सहारनपुर द्वारा होता रहा है। किन्तु अब वीरसेवामन्दिरके ट्रस्टियोंने यह आवश्यक समझकर उसका प्रधान कार्यालय देहली जैसे केन्द्र स्थानपर लानेका यत्न किया है, जिससे संस्थाके अधिकारी देश-विदेशके लोगोंसे अपना सम्पर्क स्थापित कर सकें और वहांकी जनतामें जैनधर्मके महान् सिद्धान्तोंका प्रचार व प्रसार करनेमें समर्थ हो सकें।

इसी आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए मेरे परम मित्र बाबू छोटेलालजी और बाबू नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता वालोंने ब्यालीस हजार रुपये देकर दरियागंज देहलीमें जमीन खरीद करादी है उस पर एक लाख रुपया खर्च कर बिल्डिंग बनानेकी महती आवश्यकता है जिसमें संस्था अपनी लायब्रेरीको व्यवस्थित कर उसका ठीक तौरसे संचालन कर सके।

संस्थाकी दूसरी आवश्यकता एक स्वतंत्र प्रेसकी है जिसके बिना संस्थाका प्रकाशन-कार्य ठीक ढंगसे नहीं हो सकता है। इस कार्यको पूर्ण करनेके लिए एक लाख रुपयेकी आवश्यकता है। इसकी पूर्ती होने पर समाजको तथा संस्थाके अधिकारियोंको प्रकाशन कार्यमें यथेष्ट सुविधा प्राप्त हो सकती है।

बिल्डिंगका नकशा संस्थाके व्यवस्थापक ला० राजकृष्णजी जैनके पास है। बिल्डिंगके हॉलकी लागत पच्चीस हजार रुपया है और बड़े कमरोंकी लागत ग्यारह ग्यारह हजार रुपया है तथा शेष छोटे कमरोंकी लागत पांच २ हजार रुपया है। चूँकि यह समाजकी उपयोगी संस्था है मैं चाहता हूं कि इस पुनीत कार्यमें

समाजके सभी अमीर गरीब भाइयोंका पूर्ण सहयोग प्राप्त हो। अतएव सभी महानुभाव अपनी-अपनी शक्ति अनुसार उक्त संस्थाको, अधिक सहायता देकर पुण्य और यशके भागी बनें।

एक-बातकी ओर आपका ध्यान और भी आकर्षित करना चाहता हूं और वह यह है कि जैन समाज में जो ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य होता है उसकी कीमत अधिक रक्खी जाती है जिससे उन ग्रन्थोंका यथेष्ट प्रचार नहीं हो पाता। ईसाई लोग बाईबिलका अल्प मूल्य रखकर उसका प्रचार करते हैं। इसी तरहसे हमें भी चाहिये कि हम भी अपने साहित्यका प्रकाशन सुन्दर रूपमें करके लागत मूल्यसे भी कम दाम रक्खें जिससे उसका खूब प्रचार हो सके और वह सुगमता से सबको मिल सके।

मुझे पूर्ण आशा है कि समाज इस उपयोगी संस्थाको अपनाती हुई अपने कर्तव्यका पूर्ण पालन करेगी और अपना सहयोग देकर संस्थाको कार्य करने में और भी समर्थ बनाएगी।

ता० ५-३-१९५२

अपभ्रंश भाषाका नेमिनाथ चरित

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

तीर्थ यात्रासे वापिस लौटते समय हमें अपभ्रंश भाषाका एक अप्राप्त ग्रन्थ मिला, जिसका नाम 'णेमिणाह-चरिउ' है जो हालमें एक भट्टारकीय भण्डारसे प्राप्त हुआ है। यह सारा ही ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें रचा गया है और वह अभी तक अप्रकाशित है। इस ग्रन्थके कर्ता आचार्य अमरकीर्ति हैं जिनकी अन्य दो रचनाओंका परिचय मैं पाठकोंको पहले करा चुका हूँ।

अमरकीर्तिने अपने 'छक्कम्मोवएस' (षट्कर्मोपदेश) नामके ग्रन्थमें अपनी कुछ रचनाओंके रचे जानेका उल्लेख किया है। जिनमें प्रथम ग्रन्थ उक्त 'णेमिणाहचरिउ' है, दूसरा 'महावीर चरिउ' तीसरा 'जसहर चरिउ' चौथा 'झाण पईव' (ध्यान प्रदीप) और पाँचवां छक्कम्मोवएस'। इनके अतिरिक्त तीन ग्रन्थ संस्कृत भाषाके हैं। 'धर्म चरित-टिप्पण', 'सुभाषित रत्ननिधि' और 'धर्मोपदेश चूडामणि'। इनके सिवाय 'पुरन्दर विधान कथा' भी इन्हींकी रचना है इन सब ग्रन्थोंमें से प्रायः सात ग्रन्थोंकी रचनाका उल्लेख षट्कर्मोपदेशमें पाया जाता है। इनके आलावा और भी बहुतसे काव्य-ग्रन्थ लोगोंके मनोरंजनके लिये बनाये थे। जैसा कि उस ग्रन्थके निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट है:—

'परमेसर पइं णवरस-भरिउ, विरइयउ णेमिणाहहोचरिउ।
अण्णुवि चरिउ सव्वत्थ सहिउ, पयडत्थु महावीरहोविहिउ।
तीयउ चरित्तजसहर-णिवास, पद्धडिया-बंधें किउ पयासु।
टिप्पणउधम्मचरियहोपयडु, तिह विरइउ जिह बुज्झेइ जडु।
सक्कयसिलोयविहिजणियदिहि, गुंफियउ सुह मियरयणणिही
धम्मोवएस-चूडामणिक्खु, तह झाण-पईउ जि झाणसिक्खु।
छक्कम्मुवएस सहु पबंध, किय अट्ठसंख सइ सच्च संध।
सक्कय पाइयकव्वय घणाइं, अवराइं कियइं रंजिय-जणाइं॥''

कविने उक्त सभी ग्रन्थ सं० १२४७ से पहले बनाये थे; क्योंकि उन्होंने अपना षट्कर्मोपदेश वि० सं० १२४७ के भाद्रपद मासके द्वितीय पक्षकी चतुर्दशी गुरुवारको एक महीनेमें बनाकर समाप्त किया था*।

प्रस्तुत 'नेमिनाथचरित'की उक्त प्रति संवत् १५१२ की लिखी हुई है १ जिसे भट्टारक पद्मनंदिके शिष्य मदनकीर्ति और उनके शिष्य नयनन्दिके लिये हूमड वंशी श्रेष्ठी अणगाई और माणिकके पुत्र जिनदास तथा धनदत्तने

* बारह सयइं ससत्त-चयालिहिं, विक्कम-संवच्छरहु विसालहिं
गयहिं मि भद्दवयहु पक्खंतरि, गुरुवारम्मि चउद्दसि वासरि
इक्कें मासें इहु सम्मियउ, सइं लिहियउ आलसु अवहत्थिउ।

—षट्कर्मोपदेश प्रशस्ति

१—संवत् १५१२ आषाढ वदि ११ वर्षे शाका १३७७ प्रवर्तमाने फा० वसंत ऋतौ पारवानुमासे शुक्लपक्षे पंचम्यां तिथौ सोम दिने श्री घोघावेला कूले श्री नेमिसुरचरि-(त) सई लिखित।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सुन्दर सुवाच्य अक्षरोंमें लिखवाई थी। प्रति बहुत कुछ शुद्ध जान पड़ती है। इस ग्रन्थका अवश्य उद्धार होना चाहिये अन्यथा इसके विनष्ट हो जाने पर ग्रन्थका फिर दर्शन दुर्लभ हो जायगा।

इस प्रतिके पत्रोंकी संख्या २०८ है, ग्रंथ २५ संधियोंमें पूरा हुआ है, जिसके श्लोकोंकी संख्या छह हजार आठसै पच्चावने बतलाई गई है। ग्रन्थमें जैनियोंके २२ वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथका जीवनचरित दिया हुआ है।

अमरकीर्ति काष्ठा संघान्तर्गत उत्तर माथुरसंघके विद्वान मुनि चन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। षट्कर्मोपदेशमें उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा काष्ठ संघके प्रसिद्ध विद्वान आचार्य अमितगतिसे बतलाई है। और उसमें ग्रन्थ बननेके निमित्तके साथ अपना भी संक्षिप्त परिचय अंकित किया है। उनकी गुरुपरम्परा क्रमशः इस प्रकार है:—

अमितगति (संवत् १०५० से १०७०), शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चंद्रकीर्ति (सं० १२११), अमरकीर्ति संवत् १२४४—१२४७

यह नगरवंशमें उत्पन्न हुए थे। इनकी माताका नाम 'चर्चिणी' और पिताका नाम 'गुणपाल' था। अमरकीर्तिने अपना 'षट्कर्मोपदेश' गुजरातके महीकांठा प्रदेशके गोदह (गोध्रा) नगरमें हुई थी जिसके शासक चालुक्यवशी राजा बंदिगदेवके पुत्र कण्ह या कृष्ण थे। ग्रन्थके रचनाकालका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है षट्कर्मोपदेशसे उक्त नेमिनाथचरित तीन वर्ष पूर्वकी रचना है जिसे कविने वि० सं० १२४४ में भाद्रपद शुक्ला एकादशीको समाप्त किया था ×। उस समय गोध्रामें चालुक्यवंशीय उन्हीं राजा कण्ह या कृष्णका राज्य था, जिसका उल्लेख षट्कर्मोपदेशमें भी किया गया है। उस समय गुजरातम चालुक्य अथवा सोलंकी वंशका राज्य था जिसकी राजधानी अनहिलवाड़ा थी, परन्तु इतिहासमें बंदिगदेव और उनके पुत्र कृष्णनरेन्द्रका कोई समुल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया। उस समय अनहिलवाडाके सिंहासन पर भीम द्वितीयका राज्य शासन था। इनके बाद बाघेल वंशकी शाखाने अपना राज्य प्रतिष्ठित किया है। इनका राज्य सं० १२३६ से १२९९ तक बतलाया जाता है। सं० १२०० से १२३६ तक कुमरपाल, अजयपाल और मूलराज द्वितीय वहांके शासक रहे हैं ❀। भीम द्वितीयके शासनसमयसे पूर्व ही चालुक्यवंशकी एक शाखा महीकांठा प्रदेशमें प्रतिष्ठित होगी, जिसकी राजधानी गोध्रा थी। इस सम्बन्धमें और भी अन्वेषण करनेकी आवश्यकता है जिससे यह पता चल सके कि इस वंशकी प्रतिष्ठा गोध्रामें कब हुई, और वह कितने समय तक प्रतिष्ठित रही। अमरकीर्तिके उपलब्ध ग्रन्थोंसे केवल इतना ही ज्ञात होता है, कि सं० १२४४ से १२४७ तक तो वहाँ बंदिगदेवके पुत्र कृष्णनरेन्द्रका राज्य विद्यमान था, परन्तु उससे पूर्व और पश्चात वह कबतक रहा, यह जानना आवश्यक है।

श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वति गच्छे नंदिसंघे भट्टारक श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनंदिदेवा तत्पट्टे भ० शुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे भ० जिनचन्द्रदेवा तत्र भट्टारक श्री पद्मनंदिदेव तत्शिष्य नयणंदिदेवा तस्मै श्री हूबड वंश ज्ञातीयगोत्र खरीयान श्रेष्ठि गजभाई राजे लोडो तयोः पुत्राः श्री खेमे भार्या विरमू तयो पुत्र श्रवणाई या मणिकवपा तयोः सुत जिनदास धनदत्तेन श्री नेमिनाथ चरित लिखापितं, श्री नयनंदि मुनये दत्तं ॥ग्रंथाग्र ६८१९॥

—नेमिनाथ चरित लेखक प्रशस्ति

× ताहं रज्जिय वट्टंतए विक्कम कालिगए,
बारहसय चउ आलए सुक्खु।
सुहिवक्खमए भद्दवएहो सिय,
पक्खे यारसि दिणि तुरिउ।
सबु टिप्पण ए ? समप्पिउ, सिरिनेमिह चरिउ।
उत्तर माहुर संघायरिय हो चंदकित्ति नामहो।
सुहचरियहो वाय पयासिय पर वाक् दहो॥
—नेमिनाथ चरित प्रशस्ति।

❀ Histrory of Gujrat in Bombay Gageteer Vol. 1

वैशाली की महत्ता

(श्री आर. आर. दिवाकर, राज्यपाल बिहार)

पिछले दिनों मैं वैशाली गया था यह एक दर्शनीय स्थान है और इससे प्राचीन मिथलाके ऐश्वर्यशाली दिनोंका स्मरण हो आता है।

वैशालीकी दो कारणोंसे महत्ता है। यह जैनोंके चौबीसवें तीर्थंकर स्वामी महावीरका जन्म स्थान है तथा बुद्धने भी इस स्थानका भ्रमण किया था। यह वह पवित्र स्थान है जहांसे संसारको अहिंसाका संदेश मिला। जैनधर्मके मतावलम्बियोंने पहले पहल अहिंसाके सिद्धान्तको अपनाया और इस बातकी घोषणाकी कि 'अहिंसा परमो धर्मः' बुद्ध तथा उनके शिष्योंने अहिंसाके सिद्धान्तोंका बाहरी देशोंमें भी प्रचार किया। वैशालीमें ही लिच्छवियों तथा बिज्जिनोंके जनतन्त्र थे, जो हमारे देशके प्रथम गणतन्त्र थे।

हम मुजफ्फरपुरसे वैशाली गए। हमें २० मील तक सड़कमे जानेके बाद करीब ३ मील तकका कच्चा रास्ता तय करना पड़ा था। यहीं पर वैशाली स्थान है इसीके पास चकदास, कोल्हुआ, वासकुण्ड तथा अन्य गांव स्थित हैं।

यहाँ की जमीन कुछ भूरे रंगकी तथा कुछ बलुआट है। गर्मीके दिनोंमें यहांकी हालत अत्यन्त खराब हो जाती है किन्तु अन्य वस्तुओंमें फसल निकलने एवं कमलके फूलोंके खिलने पर वातावरण अत्यन्त ही मनहरण हो जाता है। इस भूभागमें कुछ तालाब एवं छोटी छोटी नहरे भी हैं। यत्र-तत्र कतिपय टीले भी हैं जो करीब २५ फुट ऊँचे हैं। यहीं स्तूप तथा चैत्य हैं जो इस समय नष्ट भ्रष्ट दिखाई पड़ते हैं। ये अधिकांश रूपमें मिट्टी तथा ईंटोंसे बने हैं। फाहियान तथा ह्वेनसांगने अपने यात्रा वर्णनोंमें इस बातका जिक्र किया है कि वैशालीके आसपास कई प्राचीन स्तूप हैं।

विद्वानोंने खोज करके इस बातका पता लगाया है कि इस वैशाली क्षेत्रमें बास कुण्ड नामक एक स्थान है। यहीं भगवान महावीर स्वामीका जन्म हुआ था। महावीर कहलानेके पूर्व वे वैशाल्य अथवा वैशालिकाके नामसे पुकारे जाते थे। संसार छोड़नेके एक वर्षके पूर्व तक आप वैशालीमें ही थे। हाल ही में वहां पद्मप्रभू की एक जनप्रतिमा प्राप्त हुई है। जैनधर्मके तीर्थंकरोंमेसे एक थे।

वहां जैन धर्मावलम्बियों ने एक मन्दिर एक पुस्तकालय तथा एक धर्मशाला बनवाने की योजना बनाई है। परन्तु वर्तमान समयमें इस भूभागमे ऐसी सामग्रियाँ मिली हैं जिनमे उस स्थान पर बौद्धधर्मके प्रभावके अधिक प्रमाण हैं। इस स्थानके आस पास रहने वालोंमें से हम शायद ही किसी ऐसा व्यक्तिको पायें जो जैनधर्मसे कुछ भी महानुभूति रखता हो। यहाँ अधिकतर मुसलमान एवं हिन्दू रहते हैं। सन् १९४५ में वैशाली संघकी स्थापना तथा वैशाली समारोह मनाने की प्रथा चलानेके बाद यहां की जनता प्राचीन बौद्धों तथा जैनधर्मके बारे में अत्यधिक उत्सुक होने लगी है।

जब मैं वहां गया तो करीब ३-४ हजारकी भीड़ एकत्रित थी। वहांकी जनताने ग्राम्य-गीतों तथा नृत्यको दिखाकर हमारा स्वागत किया। एक नृत्य अत्यन्त ही आकर्षक रहा। इसमे एक किसानके वास्तविक जीवनका चित्रण किया गया था।

इस क्षेत्रका प्रमुख स्थान जो विशेष रूपमें महत्वपूर्ण है, बासर ग्राम है। यहाँ एक मिट्टीका टीला है जो करीब ८ फुट ऊँचा है तथा उसका घेरा करीब एक मीलमें है। इस क्षेत्रकी जनता 'राजाविशालका गढ़' कहती है। यही वैशालीका प्रमुख स्थान कहा जाता है। बताया जाता है कि यह स्थान प्राचीन कालमें अत्यन्त ही समृद्ध एवं गौरवशाली था। इस संपूर्ण टीलेपर ईंटके टुकड़े पड़े हुए हैं। पुरातत्ववेत्ताओंको वहां ईंटकी दीवाल, पकाई गई मिट्टीकी मूर्तियां (टेराकोटा) वर्तनके टुकड़े एवं अनेक मोहरें (सरकारी एवं गैर सरकारी) प्राप्त हुई हैं। उन दिनों मोहरोंका प्रयोग बैंक तथा अन्य संस्थाओं द्वारा किया जाता था।

वैशाली संघने पर्यटकोंकी सुविधाके लिये एक अतिथि-गृह भी तैयार किया है। संघने एक वहां संग्रहालयका निर्माण कर एक बड़ी कमीका पूरा किया है। पर्यटकोंके लिए उस स्थानकी विशेषता जाननेके लिये विवरण पत्रिका भी तय्यार की हुई है।

वैशालोमें अन्य प्रमुख चीज है जो अशोकके समयकी याद दिलाती है। वह है कोल्हुआका एक स्तूप जिसके ऊपर सिंहकी प्रतिमा है। इसीके पास एक १५ फुट ऊँचा एक और स्तूप है। स्तूपका घेरा १२ फुट तथा

ऊँचाई में २२ फुट है। इससे मालूम होता है कि अशोक को २२ वर्षकी अवस्थामें अनेक परिवर्तनोंका सामना करना पड़ा था। यह चुनारके पास पाये जाने वाले पत्थरका बना है और इसमें सुन्दर पालिश भी किया गया है। यत्र-तत्र यह स्तूप टूट भी गया है।

इस स्तूपके सम्बन्धमें यह प्रचलित कहानी बहुत अंशोंमें ठीक ही मालूम होती है कि यह बनारसमें तैयार किया गया था और टुकड़ोंमें करके गंगा, गंडक तथा नेवली नालाके रास्तेसे यहाँ लाया गया। यहाँ नालेके स्पष्ट चिह्न दिखायी पड़ते हैं। इस स्तूपको देखकर हमें इस बातका अनुमान भी नहीं होता कि उस समयके शिल्पकार अपनी शिल्पकलामें कितने प्रवीण एवं दक्ष होंगे।

अशोकने पाटलिपुत्रसे कपिलवस्तु तथा नेपालमें लुम्बिनीके मार्गपर इस सिंह-स्तम्भको बनवाया था। इसे उसने अपने शासनकालके २१ वें वर्षमें बनाया था।

बासरमें एक पुराने स्तूप पर एक दरगाह है जो जमीनके धरातलसे २३ फुट ऊँचा है। यह 'मिरांजीके दरगाह'के नामसे प्रसिद्ध है परन्तु वास्तवमें यह एक पीरका दरगाह है जिसका नाम शेख मुहम्मद काज़ी था।

यहाँ के दो अथवा तीन विभिन्न मंदिरोंमें कई हिंदुओंकी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। यह अशोकके बादके समयकी हैं। इनमेंसे अधिकांश पत्थर तथा कुछ कांसेकी हैं। इन्हें राम, सीता, लक्ष्मण, परशुराम, सूर्य हर गौरी, कार्तिकेय तथा अन्य हिन्दू देवताओं के नामसे पुकारे जा सकते हैं। परन्तु इनमेंसे एक, जो काफी महत्वपूर्ण है, गोमुखोमहादेव की है ऐसी मूर्ति केवल नेपालमें पशुपतिनाथमें है। इसे नागरिक प्रतिमा भी कहते हैं।

इस वैशाली क्षेत्रमें पायी सामग्रियों में यह कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन चीजोंसे हमें उस समयकी जनताका कुछ परिचय भी मिलता है जिन्होंने अहिंसा सिद्धांतका व्यापक प्रचार करनेमें भाग लिया था।

अहिंसा अथवा प्रेमका एक अत्यन्तही रोचक इतिहास है। इस सिद्धांतके सम्बन्धमें महावीर, बुद्ध तथा बादको अशोक ने जो कार्य किए हैं वे वास्तवमें काफी महत्वके हैं। उपनिषदोंमें भी हम अहिंसाको एक अनुशासनके रूपमें पाते हैं। यह उस समय आध्यात्मिक जीवनका एक प्रमुख अंग था जैनधर्मने ही पहले अहिंसाको सबसे बड़ा धर्म तथा सबसे बड़ा कर्तव्य घोषित किया। उस समय जैन संन्यासियोंको 'निर्ग्रन्थ' कहा जाता था जो बुद्धके समयमें भी थे। महावीर स्वामीके पूर्व जैन धर्म के २३ तीर्थंकर थे उनमेंसे २० पारसनाथकी पहाड़ियोंमें समाधिस्थ कर दिए गए।

जैन धर्मवालोंने अनुशासनका एक नया नियम चलाया था। जिसे उनके अनुसार अहिंसा कहते हैं। अनशन, आत्मनियंत्रण तथा तपस्या ही उसके लिये प्रर्याप्त नहीं है। वे उन जीवधारियोंको भी किसी प्रकारका नुकसान नहीं करना चाहते थे, जिन्हें वे देख नहीं सकते थे। इसलिये वे सर्वदा पानी छानकर पीते, जमीन साफ़ करते तथा सूर्य डूबने के बाद भोजन आदि नहीं करते थे। उनका सबसे बड़ा त्याग पर्योपवेक्षण था, जिसमें एक व्यक्ति अनशन करकेही अपने शरीरका त्याग कर देताहै। इस प्रकारके सिद्धांत अपनी समस्त कमजोरियोंके बावजूद भी उस ऐतिहासिक युगमें प्रचलित थे जबकि महावीर वैशालीमें ही थे। यह सिद्धांत आज भी अपने उसी रूपमें जीवित हैं. जिसे महावीरके करीब डेढ़ लाख (?) अनुयायी मानते हैं।

इसे सभी लोग जानते हैं कि बुद्धको वैशालीके प्रति प्रेम था और उनकी जनतामें श्रद्धा थी। वे तीन बार उस स्थानको देखनेके लिये गये और उन्होंने वहां काफी समय व्यतीत भी किया यहीं पर उन्होंने इस बातकी घोषणाकी, कि मेरे निर्वाण प्राप्त करनेके दिन निकट आ चुके हैं। वैशाली की जनताने जब उनसे याददाश्तके रूपमें कोई चीज मांगी थी तो उन्होंने जनताको यही भिक्षा पात्र दिया था। प्रमुख वेश्याके धर्मपरिवर्तनकी कहानी भी वैशालीसे ही सम्बन्धित है। महात्मा गौतम बुद्धकी मृत्युके सौ वर्ष बाद वैशालीमें बौद्धोंका द्वितीय सम्मेलन हुआ था। इसके दो सौ वर्षके पश्चात् अशोक आता है। प्रेम एवं अहिंसा सिद्धांतके प्रचार में उसने भी काफी महत्वपूर्ण कार्य किया। कोल्हुआका अशोकस्तम्भ उस स्थानकी महत्ताका द्योतक है।

अहिंसाका इतिहास अभी पूर्णरूपसे नहीं लिखा गया है। ईसाईधर्म हिन्दूधर्म तथा संसारके अन्य धर्मोंमें इसका नाम अनेक रूपोंमें आया है। गांधीजीके द्वारा यह सत्याग्रहके रूपमें विकसित हुआ। इसी अस्त्रके सहारे उन्होंने सभी प्रकारकी बुराइयोंका सामना किया, अहिंसाका भविष्य भी उज्ज्वल है।

वैशालीकी यात्रासे अहिंसाके इस महान् सन्देश तथा उसके प्रवर्तक एवं प्रचार करने वाले युगपुरुषोंका हमे स्मरण हो जाता है। आशा है वैशाली भावी पीढ़ीके लिए प्रेरणा प्रदान करेगा।

— अमृतपत्रिका विशेषाङ्क, ११ अप्रैल, १९५३ से।

मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप बोतल न रक्खें ?

(श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर')

श्रीमती शान्तिदेवीजी भीतरके कमरेसे बाहर चौकमें आरही थीं कि उनका पैर रास्तेमें रक्खी बोतलसे टकरा गया।

बोतल सरसोंके तेलकी थी। तेल बिखर गया, नाखून-में सख्त चोट लगी। झल्लाकर छेदासे बोली—"अरे, तू जहाँ देखता है वहीं चीज़ पटक देता है। यह बोतल रखनेकी जगह है? गधा कहीं का!"

अवसर पारखी छेदाने अपनी बहूजीका पैर मसला, तेल समेटा और गल्ती मानी। हमारी शान्तिदेवीजी हैं बमभोला शिवशंकर; वे हँस पड़ीं और बात आई गई हुई, पर इसके कोई दस-पन्द्रह दिन बाद उसी स्थान पर उसी घटनाने एक नया रूप ले लिया।

छेदा भीतरके कमरेसे बाहर चौकमें आरहा था कि उसका पैर रास्तेमें रक्खी बोतलसे टकरा गया। पैरमें चोट लगी, तेल बिखर गया, बोतल टूट गई। वह सँभलही रहा था कि झल्लाकर शान्तिदेवीजीने कहा—"अरे, आंख फोड़कर नहीं चला जाता तुमसे?"

छेदा चन्ट-चतुर! जानता था कि बोतल आज रास्तेमें बहूजीने रक्खी है; इसलिये शोखीसे मुस्कराते, कन अँखियोंसे देखकर वह बोला—"बहूजी! मैं आँख फोड़कर चलूँ या आप रास्तेमें बोतल न रक्खें?"

समयकी बात; मैं दोनों दिन वहीं था, इसलिये छेदाके प्रश्नमें जो मीठा-पैना व्यंग था, उसे मैं ले पाया और बहुत जोरसे मेरी हँसी फूट पड़ी। मैंने कहा—"ठीक है, जब छेदा रास्तेमें बोतल रक्खे, तब चीज़को गलत रखनेका सिद्धान्त माना जाय और जब वही काम खुद बहूजी करें तो आंख फोड़कर चलनेका असूल लागू हो!"

बात हँसीकी थी, हँसीमें घुलमिल गई, पर मैं देखता हूँ कि हमारे जीवनमें व्यापक रूपसे यह रोग फैला हुआ है कि हम हरेक घटनाको, हरेक प्रश्नको अपनेही दृष्टि-कोणसे देखें। इसे रोग, मैं कुछ मुहावरेके तौरपर नहीं कह रहा हूँ। यह सचमुच एक नैतिक रोग है, जो मनुष्यको मानसिक रूपसे काना बना देता है। काना; जिसकी एक आंख दुर्भाग्यसे फूट गई!

ओह! क्या बात याद आगई। मेरे एक मित्र थे, वे एक बार मुझे भी यात्रामें साथ ले गये। जहां गए, वहां उनके एक यजमान थे। निमंत्रण था, हम दोनों उनके घर भोजन करने गये। अजीब बात कि श्रीमतीजी की दाहिनी आँख बन्द तो श्रीमान् जी की बाईं; दोनों काने! मैं सोचता रहा कि दो कमियोंका गठ-बन्धन कर, यह एक पूर्णताकी रचनाकी गई है या दो पूर्णताएँ रोगके किसी 'कोआपरेटिव' आक्रमणसे दो अपूर्णताओंमें बदल गई हैं?

भोजन बनता रहा, बातें चलती रहीं। बातों-बातोंमें जाने क्या बात हुई कि पति-पत्नीमें बात बढ़ गई और वे आपसमें भिड़ गए। लड़ाई बातों-बातोंकी, पर काफी पैनी। पतिको शायद उसके अहंकारने अचानक कहा—पत्नीकी यह हिम्मत और हिमाक़त कि मेहमानोंके सामने तुमसे चोंच भिड़ाए!

वह भभक उठा और तमककर उसने कहा—"साली! कानी कहीं की; बके जा रही है।"

पत्नीने इस भभक को पिया-पचाया और तब अपनी अनदेखती आँखको जरा दबाकर, देखती आंखकी कुछ कमानसी ऊपरको खींचे ठण्डे सुरमें कहा—"ओहो हमने कोई दो आँखका भी ना देखा।"

बस कुछ न पूछिये कि निशाना कहां बैठा। पति महाशय घड़ों नहा गए और मुझे हँसी रोकना मुश्किल हो गया, तो मैं वहां से उठ भागा।

आपको भी सुन-पढ़कर हँसी आए, तो हँस लीजिए, पर बात तो सोचनेकी यह है कि क्या उन दोनोंकी तरह हम सब भी काने नहीं हैं और हमारा भी वही हाल नहीं है कि अपनी आंखको भूले दूसरेकी आंख पर निशाना लगाए हुए हैं?

अच्छा, यह कानापन क्या है? एक पिताके दो बेटे। खेलमें एक बन गया राम, तो दूसरा रावण; बस होने लगी तीरंदाज़ी। तीर मामूली तिलनू के और धनुष बांसकी खपच्चीका, पर तीर आखिर तीर! रावणका तीर रामजी की दाईं आंखमें घुस गया और आंख जाती रही—हो गए काने। मतलब यह कि चोटसे या खोटसे। एक आंख बैठ गई और हो गए काने!

यह हुई बाहरी बात, कानेपनकी भीतरी भावना क्या है ? एक लोक-कथा है कि मां का काना बेटा हरद्वार गया। लौटा, तो मां ने पूछा—"हरद्वारमें तुझे सबसे अच्छा क्या लगा रे ?" गाँवके भोले बेटेने तबतक कहीं बाज़ार देखा नहीं था। बोला—"मां हरद्वारका बाजार घूमता है।"

मां हरद्वार हो आई थी। बाज़ार घूमनेकी बात सुनकर वह घूम गई और चौंककर उसने पूछा–'कैसे घूमता है रे, हरद्वारका बाज़ार ?'

बेटेने नए सिरेसे आश्चर्यमें डूबकर कहा—'मां, मैं हरकी पैड़ी नहाने गया, तो बाज़ार इधर था और नहाकर लौटा, तो इधर हो गया।" दुःख पाकर भी मां हँस पड़ी और उसने बेटेको छातीसे लगा लिया।

दूसरे शब्दोंमें कानेका अर्थ है—एकांगी; जो प्रश्नको, सत्यको, इकहरा यानी अधूरा देखता है।

चलती रेल स्टेशनपर आ ठहरी। भीतर डब्बेमें कुछ मुसाफिर जिनमें एकका नाम 'क' और डब्बेके बाहर दूसरा मुसाफिर जिसका नाम 'ख'। ख चटखनी खोल भीतर आना चाहता है पर 'क' उसे कहता है—"अरे भाई, पीछे तमाम गाड़ी खाली पड़ी है, वहां क्यों नहीं चले जाते !"

'क' एक सुन्दर नौजवान है, खास उसकी दोनों आंखें तो बहुतही सुन्दर हैं पर मानसिक रूपसे वह काना है, क्योंकि मुसाफिरोंकी सुविधाके प्रश्नको यह अधूरे रूपमें ही देखता है, पर क्या हम 'क' की निन्दा करें और 'ख' को अपनी सहानुभूति दें ?

यह हो सकता है, पर अगलेही स्टेशन तक; क्योंकि वहां 'ख' डब्बेके दरवाजे आ पड़ता है और ऊपर चढ़ते मुसाफिरोंको झक-झोरता है—"जब पीछेके डब्बोंमें जगह खाली पड़ी है, तो यहां क्यों घुस आरहे हो ?" चढ़ने वाले नहीं मानते, तो कहता है "हमारे देशमें तो भेड़िया धसान है साहब, जहां एक घुसेगा, वहीं सब घुसेंगे।" तब उसकी देशभक्ति उमड़ आती है—"तभी तो हमारे देशका यह हाल है।"

इसी 'ख' ने पहले स्टेशन पर 'क' के बारेमें सोचा था—"अरे भाई, डब्बेमें जगह होगी बैठ जाऊँगा, नहीं खड़ा रहूँगा। तुम्हारे सिर पर तो गिरूंगा नहीं, फिर तुम्हें मौत क्यों आरही है।" 'क' की तरह 'ख' भी काना ही है।

एक और मित्र हैं। घरमें एक लड़का है, एक लड़की ! लड़केका विवाह हुआ, तो उन्होंने लड़की वालेसे उसी तरह रुपया वसूल किया, जैसे पुलिस वाले किसी चोरसे चोरीकी जानकारी उगलवाते हैं। बादमें उन्हें ढाई हजार रुपये मिले, पर उम्मीद थी पांच हज़ार की। वे शान्त रहे, पर दूसरे दिन बेटेने फैल भर दिये कि यह तो वह लड़कीही नहीं है जो पहले दिखाई थी; भला मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। चार-पांच घण्टेकी रस्साकशीके बाद ढाई हजार और मिल गए तो लड़की रूपमें लक्ष्मी और गुणमें सरस्वती हो गई।

मिले, तो मैंने कहा—"आपने तो कसाईको भी मात कर दिया खून निकालनेमें !" बिना शरमाये और झिझके वे बोले—"बिना दबाये गन्नेसे रस कहां निकलता है भाई साहब।"

कोई तीन वर्ष बाद उन्होंने अपनी बेटीका ब्याह रचाया, तो करमकी बात, उन्हें उन जैसाही समधी मिल गया। ऐसा चूसा कि सफ़ेद पड़ गए और ऐसा कसा कि करवट न ले सकें। विवाहके बाद एक दिन समाजकी दुर्दशापर आँसू बहातेसे वे कह रहे थे—"हमारे यहाँ लड़की वालेको तो कोई आदमी ही नहीं समझता। कम्बख्त मुझे इस तरह देखता था, जैसे मैं उसके बापका कर्जदार हूँ।"

जी में आया, कह दूँ—तीन वर्ष पहले तो आपको गन्नेकी उपमा बहुत पसन्द थी भाई साहब !

वही कानेपनकी बात; बेचारेका बाजार घूम गया—देनेमें दाएँ, तो लेनेमें बाएँ !

एक और मित्र हैं, जब मिलते हैं; अपने इकलौते बेटेकी शिकायत करते हैं—'कोई बात सुनताही नहीं, सदा अपने मनकी करता है। नाकमें दम है पण्डितजी ! ऐसी औलादसे तो बे औलाद भला !!

एक दिन बेटा मिला तो बोला—"मैं तो उनसे परेशान हूँ पण्डितजी ! हमेशा रट लगाए रहते हैं यह मत करो, वह मत करो। आखिर आपही बताइये कि मैं कोई भेड़ हूँ कि गड़रियेकी तरह वे मुझे हाँका करें, वरना मैं गड्ढेमें गिर पड़ूँगा।"

कोई नई बात नहीं, सिवाय इसके कि दोनों काने हैं—बापको बेटेकी जवानी नहीं दीखती, तो बेटा बापकी बुजुर्गी नहीं देख पाता।

जो हाल बाप-बेटेका है वही पति-पत्नीका। एक मित्र हैं। रातमें ग्यारह बजे क्लबसे लौटते हैं तो पत्नी सोई मिलती है। एक दिन दुखी होकर बोले—"मैं सुबह ६ बजेसे कोई १४-१५ घण्टे घरसे बाहर रहकर लौटता हूँ तो श्रीमतीजी भैंस-सी पलंगपर सवार मिलती हैं।"

एक दिन बातों-बातोंमें मैंने कहा—"भाभीजी, आपसे भाई साहबको एक शिकायत है।" भरीतो बैठी ही थीं, बीचमें ही बात काटकर बरस पड़ीं—"ठीक है आपके भाई साहबको शिकायत है, पर पूरे १८ घंटे तेलीके बैलकी तरह काममें जुटी रहनेके बाद, जरा पलंगमें कमर लगाती हूँ तो उनके कलेजेमें मकोड़े क्यों दौड़ते हैं।"

वही बात कि दो काने एक गाँठमें बंध गए और पति महाशय पत्नीको और पत्नी महोदया पतिको अपनी अपनी आँखसे घूर रहे हैं।

अपरिचित मुसाफिर या परिचित मित्र, सगे सम्बन्धी या पति-पत्नी और पिता-पुत्रसे आत्मीय; जब दो भिन्न विचारोंके लोग आपसमें बातें करते हैं और एक दूसरेसे सहमत नहीं हो पाते, तो एक दूसरेको बेईमान मान बैठते हैं और इस प्रकार सुलझाने वाली बातचीत, उलझाने वाली कड़वाहटमें बदल जाती है यदि हम सब दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न करें, तो बड़े बड़े विवाद यों ही शान्त हो सकते हैं। दूसरेके दृष्टिकोणको समझनेका प्रयत्न एक ऐसी प्रवृत्ति है जो वातावरणको कोमलतासे भर देती है। यह कोमलता समन्वयके लिये जगह बनाती है और इस प्रकार बीचकी दूरी कम होकर एकताका जन्म होता है।

यदि दूरी इतनी अधिक और मौलिक हो कि एकता असम्भव रहे तबभी यह दूरी इतनी कम जरूर रह जाती है कि बीचमें एक हलका मतभेदही रह जाए और मन भेद तक बात न बढ़े।

दूसरेको हमेशा उसकी आँखसे देखिये और सावधान रहिए उस खतरेसे जो दूरबीनको उल्टी करके देखनेसे पैदा होता है! यहीं यह भी कि सत्य वही और उतनाही नहीं है कि जो जितना आप देख पाए। फिर यह भी तो सम्भव है कि हाथीके स्वरूपका अलग अलग वर्णन करने वाले वे दोनों आदमी शत प्रतिशत सच्चे होकरभी बस इसलिये अधूरे हों कि एकने हाथीको देखा था सूँडकी तरफसे और दूसरेने पूँछकी तरफसे।

(नया जीवनसे)

अनेकान्तकी फाइलें

'अनेकान्त' जैन समाजका उच्चकोटिका एक ऐतिहासिक और साहित्यिक सचित्र मासिक पत्र है। जो संग्रहणीय एवं पठनीय है। इस पत्रकी पिछले ४ वर्षसे ११वें वर्ष तककी कुछ फाइलें अवशिष्ट हैं। प्रचारकी दृष्टिसे जिनका मूल्य लागत मात्र लिया जाता है। जिन्हें आवश्यकता हो वे शीघ्र मंगवालें। अन्यथा फिर नहीं मिलेंगी। पोस्टेज रजिस्टरी पैकिंग आदिका सब खर्च अलग होगा।

मैनेजर 'अनेकान्त'

१ दरियागंज, देहली।

सम्पादकीय

१. अनेकान्तकी वर्षसमाप्ति —

इस किरणके साथ अनेकान्तके ११वें वर्षकी समाप्ति हो रही है। यह वर्ष अनेक उलझनों तथा कुछ विकट समस्याओंसे पूर्ण रहा है। इसका प्रारम्भ निमोनियाकी बीमारीसे उठकर मैंने कर्तव्यके अनुरोधवश अपनी निर्बल अवस्थामें ही किया था; फिरभी अनेक सज्जनोंके सहयोगसे पहली किरण विशेषाङ्कके रूपमें ऐसी बन आई थी कि जिसे सभीने पसन्द किया था और पूज्य वर्णी श्रीगणेश प्रसादजीने तो उसपर अपना हर्ष व्यक्त करते हुए यहां तक लिखा था कि—"पत्रकी प्रशंसा क्या करूँ पत्रको पढकर जो आनन्द आया—इस समय यदि मेरे स्थानपर कोई सद्गृहस्थ होता तब पत्रको अजर-अमर कर देता। मैं तो भिक्षुक हूँ—यही मेरा आशीर्वाद है जो आप अजर-अमर हो जावें।" वर्णीजीने ये उद्गार अपने जिस पत्रमें प्रकट किये थे उसे अनेकान्तकी दूसरी किरणमें ही प्रकाशित कर दिया गया था; परन्तु अभीतक वर्णीजीकी मनोभावना-वाला कोई सद्गृहस्थ सामने नहीं आया जो अपने आर्थिक सहयोग आदिके द्वारा पत्रको अजर अमर कर देता। उल्टा, इस वर्ष भी प्रचार आदिके अभावसे पत्रको ग्राहकों का टोटा ही रहा है। इस वर्षके आय व्ययका हिसाब अगली किरणमें प्रकाशित किया जायगा और उससे पाठकों-को वस्तुस्थितिका ठीक पता चल जायगा।

दूसरी किरणको तय्यार कराते ही मेरे साथ जो भयंकर तांगा-दुर्घटना घटित हुई वह सर्वविदित है, उसने प्राणोंको ही संशयमें डाल दिया था और मुझे बलात् पाठकोंकी सेवासे वंचित कर दिया था। धर्मके प्रतापसे कोई तीन महीने बाद मैं जैसे तैसे पाठकोंकी सेवामें पुनः उपस्थित हो सका था। अनेक उपचारोंके होते हुए भी शरीरको जो क्षति उक्त दुर्घटनासे पहुँची उसकी पूरी पूर्ति अभी तक भी नहीं हो पाई है और इसीसे मैं पत्रके सम्पादन-कार्यमें पूरा योग नहीं दे सका।

इस वर्षके प्रारम्भसे ही बाबू छोटेलालजी कलकत्ताके महत्वपूर्ण सचित्र लेख मिलने शुरू हुए थे और उनसे यह आश्वासन भी प्राप्त हुआ था कि वे बराबर अपने लेख देते रहेंगे। तीसरी किरण तक उनके लेखोंका सिलसिला जारी रहा और वे पाठकोंको बड़े ही रोचक प्रतीत हुए। आशा थी ऐसे लेखोंसे अनेकान्तकी श्री बराबर बढेगी, परन्तु उनकी अस्वस्थताके कारण वह सिलसिला बन्द हो गया, जिसका मुझे खेद है! इसी तरह बाबू जयभग-वानजी एडवोकेट पानीपतके गवेषणापूर्ण लेखोंका जो सिल-सिला पहली किरणसे चला था वह भी उनकी अस्वस्थताके कारण बराबर जारी नहीं रह सका—६ठी किरणके बादसे तो वह बन्द ही पड़ा है। मुझे ऐसे समाचार मिलते रहे हैं कि उन्होंने जैसे तैसे दो-एक लेख और भी लिखे है, जो उनकी बीमारीके कारण अभी कुछ अधूरे हैं। यह सब समाजका दुर्भाग्य है, जो कुछ निःस्वार्थ भावसे ठोस साहित्य सेवा करना चाहते हैं उनके पीछे बीमारियाँ पड़ी हुई हैं। हार्दिक भावना है कि ऐसे महानुभाव शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभकर अपनी साहित्य-सेवा-विषयक मनोकाम-नाओंको पूरा करनेमें समर्थ होवें।

अनेकान्तकी यह किरण फरवरीके महीनेमें प्रकाशित हो जानी चाहिये थी, परन्तु जनवरीमें वीरसेवामन्दिरके प्रचारादिकी दृष्टिसे श्रीबाहुबलीजीकी यात्राके लिये एक संघ निकालने और श्रवणबेलगोलमें संस्थाका नैमित्तिक अधिवेशन करनेका कुछ ऐसा आयोजन हुआ कि जिसके कारण मुझे और पं० परमानन्दजी (प्रकाशक) को भी दो महीने के लिये सफरमें जाना आवश्यक हुआ। पीछे अपने स्टाफमें ऐसा कोई नहीं था जो किरणको निकाल सके; तदनुसार ही इस किरण को अप्रैल मासमें निकालने की सूचना पिछली किरण (११) में दे दी गई थी और इस-लिये यह किरण दो महीनेके पूरे विलम्बसे मईके प्रथम सप्ताहमें प्रकाशित हो रही है।

इन सब परिस्थितियोंके रहते हुए भी अनेकान्तके पाठकोंको मैटरकी दृष्टिसे तनिक भी टोटेमें नहीं रहने दिया गया है—उन्हें निर्धारित संख्यासे अधिक पृष्ठ ही पढ़नेको दिये गये हैं और वे भी प्रायः बारबार पढ़ने योग्य अच्छे ठोस साहित्यके। फिर भी अपनी कमजोरी और परिस्थि-तियोंके वश सेवामें जो कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिये मैं अपने पाठकोंसे क्षमा-प्रार्थी हूं।

यहाँ पर मैं उन सज्जनोंका आभार माने बिना नहीं

रह सकता जिन्होंने संरक्षक और सहायक बनकर अपने आर्थिक सहयोग-द्वारा अनेकान्तकी जड़ोंको कुछ मजबूत किया है। वर्षके शुरूमें १६ संरक्षक और १० सहायक थे वर्ष भरमें कुल दो संरक्षक और १७ सहायक और बढ़े हैं, जिनके शुभ नाम पहली किरण और इस किरणके अन्तिम टाइटिल पेजों परसे भले प्रकार जाने जा सकते हैं। यह संख्या बहुत थोड़ी है—कमसे कम १०० संरक्षक और ५०० सहायक तो होने ही चाहियें। ऐसा होने पर पत्र आर्थिक चिन्तासे बहुत कुछ मुक्त हो जायगा और उस वक्त तक तो मरेगा नहीं जब तक वर्णीजीकी मनोभावना वाला कोई सद्गृहस्थ जन्म लेकर अथवा आगे आकर इसे सब प्रकारसे अजर अमर नहीं कर देगा। समाजमेंसे इतने संरक्षकों और सहायकोंका होना कोई बड़ी बात नहीं है, यदि बाबू नन्दलालजी कलकत्तावालों की तरह अनेकान्तसे प्रेम रखने वाले सज्जन अपने अपने नगर-ग्रामोंमें इसके लिये कुछ पुरुषार्थ करें। ऐसा करके वे अनेकान्तको स्थायित्व प्रदान करनेमें ही नहीं बल्कि उसे समाजका एक आदर्शपत्र बनानेमें भी सहायक हो सकेंगे! उनके इस कृत्यसे संचालकोंको बहुत प्रोत्साहन मिलेगा और वे भी फिर कोई बात उठा नहीं रक्खेंगे। आशा है ऐसे उद्योगी पुरुष शीघ्र ही आगे आएँगे और संरक्षकों तथा सहायकोंकी संख्यामें काफ़ी वृद्धि करानेमें समर्थ होंगे। जो प्रेमी पाठक कोई संरक्षक या सहायक न बना सकें उन्हें कमसे कम ५-७ ग्राहक तो जरूर ही बना देने चाहिये।

अन्तमें मैं उन महानुभावोंको भी नहीं भुला सकता जिन्होंने अपने मूल्यवान् लेख भेजकर 'अनेकान्त' की श्रीवृद्धि की है और जिनके सहयोग बिना अनेकान्त अपने पाठकोंकी उतनी सेवा नहीं कर सकता था जितनी कि वह कर सका है। उन महानुभावोंमें बाबू छोटेलालजी और बा० जयभगवानजीके अलावा पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, प्रो० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, प्रो० देवेन्द्रकुमारजी एम. ए., श्री दशरथशर्माजी एम.ए.डी.लिट्, म० भगवानदीनजी, श्रीरिषभदासजी राका, बाबू अनन्तप्रसादजी बी. एससी., श्रीजमनालालजी साहित्यरत्न, बाबू उग्रसेनजी एम. ए. वकील, पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य, डा० हीरालालजी जैन एम. ए., श्रीअगरचन्दजी नाहटा, डा० बुलीचन्दजी जैन एम. एससी., श्रीदौलतरामजी मित्र, श्रीराजमलजी मडवैया, श्री एन. सी. वाकलीवाल और बा० रतनचन्दजी मुख्तारके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं और ये तथा दूसरे सभी लेखक धन्यवादके पात्र हैं। बाकी पं. परमानन्दजी तो अपनेही हैं और अनेकान्तके प्रकाशक होनेसे उसके संचालकोंमें हैं, उन्हें अलगसे धन्यवाद क्या दिया जाय? फिर भी इतना कहना होगा कि उनके लेख काफी हैं और उन्होंने हिन्दीके अनेक जैन कवियोंका परिचय पाठकोंके सामने रक्खा है। आशा है ये सब लेखक अगले वर्ष और भी अधिक उत्साहके साथ अनेकान्तको अपना सहयोग प्रदान करनेकी कृपा करेंगे और दूसरे भी कुछ उदारमना अच्छे लेखकोंका सहयोग उसे प्राप्त होगा

२. पुरस्कारोंकी योजनाका नतीजा—

अनेकान्तकी गत जून-जुलाईकी किरणमें मैंने अपनी ओरसे पुरस्कारोंकी एक योजना निकाली थी, जिसमें पांच विषयोंके पांच लेखोंपर ५००) रु० के पुरस्कारोंकी घोषणा की गई थी और लेखोंको भेजनेके लिये ३१ दिसम्बर तक की अवधि रक्खी गई थी। साथ ही यह निवेदन किया गया था कि "जो सज्जन पुरस्कार लेनेकी स्थितिमें न हों अथवा उसे लेना नहीं चाहेंगे उनके प्रति दूसरे प्रकारसे सम्मान व्यक्त किया जायेगा। उन्हें अपने इष्ट एवं अधिकृत विषयपर लोकहितकी दृष्टिसे लेख लिखनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिये।" इसके सिवा उस किरणके 'सम्पादकीय' में पुरस्कार-योजनाकी अपनी दृष्टिको भी स्पष्ट कर दिया गया था, जिसका संक्षेप इतना ही था कि 'विद्वानोंको अवकाशके समयमें काम मिले, उनकी प्रतिभाको चमकनेका अवसर प्राप्त हो और वे समाज तथा देशहितके लिये आवश्यक ठोस साहित्यका निर्माण कर यशस्वी बन सकें, तथा वीरसेवामन्दिरसे पुरस्कारोंकी परम्परा मेरे जीवनमें ही चालू हो जाय।' परन्तु खेद है कि समाजके विद्वानोंका इस उपयोगी योजनाकी ओर कोई खास ध्यान नहीं गया! इसीसे किसी भी विद्वानने एक भी विषयपर लेख भेजनेकी कृपा नहीं की—सिर्फ एक बाल ब्रह्मचारिणी विदुषी स्त्री *श्रीविद्युल्लता शाह*ने, जो न्यायतीर्थ होनेके साथ साथ बी. ए. बी. टी. भी है और शोलापुरके श्राविकाश्रममें शिक्षा प्राप्त करके उसीमें प्रधान अध्यापिकाके पद पर नियुक्त है, एक विषयपर अपना उत्साह प्रदर्शित

किया है, अर्थात् 'श्री कुन्दकुन्द और समन्तभद्रका तुलनात्मक अध्ययन' नामक लेख लिखकर समयके भीतर भेजा है। लेख अच्छा परिश्रमपूर्वक लिखा गया है, अनेक चित्रोंसे भी उसे अलंकृत किया गया है और मुकाबलेके लिये दूसरा कोई लेख अपने सामने नहीं आया। अतः उक्त विदुषी बाईको पुरस्कारकी अधिकारिणी ठहराया गया है। मैं इस बाईसे अभी यात्राके अवसरपर श्रवणबेलगोल तथा शोलापुरमें मिला हूँ, मुझे वह अच्छी सुशील तथा होनहार जान पड़ती है। उसे ऊँचे दर्जेके अध्ययनके लिये प्रोत्साहन एवं सत्समागम मिलना चाहिये। लेखिका बाईकी यह शिकायत थी कि उसे प्रकृत विषयके गहरे अध्ययन और उस पर लेख लिखनेके लिये काफी समय नहीं मिल सका, अतः लेख पुनर्दृष्टि डालनेके लिये कुछ सूचनाओंके साथ उक्त बाईको दे दिया गया है संशोधित होकर वापिस आजाने पर उसे प्रकाशित किया जायगा।

शेष पुरस्कारोंके सम्बन्धमें अब मैं यह चाहता हूँ कि यदि कमसे कम दो या तीन विद्वान उनमेंसे किसीभी विषय पर लेख लिखनेकी अपनी आमादगी जाहिर करें तो उस विषयके पुरस्कारकी पुनरावृत्ति करदी जाय, अर्थात् इसके लिये यथोचित समय निर्धारित करके फिरसे उस पुरस्कारकी घोषणा पत्रोंमें निकाल दी जाय। इसके लिये मैं लेख लिखनेको उत्सुक विद्वानों तथा विदुषियोंके पत्रोंकी १५ जून तक प्रतीक्षा करूँगा और उस वक्त तक जिस विषयके भी घोषणायोग्य पत्र प्राप्त होंगे उस विषयके पुरस्कारकी फिरसे घोषणा करदी जायगी; अन्यथा बादको नये पुरस्कारोंकी योजना की जाएगी। जिन चार विषयोंपर लेख लिखे जाने अभी बाकी हैं उनके नाम निम्न प्रकार हैं और उनका विशेष परिचय अनेकान्तकी उक्त किरण (नं. ४-५) से जाना जा सकता है:—१ समयसारकी १५ वीं गाथा। २ अनेकान्तको अपनाए बिना किसीकी भी गति नहीं। ३ शुद्धि-तत्त्व-मीमांसा। ४ विश्व शांतिका अमोघ उपाय।

३. समाजमें साहित्यिक सद्रुचिका अभाव—

जैन समाजमें पूजा-प्रतिष्ठाओं, मेले-ठेलों, मन्दिर-मूर्तियोंके निर्माण, मन्दिरोंकी सजावट और तीर्थयात्रा आदि जैसे कार्योंमें जैसा भाव और उत्साह देखनेमें आता है वैसा सत्साहित्यके उद्धार और नव निर्माण जैसे कार्योंमें वह नहीं पाया जाता। वहां करोड़ों रुपये खर्च होते हैं तो यहां उनका सहस्रांश भी नहीं। इसका मूल कारण समाजमें साहित्यिक सद्रुचिका अभाव है और उसीका यह फल है जो आज हजारों ग्रन्थ शास्त्रभंडारोंकी कालकोठरियोंमें पड़े हुए अपने जीवनके दिन गिन रहे हैं—कोई उनका उद्धार करने वाला नहीं। यदि भाग्यसे किसी सद्ग्रन्थका उद्धार होता भी है तो वह वर्षों तक प्रकाशकोंके घर पर पड़ा-पड़ा अपने पाठकोंका मुँह जोहता रहता है—उसको जल्दी खरीदनेवाले नहीं; और इस बीचमें कितनी ही ग्रन्थप्रतियोंकी जीवन-लीलाको दीमक तथा चूहे आदि समाप्त कर देते हैं! इसी तरह समयकी पुकार और आवश्यकताके अनुसार नवसाहित्यके निर्माणमें भी जैनसमाज बहुत पीछे है। उसे पता ही नहीं कि समयकी आवश्यकताके अनुसार नव-सहित्यके निर्माणकी कितनी अधिक जरूरत है—समयपर नदीके जलको नये घड़ेमें भरनेसे वह कितना अधिक ग्राह्य तथा रुचिकर हो जाता है। किसी भी देश तथा समाजका उत्थान उसके अपने साहित्यके उत्थानपर निर्भर है। जो समाज अपने सत्साहित्यका उद्धार तथा प्रचार नहीं कर पाता और न स्फूर्तिदायक नवसाहित्यके निर्माणमें ही समर्थ होता है वह मृतकके समान है और उसे आजके विश्वकी दृष्टिमें जीनेका कोई अधिकार नहीं है। ऐसी हालतमें समाजको कालके किसी बड़े प्रहारसे पहले ही जाग जाना चाहिए और अपनेमें साहित्यिक सद्रुचिको जगाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये शीघ्र ही संहित होकर निम्न कार्योंका किया जाना अत्यावश्यक है—

(१) अपना एक ऐसा बड़ा ग्रन्थसंग्रहालय देहली-जैसे केन्द्र स्थानमें स्थापित किया जाय, जिसमें उपलब्ध सभी जैन ग्रन्थोंकी एक एक प्रति अवश्य ही संगृहीत रहे और अनुसन्धानादि कार्योंके लिये उपयुक्त दूसरे ग्रन्थोंका भी अच्छा संग्रह प्रस्तुत रहे।

(२) महत्वके प्राचीन जैन ग्रन्थोंको शीघ्र ही मूलरूपमें प्रकाशित किया जाय, लागतसे भी कम मूल्यमें बेचा जाय और ऐसा आयोजन किया जाय जिससे बड़े बड़े नगरों तथा शहरोंकी लायब्रेरियों और जैनमन्दिरोंमें उनका एक एक सेट अवश्य पहुँच जाय।

(३) उपयोगी ग्रंथोंका हिन्दी, अंग्रेजी आदि देशी-विदेशी भाषाओं में अच्छा अनुवाद करा कर उन्हें सस्ते

मूल्य द्वारा खूब प्रचारमें लाया जाय और अनेक साधनों-द्वारा लोक-हृदयमें उनके पढ़नेकी रुचि पैदा की जाय।

(४) सधे हुए प्रौढ़ विद्वानों-द्वारा अथवा अच्छे पारंगत विद्वानोंकी देख-रेखमें ऐसे नये साहित्यका निर्माण कराया जाय जो जैन साहित्यके प्रति लोकरुचिको जागृत करे, विद्वानोंकी उपपत्तिचक्षु (समाधानदृष्टि) को खोले, उदारताका वातावरण उत्पन्न करे और लोकमें फैली हुई तत्त्वादि-विषयक भूल-भ्रान्तियोंको दूर करनेमें समर्थ होवे। ऐसे साहित्यको सर्वत्र सुलभ करके और भी अधिकताके साथ प्रचारमें लाया जाय। ऐसा साहित्य निर्माण करानेके लिये कुछ अच्छे पुरस्कारोंकी भी योजना करनी होगी, तभी यथेष्ट सफलता मिल सकेगी।

(५) अनेकान्तको सभीके पढ़ने योग्य जैन समाजका एक आदर्शपत्र बनाया जाय और प्रचारकों-द्वारा यथा-साध्य ऐसा यत्न किया जाय कि कोई भी नगर-ग्राम, जहाँ एक भी घर जैनका हो, उसकी पहुँचसे बाहर न रह सके—वह सबकी सेवामें बराबर पहुँचा करे।

इन सब कार्योंके सम्पन्न होनेपर साहित्यिक रुचि प्रबल वेगसे जागृत हो उठेगी और तब समाज सहज ही उन्नतिके पथपर अग्रसर होने लगेगा। अतः पूरी शक्ति लगाकर इन कार्योंको शीघ्र ही पूरा करना चाहिये—भले ही दूसरे कामोंको कुछ समयके लिये गौण करना पड़े।

४. समयसारका अध्ययन और प्रवचन—

आजकल जैन समाजमें समयसारका प्रचार बढ़ रहा है—जिसे देखो वही समयसारकी स्वाध्याय करता तथा उसके प्रवचनोंको सुनना चाहता है। बाह्य दृष्टिसे बात अच्छी है—बुरी नहीं, परन्तु देखना यह है कि समयसार-का अध्ययन कितनी गहराईके साथ हो रहा है और उसके प्रवचनोंमें क्या कुछ विशेषता रहती है। भावुकतामें बह जाना तथा दूसरोंको बहा देना और बात है और किसी विषयके ठीक मर्मको समझना समझाना दूसरी बात है। कितने ही विद्वान तो थोड़ासा अध्ययन करते ही अपनेको प्रवचनका अधिकारी समझने लगते हैं और लच्छेदार भाषणोंको झाड़कर लोकका अनुरंजन करनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं, जिनमें-से बहुतोंकी गति "वाग्विभवैरेवं मात्रं नस्त्रियाः कर्तुमक्षमाः" जैसी होती है। इतना ही नहीं, बल्कि वे इस ग्रन्थ-पर टीका-टिप्पणतक लिखकर उसे प्रकाशित करते-कराते हुए भी देखनेमें आते हैं। उन्हें इस बातकी कोई चिन्ता नहीं कि वे वैसा करनेके अधिकारी भी हैं या कि नहीं तथा अपनी उस टीकामें कोई उल्लेखनीय खास विशेषता ला सके हैं या कि नहीं और उनके खुदके ऊपर समयसार-का कितना असर है।

हालमें ऐसी दो एक टीकाओंको देखनेका मुझे अवसर मिला है; परन्तु उनमें कुछ वाक्योंको इधर-उधरसे ज्योंका त्यों उठाकर या कुछ तोड़-मरोड़कर रख देने और पिष्ट पेषण तथा यों ही बढ़ा चढ़ाकर कहनेके सिवा कोई खास बात प्रायः देखनेको नहीं मिली। मूल गाथाओंके पद-वाक्योंकी गहराईमें स्थित अर्थको स्पष्ट करने अथवा उनके गुप्त रहस्यको विवेचन-द्वारा प्रकट करनेकी उनमें कोई खास चेष्टा नहीं पाई गई। ऐसी नगण्य टीकाएँ प्रायः लोकैषणाके वशवर्ती होकर लिखी जाती हैं। जो सज्जन लोकैषणाके वशवर्ती नहीं हैं और जिनपर समयसार-का थोड़ा बहुत रंग चढ़ा हुआ है वे वर्षों पहले अपने अध्ययन अनुभव और मननके बलपर लिखी गई टीकामें अपना विशेष कर्तृत्व नहीं समझते और आज भी, जबकि उस टीकामें संशोधन तथा परिमार्जनादिका काफी अवसर मिल चुका है, अनेक सत्प्रेरणाओंके रहते हुए भी उसे प्रकाशित करनेमें हिचकचाते हैं। मानो वे अभी भी अपनी उस टीकाको टीकापदके योग्य न समझते हों। ऐसे सज्जनों में वर्णीश्री गणेशप्रसादजीका नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि मैं उनकी इस प्रवृत्तिसे पूर्णतः सहमत नहीं हूँ—वे अपने प्रवचनों आदिके द्वारा जब दूसरोंको अपने अनुभवों-का लाभ पहुँचाते हैं तब अपनी उस टीका-द्वारा उन्हें स्थायी लाभ क्यों न पहुँचाएँ? फिर भी उनकी उपस्थितिमें जब उनके चेले अपनी समयसारी टीकाएँ प्रकाशित करनेको उद्यत हो जाएँ, तब उनका अपनी कृतिके प्रति यह निर्ममत्व उल्लेखनीय जरूर हो जाता है।

निःसन्देह समयसार-जैसा ग्रंथ बहुत गहरे अध्ययन तथा मननकी अपेक्षा रखता है और तभी आत्म-विकास-जैसे यथेष्ट फलको फल सकता है। हर एकका वह विषय नहीं है। गहरे अध्ययन तथा मननके अभावमें कोरी भावु-कतामें बहने वालोंकी गति बहुधा 'न इधरके रहे न उधरके रहे' वाली कहावतको चरितार्थ करती है अथवा वे उस एकान्तकी ओर ढल जाते हैं जिसे आध्यात्मिक एकान्त कहते हैं और जो मिथ्यात्वमें परिगणित किया गया है। इस विषयकी विशेष चर्चाको फिर किसी समय उपस्थित किया जायगा।

॥ ॐ अर्हम् ॥

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके सन्देशका पत्र नीति-विज्ञान-दर्शन
इतिहास-कला और समाज शास्त्रके प्रौढ़ विचारोंसे परिपूर्ण

सचित्र मासिक

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)

१ दरियागंज, देहली।

ग्यारहवाँ वर्ष

[फाल्गुन शुक्ला वीर नि० २४७८ से माघ वीर नि० सं० २४७९ तक]

मार्च सन् १९५२ से मई १९५३ तक

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री

वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

वार्षिक-मूल्य पाँच रुपया

एक किरण का मूल्य आठ आने

अनेकान्तके ११वें वर्षकी विषय-सूची

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी देहली

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० केदारनाथ बद्रीप्रसादजी सरावगी,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरया, देहली
१०१) श्री फतहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार मेरठ
१०१) श्री श्रीमाला देवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्रजी जैन 'संगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदासजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी हांसी
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी हांसी

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

परमानन्दजी जैन शास्त्री C/o अहिंसा मन्दिर १, दरियागंज देहली । मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस दरियागंज, देहली